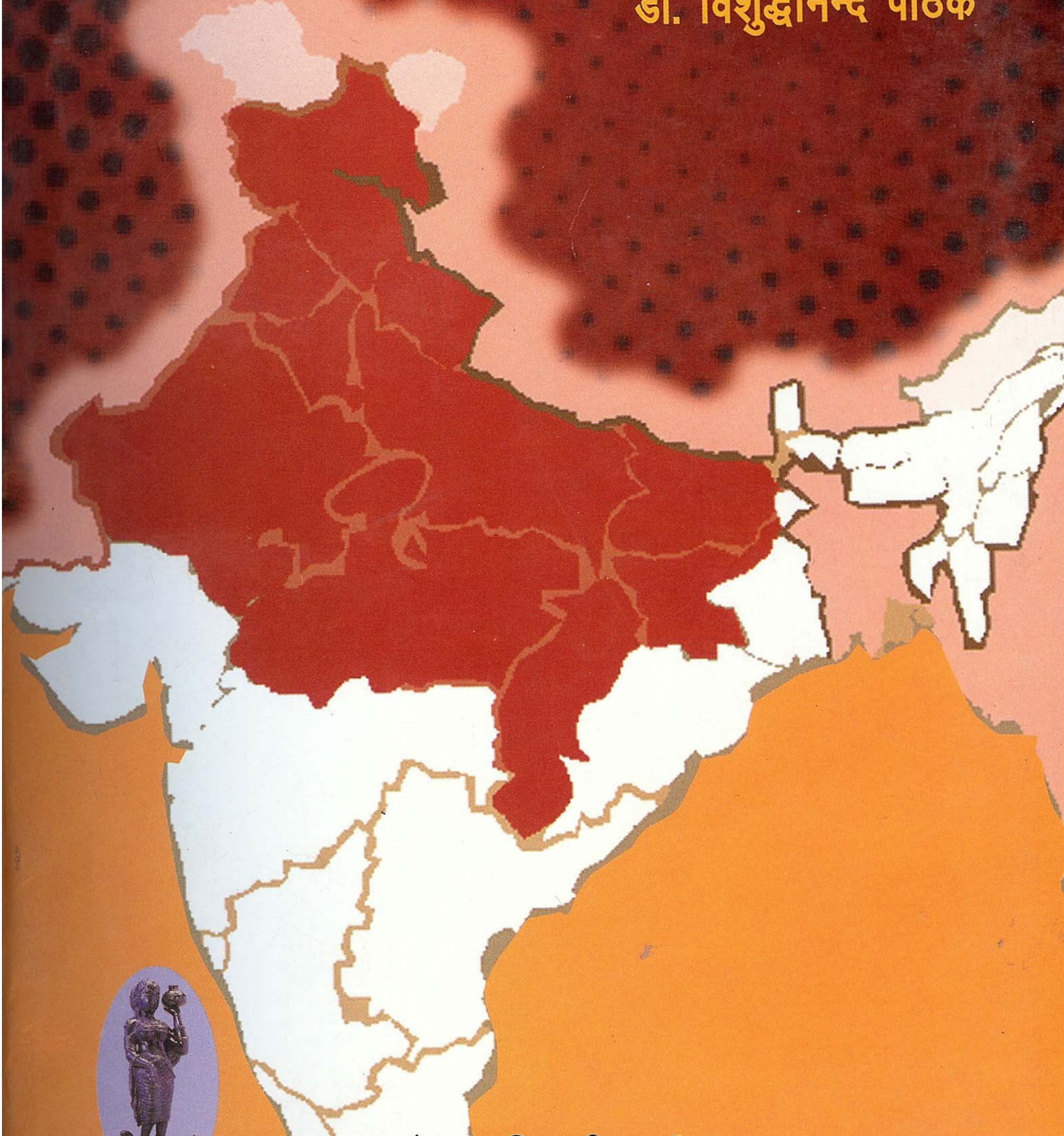
उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास

(६००–१२०० ई.)

डॉ. विशुद्धानन्द पाठक



उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास

उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास

(६००-१२०० ई.)

(आचार्य नरेन्द्रदेव पुरस्कार से पुरस्कृत : १९७३)

डॉ. विशुद्धानन्द पाठक
पूर्व प्रोफेसर, इतिहास विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन
६, महात्मा गांधी मार्ग, हजरतगंज, लखनऊ - २२६००१

प्रकाशक :

डॉ. सुधाकर अदीब

निदेशक

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

ग्रंथमाला संख्या– ६७

प्रथम संस्करण	:	१९७३
द्वितीय संस्करण	:	१९७७
तृतीय संस्करण	:	१९८२
चौथा संस्करण	:	१९९०
पाँचवाँ संस्करण	:	२००१
छठा संस्करण	:	२००२
सातवाँ संस्करण	:	२००७
आठवाँ संस्करण	:	२०११
नवाँ संस्करण	:	२०१४
दसवाँ संस्करण	:	२०१५

ISBN–978–93–82175–63–6

प्रतियाँ : ५००

मूल्य : ₹ २००=०० (दो सौ मात्र)

मुद्रक :

प्रकाश पैकेजर्स

२५७, गोलागंज, लखनऊ–२२६०१८

प्रकाशकीय

ब्रह्माण्ड की यदि एकमात्र विशेषता को रेखांकित किया जाय, तो वह है उसकी विविधता और निरंतरता। समय की इस यात्रा में इससे कभी कोई नहीं बचा। बदलते पात्रों और उनकी भूमिकाओं के बीच शेष वही बचा, जिन्होंने इतिहास की कठोर धरातल पर अपनी उपलब्धियों के अमिट हस्ताक्षर किये। समय भी उन्हीं के गीत गाता रहा है, जिन्होंने अपनी महानता, विद्वत्ता और वीरता के द्वारा नया इतिहास लिखा, परम्परा में नये अध्याय जोड़े। सफल, महान और चर्चित घटनाओं तथा व्यक्तित्वों की जितनी चर्चा होती है, साधारण और अचर्चित घटनाओं व व्यक्तियों के सन्दर्भ में प्रायः ऐसा नहीं होता या अत्यंत अल्प होता है। ऐसा करना सामंती काल में तत्कालीन भाट, चारणों और इतिहासकारों की बहुधा मजबूरी भी हुआ करती थी।

भारत में हर्ष के बाद लगभग सात सौ वर्षों का इतिहास इसका प्रमाण है, जब छोटे–छोटे राज्य हुए और सम्बन्धित राजाओं की आपसी कटुता ने राष्ट्रीय एकता का बहुत नुकसान किया। ऐसे पतनशील और अचर्चित समय का भी इतिहास जिस तरह चर्चित इतिहासकार डॉ. विशुद्धानन्द पाठक ने अपनी अत्यन्त लोकप्रिय पुस्तक 'उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास' में संग्रहीत किया और 600 से लेकर 1200 ई. सदी तक के उत्तर भारतीय इतिहास को शब्द दिये, वह अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसके लिए उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान सदा उनका ऋणी रहेगा। प्रस्तुत ग्रंथ में विद्वान लेखक ने उत्तर भारत के इतिहास के उस लम्बे कालखण्ड को व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करने का सद्प्रयास किया है, जिसके स्रोत न केवल अत्यंत अल्प रहे हैं अपितु काफी उलझे हुए भी हैं। उनसे वैज्ञानिक व तर्कपूर्ण निष्कर्ष निकालना सामान्य कार्य नहीं है, इसके बावजूद डॉ. पाठक ने असाधारण मेहनत के साथ यह कार्य सम्पन्न किया।

'उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास' पुस्तक 18 अध्यायों में विभक्त है, जिनमें इस काल के लगभग सभी प्रमुख उत्तर भारतीय

राजवंशों पुष्यभूतिवंश, गुर्जर प्रतीहार राजवंश, कश्मीर के राजवंश, उड़ीसा के राजवंश, सेन राजवंश, गाहडवाल राजवंश, जेजाकभुक्ति के चंदेल, चाहमान राजवंश, गुजरात के चालुक्य, धारा के परमार व कलचुरि राजवंश आदि पर क्रमिक व सारगर्भित प्रकाश डाल गया है। उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान के हिन्दी समिति प्रभाग की इस गौरवपूर्ण उपलब्धि के अब तक नौ संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं और अब दसवाँ संस्करण आपके हाथों में है। यह तथ्य स्वयं ही इस पुस्तक की उपादेयता और लोकप्रियता का प्रमाण है। विश्वास है, इतिहास के गम्भीर पाठकों व शोध छात्रों के बीच इस दसवें संस्करण का भी पूर्व की भाँति स्वागत होगा और वह इसकी उपादेयता से पूर्ववत् लाभान्वित होंगे। सच कहा जाय तो भारतीय इतिहास सम्बन्धी विभिन्न ग्रंथों में यह पुस्तक किसी मील के पत्थर से कम नहीं है जो आने वाले समय में भी इतिहास के अध्ययनकर्ताओं और सामान्य पाठकों की पथप्रदर्शक बनी रहेगी।

डॉ. सुधाकर अदीब
निदेशक

निवेदन

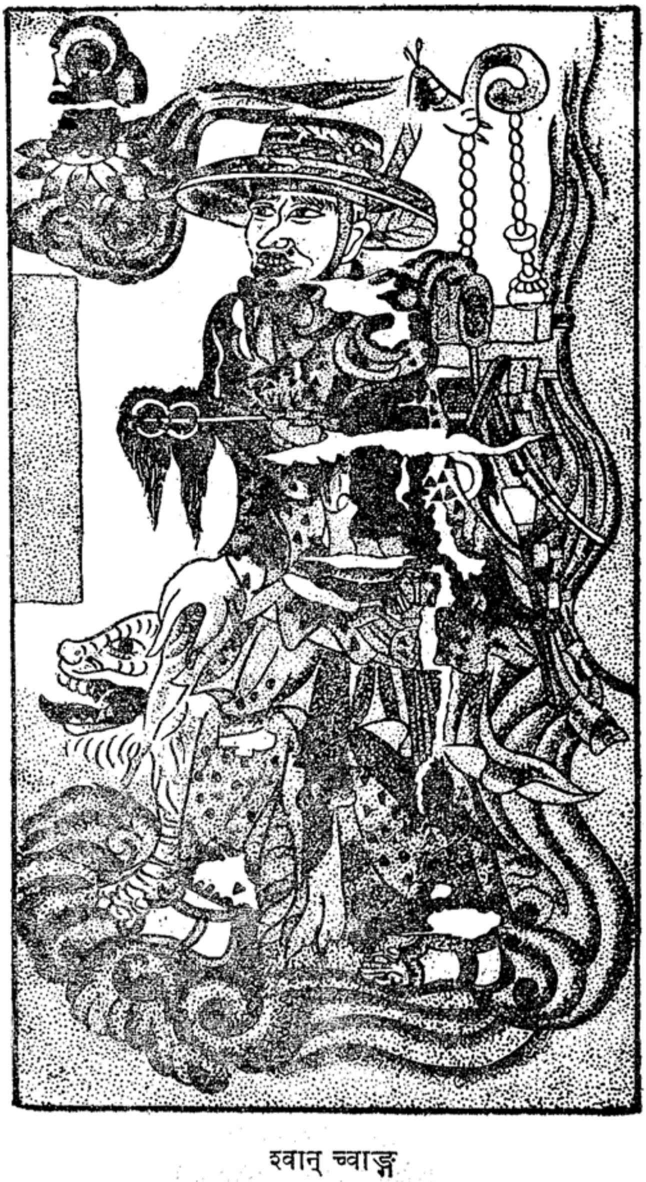
जीवन हो या उसकी विभिन्न संस्थाएं, परम्पराएं और चिंतन–मनन; उत्थान और पतन के अनवरत क्रम से सृष्टि में कभी कोई नहीं बचा। यह दूसरी बात है कि इसके बाद भी मनुष्य की जिजीविषा ने कभी हार नहीं मानी और निरंतर उसे नयी से नयी सकारात्मक पहचान देने के लिए तत्पर रहा। भारतीय इतिहास का सन्दर्भ लें, तो ईसापूर्व की प्रारम्भिक शताब्दियों में जिस महान भारत देश ने मौर्य व गुप्तकाल जैसे स्वर्णिम युग देखे, जिनके समय में देश राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक रूप से अनन्त ऊँचाइयों पर पहुँचा हो, वह राजा हर्षवर्द्धन के पतन के साथ अपने संगठित और विकसित अस्तित्व को बचाने के लिए दशाब्दियों तक जूझता रहा। इन स्थितियों में भी हमारे पूर्वजों ने फिर से स्वर्णिम युग के सपने देखने नहीं छोड़े और बाद की शताब्दियाँ इसकी प्रमाण हैं कि भारत ने अपने गौरवपूर्ण अतीत को अनेक विपरीत स्थितियों के बाद भी नये अर्थों में न केवल दोहराया, अपितु उसे नयी ऊँचाइयाँ दीं।

इस अवधि (600 से 1200 ई.) के इतिहास सम्बन्धी स्रोत यदि व्यवस्थित नहीं है, तो यह स्वाभाविक ही है। एक अव्यवस्थित समाज और स्वार्थों में डूबे समय से इसकी अधिक अपेक्षा नहीं की जा सकती। ऐसे में भारतीय संस्कृति और इतिहास के निष्णाता विद्वान डॉ. विशुद्धानन्द पाठक ने अपनी लोकप्रिय पुस्तक 'उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास' में जिस तरह से इस लम्बी अवधि के अव्यवस्थित और आधे–अधूरे विभाजित इतिहास को समेटा है और उसके वैज्ञानिक निष्कर्षों को क्रमिक रूप से शब्द दिये हैं, उससे इस ग्रंथ का असाधारण महत्व और बढ़ जाता है। मौर्य व गुप्तयुगीन महान भारत की परम्परा को यद्यपि हर्षवर्द्धन ने कुछ समय तक आगे बढ़ाने की कोशिश की थी पर उसकी उपलब्धियाँ सीमित ही रहीं। उसके न रहने पर पतनोन्मुख इतिहास का जो क्रम चला, जिस तरह उत्तर भारत में केन्द्रीय सत्ता के अभाव में छोटे–छोटे राज्य

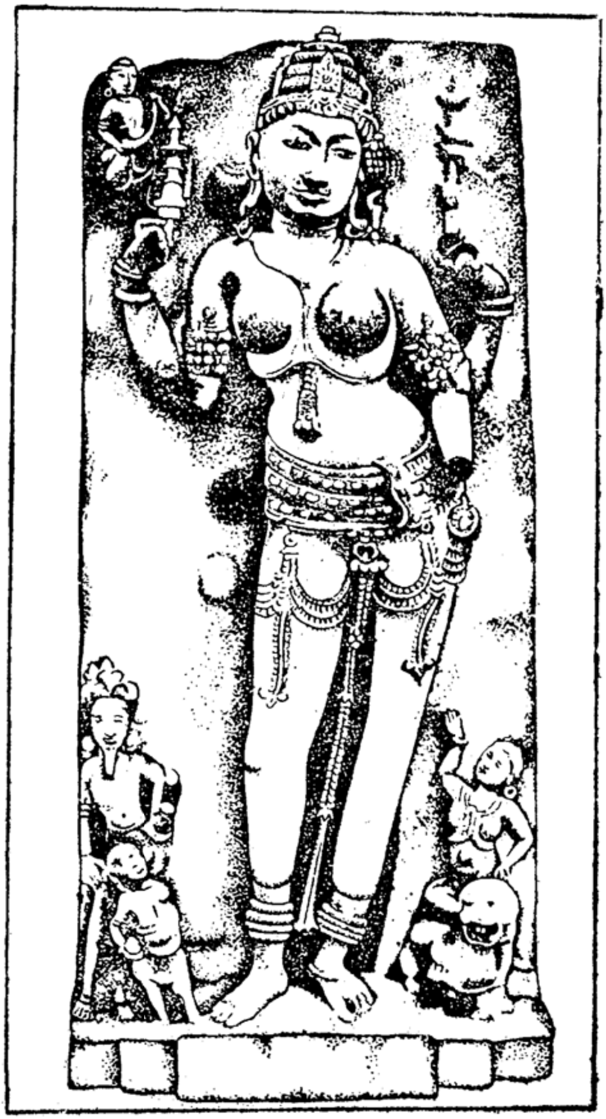
बने और वे आपस में पीढ़ियों तक स्वार्थों को लेकर प्रायः लड़ते रहे, उससे गौरवपूर्ण भारतीय राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परम्परा का अकथनीय नुकसान हुआ।

देखा जाय तो इन तथ्यों से गुजरना देश और समाज के वास्तविक आकलन के लिए अनिवार्य है। इन सभी तथ्यों को व्यवस्थित ढंग से संजोना, पुस्तकाकार रूप देना और प्रत्येक संस्करण के साथ उसे नयी–नयी जानकारियों से धनी बनाना डॉ. विशुद्धानन्द पाठक प्रभृति विद्वान द्वारा ही सम्भव था। 'उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास' पुस्तक से भारतीय संस्कृति के लिए समर्पित विद्वान और शोध छात्र कितना लाभान्वित हुए हैं, उसका प्रमाण अब तक इस मानक ग्रंथ के प्रकाशित आठ संस्करण हैं। यह दसवाँ संस्करण भी इस यशस्वी परम्परा को आगे बढ़ायेगा, ऐसा विश्वास है।

उदय प्रताप सिंह
कार्यकारी अध्यक्ष



ख्वान् च्वाङ्ग
(एक रेखानुकृति)



धारा : विद्या देवी

(ब्रिटिश संग्रहालय, लन्दन में)

सप्तम संस्करण की भूमिका

'उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास ६००–१२०० ई.' के प्रथम प्रकाशन (१९७३ ई.) को बीते हुए अब लगभग ३५ (पैंतीस) वर्ष बीत चुके हैं। अध्यापकों और अध्यापितों में इसकी सतत मांग को देखते हुए मुझे ऐसा विश्वास हो रहा है कि यह पुस्तक एक सौ वर्षों का अपना जीवन तो अवश्य ही पा लेगी। अपने प्रचलन की ये लम्बी अवस्थाएं केवल कुछ ही पुस्तकें प्राप्त करती हैं। पुस्तक के प्रथम प्रकाशन के समय जब मैंने इसकी एक प्रति एक प्रसिद्ध विद्वान के पास भेजी तो उन्होंने लिखा कि यह पुस्तक बहुत दिनों तक 'इकलौती' रह जायगी। इस उक्ति पर टिप्पणी करने का अधिकार तो पाठकों को ही है, मुझे नहीं। महर्षितुल्य दूसरे सरस्वती पुत्र, प्रोफेसर गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, ने लिखा; 'यह कृति ''विद्वानों और विद्यार्थियों दोनों ही द्वारा समानरूप से स्वागतयोग्य होगी।' यह आप्तवाक्य शब्दशः सच निकला है।

मेरी वर्तमान अवस्था ८३ वर्ष की है और मुझे यह विश्वास नहीं है कि आगे किसी संस्करण की इसकी कोई भूमिका लिखने हेतु मैं जीवित रहूंगा। अतः अपने पाठकों के प्रति आभार प्रकट करना अपना कर्त्तव्य मानता हूं।

किन्तु इस पुस्तक की पाठकप्रियता का समग्र आकलन करने के पश्चात् जहां मुझे हर्ष का अनुभव हुआ है, वहीं कई बार इसके दुरुपयोग के कारण विषाद भी हुआ है। पुस्तक लिखते समय मैंने अपने सम्मुख यह उद्देश्य रखा था कि कुछ ऐसा दिया जाय, लिखा जाय और ऐसी पद्धति अपनायी जाय जो इतिहास लेखन की पद्धति के स्तर को ऊपर उठावे। संदर्भों को देते समय यथाशक्ति सभी संदर्भों के मूल तक पहुंचने के प्रयत्न में मुझे पूरे एक वर्ष का समय खर्च करना पड़ा। तब तक विश्वविद्यालय के छात्र-छात्राओं ने अपनी कलाओं का पूर्ण प्रदर्शन प्रारंभ कर दिया था। केन्द्रीय ग्रंथागार में शायद ही कोई जर्नल अथवा बढ़िया कृति बची थी, जो पूर्णरूप से अपने सहीसलामत रूप में बची हो। अपनी पुस्तक में जिन अभिलेखों के संदर्भ मैंने दिये थे, उन सबके मूल प्रकाशन तथा उनकी शब्दावली को देखने हेतु मैं कटिबद्ध था किन्तु उनमें से जो कोई भी किसी पाठ्यक्रम में निर्धारित थे, वे सभी कैंचियों और चाकुओं के शिकार हो चुके थे।

फलतः मुझे अपना घर (विश्वविद्यालय का केन्द्रीय ग्रंथागार) छोड़कर परायों की ओर मुंह मोड़ना पड़ा। मुझे यह ज्ञात था कि तत्कालीन वाराणसेय

संस्कृत विश्वविद्यालय के कई प्रारंम्भिक प्राचार्य भारतीबिद अंग्रेज थे, जिन्होंने वहां के पुस्तकालय (सरस्वती भवन) को सभी प्राचीन शोध पत्रिकाओं से भर रखा था। वहां के कार्यकर्ताओं ने भी मेरा स्वागत किया।

मैं वहां के 'भक्तराज' नामक पुकार वाले एक चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारी को कभी भूल नहीं सकता। उनका नाम अब मुझे स्मरण नहीं है। तथापि उनकी स्मृति और आत्मा को मेरा प्रणाम है। मैं 'सरस्वती भवन' लगभग १५ दिनों तक जाता रहा। 'भक्तराज' मुझे एक बढ़िया स्थान बैठने को दे देते और जो भी पुस्तकें, जर्नल या अभिलेख चाहिए थे, वे सभी उन्हें खोजकर मेरे सामने रख देते। सायंकाल उन सभी को स्थान-स्थान पर यथावत् लगा देते थे। यही नहीं, अपने इस साधु स्वभाव वाले आचरण से वे अपने को धन्य भी मानते थे।

इसी प्रकार की एक सेवा मुझे अपने विश्वविद्यालय के सहायक पुस्तकालयाध्यक्ष (बाद में प्रधान पुस्तकालयाध्यक्ष) डॉ. रामजी सिंह से भी प्राप्त हुई। वे पुस्तकालय विज्ञान के सिद्धहस्त ज्ञाता थे। मुझे इस बात की बहुत चिन्ता थी। कि भारतीय और विदेशी विद्वानों के पूर्णनाम कहां से और कैसे ज्ञात होंगे, ताकि उनके प्रारंभाक्षर (इनीशियन्स्) मैं देवनागरी में ही दे सकूं। किसी ने मुझे उनका नाम सुझाया। पास पहुंचते ही उन्होंने एक बन्द कमरे की चाभी उठाई और मेरे साथ उसमें घुस गये। आधा मुझे इन पूर्ण नामों को खोजने की पद्धति बताते हुए, और आधा स्वयं ज्ञानस्रोतों को उलटते हुए उन्होंने मुझे यह बताया कि 'अमेरिकन कांग्रेस लाइब्रेरी' वाशिगंटन, से एक 'सीरीज' (पुस्तकावली) ही ऐसी प्रकाशित है, जिसमें अंग्रेजी भाषा में लिखित विश्व भर की सभी पुस्तकों के लेखकों के पूरे-पूरे नाम दिये हुए हैं। उनके द्वारा बतायी गयी शोध की यह पद्धति मेरे बड़े काम आयी। मैं सभी अध्यापकों, लेखकों और छात्रों से यह अनुशंसा करता हूं कि वे सभी इस पद्धति का अनुसरण करें। उपर्युक्त अवली का लेखन विश्वकोश (डिक्शनरी) की शैली से हुआ है, अतः नामों को खोजने में कोई कठिनाई नहीं होगी।

पीछे मैंने 'उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास ६००—१२०० ई. के दुरुपयोग के प्रति अपने विषाद का उल्लेख किया है। ऐसे उदाहरण सैकड़ों में हैं किन्तु बड़े संकोचभाव मैं केवल चार के उल्लेख करना चाहता हूं। प्रथम बार पुस्तक छपने के तीन-चार वर्षों के भीतर ही गढ़वाल विश्वविद्यालय के एक एम. ए. के छात्र ने मुझे शिकायतपूर्वक यह सूचना दी कि मेरठ विश्वविद्यालय के एक अध्यापक ने ही मेरी पुस्तक का बहुत बड़ा भाग यथावत् अपने नाम से अपनी पुस्तक के रूप में छपा लिया है। मैंने अपने प्रकाशक को इसकी सूचना दी

किन्तु कापीराइट की मुकदमेबाजी में न प्रकाशक की कोई रूचि थी और न मेरी।

दूसरा उदाहरण और भी विचित्र और एक तथाकथित लेखक ही हिम्मत को दर्शाने वाला है। पुस्तक की एक प्रति मैंने बगल के एक प्रदेश के इतिहास विभागाध्यक्ष को भेजी। दो-चार महीनों के भीतर ही मैं उनके विश्वविद्यालय के काम से उनके यहां गया। उनके प्रवक्ता पुत्र ने मुझे अपनी एक पुस्तक भेंट की। देखा तो पाया कि मेरी पुस्तक का तीसरा अध्याय उसमें यथावत् पूरी तरह उतार लिया गया था। न कहीं मेरा नाम और न मेरी पुस्तक का नाम।

तीसरा उदाहरण एक प्रान्तीय विश्वविद्यालय की थिसिस का है। वहां की प्रथा यह है कि कोई भी बाहरी अध्यापक अपने मन से अपने मनोनुकूल निर्देशक (गाइड) को चुन लेता है, कुछ लिखकर विश्वविद्यालय को दे देता है, एक निश्चित दिन को यह निर्देशक बुला लिया जाता है और विभाग के दो अन्य अध्यापक भी बैठ जाते हैं तथा तथाकथित थीसिस पीएच्.डी हेतु पास कर दी जाती है। इस संदर्भ का अभागा गाइड मैं ही बनाया गया था। बिना मेरी जानकारी के, बिना सूचना के और बिना स्वीकृति के वहां पहुंचने पर ज्ञात हुआ कि कैन्डीडेट महोदय एक अन्य प्रान्तीय विश्वविद्यालय के बहुत ही सीनियर उपाचार्य के पुत्र थे। वे उपाचार्य महोदय मुझे अपना मित्र प्रचारित किया करते थे। अस्तु। जब थीसिस देखी तो मेरी पुस्तक की प्रायः पूरी तरह से नकल निकली। किन्तु मेरी पुस्तक का नाम न किसी संदर्भ में और न ग्रंथ सूची में था। मेरी दशा 'भइ गति सांप-छछूंदर केरी'' जैसी थी। मुझे तथा कथित 'मित्र धर्म' का निर्वाह करना ही पड़ा।

चौथा उदाहरण एक केन्द्रीय विश्वविद्यालय का है। वहां की एक थीसिस में कैण्डीडेट ने मेरी पुस्तक के ५० पृष्ठों को यथावत् उतार दिया। संयोग से वह थीसिस अमेरिका के एक विश्वविद्यालय में प्रोफेसर बन चुके (तब रिटायर्ड) और वहीं बस जाने वाले एक भारतीय विद्वान के पास चली गयी। संयोग से उनके पास मेरी पुस्तक थी। उन्होंने थिसिस को सम्बद्ध स्थलों से मिलाना प्रारंभ कर दिया और दोनों की एकरूपता को इंगित करते हुए अपनी रिपोर्ट में इसकी चर्चा भी करते हुए विश्वविद्यालय के कुलपति को एक पत्र भी भेज दिया। जब वे बाद में एक बार भारतवर्ष आये तो मुझसे मिले भी और सारी बात बतायी। उन्होंने पीएच.डी डिग्री तो संस्तुत कर ही दी थी।

ये सभी कलाएं, कुछ महानगरीय विश्वविद्यालयों को छोड़कर, प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में फल-फूल रही हैं। अधिकारियों और निर्देशकों के संज्ञान में वे

न हों, ऐसा हो नहीं सकता। अतः केवल यह दार्शनिक पद मात्र दुहराया जा सकता है– 'अयं निज = परो वेति– गणना लघुचेतसाग्'। उदारचरितानांतु वसुधैव कुटुम्बकम्। अर्थात् 'यह तो छोटे लोग कहते हैं कि यह वस्तु मेरी है, अथवा दूसरे की है। जो उदार लोग हैं वे तो सारे विश्व को ही अपना कुटुम्ब मानते हैं'। आखिर, चौरकला भी तो एक कला ही है। इन सभी कलामर्मज्ञों को मेरा प्रणाम।

इस सप्तम संस्करण में मेरी वह **मूल भूमिका** भी दी जा रही है, जो प्रथम संस्करण में दी गयी थी। उसका असली उद्‌देश्य यह था कि जहां-जहां से जिन-जिन लोगों से भी मुझे सहायताएं प्राप्त हुई थीं, उनके प्रति धन्यवाद और कृतज्ञता अर्पित की जाय। दुर्भाग्यवश बीच के कई संस्करणों में संवाद के अभाव में यह **मूल भूमिका** नहीं छप सकी थी। मुझे इसका खेद है।

आशा है, पाठकगण इस कृति का पूर्ववत् स्वागत करते रहेंगे।

विशुद्धानन्द पाठक

४७ ए, रवीन्द्रपुरी, वाराणसी–५
माघी अमावस्या, वि.सं. २०२१

मूल भूमिका

६०० ई. से १२०० ई. तक के भारतीय इतिहास, विशेषतः उत्तर भारतीय इतिहास, का विवेचित अध्ययन कई दृष्टियों से अपेक्षित है। इस इतिहास के कई पक्षों में राजनीतिक इतिहास संभवतः सर्वमुख्य है। उस राजनीतिक आधार की सही जानकारी के बिना सांस्कृतिक आधेय की जानकारी पूरी नहीं हो सकती। विवेच्य युग अपनी अनेक कमजोरियों के बावजूद कला, साहित्य और भौतिक निर्माण के क्षेत्र में महत्वहीन नहीं था। इन उपलब्धियों के लिये आवश्यक शक्ति और सुव्यवस्था जिन शासकों ने प्रस्तुत की, उनका अध्ययन स्वयं में महत्वपूर्ण है। प्रस्तुत प्रयत्न इस ओर ही प्रेरित है।

इस बात की ओर निर्देश किया जाता है कि अंग्रेजी सत्ता के पूर्ण प्रभाव-स्थापना के पूर्व, मौर्य, गुप्त अथवा मुगलवंश के महान् सम्राटों वाले युगों को छोड़कर, भारतवर्ष कभी भी राजनीतिक और प्रशासनिक दृष्टियों से एक नहीं रहा। किन्तु इन मान्यताओं के पीछे प्रायः एक ऐसी एकान्तिक दृष्टि दिखायी देती है, जो जाने या अनजाने आधुनिक विज्ञान के त्वरित विकास की राजनीतिक उपलब्धियों और परिवर्तनों को प्राचीन अथवा मध्यकालीन परिस्थितियों में खोजने का व्यर्थ प्रयत्न करती है। प्राचीन अथवा मध्यकालीन भारतीय साम्राज्य कभी भी पूर्णतः एकात्मक नहीं थे। आन्तरिक प्रशासन में प्रायः पूर्ण स्वतंत्र अनेक आकार-प्रकार के राज्यों पर उनके आधिपत्य अथवा अधिसत्तात्मकता की व्याप्तता उन्हें जो रूप प्रदान करती थी, वह अनेक राजनीतिक इकाइयों का एक ऐसा ढीला-ढाला गँठजोड़ था , जिसमें केन्द्रीय नियमन का अंश और गुण विभिन्न पक्षों की निजी सत्ता और शक्ति की घटबढ़ के साथ परिवर्तित होता रहता था। विवेच्य युग उस केन्द्रीय सत्ता के ह्रास और कमजोरी का युग था। ऐसा नहीं कि इसमें साम्राज्यों का प्रादुर्भाव नहीं हुआ। हर्ष और गुर्जर प्रतीहारों के साम्राज्य काफी बड़े थे। किन्तु उनका प्रभाव केवल उत्तर भारत तक ही सीमित था। कुछ दिनों तक अपने क्षेत्रों में वे विघटन की प्रवृत्तियों को दबाने में सफल तो रहे, किन्तु वे उनका पूर्णतः अन्त नहीं कर सके। क्षेत्रीय स्वरूप और स्थानीय भावनाओं का तेजी से विकास होने लगा, जिससे आरक्षण और अनिश्चितता की स्थिति बढ़ने लगी। केन्द्रीय सत्ता की शिथिलता के कारण

सामन्तवाद की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। इन्हीं स्थितियों में विदेशी आक्रमण हुए, जिनके सम्मुख निर्णय, नेतृत्व और कार्यान्वयन के गुणों का प्रायः अभाव ही रहा। साथ ही, भारतीय जीवन, समाज, धर्म, राजनीति और प्रशासन सम्बन्धी अनेक शिथिलताओं के प्रथम दर्शन भी इसी युग में होते हैं। इस संक्रमण के युग को हिन्दू भारत के अन्त का युग अथवा मध्यकाल के प्रारंभ का युग जैसे अनेक अभिधाओं से पुकारा जाता है। यदि ध्यान से देखा जाय तो आधुनिक भारत के प्रान्तवाद अथवा वर्तमान राज्यीय विभाजनों के भौगोलिक आधार जैसी अनेक बातों के मूल बीज भी इसी युग में दिखायी पड़ेंगे। स्पष्ट है, अनेक मध्यकालीन अथवा आधुनिक गुत्थियों को सुलझाने के लिये इस युग के राजनीतिक इतिहास की पैनी जानकारी अत्यन्त आवश्यक है।

प्रस्तुत पुस्तक में उत्तर भारत की सीमाओं में अफगानिस्तान के कुछ भागों और कश्मीर से नर्मदा तक तथा सिन्ध और गुजरात-सौराष्ट्र से असम, बंगाल और उड़ीसा तक के क्षेत्रों का अध्ययन सम्मिलित है। इस प्रकार उत्तरी भारत में पश्चिमी और पूर्वी भारत की भी गिनती हो जाती है। आज से ४-५ दशकों पूर्व डॉ. हेमचन्द्र राय ने अपनी मार्गस्रष्टा पुस्तक 'डानेस्टिक हिस्ट्री ऑफ् नार्दर्न इण्डिया' में इस सारे क्षेत्र को ही उत्तर भारत स्वीकार किया था। वह मान्यता आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई है। किन्तु सम्प्रति इस विशाल क्षेत्र में भारत, पाकिस्तान और बंगलादेश नामक तीन पूर्णस्वतंत्र और संप्रभु राज्य हैं। कुछ विदेशी और स्वदेशी इतिहासकारों का यह पक्ष प्रतीत होता है कि इन तीनों राज्यों के अपने-अपने क्षेत्रों के प्राचीन इतिहास को उन्हीं के नाम से लिखा जाना चाहिए। किन्तु यह बड़ा भ्रमात्मक है कि आज से केवल २५ वर्ष पूर्व जन्म लेने वाले पाकिस्तान पर सर मार्टिमर ह्वीलर द्वारा 'फाइव थाउजैण्ड इयरस् ऑफ् पाकिस्तान' शीर्षक जैसी पुस्तक लिखी जाय। ऐतिहासिक दृष्टि से यह कोरा कालदोष है, जो स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए। लेखकों को इस प्रकार की असंगतियों का कोई न कोई मान्य हल ढूंढ़ना होगा। इस कृति में यह निःसंकोच स्वीकार किया गया है कि इसकी विवेचना के अन्तर्गत स्वीकृत सभी क्षेत्रों का इतिहास पूर्णतः भारतीय इतिहास है, जिसका दाय और उत्तराधिकार हमें ब्रिटिश पार्लियामेण्ट द्वारा पारित १९४७ ई. के 'भारत स्वतंत्रता विधान' से पूर्णतः प्राप्त है।

ऊपर हेमचन्द्र राय की पुस्तक की ओर संकेत किया जा चुका है। दो जिल्दों वाले उस शोधग्रंथ के प्रायः प्रत्येक अध्याय पर धीरे-धीरे अनेकानेक पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं। उस समस्त ज्ञान और तत्सम्बन्धी शोधों को समाहित करते हुए हिन्दी में एक ऐसी पुस्तक की नितान्त आवश्यकता है, जो स्नातकोत्तर छात्रों और क्रमिक इतिहास के ज्ञान के इच्छुक शोधछात्रों के लिए हरप्रकार से उपयोगी हो। प्रस्तुत पुस्तक इसी उद्देश्य की पूर्ति की ओर प्रेरित है।

पुस्तक १८ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय प्रस्ताविक है, जिसमें

उपकाल विभागों सहित सम्बद्ध युग की मुख्य राजनीतिक, प्रशासनिक और सांस्कृतिक प्रवृत्तियों से पाठक को भलीभांति परिचित कराते हुए ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। दूसरे और तीसरे अध्यायों में पुष्यभूतिवंश के प्रारम्भिक इतिहास सहित हर्ष के अधीन कान्यकुब्ज साम्राज्य और उसकी मृत्युपरान्त मध्यदेश के इतिहास का निरूपण है। चौथे अध्याय में शशांक के अधीन गौड राज्य और उसके बाद उत्पन्न होने वाली बंगाल की अव्यवस्था का चित्रण है। पांचवें अध्याय में गुर्जर प्रतीहार सत्ता के उद्भव और विकास के साथ उसके अधीन कनौज-साम्राज्य के इतिहास का विस्तृत विवेचन है। इसमें गुर्जर प्रतीहारों की महान् राजनीतिक उपलब्धियों और उनकी सत्ता के क्रमिक अवरोह का विशेष अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। छठे से आठवें अध्यायों में पश्चिम और पश्चिमोत्तर में स्थित कश्मीर का इतिहास, सिन्ध और मुल्तान में अरब सत्ता की स्थापना एवं अफगानिस्तान और पंजाब की शाही सत्ता का इतिहास प्रस्तुत है। नवें से बारहवें अध्यायों में पूर्वी भारत के पालों, उड़ीसा के विभिन्न राजवंशों, सेनों तथा बारहवीं शताब्दी के अन्त तक का कामरूप का इतिहास दिया गया है। तेरहवें से अठारहवें अध्यायों में कनौज के गुर्जर प्रतीहार साम्राज्य के पतन के बाद उसके विशाल उत्तर भारतीय क्षेत्रों पर अपनी अपनी समानान्तर सत्ता स्थापित करने वाले कनौज़-काशी के गाहडवालों, बुन्देलखण्ड के चन्देलों, राजपूताना और पंजाब के चाह्मानों, गुजरात के चौलुक्यों, मालवा के परमारों और बघेलखण्ड के कलचुरियों के अलग-अलग इतिहास का विस्तृत विवेचन उपस्थित किया गया है। इस विवरण से यह स्पष्ट होगा कि उपर्युक्त इतिहास को प्रस्तुत करते हुए कालक्रम को प्रदेशक्रम से संयोजित करने की सावधानी बरती गयी है।

इस बात का सर्वत्र ध्यान रखा गया है कि उत्तर भारत के प्रत्येक क्षेत्र और प्रत्येक स्वतंत्र राजवंश के उद्भव, विकास और उत्कर्ष एवं पराभव के क्रमिक इतिहास का चित्र अपने पूर्णरूप में पाठक के सम्मुख उपस्थित हो। साथ ही, ऐतिहासिक शोध की गवेषणा और टीका सम्बन्धी जो भी आधुनिक विधाएँ हैं, उन्हें यहां पूरी तरह अपनाया गया है। सर्वदा ही इस बात की ओर दृष्टि रखी गयी है कि प्रबुद्ध छात्रों और विज्ञ अध्यापकों को विषय के सभी स्रोतों से कहीं भी असंबद्ध न होने दिया जाय। जैसा पुस्तक के शीर्षक से स्पष्ट है, विवेचन का मुख्य विषय राजनीतिक इतिहास ही है। तथापि इसमें अन्यान्य महान् व्यक्तित्वों की सांस्कृतिक और प्रशासनिक उपलब्धियों से सम्बद्ध सभी विवरण मिलेंगे। प्रायः यह देखा जाता है कि अंग्रेजी भाषा के माध्यम से लिखने वाले भारतीय विद्वानों के उद्धरण देते समय उनके नामों के प्रारंभाक्षर रोमन

वर्णमाला में लिखे गये नामरूपों के अनुसार ही दिये जाते हैं। पढ़ते-पढ़ाते समय अनेक अध्यापक भी यही ढंग अपनाते हैं। परिणामतः, विद्यार्थियों को भारतीय नामों के भी सही और पूर्ण रूप नहीं ज्ञात हो पाते। इस दोष को दूर करने का यहाँ प्रयत्न किया गया है और भारतीय नामों के प्रारंभाक्षर नागरी वर्णमाला में लिखे गये नामरूपों के अनुसार ही दिये गये हैं। साथ ही, हिन्दी भाषा के अतिरिक्त, अन्य भाषाओं में भी प्रकाशित शोधपत्रिकाओं और पुस्तकों के नामों के प्रारंभाक्षर हिन्दी में लिखे गये नामरूपों के अनुसार ही यहां मिलेंगे। यह सर्वथा एक नयी पद्धति और दिशा है, जो आशा है आगे विद्वानों द्वारा एकरूपता की दृष्टि से स्वीकृत और व्यवहृत होगी। पूर्णता की दृष्टि से पुस्तक में यथास्थान चार मानचित्र, संक्षिप्त ग्रंथसूची और नामानुक्रमणिका भी मिलेगी। मुझे अपने प्रयत्नों में कितनी सफलता मिली है, इसका निर्णय विज्ञ पाठक ही करेंगे। मैं अपनी सभी कमियों के लिये नतमस्तक अवश्य हूं।

आज से लगभग ३-४ वर्षों पूर्व उत्तर प्रदेश सरकार की हिन्दी समिति ने प्रस्तुत पुस्तक तैयार करने का मुझे जो आमंत्रण दिया, तदर्थ मैं उसका धन्यवाद करता हूँ। उसके तत्कालीन सचिव पं. लीलाधर शर्मा, 'पर्वतीय' की रुचि और जागरूक तकाजों के बिना न तो यह कृति समय से पूरी हो पाती और न वर्तमान सचिव पं. काशीनाथ उपाध्याय, 'भ्रमर' की गुणचेता वृत्ति और लगन के बिना शीघ्रता से प्रकाशित हो पाती। मैं उन दोनों का आभार मानता हूँ। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के सहायक मंत्री, पं. शम्भुनाथ वाजपेयी, नागरी मुद्रण के प्रबन्धक श्री केशरीनारायण तिवारी तथा सभा के अधीक्षक पं. शिवशंकर मिश्र और उनके कार्यकर्त्ताओं ने इसकी छपाई में जो त्वरिता दिखायी है तथा अन्य सभी व्यवस्थाएँ की हैं, उनके लिए मैं, उन्हें धन्यवाद देता हूँ।

मेरे विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ. कालूलाल श्रीमाली ने इसे पूरा करने के लिए बड़ी कृपापूर्वक मुझे तीन महीनों का सवैतनिक विशेष अवकाश प्रदान किया। मेरे गुरु और विभागाध्यक्ष डॉ. हीरालाल सिंह जी की अनुकम्पा भी भरपूर रही है। उन्होंने मेरी प्रायः पूरी पाण्डुलिपि देखी, आवश्यक सुझाव दिये और मुझे विशेष अवकाश स्वीकृत करने के लिए विश्वविद्यालय के अधिकारियों के पास अपनी संस्तुति भेजी। इन विशिष्ट व्यक्तियों के प्रति मैं जो भी कृतज्ञतापूर्ण आभार प्रकट करूँ, वह थोड़ा ही होगा।

विशुद्धानन्द पाठक

४७ ए, रवीन्द्रपुरी, वाराणसी—५
माघी अमावस्या, वि.सं. २०२१

विषय सूची

संकेत सारिणी

अर्ली हिस्ट्री	अर्ली हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया—विन्सेण्ट स्मिथ।
आसरि०	ऐन्युअल् रिपोर्ट ऑफ् दि आर्केलॉजिकल् सर्वे ऑफ् इण्डिया।
इऐ०	इण्डियन् ऐण्टीक्वेरी।
इ० क०	इण्डियन् कल्चर्।
इम्पीरियल् हिस्ट्री	इम्पीरियल् हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, काशीप्रसाद जायसवाल।
इहिक्वा०	इण्डियन् हिस्टॉरिकल् क्वार्टर्ली।
एइ०	एपिग्राफिया इण्डिका।
ऐभओरिइ०	ऐनल्स् ऑफ् भण्डारकर ओरियण्टल् रिसर्च इन्स्टीट्यूट्।
ऐऐरा०	ऐनेल्स् ऐण्ड ऐण्टीक्विटीज् ऑफ् राजस्थान, कर्नल टॉड।
कार्पस्	कार्पस् इन्स्कृप्शनम् इण्डिकेरम्।
कावेल ऐण्ड टॉमस् अथवा कॉवेल और टॉमस्	हर्षचरित (अंग्रेजी अनुवाद)—इ० बी० कॉवेल् और एफ् डब्ल्यू० टॉमस्।
गुर्जरदेश	दि ग्लोरी दैट वाज गुर्जरदेश, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी।
गुर्जर प्रतीहारज्	दि हिस्ट्री ऑफ् दि गुर्जर प्रतीहारज्—बैजनाथपुरी।
गुर्जर प्रतीहारज्	दि हिस्ट्री ऑफ् दि गुर्जर प्रतीहारज्—विभूतिभूषण मिश्र।
चन्देलज़्	हिस्ट्री ऑफ् दि चन्देलज़्—निमाइ सघन बोस।
जइहि०	जर्नल ऑफ् इण्डियन् हिस्ट्री, त्रिवेन्द्रम्।
जएसो०, बेंगाल	जर्नल् ऑफ् दि र्‌वायल् एशियाटिक सोसायटी ऑफ् बेंगाल, कलकत्ता।
जराएसो०	जर्नल ऑफ् दि र्‌वायल् एशियाटिक सोसायटी ऑफ ग्रेट ब्रिटेन, लन्दन।
जराएसो०, बम्बई शाखा	जर्नल ऑफ् दि बाम्बे ब्राँच ऑफ् र्‌वायल् एशियाटिक सोसायटी बम्बई।
जबिरिसो०	जर्नल ऑफ् दि बिहार रिसर्च सोसायटी, पटना।
जबिओरिसो०	जर्नल ऑफ् दि बिहार ऐण्ड ओरिसा रिसर्च सोसायटी, पटना।

जडिले०	जर्नल ऑफ् दि डिपार्टमेंट ऑफ लेटर्स, कलकत्ता विश्वविद्यालय ।
जीवनी	लाइफ् ऑफ् श्वान् च्वांग्—हुइ-ली, सैम्युअल बील का अंग्रेजी अनुवाद ।
डाकडि०	डाइनेस्टीज़ ऑफ्ज् दि कनारीज् डिस्ट्रिक्ट्स् ऑफ् दि बाम्बे प्रेसीडेंन्सी-फ्लीट ।
डहिनाइ०	डाइनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ् नार्दर्न् इण्डिया—हेमचन्द्र राय ।
पोहिनाइ०	पोलिटिकल् हिस्ट्री ऑफ् नार्थ इण्डिया—हेमचन्द्र राय चौधरी ।
प्र०	प्रकाशन ।
प्रचिद्वि०	प्रबन्धचिन्तामणि का हिन्दी अनुवाद—हजारी प्रसाद द्विवेदी ।
बील	बुद्धिस्ट रेकार्ड्स् ऑफ् दि वेस्टर्न् वर्ल्ड-सेमुअल् बील ।
राज०	राजतरंगिणी—कल्हण ।
राइ०	राजस्थान का इतिहास, गौ० ही० ओझा ।
राष्ट्रकूटज्	राष्ट्रकूटज् ऐण्ड देयर टाइम्स—अ० स० अल्तेकर ।
वाटर्स्	आन् य्वान् च्वांगस् ट्रैह्वेल्स् इन् इण्डिया—टॉमस् वाटर्स् ।
हिमेहिइ०	हिस्ट्री ऑफ् मेडिवयल् हिन्दू इण्डिया—चि० वि० वैद्य ।

चित्र और मानचित्र सूची

❋ ❋ ❋

१

प्रास्ताविक

गुप्तोत्तर राजनीतिक विश्रृंखलन

साम्राज्यभोगी गुप्तों के अवसान के साथ भारतीय इतिहास का एक ऐसा युग समाप्त हो गया जिसकी अनेक निजी विशेषताएँ थीं। मौर्यों और गुप्तों का राजनीतिक स्वरूप अखिल भारतीय था और उनके शासन करते प्रायः समस्त भारतवर्ष अनेक दृष्टियों से एकसूत्र में आबद्ध था। किंतु पाँचवीं-छठीं शताब्दी से राजनीतिक और सांस्कृतिक दोनों ही क्षेत्रों में कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ प्रारम्भ हुईं जो अंततः देश को विश्रृंखलित कर देने का कारण बन गयीं। प्रांतवाद की संकुचित भावनाओं का उदय सर्वप्रथम हमें गुप्त साम्राज्य की अवनति के साथ दृष्टिगोचर होता है। परिणामस्वरूप सारा देश छोटेछोटे राज्यों में विभक्त हो गया, क्षेत्रीय स्वरूप और स्थानीय भावनाओं का तेजी से विकास हुआ और अरक्षा तथा अनिश्चितता का वातावरण छाने लगा। प्राशासनिक क्षेत्रों में एकरूपता, संतुलन और आंतरिक संघटन ढीले पड़ने लगे। राजनीतिक संघर्षों और सैनिकता की प्रवृत्ति बहुत ही बढ़ जाने के कारण विभिन्न शासकों ने समान समस्याओं पर भी सामूहिक रूप से सोचने-विचारने की चिन्ता नहीं की। प्रायः सबकी दृष्टि व्यक्तिवादी, क्षेत्रवादी अथवा स्थानीयतावादी हो गयी। सभी राजाओं ने अब अपने ही राज्य और राजवंशों की रक्षा करना अपने कर्त्तव्यों की इतिश्री मान ली और अखिल भारतीय दृष्टि से सोचने की कोई दूरदृष्टि नहीं दिखायी। इस खंडदृष्टि और अदूरदर्शिता का परिणाम जनता में भी इतना संक्रामक हुआ कि अब वह राज्यों के प्रायः नित्यप्रति बदलनेवाले मानचित्रों अथवा नवागन्तुक राजाओं और राजवंशों से न तो आकृष्ट होती थी और न अधिकांश के प्रति उसका कोई दुराव था। देशभक्ति और देश भावनाएँ अत्यन्त शिथिल हो गयीं। कुछ थोड़े से लोगों को छोड़कर अधिकांश शासितों में राजनीति के प्रति जो उदासीनता का भाव पहले से ही वर्तमान था, वह और भी घनीभूत हो गया। किन्तु इन सारी प्रवृत्तियों की ओर इङ्गित करते हुए यहाँ यह दिखाना अभीप्सित नहीं है कि उन्हीं प्रवृत्तियों की अकेली व्याप्तता थी। उत्तरभारत पर मुसलमानी सत्ता के स्थायी स्थापन के पूर्व तथा उसके बाद भी हमें भिन्न-भिन्न अवसरों पर सामूहिक और एकबद्ध भावना, प्रगाढ़ देशभक्ति और सम्पूर्ण मातृभूमि की रक्षा की उत्कट इच्छा,

अप्रतिम शौर्य और विदेशियों के प्रति अनवरत संघर्ष के उदाहरण मिलते हैं । फिर भी इन ज्वलन्त उदाहरणों को हम अपवादस्वरूप ही स्वीकार कर सकते हैं ।

गुप्त साम्राज्य के अवशेषों पर

ऐसा नहीं कि साम्राज्यभोगी गुप्तों के बाद भारतवर्ष में उनकी तुलना में सम्राट् और साम्राज्य हुए ही नहीं । सातवीं शती के प्रथमार्ध में हर्षवर्धन और नवीं शती में गुर्जर प्रतीहारों का कन्नौज साम्राज्य अपनी शक्ति और वैभव में गुप्तों से पीछे नहीं था । किन्तु वे 'सकलउत्तरापथेश्वर' मात्र थे । मौर्यों और गुप्तों के मगध साम्राज्य दक्षिण भारत के लिए भी अधिराट् स्वरूप थे, किन्तु उसके विपरीत कन्नौज साम्राज्य अपना प्रभाव विंध्याचल के नीचे कभी भी स्थापित नहीं कर सका[१] । साथ ही, ऊपर जिन प्रवृत्तियों की ओर निर्देश किया जा चुका है, उनके कारण कन्नौज साम्राज्य कभी भी शान्त और निर्वाध होकर देश के सांस्कृतिक, कलात्मक तथा साहित्यिक उन्नयन में उस प्रकार नहीं लग सका जिस प्रकार मौर्यों और गुप्तों ने अपने को लगाया था । और यदि यह अवस्था कन्नौज के विशाल साम्राज्य की थी तो अन्य छोटे-छोटे साम्राज्यों अथवा राज्यों की बात ही क्या ? इस स्थिति का सर्वमुख्य कारण था भारतवर्ष के विशाल भूभाग पर फैले हुए अनगिनत छोटे-बड़े राज्यों का प्रादुर्भाव । पाँचवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में उत्तर-पश्चिमी भारत पर होनेवाले हूण आक्रमण गुप्त साम्राज्य के ह्रास के प्रमुख कारण बने । पंजाब और मालवा में उनके दो छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गये जो अगली कई शताब्दियों तक भारतीय राजनीति में एक विघटक तत्त्व के रूप में बने रहे । प्राय: उसी समय गुप्त साम्राज्य का मैत्रक नामक एक सामंतवंश भी वलभी में स्वतंत्र रूप से शासन करने लगा । पूर्व में कामरूप (असम) भगदत्तों के नेतृत्त्व में स्वतन्त्र हो गया और बंगाल तथा उड़ीसा भौगोलिक और राजनीतिक इकाइयों के रूप में निखरने लगे । उत्तर में पुष्यभूति और उसके वंशजों ने थानेश्वर (कुरुक्षेत्र) में एक राज्य की स्थापना कर ली । पश्चिम में राजस्थान (जोधपुर) और गुजरात-सौराष्ट्र (भृगुकच्छ-नांदीपुरी) से गुर्जर प्रतीहारों की दो शाखाओं ने शासन प्रारम्भ कर दिया । सिंध भी स्वतंत्र था । देश का उत्तर-पश्चिमी द्वार हूणों के अतिरिक्त अनेक विदेशी आक्रमणकारी जातियों के लिए अप्रतिरुद्ध रूप में खुल गया । गुप्त साम्राज्य का हृदयस्थल (उत्तर प्रदेश और बिहार) भी कई छोटे-छोटे क्षेत्रों में बँट गया । कन्नौज में मौखरि राजवंश शासन करने लगा, जो छठीं शती के उत्तरार्ध और सातवीं शती के प्रथम ५-६ वर्षों के भीतर उत्तरभारतीय राजनीति में कई मोड़ों का कारण बना । विघटन के इस दौर में स्वयं गुप्तवंश के नामलेवा

---

१. हर्ष का प्रतिद्वन्द्वी द्वितीय पुलकेशिन् उसे 'सकलउत्तरापथेश्वर' मात्र कहता है । एइ०, जिल्द ५, पृ० २०२, नवीं पंक्ति ।

भी अन्य स्थानीय राजवंशों की तरह मालवा और मगध में अलग-अलग सीमित हो गये, जिनसे अपने पूर्वजों की सारी शक्ति जाती रही। इस प्रकार ईसा की छठीं शताब्दी में उत्तर भारत से केन्द्रीय सत्ता का लोप हो गया और देश राजनीतिक महत्त्वाकांक्षिओं एवं सैनिक साहसिकों का उन्मुक्त चारागाह[1] बन गया। दक्षिण भारत की भी अवस्था इससे बहुत भिन्न नहीं थी, किन्तु वह यहाँ हमारे विचार का विषय नहीं है।

कन्नौज का प्रथमोदय : लगभग ६००-६५० ई०

सातवीं शताब्दी के प्रथमार्ध में हर्षवर्धन की सैनिक विजयों, राजनीतिक कुशलताओं और प्राशासनिक योग्यताओं के कारण उत्तर भारत पुनः एक बार एक आधिराज्य[2] के भीतर ग्रथित होकर विघटक तत्त्वों को दबाने में सफल तो हुआ, किन्तु वह सफलता बड़ी अल्पकालिक साबित हुई। यद्यपि उसका मुख्य कारण हर्ष की मृत्यु के बाद उसी जैसे किसी उत्तराधिकारी का अभाव था, विघटन की प्रवृत्तियों को आँखों से ओझल नहीं किया जा सकता। तथापि, पुष्यभूति साम्राज्य के विकास के साथ कन्नौज में हमें शक्ति और राजनीति का एक नया केन्द्र दिखायी देता है। ईसापूर्व छठीं शताब्दी से ईसा की पाँचवीं शताब्दी के बीच लगभग १००० वर्षों तक भारतीय राजनीति का केन्द्र मगध और उसकी राजधानी पाटलिपुत्र में था। किन्तु अब पञ्चाल क्षेत्र में स्थित कान्यकुब्ज ने वह स्थान ले लिया जो अगले लगभग ६०० वर्षों तक उत्तरभारतीय, राजनीति का प्रधान आकर्षण-बिन्दु बना रहा और उसे पाने के लिए कश्मीर, बंगाल, मालवा, राजस्थान और दक्षिणापथ की अनेक सत्ताओं ने बारी-बारी से सफल अथवा असफल प्रयत्न किये।

राजनीतिक शून्यताजन्य अराजकता

कन्नौज की इस विशेषता का जनक हर्षवर्धन था। किन्तु उसकी मृत्यु के बाद लगभग १५० वर्षों तक, यशोवर्मन् की दिग्विजय के बावजूद, कन्नौज का उत्तर भारतीय राजनीति में कोई महत्त्वपूर्ण योगदान नहीं दिखायी देता। यह समय एक प्रकार से राज-नीतिक शून्य का काल प्रतीत होता है, जो बहुत अंशों में छठीं शताब्दी की राजनीतिक स्थिति के समान दिखायी देता है। कामरूप (असम), वंग-समतट (दक्षिण-पूर्वी बंगाल), गौड-वारेन्द्र (पश्चिमी और दक्षिण-पश्चिमी बंगाल), कोंगद (मध्य

---

१. मन्दसोर अभिलेख (फ्लीट, कार्पस् सं० ७०) से ज्ञात होता है कि यशोवर्मा ने लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) नदी से लेकर महेन्द्रपर्वत तक तथा हिमालय से पश्चिमी समुद्र तक उन सभी प्रदेशों की विजय-यात्रा की, जिन्हें गुप्तनाथों अर्थात् गुप्त सम्राटों ने भी नहीं भोगा था।

२. आगे देखिए, दूसरा अध्याय।

उड़ीसा), ओड्र (उत्तर-पूर्वी उड़ीसा) और कलिंग (दक्षिण-पश्चिमी उड़ीसा), कोसल (दक्षिण कोसल अथवा महाकोसल), अंग, मगध तथा कन्नौज में अनेक छोटे-छोटे राजे-रजवाड़ों की स्थिति से अराजकता और मात्स्यन्याय की[१] अवस्था उत्पन्न हो गयी। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' की इस दशा में इन क्षेत्रों पर उस समय के सर्व-प्रमुख उत्तरभारतीय राज्यों-कश्मीर, तिब्बतियों और नेपालीभोटियों, ने कई बार चढ़ाईयाँ कीं।[२] पश्चिमी भारत में सिंध, भड़ौंच, बलभी, मालवा, जोधपुर, उत्तर में छंब और कीर (काँगड़ा) तथा मध्यभारत में मत्स्य (अलवर भरतपुर और जयपुर) और विदर्भ के स्वतंत्र राज्य थे ही। राजनीतिक अस्तव्यस्तता की स्थिति में ही पश्चिमी समुद्र तट के क्षेत्रों पर ७१२ ई० में अरबों का आक्रमण हुआ तथा सिन्ध और मुल्तान उनके अधिकार में चले गये। यह स्थिति आठवीं शताब्दी के तृतीय चतुर्थांश के अन्त तक बनी रही जब हमें उत्तरभारतीय राजनीति में पुनः एक स्पन्दनकारी परिवर्तन दिखायी देता है।

साम्राज्यशासी कन्नौज का युग : ८००-१००० ई०

सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में राजनीतिक नवनिर्माण की उत्कंठा से प्रेरित प्रायः एक ही साथ तीन दिशाओं में तीन विभिन्न राजनीतिक शक्तियाँ उदित हुईं। दक्षिणापथ में मान्यखेट के राष्ट्रकूटों, बंगाल (गौड) के पालों और मालवा-राजस्थान के गुर्जर प्रतीहारों ने, अपने वास्तविक अधिकार-क्षेत्रों अथवा प्रभाव क्षेत्रों का समान रूप से विस्तार करते हुए, उत्तरभारतीय राजनीतिक शून्य पर छा जाने का संघर्षपूर्ण प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया, जो लगभग १५० वर्षों तक चलता रहा। इनके पारस्परिक संघर्ष मालवा से लेकर बंगाल तक के कई क्षेत्रों में कई बार हुए, किन्तु उनका केन्द्र प्रायः दोआब का उपजाऊ मैदान ही था। उसकी राजधानी कन्नौज उन अनेक मार्गों को जोड़ती थी जो गंगा के किनारों से होते हुए दक्षिण-पूर्व में समुद्र तट, मालवा से होते हुए पश्चिमी समुद्रतट एवं विन्ध्याचल से दक्षिण में स्थित अनेक प्रमुख नगरों और व्यापारिक केन्द्रों तक जाते थे। उनके त्रिकोणात्मक संघर्षों का मूल कारण इन व्यापारिक मार्गों और अन्न के उत्पादक क्षेत्रों पर अधिकार करना था। पालों और प्रतीहारों के बीच होने वाले युद्धों का एक अन्य कारण उत्तरभारतीय राजनीति को अप्रतिद्वंद्वी रूप में संचालित करने की मनोकामना प्रतीत होती है। अन्ततः इस दौड़ में गुर्जर प्रतीहार बाजी मार ले गये और कन्नौज पर उन्होंने अधिकार कर प्रायः समस्त उत्तर भारतीय राजनीति को बहुत दिनों तक

---

१. देखिए, धर्मपाल का खालिमपुर अभिलेख, इऐ०, जिल्द ४, श्लोक ३; तारानाथ के विवरण, इऐ०, जिल्द ४, पृ० ३६६।

२. आगे देखिए, तीसरा और चौथा अध्याय।

प्रभावित एवं संचालित किया। उचित ही है कि इस युग को 'साम्राज्यवादी कन्नौज का युग' कहा जाय।

साम्राज्य के लिए संघर्ष : १०००-१२०० ई०

किन्तु गुर्जर प्रतीहारों की अवनति के बाद १०वीं शताब्दी के अन्त और ११वीं शताब्दी के प्रारम्भ का युग विशृंखलन, कमजोरी, आपसी प्रतिस्पर्द्धा और क्षेत्रवाद की भावना के विस्तार में पहले से भी अधिक भंयकर साबित हुआ। १००० ई० के आस-पास देश के विशृंखलन का जो चित्र दिखायी पड़ता है, वह मौर्यों तथा गुप्तों की अवनति अथवा हर्ष के अन्त के बाद होने वाले विशृंखलन से कई गुना अधिक भयंकर था, और वह भी ऐसे समय जब सारा उत्तरी भारत महमूद गजनवी के नेतृत्व में तुर्कों के बर्बर आक्रमणों से आक्रान्त हो रहा था। प्रतीहार साम्राज्य के खण्डहरों पर गाहडवाल (कन्नौज-काशी), चन्देल (बुंदेलखण्ड), तोमर (दिल्ली), चाहमान (शकम्भरी-अजमेर), परमार (मालवा), चौलुक्य (गुजरात-सौराष्ट्र) और कलचुरि (पश्चिम में त्रिपुरी, पूर्व में रतनपुर और उत्तर में गोरखपुर) जैसे अनेक स्थानीय राज्य स्थापित हो गये। इनमें भी परमारों, चाहमानों और कलचुरियों की अनेक शाखाएँ थीं, जो छोटे-छोटे क्षेत्रों पर शासन करती थीं। पूर्व में पाल राज्य का जो विघटन कैवर्त्तों के विद्रोह (१०७५ ई० के आसपास) से प्रारम्भ हुआ, उसका परिणाम पालों की अवनति के साथ-साथ अंग, वंग और मगध आदि में लगभग दसों स्वतंत्र राजवंशों के उदय के रूप में उपस्थित हुआ। ये क्षेत्र अब दक्षिण के चोलों और कर्णाटों तथा तिब्बत की ओर से कंबोजों के आक्रमण के शिकार होने लगे।[१] बंगाल के कई भागों पर कंबोजों ने अधिकार कर लिया तथा बंगाल में सेनों एवं मिथिला के कर्णाटों के रूप में दाक्षिणात्यों ने उत्तर भारत में नये-नये राजवंशों की स्थापना की। उन्होंने बदायूँ और पीठी में भी स्वतंत्र राज्यों की स्थापना की। एकदम पूर्व में असम स्वतंत्र था और दक्षिणपूर्व में कलिंग गंगों के अधिकार में चला गया।[२] ये सारे क्षेत्र राजेन्द्र चोल (१०१२-१०४४ ई०), कलचुरि कर्ण (१०४१-१०७३ ई०), प्रथम सोमेश्वर (१०४२-१०७५ ई०) और षष्ठ विक्रमादित्य चालुक्य (१०७६-११२६ ई०) तथा अनन्तवर्मा चोडगंग (१०७८-११४७ ई०) जैसे महत्त्वाकांक्षी विजेताओं के लिए सैनिक क्रीड़ास्थल बन गये। इस युग में उत्तर भारत के उत्तरी, मध्य तथा पश्चिमी भागों में भोज परमार (१०१०-१०५५ ई०), भीम चौलुक्य (१०२४-१०६५ ई०) तथा कलचुरि कर्ण (१०४१-१०७३ ई०) ने प्रथम दौर में एवं गोविन्दचन्द्र (१११४-११५४ ई०) और जयच्चन्द्र गाहडवाल (११७०-

१. आगे देखिए, नवाँ अध्याय।

२. आगे देखिए, दसवाँ अध्याय।

११९४ ई०), विग्रहराज **बीसलदेव** (११५१-११६६ ई०) और तृतीय पृथ्वीराज चौहान (११७७-११९२ ई०) तथा जयसिंह **सिद्धराज** (१०९३-११४२ ई०) एवं कुमारपाल चौलुक्य (११४३-११७३ ई०) ने दूसरे दौर में अपने-अपने राज्यों को साम्राज्य का रूप देने के लिए घोर आपसी संघर्ष किया । वे सभी एक-दूसरे को दबाने का प्रयत्न करते हुए अपनी सत्ता को ऊपर उठाकर भारत की प्रमुख राजनीतिक सत्ता बनाने का जो अनवरत प्रयत्न करते रहे, वही इस युग की मुख्य राजनीतिक प्रवृत्ति प्रतीत होती है । इसी कारण इसे 'साम्राज्य के लिये संघर्ष का युग' कहा जाता है । बीच-बीच में इन सबके लाहौर में स्थापित यमीनी तुर्कों एवं सिन्ध और मुल्तान के अरबों से भी युद्ध होते रहे । किन्तु इनमें से किसी ने यह सोचने की चिन्ता नहीं की कि भारतीय संस्कृति के शत्रु इस्लाम के प्रतिनिधि क्या सोच रहे हैं अथवा तुर्क-अफगान मुसल-मानों की ललचायी आँखें किस प्रकार उन्हें समाप्त कर जाना चाहती हैं । यद्यपि तुर्क आक्रमणों के मुकाबले कई बार भारतीय राजाओं को गौरवपूर्ण सफलताएँ प्राप्त हुईं और वे व्यक्तिगत वीरता में उनसे कम न थे किन्तु, कुछ साधारण अपवादों को छोड़-कर, ये समवेत होकर उस समस्या का हल निकालने के लिए कभी नहीं जुटे अथवा जब जुटे भी तो अनियंत्रित, दु:संचालित और खंडरूप में, जिनके परिणाम अंततः उनके विपरीत ही हुए ।[१] प्रतीहारों के पतन के बाद मुसलमान आक्रामकों को सीमाओं के पार ही रोकने की इच्छाशक्ति समाप्त हो गयी सी जान पड़ती है । किन्तु ऐसा नहीं हुआ कि तुर्क आक्रामक बेरोकटोक देश के विभिन्न भागों में घुस गये । 'धंग ने हम्मीर की तुलना की'; विद्याधर ने राज्यपाल को महमूद के मुकाबले कायरतापूर्वक भाग जाने के लिए दंडित किया और स्वयं महमूद की चुनौतियों का उत्तर युद्धस्थल में दिया; 'गोविन्दचन्द्र वीर एवं दुष्ट तुरुष्क से काशी की रक्षा के लिए मानो हरि का अवतार ही हुआ' था; चतुर्थ विग्रहराज **बीसलदेव** ने लाहौर के अमीर का डटकर मुकाबला किया तथा नवयुवक द्वितीय भीम ने काशह्रद के मैदान में मुहम्मद गोरी की सेनाओं का प्रायः पूरा सफाया कर दिया । अन्यत्र भी कई बार भारतीय वीर आर्यावर्त्त को 'म्लेच्छों' से मुक्तकर वास्तविक आर्यक्षेत्र बनाने का बीड़ा उठाते रहे । किन्तु आपस में लड़ते हुए इस

---

१. अरब-तुर्कों के आतंक और दबाव को रोकने के लिए हिन्दू राजाओं ने कोई स्थायी और सरकारी नीति नहीं अपनायी । किन्तु इससे यह अर्थ नहीं निकाला जाना चाहिए कि उन्हें उन आक्रान्ताओं से उत्पन्न होने वाली राजनीतिक और सांस्कृतिक समस्याओं का अन्दाज नहीं था । ४८६ कलचुरि संवत् (७३५ ई०) के चतुर्थ जयभट्ट के कवि अभिलेख में अरबों (ताज्जिकों) को सारे लोकों के लिए संतापकारक अग्नि के समान (अशेषलोकसंतापकलापदस्ताज्जिकानलं) बताया गया है । कार्पस्, जिल्द ४, पृ० ९९ ।

समय के हिन्दू राजाओं ने इस्लाम की चुनौती को अपनी राजनीति में मुख्य स्थान क्यों नहीं दिया, यह एक पहेली है । इस चुनौती में उन्होंने लड़ाइयाँ तो कई जीतीं, किन्तु उसका लंबा संघर्ष वे नहीं जीत सके । इन स्थितियों और प्रवृत्तियों का कारण और परिणाम ढूँढ़ निकालना ही इतिहास के विद्यार्थी का अभीप्सित है ।

केन्द्रीय सत्ता की ढीलाई और सामन्तवाद का विकास

पीछे जो कुछ लिखा जा चुका है, उससे स्पष्ट है कि हर्षवर्धन अथवा द्वितीय नागभट्ट से लेकर प्रथम महेन्द्रपाल तक के गुर्जर प्रतीहार सम्राटों जैसे कुछ अपवादों को छोड़कर ६०० से १२०० ई० के बीच सम्पूर्ण भारत की तो बात ही क्या, उत्तर भारत को भी एक राजनीतिक सूत्र में आबद्धकर प्रभावित करने वाली कोई केन्द्रीय सत्ता नहीं रही । इस स्थिति का एक बहुत बड़ा कारण सामन्तवाद का उदय और विकास था, जो कई दृष्टियों से मध्ययुगीन योरोप की सामन्तवादी स्थितियों के समान था । किन्तु भारतीय सामन्तवाद अपनी उत्पत्ति और विकास में बहुत मात्राओं में योरोपीय सामन्तवाद से भिन्न भी था ।

योरोपीय सामन्तवाद का स्वरूप

दक्षिणी, मध्य और पश्चिमी योरोप के देश अरबों, हंगेरियनों, मैग्यारों और अनेक जर्मनीय जातियों के अनवरत आक्रमणों से इतने त्रस्त थे कि वहाँ साधारण निवासियों का भी जीवन अत्यन्त अरक्षित और दूभर हो गया और वे रक्षकों की खोज में रहने लगे ।[१] दूसरी ओर वहाँ के राजे, राजकुमार और जमींदार अपने सेवकों, गुलामों और अनुयायिओं की सेना अथवा दल तैयार कर अपने लिए राजनीतिक और आर्थिक भविष्य बनाने लगे । इस प्रकार मूलतः रक्षा चाहने वाला उसे दे सकने वाले की सेवा में लग गया और उसकी भक्ति करने लगा तथा उसका रक्षक उसे अपना जन मानने लगा ।[२] ऐसे जन अथवा सामन्त (ह्वैसल) शान्तिकाल में राजदरबारों में रहकर कई प्रकार की सेवाएँ करने लगें[३], और अनेक प्रकार के कर देने लगे[३], जिनके बदले में स्वामी उन्हें प्रतिष्ठा और सेवाभूमि (फियल्टी) अथवा तालुकदारी देते थे । युद्ध के समय इन सेवकों का युद्धस्थल में जाकर लड़ना मुख्य कर्त्तव्य हो गया ।[४] धीरे-धीरे इस प्रकार के सामन्तों की

---

१. देखिए, मार्क ब्लाश, दि फ्यूडल् सोसायटी (केगन पाल, लन्दन, १९६१), पृष्ठ १४८ और आगे ।

२. वहीं पृ० १५६ ।

३. वहीं पृ० २२१-२२३ ।

४. वहीं पृ० २२८ ।

कई श्रेणियाँ बन गयीं तथा उनके मालिकों की भी कई सीढ़ियाँ हो गयीं, जिन्हें राज्य तथा समाज ने एक राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक संस्था के रूप में विधानतः स्वीकार कर लिया।[१] फ्रांस और जर्मनी जैसे देशों में सामन्त-संस्था इतनी बद्धमूल हो गयी कि जब विलियम विजेता ने १०६६ ई० में इंग्लैण्ड की विजय की तो वहाँ विधिवत् उसे प्रचलित किया[२], जिनकी परम्पराएँ आगे चलकर अनेक साँविधानिक संस्थाओं के निर्माण और विकास को प्रभावित करने वाली सिद्ध हुईं।

भारत में राजनीतिक सामन्तवाद का उदय और विकास

भारतीय सामन्तवाद का प्रारम्भिक सूत्रपात गुप्त सम्राटों के समय हो चुका था। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति[३] की सूचना है कि उसकी दिग्विजय के सिलसिले में विजित अटवी राज्यों को **परिचारकीकृत** (सेवकाई करने); सीमान्तों के विजित राज्यों और गणों को अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखने के लिए **सर्वकरदान** (सभी प्रकार के करों को देने), **आज्ञाकरण** (सम्राट् की आज्ञाओं का पालन करने) तथा **प्रणामागमन** (सम्राट् के सामने उपस्थित होकर प्रणाम करने) और **दैवपुत्रषाहिषाहानुषहि** शकमुरुडों तथा सिंहल आदि द्वीपों के निवासियों को **आत्मनिवेदन** (सम्राट् के सामने अपने को उपस्थित करने) और **कन्योपायन** (अपनी कन्याओं को सम्राट् अथवा उसके राजपरिवार के व्यक्तियों से ब्याहने) जैसी अनेक शर्तों को मानने के लिए विवश होना पड़ा। इस प्रकार छोटे राजा दिग्विजयी से राजनीतिक अधीनता के सूचक अनेक सम्बन्धों से बँधे होते थे और समय-समय पर सम्राट् के प्रति उनके कई प्रकार के कर्त्तव्य होते थे। ये ही बाद में सामन्त अथवा महासामन्त कहलाये। **कौटिलीय अर्थशास्त्र**, अशोक के धर्मलेखों अथवा **मनुस्मृति** और **याज्ञवल्क्यस्मृति** जैसे धर्मशास्त्रग्रन्थों में मूलतः सामन्त का अर्थ पड़ोसी[४] व्यक्ति अथवा स्वतंत्र पड़ोसी राज्य माना गया है। राजनीतिक अधीनस्थ के रूप में इस शब्द का व्यवहार छठीं शती के अनन्तवर्मा नामक मौखरि राजा के एक अभिलेख[५] से पूर्व नहीं प्राप्त होता। वहाँ उसके पिता को **सामन्तचूडामणि** कहा गया है। वाणभट्ट ने **हर्षचरित** और **कादम्बरी** नामक अपने

---

१. मार्क ब्लाश, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १५९-१६७।

२. देखिए, स्टूडेण्टस्' मैन्युअल् ऑफ इंगलिश कान्स्टीठ्यूशनल् हिस्ट्री, षष्ठ संस्करण, आक्सफोर्ड, पृ० २४ और आगे।

३. फ्लीट, कार्पस्, जिल्द ३. सं० १, पृ० ७-८।

४. अर्थशास्त्र, प्रथम, ६; अशोक का द्वितीय प्रस्तर लेख; मनु०, अष्टम, २८६-२८९; याज्ञ०, द्वितीय, १५२-१५३।

५. फ्लीट, कार्पस्, जि० तृतीय, सं० ४८, पृ० २२३।

ग्रन्थों में सामन्तों के बहुप्रकारों की चर्चा करते हुए[1] उनके हर्ष के राजदरबार में उपस्थित होने और बहुविध अभिवादन करने की चर्चा की है। सम्राट् के अधीनस्थ सामन्त उसके दरबार में उपस्थित होकर उसकी सेवा और भक्ति तो करते ही थे, रास्ते में पड़ने वाले सामन्त विजययात्राओं पर जाती हुई उसकी सेनाओं की अगवानी, आवभगत और आवश्यकतापूर्ति भी करते थे। धीरे-धीरे सामन्तों का यह प्रधान कर्त्तव्य हो गया कि सम्राट् की विजययात्राओं में उसके शत्रुओं के विरुद्ध लड़ने के लिए वे भी अपनी सेनाएँ लेकर सन्नद्ध हो जाँय। इस प्रकार के अनगिनत उदाहरण पाल, गुर्जर प्रतीहार, चन्देल, चाहमान, चौलुक्य और परमार अभिलेखों से हमें प्राप्त होते हैं।[2] पाँचवीं-छठीं शताब्दियों के बाद सामन्तगण अपने अभिलेखों में अपने सम्राटों का भी उल्लेख करने लगते हैं। किन्तु स्वयं अपनी राजधानी में अपनी राजगद्दी पर बड़े-बड़े सामन्त चमर, पालकी और हाथी जैसी प्रतिष्ठासूचक वस्तुओं एवं सवारियों का प्रयोग कर सकते थे।[3] बड़े सामन्तों को **पंचमहाशब्द** अथवा **समधिगतपंचमहाशब्द** की उपाधियाँ प्राप्त होती थीं। कल्याणी के चालुक्य राजा तृतीय सोमेश्वरकृत **मानसोल्लास** (११३१

---

१. हर्षचरित निर्णयसागर प्रेस, पृ० १००) 'करदीकृत महासामन्त' का उल्लेख करता है। वा० श० अग्रवाल, कादम्बरी, एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १२८।

२. देवपाल के बाद के सभी पाल अभिलेख उनके स्कन्धवारों को सामन्तों से भरा हुआ बताते हैं, यथा–'उदीचीनानेकनरपतिप्रभृतिपरमेश्वरसेवासमायाताशेषजम्बूद्वीपभूपाल' आदि। एइ० जि० १७, पृ० २२-२३। धनपालकृत तिलकमंजरी (पृ० १७, ३२, ८०) से स्पष्ट है कि परमारों के सामन्त उनके युद्धों में सर्वदा उनके साथ रहते थे। रामपाल ने कैवर्तों का विद्रोह समाप्त करने और भीम से लड़ने के लिए साम्राज्य के लगभग १५ सामन्तों की सैनिक सहायताएँ प्राप्त की थीं। इस सम्बन्ध में देखिये रामचरित, द्वितीय १ और आगे। प्रतीहार शासक वत्सराज के साथ चाहमान सामन्त दुर्लभराज गौडराज के विरुद्ध लड़ा (पृथ्वीराजविजय, पंचम, २०) था। द्वितीय नागभट्ट के साथ मुद्‌गगिरि के युद्ध में धर्मपाल और चक्रायुध के विरुद्ध जोधपुर का प्रतीहार सामन्त कक्क (जराएसो०, १८९४, पृ० ४ और आगे) भिड़ा था। गुजरात के वाहूकधवल चालुक्य (मजमुदार, जडिले, जिल्द १०, पृ० ४०, नोट) तथा गुहिलवंशी शंकरगण (एइ०, जिल्द १३, पृष्ठ १२) नामक सामन्तों ने भी उस युद्ध में भाग लिया था। आगे भी गुहिलों, चालुक्यों, चाहमानों और गोरखपुर के कलचुरियों की कई पुश्तों ने प्रतीहार युद्धों में भाग लिया था। इस सम्बन्ध में देखिए, पाँचवाँ अध्याय।

३. अल्तेकर, राष्ट्रकूट्ज ऐण्ड देयर टाइम्स्, पृ० २६३।

ई०) नामक ग्रन्थ से इङ्गित होता है कि **पंचमहाशब्द** विरुद धारण करने वाले सामन्तों को शृंग, तम्मट (अस्पष्ट), शंख, भेरी और जयघंटा नामक बाजाओं के बजाने की स्वतंत्रता प्राप्त थी ।[१] इस प्रकार सामन्तों की अनेक कोटियाँ हो गयीं, जिनके आधार पर उन्हें **राजा, महाराज, राजराजानक, राणक, राजपुत्र, ठाकुर, सामन्त, महासामन्त, महासामन्ताधिपति महासामन्तराणक और माण्डलिक** जैसे विशेषण दिये जाने लगे ।[२]

दान और सेवारूप प्राप्त भूमियों से उत्पन्न सामन्तवाद

सामन्तवाद के राजनीतिक स्वरूप के अतिरिक्त उसका एक भौमिक सामाजिक स्वरूप भी था । गुप्तकाल के बाद छोटे-बड़े सभी राजे-महाराजे ब्राह्मणों, धर्मसंस्थानों, मन्दिरों तथा विहारों और संघारामों को भूमिदान देते समय दान की गयी भूमि से राज्य को प्राप्त होने वाले करों जैसे सभी आर्थिक लाभों का भी दान कर देते थे तथा उनके शासन के सम्पूर्ण अधिकार दानग्रहिता को हस्तांतरित हो जाते थे ।[३] मौर्ययुग अथवा उसके पूर्व भी भूमिदान किये जाते थे, किन्तु उनमें कहीं भी राजा द्वारा अपने प्रशासनिक अथवा कर सम्बन्धी अधिकारों और खनिज, वन्य एवं जलीय क्षेत्रों के छोड़ने का उल्लेख नहीं है । अत: विवेच्य युग वाले दानों का परिणाम यह हुआ कि सारे राज्य में दान दी गयी भूमियों के ऐसे अनेक खंडप्रखंड बन गये, जहाँ से केन्द्रीय प्रशासन समाप्त हो गया और उसके स्थान पर ब्राह्मणों अथवा देवस्थानों या धर्मस्थानों का प्रशासन प्रारम्भ हो गया । ऐसे दान प्राप्तकर्त्ताओं की संख्या लाखों के आसपास थी और वे सभी दान शाश्वत समय के लिए (जबतक सूर्य और चन्द्र उगते और डूबते रहें) किये जाते थे । दानकर्त्ता अपने उत्तराधिकारिओं और बाद में होने वाले राजाओं से भी आशा करता था कि वे उन्हें बाधित नहीं करेंगे । ऐसी स्थिति में राजकीय प्रशासन से स्वतंत्र छोटे-छोटे प्रशासनों की ऐसी अनेक इकाइयाँ उत्पन्न हो गयीं, जो आर्थिक और प्रशासनिक दृष्टि से स्वतन्त्ररूप में अपने पैरों पर खड़ी होने में समर्थ थीं । आगे चलकर कहीं कहीं तो दान-प्राप्तकर्ताओं को चोरों को दण्डित करने के भी अधिकार प्राप्त हो गये[४] । यद्यपि इस प्रकार के दान मुख्यत: ब्राह्मणों, पुजारियों-पुरोहितों और धर्मसंस्थानों को ही दिये जाते थे, राजकीय अधिकारिओं अथवा सेना-कर्मचारियों को भी वेतन अथवा पारिश्रमिक स्वरूप भूमि दिये

---

१. तृतीय, श्लोक १३६६; और देखिए इऐ०, जिल्द १२, पृ० ९६ ।

२. इस सम्बन्ध में देखिए, राधाकृष्ण चौधुरी, जर्नल ऑफ् इण्डियन हिस्ट्री, जि० २७, पृ० ३८९ ।

३. रा० श० शर्मा, इण्डियन् फ्यूडलिजम्, पृ० ३-९ तथा पृ० ७७ और आगे ।

४. पाल अभिलेखों में उन्हें 'दशापराधदण्ड' अथवा 'दशापचार' की संज्ञाएँ दी गयी हैं ।

जाने के उदाहरण मिलते हैं।[१] इन सबका परिणाम यह हुआ कि साधारण कृषकों और केन्द्रीय शासन के बीच एक ऐसे भौमिक जमींदार वर्ग का विकास होता गया जो शासितों और शासकों के बीच मध्यमवर्ती अथवा दीवार का काम करने लगा। साधारण करवसूली और प्रशासन के अतिरिक्त बेगार (विष्टि) लेने की भी उन्हें सुविधा थी।[२] चूँकि इस प्रकार के दान अथवा भूमिप्रबन्धों का अधिकार सामन्तों अथवा दानप्राप्त-कर्त्ताओं को भी था,[३] प्रशासन का प्रखंडीकरण और भी बढ़ता ही गया।

सामन्तों की केन्द्रीय प्रशासन में नियुक्ति

गुप्तयुग से १२०० ई० तक केन्द्रीय शासन के अथवा उसकी ओर से प्रशासन के विभिन्न पदों पर सामन्तों के नियुक्त किये जाने के बहुत उल्लेख मिलते हैं। अनेक उच्चाधिकारी ऐसे भी होते थे जो वास्तव में सामन्त न होते हुए भी सामन्ती पदवियाँ धारण करते थे। **भोगपति, भोगिक, उपरिक महाराज, सान्धिविग्रहिक** अथवा **महासांधिविग्रहिक, दण्डनायक** अथवा **महादण्डनायक, कुमारामात्य** और **अक्षपटलाधिकृत** जैसे अनेक अधिकारियों के उल्लेख **सामन्त** अथवा **महासामन्त, माण्डलिक** अथवा **महामाण्डलिक** और **महाराज** जैसे विशेषणों से युक्त मिलते हैं। स्पष्ट है, सामन्तवाद की संस्थात्मक प्रवृत्तियों ने केन्द्रीय प्रशासन से लेकर नीचे तक घर कर लिया। इन अधिकारियों में अनेक ऐसे थे, जिन्हें राजकीय सेवाओं के बदले अंशतः या पूर्णतः भूमि और उससे प्राप्त होने वाली आय के रूप में पारिश्रमिक दिया जाता था।[४]

यहाँ फ्रांस, जर्मनी अथवा इंग्लैंड में प्रचलित सामन्ती व्यवस्थाओं से भारतीय सामन्ती व्यवस्थाओं की तुलना अप्रासंगिक न होगी। उन दोनों में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि योरोप की तरह भारतीय सामन्तवाद 'सहायता करने और रक्षा करने' की आवश्यकताओं अथवा पारस्परिक आदान-प्रदान सम्बन्धों से नहीं उत्पन्न हुआ था। वास्तव में भारतीय सामन्तवाद अरक्षा और विदेशी आक्रमणों का परिणाम नहीं था। साथ

---

१. रा० श० शर्मा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १३, २०-२१, ८५-८७; १५९-६०; १६६-६८, १७४-८७।

२. वहीं पृ० ४८-५२।

३. प्रतीहारों के समय के इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते हैं। देखिए एइ०, जिल्द ५ के परिशिष्ट, पृष्ठ ५ की सं० २०; जिल्द ९, सं० १; इए० जिल्द १२, पृ० १९५।

४. चन्देल अभिलेखों में पुरोहितों, न्यायाधीशों, कोट्टपालों, सेनापतियों, नायकों और राउतों को उनकी सेवाओं के बदले भूमि दिये जाने की चर्चाएँ हैं। रा० श० शर्मा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १७०।

ही योरोपीय चर्चों की तरह भारत में मंदिरों और बौद्ध विहारों को भूमियों के दान प्राप्त तो हुए थे, किन्तु उससे यहाँ के भिक्षु, पण्डित-पुजारी और ब्राह्मण वर्ग की शक्ति बहुत बढ़ी नहीं और न उनका राज्यों से कोई झगड़ा और संघर्ष ही हुआ। वास्तव में भारत का यह वर्ग योरोपीय चर्चों की तरह संगठित नहीं था और यहाँ योरोप के पोपों और सम्राटों के बीच होने वाले संघर्षों जैसी विषम स्थितियों की कोई सम्भावना ही नहीं थी। किन्तु राजदरबार में उपस्थित होने का दायित्त्व, अपने लार्डों अथवा अधिराजों से पद और प्रतिष्ठा की प्राप्ति तथा उनकी सैनिक सेवाएँ सामन्तों के लिए दोनों ही जगह समान थीं।

सामन्तवाद से उत्पन्न विश्रृंखलन

सामन्ती प्रथा के उदय और विकास का परिणाम भारतीय शासनपद्धति के लिए बड़ा हानिकर सिद्ध हुआ। गुप्तयुग के बाद के राजनीतिक विश्रृंखलन का जो चित्र पीछे उपस्थित किया जा चुका है, वह बहुत कुछ सामन्ती प्रथा का ही कुफल था। विभिन्न सामन्त क्षेत्रों में बड़े-बड़े राज्यों अथवा साम्राज्यों की तरह राजदरबार, राज्याधिकारी, न्यायालय, सचिवालय, पुलिस सेना जैसे प्रशासन के अनेक तत्त्व होने लगे। परिणामत:, सामन्तगण अधिराज की शक्ति कम होते ही अपनी शक्ति और राज्यक्षेत्र बढ़ाने का प्रयत्न करने लगते थे। बहुत से राज्य तो मूलत: दान दी गयी अथवा राजकीय सेवा हेतु दी गयी भूमियों से विकसित हो जाते थे। ११वीं-१२वीं शती में पालों के वैद्यदेव नामक अमात्य और सेनापति ने असम में इसी प्रकार के एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना कर ली थी।[१] राजाओं द्वारा प्रतिद्वन्द्वी राजकुमारों को दिये जाने वाले जिलों अथवा प्रान्तों से भी कुछ राज्य विकसित हो गये थे। अभिलेखों से स्पष्ट है कि **महाराजाधिराज परमभट्टारक परमेश्वर** और **चक्रवर्ती** जैसे विरुद सम्राटों अथवा अधिराजों के लिए ही लगाये जाते थे। किन्तु उनकी कमजोरी और अवनति के समय प्रतीहार मथनदेव[२] जैसे सामन्तों ने भी उन बड़े विरुदों को धारण करते कोई संकोच नहीं दिखाया। १२वीं शती की **मानसार**[३] नामक रचना में अवतरण क्रम से ९ प्रकार के बड़े-छोटे राजाओं की सूची दी गयी है। इसी प्रकार भट्टभुवनदेव (१२वीं शती) के ग्रन्थ **अपराजितपृच्छा** में भी अवतरण क्रम में ही ९ प्रकार के राजाओं का उल्लेख किया गया है।[४] वह क्रम है–**महीपति, राजा, नराधिप, महामण्डलेश्वर, माण्डलिक, महासामन्त, सामन्त, लघुसामन्त और**

---

१. एइ०, जिल्द २, पृ० ३५५ और आगे।

२. एइ०, जि० ३, पृ० २६२-२६७।

३. वे हैं–चक्रवर्तिन्, महाराज (अधिराज), महेन्द्र (नरेन्द्र), पार्ष्णिक, पट्टधर मण्डलेश, पट्टराज, प्रहारक और अष्टग्राहीण। देखिये, बयालीसवाँ अध्याय।

४. रा० श० शर्मा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २०५ पर उद्धृत।

चतुराशिक । **शुक्रनीतिसार** में वार्षिक आय के आधार पर विभिन्न राज्यों के क्रम और उनके शासकों की पदवियाँ निश्चित की गयी हैं ।[1] स्पष्ट है कि राजाओं और राज्यों के घटते-बढ़ते हुए आकार के आधार पर उनका विशेषण और पदविशेष निश्चित किया जाने लगा । किन्तु उनके सदा परिवर्तनशील रहने के कारण इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट मापदण्ड नहीं निश्चित हो पाये । आज का साम्राज्य बीते हुए कल का सामन्त क्षेत्र रहा हो अथवा आने वाले कल में उसकी विपरीत की स्थिति हो जाय, यह इस युग में सदा सम्भव था । गुर्जर प्रतीहारों की अवनति और अंत में उनके पतन (लगभग ९५०-१०३०) ई० के बाद उत्तर भारत में जो विभिन्न राज्य-चाहमान, परमार, चंदेल, चौलुक्य, कलचुरि और गाहडवाल जैसे, उठ खड़े हुए वे सभी उनकी सत्ता के चरमोत्कर्ष के समय उनके सामन्त राज्य रह चुके थे । ऐसी स्थिति में वंश और परिवार के प्रति भक्ति, आन्तरिक कलह, फूट और युद्ध, प्रशासनिक ढीलापन, केन्द्रीय सत्ता का ह्रास, निरंतर अस्थिरता, विदेशी आक्रमणकारियों को मानों निमंत्रण देने वाली स्थिति और अन्य राजनीतिक कमजोरियों का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक था । किन्तु आश्चर्य तो यह है कि भारतीय सम्राटों ने यह कभी नहीं सोचा कि उनके द्वारा दिये गये दानों से उत्पन्न उनके प्रशासनिक अधिकारों की कमी से तथा सामन्तों को राज्य के बड़े-बड़े पदों पर नियुक्त करने अथवा उन्हें सैनिक अधिकार देने से अंत में उनकी शक्ति कितनी सीमित हो जायगी और उसका कितना भयावह परिणाम होगा । इस सम्बन्ध में राजनीतिशास्त्र विचारकों ने भी कोई मार्ग प्रदर्शन नहीं किया, यह उस समय के बौद्धिक पतन का परिचायक है ।

बौद्धिक ह्रास

भारत के क्रमिक राजनीतिक पतन का प्रमुख कारण उस समय का बौद्धिक ह्रास था । यद्यपि संस्कृत अब भी पढ़े लिखे लोगों की भाषा थी और उसमें इस युग में भी प्रभूत साहित्य की रचना हुई, धीरे-धीरे वह दुरूह, अलंकारबोझिल और शब्दाडंबर से युक्त होकर साधारण व्यक्ति और बोलचाल की भाषाओं से दूर जाने लगी । परिणामतः, उसकी व्यापकता और उपयोगिता कम होने लगी । १०वीं शताब्दी के कवि राजशेखर के बाद उच्चकोटि के संस्कृत कवियों, नाटककारों और गद्यलेखकों की कमी हो गयी तथा अपभ्रंश और प्राकृतों का प्रयोग अधिक किया जाने लगा । इस युग में जो साहित्य भी लिखा गया, वह केवल आनुश्रुतिक (पुराण, **रामायण** और **महाभारत** की पिटीपिटाई कथाओं पर आधृत) और टीकात्मक ही रहा । उसमें वैदिक साहित्य, प्राचीन हिन्दू और बौद्ध दर्शनों तथा अर्थशास्त्र अथवा धर्मशास्त्र के प्राचीन ग्रन्थों की तरह विचारों की उड़ान, तर्कशक्ति, व्यवस्थापन, धार्मिक और सामाजिक नियमों का प्रतिष्ठापन और मार्गदर्शन का

---

१. शुक्र० प्रथम, ८२-८६ ।

प्राय: अभाव प्रतीत होता है। संस्कृत साहित्य के अधिकांश ग्रन्थ अब छंदशास्त्र, अलंकारशास्त्र और रसशास्त्र के विवेचन तक सीमित होने लगे, जिनके प्राय: सभी उदाहरण प्राचीन लेखकों से लिये जाते रहे। सदूक्तियों का संग्रह उसी प्रवृत्ति का एक दूसरा रूप था। शंकराचार्य (७८८-८२० ई०) प्राचीन भारत के अन्तिम दार्शनिक कहे जा सकते हैं। किंतु उन्होंने वृत्तियों और भाष्यों के लिखने की जो प्रणाली चलायी, आगे वही अनुकरण की वस्तु हो गयी। विवेच्य युग प्राचीन स्मृतियों की टीकाओं से भरा हुआ है। जो नवीन स्मृतियाँ लिखी भी गयीं, उनकी वह मान्यता न हो सकी जो **मनुस्मृति** और **याज्ञवल्क्यस्मृति** जैसे प्राचीन धर्मशास्त्र[१] ग्रन्थों की थी। राजनीति के क्षेत्र में **कौटिलीय अर्थशास्त्र** के टक्कर की कोई भी पुस्तक हमें नहीं मिलती। जो ग्रन्थ इस विषय पर लिखे भी गये, वे प्राचीन सिद्धान्तों और उक्तियों को दुहराने मात्र तक सीमित रहे और उनमें नवीन परिस्थितियों की कल्पना अथवा समकालिक समस्याओं पर विचार का प्राय: अभाव दिखायी देता है। लक्ष्मीधर और हेमाद्रि जैसे राजकार्यों के ऊँचे पदों पर रहनेवाले विद्वानों ने भी दान, व्यवहार, प्रायश्चित्त और व्रत जैसे विषयों पर ही[२] लिखने में अपना समय अधिक व्यतीत किया। यह वैचारिक उड़ान और राज-नीतिक चिन्तन के अभाव का ही द्योतक है। इस युग में बड़े-बड़े कवि भी राजाओं-महाराजाओं की प्रशस्तियों को लिखने और गाने मात्र तक में अपने को धन्य समझने लगे। सम्भवत: देश की नित्य परिवर्तनशील परिस्थितियों और अशान्त अवस्थाओं में

---

१. मनुस्मृति का धार्मिक और सामाजिक मान्यताओं पर इतना सर्वंकष प्रभाव था कि बदलते हुए समय में भी उसी की मान्यता थी और क्रमश: उसकी सात टीकाएँ लिखी गयीं, जिनमें मेधातिथि की टीका सर्वाधिक प्रसिद्ध है। उसी प्रकार याज्ञवल्क्य पर विज्ञानेश्वर (११वीं-१२वीं शती) द्वारा लिखित 'मिताक्षरा' नामक टीका धर्म और व्यवहार (न्याय) के क्षेत्र में प्रधान स्रोत बन गयी।

२. लक्ष्मीधर गोविन्द्रचन्द्र गाहडवाल का महासांधिविग्रहिक था, तथा उसने महाराजा के आग्रह से कृत्यकल्पतरु नामक बहुत बड़ा ग्रन्थ लिखा। उसके चौदह अध्यायों में केवल एक राजधर्म से सम्बद्ध है। शेष ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य शान्ति, नित्यकाल, श्राद्ध, दान, प्रतिष्ठा, पूजा, तीर्थ, व्रत, शुद्धि, व्यवहार, शान्ति और मोक्ष जैसे विषयों पर हैं। राजधर्म की चर्चा करते हुए लक्ष्मीधर ने राजा की दैवी उत्पत्ति, उसके असीमित अधिकारों और प्रजा की विशेषता पर ही अधिक बल दिया है। हेमाद्रि देवगिरि के यादवराजा महादेव का मंत्री और सेनापति था किन्तु उसका चतुवर्गचिन्तामणि नामक महाग्रन्थ भी व्रत, दान, प्रायश्चित और व्यवहार तक ही सीमित है।

बौद्धिक[1] वर्ग की देखरेख करनेवालों और उसे प्रोत्साहन देनेवालों की इतनी कमी हो गयी कि कविगण यदि थोड़ा भी आश्रय पा जाते तो उसकी तुलना में कई गुना उसका बखान करते। ऐसी स्थिति में ऊँचे साहित्य और चिन्तन का पनपना असम्भव था। कार्यकारण के इस परस्पर स्वरूप का कदाचित् सबसे बड़ा उदाहरण और उसकी परिणति बल्लालभट्टकृत (१६वीं शती का अन्त) **भोजप्रबन्ध** है, जो पंडितों की दीनता, अल्पबुद्धि, इतिहास के तैथिक क्रम के ज्ञान के आश्चर्यजनक अभाव का अत्यधिक परिचायक है। राजा भोज से पंडितों के थोड़ा सा भी पारिश्रमिक पाने पर उसे एक लक्ष का दान समझकर उसकी मुक्तकंठ से प्रशंसा करने की कथाओं (कुछ सही, किन्तु अधिकांशत: कल्पित) से वह भरा हुआ है।

उपर्युक्त बौद्धिक ह्रास का अप्रत्यक्ष प्रभाव राजकीय निरंकुशता और एकतंत्र-वादिता के विकास के रूप में उपस्थित हुआ। प्राचीन भारत के प्रारम्भिक युग की तरह न तो इस समय गणतन्त्र रहे और न उनकी शासन-प्रणाली अथवा उनके विचार। ६०० ई० के बाद राजाओं का नियमन करने वाली संस्थाएँ अत्यन्त शिथिल हो गयीं और इस समय के वशंगत[2] मंत्री प्रतिष्ठा और नियंत्रणशक्ति में प्राचीन मंत्रियों की अपेक्षा अत्यन्त हीन और नगण्य हो गये। अब वे राजा की कृपा और आश्रय के अधिक आकांक्षी होने लगे और उनका परामर्श मानना या न मानना राजा की इच्छा पर निर्भर हो गया। पुराणों, धर्मशास्त्रों और राजनीतिक ग्रन्थों ने अब राजा को ईश्वर का अवतार और देवस्वरूप स्वीकार कर उसकी आज्ञाओं को सर्वदा स्वीकार करने की अनुशंसा की और यदि कहीं इनके अपवादस्वरूप परम्परागत राजनीतिक विचारों के आधार पर अत्याचारी राजा के विरोध की बातें दुहरायी भी गयीं[3] तो उनका मूल्य नहीं रहा। परिणामत:; राजा और राजतंत्र एकतंत्री और निरंकुश हो गया और जनता में अत्याचारों के विरोध की शक्ति कम हो गयी। इस युग में इस प्रकार के विरोध के

---

१. उन अशान्तियों और आततायियों के भय की ओर मेधातिथि ने (मनु० अष्टम, २४८-३४९ पर भाष्य) स्पष्ट संकेत किया है।

२. चन्देल और पाल शासकों के समय एक ही वंश की कई पीढ़ियों में मंत्रिपदों के सीमित रहने के प्रमाण मिलते हैं।

३. मेधातिथि ने अत्याचारी राजा के विरोध और उसके मनमानीपने को नियंत्रित करने का जनाधिकार स्वीकार करते हुए भी उसके क्रोध से बचने की चेतावनी दी है और उसके अपरिमित अधिकार को स्वीकार किया है। मनु, सप्तम, १२ पर भाष्य करते हुए वह कहता है-'तं राजानं यो द्वेष्टि, प्रातिकूल्येन वर्त्तते तस्मिन्, सत्वसंशयं नश्यति' अर्थात् जो राजा का विरोध करता और उसके प्रतिकूल आचरण करता है, वह निश्चय ही नष्ट हो जाता है।

बहुत ही कम उदाहरण हमें मिलते हैं। राजनीतिक अस्थिरता और सतत् विदेशी आक्रमणों के इस युग में निर्णय, कार्यान्वयन और नेतृत्त्व की शक्ति एक अथवा अत्यन्त थोड़े हाथों मे सीमित हो गयी। किन्तु इस सैद्धान्तिक अथवा व्यावहारिक एकतंत्र की ओर इंगित करने का यह तात्पर्य नहीं है कि पूर्वमध्ययुगीन सभी हिन्दू राज्य निरंकुश अथवा अत्याचारी थे। भोजपरमार जैसे प्रजावत्सल, कृपालु, धर्मशास्त्रपरायण, समाजसेवी और धर्मरक्षक तथा शास्त्र और विद्या के प्रेमी राजा ही अब भी सच्चे और आदर्श राजतंत्र के प्रतीक थे।

सामाजिक और धार्मिक अध:पतन

विवेच्य युग क्रमशः सामाजिक और धार्मिक गतिरोध, संकोच, रूढ़िवादिता और अन्धविश्वास की भावनाओं को भी परिलक्षित करता है। यहाँ तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक स्थितियों पर विचार करना न तो अभीष्ट है न प्रासंगिक, किन्तु उस संबंध की कुछ विशेष बातों की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है, जिनका इस समय की राजनीति की गति पर प्रभाव पड़ा। विभिन्न वर्णों में जातियों-उपजातियों की बढ़ती हुई संख्याएँ तथा वर्णेतरों, अस्पृश्यों और अन्त्यजों की स्थिति से सामाजिक भेदोप-भेद[1] और दुराव बढ़ने लगा। कर्म की प्रधानता के स्थान पर जन्म की प्रधानता हो गयी। धीरे-धीरे समाज रूढ़िगत, प्रतिक्रियावादी और पुरातनवादी हो गया और नवीन परिस्थितियों के मुकाबले के लिए उसके पास विकल्पों की कमी हो गयी। ब्राह्मणों का नेतृत्व ढीला हो गया तथा समाज और देश की रक्षा का भार केवल क्षत्रियों पर छोड़ दिया जाने लगा। पहले विदेशी आक्रमणों के प्रतिरोध का जो उत्तरदायित्त्व सार्वजनीन हुआ करता था वह अब राजकाज में लगे हुए केवल एक वर्ग पर छोड़ दिया गया, जो उसे अपनी राजनीतिक कमजोरियों के कारण, वीरता के होते हुए भी, पूरी तरह निभा नहीं सका। देवी-देवताओं की अदृश्य शक्तियों पर कभी-कभी इतना अधिक विश्वास (अथवा अन्धविश्वास) किया जाने लगा कि मनुष्य अपने कर्त्तव्यों को भी खो बैठा। मन्दिरों में धन बहुत बड़ी मात्राओं में जमा किया जाने लगा जो तुर्क आक्रमणकारियों की

---

१. ब्राह्मणों में स्थानभेद से पंचगौड (सारस्वत, कान्यकुब्ज, मैथिल, गौड और उत्कल तथा पंचद्रविड (नागर, महाराष्ट्र, कर्णाट, तैलंग और द्रविड़) तो थे ही, उनके लगभग ३० के आसपास स्थानीय उपभेद हो गये और सैकड़ों उपाधियाँ हो गयीं। इसी प्रकार क्षत्रियों की ३६ शाखाएँ (पृथ्वीराजरासो) मानी जाने लगीं तथा कायस्थों की स्थानभेदी पदवियाँ बढ़ने लगीं। वैश्यों और शूद्रों तथा अन्त्यजों की भी इसी तरह की स्थिति थी, जिनकी ओर अलबीरूनी निर्देश करता (सखाऊ, जिल्द १, अध्याय १०) है।

गृद्धदृष्टि का कारण बना और परिणामतः, भयावह विनाश, लूट और हत्याओं का ताँता लग गया । इसी प्रकार, भारतीयों का शकुन और अपशकुन, ज्योतिष, नक्षत्रों, की स्थिति और मुहूर्तों में विश्वास भी कभी-कभी परिहासास्पद स्थिति तक पहुँच गया ।

यही नहीं, उनकी धर्मनीति, समाजनीति अथवा युद्धनीति, स्त्रियों, ब्राह्मणों, देवस्थानों और गौवों का आदर किसी की अवस्था में उनकी अघन्यता स्वीकार करता था । शस्त्र छोड़े हुए अथवा युद्ध से विरत धूर्त और भयंकर शत्रु पर भी शस्त्रप्रहार न करने अथवा शरणागत होने पर उसे क्षमा कर देने जैसे हिन्दुओं में अनेक उदात्त गुण थे । किन्तु कई कठिन अवसरों पर ये गुण भी उनके नाश के कारण बन गये । तुर्क आक्रामकों के लिये इन नीतियों का कोई मूल्य नहीं था । उन्होंने हिन्दुओं के इन नैतिक गुणों का भी लाभ उठाया, जिनके सम्मुख उपर्युक्त प्रकार के आचरण नीति नहीं अपितु दुर्नीति ही साबित हुए । इस प्रकार का एक उदाहरण यहाँ अनुपयुक्त न होगा । मुल्तान के अरब शासकों की चर्चा करता हुआ अल्-मसूदी (९१४-९१६ ई०) कहता है[१] कि वहाँ उन्होंने सब मंदिर गिरा दिये, केवल एक छोड़ रखा, जिसकी मूर्ति की पूजा के लिए प्रतिवर्ष अनगिनत हिन्दू तीर्थयात्री जाते थे और उसपर इतनी अधिक धन-सम्पत्ति चढ़ाते थे कि वहाँ के (मुसलमान) शासक का बहुत बड़ा खर्च उससे चल जाता था । यही नहीं, जब वे मुल्तान पर प्रतीहार राजाओं के नेतृत्त्व में हिन्दू प्रतिरोधियों के आक्रमण की आशंका करते थे तो उस मूर्ति को तोड़ देने की धमकी देकर उन्हें चढ़ाई से विरत कर देते और अपने को बचाते थे । यदि **पृथ्वीराजविजय** के इस कथन को अतिरंजित भी माना जाय कि तृतीय पृथ्वीराज मुहम्मद गोरी को अपनी अन्तिम पराजय के पूर्व सात बार हराकर छोड़ चुका था तो भी यह निर्विवाद है कि तराइन की पहली लड़ाई में वह विजयी हुआ था । उसे चाहिए था कि भारत से भागते हुए उस गोर आक्रमणकारी को घेरकर सदा के लिए तुर्क विभीषिका को समाप्त कर दे । किन्तु उसने वैसा नहीं किया और दुबारा उसके आक्रमण (११९२ ई०) के समय उसके युद्धविराम के झूठें प्रस्तावों का विश्वासकर आश्वस्त हो गया । परिणामस्वरूप, उसे ही नहीं, भारत को भी गहरा मूल्य चुकाना पड़ा ।[२]

विस्तारवादी इस्लाम की चुनौती

भारतीय जीवन और राजनीति के उपर्युक्त गतिक्रम के प्रारम्भ के साथ ही अरब में हज़रत मुहम्मद ने इस्लाम के माध्यम से एक ऐसे आन्दोलन और शक्ति का बीजारोपण

---

१. इलियट् और डाउसन्-हिस्ट्री ऑफ इण्डिया ऐज़ टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टॉरियन्स्, जि० १, पृ० २३ ।

२. दशरथ शर्मा, अर्ली चौहान डाइनेस्टीज़, पृ० ८३ और आगे ।

किया जो शीघ्र ही धर्म और राजनीति दोनों ही क्षेत्रों में योरोप और एशिया के लिए एक महान् चुनौती बन गयी। अरब कबीलों में एकता स्थापित कर उन्होंने एक ऐसे सैनिकवाद को जन्म दिया, जिसने उनकी मृत्यु (६३२ ई०) से लगभग ७५-८० वर्षों के भीतर ही सिन्ध से स्पेन तक तथा नील नदी की घाटी से सिरदरिया तक एक विशाल साम्राज्य की स्थापना कर ली। इस्लाम का सबसे तीखा आक्रमण मूर्तिपूजा, अवतारवाद और मनुष्यों में उँच-नीच की भावना के विरुद्ध था, जो भारतीय विश्वासों में प्रमुख थे। मुसलमानों का भारत पर सबसे पहला आक्रमण उसके पश्चिमी छोर पर स्थित सिन्ध प्रदेश पर ७११-१२ ई० में हुआ। किन्तु सिन्ध और मुल्तान पर अधिकार कर लेने के बाद भी यहाँ लगभग ३०० वर्षों तक उन्हें वह सफलता नहीं मिली जो हिन्दुकुश के पार मध्यएशिया के अन्यान्य क्षेत्रों और उत्तरी अफ्रीका में उन्हें मिली थी। कन्नौज के यशोवर्मा, कश्मीर के मुक्तापीड **ललितादित्य**, दक्षिण के चालुक्यों और कन्नौज के गुर्जर प्रतीहारों के नेतृत्व में भारतीय राजाओं ने उनको सीमित करने में बहुत बड़ी सफलता पायी और उन्हें मन्सूरा और मुल्तान के आगे नहीं बढ़ने दिया। किन्तु इस्लाम से उत्पन्न राजनीतिक और धार्मिक भयों के दूरगामी परिणामों का वास्तविक अनुमान कदाचित् भारतीयों को नहीं था। इस्लाम की उत्पत्ति के बाद ४०० वर्षों तक अरब तुर्क समस्त मध्यएशिया, उत्तरी एशिया, उत्तरी अफ्रीका और स्पेन तथा फ्रांस के मध्यभागों तक योरोप में अपनी राजनीतिक सत्ता और संस्कृति फैलाते रहे और भारत के पश्चिमी भागों (सिन्ध और मुल्तान) पर भी वे चढ़ गये। किन्तु उनके सैनिक और धार्मिक विजयान्दोलनों के पीछे की मनोभावनाओं को समझने का हिन्दुओं ने कोई प्रयत्न नहीं किया। गुर्जर प्रतीहार और शाही राजाओं के पास भरपूर शक्ति थी और यदि उन्होंने निश्चय किया होता तो वे उन शत्रुओं को देशद्वार के बाहर ही रोक सकते थे। लेकिन अपने चरमोत्कर्ष के दिनों में भी उन्होंने वैसा करना आवश्यक नहीं समझा और जब सोचा तो बहुत देर हो चुकी थी। यवन, पह्लव, शक, कुषण और हूण आक्रमणकारियों के सफल सैनिक अभियानों को सामाजिक और धार्मिक स्तरों पर निष्फल कर उन सबको आत्मसात् कर लेने में भारतीयों ने पहले जिन गुणों का परिचय दिया था, वे भी अब नहीं रहे। परिणाम विनाशकारी हुए। ९९७ ई० में सुबुक्तगीन ने काबुल पर आक्रमण कर भारत पर तुर्कों की आँधी का जो सूत्रपात किया उसमें भारत की अनेक कमजोरियाँ खुलकर सामने आ गयीं। महमूद की योजना भारत पर साम्राज्य स्थापित करने की नहीं थी। अपितु वह यहाँ की धनसम्पत्ति की लूट, विजितों को गुलाम बनाने और यथावसर लोगों को बलात् मुसलमान बनाने तक ही रुक गया। किन्तु वह यदि यहाँ टिककर शासन करने का निश्चय किये होता तो यहाँ की तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति में उसे कोई रोक नहीं सकता था। तथापि लाहौर में यमीनी सत्ता की स्थापना से सारा पश्चिमोत्तर भारत हिन्दुओं के हाथों से निकल गया।

आर्यधर्म की क्षेत्रीय सीमाएँ घटने लगीं और उसके विभिन्न टुकड़ों के स्वामी आपस में ही लड़ने लगे। आदर्शों के शैथिल्य का क्रम जारी रहा तथा १२वीं शती के अंतिम चतुर्थांश में जब तुर्क-अफगानों ने भारत पर अपने साम्राज्य-निर्माण का निश्चय कर लिया तो उनके नायक शिहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी की दो घोर पराजयों के बावजूद उन्हें कोई रोक नहीं सका। ९९७-१००० ई० में भारतीय इतिहास के प्राचीन युग के अंत का क्रम स्पष्ट रूप से प्रारम्भ हो गया और ११९२-९३ ई० तक मध्ययुग का अवतरण हो गया। चन्दावर की विजय (११९४ ई०) के परिणामस्वरूप दिल्ली से मिथिला तक फैला हुआ कन्नौज साम्राज्य उनके हाथों में चला गया। सिन्ध, मुल्तान, राजस्थान और पंजाब वे पहले ही जीत चुके थे। इस प्रकार उत्तरी भारत का सारा हृदयस्थल मुसलमान सत्ता के अधिकार में चला गया।

अगले अध्यायों में राजनीतिक इतिहास के इस क्रम का विस्तृत विवेचन किया जायगा।

❁❁❁

२

पुष्यभूतिवंश और कान्यकुब्ज साम्राज्य

ऐतिहासिक सामग्री

पुष्यभूति, उसके वंशजों तथा उस काल की ऐतिहासिक जानकारी हमें अनेक स्रोतों से होती है। उनमें हर्ष के सभापंडित बाणभट्ट की **हर्षचरित**[1] नामक आख्यायिका सर्वप्रमुख है। भारतीय आख्यायिका-रचना में इसकी ऐसी विधा है, जिसमें कृतिकार किसी पूर्ववृत्त को अपनी रचनासामग्री न बनाकर अपने समकालिक शासक और उसके पूर्वजों के वृत्त को ही अपना वर्ण्यविषय बनाता है। बाणभट्ट को **हर्षचरित** में वर्णित घटनाओं की या तो प्रत्यक्ष जानकारी थी अथवा उनमें अनेक के सम्बन्ध में उसे निजी अनुभूति की सुविधा थी। उसके वर्णित इतिहास की जो पुष्टि हमें समसामयिक चीनी वृत्तों अथवा तत्कालीन अभिलेखों से होती है, उससे यह निश्चय जान पड़ता है कि बाण ने अपनी आलंकारिक भाषा में इतिहास के वास्तविक तथ्यों का ही निरूपण किया है और उनकी सत्यता पर प्रायः पूर्ण विश्वास किया जा सकता है।[2] उसने अपनी यात्राओं में समाज और साहित्य का भरपूर अध्ययन किया था और उसकी अनुभूति अत्यन्त व्यापक थी। उसकी पैनी परख ने जो ऐतिहासिक दृश्य उपस्थित किये हैं, वे उतने ही सजीव और चमत्कारिक हैं, जितने उसके प्राकृतिक दृश्यों के विवरण।

---

१. देखिए, हर्षचरित का अंग्रेजी अनुवाद, कॉवेल और टॉमस, मोतीलाल बनारसी-दास, १९६०; वासुदेवशरण अग्रवाल, हर्षचरित–एक सांस्कृतिक अध्ययन, १९५३; हर्षचरित, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९१२।

२. डॉ० सुधाकर चट्टोपाध्याय (अर्ली हिस्ट्री ऑफ् नार्थ इण्डिया, पृष्ठ २३९-२४२) हर्षचरित के ऐतिहासिक महत्त्व को स्वीकार न करते हुए भी उसका उपयोग करते हैं। इस विषय पर देखिए, उ० ना० घोषाल, स्टडीज़ इन् इण्डियन् हिस्ट्री ऐण्ड कल्चर, भाग १, अध्याय ४; वि० श० पाठक, ऐंशियेण्ट हिस्टॉरियन्स् ऑफ् इण्डिया, पृष्ठ ३०-५५; र० चं० मजुमदार, जबिओरिसो०, १९२३।

हर्षचरित

अपने भाइयों के द्वारा हर्षवृत्त जानने की इच्छा व्यक्त करने पर बाण ने **हर्षचरित** लिखा था ।[१] उसमें वह हर्ष का जीवनचरित उपस्थित करने के साथ ही अपना भी परिचय देता है । **हर्षचरित** के प्रथम उच्छ्वास की कोई ऐतिहासिक उपयोगिता नहीं है । किन्तु द्वितीय उच्छ्वास में बाण अपने वात्स्यायनगोत्रीय प्रीतिकूट नामक गाँव में बसनेवाले भृगुवंश और अपने बाल्यजीवन का वर्णन करता है । उसी में उसके हर्ष के निकट पहुँचने और उसके सान्निध्य में आने का उल्लेख है । वह कहता है कि लड़कपन की अपनी औद्धत्यपूर्ण, व्यापक, किन्तु शिक्षाप्रद यात्राओं के पश्चात् एक दिन उसे राजदरबार में उपस्थित होने को राजा हर्ष का निमंत्रण मिला । सम्राट् हर्ष को पहले तो बाणभट्ट के शील और विद्वत्ता का कोई निश्चय नहीं था, किन्तु धीरे-धीरे वह आकृष्ट होता गया और दोनों में परस्पर सौहार्द और निकटता स्थापित हो गयी । **हर्षचरित** (तृतीय उच्छ्वास) में श्रीकंठ जनपद और स्थाणुवीश्वर (थानेश्वर) की चर्चा करते हुए बाणभट्ट पुष्यभूति[२] और शैव संन्यासी भैरवाचार्य के पारस्परिक सम्बन्धों की चर्चा करता है । किन्तु उसके अतिरिक्त वह हर्ष के अन्य पूर्वज राजाओं का कोई विवरण नहीं देता । चतुर्थ उच्छ्वास में वह सीधे प्रभाकरवर्धन सम्बन्धी उल्लेखों पर उतर आता है । उसी में राज्यवर्धन, हर्षवर्धन और राज्यश्री के जन्म, उनके बाल्यकाल तथा राज्यश्री के कन्नौज के राजा ग्रहवर्मा से विवाह की चर्चाएँ हैं । पञ्चम उच्छ्वास में हूणों के उपद्रव की समस्या उपस्थित की गयी है, जिन्हें दबाने के लिए राज्यवर्धन के भेजे जाने का उल्लेख है । वहीं प्रभाकरवर्धन की बीमारी और उसकी मृत्यु का विवरण भी है । छठें उच्छ्वास में शोकाकुल राज्यवर्धन द्वारा भिक्षु जीवन अपनाने की इच्छा, ग्रहवर्मा के मारे जाने का समाचार, उस परिस्थिति विशेष के कारण राज्यवर्धन द्वारा राज्यकार्य की स्वीकृति, कन्नौज की रक्षा के लिए मालवराज के विरुद्ध उसका सैनिक अभियान तथा उसके द्वारा मालवराज के युद्ध में पराजित होकर मारे जाने एवं शशांक द्वारा स्वयं उसकी (राज्यवर्धन की) छद्मपूर्ण हत्या के विवरण हैं । उसी में हर्ष को इन घटनाओं की सूचना और सभी शत्रुओं से बदला लेने की उसकी प्रतिज्ञा का उल्लेख है । सातवें उच्छ्वास में हर्ष की दिग्विजय यात्रा के प्रारम्भ तथा प्राग्ज्योतिष के राजा भास्करवर्मा के

---

१. बाण के सबसे छोटे भाई श्यामल ने अपने अन्य भाइयों के इंगित पर सर्वद्वीपभुज् महाराजाधिराज हर्ष का वंशवृत्त सुनाकर उन्हें पवित्र करने को उससे कहा था । देखिए, कॉवेल और टॉमस, पृष्ठ ७५-७७; हर्षचरित, निर्णयसागर प्रेस, १९१२, पृष्ठ ८७, ९१ ।

२. हर्षचरित में पुष्यभूति को सर्वत्र पुष्पभूति कहा गया है ।

दूत हंसवेग के उसके सम्मुख मित्रता का प्रस्ताव लेकर उपस्थित होने की चर्चा है। आठवें उच्छ्वास में राज्यश्री की खोज के लिये विंध्य के जंगलों में हर्ष के घूमने, बौद्ध भिक्षु दिवाकरमित्र से उसकी भेंट तथा उसकी सहायता से राज्यश्री की प्राप्ति के विवरण हैं। किन्तु वहीं **हर्षचरित** समाप्त हो जाता है। लगता है कि लेखक या तो अपने नायक के किसी तात्कालिक दुर्विपाक अथवा हीनता का वर्णन न करने की इच्छा से अपना वृत्त जानबूझकर बन्द कर देता है अथवा स्वयं कालकवलित हो जाता है। आगे न तो हर्ष की विजयों के वर्णन हैं और न अन्य राज्यों से उसके सम्बन्धों की चर्चाएँ है[१]। यह अधर इतिहासकारों के लिए अत्यन्त दुःखद है। **हर्षचरित** का एक अन्य दोष यह भी है कि घटनाओं के वर्णनों में तिथियों का कही भी उल्लेख नहीं किया गया है। साथ ही अधिकाधिक श्लेषों के उपयोग के कारण तथ्यों के वास्तविक स्वरूप विवरण में अस्पष्टता भी आ गयी है।

अभिलेख

अब तक हर्षवर्धन के चार अभिलेख ज्ञात हैं। उनमें दो तो दान दी जाने वाली भूमि को अंकित करने वाले ताम्रपत्रों पर संस्कृत में खुदे हैं और दो मुहरों पर। तिथि की दृष्टि से (हर्ष सं० २२ अर्थात् ६२८ ई०) इनमें बाँसखेड़ा का ताम्रफलकाभिलेख पहला है[२], जो १८९४ ई० में उत्तर प्रदेश के शाहजहाँपुर जिले से मिला था। इससे ज्ञात होता है कि हर्ष ने अहिछत्रभुक्ति के अंगदीया विषय का मर्कटसागर नामक गाँव सब भारों से मुक्तकर भरद्वाजगोत्री ब्राह्मणों–बालचन्द्र और भट्टस्वामी–को दान दिया था। यद्यपि इसमें हर्षवर्धन के वंश के मूलपुरुष पुष्यभूति (पुष्पभूति) की चर्चा तो नहीं है, किन्तु नरवर्धन से प्रारम्भकर द्वितीय राज्यवर्धन तक की सम्पूर्ण वंशपरम्परा राजमाताओं के नामों के साथ मिलती है। इस लेख की विशेषता यह है कि इसमें प्रशासन की अनेक इकाइयों के नाम, अधिकारियों के पद और दानवाले गाँव पर लगनेवाले अनेक राजकीय कर बताये गये हैं। बीच में राज्यवर्धन की मालवराज देवगुप्त तथा अन्य राजाओं पर विजय तथा शत्रुगृह (शशांक के घर) में उसके वध की बातें लिखी हैं। साथ ही हर्ष के

---

१. हर्षचरित की अपूर्णता के सम्बन्ध में देखिए–कीथ, हिस्ट्री ऑफ् संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ३१४; दासगुप्त, हिस्ट्री ऑफ् क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ २२९; कृष्णमाचार्य, हिस्ट्री ऑफ् क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ४४६; कॉवेल और टॉमस, आमुख, पृष्ठ ११वाँ। वि० श० पाठक का मत है कि बाणभट्ट की मूल–योजना ही राज्यश्री की प्राप्ति तक अपने को सीमित करने की थी और हर्षचरित का उपर्युक्त अन्त कारणजन्य नहीं था। देखिए–पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ३०–३१।

२. एइ०, जिल्द ४, पृ० २०८ और आगे।

पूर्वज राजाओं के विभिन्न आराध्यदेवताओं और उनके व्यक्तिगत विश्वासों की ओर भी निर्देश है। हर्ष संवत् २५ अर्थात् ६३१ ई० वाला मधुबन ताम्रपत्राभिलेख भी दान-परक है।[१] यह उत्तर प्रदेश के आजमगढ़ जिले में स्थित मधुबन नामक स्थान से मिला था। इसकी प्रायः सारी शब्दावली बाँसखेड़ा के लेख की आवृत्तिमात्र है तथा दोनों में वर्णित राज्याधिकारी और कर भी एक समान ही हैं। इस लेख में उल्लिखित दान-वाला सोमकुंडा नामक गाँव श्रावस्तीभुक्ति के कुण्डधानी विषय में स्थित था। उसे हर्षवर्धन ने वामरथ्य नामक ब्राह्मण के जाली अधिकार से छीनकर सावर्णिगोत्री भट्ट-वातस्वामी और विष्णुवृद्धगोत्री भट्टशिवदेवस्वामी को अग्रहाररूप (दान में) दिया था। नालन्दा[२] और सोनपत[३] (दिल्ली के पास सोनीपत) से प्राप्त मुहरों वाले अभिलेखों से कोई विशेष ऐतिहासिक जानकारी नहीं प्राप्त होती। ये मुद्राएँ गोलाकार ताँबे की हैं और फ्लीट का अनुमान था[४] कि वे किन्हीं ताम्रफलकों के साथ लगी थीं जो अब तक प्राप्त नहीं हो सके हैं। सोनपत मुहर के ऊपर महाराज श्रीराज्यवर्धन (प्रथम) से हर्ष-वर्धन तक की वंशावली मिलती है, जिसमें प्रत्येक राजा की रानी का नाम भी मिलता है।[५]

समकालीन राजवंशों के कुछ थोड़े से अभिलेखों में भी हर्षवर्धन सम्बन्धी उल्लेख मिलते हैं। बादामी के चालुक्यराज द्वितीय पुलकेशी का रविकीर्ति विरचित ६३३-३४ ई० =शक सं० ५५६) का अहिहोड़ लेख उनमें सर्वप्रमुख है। उससे हर्ष-पुलकेशी युद्ध में हर्ष की पराजय का ज्ञान होता है।[६]

चीनी यात्रियों के विवरण

भारत आनेवाले अनेक चीनी यात्रियों के विवरणों तथा उनके आधार पर लिखे चीनी वृत्तों से भी हर्ष के बारे में प्रभूत सामग्री मिलती है। श्वान् च्वांग् का यात्रावृत्त उनमें सर्वप्रमुख है। वह २० वर्ष की अवस्था में बौद्ध भिक्षु हो गया था तथा गुरुओं और ग्रन्थों की खोज में अपने जीवन के २६वें वर्ष (६२९ ई० में) पश्चिम के देशों की ओर चल

---

१. वहीं, जिल्द १, पृ० ६७ और आगे।

२. वहीं, जिल्द २१, पृ० ७४-७६।

३. कार्पस्, जिल्द ३, पृ० २३१-२३२। सोनपत मुद्राभिलेख से ही हर्ष का पूरा नाम हर्षवर्धन ज्ञात होता है।

४. वहीं, पृ० २३१।

५. वहीं, पृ० २३२।

६. एइ०, जिल्द ६, पृ० ६ और आगे; इऐ०, जिल्द ८, पृ० २४२-४४।

पड़ा ।[१] अन्ततः वह भारत पहुँचा । वहाँ १६ वर्षों तक घूमने के बाद वह ६४५ ई० में चीन लौटा, जहाँ चीनी सम्राट् ताइशुंग ने झुककर उसका स्वागत किया । उसकी सबसे बड़ी यात्रा भारत की ही थी[२], जिसे वह ब्राह्मणों का देश कहता है ।[३] लौटकर ६४८ ई० में उसने चीनी भाषा में अपनी यात्राओं का विवरण तैयार किया[४] जो अपने संक्षिप्त नाम **सि-यू-कि** से प्रसिद्ध है । भारत आने का उसका मूल उद्देश्य बौद्ध तीर्थों की यात्रा और बौद्ध ग्रंथों का संग्रह करना था ।[५] किन्तु उन तीर्थों में जाने, धार्मिक विषयों पर भारतीय विद्वानों से वाद-विवाद करने तथा पुस्तकसंग्रहों के अतिरिक्त उसने यहाँ के लोगों के जीवन, रीतिरिवाज और भौगोलिक विवरण भी दिये हैं । साथ ही, वह अनेक भारतीय राजाओं और राजनीतिक घटनाओं की चर्चा करता है । उदाहरण के लिये, वह थानेश्वर के प्राचीन (पारम्परिक) इतिहास (कौरव-पाँडव युद्ध) तथा उसका नाम धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र पड़ने के कारण बताता[६] है । तत्कालीन कन्नौज के इतिहास के बारे में भी वह हमें प्रभूत सामग्री देता[७] है । राज्यवर्धन के शशांक द्वारा वध, हर्षवर्धन द्वारा कन्नौज की राजगद्दी ग्रहण करने, तथा उसकी विजयों और सैन्य शक्ति की वह चर्चा करता है । उसके सबसे विशद और ब्यौरेवार विवरण हर्ष द्वारा आयोजित कन्नौज की सभा और प्रयाग की महामोक्षपरिषद के बारे में हैं । नालन्दा के बौद्ध महाविहार (विश्व-विद्यालय) में वह रहा, पढ़ा और पढ़ाया । स्वाभाविक रूप में उसने उसकी भी भरपूर

---

१. डॉ० त्रिपाठी (हिस्ट्री ऑफ् कन्नौज, पृ० ६२) जैसे कुछ विद्वान् यह समझते हैं कि वह ६२९ ई० में भारत पहुँच चुका था । वास्तव में वह उस वर्ष चीन के चांगअन् (आजकल का ज्शि-अन्-फू) से चला था और उसे भारतवर्ष पहुँचने में कम से कम एक वर्ष तो अवश्य ही लगा होगा ।
देखिए—सि-यू-कि, एस्०-बील, सुशील गुप्त प्र०, जिल्द १, पृ० ७ ।

२. वाटर्स् (जिल्द १, पृ० १३९-१४०) के अनुसार वह भारत को इन्-टु नाम देता है । इन्-टु (इन्दु) अर्थात् चन्द्र की कला (अर्धचन्द्राकार) के समान भारत की भौगोलिक स्थिति के कारण इस देश का चीनियों ने यह नाम दिया ।

३. सि-यू-कि, एस्०-बील, सुशील गुप्त प्र०, जिल्द १, पृ० ७-९; वाटर्स्, जि० १, पृ० १४० ।

४. वाटर्स्, जिल्द १, पृ० १२ ।

५. एस्०-बील, सुशील गुप्त प्र०, जिल्द २, पृष्ठ २४० ।

६. वहीं, पृष्ठ २१५-२१७ ।

७. वहीं, पृष्ठ २३३-२४६ ।

चर्चाएँ की हैं ।[१] स्पष्ट है कि श्वान् च्वांग् के विवरणों का राजनीतिक महत्त्व की अपेक्षा धार्मिक और सांस्कृतिक महत्त्व अधिक है ।

श्वान् च्वांग के कागजपत्रों के आधार पर उसके शिष्य हुइ-ली ने उसकी **'जीवनी'**[२] लिखी । उस जीवनी में श्वान् च्वांग् के भारत आने के पूर्व तथा यहाँ से लौट जाने के बाद के जीवन की भी बातों का उल्लेख है । उससे अनेक ऐसी घटनाओं का पता चलता[३] है जो श्वान् च्वांग् के यात्रा-विवरण में नहीं उल्लिखित हैं । **सि-यू-कि** तथा **'जीवनी'** एक दूसरे की पूरक हैं । बाद में लिखे गये चीनी राजवंशों के इतिहासों में भी इन दोनों के आधार पर भारत सम्बन्धी अनेक उद्धरण मिलते हैं । संभवतः श्वान् च्वांग् की प्रेरणा से ही ६४३ में ली-इ-प्याओ नामक एक राजदूत चीनी सम्राट् की ओर से हर्ष के दरबार में भेजा गया । उसके साथ वैङ्ग-ह्वान्-शे नामक एक राज्याधिकारी भी था । वैङ्ग-ह्वान्-शे आगे तीन बार और इस देश में आया[४] । दुर्भाग्य यह है कि भारत के बारे में उसने जो कुछ लिखा, उसके कुछ गिने-चुने उद्धरण मात्र बच रहे हैं । हर्ष (शीलादित्य) के बारे में लिखने वाले प्रमुख चीनी यात्रियों में ई-च्तिंग अंतिम था । ६७१ ई० में चीन से चलकर समुद्री मार्ग से होता हुआ वह भारत आया तथा ७०५ ई० में चीन लौटा । किन्तु श्वान्-च्वांग् की ही तरह भारत आने का उसका मुख्य उद्देश्य बौद्ध तीर्थों की यात्रा करना तथा बौद्ध साहित्य का संग्रह था ।[५] राजनीतिक बातों के सम्बन्ध में ई-च्तिंग से भी कोई प्रमुख जानकारी नहीं उपलब्ध होती ।

थानेश्वर का राज्य : प्रभाकरवर्धन और राज्यवर्धन

हर्षवर्धन के पूर्वज राजाओं की राजधानी स्थाणुवीश्वर अथवा थानेश्वर थी । बाणभट्ट ने उसे श्रीकण्ठ[६] नामक जनपद की अंतर्भुक्ति कहा है एवं उसके सुख-समृद्धि की प्रशंसा की है । यह प्राचीनकाल का कुरुक्षेत्र प्रदेश था जो महाभारत-युद्ध के समय से ही धर्मक्षेत्र माना जाता था । **सि-यू-कि** में भी उस परम्परा की चर्चा है ।[७] हर्ष के

---

१. वाटर्स्, जिल्द १, पृष्ठ ३४८; जिल्द २, पृष्ठ १०९, १६५-१७०; प्र० चं० बाग्ची, इण्डिया ऐण्ड चाइना, १९२७, पृ० ७३-७४ ।

२. एस्०-बील, हुइ-ली'ज़् लाइफ् ऑफ् श्वान्-च्वांग्, लंदन, १९११ ।

३. देखिए, इऐ०, जिल्द १८, पृष्ठ १६० ।

४. प्र० चं वाग्ची, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ७४-७६ ।

५. ताकाकुसु-ई-च्तिंग्' स् रेकार्ड ऑफ दि बुद्धिस्ट रेलिजन इन् इण्डिया ऐण्ड दि मलय आर्किपैलेगो, ऑक्सफोर्ड, १८९६; प्र० चं० बाग्ची, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ७७ ।

६. कॉवेल और टॉमस, पृ० ७९, ८१ ।

७. एस० बील, सुशीलगुप्त प्र०, जिल्द २, २१५-२१७ ।

प्रथम पूर्वज को बाणभट्ट ने पुष्यभूति कहा है, जिसने थानेश्वर (अम्बाला जिले में आजकल का थनेसर) के आसपास के प्रदेशों को अपने अधिकार में किया । वह शिव का बड़ा भारी भक्त था और दक्षिणदेश के भैरवाचार्य नामक एक शैव संन्यासी से बहुत प्रभावित था । कहते हैं कि पुष्यभूति के सम्मान और श्रद्धा के फलस्वरूप उस महात्मा ने उसे राजा होने का वरदान दिया था । पुष्यभूति की तिथि के बारे में कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता । **हर्षचरित** में वह केवल 'राजा' और 'भूपाल' कहा गया है जो उसके सामन्त पद का द्योतक है । हर्षवर्धन के अभिलेखों में उसकी कोई चर्चा नहीं है । उनमें नरवर्धन[१] को ही सबसे पहला शासक कहा गया है । किन्तु न तो यही ज्ञात है कि पुष्यभूति से नरवर्धन का क्या सम्बन्ध था, और न यही कि उसके बाद किस पीढ़ी में वह हुआ । नरवर्धन की रानी वज्रिणीदेवी से राज्यवर्धन (प्रथम) हुआ । उसकी रानी अप्सरादेवी से आदित्यवर्धन जन्मा, जिसने महासेनगुप्ता नामक किसी गुप्तवंशी राजकुमारी से ब्याह किया । असम्भव नहीं कि इस सम्बन्ध से उसकी राजनीतिक सत्ता का विकास हुआ हो । आदित्यवर्धन का पुत्र प्रभाकरवर्धन हुआ जो अपने वंश का प्रथम सम्राट् था । उसकी रानी यशोवति या यशोमति[२] से राज्यवर्धन (द्वितीय), हर्षवर्धन और राज्यश्री नामक तीन सन्तानें हुईं ।

बाणभट्ट ने पुष्यभूतियों और मौखरियों की तुलना चन्द्र और सूर्य से की है ।[३] किन्तु पुष्यभूति वंश को क्षत्रिय मान लेना इसलिए ठीक नहीं लगता कि उसके वैश्य होने के स्पष्ट प्रमाण **सि-यू-कि**[४] और **आर्यमंजुश्रीमूलकल्प**[५] से मिलते हैं । अन्यत्र कहीं भी उन्हें क्षत्रिय नहीं कहा गया है ।

---

१. एइ०, जिल्द १, पृ० ६७; जिल्द ४, पृ० २०८; जिल्द २१, पृ० ७४; कार्पस्, जिल्द ३, पृ० २३२; जविओरिसो०, १९१९, पृ० ३०२ ।

२. रा० कु० मुकर्जी ने (हर्ष पृ० १०) उसे मालवा के यशोधर्मन् विक्रमादित्य की पुत्री बताया है, किन्तु उसके लिए हार्नले के मत (जराएसो० १९०३) को आँख मूंदकर मान लेने के सिवा उन्होंने स्वयं कोई प्रमाण नहीं दिया है ।

३. 'सोमसूर्यवंशीविव पुष्यभूतिमुखरवंशी' । हर्षचरित, सं० काणे, पृ० १६ ।

४. श्वान्-च्वांग् हर्ष को फी-शे (वैश्य) जाति का बताता है (एस्० बील०, सुशील गुप्त प्र०, जिल्द २, पृ० २३५); वाटर्स्, जिल्द १, पृ० ३५३ ।

५. सप्तमष्टशतात्रीणिश्रीकण्ठवासिनस्तदा । आदित्यनामा वैश्यास्तु स्थानमीश्वर-वासिनः ।। मंजूश्रीमूलकल्प, ६१७ । आगे श्लोक संख्या ७१९ और ७२२ में राज्यवर्धन और हर्षवर्धन को वैश्यवृत्तिवाला कहा गया है । जायसवाल महोदय वर्धनों का सम्बन्ध मालवा के विष्णुवर्धन यशोधर्मन् से जोड़ते हैं । देखिए, इम्पीरियल् हिस्ट्री, पृ० २८ ।

इस सम्बन्ध में उन विद्वानों[१] का मत सही नहीं प्रतीत होता जो **फीशे** को बैस राजपूतों से मिलाते हैं और पुष्यभूतियों को क्षत्रिय ठहराते हैं। राज्यश्री का ग्रहवर्मा (क्षत्रिय[२]) अथवा हर्ष की पुत्री का वलभी के राजा से विवाह होना भी यह निश्चयात्मकरूप से सिद्ध नहीं करता कि हर्ष और उसके पूर्वज क्षत्रिय ही थे। ये विवाह प्राचीन अनुलोम विवाहों की कोटि में रखे जा सकते हैं।

प्रभाकरवर्धन

यह स्पष्ट सा प्रतीत होता है कि गुप्त साम्राज्य की अवनति के युग (छठीं शताब्दी के प्रारम्भ) में थानेश्वर में पुष्यभूतियों ने अपना एक छोटा सा राज्य स्थापित किया। किन्तु उसकी शक्ति का विकास प्रभाकरवर्धन के समय से ही प्रारम्भ हुआ। वह अपने वंश का प्रथम सम्राट् था, जिसका समय छठीं शताब्दी का अन्तिम भाग था। उसने **परमभट्टारक** और **महाराजधिराज** की उपाधियाँ धारण कीं। **हर्षचरित**[३] में कहा गया है कि वह अपने दूसरे विरुद्ध **प्रतापशील**[४] से भी प्रसिद्ध था। बाणभट्ट ने अपनी अलंकारिक भाषा में उसे **हूणहरिणकेशरी** (हूणरूपी हिरनों के लिए सिंह के समान), **सिन्धुराजज़्वरः** (सिन्धु देश के राजा के लिए ज्वरस्वरूप), **गुर्जरप्रजागरः** (गुर्जरों की नींद हराम करने वाला), **गांधाराधिपगंधद्विपकूटपाटज्वरः** (गंधार के राजारूपी सुगन्धिगज के लिए महान् हस्तिज्वर अर्थात् घातक महामारी के समान), **लाटपाटवपाटच्चरः** (लाटों की पटुता अर्थात् चंचलता को नष्ट करने वाला), और **मालवलक्ष्मीलतापरशुः** (मालवा की राज्यलक्ष्मी रूपी लता के लिए कुल्हाड़ी के समान) कहा है।[५] ये विशेषण प्रभाकरवर्धन के बढ़ते हुए प्रभाव के द्योतक हैं। किन्तु इस बात के स्पष्ट प्रमाण नहीं हैं कि उसकी उपर्युक्त सभी राजाओं अथवा क्षेत्रों[६] पर या तो सैनिक विजयें हुईं थीं और–अथवा उनमें से कोई भी क्षेत्र उसने अपने राज्य में मिलाया था। उपर्युक्त क्षेत्रों की पहचान करने से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है।

---

१. कनिंघम, एंशिएण्ट जियोग्रॉफी आफ् इण्डिया, पृष्ठ ४३२–३३; व्हूलर, एइ०, जिल्द १, पृ० ६८।

२. त्रिपाठी, हिस्ट्री आफ् कन्नौज, पृष्ठ ३०–३१।

३. एइ०, जिल्द १, पृष्ठ ६७ और आगे; जिल्द ४, पृष्ठ २१०; हर्षचरित, निर्णयसागर प्रेस, १९१२, पृष्ठ १२०।

४. कॉवेल और टॉमस, पृष्ठ १०१, २४६।

५. हर्षचरित, निर्णयसागर प्रेस, १९१२, पृ० १२०।

६. उनकी पहचान के लिए देखिए, बुद्धप्रकाश, ऐस्पेक्ट्स् ऑफ् इण्डियन हिस्ट्री ऐण्ड सिविलाइजेशन, पृष्ठ १७०–१७२।

हूणों का अधिकार क्षेत्र थानेश्वर राज्य के उत्तर-पश्चिम[१] में था और प्रभाकरवर्धन ने उनके उत्पात को रोकने का प्रयत्न किया। **हर्षचरित** से यह ज्ञात है कि उसने अपनी वृद्धावस्था में भी हूणों को दबाने के लिए अपने पुत्र राज्यवर्धन को भेजा था। अनेक अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि हूण भारतवर्ष की शान्ति नष्ट करने का सर्वदा प्रयास[२] करते रहे और प्रभाकरवर्धन का समय उसका अपवाद नहीं था। हूण क्षेत्रों से आगे बढ़कर गंधारदेश के राजा को भी परास्त करना प्रभाकरवर्धन के लिए असम्भव नहीं था। गुर्जरों के क्षेत्र राजपूताना के अतिरिक्त आधुनिक पश्चिमी पाकिस्तान (पंजाब) में भी थे, जो थानेश्वर राज्य की उत्तर-पश्चिमी और पश्चिमी सीमाओं से लगे थे। हो सकता है कि पौष्यभूति सम्राट् ने उन्हें भी दबाया हो। मालवा पर गुप्तवंशी राजाओं का राज्य था जो कन्नौज के मौखरि राज्य के शत्रु थे। प्रभाकरवर्धन ने दक्षिणपूर्व में अपनी शक्ति को सुरक्षित रखने की दृष्टि से अपनी पुत्री राज्यश्री का विवाह मौखरिराजा ग्रह-वर्मा से कर दिया था। मालवा के गुप्तों से थानेश्वर राज्य की शत्रुता कदाचित् इसी का परिणाम थी। किन्तु प्रभाकरवर्धन जैसे उभरते हुए विजेता के लिए स्वतः भी यह असम्भव नहीं था कि वह मालवा तक चढ़ जाय। **हर्षचरित** से स्पष्ट है कि प्रभाकरवर्धन ने मालवा की विजय की थी। किन्तु यह निश्चितरूप से ज्ञात नहीं है कि मालवा का पराजित शासक कौन था। विद्वानों के मत में वह या तो यशोधर्मन् का पुत्र शीलादित्य[३] था अथवा देवगुप्त[४]। लेकिन सिन्धु और लाट थानेश्वर से बहुत दूर थे और इस बात की कल्पना नहीं की जा सकती कि उनके शासकों के मन में प्रभाकरवर्धन का कोई भय था। अतः बाण जब प्रभाकरवर्धन को 'सिन्धुराज का ज्वर' और 'लाटों की चंचलता नष्ट करने वाला' कहता है तो हम उसे ऐतिहासिक तथ्य न मानकर कवि-कल्पना ही मानेंगे।

यह स्पष्ट जान पड़ता है कि प्रभाकरवर्धन में प्रचुर संगठनात्मक शक्ति थी और उसके समय में थानेश्वर राज्य साम्राज्य-भावनाओं से आलोड़ित होने लगा था। **हर्ष-चरित** के उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि आसपास के राज्यों पर उसका राजनीतिक

---

१. कॉस्यॉस् इण्डिकेप्लेडल्टेस् उसे सिन्धु के पश्चिम बताता है। देखिए, मिक्रिण्डल्, इण्डिया ऐज् डेस्क्राइब्ड् इन क्लासिकल् लिटेरचर पृष्ठ ३७१-२।

२. देखिए, जबिओरिसो, डॉ० अल्तेकर स्मृत्यंक, पृष्ठ १३९।

३. मुकर्जी, हर्ष, पृष्ठ ५९-६०।

४. रा० ब० पाण्डेय, प्राचीन भारत, द्वितीय सं०, पृष्ठ ३०८; रा० गो० बसाक, हिस्ट्री ऑफ् नार्थ ईस्ट इण्डिया, पृ० १४२।

प्रभाव स्थापित हो चुका था।[१] कन्नौज के राजा से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करके प्रभाकर-वर्धन ने अपनी कूटनीतिक प्रतिभा का भी परिचय दिया। विवाह के समय राज्यश्री अवस्था में अत्यन्त छोटी थी किन्तु कन्नौजराज ग्रहवर्मा को अपनी ओर खींचने के लिए प्रभाकरवर्धन ने वह सम्बन्ध कर लेना आवश्यक समझा होगा। अतः यह निष्कर्ष निकालना असंगत न होगा कि पुष्यभूति वंश की सार्वभौम स्वतन्त्र सत्ता का प्रथम संस्थापक प्रभाकरवर्धन ही था।

राज्यवर्धन

प्रभाकरवर्धन की तीन सन्तानों में राज्यवर्धन सबसे जेठा था, जिसे राजकुमार होने की अवस्था में ही सबसे पहली परीक्षा देनी पड़ी। **हर्षचरित**[२] से ज्ञात होता है कि प्रभाकरवर्धन के जीवन के अंतिम दिनों में उसके राज्य की उत्तर-पश्चिमी सीमाओं पर हूणों ने आक्रमण करना प्रारम्भ कर दिया था। वृद्धावस्था और सम्भवतः रुग्ण होने के कारण वह स्वयं युद्धस्थल में जाने लायक नहीं था। अतः हूणों को दबाने का कार्य राज्यवर्धन को सौंपा गया (लगभग ६०४ ई०)। बाणभट्ट का कथन है कि उस समय कुमार (राज्यवर्धन) की अवस्था वर्म (शस्त्र) धारण करने योग्य हो चुकी थी और वह एक बड़ी सेना के साथ हूणों को दबाने के लिए चल पड़ा। अवस्था में उससे चार वर्ष छोटा उसका भाई हर्ष भी उसके पीछे चल पड़ा। राज्यवर्धन की सेनाएँ आगे बढ़कर हूणों का पीछा करने लगीं और हर्ष उनके पार्श्व की हिमालय की अधित्यकाओं में शिकार खेलने में लग गया। किन्तु राज्यवर्धन अपना काम अभी पूरा भी नहीं कर पाया था कि राजधानी थानेश्वर में **महाराजधिराज** प्रभाकरवर्धन तीव्रज्वर से रोग-शय्या पर पड़ गया और उसकी दशा उत्तरोत्तर बिगड़ती गयी। इसकी सूचना कुरंगक नामक दूत ने जब हर्ष को दी तो वह तुरन्त राजधानी लौट आया। राज्यवर्धन हूणों का पीछा करता हुआ आगे निकल गया था और उसे भी बुलाने के लिये अनेक दूत भेजे गये। हर्ष के राजधानी पहुँचते पहुँचते प्रभाकरवर्धन के जीवन की आशा समाप्त हो चुकी थी। उसकी माता यशोमति निराश होकर अग्नि में कूदकर सती हो गयी तथा अंतिम साँस लेते हुए राजा ने हर्षवर्धन को गद्दी सम्हालने के लिए कहा[३] (६०५ ई०)। लगता है कि

---

१. मधुबन और बाँसखेड़ा के लेखों में यह कहा गया है कि जब प्रभाकरवर्धन का यश चारों समुद्रों के पार तक व्याप्त हो गया था तो दूसरे राजे उसके सम्मुख प्रेम या शक्ति से झुकते लगे (चतुस्समुद्रातिक्रान्तकीर्तिः प्रतापानुरागोपनतान्यराजो)। देखिए–एइ०, जिल्द ४, पृष्ठ २१०।

१. निर्णयसागर प्रेस, १९१२ ई०, पृष्ठ १५० और आगे।

२. वहीं, पृष्ठ १५०।

प्रभाकरवर्धन अपने बाद हर्ष को ही राजा बनाना चाहता था। या तो वह उसे उसके लिये राज्यवर्धन से अधिक उपयुक्त समझता था अथवा राज्यवर्धन की अनुपस्थिति में प्रभाकरवर्धन को राजगद्दी के सम्बन्ध में किसी और भय की आशंका थी। भारत के इतिहास में उसके पूर्व तथा बाद के ऐसे उदाहरण मिलते हैं जब कुछ राजाओं ने अपने जेठे पुत्रों के होते हुए भी छोटे पुत्रों को ही अपने सामने राजगद्दी दे दी। समुद्रगुप्त और तृतीय गोविंद इनके प्रमुख उदाहरण थे[२] किन्तु अपने बड़े भाई का उत्तराधिकार हथियाने का हर्ष का स्वयं कोई इरादा न था। उसने राज्यवर्धन को बुलाने के लिये बारी बारी से अनेक दूत भेजे। राज्यवर्धन तब तक हूणों पर विजय पा चुका था और पिता की मृत्यु का समाचार सुनकर शीघ्र ही थानेश्वर पहुँच गया।

राज्यवर्धन स्वभावतः निवृत्तिपरक था।[३] वंशपरम्परा के विपरीत वह बौद्ध-धर्मानुयायी भी हो गया था[४] और राज्यशासन के प्रपंचों में पड़ना नहीं चाहता था। उसकी इच्छा थी कि राजगद्दी हर्ष को दे तथा स्वयं संन्यासी होकर किसी आश्रम में चला जाय।[५] दोनों भाई परस्पर एक दूसरे को गद्दी संभालने का आग्रह कर ही रहे थे कि उन्हें अपने बहनोई ग्रहवर्मा के मारे जाने का समाचार मिला। भाई हर्षवर्धन, दरबारियों और मंत्रियों का जोर तो पड़ ही रहा था, ग्रहवर्मा की हत्या का समाचार राज्यवर्धन के सामने एक महान् चुनौती के रूप में उपस्थित हुआ और वह राज्यभार स्वीकार करने को विवश हुआ। उस समाचार से उसका दुःखी मन अपना विराग भाव त्यागकर कर्त्तव्यपथ की ओर मुड़ गया। राज्यश्री के संवादक नामक एक अत्यन्त विश्वासपात्र सेवक ने थानेश्वर में आकर ग्रहवर्मा की हत्या की सूचना देते हुए कहा था– 'जिस दिन राजा (प्रभाकरवर्धन) की मृत्यु का समाचार फैला, उसी दिन दुष्ट

---

१. 'गृह्यतां श्रीः', 'आत्मीक्रियतां राजकम्', 'उह्यतां राज्यभारः' आदि प्रभाकरवर्धन के हर्ष के प्रति शब्द थे। हर्षचरित, निर्णयसागर प्रेस, १९१२ ई०, पृष्ठ १६८–१६९।

२. अल्तेकर और मजुमदार–वाकाटक-गुप्त एज, पृष्ठ १२६–१२७; रायचौधुरी, पो० हिस्ट्री, पृष्ठ ५३३; अल्तेकर एज ऑफ् इम्पीरियल कन्नौज, पृष्ठ ५–६।

३. राज्ये विषय इव चकोरस्य में विरक्तं चक्षुः। हर्षचरित, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ १८०।

४. श्री यशोमत्यामत्पनः परमसौगतः सुगतइव। बाँसखेड़ा अभिलेख, एइ०, चतुर्थ, पृष्ठ २१०।

५. सोऽहमिच्छामि मनसिवाससीव संलग्नं स्नेहमलमिदममलैः शिखरिशिखरप्रसवण-स्वच्छस्रोताम्बुभिः क्षालयितुमाश्रमपदे। पूर्वोद्धृत, पृष्ठ १८०।

मालवराज[1] ने स्वामी ग्रहवर्मा को मार डाला । राज्यश्री एक चोर स्त्री की तरह पैरों में शृंखलाओं के साथ कान्यकुब्ज में कैद कर ली गयी है । समाचार तो यह भी है कि वह दुष्ट इस राज्य पर भी यह समझकर चढ़ाई करना चाहता है कि यहाँ की सेना नेतृत्वहीन है । यह मेरी सूचना है, आप जैसा चाहें करें[2] ।' इस दु:खद संवाद ने राज्यवर्धन के शोक को क्रोध में परिवर्तित कर दिया । प्रतिशोध की भावना से प्रेरित उसने मालव राजवंश को उखाड़ फेंकने की प्रतिज्ञा की और उसके विरुद्ध चल पड़ा । उसके साथ भंडि और चुने हुए १० हजार घुड़सवार थे ।[3] हर्ष भी बड़े भाई के साथ युद्ध के लिये जाने को उतावला था किन्तु राज्यवर्धन ने उसे थानेश्वर में रोक दिया । इस प्रकार राज्यवर्धन थानेश्वर से दूर मालवराज के विरुद्ध चला और उसकी अनुपस्थिति में हर्ष उसकी ओर से प्रशासन देखने लगा ।

राज्यवर्धन की हत्या

किन्तु थानेश्वर राज्य की विपत्तियों का अभी अंत नहीं हुआ था । राज्यवर्धन को राजधानी छोड़े अभी बहुत समय न बीता था कि उसकी अश्वसेना के कुन्तल नामक सेनापति ने हर्ष को यह संदेश दिया की यद्यपि राज्यवर्धन ने 'खेल ही खेल में मालव सेना को जीत लिया, गौडराज ने अपने मिथ्योपचार द्वारा उसके हृदय में अपने प्रति विश्वास उत्पन्न कर उसे अपने ही भवन में ऐसे समय मार डाला, जब वह एकदम अकेला और नि:शस्त्र था ।[4] बाणभट्ट ने न तो कहीं मालवराज का नाम लिया है और न स्पष्टत: गौडराज के नाम का ही[5] उल्लेख किया है । किन्तु हर्षचरित के इस संदर्भ की ऐतिहासिक सत्यता का प्रमाण हमें हर्ष के अभिलेखों और **सि-यू-कि** से मिलता है । मधुबन और बाँसखेड़ा

---

१. मालवराज की पहचान के सम्बन्ध में विभिन्न मतों के लिए देखिए–हार्नले, जराएसो०, १९०३, पृ० ५५९; रा० कु० मुकर्जी, हर्ष, पृ० ५० और आगे; धीरेन्द्रचन्द्र गांगुली, जबिओरिसो०, जिल्द १९, पृष्ठ ४०६ और आगे ।

२. कॉवेल और टॉमस्, पृ० १७३; वैद्य महोदय (हिमेहिइ०, पृ० ३-४) यह संभव मानते हैं कि थानेश्वर और कन्नौज के राजा बौद्ध थे और उसी कारण शशांक और देवगुप्त उनके विरुद्ध होकर एक हो गये थे !

३. हर्षचरित, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १८४ ।

४. तस्माच्च हेलानिर्जितमालवानीकमपि गौडाधिपेन मिथ्योपचारोपचिताविश्वासं मुक्तशस्त्रं एकाकिनं विश्रब्धं स्वभवने एव भ्रातरं व्यापादितमश्रौसीत् । हर्षचरित, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १८६ ।

५. हर्षचरित के एक अन्य स्थल पर शशांकमंडल के उदय का उल्लेख है । कॉवेल और टॉमस् (आमुख, पृष्ठ दशम) ने यह अनुमन लगाया है कि बाणभट्ट द्वारा गौडराज के नाम और उसकी उठती हुई शक्ति के प्रति यह श्लेषात्मक उल्लेख है ।

के लेखों से ज्ञात है कि 'देवगुप्त आदि राजाओं को एक साथ जीतकर, अपने शत्रुओं का मूलोच्छेदकर, संसार पर विजय प्राप्तकर और प्रजा को संतुष्टकर महाराज राज्यवर्धन ने सत्यानुरोध में शत्रु के भवन में अपने प्राण खो दिये[१] !' श्वान् च्वांग्[२] कहता है–'जेठा भाई होने के नाते राज्यवर्धन राजा हुआ और नैतिकतापूर्वक शासन करने लगा। उस समय पूर्वी भारत में कर्णसुवर्ण[३] (कि-लो-न-सु-फ-लन) का शशांक (शे-शाङ्ग-किया) नामक राजा अपने मंत्रियों को सम्बोधित कर प्रायः कहा करता था– 'यदिसीमान्तराज्य में कोई नीतियुक्त राजा हो तो यह (अपने) राज्य के लिए बुरी बात होती है। तत्पश्चात् उसने राज्यवर्धन को अपने बीच बुलाकर मार डाला'। यह स्पष्ट है कि शशांक राज्यशासन में खलनीति के प्रयोग पर विश्वास करता था और कोई भी कार्य उसके लिये छोटा अथवा घृणित नहीं था। शंकरार्य ने **हर्षचरित** के सम्बन्धित स्थल की जो टीका की है[४] उससे ज्ञात होता है कि शशांक ने भोले-भाले राज्यवर्धन को अपनी पुत्री (उससे) ब्याहने का भुलावा देकर अपने यहाँ बुलाया और धोखे से भोजन करते समय मार डाला।

डॉ० सुधाकर चटोपाध्याय[५] ने मधुबन और बाँसखेड़ा के ताम्रपत्रों के 'देवगुप्तादयः' से यह अर्थ निकाला है कि राज्यवर्धन ने शत्रु राजाओं के किसी संघ को परास्त किया था, न कि अकेले देवगुप्त को। इस मत की पुष्टि वे **हर्षचरित** के उस

---

१. राजानो युधि दुष्टवाजिन इव श्रीदेवगुप्तादयः। कृत्वायेनकशाप्रहारविमुखास्सर्वे समं संयता। उत्खाय द्विषतो विजित्य वसुधाङ्कृत्वाप्रजानां प्रियम्। प्राणानुज्झितवाना-रातिभवने सत्यानुरोधेन यः। एइ०, जिल्द १, पृ० ६७ और आगे, जिल्द ४, पृ० २१०; डॉ० गांगुली ने यह मत व्यक्त किया है (इहिक्वा०, जिल्द २३, पृ० ५१-५५) कि राज्यवर्धन का हत्यारा गौडराज शशांक नहीं अपितु किसी अन्य नाम का कोई दूसरा व्यक्ति था। किन्तु उनके तर्क लचर हैं।

२. एस० बील, सुशीलगुप्त प्र०, जिल्द २, पृ० २३६। वाटर्स् (जिल्द १, पृ० ३४३) ने यह स्पष्ट किया है कि शशांक ने राज्यवर्धन के वध के लिए कपट का प्रयोग किया था।

३. कर्णसुवर्ण की पहचान के लिए देखिए, जराएसो०, बंगाल, जिल्द ६२, पृ० ३१५; नन्दलाल दे, जियोग्राफिकल् डिक्शनरी, पृ० ९४; एइ०, जिल्द १८, पृ० ६२ आदि।

४. हर्षचरित, निर्णयसागर प्रेस; इहिक्वा०, जिल्द १२, पृ० ४६३।

५. अर्ली हिस्ट्री आफ् नार्थ इण्डिया, पृ० २४१।

उल्लेख से करते हैं, जिसमें सिंहनाद हर्ष को केवल गौडराज (शशांक) को नहीं अपितु उसकी नकल करने वाले अन्य राजाओं को भी उखाड़ फेंकने को उत्साहित करता है और स्वयं हर्ष उन उपद्रवी शत्रु राजाओं से पृथिवी को रहित कर देने की प्रतिज्ञा करता है । ऐसा प्रतीत होता है कि कन्नौज में देवगुप्त को युद्ध में मारकर राज्यवर्धन ने उसके मित्र शशांक को भी दंडित करने का निश्चय किया था किन्तु वह उसके जाल में फँस गया । उस नवयुवक राजा में वीरता तो थी किन्तु कच्ची उम्र होने के कारण राजनीतिक दावपेचों को समझने की अन्तर्दृष्टि का विकास नहीं हो पाया था । श्वान् च्वांग्[१] मंत्रियों पर इस बात का दोष लगाता है कि उन्होंने राज्ववर्धन को ठीक परामर्श नहीं दिया और वह उनकी गलती से मारा गया ।

हर्षवर्धन (लगभग ६०६ से ६४७ ई०) का प्रारम्भिक इतिहास

पिता प्रभाकरवर्धन की मृत्यु, माता यशोमति के सती हो जाने, बहनोई ग्रहवर्मा के बध, बहिन राज्यश्री के वंदिनी बन जाने तथा बड़े भाई राज्यवर्धन के मालवराज के विरुद्ध कूच कर देने के बाद हर्ष की जो अवस्था हुई थी, उसका मार्मिक वर्णन बाणभट्ट उपस्थित करता है । उदाहरण के लिये, वह कहता है कि 'हर्ष शोक और विपत्ति के उन दिनों में अपना समय भी नहीं काट पाता था । अपने झुंड से छूटे हुए किसी हाथी की तरह अकेले वह खोया-खोया सा रहता था' ।[२] इस दशा में जब उसे राज्यवर्धन की भी हत्या का समाचार मिला होगा तो उसपर क्या बीती होगी, इसकी कल्पना मात्र की जा सकती है । लगभग १६ वर्ष की अवस्था वाले उस राजकुमार पर थानेश्वर राज्य के साथ ही कन्नौज राज्य पर पड़नेवाली विपत्तियों को टालने का घोर उत्तरदायित्त्व भी आ पड़ा । उसके लिए ये कठिन परीक्षा के दिन थे और वह वस्तुतः उसके योग्य साबित भी हुआ । राज्यवर्धन की हत्या का समाचार सुनकर उसका मुँह क्रोधावेश से लाल हो गया और उसके काँपते हुए ओठ मानों शत्रुओं को चबा जाने की नियति करने लगे ।[३] वृद्ध सेनापति सिंहनाद ने परिस्थिति पर काबू पाने के लिये हर्ष को उत्साहित करते हुए कहा-'राजा दिवंगत हो गये और गौडराजरूपी सर्प ने राज्यवर्धन को डँस लिया । अब पृथ्वी को धारण करने के लिये शेषनाग के समान तुम्हीं शेष रह गये हो । अपनी अरक्षित प्रजा की रक्षा करो, अपने चरण शत्रुओं के मस्तकों पर रखो, अधम गौडराज को समाप्त कर देने की प्रतिज्ञा आज ही

---

१. एस्० बील, सुशीलगुप्त प्र०, जिल्द २, पृ० २३७

२. कॉवेल् और टॉमस्, पृ० १७६ ।

३. वहीं, पृ० १७८ ।

करो' ।[१] अपने पिता के मित्र और उसी के दिनों से सेनापति पद पर आसीन रहनेवाले उस वृद्ध सिंहनाद के ओजस्वी सम्बोधन का हर्ष पर प्रभाव होना स्वाभाविक था और उसने तुरन्त प्रतिज्ञा की–'यदि मैं कुछ गिने–चुने दिनों के भीतर ही अपने धनुषों की चपलता के कारण उत्तेजित सभी (शत्रु) राजाओं के पैरों में बेड़ियाँ डालकर उनकी झँकार से सारी पृथ्वी झंकृत न कर दूँ तथा गौडराज से उसे (पृथिवी को) रहित न कर दूँ तो जलती हुई अग्नि में अपने को पतंग की भाँति स्वयं झोंक दूँ और जल मरूँ ।'[२] किन्तु यह देखने के पूर्व कि हर्ष अपनी प्रतिज्ञा का पालन करने में कहाँ तक सफल हुआ, हमें उस समय की कुछ अन्य घटनाओं के तारतम्य पर विचार करना चाहिए।

ग्रहवर्मा की मृत्यु के बाद

हमें इस बात का कोई ज्ञान नहीं है कि राज्यवर्धन और देवगुप्त की सेनाओं में कहाँ मुठभेड़ हुई अथवा यदि देवगुप्त की मदद करनेवाले और भी राजा थे तो क्या उनका कोई संघ एक साथ लड़ा था या थानेश्वर की सेनाओं से उनका अलग–अलग मुकाबला हुआ था । पुनः, इसकी भी कोई जानकारी नहीं है कि शशांक ने राज्यवर्धन को कहाँ मारा । इस सम्बन्ध में **हर्षचरित** का उल्लेख बहुत स्पष्ट नहीं है कि वह शशांक द्वारा अपने ही भवन (स्वभवने एव) में मारा गया । राज्यवर्धन के मारे जाने के बाद शशांक का राजनयिक आचरण क्या हुआ, यह कहना भी कठिन है । डॉ० त्रिपाठी का मत है[३] कि उसने कन्नौज पर अधिकार कर लिया और शत्रु–सेना के नायक भण्डि का ध्यान दूसरी ओर आकृष्ट कर देने की नीयत से राज्यश्री को कन्नौज के कारागार से मुक्त कर दिया । किन्तु **हर्षचरित** का भंडि के मुँह से यह स्पष्ट कथन है कि राज्यवर्धन की हत्या के बाद गुप्त नामक किसी राजपरिवारी व्यक्ति ने कन्नौज पर अधिकार कर लिया। राज्यश्री (संभवतः उस

---

१. वहीं पृ० १८५–१८६ ।

२. 'श्रूयतां मे प्रतिज्ञा शपाम्यार्यस्यैव पादपांसुस्पर्शेन यदि परिगणिततैरेव वासरैः सकलचापचापलदुर्ललितनरपतिचरणरणरणायमाननिगडां निर्गौडां न करोमि मेदिनीं ततस्तूनपाति पीतसर्पिषि पतंग इव पातकी पातयाम्यात्मानम्' । हर्षचरित, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १९४ । श्वान्–च्वांग् कन्नौज का राज्यशासन ग्रहण करते हुए हर्ष की एक दूसरी प्रतिज्ञा का उल्लेख करता है । हर्ष ने मंत्रियों से कहा : 'मेरे भाई के शत्रु अभी तक दण्डित नहीं किये जा सके हैं । पास के राज्य भी अभी अधीन नहीं किये जा सके हैं । इस स्थिति के रहते मैं दाहिने हाथ से भोजन नहीं करूँगा ।' बील, पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द २ (सुशीलगुप्त प्रकाशन), पृष्ठ २३८ ।

३. हिस्ट्री ऑफ् कन्नौज, पृ० ६७ ।

अव्यवस्था का लाभ उठाकर) स्वयं कारागृह से निकल भागी और अपने परिजनों के साथ विंध्याचल के जंगलों में प्रवेश[१] कर गयी । उस सिलसिले में भंडि कहता है कि ये बातें उसने साधारण जनों के मुँह से सुनी थीं । आगे चलकर राज्यश्री की खोज कर लेने के बाद उसके परिजनों ने हर्ष को बताया कि गौडसंभ्रम (गौडों के उपद्रव के समय) में राज्यश्री गुप्त नामक किसी कुलपुत्र द्वारा बचायी गयी और कन्नौज से निकाल दी गयी ।[२] इन उद्धरणों से यह लगता है कि शशांक का कान्यकुब्ज पर धावा तो हुआ किन्तु उसपर उसका स्थायी अधिकार नहीं हो सका था । यह अत्यन्त संभव है कि उसने स्वयं अपने पूर्वी शत्रु, कामरूप के राजा, भास्करवर्मा के भय से अपने राज्य (गौड) को छोड़कर बहुत दूर उत्तर-पश्चिम में बढ़ना और कन्नौज पर अधिकार कर लेना राजनीतिक बुद्धिमानी की बात न मानी हो । उसका मित्र देवगुप्त मारा जा चुका था तथा कन्नौज की रक्षा के लिये राज्यवर्धन के नेतृत्त्व में आयी हुई थानेश्वर की घुड़सवार सेना और उसके सेनापति भंडि अभी कन्नौज के पास ही थे । ऐसी अवस्था में शशांक को यह हिम्मत नहीं हुई कि वह कन्नौज में बहुत दिनों तक रुके । अतः यह प्रतीत होता है कि कन्नौज पर एक धावा मात्र बोलकर शशांक अपने क्षेत्रों की ओर लौट गया । राज्यवर्धन की हत्या उसने कदाचित् वहाँ से लौटते समय ही की थी ।

दिग्विजय की तैयारी

पीछे हम देख चुके हैं कि राज्यवर्धन की हत्या के बाद हर्ष ने अपने शत्रुओं से बदला लेने की प्रतिज्ञा की । किन्तु दुर्भाग्यवश **हर्षचरित** में उसकी किसी भी विजय का विवरण नहीं है । उससे इतना अवश्य प्रतीत होता है कि हर्षवर्धन की योजनाएँ, भारतीय सम्राटों की परम्परा के अनुरूप, दिग्विजय की थीं । प्राचीन विजेताओं की विजयों की गिनती करते हुए **हर्षचरित** कहता है[३]—'तुषारगिरि और गंधमादन के बीच की दूरी तो कम ही है; उत्साही के लिये तुरुष्कों के विषय केवल एक हाथ के बराबर है; पारसीकों का देश एक छोटा भूखंड है, शकस्थान केवल शशपद के समान है, प्रतीहारों के अभाव में पारियात्र देश की विजय केवल मामूली यात्रा से हो सकती है और दक्षिणापथ को शौर्य का शुल्क चुकाकर पाया जा सकता है ।' इन देशों की पहचान करने से लगता है कि वे

---

१. कॉवेल् और टॉमस्, पृ० २२४ ।

२. 'भुक्तवांश्च बन्धनात्प्रभृति विस्तरतः स्वसुः कान्यकुब्जाद्गौडसम्भ्रमे गुप्तितो गुप्तनाम्ना कुलपुत्रेण निष्कासनम्' इत्यादि । हर्षचरित, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २४९ ।

३. 'हसीय एवान्तरं तुषारगिरिगंधमादनयोः । उत्साहिनः किष्कुतुरुष्कविषयः । प्रादेशः पारसीकदेशः । शशपदं शकस्थानम् । अदृश्यमानप्रतीहारे पारियात्रे यात्रैव शिथिला । शौर्यशुल्कसुलभो दक्षिणापथः ।' हर्षचरित, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २१४ ।

सभी उत्तरपश्चिम, पश्चिम और दक्षिणापथ में पड़ते थे। तुषारगिरि से तात्पर्य कदाचित् कश्मीर के ऊपर की चोटियों से है। गंधमादन सुमेरु के पूर्व में था। तुरुष्क और पारसीकों के देशों से आधुनिक अफगानिस्तान और उसकी उत्तरी-पश्चिमी सीमाओं का तात्पर्य प्रतीत होता है। शकस्थान सीस्तान है और पारियात्र विन्ध्याचल के पश्चिमी घाटों को छूने वाली पहाड़ियों का प्रदेश था। दक्षिणापथ स्पष्ट है। उस पर चालुक्य राजाओं का अधिकार था। **हर्षचरित**[1] के उपर्युक्त उद्धरण के साथ यदि हर्ष द्वारा पृथिवी को निगौंड कर देने की प्रतिज्ञा को मिला दिया जाय तो चतुर्दिक् दिग्विजय की उसकी कल्पना स्पष्ट हो जाती है।

बाण यह बताता है कि हर्ष ने एक बड़ी भारी सैनिक तैयारी के बाद कूच किया और प्रथम दिन की यात्रा समाप्त होने पर उसे प्राग्ज्योतिष, (असम) के राजा भास्करवर्मा का हंसवेग नामक एक दूत अपने स्वामी के उपहारों सहित मिला। उसने भास्करवर्मा की हर्ष से शाश्वत मित्रता का प्रस्ताव किया। वैसे **हर्षचरित**[2] में कहा तो यह गया है कि भास्करवर्मा ने शिव के अतिरिक्त किसी के सामने सिर नहीं झुकाया था, किन्तु इस कथन का उद्देश्य हर्ष की प्रतिष्ठा बढ़ाने मात्र तक सीमित है। रा० गो० बसाक और रा० दा० बनर्जी जैसे विद्वानों की दृष्टि में भास्करवर्मा की हर्ष से मित्रता कर लेने के इस प्रस्ताव का उद्देश्य स्पष्ट है। चूँकि उसी की तरह हर्ष की भी अब गौडराज शशांक से शत्रुता हो गयी थी, थानेश्वर राज्य से अपना राजनयिक सम्बन्ध स्थापित कर लेना 'दोनों के पारस्परिक हित के लिये'[3] उसने अत्यन्त अच्छा समझा।

राज्यश्री की खोज

किन्तु हर्षवर्धन की विजयों का न तो सही-सही निरूपण संभव प्रतीत होता है और न उनका तिथिक्रम ही आसानी से निश्चित किया जा सकता है। यह भी बताना कठिन है कि उसने शत्रुओं के दमन की अपनी प्रतिज्ञा कहाँ तक और कब पूरी की। **हर्षचरित** से ज्ञात होता है कि थानेश्वर से एक बड़ी सेना लेकर चल देने के बाद भी वह सीधे गौडराज शशांक के विरुद्ध नहीं गया। अपनी यात्रा के मार्ग में ही उसकी भंडि से भेंट हुई, जो राज्यवर्धन द्वारा विजित सम्पूर्ण मालवसेना लेकर लौट रहा था। उसने यह भी सूचना दी कि राज्यश्री बन्धनागार से मुक्त होकर अपने सभी परिजनों के साथ विंध्य के जंगलों में

---

१. कॉवेल् और टॉमस्, पृ० २११। हर्षचरित, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २१४ और आगे।

२. वहीं, पृ० २१८।

३. हिस्ट्री ऑफ् नार्थ ईस्ट इण्डिया, पृ० १४१।

समा[१] गयी, जहाँ उसे खोजने के लिए उसने अनेक दूत भेजे किन्तु उनमें से कोई लौटा नहीं। किन्तु बाणभट्ट इसकी कोई सूचना नहीं देता कि राज्यश्री विन्ध्य के किस भाग की ओर गयी थी। भण्डि की इस सूचना पर हर्ष ने अपना यह कर्त्तव्य माना कि वह पहले अपनी अभागी बहिन की खोज करे। श्री चि० वि० वैद्य और डॉ० त्रिपाठी का कहना है कि उसने गंगा के किनारे कहीं अपनी सेनाओं को रोक दिया[२] और कन्नौज में स्थापित शशांक के विरुद्ध न बढ़कर विन्ध्य की ओर गया। किन्तु किसी स्पष्ट प्रमाण के अभाव में इस कथन की ऐतिहासिक सम्भावना पर संदेह किया जा सकता है। थानेश्वर से चलने पर पहले उसे यमुना नदी पार करनी पड़ी होगी। उसे पार कर, आगे दक्षिण-पूर्व न होते हुए सीधे पूरब जाकर उसने गंगा का किनारा पकड़ लिया, इसका कोई प्रमाण **हर्षचरित**[३] से भी नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त पीछे हम देख चुके हैं कि कन्नौज पर शशांक नहीं, अपितु गुप्त नामक किसी व्यक्ति ने अधिकार जमा लिया था। यह असम्भव प्रतीत होता है कि कन्नौज में शशांक जैसे शक्तिशाली और छद्मपूर्ण व्यक्ति के अधिकृत रहते, राज्यश्री के प्रति अपने सारे स्नेह के होते हुए भी, हर्ष अपनी सेनाओं को अरक्षित छोड़कर माधवगुप्त एवं कुछ अन्य करद राजाओं के साथ दक्षिण की ओर काफी दूर विंध्य के जंगलों में बिना किसी हिचक के चला जाता। ऐसा विश्वास नहीं होता कि हर्ष इतनी बड़ी सैनिक और राजनीतिक भूल करता। **हर्षचरित** से ज्ञात[४] होता है कि विंध्य-वनों में काफी दूर जाकर उसने राज्यश्री की खोज प्रारम्भ की। भाग्यवश ग्रहवर्मा के बचपन के मित्र दिवाकरमित्र से उसकी भेंट हो गयी। वह बौद्ध भिक्षु होकर उन जंगलों में रहता था। उसकी सहायता से हर्ष ने राज्यश्री को खोज लेने में सफलता पायी।[५] जब हर्ष राज्यश्री को खोजता हुआ उसके पास पहुँचा तो वह चिता में प्रवेश करने जा रही थी। वैसा करने से विरत किये जाने पर वह बौद्ध भिक्षुणी हो जाना चाहती थी, किन्तु भाई हर्ष और दिवाकरमित्र के समझाने-बुझाने से उस विचार को भी उसने त्याग दिया। हर्ष ने उसकी सान्त्वना में कुछ दिन दिवाकरमित्र के आश्रम में ही बिताये। **हर्षचरित** से इसकी कोई जानकारी नहीं प्राप्त होती कि आगे हर्ष की योजनाएँ क्या थीं। कारण यह है कि बाणभट्ट अपना वृत्त अचानक इसी स्थल पर समाप्त कर देता है।

---

१. कॉवेल और टॉमस्, पृ० २२४।

२. हिमेहिइ०, पृ० ६; हिस्ट्री ऑफ् कन्नौज, पृ० ७२; और देखिये, मजुमदार, क्लासिकल् एज, पृ० १००।

३. देखिए पीछे, पृ० १४।

४. हर्षचरित, अष्टम उच्छ्वास, कॉवेल और टॉमस्, पृ० २३० और आगे।

५. कॉवेल और टॉमस्, पृ० २४९।

कन्नौज की गद्दी पर अधिकार

हर्ष के शासनकाल की प्रारंभिक घटनाओं का तिथिक्रम निश्चित करना असंभव सा दिखता है। बाणभट्ट तो कोई तिथि देता ही नहीं, सि-यू-कि से भी हमें न तो सभी घटनाओं की जानकारी होती है और न किसी तिथि का ही ज्ञान होता है। श्वान्-च्वांग् का कथन है कि राज्यवर्धन की हत्या ने प्रजाओं को राजारहित कर दिया और देश उजाड़ हो गया। तब शक्ति और प्रभाव से महान् एवं यशस्वी महामंत्री पोनी (भंडि) ने उपस्थित मंत्रियों से कहा[१]–'राजा के भाग्य का आज निपटारा होने वाला है। वृद्ध महाराज (प्रभाकरवर्धन) का पुत्र मर चुका है। किन्तु राजा (राज्यवर्धन) का भाई दयालु और स्नेहशील है। उसका स्वभाव नैसर्गिक है और वह कर्त्तव्यपरायण तथा आज्ञापालक है। चूँकि उसका अपने वंश से अत्यधिक लगाव है, लोग उसमें विश्वास करेंगे। मेरा प्रस्ताव है कि वह राज्यभार ग्रहण करे। आप सभी लोग इस विषय पर जो भी सोचें, विचारकर कहें।[२] इस पर सभी मंत्रियों और राजकर्मचारियों ने उस प्रस्ताव का समर्थन किया और उन्होंने हर्ष को राजा होने के लिए कहा। हर्ष ने उत्तर दिया–'किसी देश का शासन चलाना बड़े उत्तरदायित्त्व का काम है। राजा होने के लिए पहले से ही विचार करना होता है। मैं तो छोटा व्यक्ति हूँ, किन्तु राज्यभार को अस्वीकार करके मैं जनता का अहित कर सकता हूँ। मुझे सबकी राय माननी चाहिए और अपनी कमी का ध्यान नहीं करना चाहिए। अतः गंगा के किनारे बोधिसत्त्व की एक मूर्ति है, जिसमें आध्यात्मिक चमत्कार के अनेक लक्षण दिखायी पड़ते हैं। मैं वहाँ जाकर आज्ञा लूँगा।'[३] बोधिसत्त्व ने हर्ष को इस शर्त के साथ शासन सँभालने की आज्ञा दे दी[४] कि वह राजगद्दी पर कभी नहीं बैठेगा और

---

१. पोनी की पहचान भण्डि से की जाती है। देखिए–होयर्नल, जराएसो०, १९०३, पृ० ५६०, रा० कु० मुकर्जी, हर्ष, पृ० १७, टिप्पणी १।

२. एस्० बील०, जिल्द २, पृ० २३६–३७।

३. वही; शे-किया-फेंग्-चे का एक उद्धरण डॉ० सुधाकर चट्टोपाध्याय (अर्ली हिस्ट्री ऑफ् नार्थ इण्डिया, पृ० १४६) देते हैं, जिससे श्वान्-च्वांग् के कथनों का समर्थन होता है। अन्तर केवल इतना है कि वहाँ कन्नौज का नाम स्पष्टतः लिया गया है और यह कहा गया है कि हर्ष स्वयं उसकी गद्दी लेना चाहता था और उस हेतु उसने अवलोकितेश्वर की पूजा की।

४. वाटर्स्, जिल्द १, पृ० ३४३। हर्ष ने 'महाराज' की पदवी धारण न करने की अपनी प्रतिज्ञा का पालन नहीं किया। उसके बाँसखेड़ा अभिलेख में 'महाराजाधिराज' (स्वहस्तोमम महाराजाधिराज श्री हर्षस्य) उपाधि मिलती है।

महाराज की पदवी भी नहीं धारण करेगा। वाटर्स् और डॉ० त्रिपाठी[१] ने यह स्वीकार किया है कि हर्ष की राजगद्दी के प्रति यह उदासीनता कन्नौज के राज्य के सम्बन्ध में रही होगी, जिसका वह किसी प्रकार से भी उत्तराधिकारी नहीं ठहरता था। प्राय: अन्य सभी विद्वानों ने इस निष्कर्ष का समर्थन किया है। हर्षवर्धन की यह उदासीनता थानेश्वर राज्य के प्रति कदापि नहीं रही होगी, यह शत्रुओं के दमन की उसकी प्रतिज्ञा में सन्निहित है। उससे स्पष्ट है कि राज्यवर्धन के किसी आत्मज उत्तराधिकारी के अभाव में हर्ष ने थानेश्वर की विपत्तियों के साथ उसकी गद्दी का तो अपने को उत्तराधिकारी मान ही लिया था। श्वान्-च्वांग् का यह कथन है कि हर्ष ने गंगा के किनारे स्थित बोधिसत्त्व की मूर्ति की आज्ञा ली। यह भी कन्नौज की ओर ही निर्देश करता है, क्योंकि गंगा उसी के पास होकर बहती थी, थानेश्वर के पास से नहीं। श्वान्-च्वांग ने हर्ष को सर्वदा कन्नौज के सम्राट् के रूप में ही देखा था। अत: भ्रमवश कदाचित् उसने यह समझ लिया कि उसके भाई राज्यवर्धन और पिता प्रभाकरवर्धन भी वहीं से राज्य करते थे। सम्भवत: इसी कारण जब वह गद्दी के खाली होने की बात करता है तो वहाँ थानेश्वर का कोई उल्लेख नहीं करता।

किन्तु प्रश्न यह उठता है कि क्या हर्ष ने कन्नौज की खाली गद्दी पर अपना अधिकार किया था, जैसा श्वान्-च्वांग् के कथन से आभासित होता है, अथवा उसने कन्नौज के किसी अल्पकालिक शासक को हटाकर उसे हथिया लिया। राज्यवर्धन ने ग्रहवर्मा की मृत्यु के बाद कन्नौज पर अधिकार कर लिया था, इसका श्वान्-च्वांग् भी कोई उल्लेख नहीं करता। इसके विपरीत **हर्षचरित**[२] से यह ज्ञात होता है कि ग्रहवर्मा के वध के बाद गुप्त नामक किसी व्यक्ति ने उस पर अधिकार कर लिया था। वह **कुलपुत्र** गुप्त संभवत: देवगुप्त का ही कोई सम्बन्धी था।[३] किन्तु उन दोनों का सम्बन्ध स्पष्ट नहीं है। कदाचित् हर्ष ने उस गुप्त नामक **कुलपुत्र** से ही कन्नौज की राजगद्दी छीनी थी। किन्तु ग्रहवर्मा की मृत्यु के बाद हर्ष स्वयं राज्यश्री को ही कन्नौज की गद्दी का उत्तराधिकारी मानता था।

---

१. हिस्ट्री ऑफ् कन्नौज, पृ ७४-७७। इस सम्बन्ध में स्मिथ का यह विचार स्पष्टत: गलत दिखायी देता है कि हर्ष का चुनाव थानेश्वर की गद्दी के लिए किया गया था। देखिए, अर्ली हिस्ट्री, चतुर्थ संस्करण, पृ० ३५१।

२. 'देवभूयं गते देवे राज्यवर्धने गुप्तनाम्ना च गृहीते कुशस्थले।' हर्षचरित, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १२६; आगे देखिए, वहीं पृ० २४९।

३. डॉ० बसाक (हिस्ट्री ऑफ् नार्थईस्ट इण्डिया, पृ० २९०) के मतानुसार शूरसेन नामक किसी मौखरि राजा ने हर्ष के बाद कन्नौज पर शासन किया। किन्तु र० चं० मजुमदार (क्लासिकल् एज, पृ० १०२) यह मानते है कि वह ग्रहवर्मा के बाद राजा हुआ।

चूँकि राज्यश्री भिक्षुणी हो गयी, उसने उसकी ओर से अपने को कन्नौज का शासक माना।[१]

उपर्युक्त सभी घटनाओं के घटने में राज्यवर्धन की मृत्यु के बाद कई महीने लगे होंगे। **हर्षचरित** से ज्ञात होता है कि हर्ष ने राज्यवर्धन की हत्या का समाचार थानेश्वर में ही सुना था। वहाँ से वह शशांक के विरुद्ध चला तो अवश्य किन्तु बीच में राज्यश्री की खोज में अटक गया। उसकी खोज के बाद में वह कन्नौज गया होगा और वहाँ अपना अधिकार जमाया होगा। यह अनुमान किया जा सकता है कि इन सारी घटनाओं में लगभग एक साल का समय लगा होगा। हर्ष के कन्नौज पर राज्याधिकार की तिथि ६०६ ई० मानी जाती है। उसी वर्ष सम्भवतः कन्नौज और थानेश्वर राज्यों की विस्तृत सीमाओं पर शासन प्रारम्भ करने के उपलक्ष्य में उसने अपना एक नया संवत् भी चलाया जो कालान्तर में हर्ष संवत् कहलाया। उस समय से हर्ष ने थानेश्वर त्यागकर कन्नौज को अपनी राजधानी बना ली, जो उस विजिगीषु सम्राट् के लिए अपेक्षाकृत अधिक केन्द्रस्थानीय और महत्त्वपूर्ण नगर था।

हर्ष की विजय यात्राएँ

पीछे हम हर्ष की दिग्विजय की तैयारी और उसके हेतु उसके प्रयाण की चर्चा कर चुके हैं। लगता है, राज्यश्री की खोज कर लेने के बाद हर्ष ने पहले तो कन्नौज की गद्दी पर अधिकार जमाया[२] और उसके बाद ही अपनी विजय-योजनाओं को कार्यान्वित करना प्रारम्भ किया। श्वान्-च्वांग्[३] कहता है–'वह पूर्व से पश्चिम की ओर उन सभी को जीतता गया, जो आज्ञापालक नहीं थे। छह वर्षों के बाद उसने पंच भारतों को जीत लिया इस प्रकार अपने शासित क्षेत्रों को बढ़ाकर उसने अपनी सेना बढ़ायी।–तीस वर्षों के बाद उसने हथियार रखा और सभी जगह शांतिपूर्वक शासन किया।' किन्तु **सि-यू-कि** का जो अनुवाद वाटर्स् ने किया है उनके अनुसार[४] 'ज्योंहि शीलादित्य राजा हुआ, उसने एक बड़ी सेना इकट्ठी की और अपने भाई की हत्या का बदला लेने एवं समीपवर्ती देशों को अधीन करने चल पड़ा। पूर्व की ओर बढ़कर उन राज्यों पर उसने आक्रमण किया, जिन्होंने उसकी अधीनता नहीं मानी थी और छह वर्षों तक अनवरत युद्ध में वह पंचभारतों से लड़ा (अथवा उन्हें अपने अधीन किया)। अपने शासित क्षेत्रों को बढ़ाकर उसने

---

१. फ़ैगं्-ची नामक चीनी ग्रंथ से ज्ञात होता है कि हर्ष अपना राज्यशासन अपनी विधवा बहिन राज्यश्री के साथ करता था–देखिए, वाटर्स्, जिल्द १, पृ० ३४५।

२. देखिए, पीछे, पृ० ३८–३९।

३. एस्० बील, जिल्द २, पृ० २३९।

४. वाटर्स्, जिल्द १, पृ० ३४३।

अपनी सेना बढ़ायी और तीस वर्षों तक बिना कोई शस्त्र उठाये उसने शान्तिपूर्वक शासन किया।' बील और वाटर्स् के अनुवादों में परस्पर विरोध है। बील के अनुसार हर्ष तीस वर्षों तक लड़ता रहा किन्तु वाटर्स् के अनुसार उसने तीस वर्षों तक शान्तिपूर्वक शासन किया। विद्वानों में इस बात पर बड़ा मतभेद है[१] कि इन दोनों अनुवादों में किसे प्रामाणिक माना जाय। इतना तो हमें अवश्य ही ज्ञात है कि ६१९ ई० तक हर्ष शशांक के प्रभुत्त्व को गौड से समाप्त नहीं कर सका था एवं वह बादामी के चालुक्यराज द्वितीय पुलकेशिन् से युद्ध में हार गया था तथा ६४३ ई० में उसने कोंगद की विजय की थी।

प्रस्तुत लेखक के मत में श्वान्-च्वांग् के हर्ष के विजय संबंधी उल्लेखों को बहुत महत्त्व देने की आवश्यकता नहीं है। एक तो **सि-यू-कि** का अंतिम स्वरूप श्वान्-च्वांग् के कागजपत्रों के आधार पर तैयार हुआ, दूसरे वह स्वयं न तो यह बताता है कि हर्ष ने कन्नौज पर किस वर्ष अधिकार किया अथवा किस वर्ष उसने अपनी विजय-यात्राएँ प्रारंभ कीं। यदि अन्य प्रमाणों के आधार पर ये तिथियाँ ६०६ ई० मान भी ली जाँय, तो भी हमारे सामने दूसरी कठिनाइयाँ बनी रहती हैं। जहाँ तक श्वान्-च्वांग् के इस कथन का सम्बन्ध है कि हर्ष ने पंचभारतों की विजय की और अपने शासित क्षेत्रों की सीमाओं को बढ़ाया, हम उसे भारतीय प्रशस्तिकारों के उन कथनों से भिन्न नहीं मानते, जिनमें विभिन्न राजाओं-महाराजाओं को सभी द्वीपों का विजेता, पूर्वपयोधि से पश्चिम पयोधि तक का शासक अथवा आसेतुहिमांचल का स्वामी कहा गया है। बाणभट्ट[२] भी हर्ष को **चतुस्समुद्राधिपति सकलराजचक्रचूडामणि** और **महाराजाधिराज परमेश्वर** आदि विरुद देता है। श्री गौरीशंकर चटर्जी, डॉ० मुकर्जी तथा डॉ० त्रिपाठी आदि विद्वानों[३] ने पंचभारतों का अर्थ सारस्वत (पंजाब), कान्यकुब्ज, गौड, मिथिला तथा उत्कल (उड़ीसा) के प्रदेशों से लगाया है, जहाँ उत्तर भारतीय ब्राह्मणों की पाँच शाखाओं के

---

१. विभिन्न मतों के लिए देखिए—रा० शं० त्रिपाठी, हिस्ट्री ऑफ कन्नौज, पृ० १२४-१२९; रा० कु० मुकर्जी, हर्ष, पृ० ३६, पादटिप्पणी १ (आगे भी); चि० वि० वैद्य, हिमेहिइ०, जिल्द १, पृ० १३; फ्लीट, डाइनेस्टीज ऑफ दि कनारीज डिस्ट्रिक्टस्, पृ० ३५१, ३५६; सुधाकर चट्टोपाध्याय, अर्ली हिस्ट्री ऑफ् नार्थ इण्डिया, पृ० २४४-२४७।

२. 'देवदेवस्य चतुस्समुद्राधिपतेः सकलराजचक्रचूडामणि। श्रेणीशाणकोणकष्म निर्मलीकृत चरणनखमणेः सर्वचक्रवर्तिनां धौरेयस्य महाराजाधिराज परमेश्वर श्री हर्षस्य। हर्षचरित, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ५२।

३. हर्षवर्धन, पृ० १०४; हर्ष, पृ० २९; हिस्ट्री ऑफ कन्नौज, पृ० ११९; स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री, चतुर्थ संस्करण, पृ० ३५३; हैवेल, आर्यन् रूल इन् इण्डिया, पृष्ठ ११९; डी० सी० सेन, हिस्ट्री ऑफ् बेंगाली लैंग्वेज् एण्ड लिटरेचर, पृ० ३८५।

केन्द्र थे। किन्तु श्वान्-च्वांग् स्वयं कहता है[१] कि 'भारत शब्द के भीतर समझे जाने वाले देश पंचभारतों के नाम से पुकारे जाते हैं।' स्पष्ट है, पंचभारतों से उसका तात्पर्य सारे भारतवर्ष से था,[२] न कि केवल उत्तरी भारत से और उसमें पंचगौडों के साथ पंचद्रविड भी शामिल थे। ये भारत के वे पाँच खण्ड हैं जिन्हें भारतीय साहित्य में उत्तरापथ, दक्षिणापथ, प्राची, प्रतीची और मध्यदेश कहा जाता था। चीनी यात्री द्वारा भारत को इन्-टु नाम दिये जाने के संबंध में वाटर्स् कहता है-'श्वान्-च्वांग् जिस देश को इन्-टु कहता है, उसको उसने औरों की तरह पाँच बड़े भागों में रेखांकित किया और उन्हें क्रमशः उत्तर, पूर्व, पश्चिम, मध्य और दक्षिण इन्-टु कहा। वह कहता है कि यह सारा क्षेत्र ९०,००० ली के क्षेत्रफल में है और उत्तर में बर्फीले पहाड़ों (हिन्दुकुश) तथा अन्य तीन दिशाओं में समुद्र से घिरा हुआ है।'[३]

इतना निश्चित प्रतीत होता है कि उत्तरी भारत के केन्द्र में स्थित कन्नौज के शासक के रूप में हर्ष की राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाएँ बड़ी रही होंगी। अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने, शत्रुओं को दबाने और अखिल भारतीय सम्राट् बनने की इच्छाओं की पूर्ति के लिये उसे अपने युद्धों को भी जल्दी ही प्रारम्भ करना पड़ा होगा। श्वान्-च्वांग्[४] का कहना है कि उसने अपनी दिग्विजय-योजना की सिद्धि के लिए ५ हजार हाथी, २ हजार घोड़े और ५० हजार पदातियों की सेना तैयार की। रथ अनुपयुक्त हो चले थे और उनके प्रयोग अब नहीं होते थे। राज्यश्री की प्राप्ति के बाद हर्ष का ध्यान सबसे पहले कर्णसुवर्ण के राजा शशांक की ओर गया होगा। लेकिन अपने राजनीतिक दावपेंच से वह बहुत दिनों तक बचा रहा। ६२९ ई० के मिदनापुर से प्राप्त होने वाले एक लेख[५] से पता चलता है कि शशांक तबतक जीवित था। ६३७ ई० में श्वान्-च्वांग् पूर्वी भारत में गया था और वह यह कहता है कि उस समय शशांक मर चुका था।[६] ६१९-२० ई० के गंजाम के एक लेख से यह ज्ञात होता है कि उस वर्ष तक शशांक अपनी पूरी शक्ति और राज्य का भोग करता था। उसे लेख में उसे **महाराजाधिराज** कहा

---

१. एस्० बील, जिल्द २, पृ० १२८।

२. इन पंचभारतों की पहचान के लिए देखिए प्रस्तुत लेखक के मत, जर्नल ऑफ् इण्डियन् हिस्ट्री, जिल्द ४५, भाग १ (अप्रैल १९६७), पृ० २५५-२५९।

३. वाटर्स्, जिल्द १, पृ० १४०।

४. बील, जिल्द २ (सुशील गुप्त प्र०), पृष्ठ २३८।

५. जर्नल् ऑफ् एशियाटिक् सोसायटी, बेंगाल, जिल्द २, पृष्ठ ११५; बील, जिल्द २, पृष्ठ ११८-१२१।

६. वाटर्स्, जिल्द २, पृष्ठ ११५; बील, जिल्द २, पृ० ११८-१२१।

गया है ।[१] रोहतासगढ़ से प्राप्त होने वाले एक मुद्रा के साँचे में उसे **महासामन्त** कहा गया है ।[२] किन्तु रोहतासगढ़ पर उसका अधिकार उसके राजनीतिक जीवन के प्रारम्भ में ही हो गया था, ऐसी प्राय: सभी विद्वानों की मान्यता है और उसका **महासामन्त** कहा जाना इस बात का द्योतक नहीं है कि वह हर्ष से पराजित हो चुका था । मिदनापुर के लेख में भी उसे **महाराजाधिराज** का विरुद नहीं दिया गया है । लगता है, गंजाम के लेख का समय उसकी प्रभुता और शक्ति की चोटी का समय था तथा रोहतासगढ़ और मिदनापुर के अभिलेख क्रमश: उसके राजनीतिक जीवन के प्रारम्भ और अन्त के द्योतक हैं । ६१९-२० ई० के कुछ ही वर्षों के बाद हर्ष ने उसे परास्त करने में सफलता पा ली थी । **शे-किया-फेंग्-चे** नामक चीनी साक्ष्य से ज्ञात होता है[३] कि हर्ष ने 'कुमारराज (असम के भास्करवर्मा) के साथ मिलकर बौद्धधर्म विरोधी शशांक, उसकी सेना और उसके अनुयायियों को नष्ट कर (हरा) दिया ।' इससे स्पष्ट है कि हर्ष और भास्करवर्मा दोनों ने साथ-साथ शशांक पर आक्रमण किया था । शशांक हार गया किन्तु एक छोटे से अधीनस्थ सामन्त के रूप में वह और कई वर्षों तक जीवित रहा । मा-ट्वान्-लिन् नामक चीनी इतिहासकार[४] कहता है–'तांगवंश के उ-ते युग (खो आत्सु के शासनकाल–६१८-२७) में भारत में गंभीर अशांति हुई । राजा शि-लो-य-तो (शीलादत्यि) ने एक बड़ी सेना इकट्ठी की और दुर्दाम वीरता से लड़ा । उसने भारत की चारों दिशाओं के राजाओं को दंडित किया और वे उत्तर की ओर अपना मुँह करके उसकी अधीनता मानने लगे ।' यह युग वही है जब हर्ष ने शशांक पर आक्रमण किया था और उसके पूर्व कदाचित् भास्करवर्मा को छोड़कर उत्तरी भारत में उसका और कोई मित्र नहीं था । शशांक पर हर्षवर्धन की विजय की पुष्टि **आर्यमंजुश्रीमूलकल्प** से भी होती है । वहाँ कहा[५] गया है कि 'वैश्य वृत्तिवाला, महासैन्य, महाबली हकार नामक राजा पूर्वदेश के पुंड्र नामक उत्तम नगर की ओर गया–दुष्ट कर्मानुचारी सोम नामक (राजा) को पराजित किया । सोम अपने देश से बाहर जाने से रोक दिया गया' और म्लेच्छराज्य

---

१. एइ०, जिल्द ६, पृ० १४४ । लेख शशांक द्वारा नहीं, अपितु महाराज माधवराज द्वारा लिखाया गया था और उसमें माधवराज अपने को महासामन्त मात्र कहता है ।
२. कार्पस् इन्स्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम्, जिल्द ३, पृष्ठ २८४ ।
३. देखिए, सुधाकर चट्टोपाध्याय, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २४८ ।
४. वहीं, पृ० २४८ ।
५. देखिए, का० प्र० जायसवाल, इम्पीरियल् हिस्ट्री, मंजुश्रीमूलकल्प, श्लोक-संख्या ७२२-२३ और ७२५-२६ । श्रीक्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय जायसवाल के उक्त पाठ को अस्वीकार करते हैं, जहाँ यह कहा गया है कि शशांक अपने देश से बाहर जाने से रोक दिया गया । बल्कि उनके मत में वह अपने देश से निकाल दिया गया । देखिए, इण्डियन् हिस्ट्री कांग्रेस प्रोसीडिंग्स्, जिल्द ३, पृ० ५९८-९, नोट ।

में पूजित होने के बाद हकार नामक राजा अपने देश को लौट गया।' यहाँ हकार हर्षवर्धन के लिए और सोम शशांक के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार गद्दी धारण करने के बहुत वर्षों के बाद ही शशांक को पराजित करने और अपने भाई राज्यवर्धन की हत्या का बदला लेने में हर्ष को सफलता मिली।[३]

हर्ष और शशांक के बीच युद्ध कब हुआ अथवा हर्ष की शशांक के ऊपर विजय किस वर्ष हुई, इस विषय पर न तो अब तक कोई निश्चित विचार हुआ है और न कोई स्पष्ट निर्णय ही हो सका है। प्रस्तुत लेखक के मत में हर्ष के बाँसखेड़ा अभिलेख के आधार पर यह तिथि निश्चित की जा सकती है। इसके प्रकाशन की तिथि हर्ष संवत् २२ या ६२८ ई० ज्ञात है तथा यह भी सूचना उससे प्राप्त होती है कि उसका प्रकाशन **महाराजाधिराज** हर्ष ने वर्धमानकोटि के अपने उस जयस्कन्धावार से किया था, जहाँ उसका नावों, हाथियों, घोड़ों और पदातिओं का सैनिक शिविर लगा हुआ था। इस जयस्कन्धावार अर्थात् विजयी सैनिक शिविर का स्थान वर्धमानकोटि आजकल के वर्दवान नामक नगर (पश्चिमी बंगाल) से मिलाया जाना चाहिए। पीछे मा-ट्वान-लिन् के साक्ष्य के आधार पर चीन के तांग वंश के उ-ते काल (खो आत्सु के शासन काल=६१८-६२७ ई०) में भारतवर्ष में घोर अशान्ति के व्याप्त होने और अनन्तः हर्ष द्वारा उसके समाप्त किए जाने हेतु वीरतापूर्वक लड़े जाने वाले जिस युद्ध का उल्लेख किया जा चुका है, उसके समय और वर्धमानकोटि में हर्ष के सैनिक शिविर (जयस्कन्धावार) स्थापित करने की तिथि का पूर्णतः मेल खाता है। उस अशांति का मूल कारण संभवतः शशांक ही था और उसे जीतकर ही हर्ष ने वर्धमानकोटि=वर्दवान में अपना सैनिक शिविर स्थापित किया था। ६२९ ई० के मिदनापुर अभिलेख में शशांक की **महाराजधिराज** की उपाधि का न होना इस बात का स्पष्ट द्योतक है कि वह उस समय तक हर्ष से पराजित होकर एक साधारण सामन्तमात्र हो गया था और हर्ष की अधिसत्ता स्वीकार करने लगा था। इस आधार पर हर्ष-शशांक युद्ध और उसमें शशांक की पराजय की तिथि ६२७ ई० निश्चित की जानी चाहिए। अत्यन्त संभव है कि उसी घटना के उपलक्ष्य में हर्ष ने अपना बाँसखेड़ा अभिलेख प्रकाशित किया।

प्रश्न उठता है कि शशांक को हराकर क्या विजेताओं ने उसके किन्ही प्रदेशों पर अधिकार भी किया? इसका कोई स्पष्ट उत्तर देना कठिन है। इतना तो हम देख चुके हैं कि शशांक उस हार के बाद भी बहुत वर्षों तक **महासामन्त** रूप में जीवित रहा। संभव है, उसने हर्षवर्धन की अधिसत्ता स्वीकार कर ली हो। श्वान्-च्वांग् दक्षिण-पूर्वी भारत के अनेक प्रदेशों (पुंड्रवर्धन, कर्णसुवर्ण, समतट और ताम्रलिप्ति) के शासन के बारे में

३. धी० चं० गांगुली यह स्वीकार नहीं करते (इहिक्वा, १२वाँ, पृष्ठ ४६५-४६६) कि हर्ष शशांक को परास्त कर सका था।

चुप है और डॉ० त्रिपाठी ने उसका यह अर्थ लगाया है[१] कि वे हर्ष के अधिकार में आ चुके थे। किन्तु वे यह भी मानते हैं कि शशांक का सारा क्षेत्र (संपूर्ण बंगाल) हर्ष के अधिकार में उसकी मृत्यु के बाद ही आया।[२] डॉ० बसाक भी इसी मत के है।[३] भास्करवर्मा के अपूर्ण और अतैथिक निधानपुर अभिलेख के आधार पर यह कहा गया है कि उस 'सैकड़ों राजाओं के विजेता' ने कर्णसुवर्ण पर अधिकार कर लिया था।[४] निधानपुर अभिलेख के संपादक पद्मनाथ विद्याविनोद और डॉ० त्रिपाठी के मत में हर्ष के जीवित रहते यह असंभव था। किन्तु डॉ० सुधाकर चट्टोपाध्याय यह स्वीकार करते हैं[५] कि चूँकि हर्ष और भास्करवर्मा ने मिलकर शशांक पर आक्रमण किया था और उस पर विजय का श्रेय दोनों को है, यह सोचना स्वाभाविक है कि अपनी सहविजय के उपलक्ष्य में भास्करवर्मा ने शशांक के राज्य के पूर्वी क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया तथा उसके और हर्ष के क्षेत्रों की बीच की सीमा गंगा नदी हो गयी।

बाणभट्ट ने हर्ष की महत्ताओं का वर्णन करते हुए कुछ ऐसे श्लेषात्मक उल्लेख किये हैं, जिससे विद्वानों ने उसकी विजयों का तात्पर्य लगाया है। वह कहता है,[६] 'अत्र पुरुषोत्तमेन सिन्धुराजं प्रमथ्य लक्ष्मीरात्मीकृता।' इसका साधारण अर्थ तो है कि विष्णु ने समुद्र का मंथन करके लक्ष्मी पर अधिकार किया। किन्तु उसका यह भी मतलब लगाया जाता है कि पुरुषोत्तम अर्थात् हर्ष ने सिन्धु देश के राजा को हराकर उसकी राज्यलक्ष्मी को हड़प लिया। उसके पिता प्रभाकरवर्धन को भी **हर्षचरित** में 'सिन्धुराजज्वरो' कहा गया है। किन्तु सिन्ध पर हर्ष का प्रत्यक्ष अधिकार था, इसका कोई प्रमाण नहीं है। संभव है, उसने अपनी पश्चिम भारतीय विजयों के सिलसिले में सिन्ध के राजा को हराया हो और उसे अपनी अधिसत्ता मान लेने मात्र को विवश किया हो। श्वान्-च्वांग् यह बताता है[७] कि सिन्ध पर एक शूद्र जाति का राजा राज्य करता था, जो बौद्ध धर्म में विश्वास करता था।

अन्यत्र बाणभट्ट कहता है-'अत्र परमेश्वरेण तुषारशैलभुवो दुर्गायाः गृहीतः करः' अर्थात् परमेश्वर (शंकर) ने हिमगिरि से उत्पन्न दुर्गा (पावर्ती) से विवाह किया। इसका हर्ष के प्रति श्लेषात्मक अर्थ होगा कि उसने बर्फीले पहाड़ों के क्षेत्रों से कर-संग्रह किया। बूह्लर महोदय ने सबसे पहले यह मत प्रतिपादित किया था कि यह संदर्भ हर्ष की

---

१. हिस्ट्री ऑफ् कन्नौज, पृ० १०२-१०३।
२. वहीं, पृ०१०३ और ११९
३. हिस्ट्री ऑफ् नार्थ ईष्ट इण्डिया, पृ० १५२; इहिक्वा, १९३२, पृ० १४-१५।
४. इए०, जिल्द १२, पृ० ६५-६६; जिल्द १४, पृ० ११५।
५. अर्ली हिस्ट्री ऑफ् नार्थ इडिंया, पृ० २५०।
६. हर्षचरित।
७. वाटर्स, जिल्द २, पृ० २५१; बील, सुशील गुप्त प्र०, चतुर्थ, पृष्ठ ४६२।

नेपाल-विजय की ओर निर्दिष्ट है। भगवानलाल इन्द्रजी, फ्लीट, स्मिथ और वैद्य आदि ने इसे स्वीकार कर लिया और उसके पक्ष में और भी प्रमाण दिये गये।[1] किन्तु सिल्वाँ लेवी और डॉ० त्रिपाठी जैसे विद्वान् इसे स्वीकार नहीं करते।[2] लेवी महोदय तुषारशैल को उत्तर-पश्चिमी भारत के तुषारों (तुर्कों) के क्षेत्रों से मिलाते हैं और डॉ० त्रिपाठी का यह सुझाव है कि बाण का उपर्युक्त संदर्भ कदाचित् किसी शक्तिशाली पहाड़ी राजपरिवार की कन्या से हर्षवर्धन के विवाह की ओर निर्देश करता है।[3] ऐसी दशा में जब तक और कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता, इस सम्बन्ध में कोई अन्तिम मत निश्चित कर लेना उचित नहीं होगा।

उत्तरापथ का निष्कंटक स्वामी होने के लिए नर्मदा के उत्तर के सभी क्षेत्रों को जीतना अथवा अपने प्रभाव क्षेत्र में लाना हर्ष के लिए आवश्यक था। संभवतः इसी विचार से प्रभावित होकर उसने वलभी राज्य पर आक्रमण किया। वलभी राज्य पश्चिमी मालवा और गुजरात के क्षेत्रों पर फैला हुआ था और इस भौगोलिक स्थिति में था कि दक्षिणापथ के चालुक्य राज्य से मिलकर यथावसर हर्षवर्धन की राजनीतिक स्थिति को संकटाकीर्ण कर सके। द्वितीय पुलकेशिन् के अहिहोड़ वाले लेख से यह ज्ञात होता है[4] कि लाट, मालव, और गुर्जर उसकी प्रभाव सीमा के भीतर थे। यदि यह स्थिति हर्ष द्वारा वलभी पर किये गये आक्रमण के पूर्व की थी तो निश्चय ही उसे यह खटकती रही होगी। ये सभी राज्य उसके पिता के समय से ही शत्रुराज्य समझे जाते थे। किन्तु दुर्भाग्यवश वलभी पर किये गये आक्रमण और विजय का कोई ब्यौरा उसने स्वयं नहीं छोड़ा और उस घटना की जानकारी हमें अप्रत्यक्ष रूप से तृतीय जयभट्ट के नौसारि के एक ताम्रफलकलेख मात्र से मिलती है, जिसकी तिथि ७०६ ई० है। उसमें कहा गया है[5] कि '**परमेश्वर**' श्रीहर्षदेव द्वारा पराजित वलभी नरेश का परित्राण करने के कारण यश का वितान श्री दद्द के ऊपर निरंतर झूलता था।' इस लेख का दद्द भड़ौंच के गुर्जर राज्य का राजा द्वितीय दद्द उर्फ प्रशांतराज (६२९-४९ ई०) था और वलभी नरेश द्वितीय ध्रुवभट्ट अथवा ध्रुवसेन था, जिसे श्वान्-च्वांग् तु-लो-पो-त कहता है। यह स्पष्ट है कि युद्ध में हर्ष के विरुद्ध ध्रुवभट्ट हार गया और उसे गुर्जरनरेश के यहाँ शरण लेनी पड़ी। किन्तु हर्ष

---

१. इऐ०, जिल्द ९, पृ० १६८ और आगे; जिल्द १३, पृ० ४११ और आगे; वैद्य, हिमेहिए०, जिल्द १, पृ० ४३; स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री, पृ० ३५४।
२. रां० शं० त्रिपाठी, हिस्ट्री ऑफ् कन्नौज, पृ० ९८-९९ पर उद्धृत।
३. वहीं, पृ० ९८।
४. प्रतापोपनता यस्य लाटमालवगुर्जराः। एइ०, जिल्द ६, पृ० ६, १०।

को स्वयं यह निश्चय नहीं था कि उस विजय के द्वारा उसका वलभी पर स्थायी प्रभाव हो ही जायगा। इतना निश्चित ज्ञात होता है कि हर्ष ने वलभी को अपने साम्राज्य का शासित प्रदेश नहीं बनाया, अपितु अपने सीमान्त में चालुक्यों के विरुद्ध एक मित्र और मध्यस्थ राज्य के रूप में छोड़ दिया और अपनी मित्रता को चिरस्थायी बनाने के लिए उसके राजा ध्रुवभट्ट से अपनी पुत्री का विवाह भी कर दिया, जिसकी चर्चा श्वान्-च्वांग् करता है।[१] हर्ष द्वारा वलभी पर किये जाने वाले आक्रमण का समय क्या था, इसका कोई निश्चय नहीं किया जा सकता। किन्तु विद्वान् प्रायः उसकी तिथि ६३० ई० और ६४० ई० के बीच में रखते हैं,[२] जो क्रमशः ध्रुवभट्ट के राज्यारोहण और श्वान्-च्वांग् के वलभी जाने की तिथियाँ थीं। डॉ० मजुमदार ने यह अनुमान लगाया[३] है कि दक्षिण-पूर्वी और दक्षिण-पश्चिमी भारत के राजाओं के विरुद्ध हर्ष के अभियानों का कारण उसकी वे कठिनाइयाँ थीं जो राज्यारोहण के समय से चली आ रही थीं। उनके इस अनुमान से यह ध्वनि निकलती है कि वे युद्ध उसके राज्यारोहण के बहुत वर्षों बाद नहीं हुए थे। किन्तु इस सम्बन्ध में जो भी तिथियाँ ज्ञात हैं, उनसे इस अनुमान की कोई पुष्टि नहीं होती।

द्वितीय पुलकेशी से युद्ध और पराजय

डॉ० मजुमदार[४] ने सर्वप्रथम यह मत प्रतिपादित किया कि ध्रुवभट्ट की पराजय से वलभी अथवा मालवा (श्वान्-च्वांग् का मो-ला-पो) हर्ष की न तो अधीनता में चला गया और न उसके राजा ने कन्नौज साम्राज्य की अधिसत्ता ही मानी। प्रत्युत्, मालवा के विरुद्ध अभियान के परिणामस्वरूप हर्ष को एक ऐसे सैनिकसंघ का मुकाबला करना पड़ा, जिसका नेता था बादामी का चालुक्य नरेश पुलकेशी और सदस्य थे लाट, मालवा और गुर्जर राज्यों के राजा। उनके अनुसार उस संघ की चुनौती में हर्ष मात खा गया। डॉ० त्रिपाठी ने यह मत प्रायः मान लिया।[५] इस मत का आधार अहिहोड़ लेख का वह कथन है कि 'पुलकेशी की शक्ति की चकाचौंध से लाट, मालवा और गुर्जर मानों यह बात औरों को सिखाने लगे कि शक्ति द्वारा पराजित होने पर कैसा व्यवहार किया जाता है।' कीलहॉर्न महोदय ने इस संदर्भ की टीका में यह कहा[६] कि 'पुलकेशी की महिमा और

---

१. वाटर्स्, जिल्द २, पृ० २४६ और आगे। दिनेशचन्द्र सरकार भी यही मानते हैं। देखिए प्रोसीडिंग्स् ओरि० क्रांग्रेस, जिल्द १२, पृ० ५३५।
२. स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री, पृ० ३५४; निहाररंजन राय, इहिक्वा० जिल्द ३, पृ० ७७६; र० चं० मजुमदार, जबिओरिसो०, जिल्द ९, पृ० ३१६।
३. जबिओरिसो०, जिल्द ९, पृ० ३१९-२०।
४. जबिओरिसो०, जिल्द ९, पृ० ३१९।
५. हिस्ट्री ऑफ् कन्नौज, पृ० १११-११२।
६. एइ०, जिल्द ६, पृ० १० और आगे।

शक्ति से प्रभावित होकर लाट, मालव और गुर्जर स्वयं अधीनता मानकर उसकी शरण में चले गये थे ।' किन्तु यह ज्ञात नहीं है कि उपर्युक्त राज्यों पर पुलकेशी की अधिसत्ता हर्ष के ऊपर उसकी विजय का परिणाम थी अथवा उन दोनों के युद्ध के पूर्व ही स्थापित हो गयी थी । यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है कि हर्ष का पहले ध्रुवभट्ट से युद्ध हुआ या पुलकेशी से । ऐसी स्थिति में हर्ष के विरुद्ध चालुक्य, मालव, लाट और गुर्जर राज्यों के सैनिक संघ की स्थापना के बारे में कोई अन्तिम निर्णय कर लेना निरापद न होगा ।

रविकीर्ति-विरचित ६३४ ई० के अहिहोड़ के लेख से यह अवश्य ज्ञात होता है कि हर्ष और बादामीनरेश पुलकेशी के बीच युद्ध हुआ, जिसमें हर्ष की हार हुई । तदनुसार, 'जिसके चरणकमलों पर अपरिमित समृद्धि से युक्त सामन्तों की सेना नतमस्तक होती थी, उस हर्ष का हर्ष (आनन्द) युद्ध में मारे हुए हाथियों का बीभत्स दृश्य देखकर विगलित हो गया[१] ।' श्वान्-च्वांग् इस बात का उल्लेख करता है[२] कि पुलकेशी ने हर्ष की अधीनता मानना अस्वीकार कर दिया था । उसकी 'जीवनी' में लिखा[३] है–'अपने सेनापतियों की सर्वदा सफलता और अपने कौशल की डींग मारते हुए आत्मविश्वास के साथ शीलादित्यराज ने सेना का स्वयं नेतृत्व करते हुए इस राजा के विरुद्ध युद्ध के लिये अभियान किया । किन्तु न तो वह उसको हरा सका और न अपने अधीन कर सका ।' इस प्रकार अहिहोड़अभिलेख और श्वान्-च्वांग् के साक्ष्यों में मेल दिखायी देता है और इसमें सन्देह नहीं कि विशाल सेना और शक्ति के बावजूद हर्ष दक्षिणापथ पर अधिकार करने के अपने प्रयत्न में असफल रहा । यह हर्ष-पुलकेशी युद्ध नर्मदा नदी के किनारे कहीं हुआ[४] और **सकलउत्तरापथेश्वर** श्रीहर्ष के ऊपर विजय के उपलक्ष्य में चालुक्य नरेश ने अपना दूसरा नाम (विरुद) **परमेश्वर** रखा, जिसकी चर्चा चालुक्यों के अनेक अभिलेखों में मिलती है ।[५] डॉ० सुधाकर चट्टोपाध्याय का अनुमान है[६] कि तत्कालीन भारतवर्ष के उन

---

१. अपरिमितविभूतिस्फीतसामन्तसेनामुकुटमणिमयूखाक्रान्तपादारविन्दः ।
युधिपतितगजेन्द्रानीकबीभत्सभूतो भयविगलितहर्षोयेन चाकारि हर्षः ।।
एइ०, जिल्द ६, पृ० १०, श्लोक २३ ।

२. वाटर्स्, जिल्द २, पृ० २३९ ।

३. जीवनी, बील, पृ० १४७ ।

४. इण्डियन् हिस्ट्री कांग्रेस प्रोसीडिंग्स्, जिल्द ३, पृ० ५८६-६०४; रा० कु० मुकर्जी, हर्ष, पृ० ३४; अहिहोड़ अभिलेख, एइ०, जिल्द ६, पृष्ठ १०, श्लोक २४ ।

५. वहीं; इण्डियन् हिस्ट्री कांग्रेस, प्रोसीडिंग्स्, जिल्द ३, पृ० ५९१; समरसंसक्तसकलोत्तरापथेश्वर श्रीहर्षवर्धन पराजयोपलब्ध परमेश्वरापरनामधेयः श्रीवलल्लभो-महाराजाधिराजः । इऐ०, जिल्द ६, पृष्ठ ८२८ ।

६. अर्ली हिस्ट्री ऑफ् नार्थ इण्डिया, पृ० २५१-२ ।

दो महान् सम्राटों के बीच होनेवाला यह अकेला अथवा अंतिम युद्ध नहीं था, अपितु उनके संघर्षों का ताँता बाद में भी चलता रहा तथा ६४३ ई० में किया गया कोंगद पर हर्ष का आक्रमण दक्षिण के प्रतिद्वन्द्वी पुलकेशी के विरुद्ध उसकी एक मोर्चेबन्दी थी। उसके फलस्वरूप हर्ष ने अपनी पुरानी हार का बदला लिया और पुलकेशी के कुछ प्रदेशों को छीन लिया।

अहिहोड़ अभिलेख में वर्णित हर्ष-पुलकेशी युद्ध कब हुआ, इस पर विद्वानों में बड़ा विवाद है। चूँकि उस लेख की तिथि ६३३-४ ई० है, इसका समय उसके पूर्व तो होगा ही। पर वह कितना पूर्व हुआ, इसका कोई निश्चय नहीं किया जा सका है। सर्वप्रथम फ्लीट महोदय ने यह मत प्रतिपादित किया था[१] कि यह युद्ध ६१२ ई० के पूर्व कदाचित् ६०८-६०९ ई० में हुआ था। अपने तर्कों में उन्होंने कहा कि पुलकेशी के परवर्ती चालुक्य राजाओं के अनेक लेखों में यह कहा गया है कि उसने हर्ष की पराजय के फलस्वरूप अपना दूसरा नाम (विरुद) **परमेश्वर** रखा और चूँकि उसके ६१२ ई० के हैदराबादवाले ताम्रपत्र अभिलेख[२] में उसे **परमेश्वर** कहा गया है, हर्ष पर उसकी विजय उस तिथि के पूर्व अवश्य हो गयी होगी। किन्तु डॉ० मुकर्जी[३] को छोड़कर अन्य कोई विद्वान्[४] इस मत को स्वीकार नहीं करता। हर्ष ने थानेश्वर से ६०६ ई० के आसपास शासन करना प्रारम्भ किया। किन्तु कन्नौज पर उसने कब अधिकार किया इसकी कोई स्पष्ट जानकारी नहीं है। कन्नौज पर अधिकार करने के पूर्व और उत्तर भारत के अधिकांश भागों को अपने अधीन अथवा प्रभावक्षेत्र में लाकर अपनी शक्ति को पूर्णतः जमा लेने के पहले ही उसने नर्मदा को पारकर दक्षिणापथ पर अधिकार करने की योजना कार्यान्वित कर दी हो, ऐसा संभव नहीं दीखता। उधर पुलकेशी भी हाल में ही (६०८-९) गद्दी पर बैठा था और ऐसा नहीं लगता कि उसने अपनी शक्ति इतनी जल्दी बढ़ा ली हो कि हर्ष जैसे शक्तिशाली आक्रामक को तुरन्त पराजित कर दे। उपर्युक्त हैदराबाद वाला उसका अभिलेख उसके सैकड़ों युद्धों में भाग और और शत्रु राजाओं को हराकर उसके द्वारा **परमेश्वर** उपाधि धारण करने की बात तो करता है, किन्तु हर्ष का अथवा अन्य शत्रुओं

---

१. डाइनेस्टीज ऑफ् दि कनारीज डिस्ट्रिक्ट्स्, बम्बई गजेटियर, जिल्द १, भाग २, पृ० ३५१ और ३५६।

२. इऐ०, जिल्द ६, पृ० ७३; जिल्द १९, पृ० ३०५; जराएसो०, बम्बई शाखा, जिल्द १६, पृष्ठ २२६।

३. हर्ष, पृ० ३६, टिप्पणी १।

४. स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री, पृ० ३५३; रा० शं० त्रिपाठी, इहिक्वा०, जिल्द ८, पृ० ११३-११६; हिस्ट्री ऑफ् कन्नौज, पृ० १२४-१२९; सुधाकर चट्टोपाध्याय, अर्ली हिस्ट्री ऑफ् नार्थ इण्डिया, पृ० २५१-२; गौरीशंकर चटर्जी, हर्षवर्धन, पृ० ११६ इत्यादि।

का कहीं भी उल्लेख नहीं करता। यदि वह तब तक हर्ष को हरा चुका होता तो ऐसी चुप्पी असंभव होती। गद्दी पर बैठने के बाद इतनी जल्दी ही वह सैकड़ों युद्धों को समाप्त कर चुका था, यह भी अतिशयोक्ति ही मालूम पड़ती है। तथापि अहिहोड़ अभिलेख में उल्लिखित होने के पूर्व वह युद्ध कब हुआ, यह बता सकना असंभव प्रतीत होता है। यदि उसमें वर्णित पुलकेशी की विजयें वास्तविक तिथिक्रम के आधार पर उल्लिखित हों तो यह मानना होगा कि हर्ष की पराजय पुलकेशी के विजयी जीवन के प्रायः अन्त की घटना रही होगी, क्योंकि उसमें उसकी अन्य विजयों के विवरण पहले आते हैं। उसके ६३० ई० वाले लोहनरा दानपत्राभिलेख में भी हर्ष की पराजय का कोई उल्लेख नहीं है। ऐसी स्थिति में यह अनुमान किया जा सकता है कि हर्ष–पुलकेशी युद्ध ६३० और ६३४ ई० के बीच में कभी लड़ा गया। इतना निश्चित है कि किसी पुष्ट प्रमाण के अभाव में इस विषय पर मतैक्य नहीं हो सकता।

मयूरभट्ट की एक प्रशस्ति[१] और केरल प्रान्त के शिमोग जिले में गद्देमने नामक स्थान से प्राप्त एक अभिलेख के आधार[२] पर कुछ विद्वानों ने यह मत प्रतिपादित किया कि हर्ष ने सुदूर दक्षिण की भी विजयें की थीं। इस मत के सर्वप्रथम प्रतिपादक थे श्रीकान्त[३] शास्त्री। उनका समर्थन किया श्री निहाररंजन राय[४] तथा श्री अद्रीशचन्द्र बनर्जी[५] ने। उनका कथन है कि मयूरभट्ट हर्ष की कुंतल, चोल और कांची की विजयों का उल्लेख करता है। गद्देमने का अभिलेख श्रीशील आदित्य के पेट्टणि सत्यांक नामक सेनापति के किसी बेदर सरदार के विरुद्ध एक युद्ध में मारे जाने की सूचना देता है, जो हर्ष ने अपनी 'विजययात्रा में छेड़ा था और जिससे भयभीत होकर महेन्द्र भाग गया था।' इस महेन्द्र की पहचान कांची के पल्लवराज प्रथम महेन्द्रवर्मा से की जाती है। किन्तु एक तो मयूरभट्ट के सम्बन्धित श्लोक में हर्ष का स्पष्टतः कोई उल्लेख नहीं है और दूसरे उसके जैसे भारतीय कवि अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा में कभी–कभी ऐसे श्लोक भी रच डालते थे जो केवल प्रशस्तिमात्र होते थे और उनका ऐतिहासिकता से कोई सम्बन्ध नहीं होता

---

१. भूपालाः शशिभास्करान्वयभुवः के नामनासादिताः।
भर्त्तारं पुनरेकमेव भुवस्त्वां देव मन्यामहे ।।
येनाङ्गं परिमृष्य कुन्तलमथाकृष्य व्युदस्यायतम्।
चोलं प्राप्य च मध्यदेशमधुनां कांच्यां करः पातितः ।।
बल्लभदेव, सुभाषितावलि, सं० पेटर्सन् (बम्बई १८८६), पृ० ४२९।

२. ऐन्युअल् रिपोर्ट, मैसूर पुरातत्त्वविभाग, १९२३, पृ० ८३।

३. जराएसो०, १९२६, पृ० ४८७ और आगे।

४. इहिक्वा०, जिल्द ३, पृ० ७८८–९।

५. जर्नल ऑफ् दि आन्ध्र हिस्टॉरिकल् रिसर्च सोसायटी, जिल्द ६, पृ० १३१–३२।

था । जहाँ तक गद्देमने के अभिलेख के उल्लेखों का प्रश्न है, अधिकांश विद्वान् इस बात पर सहमत नहीं हो पाये हैं कि उसका शील आदित्य हर्ष ही था । हर्ष के पेट्टणि सत्यांक नामक किसी सेनापति का अन्यत्र कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता । पुलकेशी का राज्य महेन्द्रवर्मा और हर्ष के अधिकार क्षेत्र के बीच में पड़ता था और हम पीछे देख चुके हैं कि हर्ष पुलकेशी से एक बार मात खा चुका था । ऐसी दशा में यह सम्भव नहीं दिखता कि वह अपनी विजयों के सिलसिले में सुदूर दक्षिण तक निर्बाध चला गया हो । श्रीकान्त शास्त्री आदि ने गद्देमने अभिलेख के सम्बद्ध उद्धरणों का जो अर्थ लगाया है, उसे श्री गौरीशंकर चटर्जी तोड़ा-मरोड़ा हुआ मानते हैं और उनके अनुसार उस लेख में हर्ष के दक्षिण पर आक्रमण का कोई उल्लेख है ही नहीं ।[१] ऐसी स्थिति में हर्ष के सुदूर दक्षिण पर आक्रमण और विजय की बात निराधार समझी जानी चाहिए ।

हर्ष का साम्राज्य-विस्तार

हर्षवर्धन के साम्राज्य-विस्तार पर विचार करते समय डॉ० मुकर्जी का एक उद्धरण देना समीचीन प्रतीत होता है । वे कहते हैं[२] कि 'हर्ष के वास्तविक और प्रत्यक्ष प्रशासन के भीतर का पूरा क्षेत्र उसके प्रभावविस्तारवाले क्षेत्र से भिन्न था । अधिकार-क्षेत्र निश्चय ही प्रभावक्षेत्र अथवा अधिसत्ता-क्षेत्र से कम विस्तृत होता है । किन्तु उस युग के लेखों में प्रत्यक्ष शासन का कभी-कभी उस अधिकार और प्रभाव से घालमेल कर दिया गया है, जो आसपास के क्षेत्रों पर किसी अधिसत्तात्मक सम्राट् अथवा **महाराजाधिराज** का होता था । वे प्राचीन साम्राज्य केन्द्रित रूप से संगठित अथवा एकात्मक राज्य नहीं होते थे, प्रत्युत् अनेक ऐसे छोटे-छोटे स्थानीय राज्यों द्वारा निर्मित होते थे अथवा उनके सहअस्तित्व में होते थे जो हर्ष जैसे किसी बड़े सम्राट् की अधिसत्ता स्वीकार करते थे । इससे उलझन और बढ़ जाती है । इस प्रकार भारतवर्ष के प्राचीन साम्राज्यों के विस्तार-निर्धारण का प्रश्न हिन्दू राजनीतिक विकास की कुछ विचित्र रेखाओं से सम्बद्ध हो जाता है ।' इस दृष्टि की उपादेयता को स्वीकार करते हुए भी हर्ष-साम्राज्य की सीमाओं को सर्वमान्य रूप में निर्धारित नहीं किया जा सकता । इस सम्बन्ध में विद्वानों में काफी मतवैभिन्न्य है और हम यह पाते हैं कि जहाँ एक ओर डॉ० निहाररंजनराय[३] जैसे विद्वान्, कदाचित् पणिक्कर के मत से प्रभावित होकर,[४] सारे मध्यदेश पर उसके प्रत्यक्ष अधिकार

१. हर्षवर्धन, पृ० १२० । हर्ष की दक्षिण-विजय के सिद्धान्त की टीका के लिए देखिए, रा० शं० त्रिपाठी, हिस्ट्री ऑफ् कन्नौज, पृ० १२१-१२३; इहिक्व०, जिल्द ५, पृ० २३५ ।

२. हर्ष, पृ० ३७ ।

३. इहिक्वा०, जिल्द ३, पृ० ७९० ।

४. श्रीहर्ष ऑफ् कन्नौज, बम्बई, १९२२, पृ० २७ ।

के साथ-साथ उत्तर-पश्चिम में जालंधर से लेकर पूर्व में असम की सुदूर सीमाओं तक विस्तृत सारे उत्तरी भारत, दक्षिण-पश्चिम में वलभी राज्य से लेकर नर्मदा और महानदी की घाटियों से होते हुए गंजाम जिले तक तथा उत्तर में नेपाल और कश्मीर तक उसके अप्रत्यक्ष प्रभाव क्षेत्र को मान्यता देते हैं, वहीं दूसरी ओर डॉ० मजुमदार[१] जैसे विद्वान् श्वान्-च्वांग् के स्वीकारात्मक और नकारात्मक साक्ष्यों के आधार पर, जो उनकी दृष्टि में अभिलेखों और साहित्यिक प्रमाणों से समर्थित हैं--यह मानते हैं कि हर्ष का राज्य आगरा और अवध के संयुक्त प्रान्त (आधुनिक उत्तर प्रदेश), बिहार तथा पूर्वी पंजाब के कुछ भाग (पश्चिमोत्तर के उन क्षेत्रों को छोड़कर जिन्हें श्वान्-च्वांग् मो-ति-पु-लो=मतिपुर कहता है) मात्र तक विस्तृत था। हमें सत्य इन दोनों मतों के बीच में कहीं प्रतीत होता है।

हर्षवर्धन का साम्राज्य-विस्तार निश्चित करते समय हमें यह विचार करना होगा कि उसका पैतृक राज्य कहाँ तक फैला हुआ था, ग्रहवर्मा के मारे जाने के बाद उसने कन्नौज राज्य के कहाँ तक फैले हुए प्रदेशों को अपने अधिकार में किया; स्वयं किन राज्यों अथवा क्षेत्रों को जीतकर अपने प्रशासन के अधीन किया; किन राज्यों को उसने जीतकर अपने साम्राज्य का अंग बनाने के बजाय अपनी अधिसत्ता स्वीकृत कराकर स्वतन्त्र छोड़ दिया तथा कौन ऐसे राज्य थे जो उसकी राजनीतिक और सैनिक शक्ति से प्रभावित होकर अप्रत्यक्ष रूप से उसकी सार्वभौमता स्वीकार करते थे। उसका पैतृक राज्य दिल्ली, थानेश्वर तथा पूर्वी पंजाब के दक्षिण-पश्चिमी क्षेत्रों मात्र तक सीमित था और प्रभाकरवर्धन, अपनी कुछ संभाव्य विजयों के बावजूद भी, उसमें कुछ नये प्रदेश नहीं जोड़ सका था। कन्नौज राज्य की सीमाएँ संभवतः पूरे उत्तर प्रदेश तक विस्तृत थीं और हर्ष ने उसे थानेश्वर राज्य के क्षेत्रों से जोड़कर अपने भविष्य के साम्राज्य का केन्द्रविन्दु बना दिया। बाँसखेड़ा (शाहजहाँपुर जिला) और मधुबन (आजमगढ़ जिला) के ताम्रफलक लेखों से ज्ञात होता है कि अहिछत्रा (रुहेलखंड में रामनगर के आसपास का प्रदेश) और श्रावस्ती (गोंडा और बहराइच जिलों की सीमा पर स्थित सहेट-महेट) की भुक्तियाँ हर्ष के प्रशासित क्षेत्रों में सम्मिलित थीं।[२] पूर्व में शशांक अथवा उसके पुत्र मानव के विरुद्ध बढ़ते हुए उसने बिहार-बंगाल के कुछ प्रदेशों को अवश्य जीता और, यदि बाँसखेड़ा के अभिलेख के प्रकाशनस्थान वर्धमानकोटि को आधुनिक वर्दवान से मिलाया जाय[३], तो यह निश्चित है कि हर्ष ने उत्तरी और पश्चिमी बंगाल वाले शशांक-

---

१. जबिओरिसो०, जिल्द ९, पृ० ३२१।

२. एइ०, जिल्द १, पृ० ६७ और आगे; जिल्द ४, पृ० २०८ और आगे।

३. देखिए, वि० प्र० सिनहा, डिक्लाइन् ऑफ् दि किंगडम् ऑफ् मगध, पृष्ठ २६०-२७३।

शासित अधिकांश क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया। मा-ट्वान्-लिन् का कथन है कि हर्ष ने ६४१ ई० में **मगधराज** की उपाधि ग्रहण की। इससे यह निष्कर्ष निकाला गया है कि उसने उस वर्ष तक मगध के प्रदेशों को अधिकृत कर लिया था।[१] डॉ० त्रिपाठी आदि विद्वान् यह कहते हैं कि श्वान्-च्वांग् शशांक की पराजय के बाद ही पूर्व के उन प्रदेशों में गया था। वह वहाँ उस समय किसी भी अन्य राजा के शासन का उल्लेख नहीं करता। इससे वे अनुमान लगाते हैं[२] कि हर्ष ने शशांक पर अपनी विजय के बाद उसके सम्पूर्ण राज्य को आत्मसात् कर लिया था। पुनः, उनके मत में निधान-पुर[३] अभिलेख में कर्णसुवर्ण पर भास्करवर्मा के अधिकार की जो बात कही गयी है, उसे हर्ष की मृत्यु के बाद उत्पन्न अव्यवस्था का ही परिणाम मानना चाहिए। किन्तु डॉ० सुधाकर चट्टोपाध्याय शे-किया-फैंग्-चे के उल्लेखों के आधार पर यह मानते हैं[४] कि शशांक पर हर्ष और भास्करवर्मा दोनों ने साथ-साथ आक्रमण किया था। विजय का भोग भी उन दोनों ने समान रूप से ही किया और शशांक के राज्य के वे क्षेत्र जो गंगा नदी के पूर्व की ओर पड़ते थे भास्करवर्मा के अधिकार में चले गये। बाणभट्ट भास्करवर्मा और हर्ष के बीच दूत और भेंटों के आदान-प्रदान की चर्चा करता है। पीछे हम देख चुके हैं कि इसका कारण दोनों की शशांक के प्रति समान रूप से शत्रुता थी। ऐसी स्थिति में अनुमान को दूर रखकर निधानपुर अभिलेख के उल्लेखों की वास्तविकता को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व देना आपत्तिजनक नहीं होगा। किन्तु इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि भास्करवर्मा के पूर्वी बंगाल के कुछ प्रदेशों पर अधिकार कर लेने में हर्ष की स्वीकृति अवश्य रही होगी और उसका कारण भास्करवर्मा की केवल सैन्य विजय ही नहीं रही होगी।

इ-ला-न पो-फ-टो की पहचान मुंगेर जिले से की गयी है। उसके बारे में श्वान्-च्वांग् कहता है कि वहाँ के राजा को किसी पार्श्ववर्ती राज्य के राजा ने गद्दी से हटा दिया और उसकी राजधानी को बौद्ध भिक्षुओं को दान में दे दिया[५]। उसे हटाने वाला राजा हर्ष

---

१. देखिए, सुधाकर चट्टोपाध्याय, अर्ली हिस्ट्री ऑफ् नार्थ इण्डिया, पृ० २४८; र० चं० मजुमदार हिस्ट्री ऑफ् बेंगाल, जिल्द १, पृ० ७९; वि० प्र० सिनहा, डिक्लाइन् ऑफ् दि किंगडम् ऑफ् मगध, पृ० २७३-२७४।

२. हिस्ट्री ऑफ् कन्नौज, पृ० १०२-१०३; रा० दास बनर्जी, बांगलार इतिहास, द्वितीय संस्करण, पृ० १९; रा० कु० मुकर्जी, हर्ष, पृ० ४२।

३. एइ०, जिल्द १२, पृ० ६५। दुर्भाग्यवश इस लेख की सही तिथि नहीं ज्ञात होती।

४. अर्ली हिस्ट्री ऑफ् नार्थ इण्डिया, पृ० २५०।

५. वाटर्स्, जिल्द २, पृ० १७८; बील, प्रथम संस्करण, जिल्द २, पृ० १८७।

ही ज्ञात होता है। उस चीनी यात्री से यह भी ज्ञात होता है कि राजा शीलादित्य (हर्ष) ने अपनी पूर्व की विजयों के सिलसिले में क-चु-बेन (कजंगल=राजमहल की पहाड़ियों) में अपना दरबार लगाया।[१] पुनः, यह ज्ञात[२] होता है कि श्वान्-च्वांग् जब उ-टु (ओड्र=उड़ीसा) और कुंग-यु-टो (कोंगोध=आधुनिक गंजाम जिला) गया था, तब वे कन्नौज के राजा के अधिकार में जा चुके थे। ये प्रदेश पुलकेशी के राज्य के पूर्वी छोर के आगे पड़ते थे और हर्ष के लिए यह आवश्यक हो गया होगा कि वह वहाँ अच्छी सैनिक व्यवस्थाएँ रखे। आधुनिक उड़ीसा के उन प्रदेशों के हर्ष के अधिकार में निश्चित रूप से चले जाने का प्रमाण इस बात से भी मिलता है कि हर्ष ने उड़ीसा की अपनी यात्रा के समय जयसेन नामक एक बौद्ध संन्यासी को ८० गाँवों की आय दान में देने का प्रस्ताव किया था जिसे उसने स्वीकार नहीं किया।[३] हर्ष का यह दानप्रस्ताव तब तक असंभव होता, जब तक उन गाँवों पर उसका अधिकार न रहा हो।

दक्षिण में हर्ष के साम्राज्य की सीमा नर्मदा नदी थी, जिसके नीचे दक्षिणापथ में पुलकेशी का अधिकार था। दक्षिण-पश्चिम और पश्चिम में उसके शासित क्षेत्रों का विस्तार कहाँ तक था, यह निश्चित करना बड़ा कठिन है। पश्चिमी मालवा (श्वान्-च्वांग् का मो-ला-पो) तथा वलभी के राजा ध्रुवभट्ट पर उसकी विजय की चर्चा पीछे की जा चुकी है। किन्तु ऐसा लगता है कि पुलकेशी जैसे शक्तिशाली शत्रुराज्य के वलभी की सीमाओं पर रहते हुए हर्ष ने इसे कोई राजनीतिक बुद्धिमानी की बात नहीं मानी कि वह ध्रुवभट्ट के राज्य को अपने साम्राज्य में मिला ले। अपितु उससे अपनी पुत्री का विवाह करके उसे एक स्वतंत्र किन्तु मित्र राजा के रूप में छोड़कर उसने पर्याप्त दूरदर्शिता दिखायी। ध्रुवभट्ट ने प्रयाग की महामोक्षपरिषद में एक मित्र राजा की हैसियत से ही भाग लिया था।[४] श्वान्-च्वांग् की जीवनी में उसे 'दक्षिण भारत का राजा' कहा गया है,[५] जो उसकी स्वतंत्रता का द्योतक प्रतीत होता है। स्पष्ट है, वलभी के पश्चिम के सभी छोटे-मोटे राज्य हर्ष की साम्राज्य-सीमा से बाहर थे और स्मिथ महोदय का यह मत स्वीकार नहीं किया जा सकता कि गुजरात और सुराष्ट्र उसके राज्य में पड़ते थे।[६] पूर्वी मालवा अवश्य उसके अधिकार में प्रतीत होता है।

---

१. वाटर्स्, जिल्द २, पृ० १८३; बील, प्रथम संस्करण, जिल्द २, पृ० १९३।
२. जीवनी, पृ० १५९, १७२।
३. जीवनी, पृ० १५४ और १५९।
४. देखिए, डॉ० त्रिपाठी, हिस्ट्री ऑफ् कन्नौज, पृ० ११२ और १५९।
५. जीवनी, पृ० १४९, १८५।
६. अर्ली हिस्ट्री, पृ० ३५४।

सिन्ध पर संभवतः उसने विजय की, किन्तु उसे अपने राज्य का अंग नहीं बनाया। श्वान्-च्वांग् वहाँ के राजा को शूद्र जाति का बताता है। सम्भव है उसने हर्ष की अधिसत्ता स्वीकार कर अपनी स्वतन्त्रता बचा ली हो।[१]

यहाँ यह भी विचारणीय है कि हर्ष का कामरूप के राजा से क्या सम्बन्ध था। **हर्षचरित** के एक उद्धरण 'अत्रदेवेन अभिषिक्तः कुमारः'[२] से रा० कु० मुकर्जी जैसे विद्वान् यह अर्थ निकालते हैं[३] कि कामरूप के राजा भास्करवर्मा ने हर्ष की अधिसत्ता स्वयं मान ली थी और सम्राट् द्वारा वह अभिषिक्त हुआ था। किन्तु इस मत को स्वीकार कर लेना उस समय की संभावनाओं के अत्यन्त प्रतिकूल प्रतीत होता है। एक तो यह निश्चय नहीं है कि **हर्षचरित** के उपर्युक्त उद्धरण का कुमार श्वान्-च्वांग् का कुमारराज भास्करवर्मा ही था। दूसरे जब हर्ष थानेश्वर राज्य का उत्तराधिकारी हुआ और राज्यवर्धन की हत्या का शशांक से बदला लेने एवं दिग्विजय के लिए चला तो उसे अपनी यात्रा के प्रायः प्रारम्भ में ही भास्करवर्मा का दूत हंसवेग मिला। स्पष्ट है, भास्करवर्मा हर्ष के पहले ही अपनी गद्दी पर बैठा चुका था। ऐसी अवस्था में हर्ष द्वारा उसके राज्याभिषेक का प्रश्न ही कहाँ था ? हम पीछे देख चुके हैं कि हर्ष से उसकी मित्रता और उन दोनों के बीच भेंटों का आदान-प्रदान शशांक के विरुद्ध समान शत्रुता का परिणाम था और उसका आधार बराबरी का था। भास्करवर्मा कन्नौज की सभा और प्रयाग की महामोक्षपरिषद् में जो सम्मिलित हुआ वह भी मित्र की हैसियत से ही, न कि किसी हीन संधि में बँधे हुए अधीनस्थ राजा[४] की तरह।

कश्मीर के राजा से भी हर्ष का प्रायः ऐसा ही सम्बन्ध था। वहाँ का तत्कालीन राजा दुर्लभवर्धन था।[५] श्वान्-च्वांग् की 'जीवनी' में एक घटना का उल्लेख मिलता है[६] कि शीलादित्यराज ने यह सुना कि कश्मीर में बुद्ध का एक दाँत रखा है। उसने उसके दर्शन करने की इच्छा से कश्मीर की सीमा पर जाकर उसे देखने तथा पूजने की अनुमति माँगी। जिस संघाराम में वह रखा था, वहाँ के भिक्षुओं ने उसे देने से इन्कार किया।

---

१. पीछे देखिए, पृ० ४५।

२. हर्षचरित, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ९१; कॉवेल् और टॉमस्, पृ० ७६।

३. हर्ष पृ० ४४; निहाररंजन राय, इहिक्वा०, जिल्द ३, पृ० ७९०।

४. देखिए, रा० शं० त्रिपाठी, हिस्ट्री ऑफ् कन्नौज, पृ० १०४, १०५; सुधाकर चट्टोपाध्याय, अर्ली हिस्ट्री ऑफ् नार्थ इण्डिया, पृ० २६४-२६७।

५. त्रिपाठी, हिस्ट्री ऑफ् कन्नौज, पृ० ८४।

६. जीवनी, पृ० १८३; वाटर्स्, जिल्द १, पृ० २६९।

किन्तु उनके राजा ने उनसे उसे छीनकर हर्ष को सौंप दिया और वह शक्ति प्रयोग द्वारा उसे कन्नौज उठा ले गया। स्पष्ट है, हर्ष ने कश्मीर पर कोई चढ़ाई नहीं की और न दुर्लभवर्धन को किसी प्रकार की राजनीतिक शर्त मानने को विवश किया। अधिक से अधिक इतना कहा जा सकता है कि कश्मीर उसकी मित्रता के दबाव में अवश्य था तथा उसमें उसके विरुद्ध जाने की न तो शक्ति थी और न इच्छा।

डॉ० त्रिपाठी ने हर्ष के साम्राज्य-विस्तार के सम्बन्ध में अपना निष्कर्ष निकालते हुए कहा है कि श्वान्-च्वांग् जिन-जिन देशों में गया, वहाँ के शासकों के बारे में अवश्य लिखा, उनके अधीनस्थ प्रदेशों को बताया तथा कहीं-कहीं तो राजपरिवर्तन एवं अधिसत्ताओं के हस्तान्तरण की भी चर्चा की। ऐसी अवस्था में 'क्या यह मान लिंया जा सकता है कि उत्तर भारत के जिन क्षेत्रों के शासकों के बारे में श्वान्-च्वांग् बिलकुल चुप है, वे कन्नौज के अन्तर्गत थे? कदाचित् उसने सोचा कि हर्ष के शासन-क्षेत्र अत्यन्त स्पष्टतः ज्ञात थे और उनकी चर्चा करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। इस मान्यता के आधार पर हम यह स्वीकार कर सकते हैं[१] कि देश के निम्नलिखित भाग उसके शासनाधिकार में थे' :-

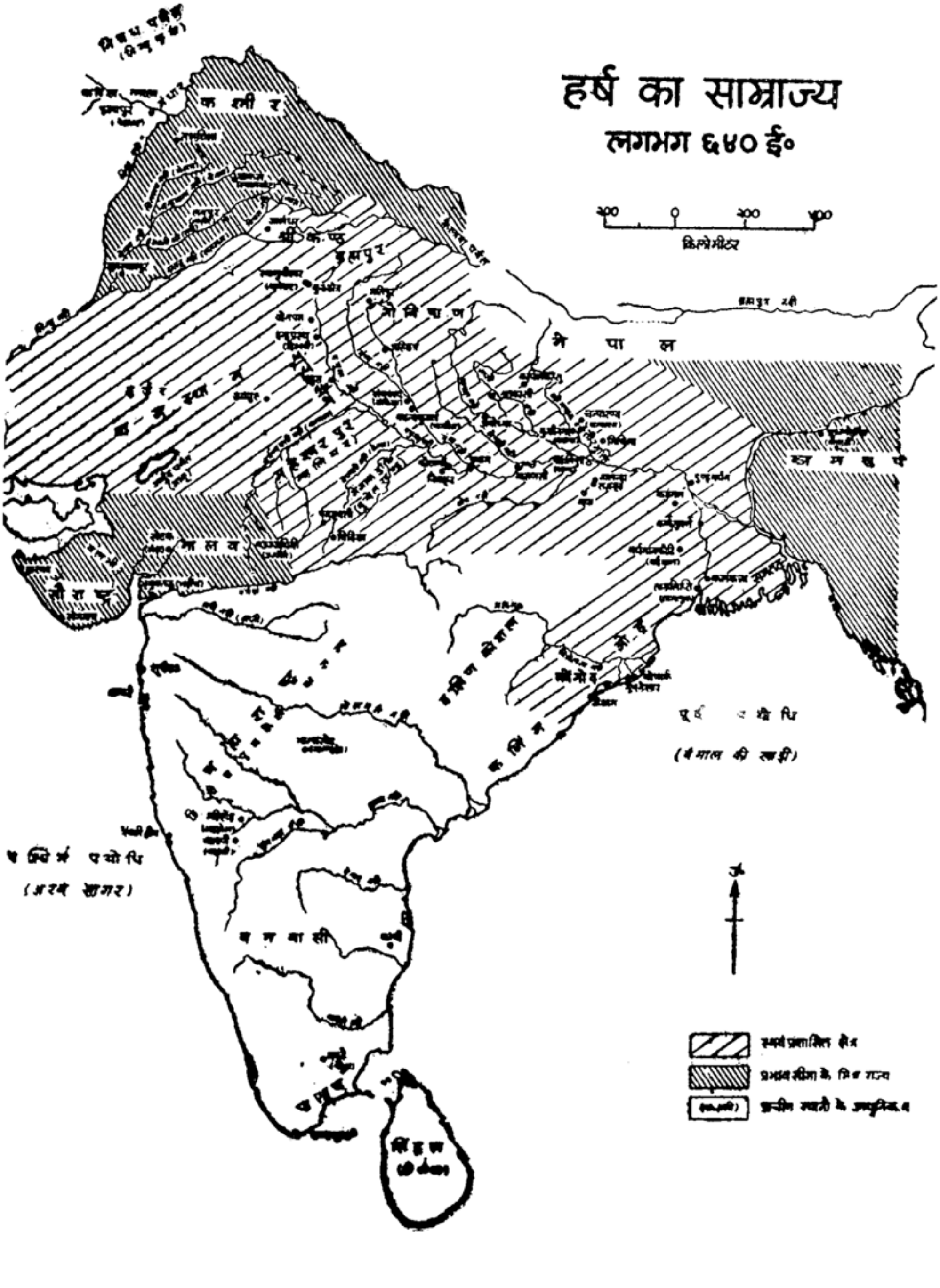
कुलू, सरहिन्द, थानेश्वर, सुध, ब्रह्मपुर, गोविषाण (काशीपुर, रामपुर और पीलीभीत के जिले), अहिछत्र (रुहेलखण्ड का पूर्वी भाग) अत्रंजिखेर, कपित्थका अथवा संकाश्य (आधुनिक संकिस्सा), अयोध्या, डौण्डिखेर, प्रयाग, कौशांबी, श्रावस्ती, रामग्राम, कुशीनगर, वाराणसी, गाजीपुर, वैशाली वृजिदेश, मगध, मुंगेर, भागलपुर, राजमहल, पुंड्रवर्धन, समतट, ताम्रलिप्ति, कर्णसुवर्ण, उड़ीसा और कोंगध (आधुनिक गंजाम जिला)।

अन्त में हमें अभिलेखों, **हर्षचरित** और **सि-यू-कि** से ज्ञात होने वाले हर्ष के कुछ विरुदों की व्याख्या की ओर भी ध्यान देना चाहिए। चालुक्यों के अभिलेखों में उसे **सकलोत्तरापथनाथ** कहा गया है और कभी-कभी उसका अर्थ यह लगा लिया[२] जाता है कि वह या तो सारे उत्तरी भारत की विजय कर चुका था अथवा उसका अधिसत्तात्मक सम्राट् स्वीकृत किया जा चुका था। किन्तु उन अभिलेखों में उत्तरापथ की सीमा कितनी मानी गयी है, इसकी कोई जानकारी नहीं है। समय-समय पर विभिन्न साहित्यिक उल्लेखों में इसके भिन्न-भिन्न तात्पर्य रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उपर्युक्त अभिलेखों में नर्मदा के उत्तर के समस्त भारतवर्ष के क्षेत्रों को उत्तरापथ कहा गया है। यदि ऐसा है तो हम यही मानें कि हर्ष को **सकलोत्तरापथनाथ** सामान्यतः प्रशंसा के रूप में ही कहा

---

१. हिस्ट्री ऑफ् कन्नौज, पृ० ११५।

२. रा० कु० मुकर्जी, पृ० ४३; पणिक्कर, श्रीहर्ष ऑफ् कन्नौज, पृ० २२ और आगे।



हर्ष का साम्राज्य
लगभग ६४० ई०
किलोमीटर
कश्मीर
नेपाल
पूर्व पयोधि
(बंगाल की खाड़ी)
(अरब सागर)
वनवासी

छोटे-मोटे राज्यों का एक ढीला-ढाला मेल था जिसका वह **चक्रवर्ती, परमभट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर** और **सर्वदेवतावतार**[१] आदि उपाधियाँ धारण करने वाला प्रधान था। राज्य के सबसे बड़े अधिकारी के रूप में उसके विस्तृत कर्त्तव्य होते थे और वह उनका पूरी तरह निर्वाह करता था। हूणों के उपद्रव को दबाने के लिए भेजे गये राज्यवर्धन के साथ जाकर उसने राजकुमार के रूप में भी युद्धस्थल देखा था और लगभग १५-१६ वर्ष की अवस्था में ही विपद्ग्रस्त राजगद्दी संभालने का जो भार उसके कंधों पर पड़ा, उसका वहन किसी साधारण व्यक्ति के वश की बात नहीं थी। प्राय: सर्वदा विजय की कामना से प्रेरित होकर युद्ध करते रहना, शत्रुओं को दबाने अथवा नष्ट करने की योजना में लगे रहना, सारे विजित क्षेत्रों में जयस्कन्धावारों से शासन की आज्ञाएँ निकालते रहना[२] और जनकल्याण के कार्यों में निरत रहना उसके व्यस्त जीवन का क्रम था। आवश्यक था कि प्रशासन को पूर्णत: ठीक रखने के लिए राजा स्वयं कठिन परिश्रम करे और दिन-रात उसमें लगा रहे। हर्ष के बारे में श्वान्-च्वांग् कहता है, "राजा का दिन तीन भागों में बँटा रहता था। एक भाग में तो वह प्रशासन देखता था और शेष दो भागों में धर्मकार्य किया करता था।" "वह अथक था और (इन कार्यों के लिए) दिन उसे अत्यन्त छोटा पड़ता था। यदि नगरों के लोगों में कोई अनियमितता आ जाती तो वह स्वयं उनके बीच जाता था।"[३] उसी सिलसिले में चीनी यात्री यह भी कहता है कि "दुष्टों के दमन और भलों को पुरस्कृत करने" के लिए वह सारे राज्य में घूमा करता था। आदर्श भारतीय राजाओं की यह पुरानी परिपाटी थी कि प्रशासन के सम्बन्ध में जन-भावनाओं की जानकारी के लिए, वास्तविक दोषियों की खोज के लिए अथवा लोगों का दु:खदर्द सुनने के लिए वे प्राय: गुप्त अथवा प्रकट रूप में अपने राज्यों में घूमा करते थे। हर्ष भी इस नियम का अपवाद न था और श्वान्-च्वांग् इस परम्परा की ओर ही निर्देश करता है। **हर्षचरित** से भी हर्ष द्वारा शासन में इस रीति को अपनाने की पुष्टि होती है।[४] बाँसखेड़ा और मधुबन के दानपत्र इसी प्रकार की यात्राओं में वर्द्धमानकोटि और कपित्थका के जयस्कन्धावारों से प्रसारित किये गये थे। स्पष्ट है, हर्ष का प्रशासन सम्बन्धी श्रम और ढंग सराहनीय था।

मंत्रिमण्डल

प्राचीन भारतीय धर्मशास्त्रकारों और अर्थशास्त्रकारों के विधि-निर्देशों के अनुरूप

---

१. हर्षचरित, पूर्वनिर्दिष्ट पृ० ५२, ७२, ७७।

२. श्वान्-च्वांग् की हर्ष से सर्वप्रथम भेंट कजंगल (बंगाल) के उसके शिविर में ही हुई न कि राजधानी कन्नौज में। देखिए पीछे, पृ० १७; वाटर्स्, जिल्द २, पृ० १८३।

३. वाटर्स्, जिल्द १, पृ० ३४४; बील, सुशीलगुप्त प्रकाशन, जिल्द ३, पृ० २४०।

४. देखिए, कॉवेल् और टॉमस्, पृ० २०८।

गया और उसकी महिमा को इसलिये बढ़ाचढ़ाकर व्यक्त किया गया कि उसके विजेता पुलकेशी की महिमा बतायी जा सके। श्वान्-च्वांग् यह कहता है कि उत्तर भारत में भी अनेक ऐसे राज्य थे जो स्वतन्त्र थे। कभी-कभी वह उनके राजाओं के नाम और जाति तथा धर्म बताता है। जालंधर, मतिपुर और महेश्वरपुर ऐसे ही राज्य थे।[१] किन्तु ये राज्य हर्ष के शक्तिकेन्द्र के इतने समीप थे तथा इतने छोटे थे कि वे आंतरिक दृष्टि से सर्वथा स्वतंत्र होते हुए भी उसके प्रभाव-क्षेत्र में न हों, ऐसा सम्भव नहीं दिखता। श्वान्-च्वांग् प्रयाग[२] की महामोक्षपरिषद् में जिन १८ राजाओं के भाग लेने की बात करता है, वे इसी कोटि में रहें होंगे। कम से कम जालंधर के सम्बन्ध में तो श्वान्-च्वांग् की 'जीवनी' से इतना ज्ञात है[३] कि हर्ष ने उसके राजा को यह कार्य सौंपा था कि वह चीन लौटते समय श्वान्-च्वांग् को सकुशल अपनी सीमाओं तक पहुँचा दे। किन्तु नेपाल, कश्मीर और आधुनिक पाकिस्तान के उत्तर-पश्चिमी कोनों के राज्य उसकी प्रभाव-सीमा के भीतर थे, इसका कोई प्रमाण नहीं है।

बाणभट्ट हर्ष को 'चारों समुद्रों का **अधिपति महाराजाधिराज, परमेश्वर**, समस्त **चक्रवर्ती** राजाओं में श्रेष्ठ तथा अन्य राजाओं के चूड़ामणि द्वारा चमकते हुए नखोंवाला' कहता है।[४] किन्तु इसे एक कृपाप्राप्त लेखक की अपने शक्तिशाली सम्राट् के प्रति प्रशंसोक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं मानना चाहिए। हम पीछे देख चुके हैं कि श्वान्-च्वांग् द्वारा हर्ष को पंचभारतों (सम्पूर्ण भारत) का स्वामी कहा जाना भी कुछ विशेष अर्थ नहीं रखता और वह प्राचीन भारत के कवियों एवं आश्रितों द्वारा अपने स्वामियों के गुणगान से बहुत भिन्न नहीं है।

हर्ष का प्रशासन

हर्ष के प्रशासन को जानने के लिए **हर्षचरित** और **सि-यू-कि** के कतिपय बिखरे हुए उल्लेखों तथा अभिलेखों से प्राप्त सामग्री का उपयोग लाभप्रद होगा। पीछे हम देख चुके है[५] कि हर्ष का साम्राज्य उसके प्रत्यक्ष शासनक्षेत्र और प्रभावक्षेत्र में आने वाले

---

१. वाटर्स, जिल्द १, पृ० ३०२, ३२२; जिल्द २, पृ० २५१।

२. जीवनी, पृ० १४३ और आगे; त्रिपाठी, हिस्ट्री ऑफ् कन्नौज, पृ० १५८।

३. जीवनी, पृ० १८९-१९०।

४. देवस्य चतुस्समुद्राधिपतेः सकलराजचक्रचूणामणि श्रेणीशाणकोणकषणनिर्मली-कृतचरणनखमणेः सर्वचक्रवर्तिनां धौरेयस्य महाराजाधिराजपरमेश्वरश्रीहर्षस्य। हर्षचरित। पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ५२।

५. देखिए, पृ० ५१ और आगे।

राजदरबार में सामन्तों का भी विशेष स्थान होता था। बाणभट्ट ने मणितारा के शिविर में जब सर्वप्रथम हर्ष से भेंट की थी तब उसने राजा से भेंट करने की प्रतीक्षा में बैठे सामन्तों को देखा था।[१] हर्ष के सामन्तों में माधवगुप्त का स्थान प्रमुख प्रतीत होता है। वह बचपन से ही उसकी सेवा में लगा था। बाँसखेड़ा और मधुबन के अभिलेखों में **महासामन्त** स्कंदगुप्त और **सामन्तमहाराज** ईश्वरगुप्त के नाम मिलते हैं। भंडि भी मूलतः एक सामन्त ही था, जो हर्ष का निकट सम्बन्धी होने के कारण मन्त्रिपद प्राप्त कर चुका था।

किसी भी प्रशासन की सफलता नौकरशाही की कुशलता पर निर्भर करती है। हर्ष के प्रशासन में लगे हुए अपने-अपने विभागों के अध्यक्षों के पद और नाम ज्ञात होते हैं। उनमें मुख्य पद नीचे दिये जा रहे हैं–

१–**सांधिविग्रहिक** के पद पर अवन्ति था जो युद्ध और सन्धि के कार्यों में राजा का सहायक था और कदाचित् मंत्रिपरिषद् का सदस्य भी था। राजकीय आलेख्यों और घोषणाओं का लेखन उसका मुख्य कार्य था।

२–**महाबलाधिकृत** पदाति सेना का सर्वोच्च सेनापति था, जिसे **हर्षचरित** में सेनापति ही कहा गया है। उस पद पर सिंहनाद प्रतिष्ठित था।

३–**बृहदश्ववार** घुड़सवार सेना का नायक होता था। **हर्षचरित** में उसका नाम कुन्तल बताया गया है।

४–**कटुक** गजसेना का सेनापति होता था। स्कंदगुप्त उस पद पर प्रतिष्ठित था। हर्ष के समय में एक विशाल स्थायी सेना थी जिसमें प्रथमतः तो ५००० हाथी, २००० घुड़सवार और ५०००० पदाति थे, किन्तु बाद में उनकी संख्या ६० हजार हाथियों तथा १ लाख घुड़सवारों तक पहुँच गयी थी।[४] इसी प्रकार पदातियों की भी संख्या बढ़ गयी होगी।

५–**दूतक महाप्रमातार महासामन्त** स्कंदगुप्त नामक एक अधिकारी का पता बाँसखेड़ा के अभिलेख से लगता है।[५] यह कह सकना कठिन है कि वह उपर्युक्त स्कन्दगुप्त ही था अथवा अन्य कोई व्यक्ति। यदि दोनों एक थे तो हमें मानना पड़ेगा कि स्कंदगुप्त ने एक साधारण सामन्त के रूप में हर्ष की इतनी सेवा की कि धीरे-धीरे

---

१. कॉवेल् और टॉमस्, पृ० ११९–१२०, २०२, २११।

२. वहीं, पृ० १८७।

३. त्रिपाठी, हिस्ट्री ऑफ् कन्नौज, पृ० १३७।

४. बील (सुशीलगुप्त प्रकाशन) जिल्द २, पृष्ठ २३८–२३९।

५. एइ०, जिल्द ४, पृष्ठ २११।

पुष्यभूति राजाओं ने किसी मंत्रिपरिषद् का निर्माण किया था या नहीं, इस बात की हमें कोई स्पष्ट जानकारी नहीं है। किन्तु कुछ मन्त्री अवश्य होते थे। इस बात का समर्थन **सि-यू-कि** के उस उल्लेख से होता है,[१] जहाँ पोनी (भण्डि) के नेतृत्त्व में हर्ष के सम्मुख कन्नौज की राजगद्दी संभालने के प्रस्ताव किये जाने की चर्चा है। श्वान्-च्वांग् राज्यवर्धन की हत्या का दोष मन्त्रियों पर यह कहकर लगाता है कि उन्होंने उसे संभावित आशंकाओं से आगाह नहीं किया तथा सत्परामर्श नहीं दिया।[२] सिंहनाद और स्कंदगुप्त हर्ष को जो उपदेश देते हुए बताये गये हैं अथवा सिंहनाद के सामने झुककर हर्ष शत्रुदमन की जो प्रतिज्ञा करता है[३], उससे लगता है कि उसके पिता के समय से ही क्रमशः पदाति और गजसेना के सेनानायकों के पदों पर रहने वाले उन दोनों का बड़ा प्रभाव था और कदाचित् वे मन्त्रिपरिषद् के सदस्य भी थे। **सांधिविग्रहिक** अवंति की जानकारी **हर्षचरित** से होती है।[४] युद्ध और संधि सम्बन्धी निर्णयों में उसका काफी हाथ होता था और तत्सम्बन्धी घोषणाओं का लेखन और प्रकाशन उसका कार्य था।

राजदरबार की शान-शौकत के वर्णन का यहाँ कोई स्थान नहीं है। किन्तु इतना कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि राजा, राजदरबार और रनिवास की देखभाल के लिए अनेक अधिकारी हुआ करते थे। उनमें **पारियात्र** जैसे प्रतीहारों के मुखिया, **विनयासुर** नामक साधारण **प्रतीहार** (आगुंतकों को भीतर ले जानेवाला द्वारपाल), **कंचुकी** अथवा **वेत्री**, छत्रचमर धारण करनेवाले **सेवक, मीमांसक, पुरोहित, चामरग्राहिणी, ताम्बूलकरंकवाहिनी** तथा राजा के अंगरक्षकों जैसे अनेक कर्मचारियों की गिनती की जा सकती है। मेखलक, कुरंगक और संवादक जैसे धावकों (**दीर्घ-ध्वग्**=तेजी से जाकर बड़ी-बड़ी दूरियों को जल्दी ही तय कर लेनेवाले सन्देशवाहकों) के उल्लेख **हर्षचरित** से प्राप्त होते हैं।[५] ये संदेशवाहक अत्यन्त विश्वासपात्र व्यक्ति हुआ करते थे। इसकी आज केवल कल्पनामात्र की जा सकती है कि यातायात के विकसित साधनों के अभाव वाले उस युग में उनका कितना महत्त्व रहा होगा। **हर्षचरित** में **लेखहारक** की भी चर्चा है, यह कहना कठिन है कि वह संज्ञा **दीर्घध्वग्** का ही दूसरा पर्याय थी या नहीं। किन्तु दोनों के कार्यों में बहुत कुछ समानता प्रतीत होती है।

---

१. एस्० बील, ज्लिद २ (सुशीलगुप्त प्रकाशन) पृ० २३६-३७।

२. एस्० बील, (सुशीलगुप्त प्रकाशन) जिल्द २, पृ० २३७।

३. कॉवेल और टॉमस, पृ० १८७।

४. वहीं।

५. हर्षचरित (फुहरेर-सम्पादित, बम्बई १९०९), पृ० २२३; कॉवेल और टॉमस्, पृ० १४५; सि-यू-कि, बील, (सुशीलगुप्त प्रकाशन) जिल्द २, पृ० २४०।

यह बताना संभव नहीं दीखता कि शासन के किस विभाग से वह संबद्ध था। कुछ विद्वानों के मत में वह गाँव की देखरेख करनेवाला राज्य का सेवक होता था।[१]

९–**कुमारामात्य** नामक अधिकारी की चर्चा हर्ष के दोनों अभिलेखों में मिलती है। वह उन अनेक अधिकारियों में था, जिन्हें दान में दी गयी भूमि की सूचना दी जाती थी। किन्तु यह बता सकना कठिन है कि **कुमारामात्य** के वास्तविक कार्य क्या थे। इसका अनेक अर्थ विभिन्न विद्वानों ने किया है[२] यथा–कुमार को परामर्श देनेवाला अथवा राजा के कुमार होने के समय से प्रारम्भ कर आगे भी उसका मंत्रित्व करनेवाला। किन्तु इसका पद मंत्री का था, यह नहीं प्रतीत होता। असंभव नहीं कि यह प्रांतों में शासन करनेवाला सामंततुल्य विस्तृत अधिकारसंपन्न कोई अधिकारी रहा हो। यह पद गुप्तकाल से ही चला आता था।

१०–**चाट, भाट और सेवक** नामक सैनिक और अर्धसैनिक स्वरूपवाले शांतिस्थापन और सुव्यवस्था में लगे हुए राजपुरुष हुआ करते थे, जिनकी चर्चा हर्ष के अभिलेखों में है। **चाट, भाट** गुप्त महाराजाओं के युग से ही प्रशासन के साथ संबद्ध थे। **सेवक** अधिकारियों की आज्ञाओं को कार्यान्वित करनेवाले मामूली नौकर रहे होंगे। बाणभट्ट ने **यामचेटि** अर्थात् रात्रि में पहरा देनेवाली स्त्रियों का उल्लेख किया है। राज्यशासन में रत इन राजपुरुषों को कोई नकद वेतन नहीं मिलता था अपितु उन्हें राज्य की ओर से अपने भरण-पोषण के लिए भूमि मिली हुई थीं, जिनकी सारी आय उनकी होती थी। राज्य की संपूर्ण आय का १/४ इस प्रकार के राज्य के अफसरों और सेवकों के लिए नियत था।[३]

प्रशासकीय इकाइयाँ

भुक्ति–हर्ष का साम्राज्य विशाल था, यह हम पीछे देख चुके हैं। उसके लिए व्यवहृत होनेवाले शब्द **राज्य, राष्ट्र** अथवा **देश** काफी पुराने और व्यापक थे, किंतु उनका कोई विवरण हर्ष के युग का नहीं मिलता। इतना अवश्य ज्ञात है कि उसका साम्राज्य कई प्रांतों में शासन की सुविधा के लिए बँटा था, जिन्हें **भुक्ति** कहते थे। मधुबन अभिलेख से श्रावस्तीभुक्ति और बाँसखेड़ा अभिलेख से अहिछत्रभुक्ति का पता लगता है जो साम्राज्य के उत्तरी और उत्तर-पश्चिमी क्षेत्रों से बनी थीं। श्रावस्ती और अहिछत्र उनके

---

१. एइ०, जिल्द १२, पृ० ४३, १४१।

२. देखिए, कार्पस्० इ० इ० जिल्द ३, पृ० १६, पादटिप्पणी ७; ब्लाश, एइ०, जिल्द १०, पृ० ४०, पादटिप्पणी २; जिल्द ११, पृ० १७६; इऐ०, जिल्द ४, पृ० १७५; रा० श० शर्मा, इण्डियन् फ्यूडलिज्म्, पृ० २०; वा० श० अग्रवाल, हर्षचरित, पृ० ११२।

३. वाटर्स्, जिल्द १, पृ० १७६; बील (प्रथम संस्करण), जिल्द १, पृ० ८८।

प्रशासन के अनेक कार्यों का उत्तरदायित्त्व उसे सौंप दिया गया था। किन्तु ऐसा लगता है कि वे दोनों दो व्यक्ति थे–एक गजसेना का प्रधान था और दूसरा दानग्रहीता को भूमि हस्तांतरित करानेवाला राजा का विश्वासपात्र संदेशवाहक (दूतक) था। फ्लीट महोदय का यह मत[१] है कि "उसका कार्य वास्तविक दानपत्र को दान पाने-वाले व्यक्ति के हाथों में देना नहीं था, अपितु यह राजा की आज्ञा को स्थानीय अधि-कारियों तक पहुँचाता था जो तत्सम्बन्धी दानपत्र तैयार कराते और उसे दान के प्राप्तकर्त्ता को देते थे।"

६–**महाप्रमातार** नामक अधिकारी का ज्ञान अभिलेखों से होता है। लगता है, वह भूमि की नाप किया करता था। पीछे हम देख चुके हैं कि स्कन्दगुप्त को **दूतक** और **महाप्रमातार** दोनों कहा गया है।[२] स्पष्ट है, वह हर्ष के समय दोनों पदों को संभालता था। वह भूमि सम्बन्धी राजस्व विभाग का एक बड़ा अधिकारी होता था। उसके अधीन **प्रमातार** अर्थात् भूमिमापन से सम्बद्ध छोटे अधिकारी भी होते थे।

७–**महाक्षपटलाधिकरणाधिकृत** राजकीय कागजपत्रों के दफ्तर का सबसे बड़ा अधिकारी था। अभिलेखों से पता चलता है कि उस पद पर ६२८ ई० और ६३१ ई० में क्रमशः भान और ईश्वरगुप्त प्रतिष्ठित थे।[३] स्कंदगुप्त की तरह दोनों को ही **महासामन्त** और **महाराज** की उपाधियाँ दी गयी हैं। उनकी आज्ञा से ही क्रमशः ईश्वर और गर्ज्जर नामक उत्कीर्णकों ने बाँसखेड़ा और मधुबन के ताम्रपत्राभिलेखों को उत्कीर्ण किया था। इससे इस बात में संदेह नहीं रह जाता कि **महाक्षपटलाधिकरणाधिकृत** राजस्व और भूमि के ब्यौरों को रखनेवाला एक प्रमुख अधिकारी था और उसका एक निश्चित कार्यालय होता था। उसके अधीन अवश्य ही अनेक लेखक रहे होंगे। श्वान्-च्वांग् ने भी राजकीय लेखों के पंजीकरण की चर्चा की है।

८–**दौस्साधनिक**–हर्ष के अभिलेखों में इस अधिकारी की चर्चा मिलती है, किन्तु निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि उसका कार्य क्या था। शब्दार्थ से तो यह प्रतीत होता है कि वह कठिन कार्यों को सम्पन्न करनेवाला कोई राजपुरुष होता था। परन्तु

---

१. वहीं। प्रमातृ शब्द संस्कृत की 'मा' धातु से निकला है, जिसका अर्थ होता है, मापना अथवा तौलना। कुछ लोग (डॉ० त्रिपाठी, हिस्ट्री ऑफ् कन्नौज पृ० १०) इसका अर्थ न्यायाधिकारी बताते हैं। वह भी साक्ष्य को तौलता ही है। बूह्लर महोदय उसे आध्यात्मिक परामर्शदाता बताते हैं (एइ०, जिल्द १, पृ० ११८ पादटिप्पणी ३६)।

२. एइ०, जिल्द ४, पृ० २११।

३. वाटर्स्, जिल्द १, पृ० १५४।

(लेखकों) के साथ उपस्थित होकर उसे एक नवनिर्मित स्वर्णमुद्रा भेंट की थी। शासन की ऊपरी इकाइयों में अक्षपटलिकों के प्रधान **महाक्षपटलाधिकृत** कहलाते थे।[१]

राजस्व–जनता से वसूल किये जानेवाले करों की मात्रा अल्प थी। राज्य की आय का सर्वमुख्य साधन भूमिकर था जो उपज का प्रायः १/६ होता था। नदी के पार-उतार तथा बाहर से प्रवेश के स्थानों पर भी कर लगते थे।[२] हर्ष के अभिलेखों से इनके अतिरिक्त अन्य अनेक करों की जानकारी होती है, यथा–**तुल्यमेय** (तौल अथवा माप के अनुसार वस्तुओं पर लगाया जानेवाला कर), **भागभोग** (भूमि और भोग पर लगाया जानेवाला कर) और **करहिण्यादि** (नकद और स्वर्ण के रूप में लिए जानेवाले कर) आदि। राज्य की आय शासनसंचालन तथा सरकारी नौकरों के वेतन के अतिरिक्त दान और धर्मकार्यों के लिए भी खर्च की जाती थी। कभी-कभी कुछ गाँवों की सम्पूर्ण आय विशेष कार्यों के निमित्त दे दी जाती थी, यथा–नालंदा विश्वविद्यालय के खर्चों को चलाने के लिए १०० गाँवों की आय अर्पित थी।

राज्य में शांति बनाये रखने के लिए पुलिस की जो व्यवस्था थी वह गुप्त सम्राटों के समय से चली आ रही थी। **दाण्डिक** और **दण्डपाशिक** पुलिस विभागों के छोटे अधिकारियों की पदसंज्ञाएँ थीं। किंतु गुप्तोत्तर विशृंखलन की प्रवृत्तियों के साथ शांति और व्यवस्था की समस्याएँ भी उठ खड़ी हुई थीं। जहाँ फा-श्येन् को कहीं भी चोर-डाकुओं के भय का सामना नहीं करना पड़ा, वहाँ श्वान्-च्वांग को कम से कम दो बार[३] उनका शिकार होना पड़ा–एक बार पंजाब में शाकल के पास और दुबारा उत्तर प्रदेश में अयोध्या से कुछ आगे (दक्षिण) गंगा के किनारे वाले रास्ते पर। तथापि उसी के शब्दों में 'सरकार ईमानदार थी, लोग आपस में अच्छे संबंध बनाकर रहते थे और अपराधी वर्ग छोटा था।'[४]

हर्षवर्धन के शासन की यह विशेषता थी कि साधारण जनजीवन में उसका बहुत ही कम हस्तक्षेप था। श्वान्-च्वांग के शब्दों में "सरकारी मांगें कम थी। परिवारों के पंजीकरण की न तो कोई आवश्यकता थी और न जबरदस्ती बेगार ही लिए जाते थे। कर बहुत हल्के थे और बेगार न होने के कारण सभी अपने कामों में तथा अपनी पैतृक संपत्ति

---

१. बाँसखेड़ा का अभिलेख, एइ०, जिल्द ४, पृष्ठ २११।

२. वाटर्स्, जिल्द १, पृ० १७६।

३. जीवनी, पृ० ७३ तथा ८६-९०।

४. वाटर्स्, जिल्द १, पृ० १७६।

केन्द्रीय नगर थे। **रत्नावली** नाटिका से कौशांबीभुक्ति की जानकारी होती है, जो प्रयाग के आस-पास के कुछ जिलों से बनी होगी। गुप्तों के समय में उत्तरी बंगाल की पुंड्रवर्धनभुक्ति बड़ी प्रसिद्ध थी। असंभव नहीं कि शशांक पर विजय प्राप्त कर लेने के बाद हर्ष ने भी वहाँ से पूर्वी प्रदेशों के शासन की व्यवस्था की हो। गुप्तों के समय से ही **उपरिक** अथवा **उपरिक महाराज** इन भुक्तियों का उत्तरदायित्व निबाहते थे और वे हर्ष के अभिलेखों से भी ज्ञात होते हैं। साथ[१] ही उनमें **राजस्थानीय** नामक अधिकारी का उल्लेख है। असंभव नहीं कि यह प्रांतपतियों का दूसरा पदनाम हो। समसामयिक अभिलेखों में **भोगिक** नामक अधिकारी का उल्लेख है। फ्लीट महोदय के मतानुसार यह पद भुक्ति के प्रधान अधिकारी का बोधक था।[२] प्रांतपति का अपना प्रधान कार्यालय (अधिकरण) होता था।

विषय—भुक्तियों में अनेक **विषय** होते थे जो आधुनिक जिलों की तरह रहे होंगे। मधुबन अभिलेख से कुण्डधानी विषय और बाँसखेड़ा से अंगदीया विषय की जानकारी होती है। विषयों के अधिकारी **विषयपति** कहे जाते थे। **विषयपति प्रायः** प्रांतपति के द्वारा नियुक्त (तन्नियुक्त) होता था, किंतु कभी-कभी उसकी नियुक्ति सीधे सम्राट् द्वारा भी होती थी।[३] **विषयपति** के प्रधान कार्यालय को **विषयाधिकरण** कहा जाता था।

पथक—प्रत्येक विषय में कई **पथ** होते थे जो कदाचित् आजकल की तहसीलों के समान थे।

ग्राम—प्रशासन की सबसे छोटी किंतु अत्यधिक महत्त्वपूर्ण इकाई ग्राम की होती थी। मधुबन अभिलेख का सोमकुंडा गाँव ऐसी ही एक इकाई था। गाँव का मुखिया और ग्रामशासन का प्रधान **महत्तर** कहलाता था। उसके मुख्य कार्य थे ग्राम में शांति रखना, राजस्व की वसूली तथा अन्य स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति। ग्राम की भूमि तथा अन्य संपत्तियों से संबंधित कागजपत्रों को भली प्रकार रखने के लिए **ग्रामाक्षपटलिक** नामक एक दूसरा व्यक्ति होता था, जो अवश्य ही ग्रामिक का सहयोगी रहा होगा। **हर्षचरित** में यह कहा गया[४] है कि हर्ष की दिग्विजय-यात्रा में जहाँ पहला पड़ाव पड़ा, उस गाँव के कागजपत्रों को लिखनेवाले अधिकारी ने अपने अनेक सहयोगी करणिकों

---

१. एइ०, जिल्द १, पृ० ६७ और आगे, जिल्द ४, पृ० १२१।

२. कार्पस्, जिल्द ३, पृ० १, पादटिप्पणी २।

३. देखिए, बसाक, हिस्ट्री ऑफ् नार्थ ईष्ट इण्डिया, पृ० ३०९; एइ०, जिल्द २, पृ० ८०।

४. हर्षचरित, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २०३; कॉवेल और टॉमस्, पृ० १९८; चि० वि० वैद्य, हिमेहिइ०, जिल्द १, पृ० १३१।

निश्चित हो चुकी है। प्रत्येक नागरिक अपनी आवश्यकताओं को इच्छानुकूल ढंग से सम्पादित कर रहा है।"

संस्कृति और साहित्य का उन्नयन

श्वान्-च्वांग ने हर्ष की विभिन्न सांस्कृतिक अभिरुचियों की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। वह कहता है[1] कि हर्ष 'प्रत्येक पाँचवें वर्ष मोक्ष (परिषद्) नामक एक विराट् सम्मेलन आयोजित करता था, जहाँ वह अपना सारा राजकोष दान में खाली कर देता था। केवल सैनिकों के शस्त्र बच जाते, जो दान के उपयुक्त थे ही नहीं। सारे देश के श्रमणों और ब्राह्मणों को वह प्रत्येक वर्ष आमंत्रित करता तथा तीसरे और सातवें दिन उन्हें भोजन, पेय, औषधि और वस्त्र के चतुर्विध दान देता था। वह स्वयं धर्मासन पर बैठता और व्याख्याता का काम करता था। वह पंडितों को शास्त्रार्थ करने की आज्ञा देता एवं स्वयं उनके तर्कों के प्रबल्य अथवा दौर्बल्य का निर्णय करता था। भलों को वह पुरस्कृत करता एवं दुष्टों को दण्ड देता था। वह नीचता को गर्हित करता और मेधावी पुरुषों को प्रश्रय देता था। नैतिक सिद्धान्तों पर चलनेवाला यदि कोई दिखायी देता और साथ ही उच्च बुद्धिविद्या से भी युक्त होता तो वह उसे स्वयं 'सिंहासन' तक ले जाता और उससे धर्मसिद्धान्तों की शिक्षा लेता था। किन्तु यदि कोई जीवन में पवित्र होते हुए भी विद्या-वैशिठ्य से युक्त नहीं होता तो उसका वह आदर तो करता किन्तु विशेष सम्मान न करता था। नैतिक आचरण छोड़कर औचित्य विचार त्याग देने से यदि किसी की बदनामी हो जाती तो वह उसे देश से निकाल देता एवं न तो उसे देखता न उससे बात करता था।'

कन्नौज की धर्मसभा

विशिष्ट विद्वानों और चारित्रिक धर्मवाले व्यक्तियों के हर्ष द्वारा अत्यधिक सम्मान का कदाचित् सबसे बड़ा उदाहरण और पात्र श्वान्-च्वांग् स्वयं सिद्ध हुआ। कन्नौज की धर्मसभा का जो विवरण वह उपस्थित करता है, उससे हर्ष का उसके प्रति आदर, बुद्ध और बौद्धधर्म के प्रति झुकाव और साहित्य एवं दर्शन के उद्घाटन और प्रकाशन का एक समवेत उदाहरण मिलता है। श्वान्-च्वांग् की हर्ष की सबसे पहली भेंट उस समय हुई जब वह कंजंगल में अपना दरबार लगाये था। उसकी आवभगत के बाद हर्ष ने उसे अपने साथ कन्नौज चलने का निमन्त्रण दिया, जहाँ वह एक धर्मसभा आयोजित करने वाला था। कंजंगल से कन्नौज तक हर्ष की यात्रा तथा प्रस्तावित धर्मसभा का विवरण देते हुए श्वान्-च्वांग् कहता है : 'कन्याकुब्ज नगर लौटने के पूर्व शीलादित्य ने एक धर्मसभा बुलायी। लाखों लोगों के आगे उसने गंगा का दक्षिणी किनारा पकड़ा और कुमारराज हजारों लोगों के साथ उसके उत्तरी किनारे से चला। नदी की धारा से बँटे हुए

१. सैम्युअल् बील, जिल्द २ (सुशीलगुप्त प्रकाशन), पृ० २३९।

की रक्षा में लगे रहते थे "[१] स्पष्ट है, जनता सुखी और संपन्न थी तथा शासन का स्वरूप उदार था। राज्य साहित्य और संस्कृति की रक्षा अपना कर्त्तव्य मानता था और उसकी उन्नति में लगे हुये व्यक्तियों और संस्थाओं की सहायता करना उसके दायित्त्वों में मुख्य था। हर्ष ने उड़ीसा के ८० गाँवों की आय वहाँ के प्रसिद्ध विद्वान् बौद्धभिक्षु जयसेन को देने का प्रस्ताव किया[२], जिसे उसने अपनी त्याग-भावना के कारण अस्वीकार कर दिया। सम्राट् ने नालंदा विश्वविद्यालय के भी खर्चों को चलाने के लिए १०० गाँवों की आय दान में दी थी। साथ ही वहाँ उसने एक अत्यन्त भव्य विहार बनवाया, जिसकी दीवारें पीतल की चादरों से ढकी थीं। श्वान्-च्वांग् कहता[३] है कि "तीस वर्षों तक युद्ध और विजय करने के बाद उसने अपने शस्त्र रख दिये और सब जगह शांति से शासन किया। उसके बाद उसने संयम-नियमों का सर्वाधिक पालन किया। धार्मिक गुणों के वृक्ष के बीजारोपण में वह इतना जुट गया कि भोजन और शयन भी छोड़ दिया। उसने पंचभारतों में जीवहत्या और मांसभोजन अक्षम्य अपराध बताकर मना कर दिया तथा गंगा के किनारे उसने कई हजार स्तूपों का निर्माण कराया, जिनमें प्रत्येक १०० फीट ऊँचा था। भारत के सभी नगरों और राजपथों पर उसने पुण्यशालाएँ निर्मित करायीं, उन्हें भोजन और पेयों से भरा तथा यात्रियों एवं आसपास के निर्धन लोगों की निःशुल्क दवा एवं सेवासुश्रूषा के लिए उनमें भिषकों की नियुक्ति की। बुद्ध के सभी स्मारक स्थानों पर उसने संघाराम बनवायें।"

किसी भी प्रशासन की सफलता का प्रमाण तथा साथ ही उसका कारक उच्च जनचारित्र्य होता है। इस दृष्टि से हर्ष अत्यन्त सफल और सौभाग्यशाली था। श्वान्-च्वांग् कहता है[४] कि भारतीय "पवित्र नैतिक सिद्धान्तों" में विश्वास करते हैं। "वे कोई भी वस्तु अनुचित ढंग से नहीं लेते, न्यायोचित मात्रा से अधिक झुकते हैं, पापकर्मों के कारण दूसरे जन्मों में प्राप्त होने फल से भयभीत रहते हैं और प्रस्तुत जन्म में सादा व्यवहार करते हैं। वे धोखा नहीं देते तथा अपनी प्रतिज्ञाओं का पालन करते है।" हर्ष स्वयं अपने राज्य की आदर्श स्थिति को अपनी नाटिका **नागानन्द** में उपस्थित करता हुआ कहता है, "सम्पूर्ण प्रजा उचित मार्ग पर चल रही है। सत्पुरुष अपने अनुकूल मार्ग पर हैं। बन्धु-बाँधव मेरी तरह ही सुख भोग कर रहे हैं। राज्य की सब प्रकार की सुरक्षा

---

१. वहीं, जिल्द १, पृ० ३४३।

२. जीवनी, पृष्ठ १५४।

३. सैम्युअल् बील (सुशीलगुप्त प्रकाशन) जिल्द २, पृष्ठ २३९।

४. वाटर्स्, जिल्द १, पृ० १७१; सेम्युअल् बील, जिल्द १, पृ० ८३।

साथ ही वह उनके एक षडयंत्रकारी वर्ग के उत्सव के अन्तिम दिन धर्मसभा के संघाराम में आग लगा देने और हर्ष को मार डालने की योजना का भी उल्लेख करता है[१], जिसके फलस्वरूप मुख्य षडयंत्रकारी दंडित किए गये और ५०० ब्राह्मण भारत के सीमान्तों में निर्वासित कर दिए गये।

किन्तु हर्ष का श्वान्-च्वांग् के प्रति तथाकथित पक्षपात उसके अप्रतिम पांडित्य और महान् व्यक्तित्त्व के प्रति आदर का प्रदर्शन मात्र था। हर्ष ने प्रसन्न होकर श्वान्-च्वांग् को 'दस हजार स्वर्ण और तीस हजार चाँदी की वस्तुएँ तथा एक सौ अच्छे सूती कपड़ों का उपहार दिया'।[२] चीनी यात्री के इस कथन[३] पर सन्देह व्यक्त किया जा सकता है कि वह (हर्ष) भी महायानी हो गया था। वास्तव में उसने अपने परिवार में प्रायः सर्वदा प्रचलित शैव और आदित्य पंथ का न तो त्याग किया और न अन्य धर्ममतावलंबियों के प्रति उसकी उदारता में ही कोई कमी आयी। यह उसके प्रयाग के मेले के वृत्तांत से स्पष्ट हो जाता है।

प्रयाग का पंचवर्षीय दानोत्सव

श्वान्-च्वांग् की 'जीवनी' से ज्ञात होता[४] है कि हर्ष प्रत्येक पाँचवें वर्ष प्रयाग में एक महान् दानोत्सव (महामोक्षपरिषद) किया करता था। कन्नौज की सभा के तुरन्त बाद उसके छठें उत्सव का समय आ गया और हर्ष ने श्वान्-च्वांग् को भी उसमें सम्मिलित होने का निमन्त्रण दिया। अपने देश लौटने के लिए आतुर होते हुए भी वह चीनी यात्री निमंत्रण ठुकरा न सका और उसमें सम्मिलित हुआ। उसके साथ हर्ष के प्रयाग पहुँचने के पूर्व ही पंचभारतों से वहाँ पाँच लाख श्रमण, निर्ग्रन्थ और ब्राह्मण एवं निर्धन, अनाथ और दीन इकट्ठे हो चुके थे। हर्ष ने सोना, चाँदी, बढ़िया मोती, लाल तथा अन्य मूल्यवान् वस्तुओं के रखने के लिए फूस के अनेक आगार तथा ''रेशमी और सूती कपड़ों के लिए सैकड़ों कोठार'' पहले से स्थापित कर रखे थे। हर्ष के अतिरिक्त कामरूप के राजा भास्करवर्मा, वलभी के राजा ध्रुवभट्ट और अन्य अठारह देशों के

शिक्षाओं से लाभ उठाना चाहते हों उन्हें कोई भय नहीं होगा। अठारह दिनों तक श्वान्-च्वांग् से शास्त्रार्थ करने की किसी की हिम्मत नहीं हुई। किन्तु 'जीवनी' में ब्राह्मणों द्वारा पण्डाल में आग लगाये जाने अथवा हर्ष की हत्या करने के षडयन्त्र की कोई चर्चा नहीं है।

१. बील, पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द २, पृ० १४३-१४४।

२. जीवनी, पृ० १८०।

३. दे० त्रिपाठी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १६३ और आगे; गौरीशंकर चटर्जी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २४८ और आगे।

४. जीवनी, पृ० १८३-१८७।

वे स्थल और जलमार्ग से आगे बढ़े ।–नब्बे दिनों की यात्रा के बाद वे गंगा के पश्चिमी किनारे पर स्थित कन्याकुब्ज पहुँचे' ।

'तत्पश्चात् शीलादित्य की आज्ञा पाकर बीस देशों के राजा अपने-अपने देशों के सर्वप्रसिद्ध श्रमणों और ब्राह्मणों तथा अपने सैनिकों और राजपुरुषों के साथ वहाँ उपस्थित हुए । राजा ने पहले से ही नदी के पश्चिम की ओर एक विशाल संघाराम और उसके पूर्वी तरफ लगभग १०० फीट ऊँचा एक मूल्यवान बुर्ज बनवा रखा था । बीच में उसने बुद्ध की लगभग अपनी ही ऊँचाई की एक स्वर्णप्रतिमा स्थापित की थी । बुर्ज के दक्षिण बुद्ध की प्रतिमा के अभिषेक के लिए उसने बहुमूल्य वेदिका बनायी थी ।' वैशाख मास के पहले दिन से प्रारम्भकर नित्यप्रति सभी श्रमणों और ब्राह्मणों को बढ़िया भोजन और दान देते हुए इक्कीसवें दिन 'उसने एक अत्यधिक सजे हुए हाथी पर उच्चासन में रखी हुई बुद्ध की लगभग तीन फीट ऊँची स्वर्णप्रतिमा का जुलूस निकाला । बायीं ओर शक्र (इन्द्र) के परिधान में छत्र धारण किये हुए स्वयं शीलादित्य चला और दाहिनी ओर धवल चमर लिए हुए ब्रह्मा के परिधान में कुमारराज चला ।' बुद्ध प्रतिमा के आगे १०० कवचयुक्त हाथियों तथा पीछे कवचयुक्त ५०० बड़े-बड़े हाथियों पर गायकों और वादकों के साथ विशाल जुलूस में शीलादित्यराज 'प्रत्येक ओर त्रिरत्नों के आदर में बहुमूल्य वस्तुओं और मोतियों को लुटाता रहा । पुनः, मूर्ति को नहलाकर वह स्वयं उसे कन्धे पर रखकर पश्चिमी बुर्ज में ले गया, जहाँ उसकी उसने हजारों रत्नजटित रेशमी वस्त्रों से पूजा की । एक वृहद् भोज के बाद विभिन्न विद्वानों से अत्यन्त गूढ़ विषयों पर परिष्कृत भाषा में शास्त्रार्थ किया । इसी प्रकार प्रतिदिन वह मूर्ति को ले जाकर पूजता रहा' ।[१]

अन्य अनेक विवरण देता हुआ स्वयं श्वान्-च्वांग् हर्ष के बुद्धदेवता के प्रति पक्षपात की ओर निर्देश करता है, जिससे वहाँ इकट्ठे होने वाले ब्राह्मण असंतुष्ट हो गये ।

---

१. उपर्युक्त विवरण सि-यू-कि से लिया गया है । दे० बील, पूर्वनिर्दिष्ट (सुशीलगुप्त प्रकाशन) जिल्द २, पृ० २४२-४४ । किन्तु श्वान्-च्वांग् की 'जीवनी' में कुछ भिन्न एवं अतिरिक्त ब्यौरे भी प्राप्त होते हैं । तदनुसार, (पृ० १७६ और आगे) श्वान्-च्वांग् की महायान पंथ की व्याख्याओं से प्रभावित होकर उसके व्यापक प्रचार के लिए हर्ष ने कन्नौज की सभा बुलायी थी; उसमें उपस्थित होने वाले राजाओं की संख्या अठारह (बीस नहीं) थी; उसमें तीन हजार हीनयान और महायान के पूर्ण जानकार बौद्ध भिक्षु, तीन हजार ब्राह्मण और निर्ग्रन्थ तथा एक हजार नालन्दा के भिक्षु बुलाये गये थे; सभा में होनेवाले शास्त्रार्थ में श्वान्-च्वांग् विजयी रहा; अप्रसन्न होकर हीनयानिओं ने उसे मार डालने का षड़यन्त्र रचा, जिसकी जानकारी पाकर हर्ष ने उसकी रक्षा के लिए कठोर घोषणा निकाली कि जो कोई भी उसके विरुद्ध बोलेगा उसकी जीभ निकाल ली जायेगी, किन्तु जो उसकी

करने वाला वह केवल नाम से ही हर्ष नहीं था, अपितु साक्षात् वाणी-विलास (सरस्वती का हर्ष) था।' जयदेव[१] उसे भास, कालिदास, बाण और मयूर की श्रेणी में रखता हुआ 'कविताकामिनी का मानो साक्षात् हर्ष' (प्रसन्नता) बताता है। इसी प्रकार अन्य अनेक सन्दर्भों[२] में उसकी काव्यमहिमा अन्य महान् कवियों की समता में बतायी गयी है। किन्तु हर्ष की निजी विद्वता और काव्यशक्ति की इन अनुश्रुतियों के साथ ही कुछ ऐसे भी उल्लेख प्राप्त होते हैं जो यह शंका पैदा करते हैं कि हर्ष के नाम से प्रचलित ग्रन्थ वास्तव में उसकी निजी कृतियाँ न होकर उसके राजदरबारी कवियों और लेखकों की रचनाएँ थीं, जिन्हें उन्होंने कृतज्ञतावश अथवा धन के बदले उसके नाम से प्रचलित कर दिया। ११वीं शती का कश्मीरी लेखक मम्मट **काव्यप्रकाश** में काव्यलेखन के दो प्रयोजनों—यश और धन की प्राप्ति–की चर्चा करता हुआ कालिदास और धावक के दो उदाहरण देता है। वह कहता है कि धावक आदि ने श्री 'हर्ष आदि से धन प्राप्त करने के लिए' काव्यरचना की।[३] कहीं-कहीं धावक के स्थान पर बाण का नाम दिया गया है, 'जो सैकड़ों करोड़ स्वर्ण मुद्राओं से हर्ष द्वारा सम्पूजित हुआ।' किन्तु प्राय: प्रचलित जनश्रुति और प्रसिद्धि यही है कि 'धावक कवि ने **रत्नावली** नामक नाटिका की रचनाकार हर्ष से बहुत धन प्राप्त किया।'[४] जहाँ तक बाण का प्रश्न है, **हर्षचरित** और **कादम्बरी** की कठिन, समासबहुल और आलंकारिक शैली से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह **नागानन्द**, **रत्नावली** अथवा **प्रियदर्शिका** की सरल संस्कृत लिखने का आदी नहीं था। अत: यह नहीं लगता कि उसने इन नाटिकाओं की रचना की। दूसरी ओर उपर्युक्त साहित्यिक प्रवादों के अतिरिक्त धावक का अन्यत्र कहीं नाम नहीं आता। हर्ष के साथ उसके जो भी उल्लेख हैं, वे बहुत बाद के हैं। अत: हर्ष की कृतियों के बारे में यह सन्देह करना निरर्थक है कि वे मूलत: किसी कृपापात्र अन्य कवि की रचनाएँ थीं।

सरस्वतीप्रिय हर्षवर्धन का राजदरबार कवियों और लेखकों का आकर्षण केन्द्र था। उनका सिरमौर बाणभट्ट था, जिसके **हर्षचरित** के ऐतिहासिक मूल्य की चर्चा हम

---

१. यस्याश्चोर: चिकुरनिकुरोकर्णपूरो मयूरो,
   भासोहास: कविकुलगुरु: कालिदासो विलास:।
   हर्षो हर्ष: हृदयवसति: पंचबाणस्तुबाण:,
   केषांनैषाकथय कविताकामिनी कौतुकाय॥
   –प्रसन्नराघव, पूना, १८९४, प्रथम अंक, २२वाँ।
२. सुभाषितरत्नभाण्डागार, बम्बई (१९११), पृ० ३८ श्लोक ६८।
३. काव्यप्रकाश, गंगानाथ झा का अंग्रेजी अनुवाद (१९२५) पृ० १-२।
४. नागोजी, काव्यप्रदीपोद्योत, चन्दोरकर (पूना) सम्पादित, १९८९, पृ० ५; संस्कृत हस्तलिपियों सम्बन्धी भण्डारकर का प्रतिवेदन, १८८२, सं० २०८।

राजाओं के निवास के लिए वहाँ उचित स्थान बने थे । पचहत्तर दिनों तक चलने वाले इस उत्सव का प्रारम्भ एक अत्यन्त भव्य सैनिक जुलूस से हुआ । प्रथम दिन बालुका पर बनी हुई एक अस्थायी वेदिका पर स्थापित बुद्ध की मूर्ति की पूजाकर हर्ष ने भरपूर बहुमूल्य वस्तुएँ और वस्त्र दान किया । दूसरे दिन आदित्य और तीसने दिन शिव की पूजा के साथ वैसी ही वस्तुएँ दान दी गयीं । चौथे दिन से उस विशाल कोष का दान उन बौद्ध भिक्षुओं, बाह्मणों, जैनों और अन्य धर्मावलंबियों को प्रारम्भ हुआ, जो वहाँ इकट्ठे थे । गरीबों, अनाथों और अपाहिजों को भी लगभग एक माह तक दान बँटते रहे । पिछले पाँच वर्षों तक राजकोष में जो भी शासन के व्ययों के अतिरिक्त बचत थी, उसका कुछ भी अब शेष न रहा । केवल सेना ही बच रही, जो राज्य की रक्षा के लिए आवश्यक थी । पुनः, हर्ष ने अपने सारे निजी आभूषण और वस्त्र दान में दे डाले और स्वयं राज्यश्री के पहने हुए कपड़े धारण किये । उपस्थित राजाओं ने उसे जो भेंटे दी, उन्हें भी उसने दान कर दिया ।'

पवित्र तीर्थ प्रयाग में पुण्यलाभ की इच्छा से किया गया हर्ष का यह सर्वस्व दानोत्सव उसकी सर्वधर्मसमत्व की भावनाओं का सबसे बड़ा उदाहरण है । बरबस ही हमें रघु के अवभृथस्नान की स्मृति हो जाती है ।

हर्ष की साहित्यिक अभिरुचि

हर्ष की विद्यागुणग्राहकता का मर्म उसकी निजी विद्वता और साहित्यिक अभिरुचि में निहित था । **नागानन्द, रत्नावली** और **प्रियदर्शिका** नामक तीन संस्कृत की नाटिकाओं के प्रणयन का श्रेय उसे दिया जाता है और संस्कृत साहित्य की ऐतिहासिक अनुश्रुतियों में उसका विशेष स्थान है ।[१] ई-त्सिंग कहता है[२] कि हर्ष ने **नागानन्द** की रचनाकर राजदरबार में अपने सामने उसका अभिनय भी कराया । बाणभट्ट के शब्दों में वह 'काव्यकथाओं (गोष्ठियों) में ऐसा अमृत बरसाता था जो उसकी अपनी संपत्ति थी, न कि किसी दूसरे से प्राप्त हुई थी ।'[३] ११वीं शती का कवि सोड्ढल अपने ग्रन्थ **अवन्तिसुन्दरीकथा**[४] में उसे विक्रमादित्य, मुंज, भोज जैसे कवीन्द्रों की श्रेणी में रखते हुए कहता है कि 'सैकड़ों करोड़ स्वर्ण-मुद्राओं से अपनी सभा में बाणभट्ट को संपूजित

---

१. कीथ, संस्कृत ड्रामा (१९२४), पृ० १७०-१८१; इऐ० जि० २, पृ० १२७-८ ।

२. तकाकुशु, पृ० १६३, १६४ ।

३. हर्षचरित, कॉवेल और टॉमस्, पृ० ५८ (अंग्रेजी अनुवाद) । मूल पाठ है– काव्यकथास्वपीतममृतमुदमन्तम् ।

४. श्रीहर्षइत्यवनिवर्तिषु पार्थिवेषु नाम्नैव केवलमजायतवस्तुतस्तु ।
गिर्हर्षयेषु निजसंसदि येन राज्ञा सम्पूजितः कनककोटिशतेन बाणः ।।
–गायकवाड प्राच्य ग्रन्थमाला में प्रकाशित, सं० ११, पृ० २, और १५० ।

थे । उसके पाठ्य विषयों में महायान के 'अठारह सम्प्रदायों के सिद्धांत, वेद, हेतुविद्या, शब्दविद्या, चिकित्सा विद्या, अथर्ववेद और सांख्य' सहित अनेकानेक शास्त्र सम्मिलित थे । श्वान्-च्वांग् ने स्वयं वहाँ रहकर बौद्ध शास्त्रों का अध्ययन किया और बाद में वहाँ अध्यापन कार्य भी किया । उसके द्वारा गिनाये गये शास्त्रों के नामों से स्पष्ट है कि नालन्दा महाविहार यद्यपि बौद्ध शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था, वहाँ ब्राह्मण दर्शन और साहित्य के अध्ययन-अध्यापन की उपेक्षा नहीं थी । हर्ष के समय शीलभद्र उसका कुलपति था । नालन्दा विश्वविद्यालय के यश और गौरव का साधारण जनमानस और उद्‌बुद्ध वर्ग पर इतना प्रभाव था कि उसका स्नातक मात्र होना किसी को भी औरों की श्रद्धा और आदर का पात्र बना देता था ।

इस अध्याय के प्रारम्भ में कर चुके हैं। उसकी दूसरी प्रमुख कृति **कादम्बरी** है, जिसका पूर्वभाग ही वह पूरा कर सका। सौभाग्य से भूषणभट्ट नामक उसका एक योग्य पुत्र था, जिसने प्रायः उसी की शैली में उसका उत्तरभाग पूरा किया। **कादम्बरी** कदाचित् संस्कृत साहित्य का सबसे बड़ा गद्यकाव्य है। **चण्डीशतक** और **पार्वतीपरिणय** नामक बाणभट्ट की दो अन्य कृतियाँ थीं। बाणभट्ट के अतिरिक्त हर्ष के राजदरबारी कवियों में मयूरभट्ट और मातंगदिवाकर के नाम ज्ञात होते हैं।[१] मयूरभट्टकृत **मयूरशतक** और **सूर्यशतक** प्रसिद्ध काव्य ग्रन्थ हैं, किन्तु दुर्भाग्यवश मातंगदिवाकर की किसी कृति की अब तक जानकारी नहीं हो सकी है। धावक नामक एक अन्य कवि ने भी हर्ष का राज्याश्रय प्राप्त किया था।

नालन्दा

कवियों, लेखकों और शिक्षा को दिये जानेवाले हर्ष के राज्याश्रय का सबसे बड़ा नमूना नालन्दा विश्वविद्यालय था। देश के भीतर ही नहीं, अपितु देश के बाहर भी अत्यधिक ख्याति अर्जित कर चुकनेवाले इस महान् विद्याकेन्द्र के जो विवरण[२] **सि-यू-कि** अथवा श्वान्-च्वांग् की 'जीवनी' से प्राप्त होते हैं, उनका अत्यन्त संक्षिप्त उल्लेख मात्र दे सकना यहाँ संभव है। प्रथम कुमारगुप्त (शक्रादित्य) के समय में स्थापित यह महाविहार (विश्वविद्यालय) मगध और मध्यदेश के अनेक राजाओं के दानों-अनुदानों से पलता रहा। हर्ष ने भी १०० गाँवों की आय उसके खर्चों के लिए दान दी थी। इसके अतिरिक्त, नालन्दा महाविहार के मुख्य भवन की बगल में ही उसने लगभग एक सौ फीट ऊँचा एक भव्यविहार बनवाकार अपनी श्रद्धाओं का परिचय दिया। श्वान्-च्वांग् कहता है कि इस नवनिर्मित विहार की दीवारें पीतल की चादरों से जड़ी थीं। वहाँ के एक हजार अध्यापक और दस हजार विद्यार्थियों के विशाल विद्वद्समुदाय को मुफ्त भोजन, दवा और वस्त्र राज्य और जनता की उदारता से प्राप्त थे। विदेशों सहित दूर-दूर से विद्यार्थी 'अपने संशयों का निवारण करने' वहाँ आते थे। उसके शैक्षिक स्तर की उच्चता का अनुमान श्वान्-च्वांग् के इस कथन से लगाया जा सकता है कि उसमें प्रवेश चाहनेवाला प्रत्येक विद्यार्थी एक कठिन प्रवेश-परीक्षा उत्तीर्ण करने पर ही प्रवेश पा सकता था। तत्सम्बन्धी वादविवाद इतना कठोर था कि बहुत प्रवेशार्थी निराश होकर लौटने को विवश

---

१. अहो प्रभावोवाग्देव्याः यन्मातंगादिवाकरः।
श्रीहर्षस्याभवत् सम्यः समो बाणमयूरयोः। **–सारंगधरपद्धति।**

२. इस सम्बन्ध में देखिए, वाटर्स्, पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द २, पृ० १६५; बील, प्रथम संस्करण, जिल्द २, पृ० १८०; जीवनी, पृ० ११८ और आगे; सांकलिया, दि यूनिवर्सिटी ऑफ् नालन्दा।

पास ६४१ और ६४३ ई० में दूतमंडल आये । ६४५ ई० में श्वान्-च्वांग् जब भारत से लौटकर गया तो उसकी 'मगध के राजा' हर्ष शीलादित्य की प्रशंसाओं से प्रभावित होकर चीनी सम्राट् ने ६४६ ई० में तीसरा दूतमंडल भेजा । उसका नेता था वैंङ्ग-ह्वान्-शे, जो दूसरे दूतमंडल का भी सदस्य रह चुका था । लेकिन जब वह भारत पहुँचा तो हर्ष की मृत्यु हो चुकी थी (६४७-४८) और उसके मंत्री अर्जुन अथवा अरुणाश्व (अ-ल-न-शुन) ने राजगद्दी हड़प ली थी । मा-ट्वान्-लिन् उसे तीरभुक्ति (तिनो-फो-ति) का राजा भी कहता है । उसने सैनिकों को भेजकर चीनी दूतमंडल को देश में घुसने से रोका, लूटा और कैद कर लिया । वैङ्ग-ह्वान्-शे ने रात को चुपके से भागकर किसी तरह अपना प्राण बचाया, किंतु बदला लेने के लिए तिब्बत और नेपाल से उसने सहायताएँ माँगी । तिब्बत में उस समय श्राङ्ग्ब्तुशान्-स्रौम्पो शासक था । उसने १२०० चुने हुए सिपाही दिये तथा नेपाल नरेश अंशुवर्मा ने ७००० घुड़सवार दिये । इनकी मदद से वैंङ्ग-ह्वान्-शे ने च-पु-होलो (छपरा ?)[१] नामक नगर पर धावा बोल दिया । नगर के भीतर घिरे हुए ३००० सिपाही मार डाले गए और अर्जुन भागा । किंतु पुनः अपनी सेनाएँ इकट्ठीकर उसने दूसरा मोर्चा लिया, जिसमें उसके १००० और योद्धा खेत रहे । वैंङ्ग-ह्वान्-शे विजय करता हुआ लिन्-टो-वेई (गंडकी=बड़ीगंडक) नदी पार कर गया । उसने १२००० कैदी बनाये और अर्जुन के रनिवास की सभी स्त्रियाँ उसके हाथ लगीं । भय के कारण भारत के ५८० नगरों ने उसकी अधीनता मान ली । श्रीकुमार (असम के भास्करवर्मा) ने भी अधीनतासूचक भेंटें भेजीं । अर्जुन स्वयं कैदकर चीन ले जाया गया, जहाँ जेल में ही उसकी मृत्यु हो गयी ।[२] किंतु मृत्यु के बाद उसका वहाँ काफी सम्मान हुआ ।

मा-ट्वान्-लिन् के उपर्युक्त कथन में कितना इतिहास है, यह कह सकना कठिन है । कुछ थोड़े से विदेशी लोगों का एक साधारण दूतमंडल अनायास लूटा और कैद किया जाय, यह बात समझ में नहीं आती । इसका कोई न कोई कारण अवश्य रहा होगा ।

लिए लिखी मिलती हैं', जिनका चीन से कोई सीधा राजनीतिक सम्बन्ध नहीं था । हर्ष जैसा सम्राट् दूरस्थ चीनी सम्राट् की अधीनता मानने के लिए विवश हुआ हो, यह असम्भव दिखता है ।

१. डॉ० बुद्धप्रकाश इस नगर की पहचान कन्नौज से करते हैं (ऐस्पेक्ट्स् ऑफ् इंडियन् हिस्ट्री ऐण्ड सिविलाइज़ेशन्, पृ० १०१)। किन्तु यह सही नहीं जान पड़ता ।

२. इस सम्बन्ध में देखिए जराएसो०, १८८०, पृष्ठ ५२८; स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री, पृष्ठ ३६७; र० चं० मजुमदार, हिस्ट्री ऑफ् बेंगाल, जिल्द १ पृष्ठ ९२ ।

३

हर्ष की मृत्यु के बाद की शताब्दी का मध्यदेश

हर्ष साम्राज्य के खण्डहरों पर

हर्ष की मृत्यु (६४७-६४८ ई०) के बाद उसका साम्राज्य जितनी जल्दी ढह गया, वैसा कदाचित् ही कभी भारत के इतिहास में हुआ हो। इसका सर्वप्रथम कारण यह था कि वह अपने पीछे कोई उत्तराधिकारी नहीं छोड़ गया। उस राजनीतिक शून्य का लाभ उठाकर वे सभी क्षेत्र स्वतन्त्र होने का प्रयत्न करने लगे, जिन्हें उसने अपने अधिकार में संघठित कर रखा था। कन्नौज का साम्राज्य समाप्त हो गया और उसका अधिकार क्षेत्र काफी सीमित हो गया तथा मगध, बंगाल और उड़ीसा उससे अलग हो गये। हर्ष के साम्राज्य के खंडहरों पर उठनेवाले नये राज्यों के अतिरिक्त अनेक स्वतंत्र राज्य पहले से ही चले आ रहे थे। उन्होंने भी अपनी सत्ता बढ़ाने का प्रयत्न किया। राजपूताना एवं पश्चिमी भारत से कुछ नये राजवंश निकले, जो आगे चलकर बारी-बारी साम्राज्यपद प्राप्तकर उत्तरी भारत की प्रमुख सत्ता बन गये। इनकी चर्चा यथाक्रम आगे करते हुए हम यह देखेंगे कि किस प्रकार हर्षोत्तर युग में केन्द्रीय सत्ता का अभाव हो गया और विघटन की प्रवृत्तियों के कारण देश का राजनीतिक जीवन शिथिल हो गया।

वैङ्ग-ह्वान्-शे का आक्रमण

श्वान्-च्वांग् के माध्यम से हर्ष का चीन के शासक से संबंध स्थापित हो गया था और दोनों में दूतमंडलों का आदान प्रदान होने लगा। उनका विवरण १३वीं शताब्दी के मा-ट्वान्-लिन् नामक चीनी लेखक से प्राप्त होता है।[१] उसके वर्णनों में कुछ अतिरंजन अवश्य है[२], तथापि उनकी आधारभूत ऐतिहासिक बातें ये हैं कि चीन से हर्ष के

---

१. देखिए—जर्नल ऑफ् दि एशियाटिक सोसायटी आफ् बेंगाल, जिल्द ६, पृष्ठ ६९; प्र० च० बाग्ची, सिनो-इण्डियन् स्टडीज्, जिल्द १, पृ० ६९।

२. मा-ट्वान्-लिन् के अनुसार चीन के सम्राट् ने ६४१ ई० में अपना एक दूतमंडल भेजकर हर्ष (शीलादित्य) को अधीनता स्वीकार करने की आज्ञा भेजी, जिसे हर्ष ने झुककर शिरोधार्य किया। किन्तु इस दावे को कोई महत्त्व नहीं दिया जा सकता, क्योंकि ऐसी बातें चीनी इतिहास में प्रायः कई ऐसे विदेशी राजाओं अथवा राज्यों के

चकिया क्षेत्र के इलिया नामक गाँव से मिला है।[१] लगता है अरुणाश्व के बाद इन सबने कन्नौज के आसपास के क्षेत्रों पर शासन किया था। किन्तु उनका ठीक ठीक तिथिक्रम निश्चित कर सकना तब तक कठिन होगा जब तक कुछ प्रामाणिक साधन नहीं उपलब्ध हो जाते।

यशोवर्मा

सातवीं शती के अंत अथवा आठवीं शती के प्रारम्भ में कन्नौज पर यशोवर्मा नामक एक शक्तिशाली शासक ने अधिकार किया। उसकी विजयों का वर्णन उसके राजदरबारी कवि वाक्पति के **गउडवहो**[२] में मिलता है। यद्यपि **गउडवहो** प्राकृतभाषा का एक ऐतिहासिक काव्य है, इसमें **हर्षचरित** जैसे गठन का अभाव है, इसमें न तो अध्याय हैं और न सर्ग या उच्छ्वास। केवल श्लोक संख्यागत रूप में बढ़ते जाते हैं। बीच-बीच में कुलक नामक कुछ विभाजन जरूर मिलते हैं लेकिन उन विभाजनों का कोई विषयगत अथवा संख्यागत आधार नहीं है। जैसे नाम से ही विदित है, इसका मुख्य वर्ण्य-विषय है विजयोपरांत गौडराज का यशोवर्मा द्वारा वध। किंतु उस मुख्य घटना की भी चर्चा चार या पाँच श्लोकों से अधिक में नहीं मिलती।[३] यशोवर्मा की अन्य विजयों (विजययात्रा) की चर्चाएँ अवश्य हैं। प्रारंभ में अनेक देवी-देवताओं की प्रार्थनाएँ तथा उनके स्वरूपों के पीछे की दार्शनिक भावनाओं का प्रकाशन है। बीच-बीच में जो प्रकृति के वर्णन हैं, वे काफी मनोरम, मौलिक और जीवंत हैं। **हर्षचरित** में तिथियों के अभाव का जो दोष दिखायी देता है, वह **गउडवहो** में भी है। साथ ही, उसमें काव्यात्मक महत्त्व के अभाव की ही तरह ऐतिहासिक महत्त्व की भी कमी[४] है। कवि हमें यशोवर्मा की विजयों का कोई विशेष ब्यौरा नहीं देता, यहाँ तक कि गौडदेश के विजित और हत राजा का नाम तक नहीं दिया गया है। कुछ विद्वानों का मत है कि प्रस्तुत **गउडवहो** वाक्पति द्वारा यशोवर्मा की विजयों के वर्णनों की भूमिका मात्र है। किन्तु उस तथाकथित पूर्ण विवरण वाली कोई पुस्तक अब तक मिली नहीं है। संभवतः **गउडवहो** के आधार

---

१. एइ०, जिल्द ३४, पृ० २४६-२४७।

२. इसका पहला संस्करण शंकर पाण्डुरंग पण्डित ने एक विद्वत्तापूर्ण भूमिका के साथ निकाला (बम्बई संस्कृत और प्राकृत ग्रंथमाला, सं० ३४)। बाद में उत्गीकर ने आधुनिक ऐतिहासिक ज्ञान को समाविष्ट करते हुए एक अनुपूरक भूमिका के साथ उसका दूसरा संस्करण (पुनर्मुद्रण) निकाला (पूना, १९२७ ई०)।

३. ब्हूलर (शं० पा० पण्डित द्वारा गउडवहो की भूमिका में उद्धृत, पृ० २३९) का यह कथन है कि गउडवहो के लेखक ने इधर उधर की बातों पर तो बहुत ध्यान दिया है, किन्तु ऐतिहासिक बातों को बहुत कम स्थान दिया है।

४. देखिए ब्हूलर, वियना ओरियन्टल् जर्नल्, जिल्द २, पृ० ३२८-३४०।

पुनः, उसका नेता अकेले भागकर चीन से इतनी दूर रास्ते के दो राज्यों से प्राप्त सैनिकों के बल पर भारत के हृदयस्थल को रौंदता हुआ हर्ष साम्राज्य के भोक्ता को दो युद्धों में बुरी तरह हरावे, ५८० नगरों को भयत्रस्त कर अधीनता स्वीकार करने को विवश करे तथा पराजित राजा के साथ १२००० कैदियों को लेकर केवल १ साल के भीतर पुनः चीन लौट जाय, यह कुछ पहेली सी जान पड़ती है–विशेषतः उस व्यक्ति के सम्बन्ध में जो स्वयं चीन से कोई सेना लेकर न आया हो। यदि यह सत्य हो तो कदाचित् वैंङ्ग–ह्वान्–शे का अभियान भारत पर होनेवाला चीन का सबसे बड़ा आक्रमण कहा जा सकेगा। लगता है, यह आक्रमण नेपाल से होकर बिहार के रास्ते हुआ था और चीनी सेनाएँ बड़ी गंडक को पारकर मिथिला, अंग और मगध तक आ गयीं थीं। वे कन्नौज तक पहुँची, इसका कोई प्रमाण नहीं है। इस सम्बन्ध में टेंपुल महोदय के इस मत (इऐ०, १९१६, पृ० ३९) का कोई आधार नहीं ज्ञात होता कि तिब्बतियों का शासन बंगाल तक व्याप्त हो गया था। वास्तविकता तो यह है कि भारतीय साहित्य में कहीं भी इस चीनी–तिब्बती अभियान की चर्चा नहीं है। डॉ० मजुमदार का मत है[1] कि हर्ष के बाद साम्राज्य के बँटवारे के लिए महत्त्वाकांक्षी प्रतिस्पर्द्धियों में जो संघर्ष हुए उनमें किसी ओर से वैंङ्ग–ह्वान्–शे ने भी भाग लिया था और उसको अर्जुन से संघर्ष करना पड़ा। किन्तु यह युद्ध अपनी भंयकरता और परिणामों में इतना बड़ा नहीं था, जितना मा–ट्वान्–लिन् के विवरण से लगता है। नेपाल और तिब्बत के इतिहास में भी उसकी कहीं कोई चर्चा नहीं है। केवल इतना प्रतीत होता है कि हर्ष की मृत्यु के बाद मगध के आसपास के प्रदेश राजनीतिक अव्यवस्था के शिकार हो गये।

मौखरि शासक

अरुणाश्व ने हर्ष साम्राज्य के केवल उत्तर–पूर्वी (बिहार वाले) भागों पर अधिकार किया था अथवा उसके कुछ अन्य प्रदेशों पर भी, यह ज्ञात नहीं होता। राजधानी कन्नौज के बारे में भी कोई स्पष्ट जानकारी नहीं मिलती। किन्तु हाल में मिले हुए कुछ अभिलेखों से प्रतीत होता है कि मौखरियों ने पुनः उसपर अधिकार कर लिया। सुचन्द्रवर्मा नामक राजा की एक मुद्रा मिली है।[2] वह अंवतिवर्मा का पुत्र और ग्रहवर्मा का भाई था। भोगवर्मा नामक एक अन्य राजा को वीर 'मौखरिकुल का मुकुटमणि' कहा गया है।[3] उसने नेपाल और मगध के राजकुलों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये। मनोरथवर्मा नामक तीसरे राजा का एक अभिलेख अभी हाल में वाराणसी जिले के

---

१. क्लासिकल् एज, पृ० १२५–६; चि० वि० वैद्य भी इस घटना की सत्यता में विश्वास नहीं करते। हिस्ट्री ऑफ् हिन्दू मेडिवल् इण्डिया, जिल्द १, पृ० ३३४–५।

२. एइ०, जिल्द २४, पृ० २८४।

३. इऐ०, जिल्द ९, पृ० १८१।

ही थे[१]। उसके और मौखरि राजाओं के एककुलत्त्व के बारे में उनके नामान्त की समता मात्र के अलावा कोई निश्चित प्रमाण नहीं है।

यशोवर्मा की विजयें

गउडवहो के आधार पर यशोवर्मा की विजयों का निम्नलिखित संक्षेप किया जा सकता है। वर्षान्त के अन्त में उसने विजययात्रा प्रारम्भ की। सोन नदी की घाटी तथा विंध्यपर्वत की विंध्यवासिनी देवी (आधुनिक मिर्जापुर के पास विंध्याचल नगर) के स्थान से होता हुआ वह मगध की ओर गया। **मगहनाह** अर्थात् मगध का राजा डर के मारे भागा, किन्तु पकड़ा गया और मारा गया। तत्पश्चात् यशोवर्मा की सेनाएँ वंग की ओर बढ़ीं, जहाँ के राजा ने उसकी अधीनता मान ली। वहाँ से दक्षिण की ओर बढ़ता हुआ वह मलय पर्वत को पार कर गया। दक्षिणापथ के राजाओं ने भी उसकी अधिसत्ता स्वीकार कर ली। वहाँ से वह पारसीकों के देश की ओर गया और एक घोर युद्ध में उन्हें परास्त किया तथा पश्चिमी घाट के क्षेत्रों से कर वसूल किया। नर्मदा और समुद्री किनारों से होता हुआ वह मरुदेश (राजपूताना के मारवाड़) की ओर लौटा, जहाँ से पुनः श्रीकण्ठ (थानेश्वर) और कुरुक्षेत्र होता हुआ अयोध्या पहुँचा। पुनः, वहाँ से हिमालय की तलहटियों के प्रदेशों को जीतते हुए उसने कन्नौज लौटकर अपनी दिग्विजय पूरी की।

वाक्पति का यशोवर्मा की विजयों का उपर्युक्त वर्णन कितना ऐतिहासिक है, इस विषय पर विद्वानों में मतभेद है। यद्यपि स्मिथ महोदय ने इस बात को माना[२] कि मध्यदेश के यशोवर्मा जैसे एक शक्तिशाली राजा के लिए पूर्व में बंगाल तक, दक्षिण में नर्मदा तक और उत्तर में हिमालय की तलहटियों तक विजय करता हुआ चला जाना असम्भव नहीं था, त्रिपाठी महोदय[३] **गउडवहो** के उल्लेख को वास्तविक घटना नहीं अपितु कवि की काव्यात्मकता का परिचय मात्र मानते हैं, जो ऐतिहासिक सम्भावना पर आधारित हो सकता है। यह सही है कि ऐसे कवि-विवरण प्राचीन दिग्विजयी राजाओं के बारे में प्रायः मिलते हैं तथा कन्नौज के एक शक्तिशाली राजा के लिए ये विजयें असम्भव नहीं दिखतीं और **गउडवहो** के विवरणों का अप्रत्यक्ष समर्थन यशोवर्मा के समय कन्नौज आने वाले चीनी यात्री हुई-चाओ के इस कथन से होता है कि 'उस मध्य-भारतीय राजा के शासित क्षेत्र अत्यन्त विशाल थे, राजा प्रायः स्वयं युद्धों में सेनाओं

---

१. उनकी उत्पत्ति के लिए देखें, डॉ० त्रिपाठी, पूर्वनिर्दिष्ट पृष्ठ २९-३०।

२. जराएसो०, १९०८, पृष्ठ ७७९।

३. पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २००।

पर ही आगे चलकर जैनों ने अनेक प्राकृत-संस्कृत काव्यों में यशोवर्मन् की चर्चाएँ कीं। उनमें प्रमुख हैं **वप्पभट्टसूरिचरित** (१३वीं-१४वीं शती), राजशेखरकृत **प्रबन्धकोष** (१३वीं-१४वीं शती), प्रभाचंद्र का **प्रभावकचरित** (१३वीं-१४वीं शती) और जिनप्रभसूरि का **तीर्थकल्प** (१४वीं शती)। इनके अतिरिक्त, कल्हण की **राजतरंगिणी** में यशोवर्मा और कश्मीर के राजा ललितादित्य **मुक्तापीड** के युद्ध का वर्णन आता है।

यशोवर्मा के इतिहास के बारे में हमें अनेक चीनी ग्रंथों से भी सहायता मिलती है। ऐसे ग्रंथों की संख्या कम से कम पाँच है, जिनका उल्लेख जन्-युन्-हुआ महोदय ने अभी हाल में किया है[१]। इनमें से एक तो हुइ-चाओ नामक एक कोरियायी बौद्ध भिक्षु द्वारा अपनी भारत और मध्य एशिया की यात्रा से लौटने के बाद ७२७ ई० में लिखा गया था। यशोवर्मा की इस समकालिक कृति का अब तक कोई उपयोग इस कारण नहीं हो सका है कि इसका अब तक कोई अंग्रेजी अथवा भारतीय भाषाओं में रूपांतर नहीं है। अन्य ग्रन्थ हैं-ल्यू-शी के नेतृत्व में संकलित 'शांग्वंश का प्राचीन इतिहास' (९४५ ई०); वैंग-पू द्वारा संकलित 'शांगवंश के विधान' (९६१ ई०); वैंग-चिन्-जो और यांग-यि द्वारा संकलित 'शाही राजपत्रालय के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आलेख' (१००५-१०१३ ई०) और यू-यांग-श्यू एवं सुंग्-चि द्वारा संकलित 'शांग्वंश का नवीन इतिहास' (१०६० ई०)। इनमें यशोवर्मा और कश्मीर के उसके समकालिक राजा ललितादित्य **मुक्तापीड** संबंधी अनेक उल्लेख हैं, जिनसे उनके आंतरिक इतिहास पर तो प्रकाश पड़ता ही है, चीन के सम्राट से उन दोनों के संबंधों का भी ज्ञान प्राप्त होता है।

यशोवर्मा का किसी राजवंश से संबंध था या नहीं, यह निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता। **गउडवहो** में उसे चंद्रवंशी कहा गया है[२]। जैन ग्रंथों में उसे चन्द्रगुप्त मौर्य के वंश का कहा गया है[३]। कुछ विद्वान् इस बात की सम्भावना मानते हैं[४] कि वह मौखरिकुल से सम्बन्धित था। किन्तु इस बात का निश्चय नहीं है कि मौखरि चन्द्रवंशी

---

१. जर्नल् ऑफ् इण्डियन् हिस्ट्री, जिल्द ४५, भाग १ (१९६७), पृष्ठ १६२-१६३।

२. श्लोक संख्या १०६४-१०६५।

३. देखिए, त्रिपाठी, हिस्ट्री ऑफ् कनौज, पृ० १९४; वप्पभट्टसूरिचरित, पंचम, १३।

४. बुद्धप्रकाश, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १०२-३; जर्नल् ऑफ् मद्रास यूनिवर्सिटी, जिल्द १३, पृ० १४७; कलकत्ता रिव्यू, १९२८, पृ० २१६; जर्नल् ऑफ् इण्डियन् हिस्ट्री, जिल्द ५, पृ० ३२५-३२६; आसरि०, १५वाँ, पृष्ठ १६४।

अपने पिता विनयादित्व के समय किसी **सकलोत्तरापथनाथ** को युद्ध में हराया और उससे गंगा–यमुना का प्रतीक **पालिध्वज** प्राप्त किया। यह युद्ध कहाँ हुआ, यह ज्ञात नहीं है। साथ ही यह भी निश्चित नहीं है कि चालुक्यों ने वास्तव में विजय की ही। किन्तु यह असंभव नहीं कि उन्होंने उत्तर भारत के किसी शक्तिशाली राजा (**सकलोत्तरापथनाथ**) से युद्ध किया हो और वह राजा यशोवर्मा ही रहा हो[१]। **गउडवहो** के पारसीक फारस के रहनेवाले नहीं अपितु पश्चिम की ओर आधुनिक सिंध में रहनेवाली किसी विदेशी जाति (कदाचित् अरब) के लोग थे। सम्भव है कि उसकी कोई मुठभेड़ उनसे हुई हो। मरुदेश, श्रीकण्ठ और कुरुक्षेत्र कन्नौज के पूर्ववर्ती सम्राट् हर्ष के अधिकार में रह चुके थे और उनसे होकर विजयी सेनाओं को ले जाना यशोवर्मा की दृष्टि में अपने ही क्षेत्रों में वापस लौटना रहा होगा। नालन्दा अभिलेख[२] में उसके मंत्री को **उदीचीपति** (उत्तर दिशा का रक्षक), **मार्गपति** (सीमाओं का रक्षक) तथा **प्रतीततिकिन** (?) कहा गया है। हुई–चाओ का भी कथन है कि यशोवर्मा ने पंजाब के कुछ भागों पर आक्रमण कर उन्हें अपने राज्य में मिला लिया था[३]। इससे यह भी परिलक्षित होता है कि पंजाब पर उसकी विजयें उसके मगध–अभियान के पूर्व सम्पन्न हो चुकी थीं।

ललितादित्य से पराजय

यशोवर्मा (इ–श–फो–मो) ने चीन से भी सम्बन्ध स्थापित किया। चीनी वृत्तों में उसे मध्यभारत का शासक कहा गया है। उसने बौद्ध भिक्षु फु अथवा पो–ट–सिन्=बुद्धसेन को ७३९ ई० में चीनी सम्राट् (ह्वेन–शुंग, ७१३–७५५ ई०) के दरबार में भेजा[४]। ७३६ ई० में कश्मीर के शासक ललितादित्य **मुक्तापीड** ने भी वहाँ अपना दूत भेजा[५]। तबतक यशोवर्मा और ललितादित्य दोनों ही परस्पर मित्र थे और तिब्बतियों के

---

१. वि० प्र० सिनहा (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३०५) उसकी पहचान मगध के देवगुप्त से करते हैं।

२. पुत्रो मार्गपतेः प्रतीततिकनोदीचीपतेर्मन्त्रिणः। एइ०, जिल्द २०, पृ० ३७, श्लोक संख्या ३।

३. जर्नल ऑफ् इण्डियन् हिस्ट्री, जिल्द ४५, भाग १, पृष्ठ १७०।

४. प्र० चं० बाग्ची, सिनो–इण्डियन् स्टडीज; जिल्द १, पृ० ७१। जुन्–युन्–हुआ महोदय दूत का नाम भट्टसेन बताते हैं (जर्नल ऑफ् इण्डियन् हिस्ट्री, जिल्द ४५, भाग १, पृष्ठ १६७।

५. बाग्ची, पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द १, पृ० ७१; जन्–युन्–हुआ, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १७२।

का नेतृत्त्व करता था, उसकी अन्य राजाओं से प्राय: मुठभेड़ें होती थीं और उन युद्धों में वह सर्वदा विजयी' रहता था ।[१] वह श्रावस्ती, कपिलवस्तु और वैशाली को यशोवर्मा के राज्य (मध्यदेश) में स्थित बतलाता है । साथ ही वह मध्यदेश और मगध का अन्तर करता है, जिससे जन्-युन्-हुआ महोदय यह निष्कर्ष निकालते हैं कि उसके कन्नौज आने के समय (७२३-७२४ ई०) तक यशोवर्मा ने मगध की विजय पूरी नहीं की थीं । वह उसका समय ७२६ से ७३१ ई० के बीच रखते हैं[२] । प्राय: विद्वानों में इस बात पर मतैक्य है कि पराजित होने और मारे जाने वाला मगध का राजा द्वितीय जीवितगुप्त था[३] । कदाचित् वही गौडदेश का भी राजा था । यह इस बात से प्रतीत होता है कि **गउडवहो** में न तो गौडराज का मगध-विजय के बाद कहीं अलग कोई नाम मिलता है और न उसके वध की चर्चा है, जो काव्य का मुख्य वर्ण्य-विषय है । मगध और गौड प्राय: एक ही राजा के अधीन हुआ करते थे । नालन्दा से यशोवर्मा के एक मंत्री के पुत्र मालद का बौद्ध भिक्षुओं को दिये गये दान को अंकित करनेवाला एक शिलाभिलेख भी मिला है[४] । उससे उसकी विजयों की अप्रत्यक्ष पुष्टि होती है । यशोवर्मा की मगध-विजय का एक दूसरा प्रमाण इस बात से भी मिलता है कि उसने यशोवर्मपुर बिहार (आजकल का बिहार कस्बा या घोसरांवा नामक स्थान) बनवाया[५] । उसे उसने अपने विजित प्रदेशों में ही स्थापित किया होगा । बंगाल के विजित राजा की पहचान रा० गो० बसाक ने खड्गवंश के राजा राजभट्ट से की है[६] । दक्षिणापथ में यशोवर्मा ने किन प्रदेशों से होकर अपनी विजययात्रा की अथवा किन राजाओं ने उसकी अधीनता मानी, यह स्पष्ट नहीं है । किंतु बादामी के चालुक्य अभिलेखों से ज्ञात होता है[७] कि पुलकेशी के प्रपौत्र विजयादित्य ने

---

१. जर्नल ऑफ् इण्डियन् हिस्ट्री, जिल्द ४५, भाग १, पृष्ठ १६५ पर उद्धृत ।

२. वहीं पृष्ठ १६६-१६७, १७८ ।

३. त्रिपाठी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १९८; विं प्र० सिनहा, डिक्लाइन् ऑफ् दि किंगडम् ऑफ् मगध, पृ० ३१३-३१४; बुद्धप्रकाश, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १०४ । किन्तु हेमचन्द्र राय महोदय (डाहिनाइ०, प्रथम, पृष्ठ २७७) का यह सुझाव है कि गउडवहो का मगधनाथ द्वितीय जयवर्धन के राघोली अभिलेख का शैल राजकुमार हो सकता है । इसके प्रतिवाद के लिए देखिए, एइ०, जिल्द ९, पृष्ठ ४१-४७ ।

४. एइ०, जिल्द २०, पृ० ३७-४० । इस अभिलेख के सम्पादक डॉ० हीरानन्द शास्त्री ने इसमें वर्णित यशोवर्मदेव की पहचान यशोधर्मा से की पर अब यह मत स्वीकार नहीं किया जाता ।

५. आसरि० जिल्द ३, पृ० १३५-६; जिल्द १५, पृ० १६४ ।

६. हिस्ट्री ऑफ् नार्थ ईस्ट इण्डिया, पृ० २०८ ।

७. इऐ० जिल्द ९, पृ० १२५ और आगे तथा १३० और आगे ।

यशोवर्मा का शासनकाल कब से कब तक था,[१] अथवा ललितादित्य से उसका युद्ध कब हुआ, इस सम्बन्ध में कोई निश्चित प्रमाण नहीं हैं। इन प्रश्नों का यहाँ कोई विस्तृत विवेचन नहीं किया जा सकता। तथापि कुछ बातें स्पष्ट हैं। विनयादित्य के पुत्र विजयादित्य ने जिस **उत्तरापथनाथ** को ६९६ ई० में हराने का दावा किया है,[२] यदि उसकी सही पहचान यशोवर्मा से की गयी है तो मानना होगा कि वह उस तिथि के पूर्व कन्नौज की गद्दी पर आ चुका था। ललितादित्य की जो तिथि कल्हण ने दी है उसे प्राय: २५ वर्ष कम माना जाता है, अत: उसका समय ७२४ ई० से ७६० ई० तक माना जाता है[३]। कुछ विद्वान् ललितादित्य-यशोवर्मा युद्ध का समय ७३३ ई० मानते हैं[४]। लेकिन ७३६ ई० में ललितादित्य ने चीनी सम्राट् के यहाँ जब अपना दूतमण्डल भेजा था, तब तक तिब्बत के विरुद्ध यशोवर्मा से उसकी मित्रता थी और पर्वती दर्रों की रक्षा का भार दोनों ने समान रूप से उठा रखा था। उन दोनों का युद्ध उसके बाद ही कभी हुआ। स्मिथ महोदय ने उस युद्ध का समय पहले ७४५ ई० और बाद में ७४० ई० माना[५]। यशोवर्मा की मृत्युतिथि क्या थी, इनकी कोई स्पष्ट जानकारी तो नहीं है, किन्तु जैन ग्रंथ **प्रभावकचरित** और **प्रबन्धकोश** हमें कुछ दिशा देते हैं। तदनुसार[६], वप्पभट्ट ने विक्रम सं० ८०७ में प्रवज्या ली तथा यशोवर्मा के पुत्र आमराज को जैनधर्म में दीक्षित किया। पुन:, जब आमराज ने गद्दी धारण की तो वप्पभट्ट को वि० सं० ८११ में सूरि की उपाधि और विशेष पद से विभूषित किया। इस प्रकार वप्पभट्ट की प्रवज्या, आमराज का गद्दी-धारण और उसके द्वारा वप्पभट्ट की पदप्रतिष्ठा की घटनाएँ वि० सं० ८०७=७५० ई० और वि० सं० ८११=७४५ ई० के बीच हुईं। इसके बीच ही यशोवर्मा की मृत्यु हुई होगी

---

१. शंकर पांडुरंग पण्डित ने उसे सातवीं शती के अन्त और आठवीं के प्रारम्भ का शासक माना है (गउडवहो की भूमिका, पृ० ९५-९६)। लेकिन स्मिथ (जराएसो० १९०८, पृ० ७८४) तथा डॉ० त्रिपाठी ने (हिस्ट्री ऑफ् कन्नौज, पृ० १९७) उसे क्रमश: ७२८-७४५ ई० तथा ७२५-७५२ ई० के बीच माना है। मजुमदार महोदय उसे ७०० ई० से ७४० के बीच मानते हैं (क्लासिकल् एज, १९५४, पृ० १२९)।

२. इऐ०, जिल्द ९, पृ० १२५ और आगे तथा १३० और आगे।

३. राजतरंगिणी, स्टाइन की भूमिका, पृ० ६७ तथा चतुर्थ, श्लोक १२६ पर टिप्पणी; गउडवहो, उत्गीकर की अनुपूरक भूमिका, पृ० २५८।

४. जर्नल् ऑफ् इण्डियन् हिस्ट्री, जिल्द ४५, भाग १, पृष्ठ १६८।

५. जराएसो०, १९०८-९, पृ० ७६१; अर्ली हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, चतुर्थ सं०, पृ ३८६।

६. प्रभावकचरित, पञ्चम, २८ और ११४।

भारतवर्ष की ओर बढ़ाव को समान रूप से मिलकर रोकना चाहते थे[१] । किन्तु उन दो शक्तिशाली और महत्त्वाकांक्षी राजाओं का यह मेल बहुत दिनों तक चलनेवाला नहीं था । लगता है, ज्यों ही तिब्बतियों का दबाव कम हुआ, उनमें आपसी तनाव बढ़ने लगा, युद्ध छिड़ गया और कदाचित् यशोवर्मा के बूढ़ा हो चलने के कारण कश्मीर की सेनाएँ गंगा-यमुना के दोआब तक चढ़ गयीं । चीनी वृत्तों से यह ज्ञात होता है कि उन दोनों के संघर्ष का कारण थी जालंधर (पंजाब) के आसपास के क्षेत्रों को अपने-अपने राज्य में मिला लेने की योजना[२] । किन्तु एक लम्बे युद्ध के बाद सन्धि-वार्ताएँ प्रारम्भ हुईं, जो सफल न हो सकीं । कल्हण **राजतरंगिणी** में कहता है[३] कि संधिवार्ताओं के भंग हो जाने का कारण यह प्रश्न था कि संधिपत्र पर किसका नाम पहले आवे–यशोवर्मा–या ललितादित्य का । कश्मीरी **सांधिविग्रहिक** मित्रशर्मा ने यशोवर्मा का नाम पहले देखकर सैनिक अभियान से ऊबे हुए कश्मीरी सेनापतियों की इच्छा के विरुद्ध भी संधिप्रस्ताव अस्वीकार कर दिया । ललितादित्य ने उस मंत्री की ही बात मानी और दोनों पक्षों में युद्ध पुनः छिड़ गया । अन्ततः यशोवर्मा हारा और ललितादित्य की अधीनता मानने को विवश हुआ । ललितादित्य ने उसका राज्य छीन लिया हो, ऐसा नहीं लगता । लेकिन उसकी प्रशंसा गाने के लिए यशोवर्मा बाध्य हो गया[४] और 'यमुना के किनारों से लेकर कालिका (काली नदी) तक के बीच का कान्यकुब्ज राज्य का क्षेत्र मानों ललितादित्य के महल का आँगन बन गया[५] ।' कश्मीरी सेनाएँ कान्यकुब्ज के क्षेत्रों से होकर पूर्व की विजय को गयीं । पंजाब, जालंधर; कांगड़ा, और पूंच कश्मीरी राजा के अधिकार में चले गये, जिन्हें उसने अपने अधीनस्थ राजाओं को दे दिया[६] । मध्यदेश, विशेषकर कन्नौज, से बहुत विद्वान् भी कश्मीर जाकर बस गये ।

---

१. राजतरंगिणी, चतुर्थ, श्लोक संख्या १२६ और १३४ पर स्टाइन की टिप्पणियाँ ।

२. जन्-युन्-हुआ, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १७६-१७७ ।

३. राजतरंगिणी, चतुर्थ, श्लोक संख्या १३७-१४० ।

४. कविर्वाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादिसेवितः ।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम् ।।
–राजतरंगिणी, चतुर्थ, १४४ ।

५. किमन्यत्कान्यकुब्जोर्वी यमुनापारतोऽस्य सा ।
अभूदाकालिकातीरं गृहप्रांगणवद्वशे ।।
–वहीं, चतुर्थ, १४५ ।

६. राजतरंगिणी, चतुर्थ, १७७-१८८ ।

यथा–राजशेखर[1] से वज्रायुध की; जैन **हरिवंश**[2] से उत्तर दिशा (उत्तरभारत) में शासन करनेवाले इन्द्रायुध की; पाल अभिलेखों[3] से इन्द्रायुध और चक्रायुध की और **प्रभावकचरित** से वि० सं० ८९०=८३३ ई० में दिवगंत होनेवाले कन्नौजराज नागावलोक (द्वितीय नागभट्ट) की। डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी ने इन परस्पर भिन्नताओं को सुलझाने का प्रयत्न किया है। लेकिन वे जिन निष्कर्षों पर पहुँचे हैं, वे विवाद से परे बिल्कुल नहीं हैं और स्वीकार नहीं किये जा सकते। उदाहरण के लिए[4], वे द्वितीय नागभट्ट के कन्नौज के शासक होने सम्बन्धी तर्कों को अप्रामाणिक और साक्ष्यहीन मानते हैं तथा वे उसे वह नागावलोक नहीं मानते जिसकी चर्चाएँ वि० सं० ९१७ के पथारी अभिलेख; चाहमान द्वितीय बिग्रहराज के वि० सं० १०३० के हर्सोल अभिलेख तथा **जैनहरिवंश** में प्राप्त होती हैं। उनके मत में नागावलोक एक ही था जो आमराज था और जो नारायणपाल के भागलपुर ताम्रफलक का इन्द्रराज भी है। मेरी दृष्टि में डॉ० चौधरी की उपर्युक्त धारणाएँ अनैतिहासिक और भ्रमात्मक हैं, जिनका मूल कारण यह प्रतीत होता है कि उन्होंने जैन लेखकों द्वारा दिया हुआ आमराज की दीर्घ शासनकाल बिना किसी सन्देह की दृष्टि से यथावत् स्वीकार कर लिया है। ऐसा तो नहीं है कि आमराज के तथाकथित दीर्घशासन की तुलना में वास्तविक रूप से दीर्घशासी राजा भारतीय इतिहास में ज्ञात नहीं हैं, किन्तु ऐसे शासक हजारों में एक के अनुपात से ही बताये जा सकते हैं। सारे जैन साहित्य को एक साथ देखने पर प्रतीत होता है कि उसके अनेकानेक लेखकों ने यशोवर्मा के उत्तराधिकारियों और कन्नौज के प्रतीहार शासकों के नामों और कृत्यों में अन्तर न कर उनका घपला कर दिया और उन्हें एक दूसरे पर आरोपित कर दिया। इसी कारण नागभट्ट का विरुद 'नागावलोक' आम के लिए भी लागू कर दिया गया और आम का शत्रुत्त्व पाल राजा धर्मपाल से बताया गया[5]। हो सकता है कि आम और द्वितीय नागभट्ट दोनों के पौत्रों का नाम भोज होने के कारण भी यह भ्रम उत्पन्न हुआ हो। ये सारे भ्रम मूलतः जैन आमराज की प्रशंसा में उसके शासनकाल को जैन लेखकों द्वारा अत्यन्त लम्बा (७५२–८३३ ई०) मान लिये जाने के कारण ही हुए जान पड़ते हैं। यही कारण है कि वे आम के पुत्र और पौत्र दुन्दुक तथा भोज के बारे में कोई जानकारी नहीं दे पाते।

---

१. स्टेन् कोनो और लैन्मन् का संस्करण, पृ० ७४ और २२६।

२. ६६वाँ, ५३।

३. इऐ०, जिल्द १५, पृ० ३०४–५; जएसो (बंगाल) जिल्द ४७, भाग १, पृ० ३८४ और आगे; एइ०; जिल्द ४, पृ० २४३ और आगे।

४. देखिए–पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ् नार्दर्न इण्डिया फ्राम जैन सोर्सेंज पृ० २४–३४।

५. वहीं।

और आमराज ने गद्दी धारण की होगी। सुविधा के लिए हम उसे ७५२ ई० की घटना मान सकते हैं।

यशोवर्मा के उत्तराधिकारी

यशोवर्मा का जिस तेजी से उत्थान हुआ, उतनी ही तीव्रता से उसका पतन भी हुआ। उसके बाद कन्नौज का इतिहास कुछ दिनों तक अन्धकाराच्छन्न है। ग्वालियर के रनोड़ नामक स्थान से अवन्तिवर्मा नामक एक राजा का अभिलेख मिला है,[१] जिससे ज्ञात होता है कि शैव धर्म में दीक्षित होने की इच्छा से वह पुरंदर नामक शैव संन्यासी के पास गया और उसे अपने राज्य में आने का निमंत्रण दिया। यह अवंतिवर्मा यशोवर्मा का ही कोई सम्बन्धी था। परन्तु उसके भी काल का कोई निश्चय नहीं है। **वप्पभट्ट-सूरिचरित** और **प्रबन्धकोश** नामक जैन ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि यशोवर्मा के बाद उसकी रानी यशोदेवी से उत्पन्न उसके पुत्र आम ने कन्नौज और ग्वालियर से शासन किया[२], जिसकी पुष्टि **प्रभावकचरित** से होती है[३]। यह स्पष्ट है कि उसके समय में ग्वालियर (गोपगिरि) का प्रदेश कन्नौजराज्य में शामिल था। डॉ० बुद्धप्रकाश यह संभावित मानते हैं कि कदाचित् अवन्तिवर्मा और आम एक ही व्यक्ति थे[४]। आम का पुत्र तथा उत्तराधिकारी दुन्दुक हुआ, जिसे उसी के पुत्र भोज ने मार डाला। खेद है कि उनके बारे में जैन ग्रन्थों से जो भी जानकारियाँ मिलती हैं, वे या तो अत्यल्प हैं अथवा भ्रमात्मक और परस्पर विरोधी हैं। साथ ही, उनका मेल अन्य साक्ष्यों से नहीं बैठता और परिणामस्वरूप इस युग का इतिहास बहुत स्पष्ट नहीं हो पाता। आम को नागावलोक (**प्रभावकचरित,** पंचम, १८८) कहा गया है। धर्मपाल से उसकी शत्रुता बतायी गयी है तथा उसका शासनकाल अविश्वास्य रूप में अतिदीर्घ (७४३–८३३ ई० अथवा ७५२–८३३ ई०)[५] उल्लिखित है। लेकिन आमराज के इस तथाकथित दीर्घशासन की अवधि के बीच ही हमें कन्नौज के अन्य शासकों की भी जानकारियाँ प्राप्त होती हैं,

---

१. एइ०, जिल्द १, पृ० ३५१ और आगे।

२. गउडवहो की भूमिका (शं० पां० पण्डित), पृ० १३९, १४५; राजशेखर के प्रबन्धकोश (सिंधी जैन ग्रन्थमाला, पृ० २७–२८) के अनुसार 'कान्यकुब्जदेशे-गोपालगिरिदुर्गनगरे यशोवर्मनृपतेः सुयशोदेवी कुक्षिजन्मा नन्दनोऽहम्' इत्यादि। प्रभावकचरित (पञ्चम, १८८) में आम को 'नागावलोक' विरुद किया गया है।

३. सिंधी जैन ग्रंथमाला प्रकाशन, पृ० ८३।

४. पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ११६।

५. गुलाबचन्द्र चौधरी, पोलिटिकल् हिस्ट्री ऑफ् नार्दर्न इण्डिया फ्राम जैन सोर्सेंज, पृ० २२, २३।

चुका था। उसने भी उत्तरापथ में हस्तक्षेप करने का निश्चय किया। नर्मदा के किनारे एक बहुत बड़ी सेना इकट्ठीकर तथा अपने दो योग्य पुत्रों–गोविन्द और इन्द्र–को अपने पार्श्वों की रक्षा के लिये पीछे छोड़कर वह दोआब पर चढ़ गया। वत्सराज की सेनाओं ने झाँसी के पास[१] कहीं राष्ट्रकूट सेनाओं से मुठभेड़ ली, किन्तु वे बुरी तरह हारीं और वत्सराज भागकर राजपूताने की मरुभूमि में शरण लेने को विवश हुआ। वत्सराज ने गौडराज से जिन दो राजछत्रों को युद्ध करके छीना था, अब उन्हें उससे ध्रुव ने छीन लिया[२]। दक्षिणियों ने धर्मपाल को भी दोआब में कहीं परास्त किया, किन्तु वे अपने वास्तविक सत्ताकेन्द्र से इतने दूर थे कि वहाँ की समस्याओं को छोड़कर उत्तर भारत में बहुत दिनों तक टिके रहना उनके लिए असंभव था। गंगा-यमुना के दुकूलों के बीच से नष्ट होते हुए (भागते हुए) गौडराज (धर्मपाल) की राजलक्ष्मी के लीलारविन्दों और श्वेतछत्रों को छीन लेने[३] के बावजूद उन्हें दक्षिण लौट जाना पड़ा। ध्रुव ने अपनी उत्तर भारतीय विजयों के उपलक्ष्य में राष्ट्रकूट ध्वज में गंगा-यमुना का चिह्न अंकित कराया। उसे अपने उत्तर भारतीय अभियान में कितना समय लगा था, यह बताना कठिन है। किंतु विद्वानों का अनुमान है कि ७९० ई० तक वह दक्षिण भारत लौट गया था।

राष्ट्रकूटों के लौटने के परिणामस्वरूप पाल-प्रतीहारों में कन्नौज के अधिकार की लड़ाई पूर्ववत् पुनः प्रारम्भ हो गयी। वत्सराज के राजपूताना की ओर भाग जाने से धर्मपाल को पुनः एक बहुत बड़ा मौका मिला और वह कन्नौज पर चढ़ गया। राष्ट्रकूटों से हारने के बाद भी कदाचित उसकी सेनाएँ दोआब में ही मँडरा रही थीं। नारायणपाल के भागलपुर ताम्रफलक से ज्ञात होता है कि उसने इन्द्रायुध को युद्ध में जीता तथा उससे महोदयनगर (कन्नौज) की राजगद्दी छीनकर अपने नामांकित चक्रायुध को दे दिया[४]। यह इन्द्रायुध का ही कोई सम्बन्धी था और उसे अपनी ओर से कन्नौज का शासक बनाकर धर्मपाल ने वत्सराज की उस चाल को ही दुहराया, जिसके द्वारा उसने इन्द्रायुध को कन्नौज की गद्दी पर बने रहने दिया था। धर्मपाल के खालिमपुर ताम्रफलक से तो

---

१. एज ऑफ् इम्पिरियल् कन्नौज, पृ० ५।

२. एइ०, जिल्द ६, पृ० २४८ और आगे; और देखिए एइ०, जिल्द ११, पृ० १६१।

३. गंगायमुनयोर्मध्ये राज्ञो गौडस्य नश्यतः। लक्ष्मीलीलारविन्दानिश्वेतछत्राणि यो-ऽहरत।। एइ०, जिल्द १८, पृ० २४४; और भी देखिए, जर्नल ऑफ् डिपार्टमेन्ट ऑफ् लेटर्स, (कलकत्ता विश्वविद्यालय), जिल्द १०, पृ० ३५।

४. इऐ०, जिल्द १५, पृ० ३०४-३०५ और आगे; जराएसो० बंगाल, जिल्द ४७ (१८७८ ई०) भाग १, पृ० ३८४ और आगे।

आयुध वंश और कन्नौज पर अधिकार के लिए त्रिकोणात्मक संघर्ष का प्रारंभ

कन्नौज की राजलक्ष्मी यशोवर्मा के उत्तराधिकारियों को छोड़कर कब आयुध वंश के आश्रय में चली गयी, यह स्पष्ट नहीं है। मोटे तौर पर उसका समय आठवीं शती के तीसरे चरण में रखा जा सकता है। इस वंश का सबसे पहला राजा वज्रायुध था। उसकी एकमात्र चर्चा पंचाल की राजधानी कन्नौज के राजा के रूप में राजशेखरकृत **कर्पूरमंजरी** में प्राप्त होती है। इन्द्रायुध और चक्रायुध नामक आयुध नामान्त दो अन्य राजे भी थे जो वज्रायुध के ही वंशज प्रतीत होते हैं। **राजतरंगिणी** से ज्ञात होता है[१] कि **ललितादित्य** मुक्तापीड का पौत्र (कश्मीर का राजा) **जयापीड** विनयादित्य (७७९–८१० ई०) कन्नौज के राजा को युद्ध में परास्तकर उसका राजसिंहासन और राजचिह्न उठा ले गया। डॉ० स्मिथ और डॉ० त्रिपाठी के मत में हारा हुआ कन्नौज का वह राजा वज्रायुध ही[२] था। वज्रायुध के बाद इन्द्रायुध कन्नौज का राजा हुआ, जिसे **जैनहरिवंश**[३] में उत्तर भारत में शक संवत् ७०५=७८३–४ ई० में शासन करता हुआ बताया गया है। लेकिन इन आयुध शासकों की सत्ता नाममात्र की ही थी और तत्कालीन भारत की प्रायः सभी दिशाओं की प्रमुख सत्ताएँ कन्नौज को अपना निशाना बनाकर आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध और विशाल उत्तर भारतीय मैदानों पर अपनी गृद्धदृष्टि डालने लगीं। संयोगवश, दक्षिणापथ, पूर्वी भारत और पश्चिमी भारत में प्रायः एक ही साथ क्रमशः राष्ट्रकूट, पाल और गुर्जर प्रतीहारों ने अपने राजनीतिक प्रभावों को बढ़ाने का प्रयत्न प्रारंभ किया था। उन तीन राज्यों के परस्पर समकालिक राजा थे ध्रुवनिरूपम, धर्मपाल और वत्सराज। सबसे पहले वत्सराज की सेनाओं ने दोआब को अधिकृत करने की कोशिश की। उसने कन्नौज के इन्द्रायुध को हराकर अपदस्थ तो नहीं किया, किन्तु अपनी अधिसत्ता मानने को विवश कर दिया। धर्मपाल को यह असह्य था और उसने दोआब पर चढ़ाई कर दी, किंतु गुर्जर प्रतीहार सेनाओं द्वारा बुरी तरह परास्त हुआ। पर इस बीच **ध्रुवनिरूपम** (७७९–७९३ ई०) समस्त दक्षिणापथ पर अपनी अधिसत्ता स्थापित कर

---

१. राजतरंगिणी, चतुर्थ, श्लोक ४७१।

२. हिस्ट्री ऑफ् कन्नौज, पृ० २१३; और देखिए, स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, पृ० ३८९ और ३९२, नोट ४।

३. शाकेष्वब्दशतेषु सप्तौ दिशां पंचोत्तरेषूत्तराम्।
पातीन्द्रायुधनाम्नि कृष्णनृपते श्रीवल्लभे दक्षिणाम्॥ –जैनहरिवंश, ६६वाँ, ५३।
किन्तु डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी (पूर्वोद्धृत, पृ० २९ और आगे) इस श्लोक के इन्द्रायुध को कन्नौज का राजा नहीं स्वीकार करते। साथ ही (पृ० ३४) वे यह भी नहीं मानते कि आयुध नाम का कोई वंश भी था।

कि यह कुमार राज्यवर्धन का सखा कुमारगुप्त ही हो[१] । लेकिन परवर्ती गुप्तों के लेखों में कहीं भी कुमारगुप्त के राज्य करने की बात नहीं लिखी मिलती । उनके सबसे प्रसिद्ध राजा आदित्यसेन के अफसड शिलाभिलेख[२] से माधवगुप्त के ही शासन करने की बात मालूम होती है । लगता है, हर्ष की मृत्यु के बाद उसके किसी उत्तराधिकारी के अभाव में उसके साम्राज्य की जो छीनाझपटी शुरू हुई, उसमें मगध पर माधवगुप्त अधिकृत हो गया ।[३] लेकिन उसकी शक्ति कभी भी बहुत विस्तृत नहीं थी । वैङ्ग-ह्वान्-शे का जो संघर्ष अरुणाश्व से हुआ, उसमें उसने कोई भाग नहीं लिया । अफसड शिलाभिलेख में यह कहा गया है[४] कि उसके करतल पर चक्र का चिह्न (चक्रवर्ती राजा का निशान) बना था । परंतु इस उल्लेख के बावजूद राजनीतिक दृष्टि से वह बहुत शक्तिशाली नहीं प्रतीत होता । उस अभिलेख में यह भी कहा गया है कि उसने युद्ध में अपने शत्रुओं को मारा । वि० प्र० सिनहा का यह मत (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २८१) किसी ठोस आधार पर आधृत नहीं प्रतीत होता कि माधवगुप्त ने मगध के राजा की हैसियत से हर्ष की अधिसत्ता स्वीकार करते हुए उसके किन्हीं युद्धों में भाग लिया एवं उस अधिराज की विजयों का श्रेय संभवतः स्वयं ले लिया । संभव है, अपनी स्वतंत्र स्थिति बनाये रखने के लिए उसे कुछ युद्ध करने पड़े हों । वि० प्र० सिनहा का मत है कि मृत्यु के वर्ष जो चीनी दूत-मंडल 'मगध के राजा' के यहाँ आ रहा था, वह इस माधवगुप्त के यहाँ ही पहुँचा होता और अर्जुन या अरुणाश्व ने रास्ते में उसे इस कारण समाप्त कर दिया कि उसे माधवगुप्त की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ जाती, जो उसे असह्य होती[५] । किन्तु इसे हम अनुमान मात्र मान सकते हैं ।

माधवगुप्त

माधवगुप्त का उसकी रानी श्रीमतीदेवी से उत्पन्न पुत्र आदित्यसेन उत्तराधिकारी हुआ (६५० ई०) । अफसड अभिलेख[६] में उसे **क्षितीशचूड़ामणि और लोकपाल**

---

१. त्रिपाठी (पूर्वनिर्दिष्ट पृ० १०५ नोट १) और वि० प्र० सिनहा (पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २७९) हर्ष द्वारा अभिषिक्त इस कुमार को माधवगुप्त से मिलाते हैं ।

२. कार्पस इनस्क्रिप्शनम्, इण्डिकेरम् जिल्द ३, पृ० २०० और आगे ।

३. रा० गो० बसाक (हिस्ट्री ऑफ् नार्थ ईस्ट इण्डिया, पृष्ठ १२६) के मत से यह राजा आदित्यसेन होना चाहिये ।

४. कार्पस् जिल्द ३, पृ० २०० और आगे ।

५. पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २८४ ।

६. 'श्वेतातपत्रस्थगितवसुमती मण्डलो लोकपालः; कार्पस् इन्स्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम्, जिल्द ३, पृ० २०० और आगे ।

यह भी ज्ञात होता है[१] कि उसकी विजयें कन्नौज मात्र तक सीमित नहीं थीं। तदनुसार, चक्रायुध को कन्नौज की गद्दी पर बिठाते समय उसने एक बहुत बड़ा दरबार लगाया, जिसमें पंचाल के वृद्धों के साथ भोज, मत्स्य, मद्र, कुरु, यदु, यवन, अवन्ति, गंधार और कीर के राजा सम्मिलित हुए। इस वर्णन को कुछ बंगाली विद्वान्[२] धर्मपाल की उन राज्यों पर विजय अथवा अधिसत्ता को द्योतक मानते हैं। किन्तु यह मत विवाद से परे नहीं है।[३] तथापि कन्नौज के एक छोटे से राजा के राज्याभिषेक के समय इतने अधिक राजा केवल मित्रतावश अथवा एक महान् साम्राज्य की राजधानी रह चुकने के कारण कन्नौज नगर की (नाम मात्र को ही सही) अधिसत्ता मानकर[४] उपस्थित हुए हों यह भी असंभव दीखता है। धर्मपाल का राजनीतिक प्रभाव व्यापक होता गया था, इसमें कोई संदेह नहीं दिखायी देता। इस प्रकार उत्तर भारतीय राजनीति का केन्द्र बिन्दु कन्नौज पुनः कुछ समय के लिए प्रतीहारों के प्रभावक्षेत्र से निकलकर पाल प्रभावक्षेत्र में चला गया और यदि सोड्ढल अपनी **अवन्तिसुन्दरीकथा**[५] में धर्मपाल को **उत्तरापथस्वामिन्** कहता है तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं।

मगध के परवर्ती गुप्त

हर्ष की मृत्यु के बाद उसका साम्राज्य कई छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया, जिनमें मगध भी एक था। वहाँ हम परवर्ती गुप्तों को शासन करते हुए पाते हैं। प्रभाकरवर्धन के समय वहाँ का नाममात्र का राजा महासेनगुप्त था, जो मौखरि और कलचुरियों के आक्रमणों से त्रस्त था। मगध के अतिरिक्त पूर्वी मालवा पर भी उसका अधिकार था। तथा उसके दो पुत्रों, कुमारगुप्त और माधवगुप्त, थानेश्वर के दरबार में राज्यवर्धन और हर्षवर्धन के सखा और सेवी के रूप में रहते थे। ६४१ ई० तक मगध पर हर्ष का निजी अधिकार हो चला था और चीनी लेखक उसे मगध का राजा कहते हैं। **हर्षचरित** में एक उद्धरण यह आता है कि हर्षवर्धन ने कुमार का अभिषेक किया[६]। कुछ विद्वान् इस कुमार को कामरूप के राजा भास्करवर्मा से मिलाते हैं जो संदेहास्पद है। ऐसा तो नहीं

---

१. भोजैर्मस्त्यैः समद्रैः कुरुयदुयवनअवन्ति गांधारकीरैर्भूपैर्व्यालोलमौली प्रणति परिणतसाधु संगीर्यमाणः। हृष्यत् पञ्चालवृद्धोधृतकनकमयस्वाभिषेकोदकुम्भोदत्तः श्रीकान्यकुब्ज सललित, चलित भ्रूलतालक्ष्ययेन ।। एइ०, जिल्द ४, पृ० २४३-५४।

२. देखिए-राखालदास बनर्जी, मेम्वायर्स्, बेंगाल एशियाटिक् सोसायटी, जिल्द ५, पृ० ५१, नोट ३; र० चं० मजुमदार, एज ऑफ् इस्पीरियल् कन्नौज, पृ० ४६।

३. त्रिपाठी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २१६।

४. चि० वि० वैद्य (पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द १, पृ० ३७१) इसी मत को स्वीकार करते थे।

५. गायकवाड ओरियण्टल् सीरिज का प्रकाशन, पृ० ४-६।

६. अत्र देवेन अभिषिक्तः कुमारः। हर्षचरित, निर्णयसागर प्रेस, पृ० ९१।

तक के प्रदेशों को आदित्यसेन ने ही जीतकर मगध शासन के अन्तर्गत किया हो । आगे चलकर अन्य विजयें भी उसने कीं, इसका अनुमान लगाया जा सकता है । कुछ अन्य प्रमाणों के आधार पर वि० प्र० सिनहा[१] तथा हेमचन्द्ररायचौधरी[२] उसके साम्राज्य का विस्तार समस्त उत्तर प्रदेश, बिहार तथा मध्य और उत्तरी बंगाल सहित सारे उत्तरी भारत पर मानते हैं । का० प्र० जायसवाल[३] और रा० गो० बसाक[४] तो उसे गौड, दक्षिणी राढ़ और बंग (मध्य तथा दक्षिण-पश्चिम बंगाल) तक फैला हुआ मानते हैं । देवघर के वैद्यनाथ मंदिर के द्वार पर एक वैष्णव अभिलेख है जो मंदारगिरि से वहाँ लाया गया था[५] । उसकी लिपि १५वीं-१६वीं शती की है । लेकिन उसमें किसी आदित्यसेन की चर्चा है और कहा गया है कि वह समुद्रपर्यंत पृथ्वी का स्वामी तथा अनेक अश्वमेघों और यज्ञों का कर्त्ता था । लेकिन जयदेव के समय के नेपाल से प्राप्त होनेवाले एक लेख से प्रतीत होता (इऐ०, जिल्द ९, पृष्ठ १७८) है कि उसका राजनीतिक केन्द्र मगध ही था । उसमें उसे 'मगधाधिपत्य महत: श्री आदित्यसेनस्य' कहा गया है । यह भी ज्ञात होता है कि अपनी रानी कोशदेवी अथवा कोणदेवी के साथ चोलनगर से बहुत अधिक धन के साथ लौटकर उसने तीन अश्वमेघ यज्ञ किये तथा अन्य कीर्तियाँ प्राप्त कीं । इस अभिलेख के आदित्यसेन को विद्वान् मगध के आदित्यसेन से मिलाने में प्राय: एकमत हैं । किन्तु यह मानना असंभव होगा कि वह किसी विजय के सिलसिले में चोलनगर (चोल्लपुरम् अथवा गंगैकोंडचोल्लपुरम्) गया था । संभव है उसकी वह दक्षिण-यात्रा तीर्थाटन के सिलसिले में हुई हो[६] ।

इस बात में संदेह नहीं कि आदित्यसेन ने अपने पूर्वज साम्राज्यभोगी गुप्तों द्वारा दिखाये हुए राजनीतिक पथ पर चलने की कोशिश की । उन्हीं की तरह एक साम्राज्य स्थापित करने में वह बहुत हद तक सफल रहा और अपने समय में उत्तर भारत की सर्वप्रमुख राजनीतिक सत्ता का भोक्ता हो गया । हर्ष के बाद उसकी पहली सत्ता थी जिसने एक बार पुन: उत्तरी भारत को एक दृढ़ राजनीतिक सूत्र में बाँधा, जिसका केन्द्र मगध था ।

---

१. पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २९८ तथा ३०१ ।
२. पोहिनाइ०, पाँचवाँ संस्करण, पृष्ठ ६१० ।
३. इम्पीरियल् हिस्ट्री, पृ० ६८-९ ।
४. हिस्ट्री ऑफ् नार्थ ईस्ट इण्डिया, पृ० १२८ ।
५. कार्पस् इन्स्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम्, जिल्द ३, पृ० २१३-१४ (टिप्पणी) ।
६. इस सम्बन्ध में देखिए-जर्नल ऑफ् इण्डियन् हिस्ट्री, जिल्द ५, पृ० ३१३ और आगे; र० च० मजुमदार, हिस्ट्री ऑफ् बेंगाल; जिल्द १, पृ० ८१-२, नोट ७ तथा दि क्लासिकल् एज, पृ० १२७; वि० प्र० सिनहा, पूर्ननिर्दिष्ट, पृष्ठ २९२ ।

कहा गया है, जिसके श्वेतछत्र से पृथ्वी का सम्पूर्ण गोलक ढक जाता था। इनसे भी बड़े विरुद उसे मंदारगिरि (पूर्वी बिहार के भागलपुर जिले में स्थित) से प्राप्त होनेवाले प्रस्तराभिलेखों[१] में दिये गये हैं, यथा **परमभट्टारक** और **महाराजाधिराज**। ये लेख उसके शासन काल की आगे की तिथि (६७२-७३ ई०) के हैं, और अनुमान यह किया गया है[२] कि प्रारम्भ में उसकी राजनीतिक सत्ता बहुत बड़ी नहीं थी, किन्तु बाद में उसे बढ़ाकर उसने अधिसत्तात्मक सम्राटों के विरुद धारण किया। आदित्यसेन के पूर्व भास्करवर्मा के नेतृत्त्व में असम का आधिपत्य मगध तक फैला[३] हुआ था। किन्तु भास्करवर्मा के शासन का अंत और म्लेच्छ राजा सालस्तंभ द्वारा उसका राज्य हड़प लिये जाने के बाद आदित्यसेन को एक बड़ा अवसर हाथ लग गया। उत्तर में तिब्बतियों का भी जोर कम हो गया था और आदित्यसेन को अपनी सत्ता विस्तृत करने का पूरा अवसर मिल गया प्रतीत होता है। उसने अपनी पुत्री का विवाह मौखरि राजा भोगवर्मन् से किया, जो नेपाल नरेश अंशुवर्मन् का भांजा था। भोगवर्मन् को आदित्येसन की पुत्री से जो पुत्री (वत्सादेवी) पैदा हुई, वह नेपाल के राजा शिवदेव से ब्याही गयी। इन विवाह-संबंधों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि मगध का परवर्ती गुप्त कुल आदित्यसेन के समय प्रतिष्ठित राजवंशों से भरपूर प्रतिष्ठा पा चुका था।

आदित्यसेन

आदित्यसेन के विभिन्न अभिलेखों के प्राप्ति-स्थानों से उसके अधीनस्थ क्षेत्रों का अनुमान लगाया जा सकता है। अफसड़ (गया जिला), शाहपुर (बिहार से १९ मील दक्षिण-पूर्व) और मंदारगिरि (भागलपुर जिला) उसके अधिकार में थे, जो प्राचीन अंग और मगध के क्षेत्र थे। उसके पप्रौत्र द्वितीय जीवितगुप्त ने गोमतीकोट्टक के दुर्ग से एक अभिलेख (देवबरनार्क) प्रचारित किया था[४]। गोमतीकोट्टक गोमती नदी के किनारे कहीं रहा होगा। ऐसा लगता है कि मध्यदेश में गोमती नदी की घाटी के निचले भागों पर अब परवर्ती गुप्तों का अधिकार हो चला था। असंभव नहीं कि यह कन्नौज के मौखरिओं के मूल्य पर हुआ हो। देवबरनार्क शाहाबाद जिले के प्रधान नगर आरा के २५ मील दक्षिण-पश्चिम है। असंभव नहीं कि गोमती की निचली घाटी से लेकर देवबरनार्क

---

१. वहीं, पृ० २११ और आगे।

२. वि० प्र० सिनहा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २८८।

३. देखिए, एन्० एन्० दासगुप्त, इण्डियन् कल्चर, जिल्द २, पृष्ठ ८७ और आगे; क० ला० बरुआ, अर्ली हिस्ट्री ऑफ् कामरूप, पृष्ठ ७१-७२; जराएसो०, बेंगाल; नयी अवली, जिल्द १, पृष्ठ ९७ और आगे।

४. कार्पस् इन्स्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम्, जिल्द ३, पृ० २१३ और आगे।

और कुछ समय तक जीवितगुप्त ने उसे रोक सकने में सफलता भी पायी हो। किन्तु अंत में यशोवर्मा ने सारा मगध जीत लिया, जिसका प्रमाण उसका नालंदा अभिलेख है[१]। वहाँ उसने यशोवर्मपुर विहार की स्थापना की, यह पीछे देखा जा चुका है। इस प्रकार मगध की स्वतंत्र सत्ता समाप्त हो गयी और वह कन्नौज साम्राज्य का अंग बन गया। किन्तु यशोवर्मा भी उस पर कोई व्यवस्था नहीं ला सका और उसके बाद वह बाहरी आक्रमणों तथा भीतरी अशांति का केन्द्र बन गया। पालों के उदय के पूर्व वहाँ ऐसी कोई सत्ता नहीं गठित हुई जो उसे सुव्यवस्थित प्रशासन दे सके।

---

१. एइ०, जिल्द २०, पृष्ठ ३९ और आगे।

आदित्यसेन के उत्तराधिकारी

आदित्यसेन के उत्तराधिकारी उसके समान बड़े विजेता अथवा बहुत प्रसिद्ध शासक नहीं हुए। यद्यपि उसके पुत्र देवगुप्त और पौत्र विष्णुगुप्त को **परमभट्टारक, महाराजाधिराज** और **परमेश्वर** की उपाधियाँ दी गयी हैं,[१] न तो उनकी कोई विजयें ज्ञात हैं और न उनका ठीक-ठीक शासनकाल ही ज्ञात है। लगता है, वे आदित्यसेन की विरासत को पूर्ण रूप से बचा नहीं पाये। विनयादित्य (६८०-६९६ ई०) और विजयादित्य नामक चालुक्य राजाओं ने किसी **सकलोत्तरापथनाथ** को हराकर **पालिध्वज** (एक प्रकार का ध्वज), **ढक्का** (ढोल) तथा गंगा-यमुना का आकृतिचिह्न प्राप्त करने का दावा किया है[२]। हेमचन्द्ररायचौधरी (पोहिनाइ, पृ० ६१०-६११) और सिनहा (पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ३०५) के मत में यह हारा हुआ **सकलोत्तरा-पथनाथ** देवगुप्त ही था। विष्णुगुप्त के अधिकार में शाहाबाद के आसपास के बिहार प्रदेश तथा उत्तरप्रदेश के कुछ भाग मात्र बच गये थे। उसका एक अभिलेख बक्सर के पास स्थित मंगराँव नामक स्थान से मिला (जर्नल ऑफ् बिहार रिसर्च सोसायटी, जिल्द ३०, पृष्ठ १९९ और आगे) है। विष्णुगुप्त के बाद जीवितगुप्त (द्वितीय) उत्तराधिकारी हुआ, जो परवर्ती गुप्तवंश का अंतिम शासक साबित हुआ। उसका एकमात्र अभिलेख शाहाबाद जिले के देवबरनार्क नामक स्थान से मिला है[३]। गोमतीकोट्टक के जिस स्थान से वह अभिलेख प्रसारित किया गया था, वह जीवितगुप्त का विजयी सैनिक शिविर था और असंभव नहीं है कि वह किसी युद्ध के सिलसिले में उधर गया हो। जो भी हो, वाराणसी के पश्चिमोत्तर गोमती नदी के तीर तक के प्रदेश उसके अधिकार में थे। किंतु कन्नौज का राजा यशोवर्मा उसका अन्तक साबित हुआ। पीछे हम यह देख चुके हैं[४] कि उसने अपनी विजययात्रा में मगध और गौड के राजा[५] (जीवितगुप्त) को युद्ध में हराया और मार डाला। असंभव नहीं कि देवबरनार्क अभिलेख का गोमतीकोट्टक नामक शिविर जीवितगुप्त के यशोवर्मा के विरुद्ध लड़े गये युद्ध के समय ही स्थापित किया गया हो

---

१. वि० प्र० सिनहा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ३०५, ३०९-३१०; कार्पस्, जिल्द ३, पृष्ठ २१४ और आगे।

२. देखिए, बम्बई गजेटियर, जिल्द १, भाग २, पृष्ठ १८९, ३६८ और ३७१।

३. कार्पस् इन्स्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम्, जिल्द ३, पृष्ठ २१४ और आगे।

४. देखिए, पृष्ठ ७९।

५. कृष्णस्वामी अयंगार (जर्नल ऑफ् इण्डि० हिस्ट्री, जिल्द ५, पृष्ठ ३२९) और इ० ए० पायर्स महोदय (दि मौखरिज, पृष्ठ १३९) की यह मान्यता है कि गौड और मगध के दो राजा थे। अकेले जीवितगुप्त उन दोनों क्षेत्रों का शासक नहीं था।

समय-समय पर घटते-बढ़ते रहे[१] । मुसलमानी इतिहासकार तथा जैन लेखक मालदा जिले में स्थित लखनौती अथवा लक्ष्मणावती को भी उसमें शामिल करते थे । ८वीं-११वीं शताब्दियों में पाल राजाओं को **गौडेश्वर** कहा जाता था । अभिलेखों (इऐ०, जिल्द १२, पृ० १६०) में गौड और वंग अलग-अलग बताये गये हैं । वे प्राकृतिक दृष्टि से तो अवश्य विभाजित थे, लेकिन पालों ने उन दोनों पर समान रूप से अपनी राजनीतिक और प्रशासनिक प्रभुता स्थापित की थी । वंग (समतट) बंगाल का दक्षिण-पूर्वी हिस्सा था, जिसका मुख्य नगर ताम्रलिप्ति (आधुनिक तामलुक) था । बंगाल की खाड़ी के ऊपर वाले प्रायः सभी क्षेत्र उसमें शामिल थे ।

गौडराज्य का उदय

गौड की एक स्वतन्त्र राजनीतिक इकाई के रूप में सर्वप्रथम चर्चा गुप्त साम्राज्य के ह्रास के बाद मिलती है । ईशानवर्मा के हड़हा अभिलेख[२] में गौड़ों को समुद्र के किनारे स्थित बताया गया है । अतः हेमचन्द्र रायचौधरी ने यह निष्कर्ष निकाला है कि गौड पश्चिमी बंगाल में समुद्र के उत्तर पड़ता था, जिसमें कर्णसुवर्ण और राढ़पुरी सम्मिलित थे । ऐसा लगता है कि छठीं-सातवीं शती में दक्षिण-पूर्वी बंगाल गौड नाम से अभिहित था और वहाँ के शासक अपने को एक समुद्री सत्ता के रूप में भी विकसित करना चाहते थे । शशांक द्वारा शासित क्षेत्र चार समुद्रों के जल तथा द्वीपों से परिवेष्ठित कहा गया है[३] । लेकिन धीरे-धीरे उसने सारा मध्य बंगाल अधिकृत कर लिया तथा कर्णसुवर्ण (मुर्शिदाबाद जिले का रांगामाटी[४]) में अपनी राजधानी स्थापित की। मजुमदार महोदय[५] ने शशांक को गौड का सर्वप्रथम ऐतिहासिक शासक माना है । किन्तु कुछ विद्वानों[६] के मत में वह स्थान जयनाग को मिलना चाहिए । यह दुर्भाग्य है कि उन दोनों

---

१. र० चं० मजुमदार, हिस्ट्री ऑफ् बेंगाल, पृ० १३-१४ ।

२. हड़हा अभिलेख, एइ० जि० १४, पृ० ११० और आगे ।

३. चतुरुदधिसलिलवीची-मेखनिलीनायां सद्वीपनगरपत्तनवत्यां वसुन्धरायां गौप्ताब्दे वर्षशतत्रये वर्तमाने महाराजाधिराज श्री शशांकराजे शासति । एइ०, जिल्द ६, पृ० १४४ ।

४. जएसो०, बंगाल, १८८३, पृ० ३१५ ।

५. हिस्ट्री ऑफ् बेंगाल, जिल्द १, पृ० ५६, और देखिए; सलेतोर, लाइफ इन् दि गुप्त एज, पृ० ७३ ।

६. वि० प्र० सिनहा, डिक्लाइन् ऑफ् दि किंगडम् ऑफ् मगध, पृ० २२० और आगे ।

४

गौड और वंग-समतट का उदय एवं प्रारंभिक विकास

बंगाल के प्राकृतिक विभाजन

वर्तमान भारत के बंगाल और बंगलादेश ही साधारणतया बंगाल नाम से अभिहित रहे हैं। ऐतिहासिक युग में प्राकृतिक और राजनीतिक कारणों से उनके अनेक छोटे-छोटे भाग हो गये, जिन्होंने समय-समय पर राजनीतिक प्रसिद्धि प्राप्त की। गुप्त साम्राज्य के युग तक तो उत्तर भारत के प्रधान राजनीतिक केन्द्र मगध से अलग उनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं था, किन्तु उसके बाद प्राय: सारे देश में राजनीतिक विघटन का जो क्रम प्रारम्भ हुआ उसमें बंगाल का भी निजी ऐतिहासिक विकास प्रारम्भ हो गया। उसके सर्वप्रमुख दो भाग गौड और वंग (बंग) अथवा बंगाल कहलाते थे और, यद्यपि उनकी राजनीतिक सीमाएँ घटती-बढ़ती रहती थीं, वे बहुत अधिक मात्रा में क्रमश: आधुनिक पश्चिमी बंगाल और बंगलादेश की भौगोलिक सीमाओं से मिलते-जुलते थे। गंगा की पूर्व में सर्वप्रमुख सहायक नदी पद्मा के उत्तर तथा ब्रह्मपुत्र के पश्चिम में पड़ने वाले आधुनिक राजशाही अधिमंडल और कूचबिहार के क्षेत्रों की प्राकृतिक इकाई पुंड्रवर्धन (भुक्ति) के नाम से प्रसिद्ध थी। पुंड्रनगर नाम मौर्यों के समय से ही प्रचलित था। गंगा की दूसरी सहायक नदी भागीरथी अथवा हुगली के पश्चिम में स्थित आधुनिक बर्दमान अधिमंडल वर्धमानमुक्ति कहलाता था, जो अत्यन्त प्राचीनकाल में राढ़ नाम से ज्ञात था। भागीरथी और पद्मा नदियों के बीच तथा ब्रह्मपुत्र के निचले बहाव एवं मेघना के मुहाने वाले प्रदेश मध्यबंगाल का निर्माण करते थे, जो पहले के प्रेसीडेंसी और ढाका अधि-मंडलों से मिलाये जाते हैं। संभवत: यही क्षेत्र प्लिनी और टॉलेमी द्वारा उल्लिखित गैंगरिडेई तथा कालिदास का वंग है[१]। मेघना के पूर्व अधिमंडल का सारा क्षेत्र समतट कहलाता था। जो दक्षिण में समुद्री किनारों तक फैला था। शशांक-हर्ष और हर्षोत्तर युग में राजनीतिक दृष्टि से गौड ने ही सर्वाधिक प्रसिद्धि प्राप्त की। उसकी राजधानी कर्णसुवर्ण मुर्शिदाबाद से १२ मील दक्षिण की ओर स्थित थी। किन्तु गौड के क्षेत्र

---

१. र० चं० मजुमदार, हिस्ट्री ऑफ् बेंगाल, पृ० २ और ११।

नहीं प्राप्त है। ऊपर जो कुछ लिखा जा चुका है, उससे इतना मात्र साबित होता है कि प्रारम्भ में उसने किसी अन्य सत्ता के सामन्त की हैसियत से शासन किया था। उसका गुप्तवंश से कोई सम्बन्ध था या नहीं अथवा राज्यवर्धन का वह हत्यारा गौडराज नरेन्द्र-गुप्त[१] था या नहीं, यह सब कुछ विवाद का विषय है। किन्तु हर्षवर्धन के शासनारम्भ के समय वह कर्णसुवर्ण को राजधानी बनाकर एक प्रमुख सत्ता बन चुका था, यह श्वान्-च्वांग् के विवरणों से स्पष्ट है। बढ़िया स्वर्णधातु और सुन्दर बनावट के उसके कुछ सिक्के भी प्राप्त हुए हैं, जिन पर गजलक्ष्मी (दो हाथियों द्वारा नहलायी जाती हुई लक्ष्मी) अंकित है। जयनाग[२] की स्वर्ण मुद्राओं की तरह शशांक के भी ये सिक्के उसके राज्याभिषेक की स्मृति में प्रचारित किये गये प्रतीत होते हैं। तथापि दुर्भाग्य यह है कि उसके इतिहास की सभी मुख्य घटनाओं, तिथियों अथवा उसके व्यक्तित्व का निष्पक्ष परिचय देनेवाला, उसके शत्रु और समकालिक हर्ष के सम्बन्ध में बाणभट्ट और श्वान्-च्वांग् की तरह, कोई सहानुभूतिपूर्ण लेखक नहीं हुआ, जिसका हम उसके इतिहास के ज्ञान के लिए सहारा ले सकते। श्वान्-च्वांग् सर्वप्रथम उसे राज्यवर्धन के हत्यारे और कर्णसुवर्ण के बौद्धधर्मद्वेषी राजा के रूप में उपस्थित करता है, जिससे बदला लेने की भावना से हर्ष अपने शासन के प्रारम्भ (६०६ ई०) में ही प्रेरित था। स्पष्ट है, हर्ष के गद्दी धारण करने के पूर्व ही शशांक गौड का एक स्वतंत्र, शक्तिशाली और महत्त्वाकांक्षी शासक हो चुका था। अतः हम उसके राज्याभिषेक और स्वतन्त्र राजनीतिक जीवन का प्रारम्भ ६०० ई० के आस-पास स्वीकार कर सकते हैं। उसकी महत्त्वाकांक्षा का इससे बड़ा अन्य कोई प्रमाण नहीं हो सकता कि उसने, थानेश्वर के पुष्यभूति और कन्नौज के मौखरि वंशों के आपसी वैवाहिक संबंधों द्वारा दृढ़ीकृत राजनीतिक सम्बन्धों के समतुल्य, मालवा के गुप्तों से अपनी मित्रता स्थापित की और प्रभाकरवर्धन की मृत्यु तथा देवगुप्त द्वारा ग्रहवर्मा के मारे जाने के

---

१. हर्षचरित में राज्यवर्धन के हत्यारे गौडराज की चर्चा है, उसकी एक हस्तलिपि में गौडराज का नाम नरेन्द्रगुप्त मिलता है। चूँकि राज्यवर्धन को शशांक ने मारा, यह कभी-कभी मान लिया जाता है कि शशांक और नरेन्द्रगुप्त एक ही व्यक्ति के दो नाम थे। देखिए, कॉवेल् और टॉमस्, पृ० २७५; व्हूलर; एइ०, प्रथम, पृ० ७०; हेमचन्द्र रायचौधुरी, पोहिनाइ०, पंचम सं०, पृ० ६०८, पादटिप्पणी ३; पद्मनाथ भट्टाचार्य विद्याविनोद, कामरूप शासनावली, भूमिका, पृ० १५; रा० दा० बनर्जी, हिस्ट्री ऑफ् ओरिसा, जिल्द १, पृ० १२९; रा० गो० बसाक, हिस्ट्री ऑफ् नार्थ ईस्ट इण्डिया, पृ० १३७-१३८; इहिक्वा; जिल्द ८, पृष्ठ ४-७।

२. जयनाग और शशांक के पूर्वापर सम्बन्ध के लिए देखिए, रा० गो० बसाक, पूर्व-निर्दिष्ट, पृ० १३९-१४०।

के आपसी सम्बन्धों का हमें कोई स्पष्ट ज्ञान नहीं है । तथापि इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि शशांक ही गौड का प्रथम शक्तिशाली शासक हुआ । उसके कुछ पूर्व शासन करने वाले कन्नौज के मौखरि राजा ईशानवर्मा के समय से ही गौडों और मौखरिओं की आपसी शत्रुता थी, जिसकी अभिव्यक्ति मगध पर प्रभुता प्राप्त करने के प्रयत्नों में होती थी । किन्तु अन्ततोगत्वा गौडों को मगध पर भी अपना शासन-क्षेत्र विस्तृत कर लेने में सफलता प्राप्त हुई । डॉ० सिनहा के मत[१] में जयनाग को इस सफलता का श्रेय दिया जाना चाहिए, जिसके साम्राज्यभोगी गुप्तों जैसे धनुर्धर प्रकार के सोने के सिक्के प्राप्त हुए हैं । उन सिक्कों की उल्टी ओर 'जय' अंकित है तथा गजलक्ष्मी (दो हाथी लक्ष्मी देवी पर पानी गिराते हुए) दिखाये गये हैं, जो सम्भवत: उसके राज्याभिषेक का द्योतक है । सहसराम जिले के रोहतासगढ़ की एक पहाड़ी पर शशांक की मुहर का एक साँचा प्राप्त हुआ है (कापर्स् इ० इ०, तृतीय, पृ० २८४ और आगे), जिसमें उसे **महासामन्त** कहा गया है । दुर्भाग्यवश उस पर कोई तिथि नहीं अंकित है और निश्चितरूप से यह नहीं कहा जा सकता कि वह मुहर शशांक के राजनीतिक जीवन के किस काल की है । किन्तु उसके इतिहास की अन्य बातों पर ध्यान देने से यह प्रतीत होता है कि मगध में रोहतासगढ़ के आसपास के क्षेत्रों पर उसने या तो, जैसा कि डॉ० सिनहा मानते[२] हैं, जयनाग के प्रतिनिधि राज्यपाल **महासामन्त** के रूप में शासन किया अथवा स्वयं मौखरि शासक ग्रहवर्मा के विरुद्ध अभियान करते उन्हें अधिकृत किया । दोनों ही अवस्थाओं में यह निश्चित है कि प्रारम्भ में उसका पद और अधिकार **महासामन्त** मात्र का था और वह पूर्वोत्तर भारत का **महाराजाधिराज** अथवा सम्राट् नहीं हो सका था । किन्तु इस बात पर बड़ा मतभेद है कि वह किसका **महासामन्त** था । डॉ० गांगुली[३] के मत में वह मौखरि शासक अवन्तिवर्मा तथा कुछ समय तक ग्रहवर्मा का सामन्त था । किन्तु मजुमदार महोदय उसे महासेनगुप्त का सामन्त स्वीकार करते हैं[४] । डॉ० सिनहा इन दोनों मतों को अस्वीकार करते हुए यह कहते हैं[५] कि वह जयनाग का **महासामन्त** था तथा उसी की ओर से मगध पर अधिकृत था ।

शशांकराज : प्रारम्भिक जीवन और राजसत्ता का विस्तार

गौडराज्य के स्वतन्त्र अस्तित्व का सर्वप्रथम निखार शशांक के समय में ही हुआ । परन्तु उसके वंश और प्रारंभिक राजनीतिक जीवन के बारे में हमें कोई प्रामाणिक जानकारी

---

१. वि० प्र० सिनहा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २२२ ।
२. वहीं ।
३. इहिक्वा०, जिल्द १२ पृ० ४५७ ।
४. र० चं० मजुमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, जि० १, पृ० ५६-५९ ।
५. वि० प्र० सिनहा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २२२-२२४ ।

करते हैं कि मिदनापुर और बलासोर के जिले उसके अधिकार में थे। अत्यन्त संभव है कि उन्हीं से होकर उसने कोंगद की विजय की हो। इस प्रकार दंडभुक्ति और उत्कल (उत्तरी उड़ीसा) पर उसका अधिकार होना प्रमाणित होता है। वि० प्र० सिनहा के मत में शशांक ने यह उपलब्धि ६०७ ई० के पूर्व कर ली होगी[१] और उसके द्वारा पराजित मान राजा संभवतः शंभुयशस् रहा होगा।

कामरूप पर आक्रमण

ऊपर जो कुछ लिखा जा चुका है, उससे स्पष्ट है कि गद्दी धारण करने के थोड़े दिनों के भीतर ही शशांक समस्त उत्तरी, मध्य तथा दक्षिण-पश्चिमी बंगाल एवं उड़ीसा का उत्तरी भाग अधिकृत कर चुका था। पीछे हम यह भी देख चुके हैं कि उसने अपने राजनीतिक जीवन का प्रारम्भ मगध में **महासामन्त** के रूप में किया था[२]। रोहतासगढ़ की एक पहाड़ी पर कटा हुआ उसकी मुद्रा का साँचा तथा नालन्दा और गया से प्राप्त होने वाले उसके सिक्के (आसरि०, १९२४-२५, पृ० १३६ और आगे) बिहार पर उसके अधिकार के द्योतक हैं। यह असंभव नहीं हैं कि उसने मगध से पश्चिम की ओर बढ़कर पूर्वी उत्तर प्रदेश के बनारस तक के क्षेत्रों को भी हस्तगत कर लिया हो। इस विस्तृत भूखंड के स्वामी शशांक की राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाएँ सीमित रह सकें, यह अस्वाभाविक होता, विशेषतः उस परिस्थिति में जबकि गुप्तों की अखिल भारतीय राजनीतिक सत्ता का अवसान हो चुका था और उनका स्थान ग्रहण करने वाली कोई दूसरी सत्ता उदित नहीं हुई थी।

शशांक अपने शासित क्षेत्रों की पूर्व और पश्चिम दोनों दिशाओं में अपने प्रभाव-विस्तार की योजनाएँ बनाने और कार्यान्वित करने लगा। मगध और बंगाल के बाहर उसका सर्वप्रथम अभियान कामरूप के वर्मन् राजाओं के विरुद्ध हुआ प्रतीत होता है। कामरूप जिले के दूबी नामक स्थान से भास्करवर्मा के कुछ ताम्रपत्राभिलेख मिले हैं, जिनसे यह ज्ञात होता है कि गौडबल अर्थात् गौड राजा की सेना ने लौहित्य नदी को पारकर कामरूप पर आक्रमण कर दिया, किन्तु उसे हार खानी पड़ी[३]। सम्बद्ध सन्दर्भों से ज्ञात है कि गौड सेना का मुकाबला असम के सुप्रतिष्ठितवर्मन् और भास्करवर्मन् नामक दो राजकुमारों ने किया था और वे विजयी होकर लौटे थे। यह घटना भास्करवर्मन् के

---

१. पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २४१।

२. क० ला० बरुआ के मत (अर्ली हिस्ट्री ऑफ् कामरूप, पृ० ५९) में शशांक मगध में महासेनगुप्त का सामन्त था।

३. जर्नल् ऑफ् असम रिसर्च सोसायटी, जिल्द ११वाँ, पृ० ३३ और आगे।

उपरान्त राजनीतिक और सैनिक पहलकर कन्नौज पर आक्रमण कर दिया। कन्नौज की ओर उसका बढ़ाव अत्यन्त द्रुतगति से हुआ प्रतीत होता है। **आर्यमंजुश्रीमूलकल्प** के आधार पर यह विश्वास किया जाता है कि कन्नौज के विरुद्ध अभियान करने के पूर्व वह वाराणसी तक के प्रदेशों को अपने कब्जे में कर चुका था[१]। यह तभी सम्भव था जब वह बंगाल में पूर्णरूप से अधिकृत हो चुका हो। यह अत्यधिक सम्भव है कि राज्यवर्धन को मार डालने (६०५ ई०) के पूर्व वह आधुनिक सिंहभूम एवं मानभूम के जिलों और मिदनापुर तथा मयूरभंज के उत्तरी भागों के उन सभी प्रदेशों को अधिकृत कर चुका हो, जिनसे होकर सुवर्णरिखा नदी बहती है। ताम्रलिप्ति अर्थात् तामलुक अवश्य ही उसके शासित क्षेत्रों में शामिल रहा होगा। मुर्शिदाबाद जिले में उसकी राजधानी कर्णसुवर्ण स्थित थी। इस प्रकार सम्पूर्ण मध्य और पश्चिमी बंगाल उसके शासन के अन्तर्गत आ चुके थे। उत्तरी बंगाल पर भी उसके शासन की व्याप्ति के प्रमाण हमें प्राप्त होते हैं। बोगड़ा जिले की एक झील से उसका नाम परम्परया सम्बद्ध है। **मंजुश्रीमूलकल्प** (७१२-७१५) में स्पष्टतः उसे पुण्ड्रवर्धन से जोड़ा गया है। इनके अतिरिक्त शैलोद्भववंश के **महाराज महासामन्त** श्री माधवराज (द्वितीय) के गुप्त सम्वत् ३००-६१९-२० ई० के गंजाम अभिलेख में शशांक का नाम **महाराजाधिराज** के विरुद के साथ उल्लिखित है[२]। माधवराज उड़ीसा में कोंगद का शासक था तथा उसके शशांक को अपना **महाराजाधिराज** मानने से यह स्पष्ट है कि दक्षिण में उड़ीसा के चिल्का झील तक के प्रदेशों तक शशांक की अधिसत्तात्मकता का विस्तार हो चुका था। वहाँ तक अपनी शक्ति-विस्तार करने के लिए उसे बीच में पड़ने वाले मान राजाओं के क्षेत्रों को अवश्य ही अधिकृत करना पड़ा होगा[३]। उस सम्बन्ध में हमें कोई लिखित जानकारी तो नहीं प्राप्त है, किन्तु मिदनापुर से उसके दो ताम्रपत्राभिलेख मिले हैं[४], जो इस बात को प्रमाणित

---

१. सोमारव्योऽपि ततो राजा एकवीरो भविष्यति।
गंगातीरपर्यन्तं वाराणस्यामतः परम्॥
मंजूश्रीमूलकल्प, ७१५वाँ, जायसवाल, इम्पीरियल् हिस्ट्री, पृ० ४९।

२. एइ०, जिल्द ६, पृ० १४३ और आगे।

३. र० चं० मजुमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ६०। इस सम्बन्ध में और देखिए, र० चं० मजुमदार, उड़ीसा इन दि मेकिंग, पृ० ११०; रा० दा० बनर्जी, हिस्ट्री ऑफ् ओरिसा, जि० १, पृ० १२७।

४. जएसो०, बेंगाल, जिल्द ११ पृ० १ और आगे; वि० प्र० सिनहा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २३६-३८।

मंडल शब्द का प्रयोग इस बात को प्रकट करता है कि शशांक प्राचीन भारतीय राजनीतिशास्त्र-विचारकों के उस मडंल सिद्धांत को प्रायोगिक रूप देने को उद्यत था, जिसमें एक विजीगीषु राजा अपने को अन्य मित्र राजाओं का प्रधान मानकर अपनी राजनीतिक सत्ता का चतुर्दिक् विकास करने का प्रयत्न करता था। डॉ० सिनहा का कथन है (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २४५) कि **हर्षचरित** में शशांक के साथ चन्द्रमा (शशांक), शिव (शंकर) और नन्दी (शक्कर) के उल्लेख उसके सिक्कों[१] पर उत्खचित पूर्ण चन्द्र, शिव और वृषभ का स्मरण कराते हैं। **हर्षचरित** का यह वर्णन उस समय का है जब थानेश्वर में प्रभाकरवर्धन की मृत्यु हो चुकी थी और राज्यवर्धन एवं हर्षवर्धन शोकाकुल हो एक दूसरे से मिले थे। तदुपरांत घटनाएँ इतनी त्वरितगति से घटीं कि ठीक-ठीक उनका क्रम बैठाना अत्यन्त कठिन है। पुष्यभूतियों के इतिहास का विचार करते समय हम कुछ घटनाओं का उल्लेख कर चुके हैं और पुनः उन्हें यहाँ संक्षेप में ही रखा जा सकता है। प्रभाकरवर्धन की मृत्यु के साथ ही पूर्वी मालवा के परवर्ती गुप्त शासक देवगुप्त द्वारा हर्ष के बहनोई और कन्नौज के राजा ग्रहवर्मा का वध और राज्यश्री का कैद में डाला जाना, देवगुप्त के विरुद्ध अभियान कर राज्यवर्धन का उसको युद्ध में परास्त कर मारना, राज्यवर्धन की छद्मपूर्वक शशांक द्वारा हत्या, तथा हर्ष की शत्रुओं के नाश की प्रतिज्ञा और दिग्विजय की योजना आदि पर हम पीछे प्रकाश डाल चुके हैं[२]। इन सारी घटनाओं के बीच में तत्कालीन राजनीतिक घटनाचक्र की धुरी के रूप में गौडराज शशांक और मालवराज देवगुप्त के बीच की मित्रता की स्थिति प्रायः सभी विद्वानों द्वारा, कोई स्पष्ट प्रमाण न होते हुए भी, मान ली गयी है[३]। यह ध्यान देने योग्य है कि कुछ ही समय पूर्व प्रभाकरवर्धन के शासन के प्रारंभिक वर्षों में मालवा के परवर्ती गुप्त और थानेश्वर के पुष्यभूति मित्र-सम्बन्धों में आबद्ध हो चुके थे। बाणभट्ट के अनुसार महासेनगुप्त के दो राजकुमार–कुमारगुप्त और माधवगुप्त–राज्यवर्धन और हर्षवर्धन के सखारूप में

---

१. कैटेलॉग ऑफ् दि क्वायन्स् ऑफ् दि ब्रिटिश म्यूजियम् ऑफ् दि गुप्ता डायनेस्टी ऐण्ड शशांक, पृ० १४७।

२. देखिए, पीछे अध्याय २।

३. इस मान्यता के विपरीत डॉ० धी० चं० गांगुली ने इस समय के सारे इतिहास को एक नये रूप में रखने का प्रयत्न किया। (इहिक्वा०, जि० १२, पृ० ४६१ और आगे) है, जिसका जोरदार प्रतिवाद डॉ० हेमचन्द्र रायचौधुरी ने किया है। देखिए पोहिनाइ०, पंचम संस्करण, पृ० ६०६ और आगे। रा० गो० बसाक (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १४४) के मत में देवगुप्त और शशांक की मित्रता ग्रहवर्मा की मृत्यु के बाद हुई थी न कि उसके पहले।

निधानपुर अभिलेख (एइ०, १२वाँ, पृ० ६५ और आगे) के उस उल्लेख के पूर्व की प्रतीत होती हैं जिसमें उसके कर्णसुवर्ण पर अधिकार कर लेने की बात कही गयी है। प्रतीत होता है कि गौडों द्वारा असम की यह चढ़ाई भास्करवर्मन् के गद्दी धारण करने के पूर्व तथा सुस्थितवर्मन् की मृत्यु के बाद की घटना थी और इस अभियान का संचालक शशांक था। असम पर शशांक के इस आक्रमण से उसकी साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षाओं का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। यद्यपि उसमें उसे सफलता नहीं मिली, किन्तु उसकी शक्ति में न तो कोई कमी आयी और न उसका युद्ध सम्बन्धी उत्साह ही फीका पड़ा। असम को केवल अपनी रक्षा मात्र कर सकने में सफलता मिली, न कि शशांक को किसी प्रकार दबाने में। वास्तविकता तो यह प्रतीत होती है कि असम ने गौडराज की बढ़ती हुई शक्ति से भयाक्रान्त होकर ही उसके एक अन्य शत्रुवंश-थानेश्वर के पुष्यभूति से मित्रता के लिए हाथ बढ़ाया। भास्करवर्मा और हर्षवर्धन के मित्र सम्बन्धों को इसी सन्दर्भ में देखा जा सकता है। किंतु यह तभी संभव हो सका जब शशांक ने स्वयं अपनी दृष्टि पूर्व में कामरूप से हटा ली और भारतीय राजनीति के प्रमुख केन्द्र मध्यदेश की राजनीति में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया। थानेश्वर के पुष्यभूतिओं और कन्नौज के मौखरिओं की बढ़ती हुई मित्रता के जवाब में उसने उनके समान शत्रु मालवा के गुप्तों से सम्बन्ध स्थापित किया और अवसर की ताक में लग गया। इस नीति में उसे प्रारम्भिक सफलता तो अवश्य मिली, किन्तु बाद में हर्ष जैसे एक शक्तिशाली सम्राट् की शत्रुता का उसे शिकार होना पड़ा, जो अन्ततः उसके पराभव का कारण बना।

कन्नौज पर आक्रमण और राज्यवर्धन का वध

बाणभट्ट **हर्षचरित** में शशांक का सर्वप्रथम उल्लेख जिस प्रकार करता है, उससे स्पष्ट है कि प्रभाकरवर्धन की मृत्यु होते-होते (६०५ ई०) वह अपनी पूरी शक्ति के साथ तत्कालीन राजनीतिक मंच पर उपस्थित हो चुका था। बाण का तत्सम्बन्धी सारा उल्लेख श्लेषात्मक है और सारे **हर्षचरित** में शशांक का नाम (चन्द्रमा के व्याज से) केवल वहीं आया है[१]। किन्तु अपनी श्लेषात्मक शब्दावलियों में भी वह अत्यन्तं व्यंजक है। दिन के अवसान के बाद आकाश में शशांकमंडल का उदय शंकर के नन्दीवृषभ के अपनी ही सींगों द्वारा फेकें गये पंक से पंकिल डील की तरह बताया गया है[२]। **शशांक**

---

१. कॉवेल् और टॉमस्; पृ० २७५।

२. प्रकटकलंकमुदयमानं विशंकटविषाणोत्कीर्णपंकसंकरशंकरसकूरशक्करककुदकूट संकाशमकाशताकाशे शशांकमण्डलम्।
हर्षचरित, पृ० ३८; देखिए, कॉवेल् और टॉमस्, पृ० २७५; एइ०, जि० १, पृ० ७०; रा० गो० बसाक, इहिक्वा०, जिल्द ८, पृ० ४।

तो शशांक को वहाँ पहुँचने में देर न लगती । वाराणसी के प्रदेशों तक उसका पहले से ही अधिकार था[१] और पूर्वी मालवा से कन्नौज जितनी दूर था, उसके मुकाबले वाराणसी से उसकी दूरी कम ही थी । कन्नौज पर देवगुप्त का अधिकार कदाचित् शशांक को उतना ही अस्वीकार्य रहा होगा, जितना थानेश्वर के पुष्यभूतियों को । थानेश्वर से कन्नौज की दूरी कम थी और राज्यवर्धन अपने दस हजार घुड़सवारों को लेकर भण्डि के साथ जिस तेजी से देवगुप्त के विरुद्ध चला, उसमें देवगुप्त को सम्भलने का मौका ही नहीं मिला । संवादक की सूचना के अनुसार, देवगुप्त ग्रहवर्मा को मारकर थानेश्वर पर भी अभियान की योजना बना रहा था[२] । किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि राज्यवर्धन से उसकी मुठभेड़ या तो कन्नौज में अथवा उसके आसपास ही कहीं हुई, जहाँ वह पराजित होकर मारा गया । किन्तु तबतक शशांक भी पीछे से कन्नौज पर चढ़ गया था, जिसे **हर्षचरित** में **गौडसंभ्रम**[३] की संज्ञा दी गयी है । अतः राज्यवर्धन के सामने देवगुप्त और उसके सहायकों को परास्त कर देने के बावजूद कन्नौज की समस्या ज्यों की त्यों बनी रही । तथापि वह वीर पीछे हटनेवाला नहीं था तथा उसने शशांक के मुकाबले का निश्चय किया । लेकिन शशांक आयु, राजनीतिक अनुभव और कुटिलता में उससे बढ़कर था और जिस छद्म[४] से उसने राज्यवर्धन की हत्या की, उसकी चर्चा हम पीछे कर चुके हैं । यह नहीं जान पड़ता कि राज्यवर्धन की हत्या करने के बाद वह कन्नौज में टिका । **हर्षचरित** से यह ज्ञात होता है कि **गौडसंभ्रम** में गुप्त नामक किसी **कुलपुत्र** ने राज्यश्री को कारागार से मुक्त कर दिया,[५] जो विंध्याचल की पहाड़ी तथा वन्य प्रदेशों में कहीं चली गयी । वहाँ से बाद में हर्ष ने उसका उद्धार किया । वह गुप्त कौन था, यह जानने

---

१. जायसवाल, इम्पीरियल् हिस्ट्री, पृ० ४९ ।

२. देखिए, पीछे अध्याय २ ।

३. हर्षचरित, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २२६ और पृ० २४९ ।

४. कुछ बंगाली विद्वान् राज्यवर्धन के छद्म से मारे जाने सम्बन्धी हर्षचरित और श्वान्-च्वांग् के साक्ष्यों को पक्षपातपूर्ण मानते हैं और वे शशांक द्वारा छद्म प्रयोग किये जाने की बात नहीं स्वीकार करते । देखिए, रा० दा० बनर्जी, बांगलार इतिहास, पृ० १०७; रा० प्र० चन्दा, गौडलेखमाला, पृ० ८-१०; र० चं० मजुमदार, हिस्ट्री ऑफ् बेंगाल, जि० १, पृ० ७१-७६ । लेकिन रा० गो० बसाक (पूर्वनिर्दिष्ट पृ० १४४-४५; इहिक्वा, जिल्द ९, पृष्ठ ९-१२) राज्यवर्धन की छद्मपूर्ण हत्या की घटना के सही होने के अनेक प्रमाण हर्षचरित से देते हैं और रा० प्र० चन्दा आदि के मतों को अस्वीकार्य बतलाते हैं ।

५. हर्षचरित, पूवनिर्दिष्ट, पृ० २४९ ।

थानेश्वर में रहते थे[१] । इसके अतिरिक्त प्रभाकरवर्धन की माता महासेनगुप्ता भी मालवा की राजकुमारी थी[२] । इस मित्र-सम्बन्ध के एकाएक उलट जाने का कारण परवर्ती गुप्तों के शत्रुवंश मौखरियों के राजा ग्रहवर्मा से प्रभाकरवर्धन का अपनी पुत्री राज्यश्री का विवाह कर देना ही हो सकता है । लेकिन ग्रहवर्मा-राज्यश्री विवाह के पूर्व भी थानेश्वर और कन्नौज के राजदरबारों के आपसी सम्बन्ध धीरे-धीरे घनिष्ट होते रहे होंगे, जिनका प्रभाव थानेश्वर और मालवा के आपसी सम्बन्धों में तनाव के रूप में विकसित हुआ होगा । **हर्षचरित** में प्रभाकरवर्धन की राजनीतिक उपलब्धियों में जो उसे **मालव-लक्ष्मीलतापरशु** कहा गया है, वह अवश्य ही मालवा से धीरे-धीरे बढ़ती हुई उसकी शत्रुता का द्योतक है । यह संभव है कि शशांक ने पूर्वी मालवा के परवर्ती गुप्तों की अप्रसन्न मन:स्थिति का लाभ उठाकर उनके कन्नौज के मौखरि शत्रुओं के विरुद्ध एक धुरी कायम कर दी हो । किन्तु इसके स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलते हैं । यह भी निश्चितरूप से ज्ञात नहीं है कि गौड-मालव धुरी ने कोई स्पष्ट सैनिक कार्यक्रम तैयार कर रखा था अथवा नहीं, जिसका कार्यान्वयन अवसर आते ही उन्होंने प्रारम्भ कर दिया हो । ऐसा लगता है कि उन दोनों में कन्नौज के विरुद्ध समान शत्रुता का भाव तो था लेकिन अपनी-अपनी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं का वे कोई सामंजस्य नहीं बिठा सके थे । देवगुप्त और शशांक दोनों ही शक्तिशाली और राजनीतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वाकांक्षी प्रतीत होते हैं और कन्नौज के विरुद्ध उनका तालमेल (यदि कोई तालमेल रहा हो तो) अवसर का परस्पर अपनी-अपनी दृष्टियों से लाभ उठाने तक ही सीमित प्रतीत होता है । कन्नौज पर उनका आक्रमण समवेत और योजनाबद्ध नहीं था, यह **हर्षचरित** से स्पष्ट है । तदनुसार[३], देवगुप्त ने प्रभाकरवर्धन के मरते ही ग्रहवर्मा को अरक्षित पाकर उस पर चढ़ाई कर दी और उसे मार डाला[४] तथा राज्यश्री को श्रृंखलाबद्ध कर कारागार में डाल दिया । यदि देवगुप्त और शशांक दोनों ने ही कन्नौज पर साथ-साथ आक्रमण की योजना बनायी होती

---

१. रायचौधरी, पोहिनाइ०, पंचम संस्करण, पृ० ६०६ ।

२. देखिए, मधुबन और बाँसखेड़ा के अभिलेख ।

३. कॉवेल् और टॉमस्, पृ० १७३ ।

४. डॉ० धी० चं० गांगुली का यह मत (इहिक्वा, जि० १२, पृ० ४६) स्वीकार नहीं किया जा सकता कि ग्रहवर्मा को मारनेवाला मालवा का राजा देवगुप्त नहीं था अपितु कलचुरि राजा बुद्धराज था । हर्ष के अभिलेखों (देखिए, एइ० चतुर्थ, पृ० २१०) में दुष्ट घोड़ों की तरह कशाप्रहार से पीड़ित और युद्ध में पराजित राजाओं में देवगुप्त स्पष्टतः उल्लिखित है । हर्षचरित में भी मालवा से गुप्तों का ही सम्बन्ध बताया गया है ।

को अपनी ओर से अनेक उपहार भेजे और उससे शीघ्र ही मिलने की इच्छा प्रगट की, उससे यह स्पष्ट है कि वह शशांक के विरुद्ध स्वयं भी मित्रों की खोज में था । हंसवेग को असम से चलकर थानेश्वर के पास तक आने में काफी समय लगा होगा । यह इस बात का द्योतक है कि शशांक के विरुद्ध किसी भी सशक्त मित्र से हाथ मिला लेने की ताक में भास्करवर्मा भी पहले से ही था । किन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं है कि इस मित्रता का शशांक के विरुद्ध आक्रमण के रूप में कोई तुरंत परिणाम निकला । इतना मात्र स्पष्ट लगता है कि हर्ष की शशांक के प्रति शत्रुता के भाव का अपने पक्ष में लाभ उठाने का प्रयत्न भास्करवर्मा ने प्रारंभ कर दिया । भविष्य में गौड के विरुद्ध आक्रमण की योजना कार्यान्वित करने में दोनों ने समन्वित हो जाने का संकल्प कर लिया । **हर्षचरित** से ज्ञात होता है[१] कि हर्ष को अपनी विजययात्रा के मार्ग में ही भण्डि मिला, जिसने राज्यश्री के विंध्य के जंगलों में चले जाने तथा उसे खोजने के अपने सभी प्रयत्नों की असफलता की सूचना दी । हर्ष विवश होकर राज्यश्री की खोज में अटक गया और कुछ समय तक शशांक के विरुद्ध बढ़ने का उसे कोई अवसर ही नहीं रहा । किन्तु, श्वान्–च्वांग् बताता है[२] कि राज्यश्री की खोज कर लेने के बाद भी पहले उसने कन्नौज की गद्दी पर अधिकार करना अधिक आवश्यक समझा ।

कन्नौज पर अधिकार कर लेने के बाद शशांक से अपने भाई राज्यवर्धन के वध का बदला लेने में हर्ष ने कब सफलता पायी, इसे निश्चय करने का हमारे पास कोई पक्का प्रमाण नहीं है । अनेक विद्वान्[३] प्रायः यह मान लेते हैं कि हर्ष–भास्करवर्मा की सम्मिलित सेनाओं ने गौड पर शीघ्र ही आक्रमण कर शशांक को हराया अथवा शशांक ने स्वयं हर्ष की अधिसत्ता मान ली और पुनः वह सामन्त रूप में गौड और मगध पर शासन करने लगा । किन्तु ऐसा संभव प्रतीत नहीं होता कि हर्ष अपने भाई के हत्यारे को समाप्त कर देने की प्रतिज्ञा के बाद उसे क्षमाकर मगध के सामन्तरूप में शासन करने के लिए छोड़ दे अथवा स्वयं शशांक भी स्वेच्छया अपने शत्रु की अधिसत्ता स्वीकार ले । इसके

---

१. वहीं, पृ० २२४ ।

२. देखिए, पीछे अध्याय २ ।

३. चि० वि० वैद्य, हिमेहिइ०, जि० १, पृ० ३० और आगे; पन्निक्कर, श्रीहर्ष, पृ० १७ और आगे; निहार रञ्जन राय, कार्पस्, जि० ३ पृ० २८३ और आगे, तथा कलकत्ता रिव्यू, १९२८, पृ० २०७ और आगे । श्री झारखण्डी का यह कथन (इहिक्वा०, जि० १२, पृ० १४३–१४४) एकदम साक्ष्यहीन है कि शशांक ने अपनी पुत्री का हर्ष से विवाहकर अपनी प्राणरक्षा की तथा महाराजाधिराज का विरुद धारण करने की अनुमति भी प्राप्त कर ली । यह मत कोरी कल्पना की उड़ान का परिचायक है ।

का कोई प्रामाणिक साधन नहीं प्राप्त है[१] । किन्तु इतना स्पष्ट है कि कन्नौज में घटनाएँ अत्यन्त तेजी से घट रही थीं और उसपर बारी-बारी से अधिकार करनेवालों में किसी को भी कोई स्थायित्त्व नहीं मिला ।

शशांक के विरुद्ध हर्ष-भास्करवर्मा मैत्रीसंघ

राज्यवर्धन की शशांक द्वारा हत्या का समाचार सुनकर हर्ष की जो प्रतिक्रिया हुई, उसकी चर्चा हम दूसरे अध्याय में कर चुके हैं । सिंहनाद का उसे उत्साह दिलाते हुए गौडराज सहित सभी शत्रुओं के दमन के लिए उत्तेजित करना तथा हर्ष द्वारा पृथ्वी को शशांक से रहित कर देने की प्रतिज्ञा करना[२] इस बात के द्योतक हैं कि थानेश्वर और कन्नौज (हर्ष द्वारा उसकी भी गद्दी धारण कर लेने के बाद) के सामने शशांक सबसे बड़े शत्रु के रूप में दिखायी दे रहा था । किन्तु शशांक स्वयं भी राजनीतिक चिंताओं से मुक्त न रहा होगा । कामरूप का भास्करवर्मा तो उसका पहले से ही शत्रु था; कन्नौज पर आक्रमण और पुनः राज्यवर्धन की हत्या कर उसने कन्नौज की भी शत्रुता मोल ले ली । ऐसी स्थिति में भास्करवर्मा के हर्ष के साथ मिल जाने की संभावना उसके सामने अवश्य नाचती रही होगी और कदाचित् यही कारण था कि वह कन्नौज के धावे से अपने क्षेत्र गौड तुरन्त वापस लौट गया । यों, अपने मूल क्षेत्रों से इतनी दूर कन्नौज पर अधिकार बनाये रखना भी उसके लिए संभव नहीं था । किन्तु इस सम्बन्ध में हमारा यह दुर्भाग्य ही है कि उसके पीछे के जीवन की घटनाओं की ही तरह आगे की घटनाओं का भी कोई क्रम ज्ञात नहीं है । **हर्षचरित** से इतना मात्र ज्ञात होता है कि गौडों को निर्मूल कर देने की प्रतिज्ञा के बाद जब हर्षवर्धन ने एक बहुत बड़ी सैनिक तैयारी के साथ युद्ध के लिए कूच किया तो उसकी प्रथम दिन की यात्रा समाप्त होते ही उसके सामने प्राग्ज्योतिष (असम) के राजा भास्करवर्मा का दूत हंसवेग अपने स्वामी के उपहारों और मित्रता के प्रस्ताव के साथ उपस्थित हुआ[३] । हर्ष ने जिन खुले हाथों हंसवेग का स्वागत करते हुए भास्करवर्मा

---

१. धी० चं० गांगुली उसे देवगुप्त मानते हैं (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ४६४ तथा जबिओरिसो०, १९वाँ, पृ० ४०७) । किन्तु ऐसा मानने वाला उनके अतिरिक्त और कोई नहीं है । उनके मत के प्रतिवाद के लिए देखिए, वि० प्र० सिनहा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २४९-५०, नोट ७ । कुछ ने (एइ०, जि० १, पृ० ७०) इस कुलपुत्र की पहचान शशांक से ही की है । किन्तु बाण उसे जिन निन्दा के शब्दों के साथ उपस्थित करता है, उससे यह नहीं लगता है कि वह आदरार्थ 'कुलपुत्र' शब्द से अभिहित किया जाता । कुछ ने (इहक्वा०, जि० ८, पृ० १ और आगे) उसे मौखरियों से सम्बद्ध माना है ।

२. देखिए, पीछे पृष्ठ ३६ ।

३. कॉवेल एण्ड टॉमस्, पृ० २११ और २१८ ।

साथ बंगाल और उड़ीसा के **महाराजाधिराज** के रूप में शासन करता था। इस सम्बन्ध में उन विद्वानों[१] का मत स्वीकार नहीं किया जा सकता, जो यह मानते हैं कि बंगाल से हर्ष द्वारा निष्कासित किये जाने के बाद शशांक उड़ीसा की विजय कर वहाँ का **महा-राजाधिराज** बन गया। वास्तव में वह **महासामन्तमहाराज** माधवराज द्वारा **महाराजाधिराज** स्वीकार किया गया, जो तब तक असंभव था जब तक शशांक स्वयं अपने क्षेत्रों का निष्कंटक स्वामी न रहा हो। पीछे हम देख चुके हैं कि शशांक प्रायः संपूर्ण उत्तरी, पश्चिमी, मध्य तथा पश्चिम-दक्षिण बंगाल एवं उड़ीसा तथा मगध का स्वामित्त्व कन्नौज के विरुद्ध अपने अभियान के पूर्व प्राप्त कर चुका था और हर्ष द्वारा पराजित किये जाने के बाद उसकी किसी विजय का कोई प्रमाण नहीं है। अन्य प्रमाणों से भी यह स्पष्ट है कि गंजाम अभिलेख का वर्ष (६१९-६२० ई०) शशांक के चरमोत्कर्ष का अंतिम समय था और उसके बाद उसका पराभव प्रारम्भ हो गया।

हर्ष-भास्करवर्मा का संयुक्त आक्रमण और शशांक का पतन

शे-किया-फेंग्-चे के साक्ष्य का पीछे हम उल्लेख कर चुके हैं। उससे यह ज्ञात होता है कि हर्ष ने 'कुमारराज' के साथ मिलकर बौद्धधर्म-विरोधी शशांक, उसकी सेना और उसके अनुयायियों को नष्ट कर (हरा) दिया[२]।' हर्ष और भास्करवर्मा का यह संयुक्त आक्रमण ६१९-२० ई के बाद उस समय हुआ प्रतीत होता है, जिसे मा-ट्वान्-लिन् नामक एक अन्य चीनी इतिहासकार 'तागवंश के उ-ते-युग' (खो-आत्सु के शासनकाल ६१८-६२७ ई०) का समय और 'अत्यन्त अशान्ति का युग' बताता है[३]। शशांक पर हर्षवर्धन की विजय की पुष्टि **आर्यमंजुश्रीमूलकल्प** से भी होती है[४]। **सि-यू-कि** की ही तरह उस ग्रंथ में भी शशांक की बौद्धधर्मविरोधी प्रवृत्तियों के कारण कटु निन्दाएँ की गयी हैं तथा उसके अनेक कथन अनैतिहासिक लगते हैं। तथापि यह प्रायः

---

१. रा० दा० बनर्जी, हिस्ट्री ऑफ् ओरिसा, जिल्द १, पृ० १२९ : सेन, सम् हिस्टॉरिकल् ऐस्पेक्ट्स ऑफ् दि इन्स्क्रृप्शन्स् ऑफ् बेंगाल, पृ० २७२।

२. देखिए, सुधाकर चट्टोपाध्याय, अर्ली हिस्ट्री ऑफ् नार्थ इण्डिया, पृष्ठ २४८।

३. वहीं।

४. कुछ विद्वानों का यह मत है कि हर्षवर्धन ने शशांक के क्षेत्रों पर दो बार चढ़ाइयाँ कीं, जिनमें प्रथम बार या तो वह हार गया अथवा यदि जीता भी तो शशांक को विशेष क्षति नहीं पहुँचा सका और उसे वापस लौटना पड़ा। उसकी दूसरी विजय सम्भवतः शशांक की मृत्यु के बाद हुई। देखिए रा० गो० बसाक, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १५२-१५३; वि० प्र० सिनहा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २५२-२५७।

विपरीत बरुआ (अर्ली हिस्ट्री ऑफ् कामरूप, पृ० ६५-६६) तथा रा० दा० बनर्जी (हिस्ट्री ऑफ् ओरिसा, जि० १, पृ० १२९) और नगेन्द्र नाथ बसु (बांगलार जातीय इतिहास, प्रथम, ६५-६६) की यह मान्यता है कि हर्ष और भास्करवर्मा की सेनाओं ने क्रमशः पूर्व और पश्चिम से कर्णसुवर्ण पर आक्रमण कर अधिकार कर लिया तथा शशांक को विवश होकर उड़ीसा की ओर भागना पड़ा। बनर्जी के मत में यह घटना संभवतः शशांक को **महाराजाधिराज** कहने वाले ६१९-६२० ई० के गंजाम अभिलेख के प्रकाशित किये जाने के पूर्व घटी थी। उपर्युक्त मतों में किसी को स्वीकार नहीं किया जा सकता। सम्बद्ध साक्ष्यों से स्पष्ट है कि शशांक के विरुद्ध हर्ष-भास्करवर्मा मैत्रीसंघ को जो सफलता मिली, वह तीनों के शासनकाल के अन्तिम वर्षों की ही घटना थी न कि प्रारम्भ (६१० ई०) के समय की। बाणभट्ट पृथ्वी को निर्गौंड कर देने की हर्ष की प्रतिज्ञा तो बताता है किन्तु उसकी पूर्ति का कोई उल्लेख नहीं करता। क्या इसका कारण यह तो नहीं है कि वह हर्ष के शासन के कुछ प्रारंभिक वर्षों तक ही जीवित रहा और **हर्षचरित** समाप्त करने तथा शशांक से हर्ष के बदला लेने के पूर्व ही उसकी मृत्यु हो गयी और इस कारण वह **हर्षचरित** में सभी घटनाओं का वर्णन नहीं कर सका ? ऐसा सन्देह इस कारण होता है कि बाणभट्ट द्वारा अपूर्ण **कादम्बरी** को उसके पुत्र भूषणभट्ट ने पूरा किया। श्वान्-च्वांग् का भी इतना मात्र कथन है कि हर्ष ने राजा होने के तुरन्त बाद एक बड़ी सेना इकट्ठी की और अपने भाई की हत्या का बदला लेने एवं समीपवर्ती देशों को अधीन करने चल पड़ा। पूर्व की ओर बढ़कर उन राज्यों पर उसने आक्रमण किया, जिन्होंने उसकी अधीनता नहीं मानी थी'[1]। चीनी यात्री का यह कथन एकदम गोलमटोल है तथा इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि हर्ष को शशांक के विरुद्ध सफलता प्राप्त हुई। यद्यपि बाणभट्ट की तरह वह भी साफ-साफ कहता है कि उसने राज्यवर्धन की हत्या का बदला लेने की ठानी अवश्य थी। श्वान्-च्वांग् के उद्धरणों से कुछ विद्वानों[2] ने यह निष्कर्ष निकाला है कि वह बौद्धधर्मविनाशी शशांक के विरुद्ध पूर्वाग्रहों से भरा था तथा दूसरी ओर बौद्धधर्मसेवी हर्ष के प्रति सहानुभूतिपूर्ण था। अतः यदि हर्ष की शशांक पर विजय हुई होती तो निःसन्देह वह उसका स्पष्ट उल्लेख करता। गंजाम अभिलेख[3] से भी स्पष्ट है कि ६१९-६२० ई० तक शशांक अपने पूरे गौरव और शक्ति के

---

१. वाटर्स्, जिल्द १, पृ० ३४३।

२. देखिए, र० चं० मजुमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, जि० १, पृ० ७१ और आगे; वि० प्र० सिनहा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २५३, २५४, २५८ आदि।

३. एइ०, जिल्द ६, पृ० १४४। उस अभिलेख में 'चतुःसमुद्रों के जल से घिरी हुई, नगरों तथा पर्वतों से युक्त और सद्वीपा पृथ्वी पर महाराजाधिराज शशांक' को शासन करता हुआ बताया गया है।

और भास्करवर्मा ने आपस में बाँटकर अधिकृत कर लिया[१]। भास्करवर्मा के अतैथिक निधानपुर अभिलेख[२] से यह स्पष्ट होता है कि उसने कर्णसुवर्ण पर अधिकार जमा लिया था। इस बात के ऐतिहासिक साक्ष्य उपलब्ध हैं कि हर्ष के दक्षिणी और दक्षिण-पूर्वी अभियान ६३० ई० के आसपास और उसके बाद हुए। पुलकेशिन् से होने वाले उसके युद्ध का सर्वप्रथम उल्लेख अहिहोड़ के ६३३-३४ ई० वाले अभिलेख में मिलता है। गंजाम पर उसका आक्रमण ६४२-४३ ई० में हुआ था[३]। ये सारी घटनाएँ शशांक की मृत्यु और हर्ष द्वारा उसके अधिकांश क्षेत्रों पर अधिकार कर लिये जाने के बाद ही घटित हुई प्रतीत होती हैं।

शशांक के बाद बंगाल में अव्यवस्था

शशांक की मृत्यु किस वर्ष हुई, यह निश्चित करने का कोई साधन नहीं है। अनुमानतः हम उसे ६२५-६३० ई० के बीच की घटना मान सकते हैं। उसकी मृत्यु के साथ समस्त उत्तरी भारत पर साम्राज्यवादी अधिकार करने का सर्वप्रथम बंगाली प्रयत्न तो समाप्त हो ही गया, स्वयं उसके क्षेत्र गौड-बंगाल में भी अराजकता व्याप्त हो गयी। **मंजुश्रीमूलकल्प** में कहा गया है कि 'सोम (शशांक) की मृत्यु के बाद गौड की राजनीतिक व्यवस्था पारस्परिक अविश्वास का शिकार हो गयी, आपसी ईर्ष्या--द्वेष और संघर्ष के बीच कोई एक सप्ताह तक राजा हुआ तो कोई एक मास तक और पुनः गण-तंत्रात्मक शासन लागू हुआ। गंगा के इस किनारे पर यह नित्यप्रति की अवस्था हो गयी। बिहारों के ध्वंसावशेषों से भवनों का निर्माण हुआ। तत्पश्चात् सोम का मानव नामक पुत्र आठ मास तक शासक[४] रहा'। यह कहना कठिन है कि बौद्धधर्मविरोधी शशांक के बारे में बौद्धधर्मप्रशंसी **मंजुश्रीमूलकल्प** के ये कथन ऐतिहासिक दृष्टि से कितने तथ्यपूर्ण हैं। यह असंभव नहीं है कि शशांक को मिलने वाले देवदंड की कल्पनाओं के अनुरूप ही यह विवरण भी हो। तथापि इतना निश्चित प्रतीत होता है कि शशांक की निजी प्रतिभा तथा सैनिक एवं राजनीतिक संगठन की शक्ति का (उसकी मृत्यु के कारण) अंत होते ही बंगाल का अधिकांश भाग अव्यवस्था और अराजकता का केन्द्र बन गया। **मंजूश्री-**

---

१. त्रिपाठी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १०३ और ११९; रा० गो० बसाक, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १५२; इहिक्वा० १९३२, पृ० १४-१५; सुधाकर चट्टोपाध्याय, पूर्वनिर्दिष्ट, प्रथम सं०, पृ० २५०।

२. एइ०, जिल्द १२, पृ० ६५-६६; जिल्द १४, पृ० ११५।

३. बील, जीवनी, पृ० १५७।

४. जायसवाल, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ५०-५१।

मान्य है कि उसका यह कथन ऐतिहासिक परम्पराओं पर आधृत है कि 'वैश्यवृत्तिवाला महासैन्य, महाबली, हकार नामक राजा पूर्वदेश के पुण्ड्र नामक उत्तम नगर की ओर गया-दुष्ट कर्मानुसारी सोम नामक राजा को परास्त किया[१] और उसे अपने देश से बाहर जाने से रोक दिया। यहाँ 'हकार' से हर्षवर्धन और 'सोम' से शशांक का अभिप्राय है। पुण्ड्र नामक उत्तम नगर[२] स्पष्टतः उत्तरी बंगाल में स्थित पुण्ड्रवर्धन था, जिसकी ओर हर्ष के जाने के उल्लेख से यह प्रतीत होता है कि भास्करवर्मा और हर्ष की सेनाओं ने पूर्व और पश्चिम से शशांक पर अपने संयुक्त अभियान को उत्तरी बंगाल से ही प्रारम्भ किया था। उत्तरी बंगाल से होकर शशांक पर आक्रमण करना भास्करवर्मा को इसलिए अधिक आसान हुआ होगा कि पूर्व में करतोया नदी के बायें किनारे तक कामरूप राज्य की सीमाएँ फैली हुई थीं। हर्ष की सेनाओं को उसकी सेनाओं से पुण्ड्रवर्धन से संयुक्त हो जाने में कन्नौज से अपेक्षाकृत कम दूरी का सामना करना पड़ा होगा। वहाँ युद्ध की संभावना से यह बात भी पुष्ट होती है कि शशांक अपने विरुद्ध इन सारी सम्भावनाओं के प्रति जागरूक था और शत्रु सेनाओं के मुकाबले की पूरी तैयारी कर चुका था। किन्तु इस युद्ध का संभवतः कोई निर्णायक परिणाम नहीं हुआ और शशांक कर्णसुवर्ण में शासन करता रहा। पीछे[३] हम यह देख चुके हैं कि ६१९-२० ई० के बाद भी बहुत दिनों तक वह जीवित था। ६३७ ई० में श्वान्-च्वांग् मगध गया था और वह कहता है कि उसके थोड़े ही दिनों पूर्व शशांक ने वहाँ के बोधिवृक्ष, बौद्ध मठों और विहारों का नाशकर बौद्धों पर अनेक अत्याचार ढाये थे[४]। पुनः, ६३९ ई० में वह कर्णसुवर्ण[५] गया, जहाँ के राजा का नाम वह नहीं बताता। यह स्पष्ट लगता है कि ६३७ ई० के पूर्व शशांक की मृत्यु अवश्य हो चुकी थी। इसके स्पष्ट संकेत मिलते हैं कि उसकी मृत्यु के बाद उसका राज्य हर्ष

---

१. जायसवाल, इम्पीरियल् हिस्ट्री, पृ० ५०।

२. जायसवाल के मत में (वहीं पृ० ५३, श्लोक ७२३ का अनुवाद) इस उत्तम नगर (पुरमुत्तमम्) में शशांक की राजधानी थी। किन्तु श्वान्-च्वांग् यह स्पष्टरूप से कहता है कि उसकी राजधानी कर्णसुवर्ण थी। हो सकता है कि पुण्ड्रवर्धन शशांक के समय में भी उत्तरी बंगाल की राजधानी रही हो। पुण्ड्रवर्धन की पहचान करतोया नदी के किनारे स्थित महास्थानगढ़ से की गयी है। देखिए, आसरि०, जि० १५ पृ० १०४, ११०।

३. देखिए, पृष्ठ १०५-१०६।

४. वाट्र्स्, जिल्द २, पृ० ११५।

५. देखिए, कनिंघम्, ऐन्श्येण्ट ज्यॉग्रफी ऑफ् इण्डिया, सं० मजुमदार, पृ० ६४७।

हैं कि हर्ष के बाँसखेड़ा ताम्रपत्राभिलेख से उसके पश्चिमी बंगाल पर अधिकार होने की बात का समर्थन होता है। वह अभिलेख हर्ष सम्वत् २२ अर्थात् ६२८–२९ ई० में वर्धमानकोटि के विजयी शिविर से प्रकाशित हुआ था, जहाँ हर्ष अपनी विशाल हस्ति, अश्व, और नौ सेना के साथ निवास कर रहा था। अनेक विद्वानों की यह मान्यता है कि यह वर्धमानकोटि या तो पश्चिमी बंगाल का बर्दवान[1] है अथवा दिनाजपुर का वर्धन-कोटि[2] है। संभवतः इसे ही बाद में वर्धमानभुक्ति कहा जाने लगा। इस लेख से यह स्पष्ट है कि ६२८–२९ ई० तक पश्चिमी बंगाल पर हर्ष का अधिकार हो चुका था और उसकी ही विजय के सिलसिले में बाँसखेड़ा का अभिलेख प्रकाशित किया गया था[3]। यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि हर्ष के इस अभियान का शिकार शशांक का पुत्र मानव ही हुआ होगा, जिसके फलस्वरूप उसका शासन समाप्त हो गया।

उत्तरी और मध्य बंगाल पर भास्करवर्मा का अधिकार

शशांक के जिन क्षेत्रों पर हर्ष का अधिकार हुआ, वे उसके कुशल और संगठित प्रशासन का सुख बहुत दिनों तक नहीं भोग सके। हर्ष की मृत्यु (६४६–४७) के बाद सारा उत्तरी भारत विशृंखलित होकर छोटी-छोटी राजनीतिक इकाइयों में बँट गया। सर्वत्र अव्यवस्था फैल गयी, जिसमें सैनिक साहसिकों तथा राजनीतिक महत्त्वाकांक्षियों की संख्या बहुत बढ़ गयी। इन्हीं परिस्थितियों में भास्करवर्मा ने संभवतः उत्तरी और मध्य बंगाल पर अधिकार कर लिया, जिसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि वैंङ्ग-ह्वान्-शे के दूतमण्डल पर जब अरुणाश्व अथवा अर्जुन ने आक्रमण कर दिया तो चीनियों ने उसके विरुद्ध तिब्बत और नेपाल के साथ पूर्वी भारत (कामरूप) के राजा कुमार (भास्करवर्मा) से भी सहायता माँगी और पायी[4]। उत्तरी बंगाल (पुण्ड्रवर्धन)

भास्करवर्मा के दरबार में था। उसे भेज देने का हर्ष ने भास्करवर्मा के पास सन्देश भेजा, जिसने यह कहला भेजा कि हर्ष यदि चाहे तो उसका सिर माँग ले किन्तु श्वान्-च्वांग् को न माँगे। श्रीहर्ष ने जोर देकर उसे अपना सिर भेज देने की ही आज्ञा दे दी। भास्करवर्मा डर गया और विवश होकर उसे श्वान्-च्वांग् को अपने यहाँ से हर्ष के दरबार के लिए विदा करना पड़ा। देखिए, जीवनी, पृ० ८७२।

१. पार्जिटर, मार्कण्डेयपुराण, अंग्रेजी अनुवाद, पृ० ३५८; वि० प्र० सिनहा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २७०–२७२।

२. नन्दलाल दे, ज्यॉग्रफिकल् डिक्शनरी ऑफ् ऐंशियेण्ट ऐण्ड मेडिवल् इण्डिया, पृ० २५।

३. पीछे, देखिए, पृ० ४४।

४. र० चं० मजुमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द १, पृ० ९२; इऐ०, जिल्द ९, पृ० १९–२०; आउटलाइन्स् ऑफ् ऐंश्येण्ट इण्डियन् हिस्ट्री ऐण्ड सिविलाइजेशन्, पृष्ठ ३४८।

मूलकल्प के आधार पर यदि शशांक के मानव नामक कोई पुत्र होने की बात मान भी ली जाय तो भी यह निश्चित है कि वह शशांक का ऐसा उत्तराधिकारी नहीं था जो निर्विवादरूप से अपना अधिकार स्थापित कर उसकी विशाल विरासत को योग्यतापूर्वक संभाल सकता। असंभव नहीं है कि उत्तराधिकार के युद्ध भी हुए हों। श्वान्-च्वांग् ६३८ ई० के आसपास बंगाल के विभिन्न भागों में घूमा था। वह वहाँ उस समय चार स्वतंत्र क्षेत्रों का उल्लेख (वाटर्स्, द्वि० पृ० १८२-१९२) करता है–पुण्ड्रवर्धन, कर्णसुवर्ण, समतट और ताम्रलिप्ति। पुण्ड्रवर्धन और कर्णसुवर्ण शशांक के अधिकार में निश्चय ही रह चुके थे। उसके मरते ही वे स्वतंत्र हो गये, यह उस समय की अव्यवस्था का द्योतक है।

गौड-कलिंग पर हर्ष का अधिकार

यह अत्यन्त संभव है कि इन्हीं परिस्थितियों में हर्ष और भास्करवर्मा ने पश्चिम और पूर्व की ओर से बढ़कर शशांक के क्षेत्रों को आपस में बाँट लिया। पीछे हम देख चुके हैं कि कर्णसुवर्ण पर भास्करवर्मा का अधिकार हो गया। शशांक को अपना **महाराजा-धिराज**[1] माननेवाला शैलोद्भववंशी द्वितीय माधवराज भी स्वतंत्र हो गया। इसका प्रमाण यह है कि कोंगद के विजयी शिविर से प्रकाशित किये जानेवाले खुर्द अभिलेख में वह अपने को 'कलिंग का स्वामी' कहता है[2]' जो उसकी स्वतंत्र सत्ता का द्योतक है। मजुमदार महोदय का मत है (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ७६-७७) कि उत्तरी और पश्चिमी बंगाल में दो स्वतंत्र राज्यों की स्थापना हो गयी, जिन्हें थोड़े ही दिनों में भास्करवर्मा ने जीत लिया। धी० चं० गांगुली का तो यहाँ तक कहना[3] है कि हर्ष का बंगाल पर कभी अधिकार हुआ ही नही। किन्तु सभी साक्ष्यों को एक साथ मिलाकर देखने पर यह लगता है कि उत्तरी तथा पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा और गंजाम पर हर्ष का ही अधिकार हुआ, भास्करवर्मा का नहीं। वास्तव में हर्ष उन क्षेत्रों पर भास्करवर्मा का अधिकार कभी भी स्वीकार नहीं कर सकता था, चाहे उससे उसकी कितनी ही मित्रता क्यों न रही हों। यह भी स्पष्ट दिखायी देता है कि शशांक की मृत्यु के बाद उन दोनों की मित्रता के जो पूर्वसम्बन्ध थे, उनमें बड़ा परिवर्तन हो गया था। यह हर्ष द्वारा अपनी शक्ति और क्रोध का भय दिखाकर श्वान्-च्वांग् को भास्करवर्मा के दरबार से बुलाये जाने की घटना से स्पष्ट है[4]। वि० प्र० सिनहा (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २७०-७३) इस बात की ओर निर्देश करते

---

१. गंजाम अभिलेख, एइ०, ६, पृ० १४३ और आगे।

२. जएसो०, बेंगाल, जि० ७३, पृ० २८२ और आगे; रा० दा० बनर्जी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १३०।

३. इहिक्वा०, जिल्द १५, पृ० १२२ और आगे।

४. श्वान्-च्वांग् कहता है कि हर्ष जब कजंगल में निवास कर रहा था तब श्वान्-च्वांग्

ललितादित्य के भी आधिपत्य के प्रमाण मिलते हैं। **राजतरङ्गिणी** (चतुर्थ, १४८) से ज्ञात होता है कि **ललितादित्य** की सेना में गौडमण्डल की हस्तिसेना की एक टुकड़ी सम्मिलित थी जो गौडशासक द्वारा अधिसत्ता स्वीकृत किये जाने के फलस्वरूप ही संभव हुआ होगा। पुनः, यह भी ज्ञात होता है कि **ललितादित्य** ने गौडराज को अपने यहाँ उपस्थित होने की आज्ञा दी और उसकी रक्षा के लिए दिये गये अपने वचनों के विपरीत उसे विश्वासघातपूर्वक मार डाला। गौडराज का उसके दरबार में उपस्थित होना भी उसकी अधीनता का ही द्योतक है। **ललितादित्य** के पौत्र **जयापीड** ने भी पंचगौड के राजाओं पर विजय प्राप्त की। कल्हण द्वारा बंगाल में पंचगौड़ों का उल्लेख इस बात का द्योतक है कि गौड अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया था, जिससे वहाँ निश्चय ही बहुत बड़ी अव्यवस्था और अराजकता फैल गयी होगी। कदाचित् इन्हीं अराजक परिस्थितियों की ओर धर्मपाल के खालिमपुर अभिलेख (एइ०, चतुर्थ, पृ० २४३) और बौद्ध लामा तारानाथ[१] ने निर्देश किया है, जिनके अनुसार जनता (प्रकृ-तियों) ने **मात्स्यन्याय** से मुक्ति पाने के लिये गोपाल का चुनाव किया। उसने शक्ति-शाली पालवंश की नींव डाली, जिसकी चर्चा हम आगे नवें अध्याय में करेंगे।

वंग-समतट की स्वतन्त्र सत्ता

पीछे हम देख चुके हैं कि पूर्वी बंगाल का दक्षिणी भाग प्राचीन काल में बंग[२] अथवा बंगाल नाम से प्रसिद्ध था। एक स्वतन्त्र भौगोलिक इकाई के रूप में वंग अथवा बंगाल का उल्लेख **अर्थशास्त्र**, **महाभारत**, पुराणों एवं भास और कालिदास के ग्रन्थों में मिलता है। स्पष्ट है वंग कम से कम तीसरी शती ईसा पूर्व से अवश्य ज्ञात था, जिसमें बंगलादेश के अधिकांश भाग सम्मिलित थे। किन्तु समतट का सर्वप्रथम उल्लेख समुद्रगुप्त के प्रयागस्तम्भलेख (चौथी शती) में ही मिलता है। यह उसके साम्राज्य की सीमाओं (प्रत्यन्त) पर स्थित था और प्रायः आधुनिक बंगलादेश के दक्षिणी भागों पर फैला हुआ था। चौथी और पाँचवीं शताब्दी में समतट पर गुप्त साम्राज्य की अधिसत्ता पूर्णतः व्याप्त थी, लेकिन उसके विघटन के बाद देश के अन्य भागों की तरह वहाँ भी स्वतंत्र राज्य स्थापित हो गये। फरीदपुर जिले में स्थिति कोटालिपाड़ा और उसके पास से अनेक ऐसे अभिलेख[३] प्राप्त हुए हैं, जिनसे दक्षिणी और पूर्वीबंगाल पर गोपचन्द्र,

---

१. देखिए, तारानाथ की पुस्तक का शेफ्नर द्वारा जर्मन अनुवाद, पृष्ठ २०३ और आगे।

२. वंग और बंगाल पर देखिए, प्रमोदलाल पाल, इहिक्वा०, जि० १२, पृ० ५२२-५२४; धीरेन्द्र चन्द्र गांगुली, इहिक्वा० जि० १९, पृ० २९७ और आगे।

३. इऐ०, जिल्द ३९ (१९१०) पृ० १९३-२१०; जएसो० बेंगाल, नयी अवली, जिल्द ७, पृ० ८७६ और आगे; एइ० जि० १८, पृ० ७४ और आगे।

में उसकी सीमाएँ उत्तर में तिब्बत और पश्चिम में तिरहुत से मिलती थीं। तिब्बतियों की अरुणाश्व से मुठभेड़ कहीं उत्तर-पूर्वी बिहार में ही हुई थी, जहाँ भास्करवर्मा के लिए अपनी कुमक भेजना आसान रहा होगा। किन्तु बंगाल पर कामरूप राज्य का अधिकार भास्करवर्मा के जीवनकाल तक ही सीमित रहा और उसके बाद पालों के आगमन के पूर्व तक वहाँ ऐसी कोई सत्ता नहीं उदित हुई, जो उसे एक सुव्यवस्थित शासन दे सके।

बाहरी आक्रमण और मात्स्यन्याय

मंजुश्रीमूलकल्प में शशांक और मानव के बाद जयनाग का वर्णन है। यह वही जयनाग प्रतीत होता है, जिसके अनेक सिक्के उपलब्ध हैं। लेकिन अनेक विद्वान्[१] जयनाग को शशांक के बाद नहीं, अपितु उसके पहले रखते हैं। यह स्पष्ट है कि हर्ष और भास्करवर्मा की मृत्यु तथा उत्तरपूर्वी भारत पर चीनी-तिब्बती आक्रमणों के फलस्वरूप उत्तर भारत में जो अव्यवस्था फैली, उससे बंगाल अछूता न था। तिब्बती शासक श्रांग्बुत्सान्-गैम्पो ने असम से लेकर बिहार तक के सारे तराई और कुछ मैदानी क्षेत्रों को कुछ दिनों के लिए अपने अधिकार में कर लिया[२]। मगध में परवर्ती गुप्तों का अधिकार हो गया और उनका सबसे शक्तिशाली शासक आदित्यसेन अपने समय का एक प्रमुख विजेता हुआ। रा० गो० बसाक (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १२८) का मत है कि उसने पूर्व में समुद्र के किनारों तक विजयें कीं, जिसमें बंगाल का बहुत बड़ा भाग सम्मिलित था। बंगाल में सुव्यवस्थित राजनीतिक सत्ता का अभाव आठवीं शताब्दी के प्रथमार्ध में और भी स्पष्ट हो जाता है, जब हम कन्नौज के शासक यशोवर्मा और कश्मीर के मुक्तापीड **ललितादित्य** को उस पर आक्रमण और विजय करते हुए पाते हैं। वाक्पतिराज रचित **गउडवहो** का नामकरण ही यशोवर्मा की गौडविजय के वर्णन के उद्देश्य से हुआ, यद्यपि हम पीछे यह देख चुके हैं कि उसमें गौडराज के वध का सारा वर्णन केवल एक श्लोक (सं० ११९४) तक ही सीमित है। किन्तु यह विवाद का विषय है कि गौड उस समय मगधराज (द्वितीय जीवितगुप्त) के अधीन था अथवा गौड के ही किसी शासक का मगध पर भी अधिकार था। जो भी हो, यशोवर्मा गौड मात्र की विजय से सन्तुष्ट नहीं हुआ, अपितु आगे बढ़कर उसने वंग की भी विजय की। स्पष्ट है, उसकी विजयी सेनाएँ सारे बंगाल को रौंदती हुई समुद्र के किनारों तक पहुँच गयीं। लेकिन ऐसा नहीं प्रतीत होता कि उन क्षेत्रों पर उसका बहुत दिनों तक अधिकार रहा हो। उसका कारण सम्भवतः उसकी कश्मीर के राजा मुक्तापीड **ललितादित्य** से पराजय थी। पश्चिमी बंगाल पर

---

१. रा० गो० बसाक, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १४०।

२. सिल्वाँ लेवी, नेपाल, जिल्द पृ० १७४।

बड़ा मतभेद है। भिन्न-भिन्न विद्वान् भिन्न-भिन्न रूप में उनका शासनकाल सातवीं शती के द्वितीयार्ध से लेकर नवीं शती के मध्य तक मानते हैं[१]। शेंग-ची नामक एक चीनी यात्री सातवीं शती के उत्तरार्ध में भारतवर्ष आया था। वह समतट पर राजभट नामक एक बौद्धधर्मावलम्बी राजा के शासन करने का उल्लेख करता है। विद्वानों ने उसे खड्ग वंश के अन्तिम शासक राजराजभट से मिलाया है[२]। देवखड्ग के अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि खड्गवंशी शासक बौद्ध थे। अतः शेंग-ची के राजभट सम्बन्धी उल्लेख से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ही खड्गों ने दक्षिण-पूर्वी बंगाल पर शासन किया था। उस समय मगध पर शासन करने वाले परवर्ती गुप्त उनके समकालीन थे। डॉ० र० चं० मजुमदार का विश्वास है कि हर्ष की मृत्यु के बाद नेपालियों और तिब्बतियों के बंगाल-बिहार के उत्तरी भागों पर होने वाले आक्रमणों से उत्पन्न अशान्त स्थिति का लाभ उठाकर खड्गों ने पूर्वी बंगाल पर अपनी सत्ता स्थापित कर ली।

बाहरी आक्रमण और अव्यवस्था

राजराजभट्ट के बाद खड्गों के बारे में हमें कोई भी जानकारी नहीं प्राप्त होती। असम्भव नहीं कि यशोवर्मा की विजयों के सिलसिले में वाक्पतिराज अपने **गउडवहो** (पंचम, ४१८-४२०) में बंग (समतट) के जिस विजित राजा की चर्चा करता है, वह राजभट ही हो। मगध के शासक (**मगहनाह=मगधनाथ**) द्वितीय जीवितगुप्त को मारकर यशोवर्मा गौड से होता हुआ दक्षिणी बंगाल तक पहुँच गया। यह उसकी महत्त्वाकांक्षा का परिचायक होने के साथ ही साथ तत्कालीन दक्षिण-पूर्वी भारत के शिथिल राजनीतिक जीवन का भी द्योतक है। किन्तु यशोवर्मा की ये विजयें स्थायी नहीं साबित हुईं और उसे स्वयं कश्मीर के महत्त्वाकांक्षी मुक्तापीड **ललितादित्य** के आक्रमण का शिकार होना पड़ा। **ललितादित्य** ने भी पूर्व में दूर-दूर तक विजयें कीं और गौड को कदाचित अधिकृत भी कर लिया (राज०, चतुर्थ, १४५-१४८)। किन्तु इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता कि उसने बंग पर अपनी अधिसत्ता स्थापित की। संभवतः बाहरी दबाव की इन्ही परिस्थितियों में चन्द्र नामक राजवंश ने गौड और बंग के कुछ भागों

---

१. रा० दा० बनर्जी, बांगलार इतिहास, जि० १, द्वि० सं०, पृ० २३३; मेम्वायर्स, एशियाटिक सोसायटी, बेंगाल, जि० १, भाग ६, पृ० ८५ और आगे; जएसो०, बेंगाल, नयी अवली, जि० १०, पृ० ८६; जि० १९, पृ० ३७८; रा० गो०, बसाक, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १९३ और २०२।

२. बील, जीवनी, भूमिका, ४०वाँ-४१वाँ; जएसो०, बेंगाल, नयी अवली, जिल्द १०, पृ० ३७८।

धर्मादित्य और समाचारदेव नामक तीन स्वतंत्र शासकों की जानकारी होती है। वे छठीं शताब्दी में शासन करते थे। सातवीं शती के प्रथमार्ध में वंग-समतट का राजनीतिक स्वरूप क्या था, इसकी स्पष्ट जानकारी नहीं है। सम्भवतः वहाँ शशांक का अधिकार हो गया और उसकी स्वतंत्र सत्ता समाप्त हो गयी। लेकिन शशांक की मृत्यु के बाद जब श्वान्-च्वांग् ने पूर्वी भारत की यात्रा की थी तो उसने वहाँ अनेक स्वतंत्र राज्यों को पाया, जिनमें समतट भी एक था। वह उसकी सीमाओं का जो वर्णन करता है, उससे यह प्रतीत होता है कि उन दिनों वंग का एक बहुत बड़ा भाग उसमें सम्मिलित था। श्वान्-च्वांग् यह बताता है कि वहाँ एक ब्राह्मणवंश शासन करता था[१], जिसमें नालन्दा महाविहार (विश्वविद्यालय) का प्रधान (कुलपति) शीलभ्रद उत्पन्न हुआ था। भास्करवर्मा के निधानपुर ताम्रफलकाभिलेख में ज्येष्ठभद्र नामक उसके किसी **महासामन्त**[२] की चर्चा है। इससे कुछ विद्वानों ने वंग में भद्र नामान्त किसी राजवंश के शासन करने का अनुमान लगाया है[३]। किन्तु यह अनुमान विवाद से परे नहीं हो सकता।

खंग राजवंश

आगे हम वहाँ खंग अथवा खड्ग नामक एक अन्य राजवंश को शासन करता हुआ पाते हैं, जिसकी जानकारी देवखड्ग के अशरफपुर और देवुलबाड़ी के अभिलेखों[४] से होती है। इस वंश के चार शासक-खड्गोद्यम, जातखंग, देवखड्ग और राजराज अथवा राजराजभट्ट ज्ञात होते हैं, जो क्रमशः पितापुत्र थे। खड्गोद्यम को उसके सर्वाणी मूर्ति अभिलेख (एइ०, जि० १७, पृ० ३५७ और आगे) में **नृपाधिराज** कहा गया है, जिससे लगता है कि वह एक शक्तिशाली शासक था। संभवतः वही पूर्वी बंगाल में खड्गवंश की राजनीतिक प्रतिष्ठा का संस्थापक भी था। इस वंश के तीसरे शासक देवखड्ग ने अपने दानपत्रों का प्रकाशन कर्मान्तवासक के राजकीय शिविर से किया, जो संभवतः उसकी राजधानी प्रतीत होती है। किन्तु इस स्थान की ठीक-ठीक और सर्वमान्य पहचान अभी तक नहीं हो सकी है[५]। खड्ग राजाओं के अभिलेखों में वर्ष संख्याएँ मात्र दी गयी हैं, जो उनके शासन वर्षों की संख्याएँ प्रतीत होती हैं। अतः उनके सही समय के बारे में

---

१. वाटर्स्, जिल्द २, पृ० १०९।

२. एइ०, जिल्द १२, पृ० ६५-६६।

३. देखिए, इण्डियन् कल्चर, जिल्द २; पृ० ७९५-७९७।

४. देखिए, मेम्वायर्स्, एशियाटिक सोसायटी, बेंगाल, जि० १, भाग ६, पृ० ८५-९९; एइ०, जि० १७, पृ० ३५७ और आगे; रा० गो० बसाक, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २०३।

५. कुछ लोगों ने इसकी पहचान टिप्पेरा जिले के वडकाम्ता नामक स्थान से की है। देखिए, एइ०, जि० १७, पृ० ३५१; जएसो०, बेंगाल, नई अवली, जि० १०, पृ० ८७।

विस्तृतकर उसने चन्द्रद्वीप और हरिकेल[१] (दक्षिणी तथा पूर्वी बंगाल) पर शासन स्थापित किया। उसका पुत्र श्रीचन्द्र अभिलेखों में **परमसौगत, परमेश्वर, परमभट्टारक और महाराजाधिराज** की साम्राज्यसूचक उपाधियों से अलंकृत किया गया है। उसके अभिलेखों का प्रकाशन विक्रमपुर से हुआ था, जो उसकी तथा उसके पिता त्रैलोक्यचन्द्र की राजधानी प्रतीत होती है। उन अभिलेखों में वर्णित दानवाले गाँव पुण्ड्रवर्धनभुक्ति में स्थित बताये गये हैं। किन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना बहुत समीचीन नहीं प्रतीत होता कि चन्द्रों का उत्तरी बंगाल पर भी अधिकार था। डॉ० र० चं० मजुमदार का यह निष्कर्ष[२] सही प्रतीत होता है कि आगे चलकर पुण्ड्रवर्धनभुक्ति केवल उत्तरी बंगाल का नहीं, अपितु समस्त उत्तरी और दक्षिणी बंगाल का बोधक हो गया। श्रीचन्द्र ने कम से कम ४१ वर्षों तक शासन किया। किन्तु हमारे पास कोई ठीक-ठीक प्रमाण नहीं है, जिससे उसके वास्तविक शासनावधि[३] निश्चित की जा सके।

चोल शासक राजेन्द्र के तिरुवालंगाड्डु प्रशस्ति (एइ०, जि० ९, पृ० २३३ तथा इहिक्वा०, जि ० १३, पृ० १५१-१५२) से गोविन्दचन्द्र नामक एक अन्य चन्द्र राजा के पूर्वी बंगाल पर शासन करने की बात प्रमाणित होती है। राजेन्द्र चोल के एक सेनापति ने पूर्वी भारत के जिन अनेक राजाओं को पराजित किया था, उनमें गोविन्दचन्द्र भी था[४]। यह गोविन्दचन्द्र श्रीचन्द्र के वंश का प्रतीत होता है। चूंकि चोलों के आक्रमण का समय १०२१-१०२३ ई० था, यह निष्कर्ष निकलता है कि वंग (आजकल का दक्षिणी तथा पूर्वी बंगाल) पर गोविन्दचन्द्र ११वीं ईसवी सदी के प्रथम और द्वितीय चतुर्थांशों में शासन करता था। उसके शासन के १२वें और २३वें वर्ष के दो अभिलेख ढाका जिले के विक्रमपुर नामक स्थान से मिले हैं[५]। गोविन्दचन्द्र अथवा उसके किसी उत्तराधिकारी को कलचुरि राजा कर्ण (१०४१-१०७३ ई०) के भी आक्रमण का सामना करना पड़ा। कर्ण के भेड़ाघाट अभिलेख में यह कहा गया है[६] कि उसने वंग के

---

१. हरिकेल की पहचान के लिए देखिए, इण्डियन् कल्चर, जि० १२, पृ० ८८।

२. हिस्ट्री ऑफ् बेंगाल, जि० १, पृ० १९५।

३. विद्वानों ने श्रीचन्द्र के अभिलेखों की लिपि की बनावट के आधार पर उसका समय भिन्न-भिन्न रूपों में १०वीं से १२वीं सदी के बीच में निश्चित किया है।

४. देखिए, नीलकान्त शास्त्री, चोलज्, पृ० २०६ और २०७।

५. देखिए, मजुमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १९६।

६. दे०, एइ०, जि० २, पृ० ११ और १५; रीवाँ प्रस्तर लेख, एइ० जि० २४, पृ० १०५ और ११२ श्लोक १३; पैकोर अभिलेख, आसरि०, १९२१-२२, पृ० ७८-८०।

पर अधिकार कर लिया, जिसका उल्लेख तिब्बती भिक्षु तारानाथ करता है। चन्द्रों में अन्तिम दो शासक थे गोविन्दचन्द्र और ललितचन्द्र। किन्तु उनके ठीक-ठीक समय अथवा राजनीतिक क्रियाकलापों के बारे में कोई स्पष्ट जानकारी नहीं है। इन अनेक, अपेक्षाकृत कमजोर, राजवंशों के जल्दी-जल्दी बदलने और बाहरी आक्रमणों के अवश्यम्भावी परिणामस्वरूप वंग-समतट में वही अव्यवस्था और अराजकता उत्पन्न हो गयी, जो गौड में पहले से ही व्याप्त थी। तारानाथ के शब्दों में[१] 'प्रत्येक क्षत्रिय, ब्राह्मण अथवा वैश्य अपने घर में राजा हो गया और सम्पूर्ण देश पर कोई राजा न रहा।' स्पष्ट है, पश्चिमी और मध्य बंगाल की तरह पूर्वी और दक्षिणी बंगाल में भी मात्स्यन्याय का बोलबाला हो गया।

चन्द्र शासक

मात्स्यन्याय की उपर्युक्त परिस्थितियों में ही गोपाल ने पालवंश की स्थापना की। किन्तु पाल सत्ता के चरमोत्कर्ष के दिनों में भी वंगसमतट पर उसका प्रत्यक्ष अधिकार नहीं स्थापित हो सका। पालों के युग में पूर्वी और दक्षिणी बंगाल पर शासन करनेवाले चन्द्र नामान्त कई राजाओं की जानकारी अभिलेखों से हमें होती है। किन्तु इस सम्बन्ध में यह कह सकना कठिन है कि इन चन्द्रों का तारानाथ द्वारा वर्णित चन्द्रों से कोई सम्बन्ध था या नहीं। चन्द्र शासकों में सर्वप्रथम हुआ लयहचन्द्रदेव, जिसका त्रिपुरा जिले से एक अभिलेख मिला है[२]। उसका राज्यक्षेत्र कोमिल्ला जिले और उसके आसपास के क्षेत्रों पर विस्तृत था। बाद में पूर्णचन्द्र, सुवर्णचन्द्र, त्रैलौक्यचन्द्र, और श्रीचन्द्र नामक अन्य चार शासक और भी हुए[३], जिनके पूर्वजों को रोहितासगिरि का शासक कहा गया है। यह रोहितासगिरि बिहार का रोहतासगढ़ है अथवा कोमिल्ला नगर के ५ मील पश्चिम में स्थित लालमाई पहाड़ी (लालमाटी) है, इस विषय पर विद्वानों में मतभेद[४] है। इन राजाओं में प्रथम दो-पूर्णचन्द्र और सुवर्णचन्द्र—तो राजनीतिक सत्ता की दृष्टि से बहुत प्रभावी नहीं मालूम होते, किन्तु त्रैलोक्यचन्द्र और श्रीचन्द्र **महाराजाधिराज** कहे गये हैं। अतः यह निःसंदिग्ध प्रतीत होता है कि त्रैलोक्यचन्द्र अपने वंश की राजनीतिक प्रतिष्ठा और महत्ता का संस्थापक था। रोहितासगिरि के अपने पैतृक क्षेत्रों को

---

१. देखिए, र० चं० मजुमदार का अनुवाद, हिस्ट्री ऑफ् बेंगाल, जि० १, पृ० १८३; इऐ०, जि० ४, पृ० ३६५-६६; इहिक्वा०, जि० १६, पृ० २१९ और आगे।

२. दे०, एइ०, जि० १७, पृष्ठ ३४९ और आगे।

३. देखिए, श्रीचन्द्र का रामपाल अभिलेख, एइ०, जि० १२, पृ० १३६-१४२।

४. दे०, इहिक्वा०, जि० २, पृ० ३१७-३१८, ३२५-३२७, ६५५-६५६; जि० ३, पृष्ठ २१७-४१८।

राज्य की स्थापना कर ली, जिसे कर्ण ने अपने सामन्त रूप[1] में स्वीकार कर लिया। यह भी सम्भव प्रतीत होता है कि बेलाव अभिलेख में जातवर्मन् की जिन विजयों का उल्लेख है वे कर्ण की ओर से ही की गयी थीं। पालराज तृतीय विग्रहपाल कर्ण का दामाद था, जिसके विरुद्ध विद्रोहकर दिव्य नामक एक कैवर्त नेता ने अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली। बेलाव अभिलेख में जातवर्मन् द्वारा अपमानित जिस दिव्य का नाम आता है, वह यही दिव्य प्रतीत होता है। हो सकता है कि दिव्य को दबाने के लिए कर्ण ने जातवर्मन् को निर्दिष्ट किया हो। उस कार्य में जातवर्मन् को निश्चय ही सफलता मिली और उसने पश्चिमी बंगाल से होते हुए पालों के अंग तक के पश्चिमी क्षेत्रों को अधिकृत कर लिया। इस प्रकार पालों की अवनति से उत्पन्न अव्यवस्था का लाभ उठाकर, कलचुरि कर्ण की कृपा और सहयोग से, जातवर्मन् ने अपनी राजनीतिक प्रतिष्ठा और शक्ति बढ़ाने में सफलता पायी।

जातवर्मन् के उत्तराधिकारी

अभिलेखों और कुछ बौद्ध ग्रन्थों से जातवर्मन् के हरिवर्मन् और सामलवर्मन् नामक दो पुत्रों की जानकारी होती है। हरिवर्मन् ने अपनी राजधानी विक्रमपुर से कम से कम ४६ वर्षों तक शासन किया। संध्याकरनन्दीरचित **रामपालचरित** में हरि नामक एक राजा का वर्णन आया है, जिसने रामपाल को हाथियों और रथों की भेंट दी। कुछ विद्वान् इस हरि को उपर्युक्त हरिवर्मन् से मिलाते हैं, जिसे सम्भवतः आत्मरक्षार्थ पाल शासक की सहायता करनी पड़ी थी। हरिवर्मन् का उत्तराधिकारी उसका कोई पुत्र हुआ अथवा उसका भाई सामलवर्मन्, यह निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता। किन्तु यदि हरिवर्मन् का कोई पुत्र उसके बाद गद्दी पर बैठा तो हमें उसके बारे में कोई जानकारी नहीं है। इसके विपरीत सामलवर्मन् के सम्बन्ध में यह अनुश्रुति अब भी प्रचलित है कि उसी ने उत्तर भारत से वैदिक ब्राह्मणों को बुलाकर पूर्वी बंगाल में बसाया। सामलवर्मन् के बाद उसकी रानी मालव्यदेवी से उत्पन्न पुत्र भोजवर्मन् ने राज्यत्त्व ग्रहण किया। उसी ने अपने शासन के पाँचवें वर्ष अपनी राजधानी विक्रमपुर से बेलाव ताम्रपत्राभिलेख प्रकाशित किया। उस अभिलेख में वर्णित दान की भूमि पौण्ड्रभुक्ति में स्थित थी। किन्तु इससे यह अनुमान

---

१. इस सम्बन्ध में देखिए, मिराशी, एइ० जिल्द २४, पृ० १०५; प्रमोद लाल पाल, इहिक्वा०, जिल्द १२, पृ० ४७३; हेमचन्द्रराय, डाहिनाइ०, जि० २, पृ० ७७२-७७८। इन मतों के विपरीत डॉ० रा० दा० बनर्जी (बांगलार इतिहास, जि० १, पृ० २७६) और धी० चं० गांगुली (इहिक्वा०, जि० ५ (१९२९), पृ० २२५ की यह मान्यता है कि वर्मनों ने राजेन्द्र चोल के उड़ीसा और बंगाल के अभियानों में सम्मिलित होकर अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली।

राजा पर एक निर्णायक विजय प्राप्त की। यह अधिक सम्भव प्रतीत होता है कि वंग का यह पराजित राजा गोविन्दचन्द्र ही था। उसके बाद चन्द्रों के किसी शासक की जानकारी हमें नहीं होती। ऐसा प्रतीत होता है कि उसके (११वीं ई० सदी के मध्य भाग) बाद चोलों और कलचुरियों के आक्रमणों के परिणामस्वरूप चन्द्रों की सत्ता एकदम समाप्त हो गयी। अपनी चरम अवस्था में भी उनकी सत्ता अपेक्षाकृत निर्बल और स्थानीय ही थी।

वर्मन् शासक

पूर्वी बंगाल में चन्द्रों के बाद वर्मन् राजाओं का शासन प्रारम्भ हुआ। उनकी जानकारी मुख्यतः भोजवर्मन् के बेलाव ताम्रपत्राभिलेख[1] से होती है, जिसमें उन्हें चन्द्रवंशी यदुकुल में उत्पन्न कहा गया है और सिंहपुर[2] उनकी राजधानी बतायी गयी है। उस अभिलेख में वंश के सबसे पहले राजा का नाम वज्रवर्मन् आया है। किन्तु इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि वह अपने लिए एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना कर सका था। वहाँ उसकी चर्चा केवल एक वीर के रूप में आयी है। वर्मन् वंश का सर्वाधिक मुख्य शासक जातवर्मन् हुआ। बेलाव अभिलेख में उसे अंगों के क्षेत्र तक अपना शासन विस्तार करनेवाला, कामरूप की प्रतिष्ठा का मर्दन करनेवाला, दिव्य की भुजाओं की शक्ति को अपमानित करनेवाला तथा गोवर्धन को नष्ट करनेवाला[3] कहा गया है। साथ ही उससे यह भी सूचित होता है कि उसने कर्ण की पुत्री वीरश्री से विवाह किया। इस सन्दर्भ का कर्ण डाहल का कलुचरि कर्ण था, जिसकी एक दूसरी पुत्री पालशासक तृतीय विग्रहपाल से ब्याही थी। बंग के राजा गोविन्दचन्द्र पर कर्ण की विजय का निर्देश पीछे हम कर चुके हैं। इस बात की अत्यधिक सम्भावना है कि बंग और उत्कल के अभियानों में जातवर्मन् सम्भवतः गांगेयदेव और उसके पुत्र कर्ण का सहायक था, जिससे प्रसन्न होकर कर्ण ने उससे अपनी पुत्री का विवाह कर दिया। लगता है कि उस मित्रता के परिणामस्वरूप ही चन्द्र शासन के अन्त के बाद जातवर्मन् ने पूर्वी बंगाल में अपने स्वतन्त्र

---

१. एइ०, जि० १२, पृ० ३७ और आगे; वर्मनों के अन्य दो अभिलेखों के लिए देखिए वंगेर जातीय इतिहास, जि० २, पृ० २१५।

२. सिंहपुर की पहचान के लिए देखिए विभिन्न मत, ब्हूलर, एइ०, जि० १, पृ० १०, और आगे; रा० दा० बनर्जी, जएसो०, बेंगाल, नयी अवली, जि० १०, पृ० १२४; एइ०, जि० ४, पृ० १४३; धी० चं० गांगुली, इहिक्वा० जिल्द १२, पृ० ६०८–६०९।

३. एइ०, जिल्द ३२, पृ० ३९; ४०–४२।

५

गुर्जर प्रतीहार राजवंश

उत्पत्ति

अभिलेखीय और समसामयिक साक्ष्य

अनेक राजपूत वंशों की भाँति गुर्जर प्रतीहारों की उत्पत्ति का प्रश्न भी विवादास्पद है। स्वयं प्रतीहारों के अभिलेखों और समसामयिक साहित्यिक साक्ष्यों में उन्हें रघुकुलवंशी क्षत्रिय कहा गया है। मिहिरभोज की ग्वालियर प्रशस्ति में उन्हें राम के छोटे भाई लक्ष्मण से जोड़ा गया है[१], जिसने 'इन्द्र के मद को चूर करने वाले मेघनाद के विरुद्ध युद्ध कर शत्रुओं को रोकने में प्रतीहार' अर्थात् गढ़ के द्वारपाल का काम किया था। वहीं (श्लोक संख्या ७ में) वत्सराज को **एकक्षत्रियपुंगव** अर्थात् श्रेष्ठ क्षत्रियों में सिरमौर और अपने सुचरितों से इक्ष्वाकु वंश को उन्नत करने वाला कहा गया है। प्रतीहारों की माण्डव्यपुर शाखा के शासक बाउक के जोधपुर अभिलेख में और भी स्पष्टतः कहा गया है (एइ० १८वाँ, पृ० ९५, ९७) कि 'चूँकि रामभद्र (रामचन्द्र) के अपने अनुज ने ही प्रतीहार का काम किया था, यह वंश प्रतीहार नाम से ज्ञात हुआ, जिसकी उन्नति होती रहे[२]।' यही बात कक्क के घटियाला अभिलेख में भी (जराएसो०, १८९५, पृष्ठ ५१६) दुहारायी गयी है। लेकिन इस अभिलेख में प्रतीहारों के मूल पुरुष हरिचन्द्र को ब्राह्मण कहा गया है, जिसकी भद्रा नामक एक क्षत्रिय स्त्री से प्रतीहारों की उत्पत्ति

---

१. श्लाध्यस्तस्यानुजौऽसौ मघवमुदमुषोमेघनादस्य संख्ये।
सौमित्रिस्तीव्रदण्डः प्रतिहरणविधेर्यः प्रतीहार आसीत्।
आसरि०, १९०३-४, पृ० २८०, २८३; एइ०, जिल्द १८, पृ० १०७, ११०।

२. स्वभ्रात्रा रामभद्रस्य प्रातिहार्यं कृतं यतः।
श्रीप्रतिहारवंशोऽयं अतश्चोन्नतिमाप्नुयात्॥ —श्लोक ४।
डॉ० दशरथ शर्मा (राजस्थान थ्रू दि एजेज, जिल्द १, पृ० ४७५) इस श्लोक का अनुवाद दूसरी तरह करते हुए प्रतीहारों की माडव्यपुर की शाखा को कन्नौज के प्रतिहारों से अलग मानते हैं।

नहीं लगाया जा सकता कि उत्तरी बंगाल (वारेन्द्र) का भी कुछ भाग उसके शासनाधिकार में था । यहाँ पौण्ड्रभुक्ति का उल्लेख एक ढीलेढाले रूप में प्राय: समस्त बंगाल के लिए किया गया प्रतीत होता है । उसके शासन का समय लगभग ११वीं ईसवी शताब्दी का अन्त और १२वीं ईसवी सदी का प्रारम्भ था, जिसके बाद सेना ने पूर्वी बंगाल पर अपना अधिकार जमा लिया ।

❁❁❁

कहा जाता है कि उनके साथ खजर नामक एक दूसरी जाति भी आयी। इस सिलसिले में यह मत प्रतिपादित किया गया कि गुर्जर अथवा गूजर इसी खजर जाति के थे, जो पहले या तो हूणों के साथ अथवा उनके कुछ काल बाद इस देश में मध्य एशियायी भागों से आये और कालान्तर में यहाँ हिन्दू होकर शासन करने लगे[१]। गुर्जर प्रतीहारों को खजर जाति का वंशज मानने का सिद्धान्त सर्वप्रथम कैम्पबेल् और जैक्सन् महोदय ने प्रतिपादित किया था,[२] जिसे बाद में भण्डारकर[३] आदि ने स्वीकार कर लिया। किन्तु इन विद्वानों ने प्रामाणिक रूप से यह नहीं बताया कि हूणों और खजरों का आपसी सम्बन्ध क्या था। इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया गया। कि खजर हूणों की ही कोई शाखा थे अथवा उनके काफी पहले इस देश के आनेवाले युह्-ची लोगों से सम्बद्ध थे[४]। किन्तु उन्हें खजर और गूजर अथवा गुर्जर आदि शब्दों के ध्वनिसाम्य बड़े आकर्षक प्रतीत हुए। उन्होंने गुर्जर प्रतीहार में गुर्जर शब्द जातिबोधक माना और उन्हें खजरों से मिलाया।

किन्तु विदेशी आक्रमणकारी जातियों में खजर नामक किसी जाति के भारत में आने का कोई भी विदेशी अथवा भारतीय साक्ष्य नहीं मिलता। तथापि यह तर्क दिया जाता है कि ये विदेशी तत्त्व एकाएक उत्तरी भारत में उपस्थित होकर वहाँ तो छा ही गये; दक्षिणी-पश्चिमी भारत के भी अनेक क्षेत्रों में शीघ्र ही फैल गये; और यद्यपि बाद में उच्चता देने के लिए उन्हें प्राचीन क्षत्रिय कुलों से जोड़ दिया गया, उनके रोहिल्लाधि और पेल्लापेल्लि जैसे नामों (एइ० १८वाँ, ९५, ९७, ९८) से यह प्रतीत होता है कि वे भारतीय नहीं थे[५]। योरोपीय (अंग्रेज) विद्वानों द्वारा गुर्जर प्रतीहारों को खजरों से मिलाने में मूलतः उनके भीतर की महत्ता सम्बन्धी मानसिक ग्रंथि मुख्य कारण थी और उनका अर्धचेतन मन कदाचित् अपनी ही तरह यहाँ के सभी शासकों को विदेशी समझ लेने में तर्कविहीन हो चुका था। फलतः, वे अधिकांश भारतीय सांस्कृतिक, राजनीतिक और नृतात्त्विक तत्त्वों का मूल मध्य एशिया और योरोप में ढूँढ़ने का प्रयत्न करते थे।

---

१. देखिए—स्मिथ जराएसो०, १९०९, पृ० ५४; अर्ली हिस्ट्री, पृ० ३४०, ४२७- ४२९; बम्बई गजेटियर, जिल्द १, भाग १, पृ० ४४९-४७८; दे० रा० भण्डारकर, इऐ०, जि० ११, तथा जराएसो०, बम्बई शाखा, जि० २१, पृ० ४१३ और आगे; ब्यूलर, इऐ०, जिल्द १७, पृ० १९२; क्रूक, टॉड कृत ऐऐरा० की भूमिका, पृ० ३१ ।

२. बम्बई गजेटियर, जिल्द १, भाग १ परिशिष्ट ३ ।

३. दे० रा० भण्डारकर, जराएसो०, बम्बई शाखा, जिल्द २१, पृ० ४१३ और आगे।

४. कनिंघम्, आसरि०, जिल्द २, पृ० ७१ ।

५. त्रिपाठी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २२२-२२३। किन्तु डॉ० दशरथ शर्मा ने इन शब्दों को मूलतः अभारतीय न मानकर संस्कृत का माना है। देखिए, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ४७९-४८०।

हुई । कवि राजशेखर महेन्द्रपाल[१] को 'रघुकुलतिलक' और 'रघुग्रामणी' तथा महीपाल[२] को 'रघुवंशमुक्तामणि' जैसे विशेषण देता है । कुछ वैदिक रूपकों के आधार पर प्रतीहारों को याज्ञिक 'प्रतिहार्तृ' से जोड़ने का भी प्रयत्न किया गया है तथा उन्हें मूलतः ब्राह्मण ठहराया गया है[३] । उपर्युक्त साक्ष्यों के आधार पर प्रतीहारों को या तो प्राचीन सूर्यवंश अथवा मूलतः ब्राह्मण और बाद में क्षत्रिय पद और कार्य ले लेने वाले[४] क्षत्रियवंश (ब्रह्मक्षत्र) से जोड़ना स्वाभाविक प्रतीत होता है । किन्तु नवीं-दसवीं शती के इन साक्ष्यों को कुछ विद्वान् काल्पनिक और मिथकीय मानते हैं, जिनका, उनकी[५] दृष्टि में, एकमात्र उद्देश्य विदेशी आक्रमणकारियों को प्राचीन प्रतिष्ठित कुलों से जोड़कर उन्हें प्रतिष्ठा देना मात्र था ।

विदेशी उत्पत्ति का सिद्धान्त

जो विद्वान् उपर्युक्त साक्ष्य की सत्यता में विश्वास नहीं करते, वे ११वीं शती के मध्य में कुछ योरोपीय भारतीयविदों द्वारा सर्वप्रथम प्रचारित एक मिथक को अन्धी स्वीकृति देते से जान पड़ते हैं, जिसका प्रारम्भ राजस्थान की रियासतों में नियुक्त अंग्रेजी सरकार के निवासी प्रतिनिधि कर्नल् जेम्स् टॉड ने किया था । उसके अनुसार (ऐऐरा०, प्रथम, ११३) **पृथ्वीराजरासो** में चन्दबरदाई द्वारा वर्णित आबू पर्वत के यज्ञकुण्ड से उत्पन्न चाहमान, परमार, चौलुक्य और प्रतीहार नामक जातियों के सन्दर्भ इस अर्थमात्र के द्योतक हैं कि शुद्धिप्रक्रिया द्वारा विदेशी (सीथियायी) आक्रमणकारियों को हिन्दू धर्म में दीक्षित कर लिया गया, जिसके कारण वे आर्यकुलीय कहलायीं । यह निःसंदेह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि प्राचीनकाल में विदेशों से अनेक जातियाँ इस देश में भोजन और चारे की खोज में आयीं और युद्ध आदि के बाद उनमें से जो बचीं, वे यहाँ के विशाल हिन्दू समाज के उदर में समा गयीं । लेकिन टॉड महोदय प्रतीहारों आदि के विदेशी होने के सम्बन्ध में जो तर्क देते हैं अथवा प्राचीन मध्य एशियायी जातियों के रीतिरिवाजों को राजपूतों में खोजने का जो प्रयत्न करते हैं वे एकदम काल्पनिक, मनगंढ़त और प्रायः अनैतिहासिकता के दोष से दूषित हैं । इन विदेशी आक्रामकों में हूण प्रमुख थे । यह भी

---

१. विद्धसालभंजिका, प्रथम, श्लोक ६; बालभारत, प्रथम, श्लोक ११ ।

२. बालभारत, प्रथम, श्लोक ७ ।

३. वि० श० पाठक, भारती, संख्या ६ (१९६२-३) भाग २, पृ० ३९-४० ।

४. हलदर, इऐ०, १९२८, पृ० १८१-१८४; धी चं० गांगुली, इहिक्वा, १९३४, पृष्ठ ३३७-३४३, वि० श० पाठक, भारती, संख्या ६, भाग २ (१९६२-३), पृ० ४० ।

५. त्रिपाठी, हिस्ट्री ऑफ् कन्नौज, पृ० २२४ ।

जाता है और कहीं कहीं तो वह व्यक्तिगत नाम के रूप में भी प्रयुक्त हुआ है। उनके मत में अभी तक जो भी प्रमाण ज्ञात हैं उनसे यह स्पष्टतः निश्चय नहीं किया जा सकता कि गुर्जर शब्द कबीलावाचक है अथवा देशवाचक। किन्तु यदि उसे कबीले के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ मान लिया जाय तो उससे यह सिद्ध नहीं होता कि गुर्जर प्रतीहार विदेशी खज़रों से सम्बद्ध थे, क्योंकि बाहर से तन्नामक किसी भी जाति के शकों-हूणों की भाँति यहाँ आने का न तो कोई उल्लेख है[1] और न तो उसके उत्तर भारत से दक्षिण की ओर जाने का ही कोई प्रमाण मिलता है। वैद्य महोदय का तो यहाँ तक मत[2] है कि यदि गुर्जरों अथवा गुजरों को एक जाति मान भी लिया जाय तो यह साबित नहीं होता कि वह विदेशी थी। प्रत्युत्, उसकी शरीररचना, रंगरूप और सुन्दर आकृति के आधार पर उसे प्राचीन वैदिक आर्यों का ही वंशज मानना ठीक होगा। मजुमदार महोदय (भारतीय विद्या, १०वाँ, पृ० ६) यद्यपि गुर्जरों को स्पष्टतः आर्य तो नहीं मानते, किन्तु यह कहते हैं कि उनका एक कबीला होने से भी उनका विदेशी होना सिद्ध नहीं होता। कोई साधारण जाति पाँचवीं-छठीं शताब्दी में यहाँ आकर इतनी जल्दी भारतीय समाज के क्षत्रिय वर्ण में सन्निहित कर ली जाय कि उसका पुराना कोई नाम-निशान भी न बचा हो, यह असंभव प्रतीत होता है। यह भी ध्यान देने की बात है कि भारतीय धर्मशास्त्रकारों ने विदेशियों को प्रायः शूद्रपद ही दिया[3]। उसके विपरीत ब्राह्मण गोत्रधारी[4] गुर्जर ब्राह्मणों के उल्लेख पाँचवीं-छठीं शताब्दी से ही मिलने लगते हैं, जो कान्यकुब्ज ब्राह्मण, सारस्वत ब्राह्मण अथवा मैथिल ब्राह्मण की तरह स्थान विशेष के कारण अपने भौगोलिक नाम से अभिहित प्रतीत होते हैं। गुर्जर शब्द के सर्वप्रथम प्रयोग बाणभट्ट और श्वान्-च्वांग् के समय से दिखायी देते हैं और मुंशी महोदय ने एक लम्बी सूची प्रस्तुत की है[5],जहाँ वह स्थानवाचक अर्थों में ही प्रत्युक्त दिखायी देता है। श्वान्-च्वांग् कियु-चे-लो अर्थात् गुर्जर राज्य और उसकी राजधानी पि-लो-मो-लो- (भीनमाल) की चर्चा करते हुए उसके राजा को क्षत्रिय बताता है[6]। श्वान्-च्वांग् के लगभग ३०० वर्षों बाद तक हूणों को

१. इस प्रमाण के अभाव को स्मिथ महोदय स्वयं भी स्वीकार करते हैं—अर्ली हिस्ट्री, पृ० ४२८।

२. पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द २, पृ० १०।

३. पातंजलि महाभाष्य, द्वितीय, ४, १०।

४. देखिए, बैजनाथपुरी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ५, नोट १; इहिक्वा, जिल्द ८, पृ० १६२-१६३।

५. गुर्जरदेश, भाग १, परिशिष्ट १, पृ० १७३-१८१।

६. वाटर्स, जिल्द २, पृ० २४९-२५०; बील, जिल्द ४, (सुशीलगुप्त प्रकाशन) पृ०

भारत की तात्कालिक हीन अवस्था और योरोप की विकासोन्मुखी चतुर्दिक् प्रतिभा एवं संपत्ति भी कदाचित् इस प्रवृत्ति का कारण थी। यद्यपि भण्डारकर और त्रिपाठी जैसे कुछ मूर्धन्य भारतीय इतिहासकारों ने राजपूतों के विदेशी होने का यह सिद्धान्त मान लिया, किन्तु भारतीय इतिहास के अध्ययन को इस योरोपीय दृष्टि और प्रवृत्ति के प्रतिक्रियास्वरूप अधिकांश अन्य भारतीय विद्वानों ने यह मत प्रतिपादित किया कि गुर्जर प्रतीहार विदेशी नहीं, अपितु प्राचीन भारतीय सूर्यवंशी क्षत्रियों अथवा ब्रह्मक्षत्रियों की सन्तान थे।

भारतीय उत्पत्ति का सिद्धान्त

गुर्जर प्रतीहारों की विदेशी उत्पत्ति के सिद्धान्त का जोरदार खण्डन चि० वि० वैद्य[१] और महामहोपाध्याय पंडित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा[२] ने किया। कुछ उनके मिलते जुलते और कुछ नये तर्कों के साथ धीरेन्दचन्द्र गांगुली[३], दशरथ शर्मा[४], क० मा० मुन्शी[५], कृष्णस्वामी अयंगार[६], बैजनाथ पुरी[७] और वि० श० पाठक[८] ने उनके भारतीय होने का समर्थन किया। इन दोनों मतों के पारस्परिक विरोध के मूल में मुख्य मतभेद यह है कि गुर्जर अथवा गूर्जर शब्द कबीलावाचक हैं अथवा देशवाचक। विदेशी उत्पत्ति के सिद्धान्त को मान्यता देनेवाले जो विद्वान् उसे कबीलावाचक मानते हैं वे गुर्जर प्रतीहार का अर्थ गुर्जर कबीले के प्रतीहार और गुर्जरेश अथवा गुर्जरराज का अर्थ गुर्जर कबीले का राजा लगाते हैं। किन्तु भारतीयता का सिद्धान्त माननेवाले सुधी उसे गुर्जरदेश के प्रतीहार अथवा गुर्जरदेश का राजा मानते हैं[९]। किन्तु डॉ० रमेशचन्द्र मजुमदार का यह कथन[१०] सही प्रतीत होता है कि गुर्जर शब्द का प्रयोग इन दोनों ही अर्थों में हुआ पाया

---

१. हिहिमेइ० जिल्द २, पृष्ठ ७–१७, ३१–३२।
२. राइ०, जिल्द १, पृष्ठ ११५ और आगे।
३. इहिक्वा०, जिल्द १०, पृ० ३३७ और आगे।
४. वहीं, पृष्ठ ५८२ और आगे; वही, जिल्द १३, पृ० १३७ और आगे; पूना ओरियेण्टलिस्ट, जिल्द २, पृ० ४९–५७; राजस्थान थ्रू दि एजेज्, जिल्द १, पृ० ४७२–४८३; लेक्चर्स् ऑन् राजपूत हिस्ट्री ऐण्ड कल्चर, पृ० ५।
५. गुर्जरदेश, विद्या भवन, भाग १, पृ० १९–२० तथा १७३–१८१।
६. मजुमदार द्वारा जडिले०, जिल्द १०, पृष्ठ ३ पर उद्धृत।
७. गुर्जरप्रतोहार्स, पृ० ३–९।
८. भारती, सं० ६, भाग २ (१९६२–३) पृ० ३९–४१।
९. इस सम्बन्ध में देखिए, दशरथ शर्मा, राजस्थान थ्रू दि एजेज्, जिल्द १, पृ० १०८–११९, लेक्चर्स् ऑन् राजपूत हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ० १–४।
१०. भारतीय विद्या, जिल्द १०, पृ० २।

होते हैं[१], जो समय-समय पर ब्राह्मण वैधानिकों द्वारा सामाजिक प्रमाणीकरण और व्यवस्थाकरण सम्बन्धी प्रयत्नों के द्योतक हैं[२]।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि गुर्जर प्रतीहारों की विदेशी उत्पत्ति का सिद्धान्त ऐतिहासिक साक्ष्यों से अप्रमाणित, प्रकल्पित और तथ्यहीन है। यह निश्चित प्रतीत होता है कि वे मूलतः भारतीय थे, किन्तु उनके वंशनाम के साथ गूर्जर, गुर्जर, गुर्ज्झर अथवा गूजर शब्द कब और क्यों लग गया, इसका एकमत उत्तर विद्वानों से नहीं प्राप्त होता[३]। यदि गुर्जर प्रतीहार विदेशी खजरों की सन्तान होते तो इसका उल्लेख भारतीय साहित्य अथवा इतिहास में—यदि प्रतीहारों के नहीं तो उनके शत्रुओं के साहित्येतिहास में ही सही—कहीं न कहीं अवश्य हुआ रहा होता। उदाहरण के लिए कृष्ण की अनार्य (आभीर) उत्पत्ति के अनगिनत उल्लेख भारतीय साहित्य में ढूँढ़े जा सकते हैं। साहित्यिक और अभिलेखीय प्रमाणों से यह अवश्य स्पष्ट है कि प्रतीहारों की मूल राजनीतिक इकाइयाँ मालवा, राजपूताना और भड़ौंच के आसपास वाले गुजरात क्षेत्र में प्रस्फुटित हुई, जो वाँशिक दृष्टि से एक ही थीं। उनके अभिलेखों से जो कुछ ज्ञात है (एइ० १८वाँ, पृष्ठ ९५ और १०७), उससे वे मूलतः ब्राह्मण ठहरते हैं, जो बाद में क्षत्रिय हो गये। हिन्दू धर्मशास्त्रों की व्यवस्थाओं से भारत में जात्युत्कर्ष तथा जात्यपकर्ण (जातियों अथवा वर्णों का ऊपर चढ़ना अथवा नीचे गिरना) ज्ञात है। असंभव नहीं कि प्रतीहार अथवा प्रतीहारी नामक वैदिक याजकों (तैत्तिरीय ब्राह्मण, तृतीय, २, १९, २) ने बाद में अपने कर्मों को छोड़कर क्षात्रधर्म धारण कर लिया हो और वे अपने को क्षत्रियशिरोमणि लक्ष्मण से जोड़ने लगे हों। उनका अपने को लक्ष्मण से जोड़ने का एक ही कारण प्रतीत होता है और वह यह कि वे अपने वंशनाम 'प्रतीहार' की कोई विश्वसनीय व्याख्या देना चाहते थे। अतः हम उन्हें गुहिलों, सेनों, चाहमानों और परमारों की ब्रह्मक्षत्र परम्परा में एक कड़ी स्वीकार कर सकते हैं। इन प्रतीहारों की अनेक शाखाएँ थीं, जिनमें माण्डव्यपुर-मेदन्तक, भृगुकच्छ-नान्दीपुरी और अवन्ति-कन्नौज की शाखाओं के इतिहास भली प्रकार ज्ञात हैं। ये तीनों वंश एक ही कुल के थे, इसके अनेक

---

१. वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, अध्याय ५४-५६; महा०, वनपर्व, अध्याय ८० और ८२; स्कन्दपुराण, प्रभासखण्ड, अध्याय १-३।

२. वि० श० पाठक, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ४६।

३. विभिन्न मतों के लिए देखिए, गांगुली, इहिक्वा०, जिल्द १०, पृष्ठ ३३७ आदि; हलदर, इहिक्वा०, जिल्द १०, पृ० ६१३ आगे; पुरी, गुर्जर-प्रतिहारज्, पृ० १३-१८; र० चं० मजुमदार, भारतीय विद्या, जिल्द १०, पृ० ९-१३ आदि।

संकेत प्राप्त होते हैं । माण्डव्यपुर–मेदन्तक और अवन्ति–कन्नौज की उनकी शाखाओं में कक्कुक, नागभट्ट और भोज जैसे समान नाम मिलते हैं तथा दोनों ही अपने को लक्ष्मण में जोड़ते हैं[1] । उन्हें समसामयिक अभिलेखों (जैसे राष्ट्रकूटों के देवली और करहद अभिलेखों), साहित्यिक उल्लेखों एवं मुसलमान इतिहास लेखकों के उद्धरणों में बिना कोई भेद किये गुर्जर अथवा प्रतीहार नाम से अभिहित किया गया है । भृगुकच्छ–नान्दीपुरी के प्रतीहारों को भी चालुक्य अभिलेखों (जैसे द्वितीय पुलकेशिन् के अहिहोड़ अभिलेख में) गुर्जर कहा गया है । प्रथम दद्द को 'गुर्जरनृपतिवंश' से सम्बद्ध बताया गया है (इऐ०, १३वाँ, पृष्ठ ८२, ८८) । अतः जो विद्वान् गुर्जर और प्रतीहार को क्रमशः देश और वंश के अर्थ में लेते हैं अथवा दो वंश मानते हैं अथवा गुर्जर, प्रतीहार को गुर्जर कबीले की प्रतीहार शाखा मानते हैं, वे ऐतिहासिक तथ्यों की अवहेलना सी करते प्रतीत होते हैं और उनके मत ग्राह्य नहीं हो सकते ।

उज्जैन के गुर्जर प्रतीहार

गुर्जर प्रतीहारों की तीन शाखाएँ थी, जो क्रमश; भृगुकच्छ–नान्दीपुरी, माण्डव्यपुर–मेदन्तक और उज्जैन नामक नगरों में शासन करती थीं । इनमें सबसे मुख्य शाखा उज्जैन से शासन करनेवाले प्रतीहारों की थी, जिसने मालवा पर अधिकार कर पश्चिम में गुजरात तक के प्रदेशों पर अपनी अधिसत्तात्मक सत्ता स्थापित की । आगे इसी शाखा के शासक द्वितीय नागभट्ट ने कन्नौज पर अधिकार कर समस्त उत्तरी भारत पर प्रतीहारों का साम्राज्य स्थापित किया । कन्नौज के गुर्जर प्रतीहारों का मूल स्थान उज्जैन ही था । यह जिनसे–नरचित **जैनहरिवंश** के एक परिचयात्मक श्लोक से ज्ञात होता है । कहा गया है कि वह ग्रन्थ ७०५ शक् संवत् अर्थात् ७८३ ई० में वर्धमानपुर (काठियावाड़ के झाला–वाड़ क्षेत्र में स्थित आधुनिक बढ़वान) की उत्तरदिशा में इन्द्रायुध (कन्नौज में); दक्षिण दिशा में श्रीवल्लभ[2]; पूर्व दिशा में अवन्ति (उज्जैन) के राजा वत्सराज; और पश्चिम दिशा में सौर्यों के देश पर वराह (अथवा जयवराह) के शासन करते समय

---

१. दशरथ शर्मा यह मत स्वीकार नहीं करते कि माण्डव्यपुर और कन्नौज के प्रतीहार एक ही कुल के थे । देखिए, राजस्थान थ्रू दि एजेज, जिल्द १, पृष्ठ ४७४ और आगे ।

२. श्री वल्लभ की पहचान के बारे में मतभेद है । रा० गो० भण्डारकर (बम्बई गजेटियर, जिल्द १, भाग २, १९७) तथा अल्तेकर (राष्ट्रकूट्ज ऐण्ड देयर टाइम्स्, पृष्ठ ५२) द्वारा वह द्वितीय गोविन्द से; फ्लीट (बम्बई गजेटियर, जिल्द १, भाग २, पृष्ठ ३९२) द्वारा तृतीय गोविन्द से और वि० प्र० सिनहा (डिक्लाइन् ऑफ् दि किंगडम् ऑफ् मगध, पृष्ठ ३३५ नोट १) द्वारा ध्रुव से मिलाया गया है ।

भारतीय समाज में कोई प्रतिष्ठित पद नहीं प्राप्त था। यह गुर्जर प्रतीहार सम्राट् महेन्द्रपाल के **महासामन्त** द्वितीय अवन्तिवर्मन् चालुक्य के ऊणा अभिलेख के इस कथन से स्पष्ट है कि उसके पिता बलवर्मन् ने जज्जप आदि राजाओं को मारकर पृथ्वी को हूणवंश से हीन कर दिया[1]। स्पष्ट है कि यदि गुर्जर खजरों के वंशज होते और खजर हूणों की ही कोई शाखा अथवा उन्हीं की तरह विदेशी होते तो गुर्जर प्रतीहार सम्राट् के ही एक सामन्त को इस प्रकार पृथ्वी को 'हूणवंशहीन' करने के अभिमान का साहस न होता। वास्तव में हूणों को भारतीय समाज में मिला लिये जाने का सर्वप्रथम अभिलेखीय प्रमाण ११वीं शती के पूर्व का नहीं मिलता[2]। यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि यदि गुर्जर उनके साथी थे तो वे उनके विपरीत बहुत पहले ही हिन्दू समाज में कैसे मिला लिये गये तथा एक उच्च सामाजिक स्थिति प्राप्त करने में कैसे सफल हो गये। जहाँ तक **पृथ्वीराजरासो** के यज्ञकुण्ड से प्रतीहार आदि जातियों के उत्पन्न होने सम्बन्धी मिथक का प्रश्न है, वह उसकी प्राचीन पाण्डुलिपियों में नहीं मिलता[3]। पुनः, वह तत्सम्बन्धी अथवा उस प्रकार का न तो पहला उल्लेख[4] है और न विदेशियों की अग्नि द्वारा शुद्धि का ही परिचायक है। वशिष्ठ के यज्ञ से अर्बुद का सम्बन्ध; उनकी गाय नन्दिनी की सर्वकामदा शक्ति; उसे विश्वामित्र द्वारा प्राप्त किये जाने का प्रयत्न; दोनों ऋषियों का संघर्ष और वशिष्ठ–नन्दिनी द्वैत द्वारा नये–नये वीरों की उत्पत्ति सम्बन्धी मिथक सारे भारतीय साहित्य में अत्यन्त प्राचीन काल से बिखरे हुए रूप में प्राप्त

४५९–४६०; किन्तु बील ने वहीं (पृ० ४६०, नोट १) पि–लो–मो–लो की पहचान राजपूताना के बड़मेर से की। मजुमदार का कथन है कि श्वान्–च्वांग् भीनमाल नहीं अपितु गुर्जरत्रा के राजा की चर्चा करता है। देखिए, एइ० १८वाँ, पृ० ९३।

१. भुवनमिदं····हूणवंशेनहीनम्'–एइ० जिल्द ९, पृ० ६ श्लोक १५।

२. गुहिलराज शक्तिकुमार के प्रपितामह अल्लट ने एक हूणराजा की पुत्री हरियादेवी से विवाह किया, जिसके पुत्र नरवाहन का विवाह एक चाहमान राजकुमारी से हुआ। देखिए, इऐ०, जिल्द ३९, पृ० १९१। इसी प्रकार कलचुरिशासक यशःकर्णदेव के क० सं० ८२३ के खैरा (रीवाँ) ताम्रफलक से ज्ञात होता है कि उसकी माता अल्लादेवी हूणवंश में उत्पन्न हुई थी।

३. देखिए, दशरथ शर्मा, इहिक्वा०, जिल्द १६, पृ० ७४६–७; गौ० ही० ओझा, राजपूताने का इतिहास, जिल्द १, पृ० ७२ और आगे।

४. देखिए, पद्मगुप्तकृत नवसाहसांकचरित, एकादश, ६४–७१; धनपालकृत तिलक-मंजरी, प्रथम, ३९।

लिखा गया। प्रतीहारों के संदर्भ में सम्बद्ध श्लोक[१] की सर्वमुख्य बात यह है कि वर्धमानपुर से पूर्व में स्थित (अवन्ति) उज्जैन का अधिराज वत्सराज ७८३ ई० में शासन करता था। इस वत्सराज और उसके पूर्वजों की जानकारी हमें मिहिरभोज के सागरताल (ग्वालियर) प्रशस्ति (एइ०, जिल्द १८, पृष्ठ ९९-११४) से होती है। उसके वंशजों के रूप में ही मिहिरभोज तथा कन्नौज के प्रतीहारों का उसमें वर्णन है। इन प्रमाणों के आधार पर स्मिथ (जराएसो० १९०९, पृष्ठ ५७; अर्ली हिस्ट्री, पृष्ठ ३९३) और स्टेनकोनो (एइ०, जिल्द १२, पृष्ठ २०१) का यह मत अब प्रायः नहीं माना जाता कि कन्नौज के प्रतीहारों का मूल क्षेत्र श्रीमाल अथवा भीनमाल (दक्षिणी राजपूताना) था[२]। पीछे हम देख चुके हैं कि बाउक और कक्कुक के जोधपुर और घटियाला के अभिलेखों में माण्डव्यपुर-मेदन्तक के प्रतीहारों को लक्ष्मण से जोड़ा गया है। ठीक उसी प्रकार और प्रायः उन्हीं शब्दों में, ग्वालियर अभिलेख भी उज्जैन-कन्नौज के प्रतीहारों को लक्ष्मण से जोड़ता है। दोनों वंशों में नागभट्ट, कक्कुक और भोज जैसे समान नाम भी मिलते हैं, जो उन दोनों की वंश-एकता को सिद्ध करते हैं। किंतु जोधपुर के प्रतीहारों का आदिपुरुष हरिचन्द्र ब्राह्मण कहा गया है, जिसकी स्मृति उज्जैन-कन्नौज के प्रतीहारवंशी अभिलेखों अथवा अन्य सम्बन्धित साक्ष्यों में नहीं मिलती। वहाँ उन्हें पूर्ण क्षत्रिय ही माना गया है[३], जिससे लगता है कि वे अपना ब्राह्मणमूल भूल चुके थे।

प्रथम नागभट्ट

उज्जैन के प्रतीहारवंश का पहला शासक प्रथम नागभट्ट था, जिसका समय आठवीं शताब्दी के तीसरे और पाँचवे दशकों के बीच माना जा सकता है। शासक के रूप में

---

१. शाकेष्वब्दशतेषु सप्तसु दिशां पंचोत्तरेषूत्तराम्।
पातीन्द्रायुधनाम्नि कृष्णनृपते श्रीवल्लभे दक्षिणाम्॥
पूर्वां श्रीमदवन्तिभूभृतिनृपे वत्साधिराजे पराम्।
सौर्याणामधिमण्डले जययुते वीरे वराहेवति॥ ६ वाँ, ५३
विद्वानों में इस श्लोक के अर्थ के सम्बन्ध में परस्पर विरोध है। उदाहरण के लिए, डॉ० दशरथ शर्मा ने वत्सराज को अवन्ति का नहीं अपितु राजस्थान का राजा माना है। देखिए, राजस्थान थ्रू दि एजेज, जिल्द १, पृष्ठ १२५ और आगे।

२. साम्राज्यभोगी प्रतीहारों के मूल क्षेत्र भीनमाल के आसपास वाले राजपूताना के प्रदेशों में ही थे, इस मत का पुनः एक जोरदार समर्थन डॉ० दशरथ शर्मा ने किया है। देखिए, भारतीय विद्या, जिल्द १८, पृष्ठ ७४-८०; राजस्थान थ्रू दि एजेज, जिल्द १, पृष्ठ १२४-१३०।

३. ग्वालियर अभिलेख (श्लोक ९) में नागभट्ट को 'क्षत्रधामविधिबद्ध' कहा गया है।

उसकी सफलता ग्वालियर प्रशस्ति के इस संदर्भ से स्पष्ट है कि उसने म्लेच्छाधिप की बलवती सेनाओं को परास्त किया। यहाँ म्लेच्छराज की सेनाओं का तात्पर्य उन अरब आक्रमणकारियों से है, जो आठवीं शती के प्रारम्भ से ही सिन्ध, गुजरात, काठियावाड़, राजपूताना और मालवा पर काले बादलों की तरह छा रहे थे। इन आक्रमणकारियों का नेता जुनैद था। अल्-बिलादुरी कहता है कि अरब सेनाओं ने कई स्थानों की तो विजय कर ली किन्तु उज्जैन के विरुद्ध उनके धावे मात्र हुए। इन धावों को असफल सिद्धकर उनको पीछे ढकेल देने का गौरव नागभट्ट ने प्राप्त किया, जिसकी स्मृति ग्वालियर प्रशस्ति में सुरक्षित है। वहाँ कहा गया है कि म्लेच्छ शासक की विशाल सेनाओं को चूर करनेवाला वह मानों नारायणस्वरूप लोगों की रक्षा के लिए उपस्थित हुआ[१]। इसका अप्रत्यक्ष समर्थन पुलकेशिराज **अवनिजनाश्रय** के ७३८-९ ई० के नौसारि वाले उस अभिलेख से भी होता है, जिसमें ताजिकों के सैन्धव, सुराष्ट्र, चावोत्कट मौर्य और गुर्जर राज्यों की विजय की चर्चाएँ तो हैं, लेकिन उनके द्वारा उज्जैन अथवा मालवा की विजय का कोई उल्लेख नहीं है। इस सन्दर्भ का गुर्जर राज्य भृगुकच्छ-नान्दीपुरी का गुर्जरराज्य था, न कि उज्जैन का। अरबों के विरुद्ध नागभट्ट की सफलता अल्पकालिक अथवा उनकी विपत्ति कुछ दिनों के लिए टाल देने मात्र तक सीमित नहीं थी। वह आगे बढ़कर उनकी सेनाओं को बहुत पीछे खदेड़ देने में समर्थ रहा, जो चाहमान सामन्त भर्तुवड्ढ द्वितीय के वि० सं० ८०३=७४५ ई० के हांसोठ अभिलेख से स्पष्ट है। उस ताम्रपट्टाभिलेख के नागावलोक अर्थात् नागभट्ट के शासन के समय प्रसारित किये जाने का स्पष्ट उल्लेख है[२]। इससे सिद्ध होता है कि **महासामन्ताधिपति** भर्तृवड्ढ नागभट्ट की अधिसत्ता स्वीकार करता था। प्रायः यह निश्चित सा लगता है कि तृतीय जयभट्ट की सत्ता समाप्तकर भड़ौंच के आसपास के क्षेत्रों पर अरबों ने अपना जो प्रभाव स्थापित किया, वह दस-पन्द्रह वर्षों से अधिक नहीं टिक सका और नागभट्ट ने उन्हें उखाड़कर चाहमान भर्तृवड्ढ को अपनी ओर से भड़ौच के क्षेत्रों का शासक (**महासामन्ताधिपति**) नियुक्त किया। इस निष्कर्ष की पुष्टि बिलादुरी के इस कथन से भी होती है कि जुनैद का उत्तराधिकारी तमीम कमजोर सिद्ध हुआ और उसे भारतवर्ष के ऐसे अनेक स्थानों से हटना पड़ा[३], जो पहले उसके अधिकार में थे।

जिन दिनों नागभट्ट मालवा और राजपूताना में सत्ता मजबूत कर रहा था, प्रायः

---

१. वहीं, श्लोक ४।

२. एइ०, जिल्द १२, पृष्ठ १९७ और आगे।

३. इलियट् और डाउसन् हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, जिल्द १, पृ० १२६।

उसी समय अवन्ति के ठीक दक्षिण में दन्तिदुर्ग (७३३-७५८) ने चालुक्यों को अपदस्थकर राष्ट्रकूटों की महान् सत्ता की नींव डाली । यही नहीं, उसने उत्तर-पूर्व की ओर बढ़कर नागभट्ट को भी हराया । प्रथम अमोघवर्ष के संजन ताम्रपट्टाभिलेख (७९३ शक सं०=८७१ ई०) से यह ज्ञात होता है कि दन्तिदुर्ग ने उज्जयिनी में क्षत्रियों (राजन्यों) द्वारा सम्पन्न किये जानेवाले हिरण्यगर्भ नामक महादान (यज्ञ) में गुर्जर आदि राजाओं को प्रतीहारी का कार्य करने को विवश किया[१] । नागभट्ट अपनी ही राजधानी में दन्तिदुर्ग द्वारा एक हीन स्थिति में डाल दिया गया । उज्जयिनी पर दन्तिदुर्ग के अधिकार और उसके द्वारा वहाँ किये जानेवाले महादान का उल्लेख सामानगढ़ अभिलेख (इए०, जिल्द ११, पृष्ठ २११ और आगे) और एलोरा से प्राप्त दशावतार गुहाभिलेख (आर्के० सर्वे०, पश्चिमी वृत्त, जिल्द ५, पृष्ठ ८७-८) में भी प्राप्त होता है । किन्तु इस घटना की तिथि की जानकारी का अभी तक कोई भी साक्ष्य नहीं उपलब्ध हो सका है और हम यह नहीं निश्चित कर सकते कि इसका समय नागभट्ट की अरबों पर विजय और उसके पश्चिमी भारत पर प्रभाव-स्थापन के पहले था या बाद में । यह भी निश्चित नहीं है कि दन्तिदुर्ग का अवन्ति पर कितने दिनों तक अधिकार बना रहा ।

ककुस्थ और देवराज

नागभट्ट का उत्तराधिकारी हुआ उसका भ्रातुज ककुस्थ, जिसके पिता का नाम ज्ञात नहीं है । उसका एक दूसरा नाम कक्कुक (सर्वदा अच्छी बातें कहते हुए हँसते रहने वाला)[२] भी था । ग्वालियर प्रशस्ति में उसे सामान्यरूप में 'वंश का यश बढ़ानेवाला' कहा गया है, जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वह एक साधारण शासक था । ककुस्थ के बाद उसका छोटा भाई देवराज अथवा देवशक्ति अवन्ति की राजगद्दी का उत्तराधिकारी हुआ । ग्वालियर प्रशस्ति से यह ज्ञात होता है कि उसने 'अनेक भूभृतों (राजाओं) तथा उनके शक्तिशाली पक्ष करनेवालों की स्वतन्त्र गति को रोका' । ऐसा

---

१. हिरण्यगर्भं राजन्यैः उज्जयिन्यां यदासितम् ।
प्रतीहारीः कृतंयेन गुर्जरेशादिराजकम् ।। श्लोक, सं० ९, एइ० जिल्द १८, पृ० २३५ । इस श्लोक के 'राजन्यैः····यदासितम्' का डॉ० दशरथ शर्मा ने यह अर्थ निकाला (राजस्थान थ्रू दि एजेज, जिल्द १, पृष्ठ १२०, पादटिप्पणी १) है कि हिरण्यगर्भ यज्ञ और दान कई राजाओं ने मिलकर किया, जिसका श्रेय केवल राष्ट्र कूटों को नहीं दिया जाना चाहिए । लेकिन दूसरी पंक्ति से स्पष्ट है कि गुर्जर राजा प्रतीहार का कार्य करने को दन्तिदुर्ग द्वारा विवश किया गया ।

२. भ्रातुस्तस्यात्मजोऽभूत् कलितकुलयशः ख्यातकाकुस्थनामा । वहीं पृ० १०७ ।

प्रतीत होता है कि उसे अपने राज्य के शत्रुओं से लड़ना पड़ा, जिसमें उसे सफलता मिली।

वत्सराज (लगभग ७७५-८००) ई०

देवराज का उसकी रानी भूयिकादेवी से उत्पन्न वत्सराज नामक पुत्र अवन्ति का अगला शासक हुआ। वह ७८३ ई० में वहाँ की गद्दी पर आसीन था, यह हम पीछे देख चुके हैं। गुर्जर प्रतीहार साम्राज्य की नींव डालने का श्रेय उसे दिया जा सकता है। उस समय की उठती हुई सभी सत्ताओं से उसके युद्ध हुए। यद्यपि यह तो नहीं कहा जा सकता है कि उसकी सफलताओं का क्रम अनवरत बना रहा, तथापि यह स्पष्ट है कि उसकी राजनीतिक प्रतिष्ठा सभी समकालिक सत्ताओं ने स्वीकार की। उसका सर्वप्रथम अभियान मिहिरभोज की ग्वालियर प्रशस्ति के सातवें[१] श्लोक में उल्लिखित है। तदनुसार 'कुछ हाथियों द्वारा निर्मित मानों एक प्राचीर के कारण दुर्जय' भण्डिकुल से उसने बलपूर्वक साम्राज्यश्री छीन ली (हठादग्रहीत)। इतिहासकारों को हर्ष के ममेरे भाई भण्डि के अतिरिक्त तन्नामक अन्य किसी व्यक्ति अथवा कुल का ज्ञान नहीं है। लेकिन उस भण्डि ने अपना कोई राजवंश स्थापित किया, इसका कोई भी प्रमाण नहीं उपलब्ध है। एकमत यह है कि इस सन्दर्भ का भण्डिकुल राजपूताना-स्थित भट्टिकुल[२] है, जिसकी चर्चा बाउक के जोधपुर वाले अभिलेख में प्राप्त होती है। यह पहचान सर्वप्रथम डॉ० मजुमदार ने की, जिसे उनके बाद लिखनेवाले अनेक विद्वानों ने स्वीकार कर लिया[३]। लेकिन उन्होंने अन्यत्र[४] जोधपुर के प्रतीहारवंश के राजा शिलुक द्वारा पराजित राजा देवराज को वत्सराज के पिता देवराज से मिलाया। दिस्कलकर महोदय ने जोधपुर अभिलेख के सम्बन्धित स्थलों की टीका करते हुए[५] इस पहचान को अस्वीकृत कर यह सिद्ध करने का

---

१. ख्यातादृभण्डिकुलां मदोत्कटकारि प्राकारदुर्लङ्घ्तो यः साम्राज्यमधीज्यकार्मुकसखा संख्ये हठादग्रहीत्। श्लोक ७, एइ० जिल्द १८, पृष्ठ १०८।

२. देखिए, दशरथ शर्मा, जर्नल ऑफ् इण्डियन् हिस्ट्री, जिल्द २३, पृष्ठ ९८। किन्तु डॉ० शर्मा इस मत का परित्याग कर इस अनुमान की ओर झुकते हुए प्रतीत होते हैं कि वत्सराज द्वारा पराजित भट्टिकुल का तात्पर्य पालवंश (भटादिवंश) से है जिसे 'राजभटादिवंशपतित' कहा गया है। देखिए, राजस्थान थ्रू दि एजेज, जिल्द १, पृष्ठ १३१।

३. जडिले०, जिल्द १८, पृष्ठ २८।

४. एइ०, जिल्द १८, पृष्ठ ९३।

५. जर्नल ऑफ् इण्डियन् हिस्ट्री, जिल्द ७, पृष्ठ २३३-५।

प्रयत्न किया कि वत्सराज द्वारा पराजित भण्डिकुल का राजा और शिलुक द्वारा पराजित भट्टिकुल का शासक देवराज एक ही थे। वत्सराज और शिलुक प्रायः एक ही समय उज्जयिनी और माण्डव्यपुर-मेदन्तक की दो प्रतीहार शाखाओं के शासक थे। जोधपुर अभिलेख (एइ०, जिल्द १८, पृष्ठ ९६) की सूचना है कि बाउक के पिता कक्क ने (द्वितीय) नागभट्ट की अधीनता में गौडराज के विरुद्ध युद्ध में यश प्राप्त किया। जोधपुर के गुर्जर प्रतीहार अवन्ति के प्रतीहारों की अधिसत्ता कदाचित् वत्सराज के समय में भी स्वीकार करते थे। और यह असम्भव नहीं है कि बाउक के जोधपुर अभिलेख में शिलुक द्वारा भट्टिराज के विजित किये जाने का जो उल्लेख है, उसी का सन्दर्भ वत्सराज के सम्बन्ध में मिहिरभोज की ग्वालियर प्रशस्ति में भी हो। हो सकता है, शिलुक ने वत्सराज के साथ उसके सामन्तरूप में भट्टिराज को हराया हो और उसका राज्य अपने अधिराज वत्सराज के लिए छीन लिया हो।

गौडविजय

गौड राजा धर्मपाल पर विजय वत्सराज की सबसे बड़ी सफलता थी, जिसका उल्लेख राष्ट्रकूट राजा तृतीय गोविन्द के ८०८ ई० के राधनपुर (एइ०, छठाँ, पृष्ठ २४३, २४८) अभिलेख में मिलता है। उसमें यह कहा गया है[१] कि मदान्ध वत्सराज ने गौड (देश) की राज्यलक्ष्मी को आसानी से हस्तगत कर उसके 'दो राजछत्रों को छीन लिया था।' इस तथ्य का समर्थन तृतीय गोविन्द के ही ८०८ ई० वाले वनिदिन्दोरी और ८१२ ई० वाले बड़ौदा अभिलेखों से होता है। साथ ही, **पृथ्वीराजविजय**[२] से यह ज्ञात होता है कि चाहमान शासक दुर्लभराज ने गौडदेश की विजयकर अपनी तलवार को गंगासागर के जल से पवित्र किया। इस दुर्लभराज के पुत्र गूवक ने नागावलोक की सभा में यश प्राप्त किया[३]। विद्वानों ने इस सन्दर्भ के नागावलोक को द्वितीय नागभट्ट से मिलाया है। अतः यह प्रायः मान्य है कि दुर्लभराज ने वत्सराज की सेनाओं के साथ सामन्तरूप में ही गौडदेश पर आक्रमण किया था, जिस सिलसिले में वह पूर्व में समुद्र के किनारों तक (गंगासागर) चला गया। चूँकि **पृथ्वीराजविजय** का यह वृत्तान्त वास्तविक घटना के लगभग ४०० वर्षों बाद लिखा गया, प्राचीन बंगाल के डॉ० मजुमदार जैसे आधुनिक इतिहासकार यह स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं कि वत्सराज ने गौडदेश के राजा (धर्मपाल) को उसके राज्य पर आक्रमण कर कहीं बंगाल में हराया था। अपितु उनके

---

१. हेलास्वीकृतगौडराज्यकमलां मत्तं प्रवेश्याचिरात्। इऐ०, ११वाँ, पृष्ठ १५७; एइ०, छठाँ, पृष्ठ १४८।

२. पंचम, २०; और देखिए इहिक्वा०, जिल्द १४, पृष्ठ ८४४।

३. एइ०, जिल्द १, पृ० १०२, ११६।

मत में (हिस्ट्री ऑफ् बेंगाल, जिल्द १, पृष्ठ १०५ नोट १) उत्तर भारत पर अपनी-अपनी शक्ति विस्तृत करने के प्रयत्नों के बीच पाल और प्रतीहार सेनाओं की यह मुठभेड़ दोआब में कहीं हुई। लेकिन पाल और प्रतीहार क्षेत्रों के बीच उस समय कोई बहुत बड़ी सत्ता अथवा राज्य के न होने की स्थिति में वत्सराज बंगाल तक चढ़ गया हो, यह असम्भव नहीं प्रतीत होता।

ध्रुव का आक्रमण और वत्सराज की राजपुताने में शरण

तृतीय गोविन्द के वनिदिन्दोरी और राधनपुर अभिलेखों से यह भी ज्ञात होता है कि ध्रुव ने वत्सराज को हराकर कहीं मरुदेश (राजपूताना) में शरण लेने को विवश किया। यही नहीं, उसने वत्सराज के यश के साथ ही उन दो राजछत्रों को भी छीन लिया, जिन्हें उसने गौडराज से छीना था[१]। यह स्पष्ट है कि धर्मपाल, वत्सराज और ध्रुव की राजनीतिक और सैनिक महत्त्वाकांक्षाएँ आपस में टकरा रही थीं और भारतवर्ष की साम्राज्य-सत्ता प्राप्त करने के लिए उनकी सेनाओं में संघर्ष होते रहे। वत्सराज धर्मपाल के मुकाबले तो सफल रहा, लेकिन ध्रुव राष्ट्रकूट इस स्थिति को चुपचाप नहीं देख सकता था और उसकी विजयवाहिनी ने उत्तर पर धावा बोल दिया। वत्सराज हारा और राजपूताने की ओर भागकर कदाचित् जावालिपुर (जालोर) के अपने पुराने सत्ता केन्द्र में शरण लेने को विवश हुआ। वहाँ उसके राज्य करने का वर्णन जैनग्रन्थ **कुवलयमाल** (पंचम, २१) से प्राप्त होता है, जो जावालिपुर में ७७८ ई० में रचा गया (ऐभओरिइ०, जिल्द १८, पृष्ठ ३९७-८)। मध्य राजपूताना पर उसके अधिकार का समर्थन दौलतपुर (एइ०, जिल्द ५, पृष्ठ २१८) ओसिया (जराएसो०, १९०७, पृष्ठ १०१०) के अभिलेखों से भी होता है। उधर ध्रुव वत्सराज को अवन्ति से भगाकर दोआब तक चढ़ गया और धर्मपाल को भी हराने में सफल रहा। वत्सराज द्वारा धर्मपाल पर आक्रमण और विजय तथा ध्रुव द्वारा वत्सराज और धर्मपाल पर आक्रमण के समय क्या थे, इस पर विद्वानों में बड़े मतभेद हैं। डॉ० अल्तेकर ने ध्रुव के उत्तर भारतीय अभियान का समय ७८९-९० ई० निश्चित (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ५६-५७) किया और उनका अनुसरण करते हुए वि० प्र० सिनहा ने (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३३८) वत्सराज द्वारा धर्मपाल की पराजय का समय ७८५-८६ ई० माना है। किन्तु जब तक कोई निश्चित प्रमाण नहीं उपलब्ध हो जाता, इस विषय पर इदमित्थम् न कहना ही अच्छा होगा। ध्रुव के अभियानों की तिथि चाहे जो भी रही हो, वह अपनी राजधानी मान्यखेट से इतनी दूर बहुत दिनों तक टिक नहीं सकता था और शीघ्र ही वह उत्तरी भारत छोड़ कर अपने राज्य वापस लौट गया। वत्सराज को अवंति

---

१. गौडीयं सरदिन्दुपाधवलं छत्रद्वयं केवलं
तस्मानाहृततत्यशोऽपि ककुभं प्रांते स्थितं तत्क्षणात्। राघनपुर अभिलेख, श्लोक ८।

का अपना राज्य वापस ले लेने का यह अच्छा अवसर सिद्ध हुआ होगा। तथापि वह अपनी पहले वाली शक्ति पुनः नहीं प्राप्त कर सका। राष्ट्रकूटों के अभियान से उसे जो धक्का लगा, उसका पूर्ण लाभ उठाते हुए उसके शत्रु गौडराज धर्मपाल ने प्रायः सारे उत्तरापथ की दिग्विजय कर डाली। उसने कन्नौज में चक्रायुध को गद्दी पर बिठाने के लिये एक दरबार लगाया, जिसमें अवन्ति के राजा (वत्सराज) को बेबस होकर शामिल होना पड़ा[१]। जैन **हरिवंश** (६६, ५३) से इन्द्रायुध तथा वत्सराज के अवन्ति में ७८३ ई० में शासन करने की बात ज्ञात होती है। चूँकि धर्मपाल ने इन्द्रायुध को ही अपदस्थकर चक्रायुध को कन्नौज की गद्दी पर बिठाया था, यह मानना तर्कसंगत होगा कि ७८३ ई० के बाद ही कभी अवन्ति के राजा (वत्सराज) को चक्रायुध के राज्याभिषेक के अवसर पर उपस्थित होने के लिए विवश होना पड़ा। किन्तु इस बात का प्रमाण नहीं है कि धर्मपाल ने इन्द्रायुध को इस कारण कन्नौज की गद्दी से हटा दिया कि वह वत्सराज की अधिसत्ता स्वीकार करता था। उज्जयिनी के प्रतीहारों के लिए ये कठिन परीक्षा के दिन थे, जिसकी चुनौती वत्सराज के पुत्र नागभट्ट ने स्वीकार की। उसकी चर्चा हम कन्नौज के प्रतीहार साम्राज्य के संस्थापक के रूप में करेंगे।

कन्नौज में प्रतीहार साम्राज्य की स्थापना : द्वितीय नागभट्ट (लगभग ८००-८३३ ई०)

वत्सराज का सुन्दरीदेवी से उत्पन्न पुत्र और उत्तराधिकारी द्वितीय नागभट्ट हुआ। यह जानने का कोई भी साधन उपलब्ध नहीं है कि वह कब गद्दी पर बैठा। इतना मात्र अनुमान लगाया जा सकता है कि उसका राज्यारोहण ८०० ई० के आसपास हुआ। उसके समय की राजनीतिक घटनाओं की जानकारी के जो भी प्रमाण हैं, उनसे उनका तिथिक्रम निश्चित कर सकना बड़ा कठिन है और इस विषय पर लिखने वाले प्रायः सभी विद्वान् उन घटनाओं का विवरण अलग-अलग क्रम से करते हैं। इतना निश्चित है कि उसके राजनीतिक जीवन में अनेक उतार-चढ़ाव हुए और राष्ट्रकूटों के आक्रमणों के रूप में दक्षिण का प्रबल प्रतिरोध होते हुए भी अन्ततोगत्त्वा वह अपनी राजनीतिक सत्ता के विस्तार में सफल रहा। अन्त में वह अपनी पैतृक राजधानी उज्जैन को छोड़कर कन्नौज से उत्तर भारत की सर्वप्रमुख सत्ता के रूप में शासन प्रारम्भकर गुर्जर प्रतीहार साम्राज्य का संस्थापक सिद्ध हुआ।

मिहिरभोज की ग्वालियर प्रशस्ति में नागभट्ट की सैनिक उपलब्धियों का विवरण मिलता है। तदनुसार, उसने आंध्र, सिन्ध, विदर्भ और कलिंग के राजाओं को अधीन

---

१. खालिमपुर अभिलेख, श्लोक १२, एइ०, जिल्द ४, पृष्ठ २४३ और आगे; नारायण-पाल का भागलपुर अभिलेख, इऐ०, जिल्द १५, पृष्ठ ३०४।

किया, कन्नौज में चक्रायुध को हराया, आगे बढ़कर गौडनृपति (धर्मपाल) को परास्त किया तथा बलपूर्वक आनर्त्त, मालव, किरात, तुरुष्क, वत्स और मत्स्य के पर्वतीय दुर्गों को छीन लिया[१]। किन्तु अनेक राष्ट्रकूट अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि उसके समकालिक राष्ट्रकूट शासक तृतीय गोविन्द ने उसे करारी मात दी और और जिस प्रकार उसके पिता ध्रुव ने वत्सराज के साम्राज्य-स्वप्नों को एक बार चकनाचूर कर डाला था, उसी प्रकार गोविन्द ने भी उत्तर भारत की राजनीति में हस्तक्षेप कर नागभट्ट की महत्त्वाकांक्षी योजनाओं की शीघ्रपूर्ति में बाधाँ पहुँचायी। कठिनाई यह है कि हमें इन घटनाओं के तैथिक क्रम का ज्ञान नहीं है और यह कह सकना असम्भव है कि नागभट्ट ने पहले अपनी उत्तरभारतीय सैनिक सफलताएँ प्राप्त की अथवा राष्ट्रकूटों के धावे पहले हुए। तथापि कुछ बातें स्वाभाविक रूप में स्पष्ट जान पड़ती हैं और तिथिक्रम के प्रश्न को उलझा हुआ स्वीकार करते हुए भी हम यथासम्भव उस स्वाभाविक क्रम के ध्यान से ही नागभट्ट के सैनिक अभियानों का वर्णन करेंगे।

राजनीतिक और सैनिक उपलब्धियों के बीच राष्ट्रकूटों का हस्तक्षेप

जिस समय नागभट्ट गद्दी पर बैठा, उज्जैन का प्रतीहार राज्य एक ओर धर्मपाल के दबाव और दूसरी ओर राष्ट्रकूट धावों के आतंक के बीच पिस रहा था। ७८३ ई० के पूर्व ही यद्यपि वत्सराज उज्जयिनी पर पुनः अधिकार कर चुका था, यह नहीं लगता कि उसके बाद तथा अपनी मृत्यु के पूर्व पाल और राष्ट्रकूटों द्वारा उपस्थित समस्याओं का कोई समाधान वह निकाल सका था। ऐसी स्थिति में नागभट्ट की सर्वप्रथम समस्या रही होगी अवन्ति-राजपूताना की सैनिक मेड़बन्दी। ग्वालियर प्रशस्ति का यह विवरण कि आन्ध्र, विदर्भ, सिन्ध और कलिंग के राजाओं ने उसके प्रति वैसा ही आत्मसमर्पण किया, जैसे पतंग दीपशिखा के प्रति करते हैं[२]। ये सभी राज्य पूर्व-पश्चिम की एक सीधी रेखा में स्थित थे और पूर्व में पालों, दक्षिण में राष्ट्रकूटों से प्रकृत्यामित्र रूप में भयभीत रहे होंगे। उनके लिए स्वाभाविक था कि वे उन दोनों के समान शत्रु नागभट्ट से मित्रता कर आत्मरक्षा का उपाय करें। यद्यपि राजनीति की ऐसी मित्रताएँ स्थायी नहीं होतीं और प्रायः बड़ी सत्ताएँ छोटी सत्ताओं को आत्मसात कर जाती हैं, ग्वालियर प्रशस्ति के इस कथन का हम तार्किक निष्कर्ष नहीं अपना सकते कि वे 'दीपशिखा के सामने पतंगों की तरह' नागभट्ट के मुँह में चले गये। सच तो यह है कि विदर्भ के कुछ भागों के गोविन्द

---

१. एइ०, जिल्द १८, पृष्ठ १०८, ११२, श्लोक ८ से ११ तक।

२. आन्ध्रसैन्धवविदर्भकलिंगभूपैः कौमारधामनि पतंगसमैरपाति।
एइ०, जिल्द १८, पृष्ठ १०८, श्लोक ८।

के अधिकार में होने की पुष्टि उसके ७२९ शक् संवत्=८०७ ई० के सिसरों और ७३४ शक् संवत्=८१२ ई० के लोहर अभिलेखों[१] से होती है । ऐसी स्थिति में विदर्भ के राजा ने अपने क्षेत्रों को वापस प्राप्त करने के लिए ही नागभट्ट से मित्रता की होगी । सिन्ध प्रदेश से कुछ ऐसे अभिलेख प्राप्त हुए हैं, जिनसे वहाँ के शासकों का प्रतीहारों के प्रति राजभक्त होना प्रमाणित (एइ०, जिल्द २६, पृष्ठ १८५) होता है । गोविन्द जैसा शक्तिशाली सम्राट् नागभट्ट के नेतृत्त्व में शत्रुओं का यह संघटन बढ़ने नहीं दे सकता था और इसे तोड़ने के लिए उसने प्रतीहार राज्य पर चढ़ाई कर दी । किन्तु इस अभियान के पूर्व उसने अपने पक्षों को मजबूत कर लेना आवश्यक समझा और अपने छोटे भाई इन्द्र को गुजरात का राज्यपाल नियुक्त किया, ताकि कहीं वह दिशा शून्य पाकर नागभट्ट विंध्याचल के मार्गों से दक्षिणापथ पर टूट न जाय । अमोघवर्ष के ७९३ शक् सम्वत्= ८७१ ई० के संजन अभिलेख से यह ज्ञात होता है[२] कि गोविन्द ने नागभट्ट के सुयश को युद्ध में हर लिया ।' परबल के ९१७ वि० सं०=८६०-१ ई० वाले पथरी स्तम्भ लेख से भी यह ज्ञात होता है (एइ०, जिल्द ९, पृष्ठ २५५) की कर्कराज ने 'नागावलोक को शीघ्र ही वापस जाने को विवश कर दिया ।' यह नागावलोक द्वितीय नागभट्ट ही था । कर्कराज गोविन्द का वह सामन्त प्रतीत होता है, जिसे उसने (कर्कराज का बड़ौदा अभिलेख, इऐ० जिल्द १२, पृष्ठ १६०, १६४) मालवा की रक्षा के लिए गुर्जरराज (नागभट्ट) के विरुद्ध नियुक्त किया था । तृतीय गोविन्द के अन्य अनेक अभिलेख मिले हैं, जिनसे उसकी नागभट्ट पर विजय के प्रमाण उपलब्ध होते हैं–यथा ७२४ शक सं०=८०२ ई० का मन्ने अभिलेख; ७२९ शक सं०=८१७ ई० का सिसवै अभिलेख और ७२० शक् संवत्=८०८ ई० का राधनपुर अभिलेख । यदि उसके भाई रणावलोकस्तम्भ के मन्ने अभिलेख को जाली न माना जाय तो यह मानना होगा कि नागभट्ट पर तृतीय गोविन्द की विजय ८०२ ई० के पूर्व सम्पन्न हो चुकी थी[३] । यह निर्णय झरिके से प्राप्त एक अन्य अभिलेख से भी पुष्ट होता है, जिससे यह ज्ञात होता है कि तृतीय गोविन्द ८०३ ई० में हेलापुर में था और उस वर्ष की वर्षाऋतु में वह श्रीभवन में था[४] । ये दोनों ही स्थान नर्मदा के ऊपर हैं । डॉ०

---

१. एइ०, जिल्द २३, पृष्ठ २१६ और आगे तथा २७६ और आगे ।

२. एइ०, जिल्द १८, पृष्ठ २३५ ।

३. देखिए, एइ० जिल्द २३, पृष्ठ २९३-२९५; वि० प्र० सिनहा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ३५३; र० चं० मजुमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १७८ ।

४. देखिए, डॉ० रायचौधुरी का अध्यक्षीय भाषण, इण्डियन् हिस्ट्री कांग्रेस, अलीगढ़, १९६० ई० ।

अल्तेकर के मतानुसार[१] यह युद्ध कहीं बुदेन्लखण्ड में लड़ा गया, जहाँ से आगे बढ़कर गोविन्द ने चक्रायुद्ध और धर्मपाल को भी आत्मसमर्पण के लिए विवश किया[२] तथा हिमालय तक पहुँच गया। नागभट्ट भय के मारे न जाने स्वयं कहीं भाग गया, जहाँ स्वप्न में भी उसे युद्ध न दिखायी दे[३]।

चक्रायुध की पराजय और कन्नौज पर अधिकार

लेकिन तृतीय गोविन्द की अपने पिता की ही भाँति दक्षिण लौटना पड़ा। कारण यह था कि अपने मूल क्षेत्रों से इतनी दूर उत्तर भारत में वह बहुत दिनों तक टिक नहीं सकता था, विशेषत: उन परिस्थितियों में जब उसके राज्य के भीतर ही अनेक समस्याएँ उठ खड़ी हुईं। नागभट्ट उससे हारा तो था, किन्तु उसकी शक्ति कुचली नहीं जा सकी थी। गोविन्द उत्तर भारत से लौटने के बाद अपने राज्य के मामलों में ही इतना फँस गया कि उसे उस ओर दुबारा मुँह करने का कोई अवसर ही न लगा। नागभट्ट के लिए यह सुनहरा अवसर था, जिसका उसने भरपूर लाभ उठाया। उसने चक्रायुध पर आक्रमण कर दिया, जिसकी 'क्षुद्रता इस बात से प्रमाणित थी कि वह दूसरों पर निर्भर रहता था'[४]। चक्रायुध की पर-निर्भरता के इस सन्दर्भ का तात्पर्य यह है कि वह धर्मपाल की अधिसत्ता स्वीकार करता था। नागभट्ट ने चक्रायुध को अपदस्थकर कन्नौज पर अधिकार कर लिया और वहाँ के प्रथम गुर्जर प्रतीहार सम्राट् की हैसियत से **परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर** की उपाधियाँ[५] धारण कीं।

मुँगेर का युद्ध और धर्मपाल की हार

नागभट्ट धर्मपाल के नामांकित चक्रायुध को अपदस्थ मात्र करने से संतुष्ट न हुआ, बल्कि धर्मपाल के बिहार वाले क्षेत्रों में आगे बढ़कर उसे भी युद्ध के लिए ललकारा। ग्वालियर प्रशस्ति का कथन है[६] कि वंग का राजा (धर्मपाल) 'अपने हाथियों, घोड़ों और रथों के साथ काले घने बादलों के अन्धकार की तरह 'आगे बढ़कर उपस्थित हुआ,

---

१. दि एज ऑफ् इम्पीरियल् कन्नौज, पृष्ठ ७।

२. स्वयमेव उपनतौ च यस्य महतस्तौ धर्मचक्रायुधौ।

३. गुर्जरो नष्टः क्वापि भयात् तथा न समरं स्वप्नेऽपि पश्येद्यथा। वहीं, श्लोक १५।

४. जित्वा पराश्रयकृतस्फुटनीचभावं चक्रायुधं विनयनम्रवपुव्र्यर्यराजत्॥ एइ०, जिल्द १८, पृष्ठ १०८।

५. बुचकला अभिलेख, एइ०, जिल्द ९, पृष्ठ १९९ और आगे।

६. दुव्वर्रिवैरिवरवारणवाजिवारयाणौघसंघटनघोरघनानन्धकारम्। निर्ज्जित्य वंगपती-माविर्भूद्विवस्वान्नुदयन्निव त्रिजगदेकविकासकोयः॥ श्लोक १०।

किंतु 'त्रिलोकों को प्रसन्न करनेवाला नागभट्ट उगते हुए सूर्य की तरह उस अन्धकार को काटने' में सफल रहा । स्पष्ट है, धर्मपाल को युद्ध में मुँह की खानी पड़ी । प्रतीहार बाउक के जोधपुर अभिलेख (एइ०, जिल्द १८, पृष्ठ ९६, ९८) से ज्ञात होता है कि इस युद्ध का स्थान मुद्‌गगिरि अर्थात् मुंगेर था । उसमें यह कहा गया है कि कक्क ने 'मुद्‌गगिरि के युद्ध में गौडों के विरुद्ध लड़कर यश प्राप्त किया[१] ।' कक्क ने इस युद्ध में नागभट्ट के सामन्त की हैसियत से ही भाग लिया था । उसके साथ उस युद्ध में उत्तरी गुजरात के बाहूकधवल और शंकरगण नामक क्रमशः चालुक्य और गुहिलवंशी सामन्तों ने भी भाग लिया था[२] । बालादित्य के चाट्सु अभिलेख का कथन है कि शंकरगण ने 'महान् भट गौडराज को युद्ध में पराजित किया' एवं युद्ध में सारे विश्व को जीतकर 'अपने अधिराज के अधीन किया[३] ।

डॉ० दशरथ शर्मा का मत[४] है कि नागभट्ट ने कन्नौज और बंगाल की विजय तृतीय गोविन्द के दक्षिण लौट जाने (८१३ ई०) और द्वितीय कर्कराज के बड़ौदा अभिलेख के समय (८१२ ई०) के बीच कभी की होगी । यह इस बात से इंगित होता है कि उस अभिलेख में गौडराज की पराजय की घटना हाल में हुई बतायी गयी है । ८१५ ई० के बुचकला अभिलेख (एइ०, जिल्द ९, पृष्ठ १९९ और आगे) में नागभट्ट के **परम-भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर** जैसे विरुदों से भी यह पुष्ट होता है कि उसके पूर्व वह अपनी प्रमुख विजयें पूरी कर चुका था ।

ग्वालियर अभिलेख के ११वें श्लोक से यह भी ज्ञात होता है[५] कि नागभट्ट ने आनर्त्त (उत्तरीकाठियावाड़), मालव (मध्यभारत), मत्स्य (पूर्वी राजपूताना), किरात (हिमालय की तलहटियों के जंगल प्रदेश), तुरुष्क (पश्चिमी भारत के मुसलमानी अधिकार के क्षेत्र) और वत्स (प्रयाग के पास कौशाम्बी के क्षेत्र) के पर्वतीय दुर्गों पर भी बलपूर्वक अधिकार (हठापहारैः) कर लिया । यह निर्णय कर सकना कठिन है कि इस उल्लेख से नागभट्ट का उपर्युक्त सभी प्रदेशों पर प्रशासनाधिकार

---

१. ततोऽपि श्रीयुत कक्कः पुत्रो जातो महामतिः ।
यशो मुद्‌गगिरौ लब्धं येन गौडैः समं रणे । श्लोक २४, जराएसो०, १८९४, पृ० ४ और आगे ।

२. मजुमदार, जडिले०, जिल्द १०, पृ० ४० नोट, दि एज ऑफ् इम्पीरियल् कन्नौज, पृ० २५; देखिए, हरहा अभिलेख की १०-११ और १४-१५वीं पंक्तियाँ ।

३. एइ०, जिल्द १२, पृष्ठ १२ श्लोक १४वाँ ।

४. राजस्थान थ्रू दि एजेज़, जिल्द १, पृष्ठ १४० ।

५. आनर्त्तमालवाकिराततुरुष्कवत्समत्स्यादि राजगिरिदुर्गहठापहारैः ।

होना मान लिया जाय अथवा यह माना जाय कि वहाँ के छोटे-छोटे शासक उसकी अधिसत्तात्मकता मात्र मानने को विवश किये गये। नागभट्ट के विजित क्षेत्रों की उपर्युक्त सूची देखने से यह प्रतीत होता है कि उसने उन सभी प्रदेशों को अपना अधिकार मानने को विवश किया जो, खालिमपुर अभिलेख के अनुसार, धर्मपाल की अधिसत्ता मानने को विवश हुए थे। १०३० वि० सं०=९७३ ई० के विग्रहराज के हर्ष प्रस्तर लेख से यह ज्ञात होता है (एइ०, जिल्द २, पृष्ठ १२१, १२६) कि उसके पूर्वज चाहमान गूवक (प्रथम) ने 'नागावलोक के दरबार में यश प्राप्त किया'[1]। **पृथ्वीराजविजय** से यह सूचना मिलती है (पंचम, श्लोक ३०-३१) कि गूवक की बहिन कलावती ने कन्नौज के राजा (नागभट्ट) से विवाह किया। इन संदर्भों से यह स्पष्ट लगता है कि शाकम्भरी के चाहमानों ने नागभट्ट की अधिसत्ता स्वीकार की थी। सभी साक्ष्यों के सामूहिक आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उसने हिमालय की तलहटियों से लेकर नर्मदा नदी के उत्तर के बीच के सभी प्रदेशों पर अपना प्रभाव स्थापित किया। जोधपुर के बिलाद जिले में स्थित बुचकला नामक स्थान से नागभट्ट का जो अभिलेख मिला है (एइ०, जिल्द ९, पृष्ठ १९८) उसमें यह क्षेत्र उनके द्वारा स्वयंशासित (स्वविषय) कहा गया है। पश्चिम में उत्तरी गुजरात पर उसका चालुक्य सामन्त बाहूकधवल (एइ०, जिल्द १, पृष्ठ १) शासन करता था तथा पूर्व में उसकी स्वयंशासित सीमाएँ पाल साम्राज्य की उत्तर-पश्चिम सीमाओं को छूती थीं।

रामभद्र (लगभग ८३३-८३६ ई०)

चन्द्रप्रभसूरिकृत **प्रभावकचरित** से यह ज्ञात होता है[2] कि ८९० वि० सं०=८३३ ई० में द्वितीय नागभट्ट ने पवित्र गंगा में जलसमाधि द्वारा अपना प्राणत्याग किया। उसके पूर्व अपनी रानी इष्टादेवी से उत्पन्न अपने पुत्र रामभद्र को वह उत्तराधिकारी नियुक्त कर चुका था। रामभद्र राम अथवा रामदेव नाम से भी ज्ञात है। ग्वालियर प्रशस्ति में यह कहा गया है कि रामभद्र ने 'सर्वोत्तम घोड़ों वाले अपने सामन्तों से (शत्रुओं की) सेनाओं के नायकों को बलपूर्वक 'बंधवाया'।[3] डॉ० मजुमदार के मत में (जडिले०, जिल्द १०, पृष्ठ ४६) यह पालों के दबाव की ओर लक्ष्य करता है। शत्रुओं द्वारा उपस्थित

---

१. आद्यः श्री गूवकाख्यः प्रथितनरपतिश्चाहमानान्वयोऽभूत्
श्रीमन्नागावलोकप्रवरनृपसभालब्धवीरप्रतिष्ठः। श्लोक १२।

२. देखिए, चन्द्रप्रभसूरि का प्रभावकचरित, निर्णयसागर प्रेस, १७७ (वप्पभट्टिप्रबन्ध का ७२५वाँ श्लोक)।

३. तज्जन्मारामनामाप्रवरहरिबलव्यस्तभूभृतप्रबन्धैरावधान् वाहिनीनां प्रसभमधिपती-न्नुद्धतक्रूरसेनान्। श्लोक १२, एइ० जिल्द १८, पृष्ठ १०८।

भय गम्भीर था, यह इस बात से प्रमाणित है कि रामभद्र को अपने सामन्तों की सहायता लेनी पड़ी। लगता है कि देवपाल के दबाव के कारण रामभद्र त्रस्त था और अपने पार्श्वों की ठीक व्यवस्था न कर सका। देवपाल ने अपने मुंगेर अभिलेख (श्लोक १५) में समस्त उत्तर भारतवर्ष की विजय का दावा किया है। नारायणपाल के बादाल स्तम्भ अभिलेख से ज्ञात होता है (एइ०, जिल्द २, पृष्ठ १६२, श्लोक १३) कि देवपाल ने 'उत्कल कुल को उखाड़ फेंका, हूणों के दर्प को चूर किया एवं द्रविड और गुर्ज्जर राजाओं के घमण्ड को बिखेर दिया'। गुर्ज्जर राजा का संदर्भ कदाचित् रामभद्र के लिए है। रामभद्र की कमजोरी का परिणाम अनेक विद्वानों की दृष्टि में यह हुआ कि गुर्जरत्राभूमि एवं कालंजरमंडल के कुछ प्रदेशों से उसका शासन समाप्त हो गया। इस मत की अस्वीकार्यता हम मिहिरभोज के शासन की चर्चा के समय दिखायेंगे। रामभद्र का अधिकार ग्वालियर जैसे सुदूर के क्षेत्रों पर अब भी बना रहा, यह इस बात से प्रमाणित है कि बैल्लभट्ट उसकी ओर से वहाँ 'मर्यादाधुर्य' अर्थात् अन्तपाल का कार्य करता था[१]।

मिहिरभोज (लगभग ८३६-८८५ ई०)

रामभद्र के अत्यल्प शासन के बाद उसकी रानी अप्पादेवी से उत्पन्न पुत्र मिहिर-भोज अथवा भोज ८३६ ई० में उसका उत्तराधिकारी हुआ। उसके कई नामभेद अथवा विरुद थे, यथा–मिहिरभोज (ग्वालियर अभिलेख), प्रभास (दौलतपुर अभिलेख) और आदिवराह (ग्वालियर चतुर्भुज अभिलेख)। मिहिरभोज के इतिहास का ज्ञान कराने वाले अनेक अभिलेख मिले हैं, जिनमें कई तो उसने स्वयं लिखवाये और अन्य या तो उसके उत्तराधिकारियों के समय में अथवा कन्नौज के प्रतीहारवंश के सामन्तों द्वारा लिखवाये गये। कानपुर जिले के बराह नामक स्थान से प्राप्त, महोदय अर्थात् कन्नौज नगर से प्रकाशित, वि० सं० ८९३=८३६ ई० का लेख उनमें सर्वप्रथम है, जो वंश के एक प्राचीन दान को पुनर्स्वीकृत करता है तथा देवशक्ति से भोज तक प्रतीहारों का वंशवृक्ष देता (एइ० जिल्द १९, पृष्ठ १५ और आगे) है। वि० सं० ९००=८४३ ई० का जोधपुर क्षेत्र के दौलतपुर नामक स्थान से प्राप्त और कन्नौज से प्रकाशित अभिलेख[२] भी उसी प्रकार एक दूसरे दान की पुनर्स्वीकृति करता एवं वंशवृक्ष देता है। इन दोनों लेखों से

---

१. एइ० जिल्द १, पृष्ठ १५६-७; श्लोक ७।

२. इस अभिलेख के सम्पादक कीलहॉर्न महोदय ने इसकी तिथि १०० पढ़कर इसे हर्ष सं० का माना (एइ०, पंचम, पृष्ठ २०८) था। लेकिन दे० रा० भण्डारकर ने इसकी तिथि ९०० मानकर (जराएसो०, बम्बई शाखा, जिल्द २१, पृष्ठ ४११) इसे विक्रम संवत् का स्वीकार किया, जो सही है।

यह भली-भाँति प्रमाणित है कि भोज की राजधानी प्रारम्भ से ही कन्नौज थी। वि० सं० ९१९=८६१ ई० का भोज प्रतीहार और उसके महासामन्त विष्णुराम के समय का देवगढ़ जैन स्तम्भलेख कमलदेव के शिष्य शान्तिनाथदेव के मन्दिर के निकट एक स्तम्भ निर्माण की सूचना देता है। ९३२ वि० सं०=८७५ ई० का ग्वालियर से प्राप्त एक अभिलेख **आदिवराह** भोज के वज्जरवंशज नागर भट्टकुमार नामक व्यक्ति के उल्लेख के साथ रामदेव (रामभद्र) के 'मर्यादाधुर्य' (अन्तपाल) वैल्लभट्ट और उसके पुत्र अल्ल (उसी पद पर) का उल्लेख करता है। (एइ०, जिल्द १, पृष्ठ १५६)। वहीं के ९३३ वि० सं०=८७६ ई० के एक दूसरे अभिलेख में वैल्लभट्ट के पुत्र अल्ल द्वारा निर्मित दो मन्दिरों को दिये जाने वाले ४ दानों का उल्लेख (एइ० जिल्द १, पृष्ठ १५९) है। वहाँ अल्ल को गोपाद्रि (ग्वालियर) का कोट्टपाल कहा गया है। हर्ष सं० ९७६=८८२ ई० का पेहवा अभिलेख (रामभद्र के पुत्र भोजदेव के समय का) वहाँ लगनेवाले घोड़ों के मेले में व्यापारियों का एक संविद अथवा निबन्धन सूचित करता है, जिसके द्वारा क्रेता-विक्रेताओं से कर वसूलकर कुछ मन्दिरों को देने की व्यवस्था की गयी थी। राजनीतिक के साथ सांस्कृतिक दृष्टि से भी इस अभिलेख का महत्त्व है। वंश से सम्बद्ध राजनीतिक घटनाओं और वंशवृक्ष बताने वाली ग्वालियर की सागरताल प्रशस्ति है, जिसमें (एइ०, जिल्द १८, पृष्ठ १०७ और आगे) कोई तिथि नहीं दी है। लेकिन प्रतीहारों के राजनीतिक इतिहास की जानकारी का यह अत्यन्त मुख्य स्रोत है। भावनगर के बारतों संग्रहालय में एक अतैथिक अभिलेख रखा है (एइ०, जिल्द १९, पृष्ठ १६५) जिसमें भोजदेव के विरुद **आदिवराह** का उल्लेख है। इसमें उस कृष्णराज के अपने देश में त्वरित प्रत्यावर्त्तन का भी उल्लेख है, जिसे प्रायः राष्ट्रकूट राजा द्वितीय कृष्ण **अकालवर्ष** (८७५-९११ ई०) से मिलाया जाता है। आहाड़ प्रस्तर अभिलेख (एइ०, जिल्द १९, पृष्ठ ५२ और आगे) विभिन्न समयों पर प्रकाशित विभिन्न आलेखों का एक संग्रह है। दिल्ली में पुराना किला के पास से भी भोज के समय का एक अतैथिक अभिलेख (रॉजस्थान थ्रू दि एजेज्, जिल्द १, पृ० ५७२) मिला है। भोज के समय में अथवा उसके द्वारा प्रकाशित उपर्युक्त अभिलेखों के अतिरिक्त उसके बाद गद्दी पर बैठने वाले प्रतीहार राजाओं एवं उनके सामन्तों के भी कुछ अभिलेख हैं, जिनसे भोज के राजनीतिक क्रियाकलापों का ज्ञान प्राप्त होता है। इनमें महेन्द्रपाल के **महासामन्त** द्वितीय अवन्तिवर्मन् का ऊणा अभिलेख (एइ०, जिल्द ९, पृष्ठ १३ और आगे) और गुहिल-वंशी बालादित्य का चाट्सु अभिलेख (एइ०, जिल्द १२, पृष्ठ १३ और आगे) प्रमुख हैं। भोज की राजनीतिक और सैनिक सफलताओं के उल्लेख कल्हणकृत **राजतरंगिणी** और अरब सौदागर सुलेमान के विवरणों में भी हैं, जिनके संदर्भों का हम आगे उपयोग करेंगे।

प्रशासन का दृढ़ीकरण

भोज का सर्वप्रथम अभिलेख (वराह अभिलेख, एइ०, १९, पृष्ठ १५-१९) वि० सं० ८९३=८३६ का है, जिसका यह अर्थ लगाया गया है कि सबसे पहले उसने अपनी सीमाओं की सुरक्षा और प्रशासन के सुदृढ़ संगठन की ओर ध्यान दिया। उपर्युक्त अभिलेख में कहा गया है कि उसने कान्यकुब्जभुक्ति के कालंजरमण्डल के उदुम्बर विषय में स्थित वालकाग्रहार के उस दान को पुनः चालू किया जो सर्वप्रथम सर्ववर्मन् द्वारा दिया गया था, बाद में द्वितीय नागभट्ट के समय में पुनर्स्वीकृत हुआ था, किन्तु रामभद्र के समय में '**व्यावहारिन्** नामक अधिकारी की अयोग्यता के कारण विहत हो गया था'। इसी प्रकार ९०० वि० सं०=८४३ ई० के दौलतपुर अभिलेख से ज्ञात होता है (एइ०, पचंम, पृष्ठ २०८ और आगे) कि गुर्जरत्राभूमि (जोधपुर क्षेत्र) में महाराज वत्सराज द्वारा सर्वप्रथम दान किया हुआ, द्वितीय नागभट्ट द्वारा पुनर्स्वीकृत, किन्तु रामभद्र के दिनों में बाधित, डेण्डवानक विषय (दिदवान) के शिवा नामक ग्राम का दानपत्र मिहिरभोज (प्रभास) ने पुनः चालू किया। रामभद्र के समय में इन दोनों दानों के विहत अथवा बाधित होने का प्रायः विद्वानों ने यह अर्थ लगाया है[1] कि बुन्दलेखण्ड और मारवाड़ के उन प्रदेशों पर उस समय प्रतीहार शासन या तो ढीला हो गया था अथवा समाप्त हो गया था। किन्तु उपर्युक्त अभिलेखों में प्रयुक्त शब्दों से केवल इतना मात्र स्पष्ट है कि **व्यावहारिन्** (न्यायिक अधिकारी) लोगों की अकर्मण्यता के कारण[2] पीछे के दान सम्बन्धी प्रतीहार आलेख्यों का कोई मूल्य नहीं रह गया था और दानप्राप्तकर्त्ताओं को कोई आय नहीं हो रही थी। मिहिरभोज ने उन्हें पुनः प्रमाणित और पुनर्स्वीकृतकर उन दानों की वैधता मात्र को पुनर्स्वीकृति दी। उनसे यह नहीं प्रमाणित होता कि रामभद्र के समय में उन क्षेत्रों पर प्रतीहार अधिकार समाप्त हो गया था, जिसे मिहिरभोज ने पुनः स्थापित किया। प्रत्युत्, यह प्रमाणित है कि बुन्देलखण्ड में यशोवर्मा के पूर्व के सभी चन्देल राजा कन्नौज के प्रतीहारों की अधिसत्ता स्वीकार करते थे[3]। जोधपुर का क्षेत्र माण्डव्यपुर-मेदन्तक के प्रतीहारों के अधीन था, जो अवन्ति-कन्नौज के प्रतीहारों के सामन्त थे और उस क्षेत्र में वत्सराज के किसी दानपत्र का पालन बाधित हो जाय, यह

---

१. देखिए, र० चं० मजुमदार, एइ०, जिल्द १८, पृष्ठ १०६; एज ऑफ् इम्पीरियल् कन्नौज, पृष्ठ २९-३०; त्रिपाठी, हिस्ट्री ऑफ् कन्नौज पृष्ठ २३७-८; वि० प्र० सिनहा, डिक्लाइन् ऑफ् दि किंगडम् ऑफ् मगध, पृष्ठ ३७०।

२. व्यवहारिणों वैगुण्यात् किञ्चित्कालं विहतम् आदि।

३. त्रिपाठी, हिस्ट्री ऑफ् कन्नौज, पृष्ठ २३८; हेमचन्द्र, राय, डाहिनाइ०, जिल्द २, पृ० ६६८-६७०।

सचमुच सम्बन्धित अधिकारियों की लापरवाही या कमजोरी का ही द्योतक है, न कि कन्नौज के प्रतीहारों के विरुद्ध जोधपुर के प्रतीहारों की सामन्तशक्ति के पूर्ण स्वतन्त्र होने के प्रयत्न का[१]। डॉ० मजुमदार का मत[२] है कि ८४३ और ८६१ ई० के बीच कभी प्रतीहारों (भोज) का अधिकार गुर्जरत्राभूमि से समाप्त हो गया तथा जोधपुर के प्रतीहार फिर उठ खड़े हुए। प्रमाणस्वरूप वे कक्कुक के घटियाला (८६१ ई०) अभिलेख का साक्ष्य देते हैं। लेकिन माण्डव्यपुर-मेदन्तक (जोधपुर) के प्रतीहार प्रायः सर्वदा ही अवन्ति के प्रतीहारों के अधीन थे और उनके अभिलेखों में कहीं भी स्पष्टतः यह उल्लिखित नहीं है कि उन्होंने कभी अवन्ति के प्रतीहारों को चुनौती दी अथवा गुर्जरत्राभूमि के उनके अधिकृत क्षेत्रों पर स्वयं अधिकार कर लिया। अतः डॉ० दशरथ शर्मा का यह मत[३] ग्राह्य है कि रामचन्द्र के दिनों में बुन्देलखण्ड अथवा जोधपुर के क्षेत्र प्रतीहारों के हाथ से बाहर नहीं निकले थे। ऐसी स्थिति में भोज को सर्वप्रथम उन पर अपना पुनः अधिकार करने की समस्या थी, इसका कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

भोज के आधिपत्य का विस्तार

भोज के सैनिक अभियानों एवं राजनीतिक सत्ता के विस्तार का क्रम क्या था, इनकी जानकारी के कोई निश्चित साक्ष्य नहीं उपलब्ध हैं। तथापि, उसके एवं प्रतीहारवंश के सामन्तों के अनेक अभिलेखों से जो जानकारियाँ प्राप्त होती हैं, उनके आधार पर उसकी सैनिक और राजनीतिक सफलताओं का निबन्धन किया जा सकता है। उसकी ग्वालियर प्रशस्ति में कहा गया[४] है कि 'अगस्त्य ऋषि ने तो केवल एक पर्वत (भूभृत) विंध्य की वृद्धि रोकी थी' किन्तु 'भोज ने अनेक राजाओं पर आक्रमण कर शासन किया', और इस प्रकार अगस्त्य से भी अधिक चमका। यह कथन उसके शक्ति विस्तार का द्योतक है। इस बात का प्रमाण है कि उत्तर-पूर्व दिशा में उसकी प्रभाव सीमा हिमालय की तलहटियों तक व्याप्त थी। वि० सं० ११३४=१०७७ ई० के सोढदेव के कहला अभिलेख (एइ०, जिल्द ७, पृष्ठ ८५ और आगे) से ज्ञात होता है कि उनके नवें पूर्वज, कलचुरिवंशज, गुणाम्बोधिदेव ने भोज से कुछ भूमि प्राप्त (भोजदेवाप्तभूमिः) की। साथ ही यह भी कहा गया है कि उसने गौडराज की लक्ष्मी का हरण किया।

---

१. इस सम्बन्ध में देखिए, त्रिपाठी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २३९; पुरी, गुर्जरप्रतीहारज्, पृष्ठ ५५-५६।

२. दि एज ऑफ् इम्पीरियल् कन्नौज, पृष्ठ ३०; एइ०, जिल्द १८; पृ० १०६।

३. देखिए, राजस्थान थ्रू दि एजेज्, जिल्द १, पृ० १४६-१५०।

४. उपरोधैकसंरुद्धविंध्यवृद्धेरगस्त्यः। आक्रम्यभूभृतान् भोक्ता यः प्रभुर्भोज इत्यभात्।। श्लोक १६, एइ० जिल्द १८, पृ० १०९।

कहला गोरखपुर जिले के धुरियापार परगने में स्थित है और यह मानना समीचीन होगा कि कलचुरियों के माध्यम से भोज ने अपने समकालिक और शक्तिशाली पालनरेश देवपाल अथवा उसके उत्तराधिकारी का मुकाबला किया और प्रतीहार-पाल युद्ध में गुणाम्बोधिदेव ने प्रतीहार सामन्त की हैसियत से भाग लिया। भोज द्वारा उत्तरी भारत की विजय में गुहिल हर्षराज नामक एक दूसरे सामन्त ने भी भाग लिया था, यह बालादित्य के चाट्सु अभिलेख से प्रणामित है। उस लेख में कहा गया है कि हर्षराज ने 'उत्तरी दिशा के सभी राजाओं को जीतकर भक्तिपूर्वक भोजराज को घोड़ों की भेंट की'[१]। इस गुहिलराज का सामन्तक्षेत्र जयपुर की एक तहसील के मुख्य नगर चाट्सु के आसपास था और यह निर्विवाद है कि भोज की अधिसत्ता राजपूताना के उत्तर-पूर्वी भागों पर व्याप्त थी। पूर्वी पंजाब के पेहवा नामक स्थान से प्राप्त हर्ष संवत् २७६=८८२ ई० के एक अभिलेख से यह प्रमाणित होता है कि उत्तर-पश्चिम में हरियाणा (कर्नाल जिला) के प्रदेश उसके साम्राज्य में शामिल थे। इस अभिलेख (एइ०, जिल्द १, पृष्ठ १८६-१८८) में 'भोजदेव के कल्याणकारी और विजयी शासन के दिनों' में घोड़ों के व्यापारियों द्वारा कुछ मन्दिरों को दिये जाने वाले धन के लिए क्रय-विक्रय पर लगाये जाने वाले कर सम्बन्धी एक संविदा का उल्लेख है। दिल्ली में पुराना किला के पास से प्राप्त एक खण्डित अभिलेख से दिल्ली पर भोज का अधिकार ज्ञात होता है। कल्हणकृत **राजतरंगिणी** के एक श्लोक[२] से यह ज्ञात होता है कि पंजाब के उत्तरी भागों के अधिकृत थक्कियक नामक राजवंश के किसी राजा से **अधिराज** भोज ने जो थोड़ी भूमि (साम्राज्य) छीन ली थी और उसे प्रतीहारी (द्वारपाल) का कार्य करने को विवश किया था, उस भूमि को शंकरवर्मा ने पुनः थक्कियकराज को वापस दे दिया। भोज के लिए **अधिराज** विशेषण का प्रयोग यह प्रकट करता है कि उत्तरी और पश्चिमी पंजाब तक उसकी अधिसत्तात्मकता रही होगी। थक्कियकराज्य के पास का गुर्जर राजा अलखान भोज का मित्र अथवा सामन्त प्रतीत होता है जिसे शंकरवर्मा के दबाव से अपने

---

१. जित्वा यः सकलानुदीच्यनृपतीन्भोजायभक्त्याददौ।
सक्तान्सेकतसिन्धुलधनविश्रीवशंजान्वाजिनः ।। एइ०, जिल्द १२, पृष्ठ १५, श्लोक १९।
डॉ० शर्मा ने उत्तर दिशा के इन विजित राजाओं की पहचान सिन्ध और मुल्तान के अरबों से की है। देखिए, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १५४।

२. हृतं भोजाधिराजेन स साम्राज्यमदापयत्।
प्रतीहारतया भृत्यीभूते थक्कियकान्वये ।। पचंम, १५१।

राज्य की रक्षा करने के लिए टक्कदेश छोड़ना पड़ा[१] । इस अलखान द्वारा शासित क्षेत्रों की पहचान पश्चिमी पंजाब के गुजराँवाला से की गयी (पुरी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ५७) है । शंकरवर्मा का राज्यारोहण ८८३ ई० में माना जाता है । अतः यह कल्पना की जा सकती है कि भोज को अपने मित्र अलखान और थक्कियराज से अपहृत भूमि को बचाने में अपनी वृद्धावस्था के कारण ही असफल होना पड़ा ।

दक्षिणी राजपूताना के प्रतापगढ़ नामक स्थान से १००३ वि० सं०=९४६ ई० का द्वितीय महेन्द्रपाल के समय का एक अभिलेख मिला है (एइ०, जिल्द १४, पृष्ठ १७६ और आगे) जिसमें यह कहा गया है कि वहाँ का एक चाहमानवंशी राजा भोजदेव के लिए महान् प्रसन्नता का स्रोत (येनोच्चैः सुखमासितं क्षितिभृतां श्रीभोजदेवेन च) था । यह चाहमान राजा गोविन्दराज था जो उपर्युक्त अभिलेख के प्रकाशक इन्द्रराज का पितामह था । सुदूर पश्चिम में भोज का अधिकार सुराष्ट्र–काठियावाड़ तक विस्तृत था, जो सर्वप्रथम डॉ० हेमचन्द्र रायचौधुरी द्वारा (इहिक्वा०, जिल्द ५, पृष्ठ १२९–१३३) इंगित **स्कन्दपुराण** के **प्रभासखण्ड** के **वस्त्रापथमाहात्म्य** के एक स्थल से प्रमाणित हुआ । यद्यपि इस सन्दर्भ की कथा की ऐतिहासिकता पर किंचिन्मात्र भी विश्वास नहीं किया जा सकता, तथापि उससे इतना स्पष्ट है कि कन्नौजराज भोज ने वस्त्रापथ (आधुनिक गिरनार) के रेवतक पर्वत के क्षेत्रों पर अपना एक वनपाल (जंगलों का अधिकारी) नियुक्त किया था और वहाँ अपनी कुछ सेनाएँ भी रख छोड़ी थीं ।

प्रतीहार-पाल संघर्ष

पीछे हम देख चुके हैं कि नागभट्ट ने मुँगेर के युद्ध में धर्मपाल का मानमर्दन किया था । तथापि धर्मपाल के पुत्र देवपाल के समय पालों की राजनीतिक और सैनिक शक्ति पराकाष्ठा पर पहुँच गयी । भोज देवपाल के समान ही शक्तिशाली और महत्त्वाकांक्षी था और दोनों में मुठभेड़ होनी स्वाभाविक थी । किन्तु इतिहास के विद्यार्थी की तथ्यनिरूपण सम्बन्धी कठिनाई उस समय बहुत ही बढ़ जाती है जब वह इन दोनों से सम्बन्धित अभिलेखों में अपनी–अपनी विजय का दावा उपस्थित किया हुआ पाता है । एक ओर तो भोज की अतैथिक ग्वालियर प्रशस्ति यह सूचित करती है कि जिस 'लक्ष्मी ने धर्म (धर्मपाल) के पुत्र (देवपाल) का वरण कर लिया था, वही बाद में भोज की पुनर्भू'[२] (दूसरा पति करने वाली) हो गयी, अर्थात् राजलक्ष्मी देवपाल के अधिकार से निकलकर

---

१. राज०, पंचम, १४९–१५०, देखिए हेमचन्द्र राय, डाहिनाइ०, जिल्द १, पृष्ठ ७४–७५ ।

२. धर्मापत्यशः प्रभूतिरपरा लक्ष्मीः पुनर्भून्नया । श्लोक १८, १८वाँ, पृष्ठ १०९ ।

भोज के अधिकार में चली गयी। किन्तु दूसरी ओर नारायणपाल के समय के ब्रादाल स्तम्भलेख में यह कहा गया है कि देवपाल ने 'गूर्जरनाथ के दर्प को चूर किया[१]।' डॉ० मजुमदार ने देवपाल के शासनकाल की जो अवधि (८१०-८५० ई०) निर्धारित की है, उसे यदि स्वीकार किया जाय तो देवपाल द्वितीय नागभट्ट, रामभद्र और भोज तीनों का ही समकालिक ठहरता है। इनमें से किस **गूर्जरनाथ** का दर्प उसने चूर किया, यह स्पष्ट नहीं हैं। डॉ० मजुमदार (जडिले०, दसवाँ, पृष्ठ ५०) और डॉ० त्रिपाठी (हिस्ट्री ऑफ् कन्नौज, पृष्ठ २४१) उस **गूर्जरनाथ** को भोज मानते हैं। ऐसी स्थिति में ब्रादल स्तम्भलेख और ग्वालियर प्रशस्ति वाले दोनों ही साक्ष्यों को प्रामाणिक मानते हुए यह कहा जा सकता है कि यदि देवपाल की मुठभेड़ भोज से हुई तो वह भोज के शासन के प्रारम्भिक वर्षों की ही घटना थी, जिसमें उसे (भोज को) मुँह की खानी पड़ी। किन्तु भोज जो इस बात का दावा करता है कि राज्यलक्ष्मी देवपाल को छोड़कर उसके पास चली आयी, वह देवपाल के अन्तिम समय की घटना हो सकती है। अतः यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि उन दोनों पाल-प्रतीहार नरेशों की शक्ति--परीक्षा के अन्तिम दौर में प्रतीहारराज भोज को ही विजयश्री मिली। सम्भवतः इसी घटना की ओर सोढदेव का कहला अभिलेख भी इंगित करता है, जिसमें यह कहा गया है। (एइ०, सप्तम, पृष्ठ ८६, ८९) कि भोज से भूमि प्राप्त करने वाले कलचुरिसामन्त गुणाम्बोधि-देव ने गौडराज की लक्ष्मी का हरण कर लिया। इस सम्बन्ध में डॉ० मजुमदार का यह मत (दि एज ऑफ् इम्पीरियल् कन्नौज, पृष्ठ ३१) ग्राह्य नहीं प्रतीत होता है कि भोज की विजय नारायणपाल[२] पर, न कि देवपाल, पर हुई थी, क्योंकि उनके ही अनुवाद के अनुसार (एइ०, जिल्द १८, पृष्ठ १३३, श्लोक १८) ग्वालियर प्रशस्ति में यह स्पष्ट उल्लिखित है कि 'धर्म के पुत्र' (धर्मापत्य) को छोड़कर लक्ष्मी भोज के पास चली आयी। धर्म अर्थात् धर्मपाल का पुत्र देवपाल था न कि नारायणपाल।

प्रतीहार-राष्ट्रकूट संघर्ष

पीछे हम देख चुके हैं कि तृतीय गोविन्द को अपने शासन के पिछले वर्षों में अपने

---

१. खर्वीकृतगूर्जरनाथदर्पम्। एइ०, द्वितीय, पृष्ठ १६३, १६५, श्लोक १३।

२. भोज ने देवपाल को हराया या नारायणपाल को, इस पर मतैक्य नहीं है। यद्यपि डॉ० दशरथ शर्मा सागरताल (ग्वालियर) अभिलेख के सम्बद्ध स्थल की व्याख्या डॉ० मजुमदार की व्याख्या से विपरीत करते हैं, वे भी मजुमदार की तरह इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भोज से पराजित होनेवाला पालराजा नारायणपाल था, न कि देवपाल। देखिए, जर्नल् ऑफ् ओरियण्टल् रिसर्च, मद्रास, जिल्द २४, पृ० ७०-७१; राजस्थान थ्रू दि एजेज्, जिल्द १, पृ० १५१-१५२।

ही राज्य की समस्याओं में इतना फँसे रहना पड़ा कि वह दुबारा उत्तर भारत की राजनीति में हस्तक्षेप नहीं कर सका और द्वितीय नागभट्ट को प्रतीहार साम्राज्य की नींव जमाने का पूरा अवसर मिल गया। गोविन्द का उत्तराधिकारी अमोघवर्ष (८१४-८७८ ई०) भी अपने भाइयों और प्रतिद्वन्द्वियों द्वारा उपस्थित झगड़ों तथा आन्तरिक उपद्रवों को शान्त करने में इतना व्यस्त रहा[१] कि उसे भी उत्तर की ओर अग्रसर होने का कोई अवसर नहीं था। ऐसी परिस्थिति में यह कह सकना कठिन है कि उसके सिरूर[२] अभिलेख के इस कथन में कितनी ऐतिहासिक सत्यता है कि अंग, वंग, मगध, मालवा और वेंगी के राजा उसकी पूजा करते थे। वास्तविकता तो यह है कि उसके अपनी ही समस्याओं में उलझे रहने का लाभ उठाकर भोज उत्तरी और मध्य भारत तथा राजपूताना के अधिकांश क्षेत्रों का निष्टकंटक स्वामी बन गया। मान्यखेट और गुजरात के राष्ट्रकूट वंश प्रतीहारों के पुराने शत्रु थे तथा अवन्ति और उसके आसपास के क्षेत्रों पर अधिकार के लिए उन दोनों वंशों में बराबर संघर्ष होते रहे। भोज ने उत्तरी, मध्य तथा पश्चिमी भारत पर अपनी अधिसत्ता पूर्णरूप से स्थापितकर तथा पूर्व में पालों के मुकाबले अपनी सीमाओं की सुरक्षा सुदृढ़कर राष्ट्रकूटों से अपने वंश की पुरानी पराजयों का बदला लेने का निश्चय किया। इस शक्तिपरीक्षा में उसने ही पहल की। किन्तु आगे बढ़कर राष्ट्रकूटों को हराने में उसे कोई सफलता नहीं मिली। ७८९ शक सं०=८६७ ई० के द्वितीय ध्रुव के वागुम्रा अभिलेख (इऐ०, जिल्द १२, पृष्ठ १७९, १८४, १८९) से यह ज्ञात होता है कि उसने 'अपने ज्ञातियों (कुल्यों) की सहायता से सज्ज, लक्ष्मी से युक्त, युद्ध के लिए लालायित गूर्जर की अत्यन्त बलवान् सेना को बड़ी आसानी से परांगमुख कर दिया[३]। अभिलेख के समय की दृष्टि से तथा उसके अगले अंशों से स्पष्ट है कि इस संदर्भ का परांगमुख राजा मिहिर अर्थात् भोज ही था। वहाँ यह भी कहा गया है कि उसके पूर्व भोज सभी दिशाओं की विजयकर चुका था। भोज को परांगमुख करने वाला यह ध्रुव (धारावर्ष) मान्यखेट के मूल राष्ट्रकूट वंश का नहीं, अपितु उसकी गुजरात शाखा का (द्वितीय ध्रुव)

---

१. देखिए, एइ०, प्रथम, पृष्ठ ५३; एइ०, षष्ठ, पृष्ठ ३० और आगे; अल्तेकर, राष्ट्रकूट्ज ऐण्ड देयर टाइम्स्, पृष्ठ ७४; दि एज ऑफ् इम्पीरियल् कन्नौज, पृष्ठ ९-१०।

२. इऐ०, जिल्द १२, पृष्ठ २१९ और आगे।

३. गूर्जरबलमिति बलवत् समुद्यन्तं च कुल्येन,
एकाकिनैव विहितं परांगमुखं लीलया येन ।। श्लोक ३८। डॉ० शर्मा का मत है कि भोज ने गुजरात के राष्ट्रकूटों के उत्तराधिकार के युद्ध में द्वितीय ध्रुव के विपरीत उसके छोटे भाई की सहायता में गुजरात पर आक्रमण किया था। देखिए, राजस्थान थ्रू दि एजेज्, जिल्द १, पृष्ठ १५६, पादटिप्पणी १।

शासक था। सम्बद्ध अभिलेख से यह निष्कर्ष निकलता है कि ८६७ ई० के कदाचित् थोड़े ही दिनों पूर्व भोज की राष्ट्रकूटों के मुकाबले पराजय हुई थी। लेकिन भोज की यह पराजय आक्रमणकारी की थी न कि आक्रामित की। युद्ध प्रतीहार क्षेत्रों में नहीं, अपितु राष्ट्रकूट क्षेत्रों में लड़ा गया था और भोज के परांगमुख होने का मतलब केवल इतना ही है कि उसे राष्ट्रकूटों को उनके ही घर में नीचा दिखाने में सफलता नहीं मिली। इस बात की जानकारी का कोई साधन नहीं है कि गुजरात के राष्ट्रकूटों ने इस युद्ध में अकेले ही प्रतीहार सेनाओं को पीछे ढकेला था अथवा उन्होंने मान्यखेट के राष्ट्रकूटों की भी सहायता ली थी। जो भी हो, भोज को यह असफलता करोंदती रही और ८७५ ई० के उसके एक अभिलेख (एइ०, जिल्द १, पृष्ठ १५६) से स्पष्ट है कि वह उस समय भी 'तीनों लोकों का विजिगीषु[1]' होने की इच्छा से प्रेरित था। युद्ध के अगले चक्र में राष्ट्रकूटों ने पहल की। बारतों संग्रहालय के एक खंडित अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि भोज ने मान्यखेट की मुख्य शाखा के राष्ट्रकूट राजा द्वितीय कृष्ण (८७८-९११ ई०) को अपने देश त्वरित वापस लौट जाने को विवश किया[2]। यह युद्ध कदाचित् नर्मदा के किनारे अवन्ति पर अधिकार के लिए लड़ा गया था। तृतीय कृष्ण के ८६२ शक संवत्=९४० ई० के देवली (एइ०, जिल्द ५, पृष्ठ १८८-१९७) और कर्हाट (एइ०, चतुर्थ, पृष्ठ २७८ और आगे) अभिलेखों में द्वितीय कृष्ण द्वारा गूर्ज्जर अर्थात् भोज को 'तर्जित' (भयभीत) करने की बात कही गयी है[3]। किन्तु इसे कोरी प्रशंसा मात्र मानना होगा। 'गरजते हुए गूर्जर' के मुकाबले कठोर युद्ध में कृष्ण द्वारा प्रदर्शित वीरता की स्मृति रखने वाले वृद्ध लोग १०वीं शती के द्वितीय दशक तक जीवित थे, जिसका उल्लेख तृतीय इन्द्र के ८३६ शक सं०=९१५ ई० के एक अभिलेख में (इऐ०, १३वाँ, पृष्ठ ६६) मिलता है। गुजरात शाखा के कृष्ण नामक सामन्त के वागुम्रा से प्राप्त ८१० शक सं०=८८८ ई० के एक अन्य अभिलेख (इऐ०, १३वाँ, पृष्ठ ६६) से यह प्रमाणित है कि राष्ट्रकूटों और प्रतीहारों की उज्जैन पर अधिकार की प्रतिस्पर्द्धाएँ समाप्त नहीं हुई और आगे भी उसके लिए युद्ध लड़े जाते रहे। उसमें कृष्ण अथवा कृष्णराज के विजय की बात कही गयी है। किन्तु उससे यह नहीं प्रतीत होता कि मालवा पर राष्ट्रकूटों का अधिकार हो गया। ९४६ ई० का द्वितीय महेन्द्रपाल के समय का एक अभिलेख (एइ०, जिल्द १४, पृष्ठ १७६

१. श्रीमद् आदिवराहेन त्रैलोक्यं विजिगीषुना।

२. रेवातोयां (यान) बहद्भि (र्न्न) रपतय इशदेशाभिमुखमविरतं सातिरैकेः प्रयाणैः प्राप्यद्राकृष्णराजं....एइ०, जिल्द १९, पृष्ठ १७६, पंक्ति ११-१२।

३. तस्योत्तर्जितगूर्ज्जरोहृतहटलाटोद्भटश्रीमदो गौडानां विनयव्रतार्प्पणगुरुः साम्रुद्रनिद्रा-पहारः। देखिए, उपर्युक्त अभिलेखों के क्रमशः १३वें और १५वें श्लोक।

और आगे) मिला है, जिससे प्रतीहारों के अवन्ति पर शासन के साथ ही दक्षिणी राजपूताना के एक चाहमान वंश का उनका सामन्त होना प्रमाणित होता है। विद्वानों[1] का मत है कि राष्ट्रकूटों के विरुद्ध लड़े गये युद्धों में यह चाहमानवंश प्रतीहारों के सामन्तरूप में भाग लेता रहा। अवन्ति पर प्रतीहारों का अधिकार भोज के समय से ही प्रारम्भ हुआ प्रतीत होता है, जो द्वितीय महेन्द्रपाल के समय तक अबाधरूप से बना रहा। यही नहीं, नवीनतम मान्यता[2] तो यह है कि गुजरात शाखा के राष्ट्रकूटों का ८८८ ई० के बाद का कोई आलेख्य अथवा उल्लेख न मिलने का कारण यह है कि थोड़े समय के लिए प्रतीहारों ने गुजरात पर भी अधिकार कर लिया। चतुर्थ गोविन्द का एक अभिलेख खेटकमण्डल (खेड़ा) से किसी शत्रु का अधिकार समाप्त करने का श्रेय द्वितीय कृष्ण को देता है[3]। यह शत्रु प्रतीहारवंश का ही कोई शासक प्रतीत होता है।

भोज की उपलब्धियाँ

ऊपर जो कुछ लिखा जा चका है उससे इस बात में सन्देह नहीं रह जाता कि जिस प्रतीहार साम्राज्य की नींव डालने का सर्वप्रथम प्रयत्न वत्सराज ने किया तथा द्वितीय नागभट्ट ने जिसकी जड़ जमाते हुए वास्तविक रूप से एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की, वह दोपहर के प्रखर सूर्य के समान मिहिर (सूर्य) भोज के समय अपने सम्पूर्ण प्रकाश से चमक उठा। उसकी दैदीप्यमानता उत्तर-पूर्व में गोरखपुर से लेकर बिहार के कुछ भागों तक, उत्तर-पश्चिम में सम्पूर्ण पंजाब, मध्य में सारे उत्तर प्रदेश, पश्चिम में राजपूताने के बहुत बड़े भाग, दक्षिण-पश्चिम में काठियावाड़ और दक्षिण में बुन्देलखण्ड और मालवा सहित नर्मदा की उत्तरी घाटी तक फैल गयी। इस सारे भूखण्ड के हृदयस्थल पर तो उसका प्रत्यक्ष शासन था, लेकिन सीमाओं पर उसके अनेक करद सामन्त अपेक्षाकृत आन्तरिक स्वायत्तता का भोग करते थे। उसके पिता के समय प्रतीहार प्रशासन ढीला हो चला था। भोज ने अपनी महान् राजनीतिक और सैनिक योग्यताओं से केवल अपने पैतृक राज्य की सीमाओं को सुदृढ़ मात्र ही नहीं किया, अपितु आगे बढ़कर वंश के पुराने शत्रुओं-राष्ट्रकूटों और पालों-को भी चुनौती दी। यद्यपि यह बड़ा दुःखद है कि पश्चिमी भागों से भारत में प्रवेश करने वाले अरब आक्रमणकारियों को रोकने के उसके प्रयत्न भारतीय साहित्य में कहीं भी उल्लिखित नहीं है, उसने सचमुच

---

१. त्रिपाठी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २४१-२४२; मजुमदार, दि एज ऑफ् इम्पीरियल् कन्नौज, पृ० ३१।

२. दशरथ शर्मा, राजस्थान थ्रू दि एजेज्, जिल्द १, पृ० १५७-१५८।

३. एइ०, जिल्द ७, पृष्ठ २९।

अपने इस कार्य में वंश का 'प्रतीहार' नाम सार्थक कर दिया, जो मुसलमानी लेखकों के ही वृत्तान्तों से स्पष्ट है[१]। सुलेमान उसके बारे में लिखता है[२]–'इस राजा के पास बहुत बड़ी सेना है और अन्य किसी दूसरे राजा के पास उसकी जैसी अश्व सेना नहीं है। वह अरबों का शत्रु है, यद्यपि वह अरबों के राजा को सबसे बड़ा राजा मानता है। भारतवर्ष के राजाओं में उससे बढ़कर इस्लाम धर्म का कोई शत्रु नहीं है। उसका राज्य जिह्वा के आकार का है। वह धनवैभवसम्पन्न है और उसके पास बहुत अधिक संख्या में घोड़े और ऊँट हैं। भारतवर्ष में उसके अतिरिक्त कोई राज्य नहीं है, जो डाकुओं से इतना सुरक्षित हो।' शत्रुभाव रखने वाले लेखक के ये प्रशंसात्मक उल्लेख भोज की महत्ता को प्रकाशित करते हैं। उसके कुशल प्रशासन, समृद्ध राजकोष, शक्तिशाली सेना और अरबों के रूप में भारत के सामने उपस्थित महान् संकट के प्रति उसकी सतत् जागरूकता के बारे में इस उद्धरण से अधिक बढ़िया कोई अन्य टिप्पणी नहीं दी जा सकती। उसके अभिलेखों और सिक्कों में उल्लिखित उसके विरुद **आदिवराह** से यह ज्ञात होता है कि वह वराहावतार की तरह भारतभूमि को म्लेच्छों (अरबों) से मुक्त करना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता था। पुनः, उसके सिक्कों की वराहशिरोधारी मनुष्याकृति कदाचित् इस बात का द्योतक है कि वह अपने को विष्णु का अवतार भी मानता था। उन सिक्कों का सूर्यचक्र उसके चक्रवर्त्तित्व का द्योतक है।

प्रथम महेन्द्रपाल (लगभग ८८५-९१५ ई०)

भोज की अन्तिम ज्ञात तिथि २७६ हर्ष सं०=८८२ ई० (पेहवा अभिलेख) है। तत्पश्चात् उसकी रानी चन्द्रभट्टारिकादेवी से उत्पन्न उसका पुत्र महेन्द्रपाल कन्नौज की राजगद्दी पर बैठा। उसके नाम अथवा नामों की वर्तनी कई प्रकार की प्राप्त होती है, यथा–महेन्द्रपाल अथवा महेन्द्रपालदेव (गुनरिया और ऊणा अभिलेख), महिन्द्रपाल (एशियाटिक सोसायटी, बंगाल मेम्वायर्स, पंचम, भाग ३, पृष्ठ ६४),महेन्द्रायुध (एइ०, नवम्, पृ० २, ५) और महिषपालदेव (इऐ० १६वाँ, पृ० १७४)। संस्कृत और प्राकृत के उसके दरबारी कवि राजशेखर ने उसे **निर्भयराज** और **निर्भयनरेन्द्र** भी कहा है, जो उसके विरुद जान पड़ते हैं। चूँकि महेन्द्रपाल का सबसे पहला (ऊणा अभिलेख) आलेख्य ५७४ वलभि सं०=८९३ ई० का है, यह निश्चित है कि उसने ८८२

---

१. देखिए, हेमचन्द्र राय, डाहिनाइ० जिल्द १, पृ० १०-११, १५-१६, ५७१।

२. इलियट् और डाउसन्, हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, जिल्द १, पृष्ठ ४। इन विद्वानों ने सम्बद्ध स्थल के राजा का नाम 'बौरा' पढ़ा हैं, किन्तु होदीवाला के मत में वह सही रूप में 'बोजोह' अर्थात् भोज पढ़ा जाना चाहिए। देखिए–स्टडीज् इन् इण्डो-मुसलिम् हिस्ट्री, पृष्ठ २५।

और ८९३ ई० के बीच कभी (अधिकांश विद्वानों के मत में ८८५ ई० में) गद्दी धारण की होगी। महेन्द्रपाल के अभिलेखों की संख्या भोज के अभिलेखों से भी अधिक है, जिनमें अधिकांश दानपरक हैं। उनसे उसके प्रत्यक्ष राज्य-विस्तार, अधिसत्तात्मकता के विस्तार और प्रशासन की इकाइयों तथा उसके अधिकारियों के बारे में प्रभूत सामग्री प्राप्त होती है। उनमें मुख्य हैं—५७४ वलभि सं०=८९३ ई० का चालुक्यवंशी **महासामन्त** अवनिवर्मन् (प्रथम) के पुत्र बलवर्मन् के तरुणादित्यदेव (सूर्य) के मन्दिर को दिये जाने वाले ग्रामदान को अंकित करनेवाला ऊणा (काठियावाड़) अभिलेख; ९५६ वि० सं०=८९९ ई० का **परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर** श्री महेन्द्रपालदेव के समय का उसके **महासामन्त** अवनिवर्मन् (द्वितीय) द्वारा प्रकाशित ऊणा का (एइ०, नवाँ पृष्ठ ४ और आगे) द्वितीय अभिलेख; तथा **महाराज महेन्द्रपालदेव** का ९५५ वि० सं०=९८९ ई० का भटपद्मेश्वर नामक एक सामवेदी ब्राह्मण को दिये जाने वाले श्रावस्तीमण्डल के वालीयक विषय के पानीयक ग्राम के दान को अंकित करने वाला डिधवादुबौली (बिहार के छपरा जिले) का अभिलेख। इनके अतिरिक्त सीयदोणी नामक स्थान से महेन्द्रपाल के प्रकाशित अनेक अभिलेख मिले (एइ० प्रथम, पृष्ठ १०३) हैं, जिनमें व्यक्तिगत लोगों के द्वारा दिये गये दानों का अंकन है। उनमें (वि० सं० ९६० वाले तथा वि सं० ९६४ वाले) दो अभिलेखों से **महाप्रतिहार महासामन्त** उण्डभट नामक अधिकारी का ज्ञान होता है तथा ९६९ वि० सं० के एक तीसरे अभिलेख से सीयदोणी अभिलेख के प्रकाशक धुर्भट का नाम ज्ञात होता है। इसी प्रकार आहाड़ से दस अभिलेखों का एक संग्रह मिला है (एइ०, जिल्द १९, पृष्ठ ५२ और आगे), जिनमें कम से कम तीन महेन्द्रपाल के समय के हैं। उपर्युक्त प्राय: सभी अभिलेख ऐसे स्थानों से प्राप्त हुए हैं, जो प्रतीहार साम्राज्य में भोज के समय अथवा उसके भी पूर्व से शामिल थे। उनके अतिरिक्त बिहार और बंगाल के अनेक स्थानों से व्यक्तिगत लोगों द्वारा मंदिर आदि के निर्माण तथा मंदिरों अथवा ब्राह्मणों को दिये जाने वाले दानों को अंकित करने वाले अनेक अभिलेख प्राप्त हुए हैं, जो महेन्द्रपाल के शासन के समय प्रकाशित किये गये थे। इनका ऐतिहासिक महत्त्व यह है कि वे अपनी प्राप्ति स्थानों पर महेन्द्रपाल के अधिकार और शासन का प्रमाण देते हैं और उनसे यह निश्चित निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पूर्व में पालों के एक बहुत बड़े क्षेत्र पर उसने कब्जा कर लिया। ऐसे अभिलेखों में पटना जिले के बिहारशरीफ नामक स्थान से प्राप्त महेन्द्रपाल के शासन के चौथे वर्ष के दो (आ० स० रि, १९२३-२४, पृष्ठ ११०-११२ तथा आ० स०, मेम्वायर्स् सं० ६६, पृष्ठ १०५-१०६) अभिलेख; गया जिले के राम गया और गुनरिया (ज० ए० सो०, बेंगाल, पंचम, पृष्ठ ६४) नामक स्थानों से प्राप्त क्रमश: उसके आठवें और नवें वर्ष के दो अभिलेख; तथा बंगाल के राजशाही जिले में स्थित पहाड़पुर से प्राप्त

(जबिओरिसो, १९१८, पृष्ठ ५०५) उसके शासन के पाँचवें वर्ष का अभिलेख मुख्य है । बिहार के हजारीबाग जिले में स्थित इतखोरी नामक स्थान में तारादेवी की एक मूर्ति के पदस्थल पर **परमेश्वर** महेन्द्रपाल का नाम अंकित है (आ० स० रि०, मध्यक्षेत्र, १९२०-२१, पृ० ५), जो निश्चय ही उस क्षेत्र पर प्रतीहार शासन के विस्तार का द्योतक है ।

पाल क्षेत्रों पर अधिकार

महेन्द्रपाल को अपने पिता भोज के विशाल प्रतीहार साम्राज्य की जो विरासत मिली थी, उसकी उसने केवल रक्षा ही नहीं की, प्रत्युत् पूर्व दिशा में उसे और भी विस्तृत किया । ऊपर हम देख चुके हैं कि उसके अभिलेख बिहार के पटना, गया तथा हजारीबाग और उत्तरी बंगाल के राजशाही नामक जिलों के विभिन्न स्थानों से प्राप्त हुए हैं, जिनमें उसकी उपाधियों—**परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर**—के साथ-साथ उसका नाम महेन्द्रपालदेव स्पष्टरूप से उल्लिखित है । इन अभिलेखों की तिथियाँ उसके राज्याभिषेक के दूसरे वर्ष से उन्नीसवें वर्ष के बीच तक की हैं । प्रारम्भ में कुछ विद्वानों[1] का अनुमान था कि यह महेन्द्रपाल प्रतीहारवंश का नहीं अपितु कोई पालवंशी महेन्द्रपाल था । किंतु यह मत अब इस कारण अग्राह्य हो चुका है कि पालवंश का महेन्द्रपाल नामक कोई भी राजा अब तक ज्ञात नहीं हो सका है । प्रश्न यह है कि बिहार-बंगाल के उपर्युक्त भागों को क्या भोज ने जीतकर अपने पुत्र महेन्द्रपाल को विरासत के रूप में दिया अथवा महेन्द्रपाल ने निजभुजबल से उन्हें पालों से छीना । डॉ० मजुमदार का विश्वास है (हिस्ट्री ऑफ् बेंगाल, जिल्द १, पृ० १२९) कि पालों को मूलरूप से भोज ने ही दबाकर पूर्व की ओर प्रतीहार बढ़ाव का प्रारम्भ किया,[2] जिस नीति को महेन्द्रपाल ने 'निर्दय क्रोध' के साथ जारी रखा । किंतु पीछे हम देख चुके हैं कि भोज का मुकाबला देवपाल से ही था । यद्यपि देवपाल का उत्तराधिकारी नारायणपाल भी उसका समकालिक था, न तो उसके विरुद्ध भोज के किसी संघर्ष का ही कोई निश्चित प्रमाण मिलता है और न बिहार-बंगाल के क्षेत्रों में भोज का कोई अभिलेख ही प्राप्त हुआ है । ऐसी स्थिति में यह मानना सही प्रतीत होता है कि इन प्रदेशों की विजय महेन्द्रपाल ने ही की । राज्यारोहण के समय प्रायः चारों तरफ से सुरक्षित रहते हुए अनेक शक्तिशाली सामन्तों की सैनिक सेवाओं से

---

१. कीलहॉर्न, एइ०, जिल्द ८, परिशिष्ठ, पृ० १८, नोट २; स्मिथ, इऐ०, जिल्द ३८ पृ० २४६; हरप्रसाद शास्त्री, एशियाटिक् सोसायटी बेंगाल, मेम्वायर्स्, जिल्द ३, पृष्ठ १६ ।

२. बैजनाथपुरी ने (गुर्जरप्रतीहारज्, पृ० ६९) मजुमदार का मत प्रायः यथावत् मान लिया है ।

युक्त होकर उसे अपने राज्यारोहण के तुरन्त बाद पालों के विरुद्ध अभियान प्रारम्भ कर देने में कोई भी बाधा नहीं रही होगी। उस समय का पाल राजा नारायणपाल उसकी तुलना में न केवल शिथिल और उत्साहहीन था, अपितु पूर्व में असमियों एवं दक्षिण-पूर्व में उत्कलों और राष्ट्रकूटों से लगभग एक ही साथ त्रस्त था। इतना अवश्य है कि नारायणपाल के शासन के ७वें, ९वें और १७वें वर्ष तक पालों का गया, पटना और भागलपुर के क्षेत्रों पर अधिकार था जो उसके अभिलेखों (जएसो०, बेंगाल, मेम्वायर्स्, पंचम, ६०-६१; इऐ०, जिल्द १४, पृ० ३०४ और आगे) से प्रमाणित है। पुनः बिहार से नारायणपाल के शासन के ५४वें वर्ष का एक अभिलेख (इऐ०, ४७वाँ, पृ० १०९ और आगे) मिला है। अतः यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि उसके शासन के १७वें और ५४वें वर्ष के बीच धीरे-धीरे इन प्रदेशों से उसका अधिकार समाप्तकर उनपर महेन्द्रपाल स्वयं अधिकृत हो गया[१] था। यही नहीं, वह आगे बढ़कर उत्तरी बंगाल के राजशाही जिले तक के क्षेत्रों पर भी अधिकार कर लेने में सफल रहा, जो पहाड़पुर से प्राप्त (जबिओरिसो०, १९२८, पृ० ५०५-५०८) उसके अभिलेख से प्रमाणित है। संभवतः यही कारण है कि तारानाथ ने महेन्द्रपाल की गिनती बंगाल के राजाओं में की (इऐ०, चतुर्थ, पृ० ३६६) है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि महेन्द्रपाल वह अकेला प्रतीहार सम्राट् था, जिसने अपने वंश के परम्परागत शत्रु (पालों) के घर (दक्षिणी बिहार, छोटा नागपुर और उत्तरी बंगाल) में घुसकर उन्हें मात दी और अपने जीवनपर्यन्त उनसे छीने हुए प्रदेशों पर अधिकार बनाये रखने में सफलता पायी।

महेन्द्रपाल का आधिराज्यत्त्व

भोज के काल में जिन अनेक छोटे-छोटे सामन्तवंशों ने प्रतीहार साम्राज्य की अधिसत्ता स्वीकार की थी, उनमें कइयों के महेन्द्रपाल के समय भी उस स्थिति में बने रहने के प्रमाण प्राप्त हैं। ऐसे महासामन्तों में काठियावाड़ के चालुक्यवंशी बलवर्मा और उसके पुत्र द्वितीय अवनिवर्मा (योग) थे) ऊणा नामक स्थान से क्रमशः वलभी संवत् ५७४=८९३ ई० और वि० सं० ९५४=८९७ ई० के उनके दो दानाभिलेख मिले हैं,

---

१. डॉ० त्रिपाठी का मत है (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २५०) कि पूर्व दिशा के इन युद्धों में महेन्द्रपाल के साथ कदाचित् हर्षराज के पुत्र गुहिल ने भाग लिया था, जिसका उल्लेख चाट्सु अभिलेख में मिलता है। परन्तु डॉ० मजुमदार के मत में हर्षराज और गुहिलराज (द्वितीय) (दोनों ही) पालों के विरुद्ध भोज के साथ अथवा उसकी ओर से लड़े थे। देखिए, हिस्ट्री ऑफ बेंगाल, जिल्द १, पृ० १२९। इस मत को वि० प्र० सिनहा (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३८९-३९०) ने यथावत् स्वीकार कर लिया है।

जिनमें क्रमशः सौराष्ट्र मण्डल के जयपुर और अम्बुलक नामक गाँवों के तरुणादित्यदेव (सूर्य) के मन्दिर को दान दिये जाने का उल्लेख हैं। वे दोनों **महासामन्त** और **समधिगतपंचमहाशब्द**[१] कहे गये हैं तथा उनके लेखों में **परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर** महेन्द्रायुध (देव) का उल्लेख है, जिससे उनपर उसकी अधिसत्ता का द्योतन होता है। संभवतः इसी प्रकार का एक दूसरा सामन्त चापवंशी धरणिवराह भी था, जिसका ८३६ शक सं०=९१४ ई० का हड्डाला (काठियावाड़ में स्थित) से एक अभिलेख (इऐ०, १२वाँ, १९३ और आगे) प्राप्त हुआ है। स्पष्टरूप से तो वह महीपाल (महेन्द्रपाल के पुत्र) का सामन्त ज्ञात है, किन्तु असंभव नहीं कि उसकी यही स्थिति महेन्द्रपाल के समय भी रही हो। मालवा (अवन्ति) के परमार शासक प्रथम वाक्पति पर भी उसकी अधिसत्ता इस बात से प्रमाणित होती है कि उदयपुर प्रशस्ति[२] में वाक्पति के अपनी सेनाओं के साथ गंगासागर तक पहुँच जाने का उल्लेख है। प्रथम वाक्पति जैसे एक छोटे शासक के लिए स्वतन्त्ररूप से उतनी दूर पहुँच सकना तब तक असम्भव था, जब तक वह किसी बड़े शासक की सैनिक सहायता में सामन्त की तरह न गया हो। वह बड़ा शासक (अधिराज) प्रथम महेन्द्रपाल ही प्रतीत होता है।

कुछ विद्वानों[३] का अनुमान है कि कश्मीर के राजा शंकरवर्मा ने अधिराज भोज द्वारा छीनी हुई जिस भूमि को थक्कियकवंशी राजा को पुनः वापस कराया (राज० पंचम, १५१), वह महेन्द्रपाल के समय की ही घटना थी। पीछे इसे हम भोज के समय की घटना मान चुके हैं। जो भी हो, उत्तर में महेन्द्रपाल का अधिकार हरियाणा तक विस्तृत था, जो पेहवा से प्राप्त होनेवाले (एइ०, प्रथम, पृ० २४४, २४८) उसके एक अतैथिक अभिलेख से स्पष्ट है।

पीछे हम देख चुके हैं कि भोज के समय प्रतीहार राष्ट्रकूट संघर्षों के अन्तिम दौर में गुजरात पर प्रतीहारों का कदाचित् अधिकार हो गया था। भृगुकच्छ का क्षेत्र प्रथम नागभट्ट के समय में भी प्रतीहार अधिसत्ता के भीतर था। किन्तु बाद में राष्ट्रकूटों की एक शाखा ने उस पर अधिकार कर लिया था। किन्तु ८८८ ई० के बाद राष्ट्रकूटों की गुजरात शाखा का कोई उल्लेख नहीं मिलता। बाद में द्वितीय कृष्ण को एक प्रबल शत्रु से खेटकमण्डल जीतकर वहाँ अपने किसी शासक को नियुक्त करने का श्रेय चतुर्थ

---

१. 'समधिगत पञ्चमहाशब्द' का तात्पर्य उन सामन्तों से है जो श्रृंग, शंख, भेरी, जयघण्टा और तम्मट नामक पाँच वाद्यों का प्रयोग कर सकते थे।

२. देखिए, श्लोक १०।

३. त्रिपाठी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २५१-२५२।

गोविन्द के एक अभिलेख में दिया गया है[1]। अतः यह अनुमान लगाया जा सकता है कि प्रथम भोज अथवा उसके पुत्र महेन्द्रपाल ने उस पर अपना जो अधिकार स्थापित कर लिया था वह अल्पकालिक ही साबित हुआ। खेटकमण्डल (गुजरात के खेड़ा प्रदेश) पर राष्ट्रकूटों का यह दुबारा अधिकार सम्भवतः महेन्द्रपाल के ही समय की घटना थी। ऐसा प्रतीत होता है कि अत्यधिक दूरी के कारण वह उसे बचा नहीं सका।

प्रस्फुटित वैभव

महेन्द्रपाल के समय की राजनीतिक सफलताओं का प्रस्फुटन विद्या और साहित्य के विकास और दरबारी ऐश्वर्य के रूप में हुआ, जिनमें उसके विशाल साम्राज्य के सभी साधन लगाये गये। उसके शत्रुवंशी राष्ट्रकूट राजा द्वितीय कृष्ण (८७८-९११ ई०) के अपने ही वंश के सामन्तों (गुजरात के राष्ट्रकूटों) के साथ संघर्षरत होने और पालवंशी नारायणपाल के कमजोर होने से उसे बाहरी आक्रमणों का कोई भय न रहा। अतः अपना प्रशासन सुदृढ़ करने का उसे भरपूर अवसर था। इस अवसर का उसने पूरा लाभ उठाया। यह उसके अनेकानेक अभिलेखों से ज्ञात प्रशासकीय प्रबंधों—कोट्टपालों और तंत्रपालों की नियुक्ति, प्रशासनाधिकारियों को दिये जाने वाले आज्ञापत्र और महासामन्तों सम्बन्धी व्यवस्थाओं से स्पष्ट है। लेकिन उनकी सफल अभिव्यक्ति के सबसे बड़े प्रमाण प्राप्त होते हैं राजशेखर के ग्रंथों से। प्राकृत में लिखित **कर्पुरमंजरी** नामक नाटक, संस्कृत में लिखित **विद्धसालभञ्जिका, बालरामायण, बालभारत** अथवा **प्रचण्डपाण्डव** नामक नाटकों, काव्यमीमांसा (साहित्यशास्त्र) तथा **भुवनकोष** और **हरविलास** नामक काव्य ग्रन्थों का वह रचयिता **सकल कला-निलयनिर्भयराज** महेन्द्रपाल को अपना शिष्य तथा स्वयं को उसका गुरु और उपाध्याय कहता[2] है। प्रतीहारों की राजधानी कन्नौज की महिमा का जो वर्णन उसके साहित्य में यत्रतत्र बिखरा पड़ा है, उससे वहाँ की विलासिता, उसके ऐश्वर्य और सुख-सम्पत्ति का परिचय प्राप्त होता है। तदनुसार, उस नगर से ही 'देश की दिशाओं का मापन होता था, उस पवित्र नगर

---

१. इस सम्बन्ध में देखिए, इहिक्वा, जिल्द ३४, पृष्ठ १५०।

२. रघुकुलतिलको महेन्द्रपालः सकलकलानिलयः स यस्य शिष्यः। विद्धसालभञ्जिका, प्रथम, ६। ऐसा विश्वास है कि राजशेखर अपने जीवन के अन्तिम दिनों में कलचुरि राजा प्रथम युवराज के राज्याश्रय में चला गया था। दे० मिराशी, कार्पस् जिल्द ४, भूमिका, ७८वाँ।

रहुउलचूड़ामणिणो महेन्द्रपालस्य को अ गुरु। कर्पूरमंजरी, प्रथम।

बालकईकइराओ णिब्भअराअस्स तह उवज्झावो। वहीं, प्रथम ६।

के लोग नयी कविता के समान लालित्यपूर्ण थे, वहाँ की स्त्रियों के वस्त्र मनमोहक थे तथा उनके गहनों, केशप्रसाधन, और बोली की नकल अन्य प्रदेशों की स्त्रियाँ करती थीं[1] स्पष्ट है, हर्ष के बाद पुनः एक बार महेन्द्रपाल के दिनों में कन्नौज नगर राजनीति, ओढ़ावे-पहिरावे और संस्कृति के क्षेत्र में भारतवर्ष के अन्याय प्रदेशों के लिए आकर्षण-केन्द्र बन गया। सौराष्ट्र के ऊणा से लेकर उत्तरी बंगाल के पहाड़पुर तक तथा नेपाली तराई के बालीयक विषय से मध्यभारत के सीयदोणी और तेरही के क्षेत्रों तक चतुर्दिक् विस्तृत प्रतीहार साम्राज्य महेन्द्रपाल के दिनों में अपने राजनीतिक चरमोत्कर्ष पर तो पहुँच ही गया, उसके सुसंगठित स्वरूप का लाभ प्रत्येक प्रकार की उन्नति के रूप में भी अभिव्यक्त हुआ।

द्वितीय भोज (लगभग ९१०-९१२ ई०)

महेन्द्रपाल की अन्तिम ज्ञात तिथि ९०७-८ ई० है और अनुमान लगाया जा सकता है कि उसके दो-तीन वर्षों के भीतर ही उसकी मृत्यु हो गयी। उसके बाद गद्दी का उत्तराधिकारी कौन हुआ, इस पर विद्वानों में मतभेद है। वि० सं० ९३१ ई० के विनायकपाल के बेंगाल एशियाटिक् सोसायटी अभिलेख से ज्ञात होता है कि महेन्द्रपाल की दो रानियाँ थीं—देहनागादेवी और महादेवी, जिनके क्रमशः दो पुत्र थे, भोज और विनायकपाल। विनायकपाल को द्वितीय महेन्द्रपाल के प्रतापगढ़ अभिलेख में महेन्द्रपाल का **तत्पादानुध्यात्** अर्थात् पुत्र कहा गया है। राजशेखर के ग्रन्थों और असनी प्रस्तर स्तम्भ लेख से महेन्द्रपाल के एक अन्य पुत्र महीपाल का ज्ञान (इऐ०, १६वाँ, पृ० १७४) होता है, जिसकी माँ महीदेवी अथवा महादेवी थी। सीयदोणी अभिलेख में (एइ०, प्रथम, पृ० १७७) महेन्द्रपाल के बाद क्षितिपाल को शासक बताया गया हैं, किन्तु उन दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों की ओर कोई संकेत नहीं है। साथ ही उसमें क्षितिपाल के पुत्र का नाम देवपाल दिया गया है। वि० सं० १०११=९५४ ई० के धंग के खजुराहो से प्राप्त एक अभिलेख में यह कहा गया है (एइ०, जिल्द १, पृ० १२९, श्लोक ४३) कि यशोवर्मा चन्देल ने हेरम्बपाल के पुत्र **हययति** देवपाल से बैकुण्ठ की एक मूर्ति ले ली, जिसे उसने स्वयं कीर के राजा से हाथियों और घोड़ो की एक सैनिक टुकड़ी देकर प्राप्त किया था। इन विभिन्न सन्दर्भों के नामों—महीपाल, क्षितिपाल, विनायकपाल

---

१. यो मार्गः परिधानकर्मणि गिरां यः सूक्तिमुद्राकमो,
भङ्गिर्या कबरीचयेषु रचनं यद्भूषणालीषु च।
दृष्टं सुन्दरि कान्यकुब्जललनालोकैरिहान्यच्चय,
च्छिक्षन्ते सकलासुदिक्षुतरसा तत्कौतुकिन्यस्त्रियः। बालरामायण, दशम, ९८।

और हेरम्बपाल को डॉ० कीलहार्न (एइ०, प्रथम, पृ० १२४ तथा १७०-७२) और भण्डाकर महोदय (जराएसो०, बम्बई शाखा, जिल्द २१, पृ० ४०६-४०७) ने एक ही व्यक्ति का पर्यायवाची माना, जो कुछ विद्वानों की आपत्ति[१] होते हुए भी प्रायः सही स्वीकार किया जाता है[२]।

किन्हीं ने ऐसा माना है कि महेन्द्रपाल के बाद महीपाल ने कन्नौज की राजगद्दी पर अधिकार किया, किन्तु द्वितीय भोज ने उसके उत्तराधिकार को चुनौती दी और उसे अपदस्थ कर दिया। पुनः, यह भी प्रतिपादित किया गया है कि उन दोनों के बीच होने वाले उत्तराधिकार के युद्ध के पहले दौर में भोज की सफलता में कलचुरि शासक प्रथम कोक्कल्ल्देव सहायक हुआ[३], जो कदाचित् भोज का कोई सम्बन्धी था तथा जिसे भोज को अभयदान देनेवाला (यस्यासीत् अभयदः पाणिः) कहा गया है। डॉ० पुरी का सुझाव (गुर्जरप्रतीहार्स्, पृ० ८०-८१) है कि राष्ट्रकूट राजा द्वितीय कृष्ण ने भी कोक्कल्ल्देव के मित्र के रूप में भोज की मदद की थी, जिसमें वास्तविक युद्ध उसकी ओर से उसका पौत्र तृतीय इन्द्र लड़ा था। उपर्युक्त मतानुसार, उत्तराधिकार के इस प्रथम युद्ध में महीपाल हारा और उसे अपने मित्रों की सहायता पर निर्भर होना पड़ा। यद्यपि द्वितीय भोज कन्नौज में अधिकृत हो गया, किन्तु उसका वह अधिकार अत्यन्त अल्पकालिक ही साबित हुआ। महीपाल ने प्रतीहारवंश का आधिराज्यत्त्व स्वीकार करने वाले चन्देलराज हर्ष की सहायता से पुनः अपना खोया राज्याधिकार जीत लिया। इसके समर्थन में धंग के खजुराहो से प्राप्त एक अभिलेख (एइ०, प्रथम, पृ० १२२) का साक्ष्य दिया जाता है, जिसमें यह कहा गया है कि हर्ष ने 'राजा क्षितिपालदेव को सिंहासन पर पुनः स्थापित किया[४]', खजुराहो अभिलेख का क्षितिपाल महीपाल का ही दूसरा पर्यायवाची था, वह सभी विद्वानों को मान्य है।

---

१. देखिए—गौ० ही० ओझा, एइ०, जिल्द १४, पृष्ठ १८०; राजपूताने का इतिहास जिल्द १, पृष्ठ १६३; दशरथ शर्मा, राजस्थान थ्रू दि एजेज्, जिल्द १, पृष्ठ १७१; वा० वि० मिराशी, कार्पर्स्, जिल्द ४, भूमिका, पृष्ठ ७४वाँ, पादटिप्पणी दो।

२. देखिए, त्रिपाठी, हिस्ट्री ऑफ् कन्नौज, पृष्ठ २५७-२५९; मजुमदार, जडिले०, जिल्द १०, पृष्ठ ५९-६०; हेमचन्द्र राय, डाहिनाइ०, जिल्द १, पृ० ५७२-७५।

३. देखिए, एइ०, जिल्द १, पृ० २५६, २६४, श्लोक १७; जिल्द १४, पृ० १७८, १८३। किन्तु अनेक विद्वानों की मान्यता है कि प्रथम कोक्कल्ल द्वितीय भोज नहीं अपितु प्रथम भोज का समकालिक था। देखिए वा० वि० मिराशी, कार्पस्, जिल्द ४, पृष्ठ ७४-७५।

४. पुनर्येन क्षितिपालदेवनृपतिः सिंहासने स्थात्सादितारातिशक्तिकीर्तिविभूषणः।

किन्तु द्वितीय भोज और महीपाल में उत्तराधिकार की लड़ाई का सिद्धान्त स्पष्ट प्रमाणों और अकाट्य तर्कों पर आधृत न होकर अनुमान पर अधिक निर्भर है[१]। महीपाल को अपनी गद्दी कभी खोनी पड़ी थी और उसे पुनः प्राप्त कराने के लिए चन्देलराज हर्ष (होयर्नल के मत में यशोवर्मा, जराएसो०, १९०४, पृ० ६५४) ने उसकी सहायता की थी, यह केवल धंग के खजुराहो अभिलेख (संख्या १) मात्र से ज्ञात है। किन्तु उससे कभी भी यह स्पष्ट नहीं होता कि महीपाल की यह दुःस्थिति द्वितीय भोज के मुकाबले ही हुई थी। जैसा कि हम आगे देखेंगे, उसका राज्याधिकार कन्नौज से उस समय थोड़े दिनों के लिए समाप्त हो गया था, जब राष्ट्रकूट राजा तृतीय इन्द्र की सेनाओं ने उस नगर को लूटकर गंगा-यमुना दोआब अधिकृत कर लिया। चन्देलों सहित अन्य सामन्तों की सहायता महीपाल को उसी समय आवश्यक हुई थी। ऐसी स्थिति में घटनाओं का अधिक तर्कसंगत क्रम यह प्रतीत होता है कि महेन्द्रपाल के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र भोज (द्वितीय) गद्दी पर आसीन हुआ। किंतु अल्पशासन के बाद ही वह जाता रहा और महीपाल ने राज्यभार संभाला (लगभग ९१२ ई०)। महीपाल के ९१७ ई० वाले असनी अभिलेख में वर्णित वंशावली में भोज (द्वितीय) के नाम का न होना इस कारण नहीं है कि उसने या तो अत्यल्प शासन किया अथवा महीपाल उसके अपदस्थ किये जाने अथवा उत्तराधिकार की लड़ाई का अप्रत्यक्ष और अप्रिय उल्लेख नहीं करना चाहता था। अपितु, वैसा इसलिए है कि उसमें पिता-पुत्रों के वंशक्रम का ही उल्लेख है और भाइयों सहित सभी राजाओं की यथाक्रम गिनती नहीं की गयी है। अतः भोज (द्वितीय) और महीपाल में उत्तराधिकार की लड़ाई का सिद्धांत अप्रमाणित ठहरता है। किन्तु निहाररंजन राय (इऐ०, १९२८, पृ० २३०-२३२) और हेमचन्द्र रायचौधरी (इक०, सप्तम, पृ० १९९ और आगे) का यह मत भी स्वीकार नहीं हो सकता कि भोज और महीपाल वास्तव में दो शासक थे ही नहीं तथा **भोज** महीपाल की वैसी ही उपाधि थी, जैसी **विक्रमादित्य** द्वितीय चन्द्रगुप्त की।

प्रथम महीपाल लगभग ९१२-९४३ ई०) : प्रारम्भिक जीवन

महीपाल ने लगभग ९१२ ई० में राजगद्दी धारण की। कुछ वर्षों तक उसे न तो किसी विशेष कठिनाई का सामना करना पड़ा और न उसकी पैतृक साम्राज्य-सीमाओं में ही कोई ह्रास हुआ। शक सं० ८३६=९१४ ई० के हड्डाला से प्राप्त होनेवाले एक अभिलेख (इऐ०, जिल्द १२, पृ० १९५) से ज्ञात होता है कि सुदूरस्थ काठियावाड़

---

१. भोज और महीपाल के बीच उत्तराधिकार के युद्ध सम्बन्धी सिद्धान्तों का खण्डन डॉ० दशरथ शर्मा ने अत्यन्त प्रबल तर्कों और पुष्ट प्रमाणों के आधार पर किया है। देखिए, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १७१-१७५।

प्रदेश में **महासामन्ताधिपति** धरणिवराह उसकी अधिसत्ता स्वीकार करता था । उसके समय बगदाद निवासी अल्-मसूदी ने भारत की यात्रा की थी और वह भी कन्नौज के प्रतीहारराज की महान् शक्ति और साधनों का उल्लेख करता है । तदनुसार, उसने 'दक्षिण और उत्तर तथा पूर्व और पश्चिम में विशाल सेनाएँ रख छोड़ी थीं, क्योंकि वह चारों ओर शत्रुओं से घिरा हुआ था ।' पुनः, वह उसकी चारों दिशाओं की सेनाओं की अलग-अलग संख्या ७ लाख से ९ लाख तक बताता है तथा उसके शत्रुओं में मान्यखेट के राष्ट्रकूट राजाओं और सिन्ध एवं मुल्तान के अरबों की प्रमुखरूप से गिनती करता है[१] । उसके कथनों से यह स्पष्ट है कि उत्तर में पंजाब तथा पश्चिम में सिन्ध से लेकर दक्षिण में राष्ट्रकूटों की सीमाओं तक कन्नौज के प्रतीहार राजा का शासनक्षेत्र फैला हुआ था । अल्-मसूदी की भारत यात्रा का समय निश्चित रूप से (९१२-९१६ ई०) ज्ञात है । उससे यह प्रमाणित हो जाता है कि कन्नौज के जिस बउरा (प्रतीहार) राजा की व्यापक शक्ति पर वह प्रकाश डालता है, वह महीपाल ही था । यह भी स्पष्ट है कि राष्ट्रकूटों और अरबों के विरुद्ध उसने जो सैनिक तैयारियाँ कर रखी थीं, वे प्रतीहारवंश के उन आनुवंशिक शत्रुओं को रोकने के लिए ही थीं । राजशेखर उसे **रघुकुलमुक्तामणि** और **आर्यावत् का महाराजाधिराज** कहता है । इन सभी प्रमाणों से स्पष्ट है कि अपने शासन के प्रारम्भिक वर्षों में महीपाल ने प्रतीहार साम्राज्य की अपनी विरासत पर किसी प्रकार की आँच नहीं आने दी ।

राष्ट्रकूट आक्रमण

किन्तु दक्षिण के राष्ट्रकूट शत्रु तृतीय इन्द्र ने महीपाल को शान्तिपूर्वक अपने साम्राज्य का उपभोग नहीं करने दिया । चतुर्थ गोविन्द के खम्भात अभिलेख (एइ०, जिल्द ७, पृ० ३८) के १९वें श्लोक[२] में यह कहा गया है कि इन्द्र के 'मदस्रावी हाथियों के दाँतों की चपेट से कालप्रिय (उज्जैन के महाकाल) मन्दिर का मण्डपक्षेत्र ऊबड़-खाबड़ हो गया', उसके घोड़ों ने 'सिन्धुप्रतिस्पर्द्धिनी' और 'तलहीन' यमुना नदी को पार किया और उसने कुशस्थल नाम से प्रसिद्ध महोदयनगर (कन्नौज) को समूल उखाड़ फेंका ।' इस सन्दर्भ में कालप्रिय (महाकाल) देवता के मन्दिर के उल्लेख से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि इन्द्र की सेनाओं ने उज्जैन होते हुए अवन्ति के मार्गों से

---

१. इलियट् और डाउसन्, पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द १, पृ० २१ और आगे ।

२. यस्माद्द्विपदन्तघातविषमं कालप्रियप्रांगणम् ।
तीर्णा यत्तुरगैरगाधयमुना सिन्धुप्रतिस्पर्द्धिनी ।।
येनेदं हि महोदयारिनगरं निर्मूलमुन्मूलितम् ।
नाम्नाद्यापि जनैः कुशस्थलमितिख्यातिं परां नीयते ।।

प्रतीहार साम्राज्य पर धावा बोला था और उन्होंने यमुना नदी को पारकर गंगा के किनारे स्थित प्रतीहार राजधानी कन्नौज पहुँचकर उसे रौंद डाला (निर्मूलमुन्मीलितम्) । किन्तु अद्यतन मत यह है कि इन्द्र ने मालवा के कठिन मार्गों से होकर अपना आक्रमण नहीं किया, अपितु उसका मार्ग भोपाल-झाँसी और कालपी से होकर था । इसके समर्थन में कालप्रिय देवता की पहचान उज्जैन के महाकाल से न कर कालपी (कालप्रिय) के सूर्य (कालप्रिय) मन्दिर से की गयी हैं[१] । उपर्युक्त सभी क्षेत्र गुर्जर प्रतीहार साम्राज्य और सीमा के भीतर ही थे । इन्द्र के आक्रमण की घटना का समर्थन कन्नड़ कवि पम्प[२]-विरचित (९४१ ई०) **पम्पभारत (विक्रमार्जुनविजय)** नामक काव्य से भी होता है । इस ग्रन्थ की रचना चतुर्थ गोविन्द के वेलुमवाड के शासक चालुक्य सामन्त अरिकेशरिन् के संरक्षण में हुई थी । कवि अपने आश्रयदाता (अरिकेशरिन्) के पिता द्वितीय नरसिंह की विजयों का उल्लेख करता हुआ कहता है कि उसने 'घूर्ज्जरराज की सेनाओं को पराजित कर भगा दिया और अपनी विजय द्वारा विजय अर्थात् अर्जुन को भी मात कर दिया' । यही नहीं, वहाँ यह भी कहा गया है कि महीपाल को 'मानों बिजली मार दी; वह भयभीत होकर भाग गया, यहाँ तक कि आराम करने, सोने अथवा भोजन के लिये भी नहीं रुका । उसका पीछा करते हुए नरसिंह ने अपने घोड़ों को गंगा के समुद्र से संगम पर स्नान कराया' ।[३] नरसिंह एक छोटा सामन्त मात्र था और प्रतीहार साम्राज्य पर उसके स्वतन्त्र आक्रमण का कोई प्रश्न ही नहीं उठता । निश्चय ही ऐसा उसने अपने संप्रभु राष्ट्रकूट सम्राट् तृतीय इन्द्र के अभियान के साथ सैनिक सहायक के रूप से किया होगा । इस राष्ट्रकूट अभियान की आँधी ने थोड़े दिनों के लिए महीपाल को झकझोर दिया

---

१. देखिए, मिराशी, भारती, मार्च १९५१, पृष्ठ ३४-३६; दशरथ शर्मा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १७६-१७७ । पहले कालप्रिय की पहचान उज्जैन के महाकाल से करनेवाले डॉ० अल्तेकर ने भी अपना मत बदलकर यह नया मत स्वीकार कर लिया । देखिए, एज ऑफ इम्पीरियल् कन्नौज, पृष्ठ १३ । तथापि कुछ लोग यही मानते हैं कि कालप्रिय का मन्दिर कालपी में नहीं था । देखिए वि० भू० मिश्र, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३६ ।

२. लुइ राइस द्वारा सम्पादित तथा १९१८ में बिब्लियोथिका कर्नाटिका में प्रकाशित, पृ० ३-४; और देखिए, कर्नाटक शब्दानुशासन, पृ० २६ ।

३. इस संगम की पहचान गंगासागर से नहीं अपितु गंगा-यमुना के संगम स्थान प्रयाग से की गयी है । इस पर देखिए, अल्तेकर, राष्ट्रकूट्ज् ऐण्ड देयर टाइम्स्, पृष्ठ १०१-२; मजुमदार जडिले०, जिल्द १०, पृ० ६६; घी० चं० गांगुली, इहिक्वा०, जिल्द १०, पृष्ठ ६१९ ।

और कदाचित् उसे अपनी राजधानी कन्नौज से भी भागना पड़ा, जो पम्प कवि के इस कथन से इंगित होता है कि नरसिंह चालुक्य ने गुर्जरराज की बाहुओं से वह राजलक्ष्मी छीन ली, जिसे उसने चाहते हुए भी बहुत कसकर नहीं पकड़ा था।' धगं का खजुराहो अभिलेख (प्रथम) शायद इसी बात की ओर निर्देश करता है, जहाँ यह कहा गया है (एइ०, प्रथम, पृष्ठ १२२) कि हर्ष ने 'क्षितिपालदेव को पुनः सिंहासन पर स्थापित किया।' इस क्षितिपाल की पहचान प्रायः सभी विद्वान् महीपाल से करते हैं। चन्देलराज हर्ष प्रतीहारों का सामन्त था। सम्राट् महीपाल को अपनी ही राजगद्दी पुनः प्राप्त करने के लिए अपने एक सामन्त की सहायता पर निर्भर होना पड़ा, यह उसकी तात्कालिक विपन्नता का द्योतक तो है ही, चन्देलों की उठती हुई राजनीतिक और सैनिक सत्ता का भी परिचायक है।

इन्द्र के आक्रमण की तिथि और उसका परिणाम

यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है कि तृतीय इन्द्र ने महीपाल पर कब आक्रमण किया था। उसका राज्याभिषेक ९१५ ई० में हुआ था। उसका वर्णन करने वाले नौसारि अभिलेख में इस युद्ध की कोई चर्चा नहीं है। उसके पुत्र और उत्तराधिकारी द्वितीय अमोघवर्ष के दण्डपुर अभिलेख के आधार पर पहले यह समझा जाता था कि ९१८ ई० में उसका (अमोघवर्ष का) शासन प्रारम्भ हो चुका था[1] और उसके पूर्व इन्द्र मर चुका था। इस आधार पर यह माना गया कि तृतीय इन्द्र के उत्तरी अभियान का समय ९१५-९१८ ई० के बीच कभी होना चाहिए। किन्तु कुछ ही वर्षों पूर्व इन्द्र के एक राजप्रतिनिधि का ९२६ ई० का एक अभिलेख मिला है[2], जिसमें प्रथम गोविन्द से तृतीय इन्द्र तक राष्ट्रकूट शासकों की वंशावली दी गयी है। अतः इन्द्र की मृत्यु का समय ९२६ ई० के बाद ही कभी होना चाहिए। तथापि विद्वानों के इस मतैक्य से सहमत होने में कोई आपत्ति नहीं प्रतीति होती कि इन्द्र की प्रतीहार क्षेत्रों पर चढ़ाई ९१७ ई० अथवा कुछ पूर्व हो चुकी थी। इस बात की अत्यन्त सम्भावना है कि इन्द्र अपने शासन के अगले भागों में अपनी दक्षिण की विपत्तियों में ही फँसा रहा, जब उसे कन्नौज पर आक्रमण का समय न रहा होगा। उसके अतिरिक्त इस बात का भी केवल अनुमान मात्र लगाया जा सकता है कि तृतीय इन्द्र के इस उत्तरी अभियान का प्रतीहार साम्राज्य पर क्या अस्थायी अथवा स्थायी

---

१. फ्लीट, डाकडि०, पृ० ४१७; इऐ०; १२वाँ पृ० २२२-३; एइ०, छठाँ, पृ० १७६-७७; पुरी, गुर्जरप्रतीहार्स, पृ० ११५-११८।

२. प्रोसीडिंग्स्, आल् इण्डिया ओरियण्टल् कान्फरेंस्, १९५९, भाग १, पृष्ठ १७६-१७७।

प्रभाव हुआ[१]। यह स्पष्ट है कि महीपाल के अधिकार से थोड़े दिनों के लिए उसकी राजधानी कन्नौज निकल गयी, जिसे प्राप्त करने के लिए उसे अपने ही **सामन्त** हर्ष (चन्देल) से सहायता लेनी पड़ी। ऐसा प्रतीत होता है कि इन्द्र ने अपने आक्रमण से एक झंझावात की तरह महीपाल को झकझोरकर कुछ समय के लिए कन्नौज से बाहर तो फेंक दिया, किन्तु उसे स्वयं अपने दक्षिण के शत्रुओं से निबटने के लिए वापस लौटना पड़ा। इसका भरपूर लाभ उठाते हुए महीपाल ने अपनी राजधानी और उसके आसपास के सभी क्षेत्रों पर पुनः अधिकार कर लिया। यह वि० सं० ९७४=९१७ ई० के फतेहपुर जिले के असनी नामक गाँव से प्राप्त अभिलेख से प्रमाणित है जिसमें **परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर** श्री महीपालदेव के 'विजय' का उल्लेख है। फतेहपुर जिले के पार्श्ववर्ती क्षेत्र सम्भवतः इन्द्र के आक्रमणमार्ग में ही स्थित थे और उनपर महीपाल का साम्राज्याधिकार अवश्य ही इस बात का द्योतक है कि असनी अभिलेख के लिखे जाने के समय तक प्रतीहार सत्ता वहाँ पुनः स्थापित हो चुकी थी। किन्तु इतना निश्चित लगता है कि इन्द्र के आक्रमण के कारण उत्पन्न होने वाली महीपाल की अल्पकालिक विपत्ति और दुर्व्यवस्था का लाभ पालों ने अवश्य उठाया। महेन्द्रपाल ने पालों से छीनकर बिहार के जिन अनेक क्षेत्रों को प्रतीहार साम्राज्य का अंग बना लिया था, वे पुनः पालों के अधिकार में चले गये। राज्यपाल के राज्यारोहण के चौबीसवें वर्ष के बड़गाँव अभिलेख (इऐ०, जिल्द ४७, पृ० १११) से यह प्रमाणित होता है कि पटना जिले के आसपास के क्षेत्रों पर पालों का पुनः अधिकार हो गया था, जहाँ उन्होंने भूमिदान किया। द्वितीय गोपाल के समय का एक अभिलेख बोधगया से प्राप्त हुआ है (इऐ०, जिल्द ३८, पृ० २३७) जिसमें धर्मभीम द्वारा एक बुद्धमूर्ति के प्रतिष्ठापन की चर्चा है। इससे यह स्पष्ट है कि सोन नदी के पूर्वी किनारे तक के सारे प्रदेश पालों ने अधिकृत कर लिए। यह सब राष्ट्रकूट आक्रमण से उत्पन्न महीपाल की कठिनाइयों के समय ही सम्भव हुआ होगा, क्योंकि महीपाल का भविष्य का राजकीय जीवन एक विजेता का था।

महीपाल का प्रभाव-विस्तार और उसकी विजयें

राष्ट्रकूट आक्रमण की आँधी की धूल बैठने में बहुत समय नहीं लगा और महीपाल ने शीघ्र ही अपनी खोयी हुई प्रतिष्ठा पुनः प्राप्त कर ली तथा एक विजेता का जीवन प्रारम्भ किया चतुर्थ गोविन्द और उसके राष्ट्रकूट उत्तराधिकारी या तो कमजोर और

१. डॉ अल्तेकर के मत (राष्ट्रकूट्ज ऐण्ड देयर टाइम्स्, पृ० १०३) में इस आक्रमण का प्रभाव अत्यन्त व्यापक हुआ होता यदि तृतीय इन्द्र की मृत्यु न हो गयी होती।

चरित्रहीन हो गये अथवा अपनी ही कठिनाइयों में फँस गये[१], जो महीपाल के लिए सुनहला अवसर साबित हुआ। विनायकपाल-महीपाल के महोदयनगर से प्रकाशित एशियाटिक सोसायटी ताम्रफलकाभिलेख (इऐ०, जिल्द १५, पृ० १३८-१४१) से यह प्रमाणित है कि प्रतिष्ठानभुक्ति का वाराणसी विषय वि० सं० ९८८=९३१ ई० में उसके अधिकार में था। ग्वालियर में चन्देरी-स्थित रखेत्र नामक स्थान से प्राप्त (आसरि०, १९२४-२५, पृ०१६८) १००० वि सं०=९४३ ई० के एक दूसरे अभिलेख से उन प्रदेशों पर भी उसके शासन की पुष्टि होती है। चाट्सु अभिलेख (एइ०, जिल्द १२, पृ० १२ और १६) से यह ज्ञात होता है कि प्रतीहारों के गुहिल **सामन्त** भट्ट ने अपने अधिराज की आज्ञा से उसके किसी दक्षिणी शत्रु की सेनाओं को परास्त किया था। डॉ० मजुमदार का विश्वास है। (जडिले०, जिल्द १०, पृ० ६८) कि ये दक्षिणी सेनाएँ राष्ट्रकूटों की थीं। यह मुठभेड़ कहीं प्रतीहार-राष्ट्रकूट सीमाओं पर ही हुई होगी। कहला अभिलेख (एइ०, जिल्द ७, पृ० ८९-९०, श्लोक १३) से ज्ञात होता है कि महीपाल के कलचुरि **सामन्त** भामान ने धारा नगरी की विजयकर यश प्राप्त किया। यह कलचुरि वंश गोरखपुर जिले में भोज के समय से ही प्रतीहारों की अधिसत्ता में था और भामान की धारा-विजय अपने अधिराज महीपाल की ओर से ही थी।

अपनी सत्ता और प्रभावसीमा का विस्तार करते हुए महीपाल ने आगे बढ़कर अनेक दिशाओं में विजयें भी कीं। राजशेखर उसकी विजयों का उल्लेख करता हुआ कहता[२] है कि 'महीपालदेव ने मुरलों के शिरो के बालों को नमित किया, मेकलों को अग्नि समान जला डाला, कलिंग (राज) को युद्ध से भगा दिया, केरलेन्दु अर्थात् केरलराज की केलि का अन्त किया, कुलूतों को जीता, कुन्तलों के लिए कुल्हाड़ी का काम किया तथा रमठ की (राज्य) श्री को बलपूर्वक छीन लिया।' कवि के इस काव्यात्मक कथन की सत्यता की परीक्षा के लिए हमारे पास अभिलेखीय प्रमाणों का अभाव है। राजशेखर ने महीपाल द्वारा विजित जिन क्षेत्रों की गिनती की है, वे चतुर्दिक् उसकी राज्य-सीमाओं के आसपास अथवा उनसे कुछ आगे स्थित थे और ऐसा लगता है कि वह मानों किसी पारम्परिक दिग्विजय का वर्णन कर रहा है। किन्तु यह असम्भव नहीं

---

१. एइ०, जिल्द ४, पृ० २८३, २८८। चतुर्थगोविन्द की चरित्रहीनता के लिए देखिये, श्लोक २०।

२. नमितमुरलमौलिः पाकलो मेकलानाम्।
रणकलितकलिंगः केलितट केरलेन्दोः।
अजनिजितकुलूतः कुन्तलानां कुठारः।
हठहृतरमठश्रीः श्रीमहीपालदेवः ।। बालभारत, प्रथम, १७।

है कि महीपाल ने अपनी खोयी हुई प्रतिष्ठा को पुनर्स्थापित करते हुए इन क्षेत्रों में कुछ अथवा सभी पर सचमुच आक्रमण किये हों। सम्बन्धित क्षेत्रों की सूची का विवेचन करने से तथ्यातथ्य का निरूपण किया जा सकता है। कुलूत उत्तर दिशा में था और उसकी पहचान पंजाब के काँगड़ा प्रदेश के कुलू क्षेत्र से की जाती है[१]। रमठों को राजशेखर (**काव्यमीमांसा १७वाँ**) पंजाब में पृथूदक के आगे स्थित बतलाता है। इन दोनों क्षेत्रों की विजय का राजशेखर द्वारा स्पष्ट उल्लेख ऐतिहासिक तथ्यों पर आश्रित प्रतीत होता है। कर्नाल जिले में पृथूदक के आसपास के क्षेत्र भोज के समय से ही प्रतीहार साम्राज्य में शामिल थे[२] और पंजाब के कुछ क्षेत्रों के लिए कश्मीर से प्रतीहारों के संघर्ष हुआ करते थे[३]। कुलूत और रमठ प्रदेशों पर महीपाल का आक्रमण अपने साम्राज्य की पैतृक सीमाओं से आगे बढ़कर व्यास नदी के किनारे वाले क्षेत्र एवं कुलू प्रदेश को अधिकृत करने के लिए ही हुआ होगा। महीपाल द्वारा जिन अन्य प्रदेशों की विजय का उल्लेख राजशेखर के उपरिलिखित संदर्भ में है, वे दक्षिण-पूर्व और दक्षिण दिशा में स्थित थे। मुरल की पहचान कठिन है। कुछ विद्वानों के मत में मुरला (नर्मदा) नदी के किनारे का यह प्रदेश था, किन्तु अन्य लोग **रघुवंश**[४] के आधार पर इसे केरल के आगे स्थित मानते हैं, जो सह्याद्रि और अपरान्त के बीच पड़ता था[५]। किन्तु राजशेखर स्वयं (**काव्यमीमांसा** गायकवाड़ ओ० सीरीज, तृ सं०, पृष्ठ ९३) इसे कावेरों और वानवासकों अर्थात् कावेरी और वनवासी के बीच स्थित बताता है। मेकल नर्मदा के उत्पत्तिस्थान अमरकण्टक की पहाड़ियों वाले क्षेत्र का नाम था। अतः मेकलों से यहाँ तात्पर्य नर्मदा-क्षेत्रों पर अधिकृत चेदियों से लगता है[६]। कलिंग स्पष्टतः गंजाम जिले के आसपास का उड़ीसा वाला क्षेत्र था जो समुद्र के किनारे तक फैला था। केरल पश्चिमी घाटों और समुद्र के बीच का क्षेत्र था तथा दक्षिणापथ के पश्चिमी भागों के पहाड़ी प्रदेशों को कुन्तल कहा जाता था, जहाँ चालुक्यों के क्षेत्र थे। इनमें नर्मदा नदी के निचले हिस्सों वाले क्षेत्रों—मुरल और मेकल-पर महीपाल के सचमुच अधिकार हो जाने का अप्रत्यक्ष

---

१. आसारि० १९०७-८, पृ० २६०; नन्दलाल दे, ज्यॉग्रिफकल् डिक्शनरी ऑफ् ऐंश्येण्ट ऐण्ड मेडिवल् इण्डिया।

२. एइ०, जिल्द १, पृ० २४२।

३. देखिए, पीछे, भोज (प्रथम) और महेन्द्रपाल के विवरण।

४. चतुर्थ, ५५।

५. देखिए पुरी, गुर्जरप्रतीहार्स्, पृ० ८३, पादटिप्पणी ३।

६. इसका समर्थन बालभारत (जीवानन्द विद्यासागर सं०, पृष्ठ १३८-१३९) से होता है।

समर्थन उसके पुत्र द्वितीय महेन्द्रपाल के वि० सं० १००३=९४६ ई० वाले प्रतापगढ़ अभिलेख (एइ०, जिल्द १४, पृ० १७६ और आगे) से होता है, जिसमें यह कहा गया है कि क्रमशः उज्जैन और मण्डपिका पर उसके (महेन्द्रपाल के) माधव नामक **सामन्त दण्डनायक** और श्रीशर्मन् नामक **बलाधिकृत** नियुक्त थे । चूँकि द्वितीय महेन्द्रपाल की किसी भी विजयोपलब्धि का ज्ञान नहीं है, उपर्युक्त क्षेत्रों पर महीपाल का अधिकार रहा होगा, यह माना जायगा । पीछे हम इस बात की चर्चा कर चुके हैं कि महीपाल के कलचुरि सामन्त भामान ने उसकी ओर से धारा नगरी की विजय की थी । किन्तु केरल, कुन्तल और कलिंग की महीपाल द्वारा विजय के बारे में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता । क्षेमीश्वर के **चण्डकौशिकम्** नामक नाटक में एक श्लोक[1] आता है, जिससे कुछ विद्वानों ने महीपाल की कर्णाट पर विजय स्वीकार की है । कवि का कथन है कि 'चन्द्रगुप्त ने आचार्य चाणक्य की नीति का अनुसरण कर नन्दों को हराया और कुसुमनगर (पाटलिपुत्र) को जीता । वही पुनः कर्णाट रूप से पुनर्जात नन्दों का वध करने के लिए महीपाल के रूप में प्रकट हुआ ।' प्रश्न यह उठता है कि क्षेमीश्वर जिस महीपाल का उल्लेख करता है वह क्या प्रतीहारवंशी महीपाल ही था अथवा पालवंशी महीपाल (९७४-१०२६ ई०) । अधिकांश विद्वान[2] उसे प्रतीहार सम्राट् से ही मिलाते हैं । इस सन्दर्भ का कर्णाट भी सम्भवतः राष्ट्रकूटों के क्षेत्रों का ही द्योतक है । असम्भव नहीं कि तृतीय इन्द्र के आक्रमण का बदला लेने के लिए महीपाल ने राष्ट्रकूट क्षेत्रों पर आक्रमण किया हो । लेकिन इसका कोई महत्त्वपूर्ण परिणाम हुआ अथवा कर्णाटों-राष्ट्रकूटों—पर उसकी कोई विजय हुई, इसका अन्य कोई समर्थक प्रमाण उपलब्ध नहीं है[3] ।

---

१. यः संसृत्यप्रकृतिगहनामाचार्यचाणक्यनीतिः,
जित्वा नन्दान्कुसुमनगरं चन्द्रगुप्तो जिगाय ।
कर्णाटत्वं ध्रुवमुपगतानद्य तानेव हन्तुं,
दौर्दाढ्यः स पुनरभवच्छ्रीमहीपालदेवः ।। चण्डकौशिक नाटक की प्रस्तावना, जीवौनन्द विद्यासागर संस्करण, पृ० ५ ।

२. उनमें प्रमुख है, आ० बे० कीथ : स्टेन कोनो; पिशेल; र० चं० मजुमदार; शि० कु० दे; वैजनाथपुरी और दशरथ शर्मा ।

३. डॉ० दशरथ शर्मा के मत से बालभारत और चण्डीकौशिकम् के कर्णाटों पर महीपाल के विजय सम्बन्धी उल्लेखों का समर्थन बालादित्य के चाट्सु अभिलेख के एक श्लोक से होता है, जो महीपाल की आज्ञा में रत उसके सामन्त भट्ट की दक्षिण विजयों का उल्लेख करता है । देखिए, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १८४-१८५ तथा क्रमशः उनकी पादटिप्पणियाँ ३ और १ ।

त्रिपुरा के बधौरा नामक गाँव के एक तालाब से महीपाल का एक अभिलेख मिला है, जिसके बारे में बहुत बड़ा विवाद है कि वह किस महीपाल का है—प्रतीहारवंशी महीपाल अथवा पालवंशी महीपाल का। डॉ० गांगुली और डॉ० हेमचन्द्रराय उसे प्रतीहारवंशी प्रथम महीपाल[१] मानते हैं। किन्तु इस सम्बन्ध में अन्य कोई समर्थक प्रमाण नहीं मिलता और हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि उसने पूर्वी बंगाल (त्रिपुरा) तक विजयें की थीं या नहीं।

महीपाल और उसके सामन्त

प्रतीहार साम्राज्य की सीमाओं पर स्थित अनेक सामन्तवंशों के शासक अपने पूर्वजों की भाँति महीपाल के समय में भी प्रतीहारों के प्रति भक्त बने रहे। हड्डाला से प्राप्त शक सं० ८३६=९१४ ई० के एक अभिलेख (इऐ०, जिल्द १२, पृ० १९३ और आगे) से ज्ञात होता है कि सुदूरस्थ काठियावाड़ में स्थित चापवंशी **महासामन्तधिपति** धरणिवराह **राजाधिराज** महीपाल की अधिसत्ता स्वीकार करता था। इस लेख का समय महीपाल के राज्यारोहण के थोड़े दिनों ही बाद (९१४ ई०) का है, किन्तु इन्द्र के आक्रमण के पूर्व का है। कभी-कभी यह मान लिया जाता है कि तृतीय इन्द्र के आक्रमण (९१६-९१७ ई०) के फलस्वरूप काठियावाड़ प्रदेश से महीपाल का आधिपत्य उठ गया था। किन्तु ऐसी स्थिति का समर्थक कोई भी ऐतिहासिक प्रमाण हमारे पास नहीं है। अतः इस अनुमान को हम सही नहीं मान सकते। महीपाल के काठियावाड़ पर अधिकार बने रहने की यह सूचना जैन कवि हरिषेण के **बृहत्कथाकोष** के उपसंहार के उस कथन से मिलती है कि वि० सं० ९८९=९३२ ई० में विनायकपालदेव (महीपाल) के शासन करते उसने उस ग्रन्थ की रचना वर्धमानपुर (काठियावाड़ का बढ़वान) में की। स्पष्ट है, वे प्रदेश उस समय भी प्रतीहारों के अधीन थे। पीछे हम देख चुके हैं कि गोरखपुर क्षेत्र के कलचुरि सामन्त भामान ने महीपाल की ओर से धारा पर आक्रमण कर विजय प्राप्त की थी। इस सन्दर्भ के वि० सं० ११३४=१०७७ ई० के कहला अभिलेख से यह सूचित होता है कि इन कलचुरियों ने प्रथम भोज के समय से ही प्रतीहारों की समय-समय पर उनके शत्रुओं के विरुद्ध सैनिक अभियानों में सहायता की थी। राजपूताना (जयपुर के आसपास) मे चाट्सु से प्राप्त बालादित्य के अभिलेख (एइ०, जिल्द १२, पृ० १० और आगे) से यह प्रकट है कि वहाँ के गुहिलवंश के सामन्तों की चार पीढ़ियों ने नागभट्ट के समय से ही प्रतीहारों की सैनिक सेवाएँ की थीं तथा उनके युद्धों में भाग लिया था। महीपाल के गुहिल सामन्त भट्ट ने दक्षिण में राष्ट्रकूटों के विरुद्ध युद्ध किया[२]। उपर्युक्त

---

१. इहिक्वा०, १६वाँ, पृ० १८०-१८१ तथा पृ० ६३१-६३८।

२. देखिए, चाट्सु अभिलेख, श्लोक २६, एइ०, जिल्द १० पृष्ठ १० और आगे।

सामन्तवंशों की ही तरह शाकम्भरी के चाहमान भी पारम्परिक रूप से प्रतीहारों की अधिसत्ता स्वीकार करते थे[१] । १०वीं शताब्दी के एक फारसी भूगोलवेत्ता के ग्रन्थ **हुदूद-उल्-आलम** से यह ज्ञात होता है कि भारत के अधिकांश शासक 'किन्नौज के राय' की आज्ञा शिरोधार्य करते थे । तदनुसार, उत्तर प्रदेश और पंजाब से भी आगे काबुल के शाही राजा उसकी अधिसत्ता स्वीकार करते थे[२] । किन्तु उत्तरपूर्व, उत्तरपश्चिम, पश्चिम एवं दक्षिणपश्चिम में काफी दूर तक महीपाल की अधिसत्तात्मकता की व्याप्ति होते हुए भी दक्षिण में चन्देलों की एक ऐसी सत्ता का उदय हो रहा था, जो अन्ततः प्रतीहार साम्राज्य का अन्तकर उसका स्थान स्वयं ले लेने वाली साबित हुई । इन्द्र के आक्रमण की विभीषिका को झेलने तथा अपनी राजधानी और साम्राज्यशक्ति को पुनः प्राप्त करने में महीपाल को चंदेलराज हर्ष की सहायता लेनी पड़ी, इसकी चर्चा की जा चुकी है । हर्ष के पूर्वज और हर्ष स्वयं प्रतीहारों की अधिसत्ता स्वीकार करते थे तथा आगे धंग के प्रारम्भिक वर्षों तक भी यही स्थिति बनी रही[३] । किन्तु हर्ष और उसके महत्त्वाकांक्षी उत्तराधिकारी राष्ट्रकूट-प्रतीहार संघर्षों से लाभ न उठावें, यह राजनीतिक दृष्टि से उनके लिए मूर्खतापूर्ण और अस्वाभाविक होता । धीरे-धीरे अपने नाममात्र के प्रतीहार सम्राटों की सत्ता और प्रतिष्ठा के मूल्य पर उन्होंने अपनी सत्ता का विस्तार प्रारम्भ कर दिया । खजुराहों से प्राप्त एक अभिलेख (एइ०, जिल्द १, पृ० १२२) से यह सूचित होता है कि यशोवर्मा ने गौडों, खसों, कोसलों, कश्मीरों, मैथिलों, चेदिओं, कुरुओं और गुर्जरों के विरुद्ध सफल अभियान किये थे । असम्भव नहीं है कि उसके पूर्व हर्ष ने भी गुर्जरों अर्थात् प्रतीहारों के कुछ प्रदेशों को हस्तगत कर लिया हो । स्पष्ट है कि प्रतीहारों की नाममात्र की अधिसत्ता की स्वीकृति की आड़ में हर्ष-यशोवर्मा चन्देलों को उनकी प्रतिद्वंद्विता में खड़ा कर रहें थे, जिसका पूर्ण प्रस्फुटन यशोवर्मा और धंग के समय हुआ । उसकी चर्चा आगे हम प्रतीहारों की सत्ता के ह्रास और पतन के सिलसिले में करेंगे ।

महीपाल के अंतिम दिन और राष्ट्रकूट आक्रमण

महीपाल के शासन के अन्तिम दिनों में राष्ट्रकूटों ने एक बार फिर उत्तरी भारत पर आक्रमण किया । तृतीय कृष्ण के शक सं० ८६२=९४०-४१ ई० के देवली (एइ०,

---

१. देखिये—द्वितीय महेन्द्रपाल का प्रतापगढ़ अभिलेख, एइ०, जिल्द १४, पृ० १७६ और आगे; हरस अभिलेख, एइ०, जिल्द १९, परिशिष्ट सं० ८२ ।

२. देखिए इण्टरनेशनल् कांग्रेस ऑफ् ओरियण्टलिस्ट्स्, १९६४, नई दिल्ली, लेखों का संक्षेप, पृष्ठ ७७-७८ ।

३. देखिए, निमाई सदन बोस, हिस्ट्री ऑफ् चन्देलज्, पृ० २५, ३४ और ४० ।

पंचम, पृ० १८८-१९७) और शक सं० ८८०=९५८-५९ ई० के कर्हाट (एइ० चतुर्थ पृ० २७८ और आगे) अभिलेखों में यह कहा गया है कि 'यह सुनने पर कि अपनी क्रोधपूर्ण दृष्टि मात्र से ही उसने (तृतीय कृष्ण ने) दक्षिण दिशा के सभी दुर्गों की विजय कर ली है, गुर्जर राजा के मन से कालंजर और चित्रकूट के दुर्गों के पुनः वापस मिलने की आशा समाप्त हो गई[1] ।' देवली अभिलेख की तिथि (शक सं० ८६२) से यह निष्कर्ष निकलता है कि कृष्ण के उत्तरी अभियान का समय ९४० ई० के पूर्व ही रहा होगा । साथ ही सम्बद्ध उद्धरणों से यह भी ज्ञात होता है कि अपने सैनिक अभियान के समय वह कुमार मात्र था । उसके गद्दी धारण करने का वर्ष ९३९ ई० था । अतः यह स्वीकार किया जायगा कि उसका उत्तरी आक्रमण उसके पूर्व ही हुआ होगा । किन्तु इस सन्दर्भ में कालंजर और चित्रकूट के उल्लेख से यह स्पष्ट नहीं है कि उनपर राष्ट्रकूटों का अधिकार हो ही गया था । इतना अवश्य है कि कालंजर और चित्रकूट प्रतीहारों के हाथों से निकल चुके थे । बुँदेलखण्ड के इन भागों का अपने हाथों से निकल जाना महीपाल को सम्भवतः अपने वार्द्धक्य के कारण विवश होकर सहना पड़ा । हो सकता है कि इसका दुःख भी उसकी मृत्यु को निकट लाने का कारण हुआ हो । उसके पुत्र और उत्तराधिकारी द्वितीय महेन्द्रपाल के वि० सं० १००३=९४६ ई० के प्रतापगढ़ अभिलेख से यह स्पष्ट है कि उसके पूर्व महीपाल-विनायकपाल की मृत्यु हो चुकी थी ।

प्रतीहार साम्राज्य का ह्रास : द्वितीय महेन्द्रपाल (लगभग ९३५-९४८ ई०)

महीपाल-विनायकपाल के बाद उसकी रानी प्रसाधनादेवी से उत्पन्न उसका पुत्र महेन्द्रपाल (द्वितीय) प्रतीहार राजगद्दी का उत्तराधिकारी हुआ । उसकी जानकारी केवल एक अभिलेख से होती है, जो वि० सं० १००३=९४६ ई० में महोदय अर्थात् कन्नौज से प्रकाशित हुआ था (एइ०, जिल्द १४, पृ० १७६-१८८) और दक्षिण राजपूताना के प्रतापगढ़ (तन्नामक भूतपूर्व राज्य की राजधानी) से मिला था । दशपुर (मन्दसौर) में हरि ऋषीश्वर के मठ को दिये जानेवाले भूमिदान का उल्लेख करने वाला यह अभिलेख इस नाते महत्त्व का है कि इससे महेन्द्रपाल के वंश वृक्ष के ज्ञान के साथ ही साथ ही यह भी सूचित होता है कि इन्द्रराज नामक कोई चाहमानवंशी उसका **सामन्त** था और महेन्द्रपाल के **महासामन्त दण्डनायक तंत्रपाल** के रूप में उज्जयिनी में माधव तथा श्रीशर्मन् मण्डपिका अर्थात् मांडू में **बलाधिकृत** के रूप में शासन करते थे । प्रकट है कि महेन्द्रपाल के समय में भी गुर्जर प्रतीहारों का अवन्ति-मालवा के दशपुर (मन्दसौर) माण्डू, उज्जैन और प्रतापगढ़ जैसे स्थानों पर अधिकार पूर्ववत् बना हुआ था । अतः रा०

---

१. यस्यपरुषेक्षिताखिलदक्षिणदिग्दुर्गविजयमाकर्ण्य गलितागूर्ज्जर हृदयात्कालंजर-चित्रकूटाशा । कर्हाट अभिलेख, श्लोक ३०, देवली, अभिलेख श्लोक २५ ।

दास बनर्जी का यह मत (जबिओरिसो०, १९२८, पृ० ४८६) ग्राह्य नहीं है कि तृतीय इन्द्र के आक्रमण के बाद मालवा पर प्रतीहारों का अधिकार समाप्त हो गया था । जैसा हम पीछे देख चुके हैं, महीपाल-विनायकपाल उसे जीत चुका था और द्वितीय महेन्द्रपाल ने उसपर अधिकार बनाये रखा । किन्तु इसके अतिरिक्त अन्य कोई विशेष बात उसके बारे में नहीं ज्ञात होती ।

देवपाल (लगभग ९४८-९५० ई०)

द्वितीय महेन्द्रपाल का शासनकाल अत्यल्प रहा । सीयदोणी प्रस्तर अभिलेख (एइ०, जिल्द १, पृ० १६२-१७०) के अनुसार वि० सं० १००५=९४८ ई० में महीपाल-क्षितिपाल के पुत्र देवपाल का शासन प्रारम्भ हो चुका था । उससे यह ज्ञात होता है कि महोदय अर्थात् कन्नौज के उस शासक ने सीयदोणी (झाँसी जिले के सिरोन खुर्द) में ब्राह्मणों को भूमिदान किया था । देवपाल द्वितीय महेन्द्रपाल का छोटा भाई प्रतीत होता है ।[1] खजुराहो से प्राप्त एक अभिलेख में कहा गया है कि चन्देल शासक यशोवर्मा ने बलपूर्वक हेरम्बपाल के पुत्र **हयपति** देवपाल को वैकुण्ठ की वह मूर्ति भेंट करने को विवश किया, जिसे उसने (देवपाल) ने स्वयं हाथियों और घोड़ों की एक सैनिक टुकड़ी देकर कीर के शाही राजा से प्राप्त किया था । कीर के शासक को वह मूर्ति भोटराज से मित्रता में उपहारस्वरूप मिली थी, जिसे उसने (भोटशासक ने) कैलाशपर्वत से मँगाया था[2] । यह अधिकांश विद्वानों द्वारा स्वीकृत[3] है कि इस सन्दर्भ के

---

१. सीयदोणी अभिलेख में शासकों की सरणि में महेन्द्रपाल (द्वितीय) का नाम न होने का कारण डॉ० त्रिपाठी के मत में (हिस्ट्री ऑफ् कन्नौज, पृ० २७१) या तो यह है कि उसका शासनकाल बहुत छोटा था या यह कि दोनों भाइयों के आपसी सम्बन्ध अच्छे नहीं थे । डॉ० हेमचन्द्र राय उसका कारण दोनों भाइयों का गद्दी के लिए होने वाला संघर्ष मानते हैं (डाहिनाइ०, प्रथम, पृ० ५८८) । किन्तु अधिक सम्भव यह प्रतीत होता है कि चूँकि वंशवृक्षों में प्रायः पितापुत्रों के सम्बन्धों की ही चर्चाएँ हुआ करती थीं, और चूँकि वे दोनों भाई थे, वहाँ महेन्द्रपाल का नामोल्लेख नहीं हुआ ।

२. कैलाशाद्भोटनाथः सुहृदिति चततः कीरराजः प्रपेदे
साहिस्तस्मादवाप द्विपतुरगबलेनानु हेरम्वपालः ।
तत्सूनोर्देवपालान्तमथ हयपतेः प्राप्य निन्ये प्रतिष्ठां
वैकुण्ठं कुण्ठितारिः क्षितिधरतिलकः श्रीयशोवर्मराजः ।। एइ० जिल्द १, पृ० १३४ श्लोक ४३ ।

३. कीलहॉर्न, एइ० जिल्द १, पृ० १२४; त्रिपाठी, हिस्ट्री ऑफ् कन्नौज, पृ० २५७-५८ तथा २७२; हेमचन्द्रराय, डाहिनाइ०, प्रथम, पृ० ५७३; भण्डारकर, जराएसो०,

देवपाल का पिता हेरम्बपाल–विनायकपाल, महीपाल अथवा क्षितिपाल ही था। देवपाल के समय में ही चन्देल शासक यशोवर्मा ने 'कालंजर का किला बड़ी आसानी से जीत लिया'। यहाँ तक कहा गया है कि वह 'गूर्जरों के लिए एक जलती हुई अग्नि के समान था'[१]। स्पष्ट है कि प्रतीहारों की राजनीतिक सत्ता और प्रतिष्ठा का तेजी से पराभव हो रहा था और उनके स्थान पर चन्देलों की सत्ता उसी वेग से बढ़ती जा रही थी। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि कालंजर का किला चन्देलों ने किससे जीता—प्रतीहारों से अथवा राष्ट्रकूटों से अथवा अन्य किसी सत्ता से ? पीछे हम देख चुके हैं कि तृतीय कृष्ण ९४० ई० के अपने देवली अभिलेख (एइ०, पंचम, १८८–१९५) में यह दावा करता है कि दक्षिण दिशा के दुर्गों की उसकी विजयों का समाचार सुनकर गुर्जरराज (प्रथम महीपाल) कालंजर और चित्रकूट[२] के दुर्गों को पुनः वापस पाने की आशा छोड़ चुका था। किन्तु इससे यह नहीं साबित होता कि कालंजर पर राष्ट्रकूटों का अधिकार हो चुका था और यशोवर्मा ने उन्हीं से उसे जीता,[३] न कि देवपाल से। डॉ० त्रिपाठी का कथन[४] है कि यदि यशोवर्मा ने कालंजर राष्ट्रकूटों से जीता होता तो वह अपने विजितों में उनकी गिनती अवश्य ही करता। देवली और कर्हाट के जिन अभिलेखों में गुर्जरराज के मन से कालंजर और चित्रकूट की पुनर्प्राप्ति की आशा निकल जाने की बातें कही गयी हैं, उनमें गोलमोल ढंग से इतना मात्र कहा गया है कि तृतीय कृष्ण ने अपनी क्रोधभरी दृष्टिमात्र से दक्षिण के सभी दुर्गों को जीत लिया था। यह नहीं कहा गया है कि उसने कालंजर और चित्रकूट भी जीत लिया था। हो सकता है कि राष्ट्रकूटों द्वारा दक्षिण दिशा में दबाये जाने के कारण महीपाल अपने सभी दुर्गों की रक्षा न कर सका हो और तज्जन्य आपातिक

बम्बई शाखा, जिल्द २१, पृ० ४०६–४०७। पण्डित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने, इस तर्क पर कि कन्नौज के प्रतीहार राजाओं ने 'हयपति' की उपाधि कभी नहीं धारण की, इस देवपाल को प्रतीहार राजा नहीं स्वीकार किया। देखिए, एइ०, १४ वाँ, पृ० १७८–१८०। किन्तु अरब सौदागर सुलेमान के उल्लेखों तथा अभिलेखों (इऐ०, जिल्द १२, पृष्ठ १८४) में प्रतीहारों की शक्तिशाली अश्वसेना के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं।

१. एइ०, जिल्द १, पृ० १३२, श्लोक २३ तथा ३१।

२. डॉ० हेमचन्द्र राय इस चित्रकूट को बाँदा जिले में स्थित चित्रकूट नामक प्रसिद्ध तीर्थस्थान से न मिलाकर चित्तौड़गढ़ से मिलाते हैं। देखिए, डाहिनाइ०, प्रथम, पृ० ५८९, पादटिप्पणी ४ और पृ० ५९०।

३. इस सम्बन्ध में देखिए—हेमचन्द्र राय, डाहिनाइ०, जिल्द १, पृ० ६७४; अल्तेकर, राष्ट्रकूटज् ऐण्ड देयर टाइम्स्, पृ० ११३।

४. हिस्ट्री आफ् कन्नौज, पृ० २७१।

परिस्थितियों में या तो चन्देलों ने ही कालंजर ले लिया हो[1] अथवा किसी अन्य सत्ता ने कालंजर के साथ चित्रकूट भी अथवा अकेले चित्रकूट जीत लिया हो[2] । यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि जिस खजुराहो अभिलेख में यशोवर्मा की कालंजर विजय का वर्णन है, उसमें उसके विजितों में राष्ट्रकूटों का नाम नहीं है । अतः इस सम्बन्ध की सारी स्थिति बड़ी अस्पष्ट है । केवल इतना निश्चित है कि सामरिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कालंजर और चित्रकूट के दुर्गों पर आसपास की सभी सत्ताओं-राष्ट्रकूटों, चन्देलों और हैहयों—की आँखें लगी थीं, जो प्रतीहारों के लिए स्वभाविक रूप से चिन्ता का विषय रहा होगा । मूलतः प्रतीहार सम्राट् के क्षेत्रों (कालंजर और चित्रकूट) को उसी का एक सामन्तवंश जीतकर अपने अधीन कर ले, यह उन दोनों के परिवर्तित होते हुए आपसी सम्बन्धों को पूर्णरूप से प्रकट करता है ।

आहाड़ से प्राप्त एक अभिलेख (एइ०, जिल्द २, पृ० ४२८) में कहा गया है कि गुहिलराज अल्लट ने किसी देवपाल को युद्ध में मार डाला । चूँकि अल्लट का वहीं से वि० सं० १००८=९५१ ई० का एक अन्य अभिलेख भी मिला है (इऐ०, ५५वाँ, पृ० १६२), ऊपर के अभिलेख की तिथि न ज्ञात होते हुए भी यह घटना उसके आसपास की ही मानी जा सकती है । यही समय देवपाल का भी था । अतः डॉ० ओझा का यह मत (राजपूताने का इतिहास, प्रथम, पृष्ठ ४२९) मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि अल्लट द्वारा हत देवपाल प्रतीहारवंशी देवपाल ही था ।

देवपाल के अल्पशासी और कमजोर उत्तराधिकारी

द्वितीय महेन्द्रपाल की तरह देवपाल का भी शासनकाल बहुत थोड़े वर्षों का था । यही हाल उसके उत्तराधिकारियों का भी था, जिनके आपसी संबंधों के बारे में हमें कोई स्पष्ट जानकारी नहीं है । वि० सं० १०११=९५४ ई० के खजुराहों से प्राप्त एक चन्देल

---

१. डॉ० जयदेव (निमाइ सदन बोस द्वारा हिस्ट्री ऑफ् चन्देलज्, पृ० ३० पर उद्धृत) यह मानते हैं कि यशोवर्मा ने कालंजर चेदि के कलचुरि राजाओं से जीता । डॉ० नीलकान्त शास्त्री, प्रोसीडिंग्स्, ओरियण्टल् कान्फरेन्स् १९४६, पृ० ४३६-३७) यह मानते हैं कि यशोवर्मा ने राष्ट्रकूटों और कलचुरियों की सहायता से प्रतीहारों से ही कालंजर जीता था ।

२. डॉ० दशरथ शर्मा की मान्यता है (पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १९०-१९१) कि कालंजर और चित्रकूट (चित्तौड़) पर बारी-बारी से कई सत्ताओं का अधिकार हुआ, यथा— गुहिलराज द्वितीय भर्तृपट्ट का, चेदिराज युवराज का और चन्देलराज यशोवर्मा का । डॉ० दि० चं० सरकार यह मानते हैं (इहिक्वा, जिल्द २४, पृष्ठ ८८) कि यशोवर्मा ने कालंजर का किला किसी सामन्तवंश से जीता था, जो प्रतीहारवंशी ही था ।

अभिलेख (एइ०, जिल्द, १, पृ० १३५) से विनायकपालदेव का पता लगता है । उसके संदर्भ[1] से यह प्रतीत होता है कि वह कोई अधिसत्तात्मक सम्राट् ही था—चाहे वह अधिसत्तात्मकता नाममात्र की ही क्यों न रही हो । निहाररंजन राय उसे द्वितीय महेन्द्रपाल का पुत्र मानते हुए द्वितीय विनायकपाल नामक कन्नौज का प्रतीहार सम्राट् स्वीकार (इऐ०, १९२८, पृ० २३०-३४) करते हैं । साथ ही वे यह भी स्वीकार करते हैं कि उसके बाद देवपाल का पुत्र द्वितीय महीपाल कन्नौज की राजगद्दी पर बैठा । उसकी जानकारी भरतपुर जिले के बयाना से प्राप्त वि० सं० १०१२=९५५ ई० के एक प्रस्तर अभिलेख (एइ०, जिल्द २२, पृ० १२० और आगे) से होती है । उस अभिलेख में महीपाल को **महाराजाधिराज** के विरुद से विभूषित किया गया है । किन्तु अन्य प्रतीहार अभिलेखों के विपरीत उसमें महीपाल के किसी पूर्वज का नामोल्लेख नहीं है । वि० सं० १०१३=९५६ ई० के ओसिया से प्राप्त एक खण्डित प्रस्तर अभिलेख से वत्सराज नामक एक दूसरे प्रतीहार शासक का पता चलता है ।[2] यदि इस वत्सराज को भी कन्नौज से सम्बद्ध मान लिया जाय तो फिर ९५४-९५६ ई० के बीच के ३ वर्षों के भीतर तीन शासकों—द्वितीय विनायकपाल, द्वितीय महीपाल और द्वितीय वत्सराज की स्थिति माननी होगी, जो यदि असम्भव नहीं तो असाधारण अवश्य प्रतीत होती है । असम्भव नहीं हैं कि इनमें से कुछ कन्नौज के प्रतीहार वंश से सम्बद्ध न होकर उन स्थानीय प्रतीहारवंशों के प्रतिनिधि हों जो कन्नौज की साम्राज्यसत्ता के बिखराव के साथ स्वतंत्र हो गये थे । इस अनुमान का समर्थन राजौर से प्राप्त मथनदेव के वि० सं० १०१६=९५९ ई० के एक प्रस्तर अभिलेख (एइ०, जिल्द ३, पृ० २६२-२६७) से होता है, जिसमें उसे 'गुर्जरप्रतीहारान्वय' सावट का पुत्र बताया गया है और उसके लिए **महाराजाधिराज** और **परमेश्वर** के विरुदों का भी प्रयोग किया गया है । लेकिन राजोर (अलवर क्षेत्र के राजगढ़ जिले में स्थित) से शासन करने वाला यह प्रतीहारवंशी शासक अपने बड़े विरुदों के बावजूद कन्नौज के प्रतीहारों की अधिसत्ता स्वीकार करता था । यह इस बात से प्रमाणित है कि उसी अभिलेख में **परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर श्री क्षिति-पालदेवपादानुध्यात परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर श्री विजयपालदेव** के उस समय शासन करने की बात कही गयी है । अभिलेखों में इस प्रकार के उल्लेख अधिसत्तात्मक सम्राटों की आधिराज्य सत्ता को मान्यता देने के लिए ही हुआ करते थे । इस अभिलेख के विजयपाल को निश्चय ही कन्नौज का शासक मानना होगा, जो प्रथम महीपाल का पुत्र था । उसका सामन्त मथनदेव उसकी केवल नाममात्र की अधिसत्ता

---

१. वहाँ का सन्दर्भ है : 'विनायकपालदेव पालयति वसुधां' इत्यादि ।

२. देखिए, एइ०, जिल्द २३, भण्डारकर की अभिलेख सूची, संख्या २३०२ ।

स्वीकार करता था, यह उसके निजी विरुदों—**महाराजाधिराज** और **परमेश्वर** के प्रयोग से स्पष्ट हो जाता है। उसके पिता को भी **महाराजाधिराज** कहा गया है, जो उसके वंश के क्रमशः बढ़ते हुए प्रभाव और शक्ति का द्योतक है।

साम्राज्य का विघटन

ऊपर उल्लिखित देवपाल से लेकर विजयपाल तक के शासकों के आपसी संबंध क्या थे, यह मतवैभिन्य और विवाद का विषय है,[1] जिसके फेर में पड़ने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है। यह प्रतीत होता है कि उनके अत्यल्प शासनकाल और नगण्य अभिलेखीय साक्ष्यों के कारण प्रतीहार सत्ता का त्वरित ह्रास और सम्भवतः उत्तराधिकार के लिए होने वाले युद्ध थे। प्रतीहार सत्ता के ह्रास का प्रारम्भ वास्तव में तृतीय इन्द्र के ९१६-९१७ ई० वाले आक्रमण से ही हो चुका था और यद्यपि इन्द्र के अपने ही विपत्तियों में फँसे रहने तथा उसके उत्तराधिकारियों की अयोग्यता के कारण प्रथम महीपाल को अपनी प्रतिष्ठा को पुनर्स्थापित करने का पुनः मौका मिल गया था, वह अवसर अल्प-कालिक ही साबित हुआ। उसके शासन के अन्तिम दिनों में, ९४० ई० के आसपास, तृतीय कृष्ण के नेतृत्त्व में राष्ट्रकूटों ने पुनः उत्तर की ओर धावे मारना प्रारम्भ कर दिया[2] और प्रतीहारों से कालंजर तथा चित्रकूट छीन लिया, जिसकी चर्चा हम पीछे कर चुके हैं। कृष्ण ने ये विजयें अपने पिता की आज्ञा से कुमार की अवस्था में ही की थीं। राजा होने पर उसने ९५९ ई० (कुछ के मत में ९६३ ई०) में पुनः उत्तर की ओर अभियान प्रारम्भ किये, जिनका उल्लेख उसके कर्हाट अभिलेख (एइ०, चतुर्थ, पृ० २७८ और आगे) में

---

१. डॉ० भण्डारकर द्वितीय महेन्द्रपाल और देवपाल को एक ही व्यक्ति मानते (एइ०, जिल्द २३, अभिलेखों की सूची, पृ० ४००) हैं। वे द्वितीय विनायकपाल और द्वितीय महीपाल को भी अभिन्न मानते हैं। निहाररंजन राय इऐ०, जिल्द ५७, पृ० २३४) द्वितीय भोज, प्रथम महीपाल और क्षितिपाल को एक ही व्यक्ति के विभिन्न नाम मानते हैं तथा देवपाल को उसी का पुत्र स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त द्वितीय विनायकपाल को वे द्वितीय महेन्द्रपाल का पुत्र, द्वितीय महीपाल को देवपाल का पुत्र तथा विजयपाल को द्वितीय महीपाल का पुत्र मानते हैं। डॉ० त्रिपाठी (हिस्ट्री ऑफ् कन्नौज, पृ० २७१-२७४) देवपाल और द्वितीय विनायकपाल को द्वितीय महेन्द्रपाल का क्रमशः छोटा भाई और पुत्र तथा विजयपाल को देवपाल का भाई मानते हैं। डॉ० हेमचन्द्र राय द्वितीय महीपाल को देवपाल का पुत्र तथा विजयपाल को प्रथम महीपाल का पुत्र और देवपाल का भाई मानते (डाहिनाइ० प्रथम, पृ० ९९१-९९३) हैं।

२. देखिए, देवली अभिलेख, एइ०, जिल्द ५, पृ० १८८-१९७।

मिलता है। इस बात के अभिलेखीय प्रमाण प्राप्त (एइ०, जिल्द ५, पृ० १७६) हैं कि इसं बार कृष्ण की सहायता में गंग शासक मारसिंह भी था, जिसने अपनी विजय के उपलक्ष्य में स्वयं को 'घूर्ज्जरराज' कहना प्रारम्भ कर दिया। कृष्ण ने गुजरात के अहमदाबाद और मध्यप्रदेश के मैहर जिले के आसपास के क्षेत्र जीत लिये, जिनका समर्थन उन क्षेत्रों से मिलने वाले उसके अनेक अभिलेखों[१] से होता है। इन प्रदेशों के राष्ट्रकूटों के अधिकार में चले जाने से डॉ० हेमचन्द्र राय यह अनुमान[२] लगाते हैं कि तृतीय इन्द्र ने ९१६-९१७ ई० में जहाँ मालवा (उज्जैन) को अपने उत्तरी आक्रमण का मार्ग बनाया था, वहीं तृतीय कृष्ण (**अकालवर्ष**) ने उस मार्ग को छोड़कर प्रतीहार क्षेत्रों के पूर्व और दक्षिण-पश्चिमी छोरों से अपने अभियान किये थे। उनके मत में इसका कारण यह था कि तृतीय इन्द्र की मृत्यु के बाद महीपाल ने उज्जैन-मांडू के प्रदेशों को पुनः जीतकर वहाँ अपनी प्रशासनिक स्थिति सुदृढ़ कर ली थी, जो द्वितीय महेन्द्रपाल के प्रतापगढ़ अभिलेख से प्रमाणित है[३]। तृतीय कृष्ण के बाद द्वितीय कर्क ने भी ९७२ में गुर्जरों (प्रतीहारों) पर चढ़ाई (इऐ०, १२वाँ, पृ० २६५) की। राष्ट्रकूटों के इस दबाव के अतिरिक्त यशोवर्मा और धंग के नेतृत्त्व में चन्देल सारे बुन्देलखण्ड पर अधिकृत हो गये। वे आगे बढ़कर मध्यभारत के भी अनेक क्षेत्रों पर अधिकार कर रहे थे। धंग का वि० सं० =१०११=९५४ ई० का खजुराहो अभिलेख जहाँ विनायकपाल[४] (द्वितीय) को पृथ्वी का पालयिता शासक बताता है, वहीं (एइ०, जिल्द १, पृ० १२९, १३४, श्लोक ४५) धंग के विजित क्षेत्रों को 'कालंजर से लेकर मालव नदी के किनारे स्थित भास्वत तक, वहाँ से पुनः कालिन्दी (यमुना) नदी के किनारे तक, पुनः वहाँ से चेदि देश की सीमाओं तक तथा गोप नामक पर्वत (गोपाभिधान-गिरि) तक विस्तृत बताता है। ग्वालियर (गोपगिरि) और यमुना नदी के किनारे तक चन्देलों की सत्ता का विस्तार उन क्षेत्रों से प्रतीहार शासन को समाप्त करके ही हुआ होगा। स्पष्ट है कि एक ओर तो धंग विनायकपाल (द्वितीय) की नाममात्र की अधिसत्ता भी स्वीकार करता था और दूसरी

---

१. ओरियण्टल् कान्फरेन्स् प्रोसीडिंग्स्, १९२५, पृ० ३०३-३०८, एइ०, जिल्द १९, पृ० २३६ और आगे, जाबिओरिसो० १९२८, पृ० ४७९ और आगे।

२. डाहिनाइ०, प्रथम, पृ० ५८९-५९०।

३. देखिए, पीछे पृष्ठ १६८।

४. निमाइ सदन बोस इस विनायकपाल को कन्नौज का ऐसा प्रतीहार शासक नहीं मानते जिसकी अधिसत्ता धंग स्वीकार करता था। अपितु उनके मत में विनायकपाल धंग का ही वास्तविक नाम था। देखिए, हिस्ट्री ऑफ् चन्देलज्, पृ० ४१-४२।

होते हुए भी, प्रतीहार सत्ता सारे उत्तरभारत को एक राजनीतिक और प्रशासकीय सूत्र में बाँधे रही। यही नहीं पाल और राष्ट्रकूट भारतवर्ष के हृदयस्थल और सदा से भारतीय राजनीति के केन्द्र (उत्तरी और मध्यभारत) को अधिकृत करने की त्रिकोणात्मक लड़ाई प्रतीहारों से हार गये, और अपने-अपने क्षेत्रों में भी उनकी सत्ता का उतना दीर्घकालीन दबदबा नहीं रहा, जितना सारे उत्तरी भारत में गुर्जर प्रतीहारों का था। अपने चरमोत्कर्ष के दिनों में पूर्व में उत्तरी बंगाल से पश्चिम में सिन्ध, सौराष्ट्र और गुजरात तक; उत्तर में हिमालय की निचली पहाड़ियों से लेकर दक्षिण में सारे बुन्देलखण्ड और मालवा तक तथा पूर्वी पंजाब और दिल्ली होते हुए सारे राजपूताने तक प्रतीहार सम्राटों की प्रशासकीय आज्ञाएँ समानरूप से स्वीकृत थीं तथा इस क्षेत्र के बीच के दसों राजवंश उनकी सैनिक सेवा करते अपने को यशस्वी और गौरवान्वित समझते थे। अपने सर्वाधिक उत्कर्ष और विस्तार के समय केवल मौर्यों का साम्राज्य प्रतीहारों से बड़ा था, लेकिन उसका जीवन प्रतीहार साम्राज्य के १५० वर्षों के मुकाबले एक सौ वर्षों से भी कम (३२१-२३२ ई० पू०) का था। लगभग इतना ही जीवन (३५० ई० ४६७ ई०) गुप्त साम्राज्य का भी था, किन्तु वह अपने अन्यतम विस्तार के समय भी भोज-महेन्द्रपाल के साम्राज्य-विस्तार से छोटा ही था। हर्ष का साम्राज्य प्रतीहारों जैसा न तो विस्तृत था, न दीर्घकालीन, और न प्रशासन में ही उतना सुसंगठित था। दीर्घजीवन में भारतवर्ष का यदि अन्य कोई एक साम्राज्य प्रतीहार साम्राज्य का मुकाबला कर सका तो वह मुगल साम्राज्य (१५५६-१७०७) ही था, जो उससे अधिक विस्तृत भी था। किन्तु प्रतीहारों को एक साथ जिस लम्बी अवधि तक विभिन्न दिशाओं-दक्षिण में राष्ट्रकूटों, पूर्व में पालों और पश्चिम में अरबों जैसे अपनें सामान ही शक्तिशाली शत्रु राजवंशों का मुकाबला करना पड़ा, वैसी समस्या न तो मौर्यों की थी, न गुप्तों की और न मुगलों की। पुनः इन सभी साम्राज्यों के पतन के दो समान कारण दिखायी देते हैं—योग्य सम्राटों के अयोग्य और शक्तिहीन उत्तराधिकारियों तथा विदेशी आक्रमण। किन्तु जितने दिनों तक प्रतिहारों ने विदेशी आक्रमणकारियों का सफलतापूर्वक मुकाबला किया, उतने दिनों तक मुकाबले की समस्या उनके अतिरिक्त किसी अन्य साम्राज्य के सामने थी ही नहीं। अरब इतिहासकार[1]—सुलेमान, अबूजैद, अल्‌मसूदी और अल्‌गर्दीजी—उनकी असीम सैन्यशक्ति, देशभक्ति, वीरता, अरबों के प्रति शत्रुता[2] तथा उन्हें पीछे ढकेल देने के लिए अनवरत रूप में उनके तैयार रहने की प्रशंसात्मक बातें लिखते हैं। शत्रुपक्ष के इन

---

१. पीछे देखिए, प्रथम भोज और प्रथम महीपाल के प्रकरण।

२. इलियट् और डाउसन्, पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द, १ पृ० ४, २३-२४; हेमचन्द्रराय, डाहिनाइ० प्रथम, पृ० १०-२२।

पारम्परिक प्रतीहार क्षेत्रों की छीनाझपटी में चन्देल सबसे आगे थे, किन्तु वे अकेले न थे। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, राजोर अभिलेख (एइ०, जिल्द ३, पृ० २६३-२६७) के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रतीहारों की राजधानी कन्नौज से थोड़ी ही दूर पड़नेवाले अलवर जिले में स्थित राजगढ़ जिले के राज्यपुर अथवा राजोर में मथनदेव ९५५ ई० में प्राय: पूर्ण स्वतंत्र हो गया था[१] और तत्कालीन राजनीतिक शून्य में अपने को **महाराजाधिराज** और **परमेश्वर** कहने में संकोच नहीं करता था। प्रतीहारराज विजयपाल का उल्लेख करने वाला यह अकेला अभिलेख है। उसके पुत्र राज्यपाल की जानकारी १०१९ ई० में होने वाले कन्नौज पर महमूद गजनवी के आक्रमण के पूर्व नहीं होती। इस लम्बी अवधि (९५५-१०१९ ई०) के बीच इन दो कमजोर प्रतीहार राजाओं के समय प्रतीहार साम्राज्य के खण्डहरों पर चन्देलों के अतिरिक्त अनेक स्वतन्त्र राज्य खड़े हो गये, जिनमें उचित अवसरों के मिलते ही साम्राज्य बन जाने के बीज और अंकुर छिपे थे। गुजरात-काठियावाड़ का चौलुक्यवंशी राज्य उनमें एक था, जिसके संस्थापक मूलराज ने सारस्वतमण्डल को अपने बाहुबल से जीत लिया[२] और अण्हिलपाटण में अपनी राजधानी स्थापित की। उसने चापोत्कट (चावड़ा) वंश की सत्ता अपदस्थकर[३] अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित की थी, जो दक्षिणी राजपूताना में स्थित था और परम्परया प्रतीहारों का करद था। उसके वि० सं० १०३०=९७३ ई० के बड़ौदा अभिलेख (वियना ओरियण्टल् जर्नल्, जिल्द ५, पृ० ३००) से यह प्रकट है कि उस समय तक चौलुक्यों का पूरे गुजरात-काठियावाड़ प्रदेश पर अधिकार हो चुका था। अवन्ति (मालवा) में द्वितीय वाक्पतिराज मुंज के नेतृत्त्व में परमार पूरी तरह अधिकृत होकर दक्षिण-पश्चिम में चौलुक्यों और दक्षिण में परवर्ती चालुक्यों से राजनीतिक प्रतिस्पर्द्धा करने लगे। वि० सं० १०३१=९७४ ई० में उज्जैन से वाक्पतिराज ने अपना धर्मपुरी दानपत्र प्रकाशित किया, जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि तब तक उसने प्रतीहारों से उज्जैन का क्षेत्र छीन लिया था। परमार सत्ता के विस्तार का प्रयत्न मुंज के पहले से ही आरम्भ हो चुका था, क्योंकि इन्दौर के वि० सं० १०३१=९७४ ई० के अभिलेख (इऐ०, जिल्द ६, पृ० ५१) में मुंज की तीन पीढ़ियों पूर्व तक के—कृष्णराज, वैरिसिंह और सीयक (द्वितीय) नामक—तीन राजाओं को **परमभट्टारक-महाराजाधिराजपरमेश्वर** की उपाधियों से विभूषित किया गया है, जो प्राय स्वतंत्र और

---

१. प्रतीहारों के अन्य सामन्तों ने भी अपनी स्वतन्त्रता के सूचक बड़े-बड़े विरुद धारण किये। देखिए, दशरथ शर्मा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २००।

२. कादि अभिलेख, इऐ०, जिल्द ६, पृ० १९१, सातवीं पंक्ति।

३. देखिए, वाडनगर प्रशस्ति, एइ०, जिल्द १, पृ० २९६ और ३०१, श्लोक ५।

शक्तिशाली शासकों के लिए ही प्रयुक्त हुआ करती थीं। वैरिसिंह अथवा वज्रट पहला परमार शासक था, जिसने सर्वप्रथम धारा में अपने वंश को एक पूर्णस्वतन्त्र सत्ता के रूप में स्थापित किया[१]। ब्हूलर के मत (एइ०, जिल्द १, पृष्ठ २३७, पादटिप्पणी ८६) में यह विनायकपाल के समय में ही घटित हुआ होगा। किंतु ऐसा नहीं प्रतीत होता कि परमारों की यह सफलता स्थायी हुई। पीछे हम देख चुके हैं कि कलचुरि भामानदेव ने अपने स्वामी महीपाल–विनायकपाल की ओर से धारा पुनः अधिकृत कर लिया था। तथापि धारा बहुत समय तक प्रतीहारों के प्रभावक्षेत्र में नहीं रही। द्वितीय सीअक (९४९–९७३ ई०) **परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर अकालवर्ष** (तृतीय कृष्ण) के **महामाण्डलिक चूड़ामणि महाराजाधिराज** के रूप में शासन करता था। लक्ष्मीकर्ण के १०४७ ई० के गोहरवा ताम्रपत्राभिलेख (एइ०, जिल्द ११, पृ० १४२) के साक्ष्य पर डॉ० हेमचन्द्रराय ने यह मत व्यक्त किया है[२] कि चेदिशासक लक्ष्मणराज ने १०वीं शती के मध्य में कभी अपनी विजयों के सिलसिले में किसी गुर्जर राजा को हराया था। चेदि (चन्देल और चालुक्य क्षेत्रों के बीच) पर कलचुरियों का राज्य था और उनकी गोरखपुर की शाखा प्रथम भोज के समय से ही प्रतीहारों की अधिसत्ता स्वीकार करती थी। पीछे हम देख चुके हैं[३] कि कई पीढ़ियों तक उसके शासकों ने प्रतीहारों की विजययात्राओं और युद्धों में भाग लिया था। प्रकट है कि चन्देलों की तरह कलचुरि भी प्रतीहार अधिसत्ता का बोझ फेंककर अब केवल स्वतंत्र ही नहीं हो गये, अपितु स्वयं प्रतीहारों के विरुद्ध खड़े हो गये। ठीक इसी प्रकार, पश्चिम में चौहानों ने भी अपने को स्वतंत्र कर लिया। द्वितीय विग्रहराज के वि० सं० १०३०=९७३ ई० के हरस[४] अभिलेख (एइ०, जिल्द १९ परिशिष्ठ सं० ८२) से यह स्पष्ट है कि उसका पिता सिंहराज प्रायः पूर्णरूप से प्रतीहारों की अधिसत्ता से मुक्त हो

---

१. जातस्तस्माद् वैरिसिंहोऽन्यनाम्ना लोको ब्रूते वज्रटस्वामिनं यम्।
शत्रोर्व्वर्ग धारयोसेर्निहत्य श्रीमद्धारा शुचिता येन राज्ञा।। उदयपुर प्रशस्ति, श्लोक ११, एइ०, प्रथम, पृ० २३५।

२. डाहिनाइ०, प्रथम, पृ० ३९५।

३. देखिए, भण्डारकर, एइ०, जिल्द १९, परिशिष्ट सं० १४३।

४. डॉ० हेमचन्द्र राय ने भ्रमवश इस अभिलेख का समय वि० सं० १००३=९५७ ई० दे दिया (डाहिनाइ०, प्रथम, पृ० ५९५) है। किंतु इसी पुस्तक के दूसरे जिल्द (पृ० १०६७) में वह तिथि वि० सं० १०३० सही रूप से दी गयी है।

चुका था[१]। उस अभिलेख में (श्लोक १९) उसे **महाराजाधिराज** कहा गया है तथा यह दावा किया गया है कि **रघुकुलभूचक्रवर्ती** उसके द्वारा युद्ध में विजित और कारागार में डाले हुए राजाओं को मुक्त कराने के लिए उसके यहाँ स्वयं उपस्थित हुआ[२]। उसने जिन राजाओं को हराकर अपने जेलों में बन्द कर दिया था, वे सभी सम्भवतः प्रतीहारों के सामन्त रह चुके थे तथा उनमें तोमरराज सलवण मुख्य था। उन्हें मुक्त कराने के लिए उपस्थित होनेवाले **रघुकुलभूचक्रवर्ती** को डॉ० भण्डारकर ने (इऐ०, १९१३, पृ० ५७-६४) राजशेखर के ग्रन्थों के आधार पर कोई प्रतीहार राजा माना है[३]। असंभव नहीं है कि वह प्रतीहार राजा विजयपाल हो। यहाँ यह स्मरण रखने की बात है कि कन्नौज के प्रतीहारवंशी शासक नागावलोक अर्थात् द्वितीय नागभट्ट की सभा में सिंहराज का पूर्वज प्रथम गूवक एक वीर के रूप में यश प्राप्त कर चुका था[४]। सिंहराज के कुछ अन्य पूर्वजों ने भी प्रतीहारों के सामन्तरूप में उनके युद्धों में भाग लिया था[५]। चाहमानों की एक दूसरी शाखा के प्रतिनिधि लक्ष्मणराज ने वि० सं० १०२४=९६७ ई० में नाडोल का स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। गुहिल अथवा गुहिलोतों ने भी अपने को प्रतीहारों की अधिसत्ता से मुक्त कर लिया और अब उनके वैवाहिक सम्बन्ध प्रतीहारों के शत्रुओं (राष्ट्रकूटों) से होने लगे[६]। पीछे हम देख चुके हैं कि अल्लट ने देवपाल को मारा था। उसके पिता भर्तृपट्ट ने राष्ट्रकूट राजकुमारी महालक्ष्मी से विवाह किया, जो उसके वंश के राष्ट्रकूटों से नवविकसित सम्बन्धों का परिचायक है। देवपाल-राज्यपाल की शासनावधि के बीच में ही कभी (दसवीं शती के अन्त और ग्याहरवीं के प्रारम्भ में) पंजाब के वे भाग भी प्रतीहारों के हाथों से निकल गये, जो भोज के समय से अनवरत रूप में प्रतीहार प्रशासन

---

१. प्रथम वाक्पतिराज वह प्रथम चाहमान शासक था जिसने 'महाराज' का विरुद धारण किया और प्रतीहारों से संघर्ष प्रारम्भ कर दिया। ऐसा माना जाता है कि किसी प्रतीहार तन्त्रपाल (राज्यपाल) का आक्रमण उसने विफल किया था। देखिए, दशरथ शर्मा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १९२।

२. एइ०, जिल्द २, पृ० ११४ और आगे; इऐ०, १९१३, पृ० ५७-६४।

३. देखिए, एज ऑफ् इम्पीरियल् कन्नौज, पृ० १०७।

४. एइ०, जिल्द १९, परिशिष्ठ, पृ० १४, सं० ८२।

५ देखिए, पीछे, द्वितीय नागभट्ट प्रकरण; दि एज ऑफ् इम्पीरियल् कन्नौज, पृ० १०६।

६. देखिए, हेमचन्द्र राय, डाहिनाइ०, प्रथम, पृ० ५९५; त्रिपाठी, हिस्ट्री ऑफ् कन्नौज, पृ० २८०; पुरी, गुर्जर प्रतीहार्स्, पृ० १००-१०१; दि एज ऑफ् इम्पीरियल् कन्नौज, पृ० १०९।

के अधीन थे। काबुल के लल्लियशाही अथवा बहमनशाही वंश ने सुबुक्तगीन और महमूद गजनवी के नेतृत्त्व में तुर्कों द्वारा दबाये जाने पर दक्षिण-पूर्व की ओर सरककर सतलज की बायीं ओर पंजाब को अपनी सत्ता का केन्द्र बनाया। काबुल से हटने के बाद उन्होंने पहला मोर्चा तो उद्भाण्डपुर अथवा ओहिन्द में बनाया, किन्तु बाद में वे पंजाब में भटिण्डा से शासन करने लगे।[१] भटिण्डा उन्होंने प्रतीहारों से ही जीता होगा। इस प्रकार ११वीं शताब्दी के प्रारम्भ में प्रतीहारों का अधिकार गंगा-यमुना के दोआब में केवल कन्नौज के आसपास तक सीमित रह गया।

महमूद गजनवी का आक्रमण और प्रतीहारों का पतन

इसका कुछ पता नहीं है कि विजयपाल के पुत्र और उत्तराधिकारी राज्यपाल ने राजगद्दी किस वर्ष धारण की। उसके पुत्र त्रिलोचनपाल के वि० सं० १०८४=१०२७ ई० के इलाहाबाद जिले के झूसी नामक स्थान से प्राप्त होने वाले अभिलेख (इऐ०, जिल्द १८, पृ० ३४ और आगे) में उसे **परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर** कहा गया है। किन्तु इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि उसमें अपने पैतृक दायाद की रक्षा करने की कोई विशेष योग्यता थी। दुर्भाग्यवश वह एक ऐसे समय राजा हुआ था, जो भारतीय इतिहास में घोर विपत्ति का युग था। महमूद गजनवी के आक्रमणों की चुनौती साधारण नहीं थी; वह भी ऐसे समय जब उत्तरी भारत राजनीतिक अव्यवस्था का शिकार हो रहा था। प्रतीहार साम्राज्य की सशक्त दीवारें ढह चुकी थीं। किन्तु उनकी जगह पर कोई अन्य सैनिक-राजनीतिक प्राचीर स्थापित नहीं हो पाया था। जिस प्रतीहार साम्राज्य की जबरदस्त राजनीतिक और सैनिक शक्ति ने सारे उत्तरी भारत को एक सूत्र में बाँध रखा था तथा अत्यन्त सफलतापूर्वक अरबों के दबाव को रोका था, उसी का प्रतिनिधि राज्यपाल तुर्क आक्रमण की आँधी का एक झोंका भी नहीं रोक सका। फिरिश्ता[२] कहता है कि जब कुर्रम की घाटी में शाही राजा जयपाल और महमूद की सेनाओं की मुठभेड़ हुई[३], जयपाल की सहायता में पास पड़ोस के—विशेषतः दिल्ली, अजमेर, कालंजर और कन्नौज के राजाओं ने सेनाएँ और रुपये पैसे भेजे। उनकी सेनाएँ पंजाब में इकट्ठी हुईं और उनकी संख्या १ लाख तक पहुँच गयी। आगे वह कहता है कि जब १००८ ई० में महमूद ने जयपाल के पुत्र आनन्दपाल पर पंजाब में चढ़ाई की तो पुनः कन्नौज के

१. देखिए—ब्रिग्स्, राइज् ऑफ् दि महोमेडेन् पावर इन् इण्डिया) तारीखे-फिरिश्ता), जिल्द १, पृ० १५-१८।

२. वहीं, जिल्द १, पृ० १८; कैम्ब्रिज हिस्ट्री, जिल्द ३, पृ० १५-३६।

३. मु० नाजिम (लाइफ ऐण्ड टाइम्स् ऑफ् गजना, पृष्ठ २२९) ने उस युद्ध का समय ९८६-९८७ ई० माना है।

राजा ने उसकी सहायता में एक बड़ी भारी सेना भेजी और, उसके उदाहरण पर, उज्जैन, ग्वालियर, कालंजर, दिल्ली और अजमेर के राजाओं ने भी सेनाएँ भेजीं। कुछ विद्वानों[१] ने जयपाल और आनन्दपाल की सहायता करने वाले इस सन्दर्भ के कन्नौज के राजा को राज्यपाल माना है। किन्तु इस सम्बन्ध में निश्चयरूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। यदि कन्नौज के किसी राजा ने उपर्युक्त अवसरों पर मुसलमान आक्रमणकारियों के विरुद्ध सेनाएँ भेजीं ही तो वह विजयपाल अथवा राज्यपाल में एक अवश्य रहा होगा। किन्तु इन घटनाओं का उल्लेख करने वाला फिरिश्ता के पूर्व का कोई अन्य मुसलमान इतिहासकार महमूद के विरुद्ध इन हिन्दू सैनिक संघों की चर्चा नहीं करता। डॉ० हेमचन्द्र राय कहते हैं[२], कि '**तबकाते-अकबरी**' में इन राजाओं के नाम नहीं मिलते। किन्तु इससे भी महत्त्वपूर्ण तो यह है कि उत्बी का समकालिक 'सरकारी इतिहास'[३] भी इनमें से किसी राजा[४] का नामोल्लेख नहीं करता। यह बड़ा आश्चर्यजनक है कि यमीनी लोगों से इतना अभिन्न सम्बन्ध रखने वाले तथा अपने स्वामी के वंश के यशवृद्धिकारक सभी तथ्यों पर प्रकाश डालने के उद्देश्य से अपनी 'किताब' लिखने वाले उस (उत्बी) जैसे लेखक ने, यदि उन राजाओं ने सचमुच अपनी सेनाएँ भेजीं थीं तो, उनका नाम क्यों नहीं दिया।' विद्वान् लेखक के उपर्युक्त मत के अतिरिक्त इस बात की ओर ध्यान दिलाया जा सकता है कि फिरिश्ता के कथनों पर इसलिए भी सन्देह होता है कि वह जिन नगरों अथवा राजधानियों का नाम लेता है, उनमें से कुछ में तो किसी राज्य की राजधानी थी ही नहीं। उदाहरणस्वरूप, ११वीं शती के प्रारम्भ में दिल्ली अभी एक नवोदित कस्बा था, जहाँ तोमर सामन्तों के रूप में शासन करते थे और राजनीतिक तथा सैनिक दृष्टि से नगण्य थे। अजमेर को अजयपाल (११वीं शती के अन्त और १२वीं शती के प्रारम्भ) ने सबसे पहले बसाया[५]। उसके पूर्व न तो चाहमानों ने उसे अपनी राजधानी बनायी थी और न वहाँ से किसी राजवंश के शासन करने का ज्ञान प्राप्त है। ग्वालियर में कोई

---

१. त्रिपाठी, हिस्ट्री ऑफ् कन्नौज, पृ० २८२; पुरी, गुर्जरप्रतीहार्स्, पृ० ९९–१००। स्मिथ (जराएसो०, १९०९, पृ० २७७) का विश्वास था कि वह राज्यपाल अथवा उसका पिता विजयपाल भी हो सकता था।

२. डाहिनाइ०, प्रथम, पृ० ५९७।

३. मार्गोलियथ्, अरेबिक् हिस्टारियन्स्, कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९३०; पृ० १४।

४. महमूद के एक सौ वर्षों के भीतर ही लिखे गये इब्नुल्–अतहर के अल्–तारीके–उल्कामिल् में भी इन राजाओं के नाम नहीं दिये गये हैं।

५. पृथ्वीराजविजय, पञ्चम, १८४; जराएसो०, १९१३, पृ० २७२–२७३; इऐ०, १८९७, पृ० १६२–६४।

स्वतंत्र राज्य नहीं था। वह या तो कालंजराधिपति चन्देलों (धंग और गण्ड) के अधिकार में था[१] अथवा उनके सामन्त कछवाहे उस पर अधिकृत थे। जो भी हो, इतना स्पष्ट है कि राज्यपाल ने इन दोनों अवसरों में किसी में भी महमूद के विरुद्ध युद्ध में भाग नहीं लिया था। फिरिश्ता भी केवल इतना ही कहता है कि कन्नौजराज ने धन और सेना मात्र से शाही राजाओं की सहायता की थी। किन्तु महमूद की तलवार का सामना करने की जब राज्यपाल की अपनी बारी आयी तो वह बिना उसका मुकाबला किये ही भाग खड़ा हुआ। परिणामस्वरूप १०१८-१०१९ ई० में कन्नौज पर होने वाले तुर्क आक्रमण की आँधी में प्रतीहार राज्य का जीर्णशीर्ण रूप भी धूल की तरह उड़ गया। २ दिसम्बर १०१८ ई० को ३० हजार सैनिकों के साथ यमुना नदी पारकर महमूद बरन (बुलन्दशहर) के किले पर चढ़ गया, जहाँ के राजा हरदत्त ने आतंकित होकर उसकी अधीनता तो मान ही ली, स्वयं भी मुसलमान बन गया। किन्तु महावन (मथुरा जिले) का कुलचन्द्र भागने वाला नहीं था और लड़ते-लड़ते जब उसने अपनी सफलता और मर्यादा रक्षा की आशा छोड़ दी तो स्वयं अपनी ही कृपाण से अपना और अपनी स्त्री का प्राणान्त कर डाला। महमूद मथुरा के मन्दिरों को लूटता और तोड़ता कन्नौज पर २० दिसम्बर १०१८ ई० को जा टूटा[२]। किन्तु राय जयपाल अथवा राजापाल (राज्यपाल) भयभीत होकर[३] गंगा के पार उसके पूर्वी किनारे पर स्थित बारी भाग गया और तुर्कों को कन्नौज नगर की खुली लूट, महलों और मन्दिरों के विनाश तथा रक्षकविहीन नागरिकों की हत्या अथवा बलात् धर्मपरिवर्तन कराने का अप्रतिरुद्ध मौका मिल गया। राज्यपाल के इस पलायन के परिप्रेक्ष्य में क्या फिरिश्ता के इस कथन[४] पर विश्वास किया जा सकता है[५] कि सचमुच उसने ९८६ ई० तथा १००८ ई० के युद्धों में जयपाल और आनन्दपाल की सहायता में सेना और धन भेजकर तुर्कों को अपनी राज्यसीमा के बाहर ही रोकने का

---

१. देखिए, पीछे पृ० १७४।

२. महमूद के इन आक्रमणों से सम्बद्ध सारे उल्लेखों के लिए देखिए—इलियट् और डाउसन्, पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द २, पृ० ४५८-४६३।

३. अलबीरूनी (सखाऊ, जिल्द १, पृ० १९९) के अनुसार कन्नौज को एकदम छोड़कर राज्यपाल बारी में रहने लगा था, जो कन्नौज से ३-४ दिन की यात्रा वाली दूरी पर गंगा नदी के पूर्वी किनारे पर स्थित था।

४. ब्रिग्स्, पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द १, पृ० ४६।

५. महमूद के विरुद्ध किसी हिन्दू सैनिक संघ की चर्चा महमूद गजनवी का समकालिक उत्बी न तो अपने तारीखे-यामिनी में करता है और न इब्नुल-अतहर अपने कामिल्-उत्तवारीख में ही कहीं वैसा उल्लेख करता है।

प्रयत्न किया था अथवा १००८ ई० में आनन्दपाल की सहायता करने में उज्जैन, ग्वालियर, कालंजर, दिल्ली और अजमेर के राजाओं ने उसी (राज्यपाल) के उदाहरण का अनुसरण किया था ? यदि वह सचमुच एक दूरदर्शी और देश की सामूहिक रक्षा की दृष्टि से काम करने वाला राजपूत राजा था तो असली कसौटी के समय भयाक्रान्त होकर भाग क्यों गया, यह समझ में नहीं आता । वास्तविकता यह है कि उसमें अपना नाम (राज्यपाल=राज्य की रक्षा करने वाला) सार्थक करने की कोई योग्यता नहीं थी और अवसर आने पर वह पूर्णतः कायर सिद्ध हुआ ।

किन्तु राज्यपाल की तुर्कों से पराङ्मुखता उसे बचा न सकी । मुसलमानी इतिहासकार कुछ शिकायती स्वर में यह बताते हैं कि उसकी कायरता से अप्रसन्न होकर चन्देलराज विदा[१] (विद्याधर) ने उस पर चढ़ाई के लिए सेना भेज दी । कछवाहा शासक विक्रमसिंह के वि० सं० ११६५ के दूबकुण्ड अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि उसके प्रपितामाह 'अर्जुन ने विद्याधरदेव के कार्य में निरत होकर अपने बाणों की बौछार से राज्यपाल के गले की हड्डियों को छेद दिया और उसे घोर युद्ध में मार डाला[२] ।' महोबा से प्राप्त होने वाले एक अन्य अभिलेख (एइ०, प्रथम, पृ० २१९) में भी यह कहा गया है कि विद्याधर ने 'कान्यकुब्जभूपाल का भंग किया'[३] अर्थात् उसे मार डाला । यह निश्चय कर सकना कठिन है कि विद्याधर का यह कार्य राज्यपाल की कायरता को बहाना बनाकर प्रतीहारों की रही-सही सत्ता और नाम समाप्तकर अपनी एकछत्र प्रभुता स्थापित करने के उद्देश्य से प्रेरित था अथवा सचमुच देशप्रेम की भावना को ठेस लगानेवाले तथा राजपूती शौर्य और मर्यादा के विपरीत किये गये राज्यपाल के कायरतापूर्ण आचरण के प्रायश्चित और दण्डस्वरूप था[४] । यदि दूसरा विकल्प जरा भी सही होता तो वह महमूद

---

१. ब्रिग्स् जिल्द १, पृ० ४६; इलियट् और डाउसन्, पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द २, पृ० ४६३-४६४ । कुछ मुसलमानी इतिहासकार विदा=विद्याधर की निन्दा भी करते हैं ।

२. श्रीविद्याधरदेवकार्यनिरतः श्री राज्यपालं हठात्,
कण्ठास्थिच्छीदनेकबाणनिवहैर्हत्वा महत्याहवे । एइ०, जिल्द २, पृ० २३३ ।

३. 'विहितकान्यकुब्जभूपालभंगम् ।'

४. स्मिथ जैसे कुछ विद्वान् दूसरा विकल्प ही स्वीकार करते हैं । देखिए, जराएसो०, १९०९, पृ० १७८; त्रिपाठी, हिस्ट्री ऑफ् कन्नौज, पृ० २८५-२८६ । इस विश्वास का मूल आधार इब्नुल्-अतहर द्वारा रचित कामिल्-उत्तवारीख का यह कथन है कि 'भारत में सीमा की दृष्टि से सबसे बड़े राज्य और सर्वाधिक सेनाओं वाले तथा खजुरह (खजुराहो) से शासन करनेवाले बिदा (विद्याधर) ने राज्यपाल के पास उसके भाग जाने एवं अपने क्षेत्रों को मुसलमानों के लिए छोड़ देन के विरुद्ध

के आक्रमण के समय राज्यपाल की सैनिक सहायता किये होता, न कि चुपचाप कन्नौज का विनाश होते देखता। लगता यह है कि हर तरह से विपन्न राज्यपाल को समाप्तकर चन्देलों ने प्रतीहारों की पुरानी प्रतिष्ठा हथियाने का यह अपूर्व अवसर खोना उचित नहीं समझा और उनपर आक्रमण कर दिया। राज्यपाल के बाद उसके पुत्र त्रिलोचनपाल को विद्याधर ने कदाचित् अपने करद के रूप में स्थापित किया। दूसरे ही वर्ष (१०१९-१०२० ई०) जब महमूद ने पुनः धावा बोला तो चन्देल उसकी रक्षा नहीं कर सके। महमूद कन्नौज नगर लूटकर लौट गया, लेकिन राज्यपाल अथवा त्रिलोचनपाल उसपर अधिकार नहीं कर सका और तुर्कों के प्रतीहारों के विरुद्ध दुबारा चढ़ जाने के समय त्रिलोचनपाल बारी (गंगा के पार पूर्व में कन्नौज से ३-४ दिन की यात्रा से प्राप्य एक नगण्य स्थान) में ही था।[१] निजामुद्दीन के कथनानुसार हिजरी सन् ४१०=१०१९[२]-१०२० ई० में महमूद के आक्रमण का कारण यह था कि नन्दा (विद्याधर) ने राज्यपाल को मार डाला था और महमूद अत्यन्त क्रुद्ध होकर विद्याधर को दण्डित करने के लिए चढ़ आया। महमूद को यह भी भय था कि विद्याधर कहीं उसके विजित भारतीय प्रदेशों पर आक्रमण न कर दे। इस सम्भावना को समाप्तकर देने की दृष्टि से ही आक्रमणकारी नरोजयपाल अथवा तरोजयपाल अर्थात् त्रिलोचनपाल[३] के विरुद्ध रामगंगा नदी पारकर चुपके से चढ़ आये। आगे उनके अचानक बारी पर आ जाने पर हिन्दू खेमे में अस्तव्यस्तता फैल गयी। तथापि त्रिलोचनपाल दिनभर लड़ता रहा। किन्तु अन्त में बारी

डाँट बताने के लिए दूत भेजे। परिणामस्वरूप दोनों में युद्ध छिड़ गये। 'जिसमें राज्यपाल की मृत्यु हुई और उसके प्रायः सभी सैनिक मार डाले गये।' अल् तारीख- उल्-कामिल् ऑफ् इब्न-उल् अथीर, बुलक, १८७५, जिल्द ९, पृ० ११५-११६।

१. इलियट् और डायसन्, पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द १, पृ० ५४; जिल्द २, पृ० ४६३-४६४; सखाऊ, जिल्द १, पृ० १९९।

२. वास्तव में यह आक्रमण हिजरी सन् ४१०=१०१९ ई० में हुआ था।

३. डॉ० हेमचन्द्र राय बरुजयपाल, तरुजयपाल अथवा तरुजयबाल को त्रिलोचनपाल नहीं स्वीकार करते। अपितु उनके मत में कन्नौजराज राज्यपाल और त्रिलोचनपाल के बीच में वह अन्य कोई राजा या राजकुमार था। देखिए—डाहिनाइ०, प्रथम, पृ० ६०७-६०८। किन्तु रामगंगा के किनारे महमूद से भिड़नेवाले तरुजयपाल अथवा नरोजयपाल की पहचान अन्य इतिहासकार प्रायः शाही राजा आनन्दपाल के पुत्र त्रिलोचनपाल से करते हैं। इस सम्बन्ध में आगे देखिए, चौदहवें अध्याय का 'महमूद का चन्देलों पर आक्रमण' वाला प्रकरण।

पर आक्रमणकारियों ने अधिकार कर लिया । चन्देल शासक इस स्थिति के मुकाबले के लिए आगे तो बढ़ा, किन्तु ठीक मौके पर 'अपने सारे साज सामानों को छोड़कर केवल थोड़े से नौकरों के साथ' युद्धस्थल से भाग गया ।[१]

महमूद के आक्रमणों ने कन्नौज के प्रतीहार राज्य को समाप्त कर दिया । किन्तु उसके बाद भी त्रिलोचनपाल और यशःपाल नामक उसके दो नामलेवा हमें ज्ञात होते हैं ।[२] प्रयाग के पास झूसी से प्राप्त वि० सं० १०८४=१०२७ ई० के अभिलेख के **परमभट्टारक महाराजाधिराज** विजयपालदेव के **पादानुध्यात् परमभट्टारकमहाराजाधिराज** श्री राज्यपालदेव के **पादानुध्यात् परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर** त्रिलोचनपालदेव[३] का कोई राजनीतिक महत्त्व न था । इस अभिलेख से स्पष्ट है कि महमूद से १०१९ ई० में हारने के बाद भी कम से कम आठ वर्षों तक वह जीवित रहा किन्तु उसकी राजधानी कन्नौज न होकर गंगा के पूर्व में बारी हो गयी थी, जो अलबीरूनी से ज्ञात होता है[४] । प्रयाग के आसपास के क्षेत्र भी उसके अधिकार में थे, यह ऊपर के अभिलेख से स्पष्ट है । वि० सं० १०९३=१०३६ ई० का एक अन्य अभिलेख प्रयाग के पास ही स्थित कुर्रा अथवा कड़ा (संस्कृत का कट) के किले से मिला है जो **महाराजाधिराज** यशःपाल नामक राजा द्वारा कौशाम्बीमण्डल के पयलासग्राम के दान का उल्लेख करता है । नामान्त से प्रतीत होता है कि यह यशःपाल त्रिलोचनपाल का ही कोई उत्तराधिकारी था । लेकिन इस सम्बन्ध में कुछ भी अन्तिम रूप से निर्णय करने का कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं है ।

गुर्जर प्रतीहार सत्ता का मूल्यांकन

गुर्जर प्रतीहारों का भारतीय इतिहास में जो महत्त्व है उसका सही अंकन बहुत दिनों तक प्रायः नहीं के बराबर था । किंतु अब स्थिति कुछ परिवर्तित है तथा इतिहासकारों द्वारा उसका सही मूल्यांकन होने लगा है । नागभट्ट के धर्मपाल को मात देकर कन्नौज पर ९वीं शती के प्रारम्भ में अधिकार कर लेने के समय से १०वीं शती के मध्य तक के लगभग १५० वर्षों तक के बीच, पालों और राष्ट्रकूटों की गहरी प्रतिद्वन्द्विता के

---

१. इलियट् और डाउसन्, पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द २, पृ० ४६४ । किन्तु किताब-जैनउल्अखबार के अनुसार (इऐ० जिल्द १८, पृष्ठ ३३-५) त्रिलोचनपाल बिना लड़े ही भाग गया ।

२. इस सम्बन्ध में हमें केवल मुसलमानी इतिहासकारों के ही साक्ष्य प्राप्त हैं । उनके लिये देखिए, हेमचन्द्र राय, डानिइ० जिल्द १, ६०४-६०८ ।

३. इऐ०, जिल्द १८, पृ० ३३-३४ ।

४. सखाऊ अल्बीरूनीं'ज् इण्डिया, पृष्ठ १९९ ।

ओर उसी के क्षेत्रों को हड़पता जा रहा था। विद्वानों के मत[१] में धंग की यह स्थिति ठीक वैसी ही थी, जैसी १८वीं-१९वीं शती के गिरते-ढहते मुगल साम्राज्य की नाममात्र की सत्ता स्वीकार करने वाले, किन्तु वास्तव में पूर्ण स्वतंत्र, नवाबों, वजीरों अथवा निजामों की थी। किन्तु धंग जैसे एक विजेता और शक्तिशाली शासक के लिए वास्तविकता को एक नाममात्र के आवरण से बहुत दिनों तक ढके रखना आवश्यक न था। अवसर आते ही उसने सीधे प्रतीहार सत्ता पर प्रहार किया। मदनवर्मा के मऊ प्रस्तर अभिलेख[२] के साक्ष्य के अनुसार, उसने 'सभी राजाओं का दमन करने वाले कान्यकुब्जनरेन्द्र को युद्ध में हराकर साम्राज्यश्री ग्रहण कर ली'। कान्यकुब्ज के शासक पर धंग का वह आक्रमण ९५४ ई० के बाद ही कभी हुआ होगा, जिसका इस बात से अनुमान लगाया जा सकता है कि उसके बाद के किसी भी चन्देल अभिलेख में प्रतीहारों की अधिसत्तात्मक सत्ता को स्वीकृति नहीं दी गयी है। जो कछवाहे (कच्छपघात) अब तक प्रतीहारों के सामन्त थे, वे भी अब चन्देलों की ओर से उन पर आक्रमण करने लगे। महीपाल के सासबहू अभिलेख (इऐ०, जिल्द १५, पृ० ३३ और आगे) में वज्रदामन् कछवाहा को 'गाधिनगर के शासक की उद्दाम वीरता का अन्तक और गोपगिरि (ग्वालियर) के दुर्ग पर विजय-दुन्दुभी बजाने वाला' कहा गया है। ग्वालियर से प्राप्त एक खण्डित मूर्ति अभिलेख (जराएसो०, बेंगाल, जिल्द ३१, पृ० ३९३) से वज्रदामन् की एक तिथि वि० सं० १०३४=९७७ ई० ज्ञात होती है। यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि उसने ग्वालियर की विजय धंग की ओर से की थी[३], तो यह मानना होगा कि चन्देलों का प्रतीहारों की साम्राज्य सत्ता को समाप्त करने वाला निर्णायक आक्रमण ९७७ ई० के पूर्व ही कभी हो चुका था। इस बात का भी प्रमाण है कि अपने शासनकाल का अन्त होते-होते धंग ने वाराणसी तक के प्रदेशों को प्रतीहारों से छीन लिया। वि० सं० १०५५=९९८ ई० के एक ताम्रपत्राभिलेख से ज्ञात होता है[४] कि उसने उषारवाह में स्थित युल्ली नामक गाँव का दान काशिका अर्थात् काशी में भट्ट यशोधर नामक ब्राह्मण को दिया।

---

१. मजुमदार, जडिले०, जिल्द १०, पृ० ६८-६९; त्रिपाठी, हिस्ट्री ऑफ् कन्नौज, पृ० २७४।

२. एइ०, जिल्द १, पृ० १९७, श्लोक ३ में वर्णित है—
यः कान्यकुब्जं नरेन्द्रं समरभुवि विजित्य प्राप्य साम्राज्यमुच्चैः।

३. धंग और वज्रदामन् के आपसी राजनीतिक सम्बन्धों के लिए देखिए, शिशिरकुमार मैत्र, इहिक्वा, जिल्द २९, पृष्ठ ८८-९३।

४. इऐ०, जिल्द १६, पृ० २०३, २०६।

लेखकों की प्रशंसा से बढ़कर प्रतीहारों की और कोई प्रशंसा नहीं हो सकती। अरब सुल्तान मुल्तान और मन्सूर तक सीमित रहने को बाध्य हो गये[१] और अपने को बचाने के लिए उन्हें 'अल्–महफूज' (शत्रु के आक्रमण और भय से मुक्त) नामक नगर बसाना पड़ा[२]। 'एल्फिंस्टन के समय से ही भारत के कुछ योरोपीय इतिहासकार[३] इस बात पर आश्चर्य प्रकट करते रहे हैं कि क्या कारण है कि जिन मुसलमानों ने अपने आक्रमणों के प्रथम आवेग में ही प्राय: सम्पूर्ण मध्य और पश्चिमी एशिया, उत्तरी अफ्रीका और दक्षिणी योरोप को भयाक्रान्त कर डाला तथा उन सभी भूखण्डों की अधिकांश जनता को इस्लाम मानने को विवश कर दिया, वे ही ८ वीं शती के प्रारम्भ में भारत के सिन्ध और मुल्तान में स्थापित हो जाने पर भी उससे आगे बढ़ने में लगभग ३०० वर्षों तक कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं प्राप्त कर सके ? इस गुत्थी के समाधान में गुर्जर प्रतीहारों के विशाल, शक्तिशाली और सुशासित साम्राज्य की उस जागरूकता का हवाला दिया जा सकता है, जिसके नेतृत्त्व में राजपूताना और गुजरात की अनेक छोटी–छोटी सत्ताएँ भी अरबों की चुनौतियाँ स्वीकार करने में पीछे नहीं रहीं[४]। प्रतीहारों ने सच्चे अर्थों में देश की सुरक्षा और मान–मर्यादा की रक्षा में प्रतीहार (ड्योढ़ीदार अथवा रक्षक) के कर्तव्यों का अक्षरश: पालन किया। उन्होंने आठवीं शताब्दी के प्रथम चरण से ही अरबों का मुकाबला प्रारम्भ कर दिया था। भोज का ग्वालियर अभिलेख इस बात का दावा करता है कि म्लेच्छ (मुसलमान) आक्रमणकारियों से देश की स्वतंत्रता और संस्कृति की रक्षा करने में प्रथम नागभट्ट, द्वितीय नागभट्ट और मिहिरभोज भगवान् नारायण, विष्णु पुरुषोत्तम और आदिवराह की तरह मानों अवतारी पुरुष हुए[५]। यही नहीं, प्रतीहारों के चरमोत्कर्ष के समय कन्नौज भारतीय संस्कृति और सभ्यता का केन्द्र हो

---

१. क० मा० मुँशी, दि० एज् ऑफ् इम्पीरियल् कन्नौज, पृ० द्वादस।

२. अल्विलादुरी कहता है कि अल्–हकीम–इब्न्–अवान्ह के साथ 'कसह' (काश ?) के लोगों को छोड़कर सारे अल् हिन्द के लोग धर्म परिवर्तन स्वीकार करते थे। मुसलमानों के सामने ऐसा कोई स्थान न था, जहाँ वे शरण ले सकें। अत: उसने हिन्द की सीमा पर स्थित झील (समुद्र) के किनारे अल्–महफूज (शत्रुओं के आक्रमण से मुक्त) नगर बसाया, जहाँ वे अपनी रक्षा के लिए बसे तथा उसे अपनी राजधानी बनाया।' क० मा० मुँशी द्वारा उद्धृत, वहीं, पृ० १२वाँ।

३. देखिए, कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, जिल्द ३, पृष्ठ १०।

४. दशरथ शर्मा, अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, भूमिका के प्रथम और द्वितीय पृष्ठ।

५. पीछे देखिए, प्रथम, नागभट्ट और प्रथम भोज के प्रकरण, ग्वालियर अभिलेख; श्लोक ४ और आगे; दशरथ शर्मा, इहिक्वा, १९५८।

गया[१], जहाँ देश के सभी भागों से विद्वान् और कलाकार जुटने लगे और अन्य भारतीय प्रदेशों के स्त्री-पुरुष अपने ओढ़ावे-पहरावे, बोलचाल एवं रीति-रिवाज में वहाँ के लोगों की नकल करने लगे। राज्यपाल के समय प्रतीहारों की घोर अवनति के होते हुए भी कन्नौज की अपनी निराली शान थी। 'उस नगर का सिर आसमान छूता था' तथा 'शक्ति और सौंदर्य में कन्नौज इस बात का अभिमान कर सकता था कि उसकी प्रतिद्वन्द्विता करने वाला कोई दूसरा नगर नहीं था[२]।' प्रतीहार साम्राज्य की छाया में ही पल्लवित मथुरा नगर अपने भव्य मंदिरों की विशालता, कारीगरी और सौन्दर्य से महमूद गजनवी जैसे कट्टर मूर्तिभंजक और मंदिरतोड़क को भी आकृष्ट किये बिना न रहा। महमूद के ही शब्दों[३] में 'मथुरा नगर के बीच में स्थित' बड़े मंदिरों की तुलना के अन्य वास्तु यदि कोई निर्मित कराना चाहता तो उसे काम पर सर्वाधिक अनुभवी कारीगरों को लगाने पर भी एक लाख सोने की दीनारें खर्च करनी होतीं तथा दो सौ वर्ष लगाने होते।' प्रतीहार साम्राज्य के वैभव और आर्थिक सम्पन्नता का इससे बढ़कर कोई अन्य साक्ष्य नहीं हो सकता। वह सम्पन्नता उनकी राजनीतिक और सैनिक शक्ति एवं प्रशासनिक 'धरणिबन्ध' का ही परिणाम थी। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए उन विद्वानों का यह मत स्वीकार नहीं किया जा सकता कि हर्ष प्राचीन भारत का अन्तिम सम्राट् था। यह गौरव वस्तुतः गुर्जर प्रतीहारों को ही दिया जाना चाहिए, जिनके बाद का हिन्दू भारत आपस में लड़ने वाले राज्यों में विभक्त हो गया। उन विभिन्न राज्यों में समय-समय से कई शक्तिशाली विजेता तो अवश्य हुए, किन्तु उनमें से कोई भी ऐसी परम्परा नहीं छोड़ गया जो प्रतीहार साम्राज्य के उत्कर्ष के समय की निजी विशेषता थी।

❁❁❁

१. एइ०, जिल्द १८, पृ० १०२, १०७।

२. ब्रिग्स्, पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द १, पृ० ५७।

३. मु० हबीब द्वारा उद्धृत, सुल्तान महमूद ऑफ् गजनीन्, पृष्ठ ३८।

६

कश्मीर के राजवंश

ज्ञानस्रोत : राजतरंगिणी

भारत के अन्य भागों की अपेक्षा कश्मीर का इतिहास अधिक अच्छे, क्रमबद्ध और व्यवस्थित रूप में मिलता है । इसका सारा श्रेय कल्हण की **राजतरंगिणी** को है, जिसे उसने ११४८-४९ ई० में लिखकर तैयार किया। यह ग्रन्थ, **हर्षचरित** अथवा **विक्रमांकदेवचरित** जैसे अन्य भारतीय ऐतिहासिक काव्यों अथवा प्रशस्तियों की तुलना में एक आश्चर्यजनक रूप में आधुनिक इतिहास लेखन की पद्धति का पूर्वरूप प्रस्तुत करता है[१] । इस बात पर यहाँ विचार करने का स्थान नहीं है कि कश्मीरियों में इतिहास लेखन की कुशलता का विकास बौद्धधर्म के प्रभाव, विदेशी लोगों से निकटता अथवा मुसलमानी (अरबी) प्रभाव आदि के कारण हुआ अथवा उसके अन्य कारण थे । लेकिन विषय की पूर्णता, सत्य को जानने का प्रयत्न, स्रोतों की छानबीन[२] और ऐतिहासिक वस्तुपरकता का जो उदाहरण कल्हण प्रस्तुत करता है, वह अत्यन्त प्रशंसनीय है । यह नहीं कहा जा सकता है कि वह अपने समय के प्रभावों और विश्वासों, यथा—कट्टर हिन्दू धर्म में विश्वास, कर्मफल की अनिवार्यता, नियति की निश्चितता, राजा के पाप-पुण्यों का प्रजा के पाप-पुण्यों से सम्बन्ध, जादू टोने में विश्वास और परम्पराओं तथा प्रथाओं में श्रद्धा आदि—से मुक्त था । किन्तु यह स्पष्ट है कि विभिन्न शासकों के

---

१. राजतंरगिणी के ऐतिहासिक महत्त्व के विवेचन के लिए देखिए—स्टाइन का अंग्रेजी अनुवाद, जिल्द १ की भूमिका, पृ० ११ से ३२; हिस्टॉरियन्स् ऑफ् इण्डिया, पाकिस्तान, ऐण्ड सीलोन (सम्पादक, फिलिप्स्), पृ० ७५-७६; उपेन्द्रनाथ घोषाल, स्टडीज इन् इण्डियन् हिस्ट्री ऐण्ड कल्चर, पृ० १४६-२४१; रणजीतशरण पण्डित के अंग्रेजी अनुवाद, 'दि सागा ऑफ् कश्मीर आर दि रिवर ऑफ् किंग्स,' की भूमिका; पृथ्वीनाथ कौल बमजाई, हिस्ट्री ऑफ् कश्मीर पृष्ठ ३२-३५ ।

२. देखिए, राजतरंगिणी, प्रथम, ९-१६ । कल्हण प्रथम सर्ग के प्रास्ताविक श्लोकों में कम से कम ११ राजकीय वंशवृत्तों और नीलमत (पुराण) का उद्धरण देता है ।

वर्णन में वह न्याय-अन्याय तथा सही और गलत के बारे में अपना निश्चित मत व्यक्त करता है। उसमें यदि स्थानीय अथवा क्षेत्रीय देशभक्ति के भाव दिखायी देते हैं तो उसे अस्वाभाविक नहीं माना जा सकता और उसका तथ्यातथ्य पर कोई गलत प्रभाव पड़ता नहीं दिखायी देता। तत्त्वत: कल्हण एक कवि था और राजतरंगिणी अर्थात् राजाओं की सरिता को उसने कवित्त्व के कलकल से सन्निविष्ट किया।

कल्हण जात्या ब्राह्मण था। उसका पिता चम्पक कदाचित् कश्मीर के राजा हर्ष (११वीं शती के अन्त) का मंत्री रह चुका था और ११३४ ई० तक जीवित[१] था। इसका कोई प्रमाण नहीं है कि कल्हण स्वयं राज्य के किसी अधिकारी पद पर था या नहीं। उसने जयसिंह के समय में जब **राजतरंगिणी** पूरी की, उस समय कश्मीर गृहकलह और अशान्ति का शिकार हो रहा था।

राजतरंगिणी में कुल आठ तरंग हैं और आठ हजार श्लोक हैं। प्रथम तीन तरंगों में अत्यन्त प्राचीनकाल का कश्मीर का परम्परागत इतिहास है। उसके स्रोत भी आनुश्रुतिक ही हैं, जिन्हें विशेष छानबीन किये बिना ही वह मान लेता है। चौथे से छठे तरंगों में कार्कोट और उत्पल वंशों का इतिहास हैं, जिसमें वह पूर्ववर्ती और उन राजवंशों के समय लिखे हुए ग्रन्थों का उपयोग करता है। सातवें और आठवें तरंगों में लोहरवंशों का इतिहास अंकित है, जिसके बारे में कुछ सुनी हुई बातों, समकालिक लोगों के साक्ष्य और व्यक्तिगत ज्ञान का वह उपयोग करता है। इस प्रकार कल्हण के वृत्तों में **राज-तरंगिणी** के प्रथम तीन तरंगों की अपेक्षा अन्तिम पाँच तरंग अधिक प्रामाणिक और विश्वसनीय हैं, जिसके फलस्वरूप हम सातवीं से १२वीं शती तक का कश्मीरी इतिहास अपेक्षाकृत अधिक सही और पूर्णरूप में पाते हैं। **राजतरंगिणी** से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कल्हण की पुरातत्त्वों की जानकारी में विशेष रुचि थी और उसने सिक्कों के साक्ष्य का पूरी तरह उपयोग किया। वर्ण्य-विषयों में वह अपने को राजनीतिक इतिहास तक ही सीमित नहीं रखता, अपितु राजदरबार के वर्णनों, राजवंशों के विशेष ब्यौरों, कलह तथा षडयन्त्रों और प्रशासन के गुणावगुणों तथा अन्य विशेष बातों को भी व्यक्त करता है। राजा-रानियों के भले-बुरे सभी कार्य उसे आकृष्ट करते हैं तथा सैन्य व्यवस्था की बारीकियों से वह हमें परिचित कराता है। कल्हण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह ऐतिहासिक युग की घटनाओं का तैथिक क्रम अत्यन्त परिश्रमपूर्वक देता है और इतने

---

१. देखिए—स्टाइनकृत राजतरंगिणी का अंग्रेजी अनुवाद, भूमिका, पृ० १-४; पृथ्वीनाथ कौल बमजाई, हिस्ट्री ऑफ् कश्मीर, पृष्ठ ३४।

दिनों बाद भी उसके द्वारा निश्चित तिथियों में साधारणतया २५-३० वर्षों से अधिक का अन्तर नहीं पाया गया है।[१]

कल्हण की परम्परा आगे भी चलती रही। जोनराज ने मुसलमानी सुलतान जैनुल आबदीन (१४२०-१४७० ई०) के समय तक कल्हण की **राजतरंगिणी** को आगे बढ़ाया तथा प्रथम **राजतरंगिणी** के इतिहास में लगभग ३०० वर्षों का इतिहास और जोड़ा। उसके बाद भी उसके शिष्यों ने वह परम्परा जारी रखी। परन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ की सीमा के बाहर होने के कारण **राजतंरगिणी** की अग्रिम परम्परा की चर्चा यहाँ नहीं की जायगी।

कार्कोटवंश

कार्कोटवंश के शासक अपने को नागकुल से जोड़ते थे। इस वंश का सर्वप्रथम शासक दुर्लभवर्धन था, जिसे चीनी वृत्तों में तु-लो-प कहा गया है। ६२७ से ६४९ ई० तक उसका समय माना गया है[२]। चीनी वृत्तों के अनुसार वह चीन से कि-पिन् (काबुल) तक के रास्ते का नियन्त्रण करता था। श्वान्-च्वांग् उसी के समय में कश्मीर गया था। वह उसकी भीतरी राजनीतिक अवस्था का कोई विवरण तो नहीं देता, किन्तु इतना अवश्य बताता है कि सिन्धु के पूर्व का तक्षशिला प्रदेश, उरशा (हजारा अथवा अबोटाबाद), सिंहपुर, पूँछ तथा राजापुर (राजोरी) कश्मीर के अधीन थे। दुर्लभवर्धन का पुत्र और उत्तराधिकारी प्रतापादित्य (द्वितीय) अथवा दुर्लभक हुआ, जिसके अनेक सिक्के प्राप्त हुए हैं। उनपर उसे **श्रीप्रताप** कहा गया है[३]। उसने प्रतापपुर नामक नगर बसाया। उसे नरेन्द्रप्रभा से तीन पुत्र उत्पन्न हुए—चन्द्रापीड **वज्रादित्य**, तारापीड **उदयादित्य** और मुक्तापीड **ललितादित्य**[४] जो उसके पचास वर्षों के शासन के बाद क्रमशः कश्मीर के राजा हुए।

चन्द्रापीड

चन्द्रापीड के शासनकाल की केवल एक ही विशेष बात ज्ञात होती है कि उसने

---

१. देखिए स्टाइनकृत राजतरंगिणी का अंग्रेजी अनुवाद, भूमिका पृ० ६६-७०।

२. कल्हण उसका शासनकाल ३६ वर्षों का मानता है। देखिए स्टाइन, पूर्वनिर्दिष्ट, भूमिका, पृ० ८७; बमजाई (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १०८) ने उसका समय ६३५-६६१ ई० माना है।

३. कनिंधम्, क्वायंस् ऑफ् मेडिवल् इण्डिया, पृ० ४३। इन सिक्कों को स्टाइन महोदय (राजतरंगिणी का अंग्रेजी अनुवाद, चतुर्थ, ८ की टिप्पणी) दुर्लभवर्धन का ही मानते हैं।

४. राजतंरगिणी, चतुर्थ, ४२ और आगे।

अरबों तथा तिब्बितियों[1] के विरुद्ध सहायता के लिए ७१३ ई० में चीन के शासक के पास एक दूत भेजा' । वह बड़ा ही न्यायप्रिय शासक था । कल्हण हमें बताता है कि किस प्रकार उसने स्वयं एक चर्मकार के घर जाकर त्रिभुवनस्वामी का एक मन्दिर बनवाने के लिए उसकी कुटिया माँगी[2] । कहानी यह है कि जब उसके मन्त्रियों ने उस चर्मकार के घर के पास मंदिर बनवाने की योजना चालू की तो राजा ने उन्हीं को दोषी ठहराते हुए मंदिर कहीं और बनवाने की आज्ञा दी । लेकिन चर्मकार ने स्वयं राजा के पास उपस्थित होकर यह कहा कि वह भी उसी प्रकार का मनुष्य है जैसा राजा तथा उसकी कुटिया उसके लिए वैसी ही है, जैसे राजा के लिए उसका महल । तथापि यदि राजा स्वयं चलकर उसके घर के पास खड़े होकर उसे आदरपूर्वक मांगे तो वह सहर्ष उसकी बात मान लेगा । चन्द्रापीड ने बिना किसी घमंड के वैसा ही किया तथा चर्मकार के यहाँ जाकर उसका घर खरीदा और मंदिर का निर्माण कराया । चन्द्रापीड नौ वर्षों के शासन के बाद अपने भाई तारापीड के षडयन्त्र का शिकार हुआ और जादू-टोने द्वारा मार डाला गया । तारापीड उसका उत्तराधिकारी हुआ, किन्तु वह अपनी बदनामी को धो नहीं सका । चार वर्षों के शासन के बाद वह भी हत्या का शिकार हुआ और वंश का सबसे प्रतापी राजा मुक्तापीड **ललितादित्य** गद्दी पर बैठा । **ललितादित्य** के गद्दी धारण करने के समय के सम्बन्ध से विद्वानों में मतभेद है । शं० पां० पण्डित (**गउडवहो** की भूमिका, पृष्ठ २८-२९) एवं सु० चं० राय महोदय (अर्ली हिस्ट्री ऐण्ड कल्चर ऑफ् कश्मीर, पृष्ठ ४७) उसे कल्हण के आधार पर क्रमशः ६९५ ई० अथवा ६९९ ई० मानते हैं । किन्तु चीनी साक्ष्यों को अधिक प्रामाणिक मानते हुए कनिंधम् (ऐंशियेण्ट ज्याग्रफी, १९२४, पृष्ठ ९०-९२) उसे ७२७ ई० स्वीकार करते हैं, जिससे स्टाइन और ब्लूलर सहमत हैं । डॉ० मजुमदार (क्लासिकल् एज, पृष्ठ १३३), बमजाई (पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १११) और भरतसिंह (क्वार्टर्ली रिव्यू ऑफ् दि हिस्टॉरिकल् स्टडीज, कलकत्ता, जिल्द ३, १९६३-४, पृष्ठ ८९) **ललितादित्य** की राज्यारोहण-तिथि ७२४ ई० मानते हैं । जन्-युन्-हुआ का अद्यतन मत यह है[3] कि ललितादित्य ७३२-७३३ ई० के आसपास गद्दी पर बैठा और उसी वर्ष अपनी मान्यता प्राप्त करने के लिए उसने चीन के राजा के यहाँ दूत भेजा ।

---

१. इस दूतमण्डल का उद्देश्य क्या था, इस पर विवाद है । देखिए, जन्-युन-हुआ जइहि०, जिल्द ४५, पृष्ठ १७५-६ ।

२. राज०, चतुर्थ, ६५-८१ ।

३. पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १७३-१७४ एवं १७९ ।

मुक्तापीड ललितादित्य

पीछे तीसरे अध्याय में यशोवर्मन् का इतिहास लिखते समय हम तिब्बतियों के विरुद्ध मुक्तापीड **ललितादित्य** की यशोवर्मन् से मित्रता, चीन के सम्राट् से दूत-सम्बन्ध, यशोवर्मन् से अनबन और युद्ध तथा कन्नौज की विजय एवं उसके कुछ क्षेत्रों को कश्मीर राज्य में मिला लिये जाने का उल्लेख कर चुके हैं। यशोवर्मा पर विजय पाने के पूर्व भी **ललितादित्य** काफी शक्तिशाली हो चुका था। कल्हण कहता है कि काबुल के शाही राजकुमार उसके दरबार में नौकरी करते थे[१]। इन शाही राजाओं को अरबों से भय था और असम्भव नहीं है कि **ललितादित्य** ने भी सिन्धु नदी की ओर बढ़कर उन्हें दबाया हो। उसका दक्षिण और दक्षिण-पश्चिम में बढ़ने का प्रयत्न ही यशोवर्मा से शत्रुता का कारण हुआ होगा। लेकिन यशोवर्मा को हराने तथा उत्तरी भारत में अपने को प्रमुख राजनीतिक सत्ता स्वीकार करा लेने मात्र से वह संतुष्ट होने वाला नहीं था। उसने आगे बढ़कर दिग्विजय की और उसकी सेनाएँ कलिंग तक चढ़ गयीं। गौडदेश के राजा[२] ने उसे हाथियों की भेंट देकर उसकी अधीनता मान ली। पुनः कर्णाट देश की रानी रट्टा को अधीनता स्वीकार करने को विवश करते हुए वह कावेरी के किनारों तक पहुँच गया। वहाँ से पश्चिम की ओर मुड़कर सप्तकोंकणों को जीतता हुआ वह द्वारका पहुँचा, जहाँ से अवन्ति होता हुआ उत्तर की ओर लौटा[३]। कम्बोजों, तुषारों, मुमुनि (सिन्ध के ऊपरी काँठों में अरबों की कोई शाखा), भोटों (तिब्बतियों), दरदों, प्राग्ज्योतिष, स्त्रीराज्य और उत्तरकुरुओं पर भी उसकी विजयों के वर्णन प्राप्त होते हैं[४]। लेकिन यह कहना बड़ा कठिन है कि कल्हण के इस विवरण में कितनी ऐतिहासिकता है। सभी प्राचीन राजाओं की दिग्विजयों की ऐसी ही गतानुगतिक चर्चाएँ मिलती हैं। लेकिन उन्हें एकदम कपोलकल्पित मानना सही नहीं होगा।[५] कल्हण अन्य कवियों की पाँत में अनैतिहासिक और अनुत्तरदायित्त्वपूर्ण विवरणों के लिए खड़ा नहीं किया जा सकता और संभव है कि

---

१. महासाधनभागश्चेत्येता वैरभिधाः श्रिताः।
शाहिमुख्या येष्वभवन्नध्यक्षाः पृथिवीभुजः ।। राज०, चतुर्थ, १४३।

२. बमजाई (पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ११३) उसकी पहचान जीवितगुप्त से करते हैं।

३. राजतरंगिणी, चतुर्थ, १४९-१६३। दक्षिण में उस समय कौन-कौन से राज्य और राजा थे, इसके लिए देखिए, चि० वि० वैद्य, हिमेहिइ०, जिल्द १, पृ० २१०।

४. राजतरंगिणी, चतुर्थ, १६५-१७५।

५. चचनामा से यह ज्ञात होता है कि दाहिर ने मुहम्मद इब्न्कासिम को एक पत्र लिखा, जिसमें कश्मीर के राजा की अधिसत्तात्मक सत्ता का उल्लेख है। देखिए, चि० वि० वैद्य, पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द १, पृ० २०८। दाहिर ने यह पत्र ७१२ ई० के पूर्व लिखा

घटनाओं के बहुत पहले घटने के कारण उसके पास उनको तथ्य की कसौटी पर कसने के प्रमाण कम रहे हों और अतिरंजन का पुट आ गया हो। इस दृष्टि से **ललितादित्य** की सुदूर दक्षिण की विजय सम्बन्धी चर्चा की ऐतिहासिकता पर सन्देह किया जा सकता है। तुषारों (तुर्कों) के ऊपर उसकी विजय की यादगारें कश्मीर में अलबीरूनी के समय तक थीं[1]। भोटों अथवा तिब्बतियों को दबाने के लिए उसने चीन के सम्राट् के पास सहायता के लिए दूत भेजा था, यह हम पीछे देख चुके हैं। यद्यपि उसे चीन से कोई सहायता नहीं मिली, लेकिन वह तिब्बतियों के विरुद्ध अपने प्रयत्न में सफल रहा[2]। इसमें सन्देह नहीं कि अपनी विशाल विजयों के कारण **ललितादित्य** अपने समय का सर्वप्रमुख भारतीय शासक बन गया, जिसकी विजयें सम्भवतः गुप्त सम्राटों के बाद सर्वाधिक विस्तृत थीं। **राजतरंगिणी** से स्पष्ट है कि उसने कश्मीरी लोगों के मन में एक बहुत बड़ा स्थान बना लिया तथा बहुत दिनों तक उसकी अनुश्रुतियाँ वहाँ चलती रहीं। **ललितादित्य** की मृत्यु (७६०-७६१ ई०) दुखान्त रही। उसके अन्त के बारे में कई अनुश्रुतियाँ मिलती हैं। लगता है, अपने राज्य के पास के किसी पहाड़ी प्रदेश पर आक्रमण के सिलसिले में वह अपनी सेना से पृथक् हो गया तथा बर्फीले भागों में घिरकर ठण्ड से मर गया। उसने ३६ वर्षों तक शासन किया।

ललितादित्य एक बहुत बड़ा वास्तु-निर्माता था। कल्हण उसके अनेक महलों, भवनों और मंदिरों के निर्माण का उल्लेख करता है[3]। मार्त्तण्डतीर्थ में उसके बनवाए हुए मार्त्तण्ड मन्दिर के अवशेष आज भी मिलते हैं जो अपनी टूटी हुई आधुनिक अवस्था में भी अपनी विशालता, सौन्दर्य और स्थापत्य की शैली और अलंकरण से हमें सहज ही आकृष्ट करते हैं। उसने परिहासपुर नामक एक नगर भी बसाया और स्वयं वहाँ रहने लगा। स्वयं हिन्दू होते हुए भी वह बौद्ध भिक्षुओं और विषयों के प्रति उदार था। कन्नौज के राजा यशोवर्मा को हराने के बाद उसने कदाचित् उसके भवभूति और वाक्पतिराज नामक राजदरबारी कवियों को कश्मीर बुलाकर अपने राजदरबार में रखा। लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि **ललितादित्य** की भौतिक और राजनीतिक शक्ति ने उसे मदान्ध बना

था। किन्तु तब तक ललितादित्य गद्दी पर आ चुका था, इस बात में सन्देह है। असंभव नहीं है कि इस संदर्भ का कश्मीरी राजा दुर्लभवर्धन रहा हो।

१. स्टाइन, पूर्वनिर्दिष्ट, भूमिका, पृ० ९१।

२. वहीं पृ० ९१; र० चं० मजुमदार, क्लासिकल् एज, पृ० १३३।

३. राजतरंगिणी, चतुर्थ, १८१-२१६।

दिया। मंत्रियों आदि का नियंत्रण उस पर नहीं रह सका और कम से कम दो कार्य उसने ऐसे किये, जो उसकी उपलब्धियों पर काले धब्बे बन गये। मदिरा की झक्क में उसने एक बार प्रवरपुर नामक नगर को जला डालने की आज्ञा दे दी। सौभाग्यवश मंत्रियों ने उसकी आज्ञा का उल्लंघन कर दिया। लेकिन दूसरी घटना तो बिल्कुल ही अक्षम्य है, जिसमें उसने गौडदेश के राजा को निर्बाधरूप से कश्मीर आने का निमंत्रण देकर बीच में ही धोखे से मरवा डाला[१]।

ललितादित्य के कमजोर उत्तराधिकारी

ललितादित्य के बाद कई पीढ़ियों तक कार्कोट राजगद्दी पर कमजोर और अल्पशासी राजा बैठते रहे। उसके जेठे पुत्र कुवलयापीड ने केवल एक वर्ष राज्य करके राजगद्दी त्याग दी। बाद में **ललितादित्य** की एक दूसरी रानी से उत्पन्न पुत्र **वज्रादित्य** (वप्पियक) राजा हुआ, जिसे क्रूर और दुराचारी होने के कारण सात वर्षों के अल्पशासन के बाद ही मृत्यु का शिकार होना पड़ा। उसके बाद उसके तीन लड़के- पृथिव्यापीड, संग्रामपीड (प्रथम) तथा जयापीड क्रमशः राजा हुए। मुसलमान इतिहास लेखक अल्-बिलाधुरी कहता है[२] कि खलीफा के सिन्ध-स्थित गवर्नर हिशाम (७६८-७७२ ई०) ने कश्मीर पर आक्रमण और विजय कर अनेक बन्दी और गुलाम बनाये। यह आक्रमण कश्मीर के इन्हीं कमजोर राजाओं में किसी के समय हुआ होगा[३]। लेकिन कश्मीर से तात्पर्य यहाँ पंजाब के उस प्रदेश से प्रतीत होता है जो मुल्तान के ऊपर की ओर पड़ता था[४]। उसे अरबों ने धीरे-धीरे अपने अधिकार में कर लिया। जयापीड (**विनयादित्य**) अपने पिता और भाइयों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली हुआ और उसने **ललितादित्य** मुक्तापीड की शक्ति पुनरुज्जीवित करने का प्रयत्न किया। लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें वह सफल हुआ। गद्दी पर बैठने के शीघ्र ही बाद उसने दिग्विजय के लिए प्रस्थान किया किन्तु उसकी अनुपस्थिति में जज्ज ने कश्मीर की गद्दी पर अधिकार कर लिया। लगता है, उसका प्रभाव जयापीड की सेना पर भी पड़ा, जिसके सैनिकों ने धीरे-धीरे उसका साथ छोड़ दिया। उसे सम्भवतः विवश होकर गंगा के किनारे होते हुए वेश छिपाकर पुण्ड्रवर्धन तक जाना पड़ा, जहाँ के राजा की पुत्री से

---

१. वहीं, चतुर्थ।

२. किताब फुतुहुल-बुलदान ऑफ् बिलाधुरी, हित्ती और मुरगॉटेन का अंग्रेजी अनुवाद, भाग २, पृ० २३०-२३१।

३. गाँगुली महोदय इस आक्रमण को वज्रादित्य के समय हुआ मानते हैं। एज् ऑफ् इम्पीरियल् कन्नौज, पृ० ११५।

४. देखिए, हेमचन्द्रराय, डाहिनाइ०, जिल्द १, पृ० ११३।

विवाह कर वह कश्मीर को ओर अपनी खोयी हुई गद्दी प्राप्त करने के लिए लौटा। लौटते समय उसके पीछे छूटे हुए कुछ सैनिक पुनः उसके साथ हो गये और रास्ते में उसने कन्नौज के राजा (वज्रादित्य)[१] को हराया। कश्मीर लौटकर उसने जज्ज को युद्ध में हराया और पुनः गद्दी पर अधिकार कर लिया।

कल्हण उपर्युक्त घटनाओं को बहुत सीधे ढंग से रखता है[२]। लेकिन यह स्पष्ट दिखायी देता है कि जयापीड अपनी उपर्युक्त दिग्विजय-यात्रा में कन्नौज को छोड़कर कोई अन्य राज्य जीत नहीं सका, जिसका कारण कश्मीर के भीतर ही जज्ज के नेतृत्त्व में होने वाली क्रान्ति थी। यह सौभाग्य ही था कि जयापीड अपनी गद्दी पुनः वापस पा सका। उसके बाद उसकी दूसरी दिग्विजय-यात्रा का भी विवरण मिलता है[३]। लेकिन उसमें कल्पना और चमत्कार के पुट इतने अधिक हैं कि उसे सही समझना कठिन जान पड़ता है। विजित राजाओं की पहचान भी नहीं की जा सकती। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में जयापीड लालची हो गया और प्रजा को करों के अत्यधिक भार से सताने लगा, जिससे ब्राह्मण भी अछूते नहीं बचे। उसका शासनकाल आठवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में था। उसके अनेक सिक्के प्रायः सारे कश्मीर से मिले हैं।

जयापीड के उत्तराधिकारियों के समय कार्कोटों की शक्ति घटती ही गयी। उसके पुत्र ललितापीड ने बारह वर्षों के शासनकाल को अपने पिता की अर्जित सम्पत्ति को उड़ाने मात्र में बिता दिया। उसके अनेक उत्तराधिकारियों के केवल नाममात्र मिलते हैं, जिनमें किसी के भी सिक्के नहीं मिलते। चिपट जयापीड (बृहस्पति) के मामाओं ने उसके अल्पायु होने के कारण अपना नाजायज प्रभाव स्थापित कर लिया और छत्तीस वर्षों तक वे अपने मन से राजाओं को गद्दी पर बिठाते-उतारते रहे। लेकिन बाद में वे आपस में ही लड़ने लगे। ८५५-६ ई० में शूर नामक प्रधान मंत्री ने उत्पलापीड को गद्दी से उतारकर अवन्तिवर्मन् को राजा बनाया, जो उत्पल नामक एक नये राजवंश का संस्थापक हुआ।

उत्पलवंश : अवन्तिवर्मन् (८५५-८८३ ई०)

अवन्तिधर्मन् योग्य और प्रजाहितचिन्तक था। प्रधान मंत्री शूर का उस पर बड़ा प्रभाव था। उसका सुय्य नामक एक अन्य मंत्री बहुत बड़ी इंजीनियरी-बुद्धि का व्यक्ति था। वितस्ता (झेलम) नदी के बहाव मार्ग से पहाड़ों को हटाकर तथा उसके किनारे

---

१. डॉ० गाँगुली के अनुसार कन्नौज का हारा हुआ वह राजा इन्द्रराज (इन्द्रायुध) था। देखिए—एज ऑफ् इम्पीरियल् कन्नौज, पृ० ११६।

२. राजतरंगिणी, चतुर्थ, ४१०-४८२।

३. वहीं, चतुर्थ, ५१४-६१९।

बाँध बाँधकर उसने बहुत सी भूमि बाढ़ से बचायी तथा खेती योग्य बनवायी। कहा गया है कि उसने झेलम का मार्ग ही बदल दिया और उसे दूसरी ओर से बहाकर तथा सिन्धु नदी से उसके संगम के पूर्वस्थान को छुड़ाकर दूसरी जगह मिलाया। परिणामस्वरूप अन्न की उपज बढ़ गयी और दाम सस्ते हो गये[१]। अवन्तिवर्मन् ने अवन्तिपुर नामक नगर और अनेक मंदिरों का निर्माण कराया।

शंकरवर्मन् (८३३-९०२ ई०)

अवन्तिवर्मन् की मृत्यु के बाद गद्दी के लिए लड़ाई छिड़ गयी, लेकिन अन्त में शंकरवर्मन् की विजय हुई। वह एक बहुत बड़ा विजेता साबित हुआ तथा दर्वाभिसार[२] (पंजाब में गुजरात से उत्तर झेलम और चेनाव नदियों के बीच का प्रदेश), त्रिगर्त्त[३] (कांगड़ा) और गुजरात (पंजाब) के राजाओं को या तो युद्ध में हराकर या भय दिखाकर अपनी अधीनता मानने को विवश किया। गुजरात[४] (पश्चिमी पाकिस्तान) के राजा अलखान से उसने तक्क प्रदेश छीन लिया[५]। गुर्जर प्रतीहार शासक मिहिरभोज अथवा महेन्द्रपाल जैसे कन्नौज के शक्तिशाली सम्राट् को भी उसके सामने दबना पड़ा। कल्हण कहता है कि शंकरवर्मन् ने भोज से कुछ भूमि छीनकर अपने अधीनस्थ थाक्कियकराज को दे दिया[६]। लेकिन उद्भाण्डपुर के शाही राजा के विरुद्ध उसका अभियान असफल रहा। साथ ही शंकरवर्मन् का प्रशासन बहुत सफल नहीं था और कायस्थों ने उसके राज्य का कुछ हिस्सा हथिया लिया।

९०२ ई० के आसपास शंकरवर्मन् का अल्पवयस्क पुत्र गोपालवर्मन् उत्तराधिकारी हुआ। उसकी माँ सुगन्धा उसकी संरक्षिका बनी। किन्तु प्रभाकर नामक दुराचारी मंत्री

---

१. यस्मिन् महासुभिक्षेषु दीन्नाराणां शतद्वयी। धान्यरवारीप्राप्तिहेतुरासर्गादभवत्पुरा॥
ततः प्रभृति तत्रैव चित्रं कश्मीरमण्डले। षट्त्रिंशता धान्यखारेर्दीन्नारैरुदितः क्रयः॥
राज०, पञ्चम, ११६-११७।

२. वहीं, पञ्चम, १४१।

३. वहीं, पञ्चम, १४३-१४४।

४. वहीं, पञ्चम, १४३-१५०।

५. वहीं, पञ्चम, १५०।

६. वहीं, पञ्चम, १५१; रा० शं० त्रिपाठी, हिस्ट्री ऑफ् कन्नौज, पृष्ठ २५१-२५२। कनिघम्, (आसरि० जिल्द द्वितीय, पृष्ठ २२५; जिल्द १०, पृष्ठ १०१) का विचार था कि कल्हण के इस उद्धरण का पराजित राजा भोज था। इस सम्बन्ध में पीछे देखिए भोज (प्रथम) और महेन्द्रपाल (प्रथम) के प्रकरण।

की साजिश से गोपालवर्मन् मारा गया । तथापि सुगंधा राज्य पर अधिकार बनाए रखने में सफल रही । लेकिन राजदरबार में इतने षडयन्त्र चल रहे थे कि किसी स्थायी सत्ता का उदित होना कठिन हो गया[१] । इस बीच तन्त्रिन् नामक एक सैनिक जाति राजनीतिक हस्तक्षेप और सैनिक उपद्रव मचाती रही । ९१४ ई० में सुगन्धा मंत्रियों द्वारा कैद कर ली गयी और अन्ततः मार डाली गयी । तदुपरान्त राजाओं का गद्दी पर बैठाया और उतारा जाना एक क्रम सा हो गया । ९३९ ई० तक यही स्थिति बनी रही । इस बीच राजदरबार षडयन्त्र और हत्याओं का केन्द्र बना रहा । इस प्रयोग का अन्तिम शासक उन्मत्तावन्ति (९३७-९३९ ई०) ठीक अपने नामानुरूप साबित हुआ । उसके समय क्रूरता और अत्याचार अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया, यहाँ तक कि उसने अपने भाइयों और पिता को भी मरवा डाला[२] । किन्तु वह स्वयं भी किसी भयंकर बीमारी से पीड़ित होकर ९३९ ई० में चल बसा । ब्राह्मणों ने उसी वर्ष प्रभाकर के पुत्र यशस्कर को चुनकर कश्मीर का राजा बनाया[३] । इस प्रकार उत्पलवंश का अन्त हो गया और यशस्कर से प्रारम्भ होकर एक नया ब्राह्मण राजवंश कश्मीर की राजगद्दी का अधिकारी हुआ ।

यशस्कर (९२९-९४८ ई०) और उसके उत्तराधिकारी

यशस्कर ने नौ वर्षों (९३९-९४८ ई०) तक शासन किया । उस बीच कश्मीर ने पुनः शान्ति की साँस ली । कल्हण उसकी न्यायप्रियता और बुद्धिमानी की प्रशंसा करता हुआ उसकी प्रशासकीय प्रतिभा के अनेक उदाहरण देता है । ९४८ ई० में उसकी मृत्यु के बाद उसका अल्पवस्यक पुत्र संग्रामदेव राजा बनाया गया किन्तु एक साल के भीतर ही उसके मंत्री पूर्वगुप्त ने उसे मारकर गद्दी हथिया ली । वह स्वयं भी एक डेढ़ वर्षों के भीतर ही कालकवलित हो गया । उसका पुत्र क्षेमगुप्त दुर्गुणी और कामुक सिद्ध हुआ, जिसके शासनकाल (९५०-९५८ ई०) की कोई विशेषता नहीं है । उसकी लोहरवंशी रानी दिद्दा का उस पर अत्यधिक प्रभाव था । उसके सिक्कों पर उसके नाम के साथ 'दि'=दिद्दा अंकित है, जो दिद्दा के प्रभाव का द्योतक है । लोगों ने उसका नाम ही दिद्दाक्षेम रख दिया[४] ।

दिद्दा

दिद्दा का व्यक्तित्व अनेक दृष्टियों से अत्यन्त प्रभावशाली था । अपने अल्पवस्यक

---

१. राज०, पञ्चम २५९-४०५ ।

२. राज०, पञ्चम, ४१४-४२८ ।

३. वहीं, पञ्चम, ४६१ और आगे ।

४. बमजाई, हिस्ट्री ऑफ् कश्मीर, पृ० १३३ ।

पुत्र अभिमन्यु (९५८-९७२ ई०) की ओर से प्राय: सम्पूर्ण शासन पर वह हावी हो गयी । अपने पति के समय के फल्गुण नामक मंत्री सहित अनेक प्रभावशाली कर्मचारियों को उसने निकाल दिया तथा उनके कई विद्रोहों का सफलतापूर्वक सामना किया । अपने शत्रुओं को दबाने के लिए वह हर प्रकार के उपायों को अपनाने में तत्पर थी[१] । शक्ति के भोग से उसके प्रति उसका मोह और भी बढ़ गया । ९७२ ई० में अपने पुत्र और राजा अभिमन्यु की मृत्यु से भी उसका शक्ति के प्रति व्यामोह कम नहीं हुआ । जादू-टोने में उसका विश्वास था, जिनके प्रयोगों द्वारा उसने अपने दो पौत्र राजाओं—नन्दिगुप्त और त्रिभुवनगुप्त—को मरवा डाला । इस बीच फल्गुण को उसने पुन: मंत्री नियुक्त कर दिया था । किन्तु उसकी भी मृत्यु हो गयी । उसके बाद दिद्दा पूर्णरूपेण स्वेच्छाचारिणी हो गयी । तुंग नामक एक खसजातीय साहसी एवं महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति से उसका प्रेमसम्बन्ध हो गया । तुंग मूलत: एक भैंस चरानेवाला था और कश्मीर राज्य में सन्देशवाहक के रूप में नियुक्त हुआ था । तुंग से रक्षा पाकर उसने ९८० ई० में भीमगुप्त नामक राजा (अपने ही पौत्र) को मारकर स्वयं को रानी घोषित कर दिया तथा अगले तेईस वर्षों तक शासन करती रही । तुंग का प्रभाव बढ़ता गया और रानी चालाकी एवं घूस के प्रयोग द्वारा अपने विरुद्ध उठनेवाली हर चुनौती को पार करती गयी । खुले विद्रोह तथा ब्राह्मणों के उपवास आदि सभी उसके सामने बेकार साबित हुए ।

दिद्दा चरित्र से गर्हित, षडयन्त्री और कुटिल होते हुए भी राजनीतिक सूझ-बूझ और चातुरी से युक्त थी । उसमें प्रशासकीय प्रतिभाएँ भी भरपूर थीं । उन्हीं गुणों के कारण वह गद्दी प्राप्त करने में सफल हुई थी । अपने पुत्र नन्दिगुप्त की स्मृति में उसने श्रीनगर में दिद्दामठ (आधुनिक कश्मीर में दिदमार नामक स्थान) बनवाया तथा सारे विद्रोहों के बावजूद कश्मीर के शासन को सफलता और शान्तिपूर्वक लगभग पचास वर्षों तक चलाया । अपने जीते जी ही उसने अपने मातृपक्ष के भतीजे संग्रामराज को अपना युवराज नियुक्त कर दिया था, जो उसकी मृत्यु (१००३ ई०) के बाद कश्मीर में लोहरवंश का संस्थापक सिद्ध हुआ[२] ।

प्रथम लोहरवंश और कश्मीर की अवनति का प्रारम्भ

संग्रामराज बुद्धिमान् होते हुए भी निर्बल था । उसके शासन के प्रारम्भिक दिनों में तुंग का प्रभाव पूर्ववत् बना रहा । किन्तु उसकी ढलती हुई अवस्था के साथ-साथ उसके प्रशासन में ढीलाई आती गयी और उसके अनेक विरोधी उठ खड़े हुए । इन विरोधों का मूल कारण था तुंग का कृपापात्र भद्रेश्वर नामक एक कायस्थ (राजकीय पदाधिकारी)

---

१. राज०, षष्ठ, २११-२५८ ।
२. वहीं, पृष्ठ, ३५५ और आगे ।

स्थिति पर काबू न रख सका, जिसका प्रतिफल उसके पुत्र और उसके उत्तराधिकारी हरिराज को अपने शासन के अत्यल्प (२२ दिनों) समय के भीतर ही अपनी हत्या के साथ (१०२९ ई०) चुकाना पड़ा[१]। हरिराज का उत्तराधिकारी अनन्त हुआ।

अनन्त (१०२८-१०६३ ई०)

अनन्त के शासन के प्रारम्भिक दिनों में रुद्रपाल और दिद्दापाल नामक दो विस्थापित शाही राजकुमारों का बड़ा प्रभाव था। अनन्त में व्यक्तिगत योग्यता और शौर्य का अभाव था। तथापि उसने त्रिभुवन नामक अपने ही सेनापति द्वारा संचालित विद्रोह को सफलतापूर्वक दबाया तथा दरद शासक अचमंगल के आक्रमण से कश्मीर की रक्षा की[२]। बाद में उसने अपनी धर्मात्मा रानी सूर्यमती[३] अथवा सुभटा के प्रभाव से अनेक मंदिरों के निर्माण कराये और दान आदि भी दिये। किन्तु अत्यधिक व्यय करने और पान खाने की उसकी खर्चीली आदत ने उसे विदेशी व्यापारियों का ऋणी बना दिया। उसे कर्ज देने वालों में परमार राजा भोज का एक व्यापारिक प्रतिनिधि भी था, जिसने कुछ दिनों के लिए अनन्त का मुकुट ही बन्धक रख लिया था। अनन्त का यह दिवालियापन तभी समाप्त हो सका, जब सूर्यमती ने शासनसूत्र पर और कड़ाई से अपना हाथ रखा एवं हलधर नामक प्रधानमंत्री ने आर्थिक और प्रशासनिक सुधार की अनेक योजनाएँ लागू कीं। इस अवसर का लाभ उठाकर अनन्त ने आसपास के पहाड़ी प्रदेशों की विजय योजनाएँ बनायीं। चम्पा (छम्ब) के शासक साल अथवा सालवाहन को गद्दी से उतारकर अपने नामांकित को उसकी गद्दी देना तथा दर्वाभिसार, त्रिगर्त्त और भर्त्तुल पर अपना आधिपत्य स्वीकृत कराना अनन्त की मुख्य सैनिक उपलब्धियाँ थीं। लेकिन उरशा और बल्लापुर पर उसके अभियान असफल रहे[४]। विल्हण नामक कश्मीरी कवि (जो बाद में कल्याणी के चालुक्य दरबार में रहने लगा था) ने अपने ग्रंथ **विक्रमांकदेवचरित** में चम्पा और दर्वाभिसार पर उसके आधिपत्य का उल्लेख किया है[५] जिसका आंशिक समर्थन कल्हण की **राजतरंगिणी** से भी होता है। अनन्त ने अपनी रानी सूर्यमती के कहने से १०६३ ई० में अपने पुत्र कलश को

१. राजतरंगिणी, सप्तम, १३१ और आगे।
२. राजतरंगिणी, सप्तम, १५४-१६७।
३. सूर्यमती जालंधर की राजकुमारी थी। देखिए—डॉ० गांगुली, दिं स्ट्रगल फॉर इम्पायर, पृ० १७।
४. वहीं, पृ० ९७-९८; राज०; सप्तम, २१९ और आगे।
५. स्टाइन द्वारा उल्लिखित, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ११०; बमजाई, हिस्ट्री ऑफ् कश्मीर, पृ० १३९-१४०।

राजगद्दी दे दी, लेकिन उसके क्रियाकलापों से असंतुष्ट होकर उसने १०७६ में पुनः वास्तविक शासन अपने कब्जे में ले लिया। आगे पिता-पुत्र में सौहार्द और सामंजस्य की और भी कमी होती गयी और अनन्त ने ऊबकर १०८० ई० में आत्महत्या कर ली। इसका कलश पर कुछ सुधारक प्रभाव पड़ा और धीरे-धीरे उसमें उत्तरदायित्त्व की भावना बढ़ी। क्रमशः वह प्रशासन को हर प्रकार से ठीक करने में लग गया। आसपास के राज्यों ने उसकी अधिसत्ता स्वीकार कर ली। इसका प्रमाण यह है कि १०८७-८८ ई० में पहाड़ी क्षेत्रों के आठ राजे उसकी राजधानी में एक साथ उपस्थित हुए[१]। उस सभा में पश्चिम में उरश से लेकर पूर्व में कस्तवत तक के राजा शामिल थे। उनको दी जाने वाली सुख-सुविधा और भव्य स्वागत की चर्चा कल्हण, वामन नामक मंत्री की प्रशंसा करते हुए उपस्थित करता है[२]। कलश के पुत्र हर्ष की षडयन्त्री रुझान के कारण उसके अन्तिम दिन दुःखमय बीते और उसे विवश होकर अपने छोटे पुत्र उत्कर्ष को अपना उत्तराधिकारी घोषित करना पड़ा[३]। किन्तु वह उस पद को संभाल न सका और एक विद्रोह के फलस्वरूप[४] केवल बयालीस दिनों के शासन के पश्चात् हर्ष द्वारा अपदस्थ कर कारागार में डाल दिया गया, जहाँ उसने आत्महत्या कर ली[५]।

हर्ष : (१०८९-११०१ ई०)

१०८९ ई० में हर्ष ने अपनी खोयी हुई गद्दी पुनः प्राप्त की और अगले बारह वर्षों (११०० ई०) तक शासन करता रहा। उसके जीवन में अनेक उतार-चढ़ाव आ चुके थे और कई दृष्टियों से वह कश्मीर के परवर्ती शासकों में प्रमुख कहा जा सकता है। कल्हण उसके अनेक गुणावगुणों तथा परस्परविरोधी और बेमेल कार्यों का विस्तृत विवरण उपस्थित करता है[६], जिनके बारे में वह स्वयं अपने पिता चम्पक से सुन चुका था। अपने शासन के प्रारम्भिक वर्षों में हर्ष को अनेक सफलताएँ प्राप्त हुईं। उसने अपने भाई विजयमल्ल का विद्रोह दबाने में सफलता पाई और राजदरबार की शान-शौकत में भी वृद्धि की। गुणी, पंडित एवं कवि उसके यहाँ शरण और प्रश्रय पाते रहे और कश्मीर छोड़कर चालुक्य दरबार में गया हुआ बिल्हण भी पश्चात्ताप करने लगा[७]। लगता है,

---

१. राजतरंगिणी, सप्तम, ५८७-५९०।
२. वहीं, सप्तम, ५९१-५९४।
३. वहीं, सप्तम, ७०३-७०४।
४. बमजाई, हिस्ट्री ऑफ् कश्मीर, पृ० १४२।
५. सम्पूर्ण विवरण के लिये देखिए—राजतरंगिणी, सप्तम, ७४२-८५४।
६. वहीं, सप्तम, ८६९-८७५; बमजाई, हिस्ट्री ऑफ् कश्मीर, पृ०१४२।
७. राजतरंगिणी, सप्तम, ९३५-९३७।

राज्य की सुख-समृद्धि की काफी वृद्धि हुई और खजाना धनधान्य से भर गया । राजापुरी अर्थात् राजौरी के शासक को युद्ध में परास्तकर हर्ष की सेनाओं ने कर वसूल किया । किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि हर्ष की प्रारम्भिक सफलताओं ने उसे मदान्ध बना दिया और उत्तरोत्तर उसके क्रियाकलाप निंद्य होते गये । गलत ढंग के चाटुकारों से वह घिर गया और राजदरबार षडयन्त्रों का अखाड़ा बनने लगा । उसने अपने अनेक निकट सम्बन्धियों को विद्रोह और षडयन्त्र के सन्देह में अथवा कभी-कभी तो बिना दोष के ही मौत के घाट उतार डाला । उसका खर्च इतना बढ़ गया कि उसे चलाने के लिए जब नये करों की आय पर्याप्त नहीं हुई तो वह मन्दिरों और मठों की सम्पत्ति को छीनने अथवा छद्मपूर्वक लेने एवं रत्नजटित मूर्तियों को लूटने से भी बाज न आया । उसके ये कृत्य मुसलमानी आक्रामकों के समान थे और कदाचित् इसी कारण कल्हण उसे 'तुरुष्क' कहता है[१] । उसने अपनी सेना में मुसलमानों को नियुक्त भी कर रखा था । १०९९ ई० में भयंकर बाढ़ आयी तथा सारे राज्य में अकाल छा गया । किन्तु हर्ष के उत्पीड़न तब भी बन्द नहीं हुए और डामरों (जमींदारों) के ऊपर उसका अत्याचार बन्द नहीं हुआ । परिणामतः, असन्तोष और विरोध की आग सुलगने लगी और डामरों ने उच्छल नामक राजपरिवार के ही एक सदस्य के नेतृत्त्व में विद्रोह कर दिया[२] । उच्छल ने गद्दी पर अपना दावा उपस्थित किया किन्तु युद्ध में उसकी हार हुई । तथापि सुस्सल नामक अपने ही एक दूसरे भाई के विद्रोह का लाभ उठाकर उसने पुनः अपनी सेनाओं और समर्थकों को इकट्ठा किया और हर्ष की सेनाओं को परास्त किया । हिरण्यपुर (आधुनिक रण्यिल) में ब्राह्मणों ने उसका अभिषेक भी कर दिया[३] । हर्ष के राजदरबार में आतंक और अविश्वास का वातावरण बढ़ता गया । श्रीनगर पर सुस्सल और उच्छल क्रमशः दक्षिण और उत्तर की ओर से चढ़ गये । हर्ष का राजमहल जला डाला गया और पहले तो हर्ष अपना प्राण बचाने के लिये भागा किन्तु अन्त में वीरतापूर्वक लड़ता हुआ मारा गया[४] ।

द्वितीय लोहर वंश : (उच्छल १००१-१०११ ई०)

उच्छल को हर्ष की राजगद्दी छीन लेने में सफलता तो मिली, लेकिन उसे डामर सरदारों और अपने महत्त्वाकांक्षी भाई सुस्सल से बराबर खतरा बना रहा । अतः सुस्सल

---

१. ग्रामे पुरेऽथ नगरे प्रसादो न च कश्चन ।
हर्षराजतुरुष्केण न यो निष्प्रतिमीकृतः ।। वहीं, सप्तम, १०९५ ।

२. वहीं, सप्तम, १२९०-१३९३ ।

३. वहीं, सप्तम, १३५९-१३८५ ।

४. वहीं, सप्तम, १७१८ ।

को उसने लोहर की सामन्ती देकर प्रसन्न करने का प्रयत्न किया। लेकिन डामर सरदारों के भय से मुक्त होने के लिए उसे षडयन्त्र का सहारा लेना पड़ा। तथापि वह प्रजापालक था और साधारण जनता को खुश करने के लिए उसने कायस्थों (राजकार्य में लगे हुए स्वार्थी और टेढ़े-मेढ़े रास्तों वाले अधिकारियों) को दण्डित किया।[१] सुस्सल आदि गद्दी के अनेक दावेदारों को उसने युद्ध में हराया, किन्तु कश्मीर के षडयन्त्री वातावरण में विद्रोहियों की कमी नहीं थी। परिणामतः, ११११ ई० के एक षडयन्त्र में वह मारा गया और लगभग एक वर्ष की अव्यवस्था के बाद सुस्सल राजा हुआ। इस बीच में दो अन्य राजे गद्दी पर बिठाए और उतारे जा चुके थे।

सुस्सल १११२-११२० ई० तथा ११२१-११२८ ई०

सुस्सल का स्वभाव कई बातों में अपने भाई उच्छल से मिलता जुलता था[२]। किन्तु उसे भी विरोधियों से सदा भय बना रहा। अविश्वास के वातावरण में उसका आन्तरिक प्रशासन अनेक कठिनाइयों से भरा था, जिनके मूल में डामरों का विद्रोही स्वरूप था। उन्हें वह पूर्णतया दबाने में कभी सफल नहीं हुआ। हर्ष के पौत्र भिक्षाचर के नेतृत्त्व में विद्रोहियों ने उसे श्रीनगर छोड़कर लोहर भाग जाने को विवश कर दिया[३] और डामरों एवं राजदरबारियों की सहायता से भिक्षाचर श्रीनगर में ११२१ ई० में राज्याभिषिक्त कर दिया गया। किन्तु वह भी अयोग्य निकला और कुछ महीनों के भीतर ही सारे राज्य में आपसी झगड़ों और अव्यवस्था का माहौल छा गया, जिसे भिक्षाचर दूर नहीं कर सका। सुस्सल इस मौके का लाभ उठाकर छह मास के भीतर ही अपनी राजगद्दी प्राप्त करने में पुनः सफल हो गया। आगे चलकर भिक्षाचर ने कई युद्धों में सुस्सल की सेनाओं को दबाया किन्तु उसे कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली। तथापि राजधानी श्रीनगर को विद्रोहियों ने कई बार घेरा, जिसके फलस्वरूप वहाँ ११२९ ई० में अकाल पड़ गया। सुस्सल ने घबड़ाकर पहले तो राजगद्दी त्याग देने की सोची किन्तु अन्ततः उस विचार से विरत होकर भिक्षाचर की हत्या के लिए षडयन्त्र रचा। किन्तु उत्पल नामक मुख्य षडयन्त्रकारी के फूट जाने से वह स्वयं ११२८ ई० में मारा गया। तथापि भिक्षाचर गद्दी प्राप्त करने में सफल नहीं हुआ। सुस्सल के जेठे लड़के जयसिंह ने उसके कुछ विश्वासपात्र सेनाध्यक्षों और अफसरों की सहायता से पहले ही श्रीनगर पहुँचकर राजगद्दी पर अधिकार जमा लिया।

---

१. राजतरंगिणी, अष्टम, ४६-११४; बमजाई, हिस्ट्री ऑफ् कश्मीर, पृ० १९५।

२. वहीं, अष्टम, ४८२ और आगे।

३. वहीं, अष्टम, ८०७-८२७।

जयसिंह (११२८-११५४ ई०)

जयसिंह कल्हणकृत **राजतरंगिणी** के विवरण का अन्तिम शासक है। उसी के समय (११४८-४९ ई०) में वह अमर कृति पूरी की गयी। घटनाओं की आत्मिक जानकारी होने के कारण कल्हण ने जयसिंह के शासन सम्बन्धी जो विवरण दिए हैं, वे बहुत ही अधिक और विस्तृत हैं। जिस समय जयसिंह राजगद्दी पर बैठा, कश्मीर की दशा अत्यन्त शोचनीय थी[१]। राजकोष खाली था, जनता तबाह थी और डामरों के मन बढ़े हुए थे और वे इस प्रकार आचरण कर रहे थे कि मानों वे ही राजा हों[२]। उनके दुर्गनिवास (उपवेशन) उनकी शक्ति के गढ़ थे, जिनपर कब्जा करने के लिए सैनिक अभियानों की आवश्यकता थी। सुस्सल ने उन्हें दबाने के अनेक प्रयत्न किए थे किन्तु उसे कोई विशेष सफलता हाथ नहीं लगी थी। जयसिंह को स्वयं भी गद्दी उनके उपद्रवों के बीच ही मिली थी। उसने भी इन समस्याओं के लिए कूटनीति और अनैतिक षडयन्त्रों का सहारा लिया। किन्तु अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए वह जो निश्चय करता था, उनपर दृढ़ न रह सकना उसकी एक कमजोरी थी। साथ ही राजदरबारी कृपापात्रों का भी उसपर अनुचित और अनावश्यक प्रभाव था, जिसके वशीभूत होकर उसने अनेक गलत काम किये[३]।

११३० ई० में भिक्षाचर राजगद्दी प्राप्त करने के प्रयत्न में जयसिंह के सैनिकों द्वारा पकड़कर मार डाला गया[४]। लोठन नामक सुस्सल का एक विरोधी अपने भाई सल्हण के साथ कई वर्षों से लोहर के किले में बन्द कर रखा गया था। राजकीय नौकरों और अधिकारियों को मिलाकर वह वहाँ से निकल भागा और विद्रोहकर वहाँ का शासक बन बैठा[५]। उसके हाथ लोहर के राजकोष का सारा धन भी लग गया। किन्तु थोड़े ही दिनों में जयसिंह के भाई मल्लार्जुन ने उसे अपदस्थकर लोहर पर कब्जा कर लिया। उसने भयवश जयसिंह की अधिसत्ता स्वीकार कर ली[६]। किन्तु जयसिंह ने लोहर पर अपना प्रत्यक्ष अधिकार कर लेने तक चैन नहीं ली। इसके लिए उसे कई विद्रोहों का सामना करना पड़ा, डामरों में फूट के बीज बोने पड़े और छिपे-छिपे अपने ही कुछ विश्वासपात्र

---

१. प्राप्तप्रसंगात्तदिदं गुणग्रामोपवर्णनम्। वक्ष्यमाणं सुबहुशोप्यत्रलेशात्प्रदर्शयते ।। राजतरंगिणी, अष्टम, १५४९।

२. वहीं, अष्टम, १५४४ और आगे। डामरों के लिए देखिए—बमजाई, हिस्ट्री ऑफ् कश्मीर, पृ० १७७-१७९।

३. स्टाइन, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १२४।

४. राजतरंगिणी, अष्टम, १५८४ और आगे।

५. वहीं, अष्टम, १७९४ से १९२१।

६. वहीं, अष्टम, १९४७ और आगे।

अधिकारियों की हत्या भी करनी पड़ी ।[१] इस प्रकार उसे कुछ दिनों की शान्ति प्राप्त हुई । इस बीच उसने अनेक प्राचीन मठों और मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया और जनता की भलाई के अनेक कार्य किये । उसने समकालीन भारतीय राज्यों से अन्तरराज्यीय सम्बन्ध भी स्थापित किये । अलंकार नामक उसके **सांधिविग्रहिक** और **राज्यस्थानीय** ने एक सभा की, जिसमें कन्नौजराज गोविन्दचन्द्र गाहडवाल का प्रतिनिधि सुहल और कोंकण के शिलाहार राजा अपरादित्य का प्रतिनिधि तेजकण्ठ शामिल हुए । इसकी चर्चा अलंकार के भाई मंख कवि ने अपने ग्रन्थ **श्रीकण्ठचरित** में की है[२] । किन्तु उत्तर में दरदों के अपने पड़ोसी राज्य पर आक्रमण में उसे असफलता हाथ लगी[३] । परिणामतः दरदों के राजा ने उसके विरुद्ध होने वाले कई विद्रोहों में विद्रोहियों का साथ दिया । लोठन उन विद्रोहियों में प्रमुख था । लेकिन ११४४ ई० में वह कैद कर लिया गया[४] । भोज नामक एक दूसरा विद्रोही भी हारा और साथ ही उसके सहायक डामर सरदार भी छिन्न-भिन्न हो गये ।[५] अन्ततः भोज को आत्मसमर्पण करना पड़ा । इन समस्याओं से छुटकारा पाकर जयसिंह ने अपने शासन के अन्तिम दिन शान्तिपूर्वक बिताये । कल्हण उसकी रानी रड्डा, उसके पुत्रों तथा परिवार की अनेक बातों का विवरण उपस्थित करता है,[६] जिनके व्यौरों में पड़ने की यहाँ हमें कोई आवश्यकता नहीं है ।

कल्हण की **राजतरंगिणी** में ११४८-४९ (उसके रचनाकाल) तक की ही घटनाएँ वर्णित हैं । लेकिन जोनराज ने १४५९ ई० में अपना जो विवरण आगे जोड़ा, उससे ज्ञात होता है कि जयसिंह ने उस तिथि के बाद भी पाँच वर्षों तक शासन किया तथा बाद में भी लगभग २०० वर्षों तक कश्मीर में हिन्दू शासन बना रहा । लेकिन इस बीच के सभी राजे कमजोर और नगण्य हुए । लोहरवंश के आरम्भ से वहाँ षडयन्त्र, विद्रोह, राजनीतिक कमजोरी और आर्थिक अवनति का जो क्रम शुरू हुआ था, उससे कश्मीर की राजनीतिक शिथिलता बढ़ती ही गयी और अन्ततोगत्त्वा मुसलमानों ने उसपर १३३९ ई० में अधिकार कर लिया ।

❁❁❁

१. राजतरंगिणी, अष्टम, १९८९-२१६३ ।
२. श्रीकण्ठचरित, १५ वाँ, १०२ और ११० ।
३. राजतरंगिणी, अष्टम, २४५४ और आगे ।
४. वहीं, अष्टम, २६४१ इत्यादि ।
५. वहीं, अष्टम, ३०९६ से ३१७९ ।
६. वहीं, अष्टम, ३३७१-३४०३ ।

सिन्ध और मुल्तान : अरब सत्ता की स्थापना

भौगोलिक स्थिति

प्राचीन सिन्ध की भौगोलिक सीमाओं का निश्चित रूप से निर्देश नहीं किया जा सकता। साहित्यिक उल्लेखों में सिन्धु-सौवीर[१] दो नाम आते हैं। श्वान् च्वांग् भी उसकी चर्चा करता है[२]। सिन्ध के सर्वाधिक उल्लेख अल-बिलाघुरी जैसे मुसलमान इतिहासकार करते हैं, जिनके अनुसार उसकी सीमाएँ काफी विस्तृत थीं और मुल्तान भी उसी में शामिल था। अरबों के आक्रमण के समय पूर्व में रेगिस्तानी प्रदेशों से लेकर दक्षिण-पश्चिम में बलूचिस्तान और मकरान के अधिकांश भागों तक तथा दक्षिण में समुद्रपर्यन्त सिन्धु नदी की घाटी के सारे निचले प्रदेश उसमें शामिल थे। किन्तु सिन्ध के इतिहास के ज्ञान-स्रोत बड़े सीमित हैं[३]। **चचनामा** नामक ग्रन्थ से इसके इतिहास की कुछ बातें ज्ञात होती हैं, किन्तु उनकी सत्यता के बारे में सर्वदा विश्वास नहीं किया जा सकता।

अरब आक्रमण के पूर्व के हिन्दू शासक

अपनी भारत यात्रा में श्वान्-च्वाँग् सिन्ध गया था। वह वहाँ के राजा को शूद्र वर्ण का बताता है तथा उसे बौद्धधर्मानुयायी कहता है[४]। किन्तु वह उसका नाम नहीं देता। १२१६ ईसवीं में लिखे हुए **चचनामा**[५] नामक फारसी ग्रन्थ का कथन है कि ७११-१२ ई० में मुहम्मद-बिन्-कासिम के आक्रमण के समय वहाँ शासन करने वाले ब्राह्मण राजा दाहिर के पूर्व रायवंश का उसपर अधिकार था। तदनुसार, उस पर राय

---

१. कनिंघम्, ऐंश्येण्ट ज्यॉग्राफी ऑफ इण्डिया, पृष्ठ २८५ और आगे तथा ६९०।

२. बाटर्स्, जिल्द २. पृ० २५२, २५४।

३. चचनामा और सिन्ध के इतिहास के ज्ञानस्रोतों के बारे में देखिए, जर्नल् ऑफ् इण्डियन् हिस्ट्री, जिल्द १० का पूरक, पृष्ठ ११ और आगे।

४. वाटर्स्, जिल्द २, पृष्ठ २५२।

५. इलियट् ऐण्ड डाउसन्, हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया ऐज् टोल्ड बाई इट्स् ओन हिस्टॉरियन्स्, जिल्द १, पृष्ठ १३१ और आगे।

दीवाजी, राय सिंहरस और राय साहसी नामक तीन शासकों ने शासन किया था। **तारीखेमासूमी** (अथवा **तारीखे-सिन्ध**) उनके बाद द्वितीय राय सिंहरस और द्वितीय राय साहसी नामक दो और राजाओं की चर्चा करता है। उन सबका शासन-काल १३७ वर्षों का बताया गया है। राय साहसी (द्वितीय) का चच नामक ब्राह्मण मंत्री था, जिसने उसकी मृत्यु के बाद उसकी विधवा रानी से विवाह कर एक नये राजवंश की स्थापना कर ली। चच एक शक्तिशाली शासक था, जिसने कश्मीर तक अपनी सीमाओं का विस्तार कर लिया एवं कई समकालिक राजाओं को हराया। उसके ४० वर्षों के शासन के बाद चंदर नामक उसका भाई गद्दी पर बैठा। तत्पश्चात् दाहिर नामक उसका भतीजा (चच का पुत्र) राजा हुआ, जो अन्त में अरब आक्रमण का शिकार हुआ। यहाँ यह ध्यान रखना होगा कि **चचनामा** और **तारीखे-मासूमी** के विवरण उपर्युक्त शासकों के बहुत समय बाद, बहुत कुछ आनुश्रुतिक आधार पर, लिखे गये और उनमें विभिन्न शासकों के अलग-अलग अथवा वंशों के सामूहिक रूप में जो शासनकाल दिये गये हैं, उनमें अनेक भ्रांतियाँ हैं। यह भी निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है कि श्वान्-च्वांग् सिन्ध के जिस शूद्र राजा की चर्चा करता है, वह राय वंश का ही कोई शासक था अथवा किसी अन्य वंश का।

अरब आक्रमण

आठवीं शती के प्रारम्भिक वर्षों के सिन्ध के इतिहास की सर्वप्रमुख घटना अरबों का आक्रमण थी। थाना, देवल, खम्भात, सोपारा, कोलिमल्लि और मलावार के बन्दरगाहों से अरबों के व्यापारिक सम्बन्ध सदियों पुराने थे। वहाँ उनके जहाज लगते थे और सीरिया तथा मिश्र होते हुए योरोप तक व्यापारिक वस्तुएँ ले जाते थे। किन्तु अरब में हजरत मुहम्मद द्वारा इस्लाम के प्रचार से भारत और अरब के व्यापारिक सम्बन्धों की आपसी शान्ति अरबों के सैनिक और धार्मिक दृष्टिकोण के कारण समाप्त हो गयी। प्रथम खलीफा उमर के समय ६३६ ई० में उन्होंने थाना और खम्भात की खाड़ी के भड़ौंच और देवल जैसे बन्दरगाहों को लूटा तथा बाद में समुद्री किनारों और कभी-कभी भीतरी स्थल के क्षेत्रों को भी लूटने का क्रम जारी रखा। उनके ये सभी प्रयत्न समुद्री धावे मात्र थे, जिन्हें भारतीय प्रतिरोध के सामने विशेष सफलताएँ नहीं प्राप्त हुईं। **चचनामा** के अनुसार ६४३ ई० में देवल पर किए गये आक्रमण में अरब सेनापति चच के एक गर्वनर द्वारा मारा गया और अरबी लोग बुरी तरह हारे। इस पराजय और सिन्ध की प्राकृतिक कठिनाइयों के कारण अरबों को उस पर पुनः आक्रमण करने की बहुत दिनों तक हिम्मत न हुई[१]। किन्तु वे अधिक समय तक अपना विजयोत्साह

१. बिलाधुरी (किताब-फुतूहुल्-बुलदान, हिती और मुरगाटेन का अंग्रेजी अनुवाद, जिल्द २, पृ० २१०) खलीफा उस्मान (६४४-६५६ ई०) के सम्मुख एक प्रति-

रोक नहीं सकते थे। कुछ दिनों बाद उन्होंने बलूचिस्तान और मकरान जीत लिया और सिन्ध पर भी आक्रमण करने का उन्हें एक बहाना मिल गया। दमिश्क के खलीफा प्रथम वलीद और उसके इराकी गवर्नर हज्जाज के लिए भेंटें लेकर सिंहल के राजा के यहाँ से जाता हुआ एक अरब जहाज देवल के बन्दरगाह के पास समुद्री लुटेरों द्वारा लुट गया। उसे बहाना बनाकर हज्जाज ने सिन्ध पर आक्रमण का निश्चय कर लिया। उसने दाहिर के पास लुटेरों को दण्डित करने का सन्देश भेजा। किन्तु दाहिर के इस उत्तर पर कि समुद्री लुटेरे उसके राज्य की प्रजा नहीं हैं और उन्हें दण्डित करने का उत्तरदायित्त्व उसका नहीं है, उसने क्रुद्ध होकर उस पर आक्रमण के लिए अपनी सेना भेज दी। किन्तु ओबैदुल्लाह और बुदैल इब्न् तहफा नामक उसके सेनापति बारी-बारी से दाहिर के सैनिकों की वीरता के सामने मात खाकर मारे गये[1]। अन्त में (७११ ई०) मुहम्मद-बिन्-कासिम ६००० घुड़सवारों, ६००० ऊँट सवारों और ३००० भारवाही ऊँटों के साथ भेजा गया। मकरान में उसने उन जाटों और मेहरों को भी अपनी सेना में भरती कर लिया, जो दाहिर से अप्रसन्न थे। वहाँ के बौद्ध भी दाहिर से असन्तुष्ट थे और उन्होंने आक्रमणकारियों का स्वागत किया। दाहिर ने या तो भयभीत होकर अथवा मोर्चेबन्दी की दृष्टि से सिन्धु के पश्चिमी प्रदेशों को छोड़ दिया और उसके पूर्वी किनारे पर युद्ध की तैयारी की। अरबों ने देवल पर अधिकार कर वहाँ के १७ वर्षों से अधिक आयु वाले उन सभी पुरुषों का वध कर डाला जिन्होंने उनकी अधीनता नहीं मानी तथा देश को गुलाम बना डाला। इस प्रकार लोगों को आतंकित कर उन्हीं की सहायता से सिन्ध नदी पार कर अनेक नगरों को जीतता हुआ मुहम्मद-बिन्-कासिम दाहिर पर टूट पड़ा। दाहिर रावोर में वीरतापूर्वक लड़ता हुआ मारा गया। उसकी मृत्यु के बाद उसकी रानी बहुत सी स्त्रियों सहित पहले तो वीरतापूर्वक लड़ी, किन्तु अन्त में सच्चे राजपूती रिवाज में जौहर कर जल मरी। किन्तु ब्राह्मणाबाद में दाहिर के लड़के जयसिंह ने भीषण मोर्चेबन्दी की, जिसे अरब तोड़ न सके। वहाँ पाँच वर्षों तक स्वतन्त्ररूप में शासन करने के बाद वह मुसलमान हो गया। इस प्रकार प्राय: सारा सिन्ध (मुल्तान सहित) अरबों के हाथ में अपेक्षाकृत बहुत आसानी से चला गया। इसका कारण अरबों की बहुत बड़ी सैनिक तैयारी और मुहम्मद-बिन्-कासिम का बेजोड़ सैनिक नेतृत्त्व था। दाहिर की पराजय का एक अन्य प्रमुख कारण यह भी था कि उसकी प्रजा के अधिकांश वर्ग, प्रधानत: जाट,

---

वेदन को दुहराते हुए कहता है कि सिन्ध में 'पानी बहुत दुर्लभ है, फल कम हैं और डाकू बड़े भयंकर हैं। यदि वहाँ छोटी सेना भेजी जाती है तो वह खतम हो जायगी और यदि बड़ी भेजी गयी तो भूखों मर जायगी।

१. वहीं, जिल्द २, पृ० २१६

मेहर और बौद्ध धर्मावलम्बी तथा उसी के शासन में नियुक्त कुछ अधिकारी, या तो उसके दबाव और अत्याचार के कारण अथवा धार्मिक विद्वेष की भावना से उससे अप्रसन्न थे। बौद्धों ने अहिंसा और शान्ति के नाम पर भी शस्त्र धारण त्याग दिया और स्वयं बचने के लिए आक्रमणकारियों का साथ दिया। दाहिर की सेना में भी एक अरबी टुकड़ी थी, जिसने ऐन मौके पर उसका साथ छोड़कर आक्रामकों का साथ कर लिया। इस प्रकार आक्रामकों का भय और आतंक, बौद्धों का धर्मविद्वेष, जाटों और मेहरों का राष्ट्रद्रोह और दाहिर के दरबार में व्याप्त पारस्परिक अविश्वास दाहिर के सबसे बड़े शत्रु साबित हुए। किन्तु ऐसी बात नहीं थी कि सभी बौद्धों ने राजद्रोह किया अथवा सभी हिन्दू राजभक्त ही थे।

पश्चिमी भारत के अन्य क्षेत्रों पर अरबों के असफल आक्रमण

मुहम्मद-बिन्-कासिम के सिन्ध और मुल्तान की विजयों से मुसलमानों को सबसे पहली बार भारतीय भूमि के एक कोने पर अधिकार कर लेने में सफलता मिली। किन्तु ७१५ ई० में खलीफा सुलेमान (७१४-७१७ ई०) की आज्ञा से उसे प्राणदण्ड[१] दे दिये जाने के बाद अरबों का भारत में बढ़ाव शिथिल पड़ गया। सिन्ध के अनेक सरदारों ने मुसलमानी सत्ता का जुआ अपने कन्धों से फेंक दिया। उसमें सर्वमुख्य दाहिर का पुत्र जयसिंह था[२], जिसका ब्राह्मणावाद पर अधिकार बना रहा। खलीफा का अधिकार 'देवल से सैन्धव समुद्र तक' के एक छोटे क्षेत्र मात्र तक सीमित हो गया[३]। किन्तु खलीफा हिशाम (७२४-७४३ ई०) के समय जब जुनैद सिन्ध का गवर्नर नियुक्त किया

---

१. चचनामा में उसके प्राणदण्ड दिये जाने का यह कारण बताया गया है कि उसने दाहिर की दो पुत्रियों को खलीफा सुलेमान (७१४-७१७ ई०) के यहाँ भेंट में भेजा; जिन्होंने उससे शिकायत की कि वह (मुहम्मद-बिन्-कासिम) पहले ही उनका शीलभंग कर चुका था। अतः खलीफा ने क्रुद्ध होकर उसे मार डालने की आज्ञा दी। वास्तव में खलीफा मुहम्मद-बिन्-कासिम के चचा और सुसर हज्जाज (ईराक के गवर्नर) से शत्रुता रखता था और उसे (मुहम्मद-बिन्-कासिम को) द्वेष के कारण सिन्ध से हटाना चाहता था। अतः चचनामा के उपर्युक्त उल्लेख की सत्यता पर कुछ विद्वानों को संदेह है। देखिए, र० चं० मजुमदार, दि क्लासिकल् एज, पृष्ठ १७२; हेमचन्द्र राय, पूर्वनिर्दिष्ट; पृ० ८, नोट २।

२. इलियट् ऐण्ड डाउसन्, पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द २, पृष्ठ २०९ और आगे।

३. वहीं, पृष्ठ ४३८।

गया तो उसने पुनः एक बार अरब सत्ता को भारत में विस्तृत करने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया। उसने जयसिंह को कैद कर लिया, जिससे हिन्दू शासन का अन्त हो गया। अल् बिलाधुरी यह भी सूचित करता है[1] कि उसने उजैन (उज्जैन), बहरी-मद, अलमालिबह, अल्कीराज, मिरमाद, अल्मन्दल, दहनाज और बरवास नामक स्थानों पर धावे किये तथा अल्बैलमान और अल्-जुर्ज जीत लिया। इनमें से कुछ स्थान तो स्पष्टतः पहचाने जा सकते हैं। इलियट ने अल्कीराज को गुजरात के ओकामण्डल से और मालिबह को मालवा से मिलाया था। किन्तु डॉ० र० चं० मजुमदार, मालिबह की मालवा से पहचान को स्वीकार करते हुए भी, अल्कराज को कीर से (दि क्लासिकल् एज, पृष्ठ १७३) मिलाते हैं। पुनः, उनके मत[2] में मिरमाद घटियाला अभिलेख का मरुमार (जैसलमेर और जोधपुर का क्षेत्र) है; बरबास भड़ौच का द्योतक है; अल्-मन्दल मण्डावर अथवा मण्डोर के लिए प्रयुक्त है तथा अल् वैलमान घटियाला अभिलेख के वल्ल=वल्लमण्डल का सूचक है। जुनैद के इन आक्रमणों के परिणामस्वरूप राजस्थान और गुजरात का कुछ भाग थोड़े दिनों के लिए अरबों के त्रास का शिकार तो हुआ किन्तु उनकी सफलताएँ चिरस्थायी नहीं हुईं। उनके आगे बढ़ने के प्रयत्नों को उनकी समकालीन अनेक हिन्दू सत्ताओं ने रोका। लाट के चालुक्य शासक पुलकेशिराज अवनिजनाश्रय के ७३८-७३९ ई० के नौसारि अभिलेख[3] से ज्ञात होता है कि सिन्ध, कच्छ, सौराष्ट्र, चापोत्कट, मौर्य और गुर्जर राजाओं को आक्रान्त करने वाले किसी ताजिक आक्रमणकारी ने नौसारि पर भी आक्रमण किया था, किन्तु उसे पुलकेशी ने हराया। उस विजय के कारण उसे 'दक्षिणापथ के ठोस स्तम्भ' की उपाधि मिली। पुलकेशी के अतिरिक्त प्रतीहार शासक प्रथम नागभट्ट को भी प्रथम भोज की ग्वालियर प्रशस्ति (एइ०, जिल्द १८, पृष्ठ १०२-१०७) में म्लेच्छों अर्थात् अरबों को परास्त करने का श्रेय दिया गया है। भृगुकच्छ-नान्दीपुरी का गुर्जर राजा चतुर्थ जयभट्ट भी ताजिकों अर्थात् अरबों को हराने का दावा करता (एइ०, जिल्द २३, पृष्ठ १५१, पादटिप्पणी ७) है। सम्भवतः उसने अरबों के वलभी पर आक्रमण के समय अपने मित्र राजा पंचम **शीलादित्य** के साथ अथवा उसकी ओर से यह युद्ध किया था। उत्तर-पश्चिम में कश्मीर-कांगड़ा की ओर

---

१. पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द २, पृष्ठ २२६, २२७।

२. देखिए, जडिले०, जिल्द १०, पृष्ठ २१, २२; दि क्लासिकल् एज, पृष्ठ १७२-१७३।

३. बम्बई गजेटियर, जिल्द १, भाग १, पृ० १०९ और आगे; भाग २, पृ० १८७-८८ तथा ३१०; ऐनल्स् ऑफ् भण्डाकर ओ० रि० इन्स्टीच्यूट, जिल्द १०, पृष्ठ ३१।

मुक्तापीड **ललितादित्य** और यशोवर्मा ने भी अरबों को आगे बढ़ने से रोका। उनके बाद धीरे-धीरे गुर्जर प्रतीहारों का दबाव इतना बढ़ गया कि अरब लोग सिन्ध के पूर्व अथवा दक्षिणपूर्व का कोई भी विजित प्रदेश अपने अधिकार में नहीं रख सके। जुनैद का उत्तराधिकारी तमीम शिथिल और कमजोर था और उसके समय तो अरबों को सिन्ध में भी अपनी रक्षा कर सकना दूभर हो गया। बिलाधुरी कहता[१] है कि अरबों को अपनी रक्षा के लिए कोई सुरक्षित स्थाना पाना भी कठिन था और उस हेतु उन्होंने एक झील के किनारे-अल्-हिन्द की सीमा पर अल्-महफूज (सुरक्षित) नामक एक नगर बसाया। उमटय खलीफाओं ने भी अपनी कमजोरी के कारण सिन्ध के बारे में कम रुचि ली।

अव्बासी खलीफा अल्मन्सूर (७४५-७७५ ई०) के समय अरबों ने पुनः एक बार सिन्ध और उसके आगे अपनी सत्ता को मजबूत करने का प्रयत्न किया, किन्तु उन्हें कोई स्थायी सफलता नहीं मिली। बाद में वहाँ के अनेक मुसलमानी सरदार आपस में ही लड़ने लगे और खलीफाओं की निजी कमजोरी के कारण अरब का कोई केन्द्रीय नियन्त्रण उन पर नहीं रह गया। वे अब न तो खलीफा की अधीनता मानते थे और न उसे कोई भेंट भेजते थे, यद्यपि धार्मिक मामलों में वह (खलीफा) अब भी समूचे मुसलमानी जगत का प्रधान समझा जाता रहा। नवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश के बाद तो खलीफाओं का सिन्ध परा रहा-सहा नियंत्रण भी समाप्त हो गया। सिन्ध में मुसलमानी सत्ता की इस अराजकता और शक्तिहीनता के ब्यौरों में जाने की हमें यहाँ आवश्यकता नहीं है। इतना मात्र निर्देश कर देना पर्याप्त प्रतीत होता है कि तीन सौ वर्षों के सतत् प्रयास के बाद भी भारतवर्ष में अरबों का अधिकारक्षेत्र मंसूरा और मुल्तान की दो छोटी रियासतों तक सीमित रहा।

अरब अधिकार का स्वरूप और प्रभाव

प्रसिद्ध इतिहासकार लेनपूल के शब्दों[२] में 'सिन्ध पर अरबों का अधिकार भारतीय इतिहास में एक क्षेपक मात्र था और वह इस विशाल देश के केवल एक किनारे मात्र को छू सका। इस्लाम की वह ऐसी विजय थी जिसका कोई फल न हुआ।' र० चं० मजुमदार ने इसका विवेचन करते हुए कहा है[३] कि 'जब हम विश्व के अन्य भागों में उनकी आश्चर्यजनक सफलताओं का स्मरण करते हैं तो भारत में प्राप्त होने वाली अरबों

---

१. पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द २, पृष्ठ २२८-२२९।

२. वूल्ज्ले हेग ने लेनपूल के कथन को (कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, जिल्द ३, पृष्ठ १०) यथावत् दुहराया है।

३. दि क्लासिकल् एज, पृष्ठ १७५।

की नगण्य सफलता बड़े भिन्न रूप में सामने आती है। किन्तु, जैसा कि एलफिंग्स्टन् जैसे पुराने इतिहासकारों ने दिखाने का प्रयत्न किया है, इस स्थिति का कारण भारतवर्ष की धार्मिक और सामाजिक विशेषताएँ नहीं थीं। उसका कारण निश्चय ही उस समय के अन्य देशों की तुलना में भारतीयों की श्रेष्ठतर सैनिक शक्ति और उत्तम राज्य-संगठन था। बाद की घटनाओं को देखने से चाहे यह जितना भी अविश्वसनीय क्यों न लगे, इतिहास का यही स्पष्ट निर्णय है।' पीछे हम बिलाधुरी का यह कथन देख चुके हैं कि अरब लोग भारतीयों के निरंतर होने वाले प्रहारों से बचने के लिए अल्-हिन्द की सीमा पर अल्-महफूज नामक नगर बसाने को विवश हुए थे। ९१५-१६ ई० में सिन्धु की घाटी की यात्रा करनेवाला अल्-मसूदी तो यहाँ तक कहता है[१] कि अपनी शक्ति के केन्द्र मुल्तान में अरबों ने एक सूर्य-मंदिर तोड़ना छोड़ रखा था और वहाँ जब भी गुर्जर प्रतीहारों के आक्रमण का भय होता तो वे उस मन्दिर की मूर्ति को नष्ट कर देने का भय दिखाकर ही अपनी रक्षा करते थे। तथापि वे सिन्ध में बने रहे और यहाँ के लोगों से विवाहकर अथवा अन्य उपायों से उन्हें मुसलमान बनाकर भारतीय मुसलमानों का एक नया वर्ग तैयार कर दिया। उसमें उन्हें हिन्दुओं में व्याप्त ऊँच-नीच के भावों, छुआ-छूत के दोषों और सामाजिक विषमताओं से बहुत मदद मिली, क्योंकि इस्लाम धर्म में नवदीक्षितों को भी उन्होंने बराबरी का स्थान दिया। किन्तु सिन्ध में अरबों ने शासन और वास्तुनिर्माण के कार्यों में हिन्दुओं की बहुत बड़ी श्रेष्ठता के कारण उन्हें बड़े बड़े पदों पर नियुक्त किया। पुनः, वे वहाँ 'काफिरों के ही समान वस्त्र पहनने लगे तथा उन्हीं के ढंग की दाढ़ियाँ बढ़ाने लगे[२]।' यही नहीं, सिद्धान्तज्योतिष और गणितशास्त्र की बहुत सी बातें अरबों ने भारतीयों से सीखीं। अल्-बीरूनी बताता है कि अरबों द्वारा प्रयुक्त संख्याओं के चिह्न 'हिन्दू चिह्नों के सर्वसुन्दर स्वरूपों से निकले थे'[३]। अमीर खुसरो की सूचना है कि अबू मशर नामक अरब सिद्धान्तज्योतिषी ने बनारस जाकर १० वर्षों तक उस शास्त्र (सिद्धान्तज्योतिष) का अध्ययन किया। 'उसने जो कुछ लिखा वह हिन्दुओं से ज्ञात हुआ था।' यह अबू मशर बगदाद का निवासी था,[४] जिसकी ८८४ ई० में मृत्यु हुई थी। इसी प्रकार सूफी धर्म के अनेक सिद्धान्त—जैसे सूफियों का सन्तवाद माला धारण करने का ढंग, फना (निर्वाण) का सिद्धान्त और उसे प्राप्त करने के लिए विभिन्न अवस्थाओं

---

१. इलियट् ऐण्ड डाउसन्, पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द १, पृष्ठ २३।

२. वहीं, पृष्ठ ३९।

३. हेमचन्द्र राय (पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ट २३) द्वारा उद्धृत, इन्साइक्लोपीडिया ऑफ् इस्लाम जिल्द २, पृ० २५७।

४. निकल्सन्, लिटरेरी हिस्ट्री ऑफ् दि अरबस्, पृष्ठ ३६१।

(मुकामात) सम्बन्धी विश्वास भारतीय दर्शन और विश्वासों, विशेषत: बौद्ध विश्वासों से प्रभावित थे[१] । स्पष्ट है कि जीवन, विज्ञान और धर्म के अनेक क्षेत्रों में सिन्ध में अरब अधिकार के साथ एक ऐसे युग का सूत्रपात हुआ, जिसे हिन्दू मुसलमान संस्कृतियों के भविष्य में होने वाले पारस्परिक आदान-प्रदानों की पूर्व पीठिका कहना अनुपयुक्त न होगा ।

❁❁❁

१. निकल्सन्, मिस्टिक्स् ऑफ् इस्लाम, १९१४, पृष्ठ १६ और आगे, ४८, ६१ और १४९, अल्बीरूनी, किताबुल्हिन्द, सखाऊ, जिल्द १, पृष्ठ १२४ और १५९ ।

८

अफगानिस्तान और पंजाब का शाही राज्य

काबुल और जाबुल

ईसवीं संवत् के प्रारम्भ के कुछ पूर्व से ही भारतवर्ष के उत्तर-पश्चिमी द्वारों के पार कई प्रदेश शक-कुषाणों के अधिकार में आ चुके थे। भारत के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्रों को अधिकृत करते समय वे पारसीक प्रभावों से अनेकशः प्रभावित थे। राजनीतिक दृष्टि से **रजतिरज,**[१] **रजरज, रजधिरज** तथा **देवपुत्र षाहिषाहानुषाहि**[२] जैसे विरुद उसी प्रभाव के द्योतक हैं। इन विरुदों को आगे भारतीय राजाओं द्वारा प्रयुक्त किये जानेवाले **राजाधिराज** अथवा **महाराजाधिराज** जैसे विरुदों का जनक कहा जा सकता है। काबुल और पंजाब के शाही उन्हीं **षाहानुषाहियों** (शक कुषाणों) के वंशज थे, जिन्होंने भारत में प्रवेश करने के पूर्व ही अथवा उसके साथ वर्णाश्रम हिन्दूधर्म अथवा बौद्धधर्म स्वीकार कर लिया था। सातवीं शताब्दी में सिन्ध के उत्तर और पश्चिम के क्षेत्रों पर अधिकार रखने वाले ये लोग राजनीतिक और सांस्कृतिक दृष्टियों से भारतीयता में पूर्णतः रंग चुके थे और उनके क्षेत्र भारतवर्ष की सीमाओं का निर्माण करते थे। भौगोलिक दृष्टि से सिन्ध के उत्तर में स्थित कपिश अथवा कापिश अर्थात् काबुल अथवा काबुलिस्तान हिन्दुकुश के पहाड़ों एवं बामियान की सीमाओं तक सारी काबुल घाटी पर फैला हुआ था। उसके दक्षिणी भागों में जाबुल अथवा जाबुलिस्तान था जो हेम, हेलमन्द, चन्द्र और कन्धार नदियों की ऊपरी घाटियों में उनके दोनों किनारों पर दूर-दूर तक पहाड़ी प्रदेशों पर फैला हुआ था। भारत से लौटते समय श्वान्-च्वांग, किया-पि अर्थात् कपिश गया था। वह उस शक्तिशाली राज्य को ४०००ली के वर्गक्षेत्र में फैला हुआ बताता है[३]। तदनुसार, वह उत्तर में बर्फीले पहाड़ों, पूर्व में लान्-पो अर्थात् लमगान, नगरहार (आजकल का

---

१. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया जिल्द १, पृष्ठ १६७-१६८; हेमचन्द्रराय चौधुरी, पोलिटिकल् हिस्ट्री ऑफ् ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृष्ठ २७४।

२. कार्पस्, जिल्द ३ (गुप्त अभिलेख), पृष्ठ ८।

३. बील, जिल्द ४ (सुशीलगुप्त प्रकाशन), पृष्ठ ४६८ और आगे; वाटर्स् जिल्द २, पृष्ठ २६४ और आगे।

जलालाबाद जिला), गंधार (पेशावर, चरसद्दा और उण्ड) और तक्षशिला तक तथा दक्षिण में गोमल नदी के किनारों वाले सारे बन्नू जिले और गजनी तक विस्तृत था । अपनी सैनिक और राजनीतिक शक्ति बढ़ाकर कपिश ने आसपास के १० छोटे-छोटे राज्यों पर अपनी अधिसत्ता स्थापित कर रखी थी । उस समय वहाँ का शासक क्षत्रिय (मूलत: यू-ची वर्ग का भारतीय ब्राह्मणवाद स्वीकार करने वाला कोई व्यक्ति) था तथा जाबुल का शासक अपने को शाही कहता था ।

अरब आक्रमण

जाबुल और काबुल के प्रारम्भिक हिन्दू राजाओं को तुर्कीशाही अथवा शाहिय कहा जाता है । अल्-बीरूनी ने अपनी भारत यात्रा के समय वहाँ लगभग ६० पुश्तों से शासन करने वाले इन राजाओं की अनुश्रुतियाँ हिन्दुओं से सुनी थीं । किन्तु वह इस बात की शिकायत करता है कि वे पूछने पर इस इतिहास का न तो कोई ब्यौरा बता सके थे और न उन्हें तिथिक्रम और घटनाओं की कोई विशेष जानकारी ही थी । उसने यह सुना था कि उन राजाओं का इतिवृत्त रेशमी कपड़ों पर लिखकर नगरकोट के किले में रखा था, किन्तु उसे खोजने पर भी वह पा न सका । यह भारतीय इतिहास का दुर्भाग्य ही है कि अल्-बीरूनी जैसे जागरूक इतिहासकर के प्रयत्नों के बावजूद वह इतिवृत्त नहीं मिल सका और इतिहास लेखन की अपनी कमजोरियों के कारण उसके समकालिक हिन्दू उसे कुछ बता नहीं सके । तथापि अनुश्रुति के आधार पर वह कनिष्क को उन शाही राजाओं की सूची में रखता है[१] । सातवीं शताब्दी के मध्य में बसरा में अधिकृत अरब गर्वनरों ने हेलमन्द नदी के ऊपरी भागों को अधिकृत करने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया । सिजिस्तान[२] उनके अधिकार में चला गया तथा खलीफा मुआवियाह (६६७-६८० ई०) के समय काबुल तक चढ़कर उन्होंने जाबुलिस्तान के लोगों को अधीन कर किया[३] । किन्तु उस आक्रमण के नेता अब्दुर्रहमान के वापस बुला लिये जाने पर विजित प्रदेशों से उनका अधिकार समाप्त हो गया । कालान्तर में अरबों के आक्रमण और काबुल तथा जाबुल के लोगों द्वारा उनके प्रतिरोध का एक क्रम सा चलता रहा; जिसमें आक्रामितों ने कई बार अपने पहाड़ों, दर्रों और घाटियों का प्राकृतिक लाभ उठाते हुए आक्रमणकारियों

---

१. सखाऊ, जिल्द २, पृष्ठ १०-१३ ।

२. सिजिस्तान आजकल का सीस्तान है, जिसे फारसी में सजस्थान और संस्कृत में शकस्थान कहा गया है । जरह् झील के पूर्व में हेलमन्द नदी के मुहानों के आसपास के नीची भूमि वाले क्षेत्र इसमें शामिल हैं ।

३. बिलाधुरी, किताब फुतूहुल बुलदान, हित्ती और मुरगाटोन का अंग्रेजी अनुवाद, भाग २, पृष्ठ १४३ ।

के निर्गम-द्वार बंद कर दिये तथा अपने को बचाते हुए शत्रुओं को बड़ी हानि पहुँचायी। इस क्रम के बीच ७०० ई० के आसपास जाबुल के राजा ने ईराक के गर्वनर अल्-हज्जाज से प्रतिवर्ष ९ लाख दिरहम मूल्य की वस्तुएँ भेंट देते रहने की शर्त पर एक सन्धि कर ली। ७१० ई० में खुरासान के गवर्नर कुतय्यब ने उस भेंट को सिक्कों के रूप में लेना चाहा और जाबुल पर आक्रमण कर दिया। किन्तु उसे कोई सफलता नहीं मिली और अरबों को वस्तुओं के रूप में ही भेंटें स्वीकार करते रहने को विवश रहना पड़ा। ७१४ ई० में जाबुल के राजा ने भेंटें भेजनी एकदम बंद कर दीं। अब्बासी खलीफा मन्सूर (७५४-७७५ ई०) के समय जाबुल से भेंटें वसूल करने के लिए अरबों ने पुनः एक बार प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया, किन्तु उनके सैनिक अभियानों को कोई विशेष सफलताएँ नहीं प्राप्त हुई और स्थायीरूप से अथवा बड़ी मात्रा में काबुल एवं जाबुल से वे कर न वसूल कर सके[१]। इस प्रकार सातवीं शताब्दी के मध्य से नवीं शताब्दी के मध्य तक लगभग २०० वर्षों के बीच समय-समय के अन्तर से किये गये अरबों के अनेक सैनिक अभियानों के बावजूद मुसलमानी सत्ता काबुल और जाबुल पर स्थापित न हो सकी और वहाँ के शाही राजा अपनी स्वतंत्रता बनाये रखने में सफल रहे। अरबों ने वहाँ के कुछ राजाओं को उनकी कुछ जनता सहित मुसलमान अवश्य बनाया लेकिन बहुतों ने उनका दबाव कम होते ही पुनः हिन्दू धर्म ग्रहण कर लिया। बिलाधुरी वहाँ के राजाओं को **रतबील** की संज्ञा देता है, जिसका ठीक-ठीक अर्थ समझ में नहीं आता। वह कोई पदवी प्रतीत होती है। वे उन तुर्कीशाहियों के वंशज प्रतीत होते हैं जिनका पाँचवीं शती के बाद कई सौ वर्षों तक हिन्दुकुश के दक्षिण एवं दक्षिण-पश्चिम के क्षेत्रों पर अधिकार था। तथापि अरबों ने इन हिन्दू शासकों के विगत दो सौ वर्षों से चले आ रहे संघर्षों को सर्वदा के लिए समाप्त कर देने का अपना प्रयत्न कभी बंद नहीं किया। सफ्फारी वंश के संस्थापक याकूब-बिन्-लय्थ ने ८७० ई० में जाबुल और काबुल दोनों को जीत लिया। जाबुलितान का राजा मारा गया और उसकी प्रजा इस्लाम धर्म स्वीकार करने के लिए विवश की गयी। किन्तु काबुल ने अपनी स्वतंत्रता पुनः प्राप्त कर ली और वहाँ अगले सौ वर्षों से कुछ अधिक समय (लगभग १००० ई०) तक हिन्दू अथवा ब्राह्मणशाहियों का शासन चलता रहा। उनका इतिहास हम अगले अनुच्छेदों में देखेंगे।

काबुल और पंजाब का हिन्दू शाही राज्य

अल्-बीरूनी काबुल के अन्तिम तुर्कीशाही राजा का नाम लगतुरमान (लगभग नवीं शताब्दी का अन्त) बताता[२] है जिसका कल्लार अथवा कल्लर नामक एक योग्य

---

१. वहीं, भाग २, पृष्ठ १४५-१५५।

२. सम्पूर्ण विवरण के लिए देखिए, सखाऊ, जिल्द २, पृष्ठ ११-१३।

और प्रभावशाली ब्राह्मण जाति का मंत्री था। लगुतरमान के बुरे व्यवहारों से उसकी प्रजा असन्तुष्ट हो गयी। कल्लर ने इस परिस्थिति का लाभ उठाकर उसे कैद कर लिया और स्वयं राजा बन बैठा, जिससे हिन्दूशाही अथवा ब्राह्मणशाही नाम से एक नये राजवंश का प्रारम्भ हुआ। अल्बीरूनी ने सामन्त, कमलू, भीम, जयपाल, आनन्दपाल और त्रिलोचनपाल नामक कल्लर के छह उत्तराधिकारियों की गिनती की है, किन्तु वह उनका कोई विशेष इतिहास नहीं देता। उनके प्रारंभिक इतिहास का कुछ ज्ञान हमें कल्हणकृत **राजतरंगिणी** से तथा बाद के इतिहास की जानकारी अन्य मुसलमान इतिहासकारों से होती है। कल्हण सम्भवत: कल्लर को ही लल्लिय कहता है[१] और उसके 'राज्य को दरदों और तुरुष्कों के बीच में वैसे ही दबा हुआ[२]' बताता है जैसे कोई मानों 'एक ओर सिंह और दूसरी ओर वराह के बीच में हो'। किन्तु वह उस क्षेत्र की तुलना 'हिमालय और विंध्याचल के बीच स्थित आर्यावर्त्त' से करता है, जिससे स्पष्ट है कि कल्हण की दृष्टि में कल्लर अथवा लल्लिय आर्यधर्म का अग्ररक्षक था। पुन: वह कहता है कि उसके 'नगर उद्भाण्ड में अन्य राजाओं को शरण मिलती थी'। स्पष्ट है कि ८७० ई० में सफ्फारियों द्वारा काबुल पर अधिकार कर लिये जाने के परिणामस्वरूप लल्लिय को पंजाब में उद्भाण्डपुर अर्थात् ओहिन्द (रावलपिण्डी जिले में अटक के १५ मील ऊपर सिन्ध के दाहिने किनारे का उण्ड) में चला जाना पड़ा। कमल के समय शाहियों की राजधानी ओहिन्द में होने की सूचना मुसलमान इतिहासकार भी देते हैं[३]। लल्लिय कश्मीर के उत्पलवंशी राजा शंकरवर्मा (८८३-९०२ ई०) का समकालिक तथा अलखान नामक उस गुर्जर राजा का संरक्षक था, जो दर्वाभिसार के दक्षिण पड़ने वाले झेलम और चेनाव नदियों के बीच के ऊपरी दोआब एवं उसके पूरब में पड़ने वाले पंजाब के मैदानों पर

---

१. राज०, पंचम, १५२-१५५; कनिंघम्, आसरि० जिल्द ५, पृष्ठ ८३।

२. स्टाइन (राज० का अंग्रेजी अनुवाद, जिल्द १, पृष्ठ ४७; प्रथम तरंग के ३१२-१६ सं० वाले श्लोकों पर पादटिप्पणी) के मतानुसार दरदों का क्षेत्र चित्राल और यसीन से प्रारम्भ कर सिन्धु के पार कश्मीर के उत्तर गिलगिट, किलस, बुंजी तथा किसनगंगा की घाटी तक फैला हुआ था। तुरुष्कों का तात्पर्य दक्षिण-पश्चिम के अरबी मुसलमानों से है, जो पिछले दो सौ वर्षों से जाबुल और काबुल पर आक्रमण करते चले आ रहे थे।

३. इलियट् और डाउसन्, पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द २, पृष्ठ १७२। उद्भाण्डपुर की ओहिन्द से पहचान के लिए देखिए, कनिंघम्, ऐंश्येंट ज्यॉग्रफी, पृष्ठ ५३-५४। रैवर्टी ने उसे भटिण्डा से मिलाने (तबकाते-नासिरी का अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ ७९ नोट) में गलती की।

शासन करता था[१] । शंकरवर्मा ने यद्यपि चेनाव के पूर्व पहाड़ियों में स्थित तक्क नामक क्षेत्र को तो अलखान से छीन लिया, वह लल्लिय को अपनी अधिसत्ता मानने के लिए विवश नहीं कर सका। इसलिए कल्हण उसकी (लल्लिय की) वीरता और उपलब्धियों को उत्तर भारत के सभी राजाओं से बढ़कर बताता है[२] । किन्तु शंकरवर्मा के उत्तराधिकारी गोपालवर्मा (९०२-९०४ ई०) के कोषाध्यक्ष प्रभाकरदेव ने शाहियों के अगले राजा सामन्त को हराया और लल्लिय के तोरयाण नामक पुत्र को **कमलुक** की उपाधि देकर राजा बनाया[३] । अफगानिस्तान और पंजाब में श्रीसामन्त अथवा सामन्तदेव नामक किसी राजा के वृषभ-अश्वारोही शैली के बहुत से सिक्के प्राप्त हुए हैं । सिक्कों का यह सामन्तदेव लल्लिय का पुत्र सामन्त ही है । मुहम्मद औफी नामक मुसलमान इतिहासकार **कमलुक** को 'हिन्दुस्तान का राय कमल' की संज्ञा देता हुआ उसे सफ्फारी शासक अम्र-इब्न-लय्थ (८७९-९०० ई०) का समकालिक बताता[४] है, जिसके समय जाबुलिस्तान के गर्वनर फर्दघान ने उसकी राज्यसीमा के भीतर स्थित सकावन्द नामक कोई तीर्थस्थान लूटा था। **कमलुक** के बाद उसका पुत्र भीम अथवा भीमदेव राजा हुआ, जिसका देवै नामक स्थान से एक अभिलेख प्राप्त हुआ (एइ०, जिल्द २१, पृष्ठ २९८) है। उसमें उसे **परमेश्वर** और **महाराजाधिराज** के विरुद दिये गये हैं। काबुलिस्तान में श्रीभीमदेव नाम से अंकित कुछ चाँदी के सिक्के भी पाये गये[५] हैं, जो इसी के समझे जाते हैं । आसपास के राज्यों से उसके सम्बन्ध मित्रतापूर्ण थे । यह इस बात से प्रमाणित है कि उसकी पुत्री लोहर के राजा[६] सिंहराज से ब्याही थी । इसी विवाह से उत्पन्न पुत्री दिद्दा थी, जो कश्मीर के राजा क्षेमगुप्त (९५०-९५८ ई०) की

---

१. राज०; पंचम, १५२ ।

२. वहीं, १५० तथा १५२ और आगे ।

३. वहीं, २३२-२३३ ।

४. इलियट् ऐण्ड डाउसन्, पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द २, पृष्ठ १७२ । यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि कल्हण ने गोपालबर्मन् का समय ९०२-९०४ ई० निश्चित किया है । चूँकि कमलू उसके समय ही राज्यासीन हुआ था और वह अम्र-इब्न-लय्थ (८७९-९००) का भी समकालिक कहा गया है, या तो लय्थ का शासन-समय कुछ और आगे तक जाना चाहिए अथवा गोपालवर्मा का शासन कुछ और पहले से प्रारम्भ हुआ मानना चाहिए ।

५. कनिंघम्, क्वायन्स् ऑफ् मेडिवल् इण्डिया, पृष्ठ ६४-६५ ।

६. लोहर का राज्य कश्मीर के दक्षिण-पश्चिम पूँच क्षेत्र में पीरपंजाल की पहाड़ियों के ठीक दक्षिण लोहरिन् नदी की घाटी में स्थित था ।

बहुनाप्रसिद्ध रानी हुई। दिद्दा के कारण क्षेमगुप्त के समय कश्मीर के राजदरबार से भीमदेव की घनिष्ठता का सम्बन्ध हो गया और वहाँ उसने भीमकेशव नामक एक विष्णुमंदिर बनवाया। स्टाइन ने उस मंदिर की पहचान आजकल के एक मुसलमानी जिरात से की[1] है, जो मार्त्तण्ड मंदिर के पास बुमुज में स्थित है। अल्-बीरूनी और अन्य मुसलमान इतिहासकार भीम के बाद जयपाल का नाम लेते हैं, जिसके समय सर्वप्रथम काबुल पर यमीनी तुर्कों के आक्रमण प्रारम्भ हुए थे। किन्तु **राजतंरगिणी** (पृष्ठ, २३०-२४६) में उसकी कोई चर्चा नहीं है, प्रत्युत् थक्कन नामक एक अन्य शासक का वहाँ उल्लेख है, जिसे अभिमन्यु (९५८-९७२ ई०) के सेनापति यशोधर ने ईर्ष्या के कारण बलपूर्वक कैद कर लिया तथा भेंट देने और अधीनता स्वीकार करने को विवश किया। ऐसा प्रतीत होता है कि अल्-बीरूनी ने सभी शाही राजाओं का क्रमिक उल्लेख न कर केवल प्रमुख राजाओं की ही चर्चा की है। फिरिश्ता जयपाल के पिता का नाम इष्टपाल बताता हैं। इलियट ने जयपाल के समय से शाही राजाओं के नामों में 'पाल' जोड़े जाने के कारण एक नये राजवंश की कल्पना कर ली, जिसे अन्य विद्वान् स्वीकार नहीं करते[2]।

जयपाल

परमभट्टारक महाराजाधिराज श्री जयपालदेव का एक खण्डित प्रस्तर अभिलेख (आसरि०, १९१७ ई०) स्वात के ऊपरी क्षेत्रों की एक पहाड़ी से प्राप्त है। इस जयपालदेव को शाही जयपाल से मिलाया गया है। इस अभिलेख से यह प्रमाणित है कि उसका राज्य स्वात नदी की घाटी तक विस्तृत था। फिरिश्ता के अनुसार लम्बाई में वह सरहिन्द से लमगान तक तथा चौड़ाई में कश्मीर से मुल्तान तक फैला हुआ था[3]। किन्तु मुसलमानों के सतत दबाव को रोकने के लिए आवश्यक योजनाओं को कार्यान्वित करने की दृष्टि से वह भटिण्डा (पटियाला जिले) में रहने लगा था। कश्मीर के राजाओं और कन्नौज के गुर्जरप्रतीहार शासकों की कमजोरी के कारण भटिण्डा के आसपास के प्रदेशों को अधिकृत कर लेने में शायद उसे कोई कठिनाई न हुई होगी। ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी राजधानी उद्भाण्डपुर से भटिण्डा ले जाने के क्रम में कदाचित्

१. राज०, अंग्रेजी अनुवाद, जिल्द १, पृष्ठ १०५-१०६ तथा पंचम तरंग के श्लोक सं० १७७-१७८ पर पादटिप्पणी।

२. इस सम्बन्ध में देखिए, इलियट् और डाउसन्, पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द २, पृष्ठ ४३२, पादटिप्पणी ३; र० चं० मजुमदार, जडिले०, जिल्द १०, पृष्ठ ७५।

३. ब्रिग्स्, तारीखे-फिरिश्ता, जिल्द १, पृष्ठ १५। इस सम्बन्ध में और देखिए, मुहम्मद नाजिम, जराएसो०, १९२७, पृष्ठ ४८६-४८७।

कुछ समय के लिए वह लाहौर भी रुका था । इल्तुतमिश के समय का मुहम्मद-बिन्-कासिम नामक एक इतिहासकार लाहौर में उसके युद्धों की चर्चा करता है, जिनमें विजयी होकर आनन्दपाल (जयपाल के पुत्र) ने ९९९ ई० में लाहौर अधिकृत कर लिया। मुसलमान लेखकों ने उसे भिन्न-भिन्न रूप में कभी हिन्दुस्तान का राजा, कभी पंजाब का राजा और कभी काबुल का राजा कहा है ।

सुबुक्तगीन का आक्रमण

जयपाल के समय गजनी के तुर्की मुसलमानों ने भारत की सीमाओं पर आक्रमण करना पुनः प्रारम्भ कर दिया । मुल्तान और लमगान जैसे क्षेत्रों पर अल्प्तगीन (९३३-९६३ ई०) के लुटेरू धावों से आतंकित होकर मुल्तान के अमीर और काबुल-पंजाब के शाहियों ने एक संयुक्त मोर्चा बना लिया था । उस संघ ने यमीनी तुर्कों को अपनी सीमाओं पर ही रोकने का प्रयत्न किया । मिनहाजुद्दीन कहता है कि ९७३ ई० में 'गजनी को जीतने की इच्छा से काफिरों (हिन्दुओं) का एक दल हिन्द के आगे तक चढ़ गया था[१] ।' यह प्रयत्न सम्भवतः उस संघ की ओर से ही किया गया था । किन्तु यह मोर्चा बहुत दिनों तक चल नहीं सका । ९७७ ई० में सुबुक्तगीन (नासिरुद्दीन) गजनी का शासक हुआ और शेख हमीद लोदी को शाहियों से अलग कर देने में सफल हो गया । तदुपरान्त धर्मयुद्ध करना अपना कर्त्तव्य मानते हुए उसने जयपाल की सीमाओं पर स्थित अनेक किलों पर अधिकार कर (९७८ ई०) अपने राज्य की सीमाएँ बढ़ानी प्रारम्भ कर दीं । जयपाल ने भी उसके मुकाबले के लिए तैयारियाँ कीं और गजनी से मिलनेवाली अपनी सीमाओं पर स्थित किसी किले के पास डट गया । उत्बी कहता है[२] कि दोनों दलों के बीच होने वाली मुठभेड़ों से युद्ध स्थल लहू-लुहान हो गया, किन्तु किले पर यमीनियों का अधिकार न हो सका । इसी बीच एक भयानक हिमवर्षा[३] से जयपाल की मैदानी सेनाओं को बड़ी भारी क्षति हुई और उसने सुबुक्तगीन के पास सन्धि के लिए प्रस्ताव भेजा । वह १० लाख

---

१. इलियट् ऐण्ड डाउसन्, पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द १, पृष्ठ ७३ ।

२. किताबे-यमीनी, इलियट् ऐण्ड डाउसन्, पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द २, पृ० १८-१९ । उत्बी के उद्धरणों को पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसकी दृष्टि में जयपाल का अपने राज्य की सीमाओं की रक्षा करना भी एक बड़ा भारी दोष था। वह पूर्णतः एकपक्षीय होकर जयपाल को आक्रामक बताने का प्रयत्न करता है ।

३. उत्बी (वहीं, पृष्ठ २०) सुबुक्तगीन और उसके पुत्र महमूद को इस हिमवर्षा का उत्पादक बताता है, जिन्होंने युद्धस्थल के पास ही बहनेवाले स्वच्छजल के एक सोते में कुछ गंदी चीजें (शराब) फेंककर बर्फीली आँधी के तेज झोंके, पानी और बादल तथा अन्य प्राकृतिक विपत्तियाँ उपस्थित कर दीं । यह कोरा अन्धविश्वास

दीनारों और ५० हाथियों की एक बड़ी संख्या लेने की शर्त पर जयपाल से सन्धि करने को तैयार हो गया। जयपाल को उन्हें पूरा करने के पूर्व अपने राज्य के कुछ किलों, नगरों एवं साथियों को बंधक रूप में उसे सौंपने को वचनबद्ध होना पड़ा। किन्तु कुछ दिनों बाद उसने उस संधि को समाप्त कर देने का निश्चय कर लिया। इस सम्बन्ध में प्राय: सभी मुसलमान इतिहासकार[१] उसे एकतरफा दोष देते हैं। किंन्तु सभी दृष्टियों से घटनाओं के पूर्वापर एवं सम्बद्ध विवरणों को देखने पर उत्बी का कथन पूर्णत: सत्य पर आधृत नहीं जान पड़ता। सुबुक्तगीन को जयपाल द्वारा भेजे गये संधि-प्रस्ताव के शब्दों को दुहराता हुआ वह जयपाल के चरित्र को एक अत्यन्त उज्ज्वलरूप से प्रस्तुत करता है। संधि-प्रस्ताव के अन्तिम शब्द थे 'तुमने भारतीयों के इस उत्तम चरित्र को सुना और जाना है कि किस प्रकार अत्यन्त घोर स्थिति में भी वे विनाश एवं मृत्यु से नहीं डरते। अपमानित करनेवालों से यदि बचने का उनके पास कोई उपाय नहीं होता तो वे उनके विरुद्ध तलवार की धार पर चढ़ जाते हैं। अपनी प्रतिष्ठा और यश के लिए हम आग पर मांस की तरह भुन जाने अथवा तलवार पर सूर्य की किरणों की तरह चमकने को तैयार रहते हैं।' सुबुक्तगीन के पास यह सन्देश भेजने वाले उस वीर राजा ने उपर्युक्त कठोर शर्तें मानी होंगी, इसमें सन्देह प्रतीत होता है। उत्बी अथवा अन्य मुसलमान लेखक युद्ध के उस प्रथम दौर में उसकी हार का कोई उल्लेख नहीं करते। वास्तविकता यह प्रतीत होती है कि युद्ध अन्त करने की चाहे जो भी शर्तें रही हों, दोनों ही पक्ष उनका स्थायी पालन करने को उद्यत नहीं थे, विशेषत: उस स्थिति में जबकि सुबुक्तगीन अपनी विजय-योजनाओं को त्यागने के लिए तैयार नहीं था। कदाचित् दोनों ही पक्ष युद्ध के उस प्रथम दौर की भयंकरताओं से थोड़े समय के लिए राहत चाहते थे। जो भी हो, यमीनियों नें थोड़े ही समय बाद जयपाल के विरुद्ध संधि की शर्तों की तथा-कथित अवहेलना का बहाना बनाकर 'लमगान को वीरान बना डाला,' 'अनेक अन्य क्षेत्रों को जीत लिया', 'मन्दिरों को मजिस्द बना डाला' तथा वे 'पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों को मारते हुए एवं गुलाम बनाते हुए आगे बढ़ने लगे।' फिरिश्ता कहता है कि जयपाल ने उसके मुकाबले के लिए अन्य राजाओं से मदद माँगी और दिल्ली, अजमेर,

---

है। वास्तव में इस हिमवर्षा से बर्फ के अभ्यस्त तुर्की सैनिकों को उतना कष्ट नहीं हुआ, जितना हिन्दुओं को। अत: उन्होंने उसे वरदान ही माना होगा।

१. स्रोतों का वैज्ञानिक परीक्षण करने वाले कुछ वर्तमान इतिहासकार भी उन प्राचीन मुसलमान लेखकों की बातें बिना किसी कसौटी पर कसे यथावत् स्वीकार कर लेते हैं। देखिए मु० हबीब, सुल्तान महमूद ऑफ् गजनीन, पृ० १४; मु० नाजिम, लाइफ ऐण्ड टाइम्स् ऑफ् महमूद ऑफ् गजना, पृ० २९।

कालिंजर और कन्नौज के राजाओं ने धन और सिपाहियों द्वारा उसकी सहायता की[१]। यद्यपि यह सम्भव है कि जयपाल की ओर से लड़ने के लिए हिन्दुओं का एक सैनिक संघ तैयार किया गया हो, उसमें शामिल होने वालों की उपर्युक्त सूची पूर्णतः सत्य अथवा ऐतिहासिक नहीं जान पड़ती। उस समय दिल्ली में कोई स्वतन्त्र राज्य नहीं था और अजमेर की तो स्थापना भी नहीं हुई थी। अतः वहाँ के राजाओं द्वारा जयपाल को धनजन भेजे जाने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। कालिंजर के चन्देल राजा धंग और कन्नौज के गुर्जरप्रतीहार शासक विजयपाल अथवा राज्यपाल के उसकी सहायता करने के सम्बन्ध में भी इदमित्थम् नहीं कहा जा सकता। १ लाख घुड़सवारों के अतिरिक्त एक विशाल पदाति और हस्तिसेना के साथ जयपाल लमगान के पास सुबुक्तगीन की सेनाओं से भिड़ा, किन्तु अपने शत्रु की कुशल रणनीति और मोर्चेबन्दी के सामने वह हारा और अपनी बची-खुची सेना लेकर पीछे हट गया[२]। मुसलमान लेखक इस युद्ध की तिथि का उल्लेख नहीं करते। अतः केवल अनुमान के आधार पर इसे सुबुक्तगीन की ९९७ ई० में मृत्यु के पूर्व १०वीं शताब्दी के नवें अथवा दसवें दशक में कहीं रखा जा सकता[३] है। इस पराजय के परिणामस्वरूप सिन्धु नदी के पश्चिमी किनारे के लमगान सहित अनेक प्रदेश जयपाल के हाथों से निकल गये। उत्बी, निजामुद्दीन और फिरिश्ता के परस्पर विरोधी कथनों के कारण यह कह सकना कठिन है कि पेशावर भी उसके उन विजित प्रदेशों में था या नहीं। किंतु सिन्धु नदी के पूरब का सारा शाही राज्य जयपाल के अधिकार में बचा रहा।

महमूद गजनवी का आक्रमण

९९७ ई० में सुबुक्तगीन की मृत्यु हो गयी और कुछ समय बाद ९९८ ई० में उसका पुत्र महमूद गजनी का शासक हुआ। बगदाद के खलीफा अल्-कादिर बिल्लाह ने **यामिनुद्दौला** और **अमीनुल्मिल्लाह** के विरुदों के साथ उसे सीस्तान, अफगानिस्तान और खुरासान का विधिवत् शासक मान (९९९ ई०) लिया। वह पद संभालते समय महमूद ने भारतवर्ष में बुतपरस्ती (मूर्त्तिपूजा) समाप्त करने के लिए काफिरों (हिन्दुओं) पर प्रतिवर्ष जेहाद (आक्रमण) करने की प्रतिज्ञा ली। इस प्रकार धर्म-

---

१. तारीखे-फिरिश्ता, ब्रिग्स्, जिल्द १, पृष्ठ १८। फिरिश्ता के इस कथन को प्रायः सभी आधुनिक इतिहासकार बिना किसी जाँच के ही स्वीकार कर लेते हैं।

२. उत्बी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २५; फिरिश्ता, ब्रिग्स्, जिल्द १, पृष्ठ १८; मिनहाजुद्दीन, जिल्द १, पृष्ठ ७४।

३. मु० नाजिम (लाइफ ऐण्ड टाइम्स् ऑफ् महमूद ऑफ् गजना, पृ० २२९) ने उस युद्ध की तिथि ९८६-९८७ ई० मानी है।

युद्ध के नाम पर बिना किसी कारण ही जयपाल के विरुद्ध वह सन्नद्ध हो गया। महमूद द्वारा धर्मयुद्ध करने के इस निर्णय को दुहराता हुआ उत्बी उसकी सैनिक तैयारियों की जो चर्चा करता है[१], उससे उसकी अत्यन्त कुशल एवं दक्ष रणनीति का परिचय प्राप्त होता है। तदनुसार, महमूद ने अपने राज्य के भीतर के सभी घोड़ों और घुड़सवारों का लेखा मंगवाया और उनमें से सर्वाधिक वीर और पूर्णतः स्वस्थ १५००० घुड़सवारों को चुनते हुए शेष सबको अपने साथ जाने से कड़ी तरह मना कर दिया। इधर जयपाल भी उसके मुकाबले के लिए १२००० घुड़सवारों, ३०००० पदातियों और ३०० हाथियों से सज्ज होकर चला, किन्तु न तो उसकी सेना का अभ्यास और अनुशासन तुर्की सेना के समान था और न वह पूरी तैयार ही था। उधर महमूद ने जयपाल को अपनी तैयारियाँ पूरी करने का मौका न देने का निर्णय कर लिया और बिजली की तरह उस पर टूट पड़ा। २७ नवम्बर १००१ ई० को दोनों दलों का कड़ा मुकाबला हुआ, जिसमें उभयपक्षों ने अनेक प्रकार की वीरताएँ प्रदर्शित कीं। किन्तु अन्त में १५००० हिन्दू सैनिक मारे गये[२] और जयपाल अपने कई सेनापतियों एवं सम्बन्धियों के साथ पकड़ा गया। महमूद ने उसके गले की बहुमूल्य रत्नजटित माला[३] तथा उसके साथियों के आभूषण उतरवा लिये। उसके अतिरिक्त उसे लूट का बहुत अधिक सामान तथा 'खुरासान से भी बड़े और अधिक उपजाऊ एक भारतीय प्रान्त पर' अधिकार मिला। जयपाल अनेक प्रकार से अपमानित किये जाने के बाद ५० हाथियों की भेंट[४] के बदले मुक्त कर दिया गया। अपनी वृद्धावस्था में इस अपमान से जयपाल का हृदय व्याकुल हो उठा और अपनी गद्दी अपने पुत्र आनन्दपाल को देकर स्वयं प्रज्ज्वलित चिताग्नि में वह जीवित ही दग्ध हो गया।

महमूद का आनन्दपाल पर आक्रमण

१००१-१००२ ई० में आनन्दपाल शाहिय राजगद्दी पर आसीन हुआ। उस समय

---

१. पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २५। गर्दीजी जयपाल पर १००१ ई० में महमूद द्वारा किये गये आक्रमण के पूर्व १००० ई० में भी लमगान के पार्श्ववर्ती हिन्दू क्षेत्रों पर उसके एक आक्रमण की चर्चा करता है। मु० नाजिम, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ८६।

२. मु० हबीब (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २२) युद्ध में मारे जाने वाले हिन्दुओं की संख्या केवल ५००० बताते हैं।

३. उत्बी (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २५) ने उस माला का मूल्य २० लाख दीनार तथा जयपाल के अन्य साथियों के आभूषणों का मूल्य ४० लाख दीनार बताया है।

४. फिरिश्ता का कथन है (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३८) कि जयपाल को अपनी मुक्ति के लिए महमूद के पास बहुत अधिक धन और हाथियों की भेंट प्रतिवर्ष भेजना स्वीकार करना पड़ा।

की राजनीतिक स्थिति उसके लिए अत्यन्त भयावह थी । यद्यपि दक्षिण में उसकी राज्य-सीमाएँ अब भी मुल्तान के अमीर द्वारा शासित क्षेत्रों को छूती थीं और भाटियाह[१] सहित झेलम के पश्चिमी किनारे के प्रदेश उनमें सम्मिलित थे, उसका राज्य तेजी से क्षीण हो रहा था । उसके राज्यारोहण के समय भाटियाह का शासक विजयराज सम्भवत: स्वतंत्र हो चुका था । इन सबका प्रधान कारण महमूद के आक्रमण (१००१ ई०) में जयपाल की पराजय थी । शाहियों की इस कमजोर स्थिति में ही महमूद ने आनन्दपाल पर आक्रमण करने का निश्चय कर लिया । फिरिश्ता उस निश्चय का कारण यह बताता है कि आनन्दपाल ने उसके पास वार्षिक भेंटें भेजनी बन्द कर दीं[२] । किन्तु उत्बी महमूद के आक्रमण के निश्चय का कोई कारण नहीं देता । निश्चय ही महमूद धर्मोन्माद और विजय की भावनाओं से प्रेरित था । भाटियाह के किले का सामरिक महत्त्व उसे आकृष्ट कर रहा था और वह उस पर चढ़ गया । वहाँ का राजा विजयराय (विजयराज) तीन दिनों तक वीरतापूर्वक लड़ने के बाद अपनी रक्षाके लिए भागा और अन्त में स्वयं अपना प्राणान्त कर डालने को विवश हुआ । तत्पश्चात् महमूद ने मुल्तान की विजय का निश्चय किया, जिसके शासक दाऊद ने आनन्दपाल से सहायता माँगी । सिन्धु को पार कर लेने के बाद महमूद ने भी आनन्दपाल के पास यह सन्देश भेजा कि वह मुल्तान के विरुद्ध उसकी सेनाओं को अपने राज्य से जाने दे । किन्तु आनन्दपाल दाऊद की तरह ही महमूद की विजय योजनाओं से सशंकित था और, जैसा कोई भी स्वाभिमानी राजा करता, उसने महमूद को अपने राज्य से सेनाएँ भेजने की स्वीकृति नहीं दी । परिणामस्वरूप उसका राज्य महमूद की लूट, विनाश और नरसंहार का शिकार हुआ और आनन्दपाल के सामने अपने को बचाने की समस्या खड़ी हो गयी । महमूद ने दाऊद को हराकर उसे २०००० दीनारें प्रतिवर्ष भेंट देने को विवश किया । किन्तु थोड़े दिनों बाद ही महमूद को इलक खां तुर्क के विरुद्ध वंक्षु नदी के किनारे एक भीषण युद्ध में फँसना पड़ा । उस स्थिति से लाभ उठाना तो दूर रहा आनन्दपाल ने महमूद की सहायता करने का प्रस्ताव भेजा[३] । हो सकता है कि वह महमूद की स्थायी मित्रता चाहता हो । किन्तु महमूद उसकी सहायता का इच्छुक

---

१. भाटियाह, भातियाह अथवा भाटिय की पहचान के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है । इलियट् ऐण्ड डाउसन् (पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द २, पृष्ठ ४३९-४०) ने उसे भेरा से मिलाया, जिसे बहुत विद्वानों ने स्वीकार कर लिया । किन्तु मु० नाजिम (लाइफ ऐण्ड टाइम्स् ऑफ् महमूद ऑफ् गजना, पृष्ठ १९७-२०२) उसे भटिण्डा से मिलाते हैं ।

२. पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द १, पृष्ठ ३९ ।

३. अल्-बीरूनी, सखाऊ, जिल्द २, पृष्ठ १३-१४ ।

नहीं था। वह तुर्कों से निपटते ही, १००५ ई० में मुल्तान पर किये गये आक्रमण के समय बाधा पहुँचाने का आनन्दपाल पर दोषारोपण कर, १००८ ई० में पंजाब पर चढ़ गया। फिरिश्ता कहता है कि दिल्ली, कालिंजर, कन्नौज, ग्वालियर और उज्जैन के राजे उसकी सहायता में अपनी सेनाएँ लेकर संघबद्ध हो गये। यहाँ तक कि दूर-दूर से हिन्दू स्त्रियों ने भी आभूषणों को बेचकर अथवा गलाकर तथा गरीबों ने सूत कातने जैसे परिश्रम से धन जुटाकर युद्ध के लिए भेजा। स्मिथ महोदय ने फिरिश्ता के इस उल्लेख को ऐतिहासिक स्वीकार करते हुए[१] उस संघ में सम्मिलित होने वाले राजाओं की पहचान करने का प्रयत्न किया। किन्तु उत्बी अथवा निजामुद्दीन जैसे लेखकों ने कहीं भी महमूद के विरुद्ध किसी सैनिक संघ के निर्माण की कोई बात नहीं कही है। पीछे हम देख चुके हैं कि जयपाल और सुबुक्तगीन के युद्ध के सम्बन्ध में भी फिरिश्ता इसी प्रकार के एक हिन्दू संघ की बात करता है, किन्तु उसकी ऐतिहासिकता प्रमाणित नहीं है। इसमें सन्देह नहीं प्रतीत होता कि तुर्क आक्रमणों की विभीषिका से उत्तर भारत के प्रायः सभी राजे अपने-अपने राज्यों के भविष्य के बारे में समान रूप से चिंतित थे। किन्तु एक साथ समवेत होकर उन्होंने उसका प्रतीकार करने का प्रयत्न किया, इस संबंध में फिरिश्ता का ब्यौरा काल्पनिक प्रतीत होता है और उसपर विश्वास नहीं किया जा सकता। सम्भवतः फिरिश्ता ने महमूद की प्रशंसा में उसके प्रतिरोध को बढ़ा-चढ़ाकर बताया। जो भी हो, महमूद और आनन्दपाल तथा उसके सहायकों के बीच सिन्धु नदी के किनारे कहीं पेशावर के पास घमासान लड़ाई हुई, जिसमें घक्करों (खोकरों) ने मुसलमान सेनाओं की पाँतों में घुसकर बड़ी हानि पहुँचायी और उनके पाँच हजार सैनिकों को मार डाला। किन्तु इसी बीच मुसलमान सैनिकों द्वारा छोड़ी जाती हुई अलकतरे की अग्निज्वालाओं से भयभीत होकर आनन्दपाल का हाथी भागा। उसे उसकी सेना ने पलायन मानकर लड़ना बन्द कर दिया। पीछे कई बार भारतीय सेनाओं ने ऐसी ही घटनाओं के कारण जीतते हुए युद्धों को भी हारा था। महमूद विजयी हुआ, किन्तु युद्ध की लूट में कुछ हाथियों के अतिरिक्त उसके हाथ कोई विशेष वस्तुएँ न लगीं। लूट की अपनी भूख मिटाने के लिए उसने कुछ समय बाद (१००९ ई०) नगरकोट का मन्दिर लूटा। आनन्दपाल को भी भेंटे देने और अधीनता मानने के लिए विवश होना पड़ा। किन्तु महमूद अपने सैनिक धावों से विरत नहीं हुआ। १०११-१२ ई० में उसने थानेश्वर का मन्दिर भी लूटा।

त्रिलोचनपाल

१०१२ ई० के आसपास आनन्दपाल की मृत्यु हो गयी। थोड़े दिनों बाद उसके पुत्र त्रिलोचनपाल को भी महमूद के आक्रमण का शिकार होना पड़ा। उसका पुत्र भीम

---

१. जराएसो०, १९०९, जिल्द १, पृष्ठ २७७।

प्रशासन में उसका प्रमुख सहायक रहा प्रतीत होता है। उसने महमूद के सम्भावित आक्रमणों के विरुद्ध युद्ध की तैयारियाँ प्रारम्भ कर दीं। मुसलमान लेखक उसे 'निडर भीम' कहते हैं[१]। उसने मर्गला के दर्रे में अपनी किलेबन्दी कर अपने सामन्तों के साथ महमूद की बढ़ती हुई सेनाओं को रोकने का निश्चय कर लिया। उसे सैनिक सहायताएँ प्राप्त होती रहीं और दोनों पक्षों में कई दौर युद्ध हुए। किन्तु महमूद ने उस दर्रे को जीतकर १०१३-१४ ई० में नन्दन के दुर्ग पर चढ़ाई कर दी, जिससे भयभीत होकर त्रिलोचनपाल और भीम कश्मीर चले गये और वहाँ के राजा संग्रामराज (१००३-१०२८ ई०) से मिलकर शत्रुओं से लड़ने की तैयारी करने लगे[२]। कश्मीरी मंत्री तुंग उनकी सहायता के लिए भेजा गया, किन्तु उसे न तो मुसलमानों के विरुद्ध युद्ध का कोई अनुभव था और न वह त्रिलोचनपाल के अनुभवों से लाभ उठाने को तैयार था। अपने घमण्ड के कारण वह हारा[३]। किन्तु त्रिलोचनपाल उसके बाद भी लड़ता रहा। कल्हण अपनी **राजतरंगिणी** में उसकी वीरता की बहुत प्रशंसा करता है[४]। साथ ही उससे यह भी ज्ञात होता हैं कि महमूद और कश्मीरी सेनाओं की मुठभेड़ तोषी (पूँच क्षेत्र की आधुनिक तोही) नदी के किनारे कहीं हुई थीं। इस युद्ध के बाद भी त्रिलोचनपाल १०२१ ई० तक जीवित रहा और उस बीच उसने कभी भी यमीनियों को शान्तिपूर्वक नहीं रहने दिया[५]। विद्याधर की आज्ञा से उसके कछवाहा सामन्त अर्जुन के हाथों कन्नौज के राजा राज्यपाल के मारे जाने पर त्रिलोचनपाल ने चन्देलों की सहायता से अपना राज्य तुर्कों से वापस जीतने का एक बार और प्रयत्न किया। १०१८-९ ई० में महमूद जब चन्देलों पर चढ़ाई के लिए चला तो रास्ते में राहिब अर्थात् रामगंगा नदी के किनारे त्रिलोचनपाल ने उसका जमकर मुकाबला किया, अन्त में अपने को परास्त होते देखकर वह अपना प्राण बचाने के लिए चन्देल सेनाओं के खेमें की ओर भागा[६]। समय से सहायता न मिलने के कारण उसके संघर्षों का कोई विशेष परिणाम नहीं निकला और पंजाब पर वह पुनः अधिकृत न हो सका।

---

१. मु० हबीब, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ३४।

२. राज० सप्तम, ४७ और आगे।

३. स्टाइन ने इस युद्ध का समय १०१३ ई० निश्चित किया है। देखिए, राज०, अंग्रेजी अनुवाद, जिल्द १, पृष्ठ १०७।

४. राज०, सप्तम, ५७-५८; गर्दीजी, पृष्ठ ७२।

५. देखिए, मु० नाजिम, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ९४-९५।

६. वहीं, पृष्ठ ९४; इबुल्-अतहर, अल्-तारीख-उल् कामिल का अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ ११६ और आगे; फिरिश्ता; बिग्स् का अंग्रेजी अनुवाद, जिल्द १, पृष्ठ ६३।

भीम

त्रिलोचनपाल के पुत्र भीमपाल ने लोहर के आसपास के पहाड़ी क्षेत्रों में १०२६ ई० तक शासन किया। किन्तु शाही वंश के इतिहास की दृष्टि से उसका कोई महत्त्व नहीं जान पड़ता। अल्-बीरूनी शाहियों की प्रशंसा करता हुआ कहता है कि 'वे उदात्त विचारों वाले उच्चकुलीन व्यक्ति थे, जिन्होंने अपने प्रभूत ऐश्वर्य के समय भी सही और उचित कार्यों में शिथिलता नहीं दिखायी'[१]। कल्हण भी उनके दान और विद्याप्रेम की प्रशंसा करता (राज० सप्तम, ६६-६९) है।

❁❁❁

१. सखाऊ, जिल्द २, पृष्ठ १३।

९

पाल राजवंश

गोपाल (लगभग ७५०-७७० ई०) : पालवंश की स्थापना

शशांक की मृत्यु के बाद उत्पन्न बंगाल की राजनीतिक अव्यवस्था की चर्चा पीछे की जा चुकी है । उसका अन्तकर गोपाल ने पालवंश की स्थापना की, जिसके इतिहास की जानकारी के लिए हमें प्रचुर अभिलेखीय और साहित्यिक प्रमाण प्राप्त हैं । धर्मपाल के खालिमपुर अभिलेख[१] से यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन राजनीतिक अव्यवस्था (मात्स्यन्याय) से मुक्ति पाने के लिए **प्रकृतियों** ने गोपाल को लक्ष्मी (राज्यलक्ष्मी) की बाँह पकड़ायी अर्थात् उसे राजा चुना । यहाँ **मात्स्यन्याय** का तात्पर्य यह है कि गोपाल के राजा चुने जाने के पूर्व बंगाल में शासन नाम की कोई वस्तु नहीं थी और प्रत्येक सबल निर्बलों को उसी प्रकार समाप्त करने में लगा था जैसे बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को खा जाती हैं । लेकिन '**प्रकृतियों**' के अर्थ के बारे में कोई स्पष्टता नहीं है । प्राचीन भारतीय राजनीतिशास्त्रज्ञों ने राज्य का निर्माण करनेवाले सात तत्त्वों की गिनती की है, जिन्हें सप्तप्रकृति कहते हैं । किन्तु इस सन्दर्भ के **मात्स्यन्याय** की स्थिति में बंगाल में किसी राजा और राज्य के होने की कल्पना नहीं की जा सकती । अधिक सम्भव यही है कि यहाँ प्रकृति से उसके साधारण अर्थ जनता से तात्पर्य हो । उस जनवर्ग में प्रमुख सरदार अवश्य सम्मिलित रहे होंगे । तारानाथ से भी अशासन की स्थिति में गोपाल के राजा चुने जाने का समर्थन होता[२] है ।

पालों की उत्पत्ति

गोपाल के वंश और उसके पूर्वजों के बारे में बहुत सूचनाएँ नहीं मिलतीं । जो मिलती भी हैं, वे इतनी अस्पष्ट हैं कि उन सबको मिलाने पर भी हमारे सामने पालों की उत्पत्ति का कोई चित्र नहीं उपस्थित हो पाता । खालिमपुर अभिलेख से केवल इतना ज्ञान

---

१. मात्स्यन्यायमपोहितुं प्रकृतिभिर्लक्ष्म्याः करं ग्राहितः ।

श्रीगोपाल इति क्षितीशशिरसां चूडामणिस्तत्सुतः ।। एइ०, जिल्द ४, श्लोक २, पृ० २४८ ।

२. मात्स्यन्याय की अवस्था का उल्लेख तारानाथ भी करता है । देखिए, इऐ०, जिल्द ४, पृ० ३६६ ।

होता है कि गोपाल के पिता का नाम वप्यट और पितामह का नाम दयितविष्णु था। राजनीतिक दृष्टि से उनका कोई महत्त्व न था, जो इस बात से स्पष्ट है कि उपर्युक्त अभिलेख के अतिरिक्त अन्य किसी पाल अभिलेख में उनका नाम नहीं आता। तारानाथ[१] के अनुसार गोपाल की माता क्षत्रियकुलोत्पन्ना थी और एक **वृक्ष** देवता के संयोग से उसका (गोपाल का) जन्म पुण्ड्रवर्धन में हुआ था। बु-स्तोन नामक एक अन्य तिब्बती इतिहासकार भी गोपाल की कुछ इसी प्रकार की उत्पत्ति बताता है[२]। **अष्टसाहस्त्रिका प्रज्ञापारमिता** नामक बौद्धग्रन्थ पर धर्मपाल के समय हरिभद्र द्वारा विरचित एक टीका[३] में धर्मपाल को **राजभटादिवंशपतित** कहा गया है। विद्वानों में इस बात पर मतैक्य नहीं है कि यहाँ राजभट का तात्पर्य किसी राजा के किसी सैनिक अधिकारी[४] से है अथवा समतट में शासन करने वाले खड्ग वंश के राजभट अथवा राजराजभट नामक उस राजा से है, जिसका उल्लेख सातवीं शताब्दी के अन्त में भारत आनेवाला शेंग्-ची नामक चीनी यात्री करता है। खड्ग राजाओं और पालों में कम-से-कम एक बात की समता अवश्य थी कि दोनों ही वंश बौद्धधर्मावलम्बी थे। किन्तु **राजभटादिवंशपतित** में 'पतित' शब्द किसी अच्छे अर्थ में प्रयुक्त नहीं जान पड़ता। खालिमपुर अभिलेख में धर्मपाल की माता (गोपाल की रानी) देद्दा देवी को 'भद्रात्मजा' कहा गया है, जिससे कुछ विद्वानों ने उसे समतट पर शासन करनेवाले 'भद्र' नामान्त वंश में उत्पन्न हुआ माना है[५]। इस सन्दर्भ के अतिरिक्त पाल अभिलेखों में उनकी उत्पत्ति के बारे में कोई उल्लेख नहीं है। यह बात ध्यान योग्य है कि उन अभिलेखों में उस समय की प्रचलित प्रवृतियों

---

१. देखिए, इहिक्वा०, जिल्द १६, पृ० २२१-२२२।

२. बु-स्तोन, हिस्ट्री ऑफ् बुद्धिज्म, ओवरमिलर का अंग्रेजी अनुवाद, भाग २, पृष्ठ १५६।

३. मेम्वायर्स्, एशियाटिक सोसायटी, बेंगाल, जिल्द २, पृ० ५-६; रा० दा० बनर्जी, बांगलार इतिहास, जिल्द १, पृ० १६४, पादटिप्पणी ४। सम्बन्धित पद है:— 'राज्ये राजभटादिवंशपतित श्रीधर्मपालस्य वै'।

४. देखिए, महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री, मेम्वायर्स् एशियाटिक सोसायटी बेंगाल, जिल्द ३, पृ० ५-६। उन्होंने इस उल्लेख के आधार पर दयितविष्णु को एरण अभिलेख में उल्लिखित मातृविष्णु के वंश से जोड़ा। देखिए, कार्पस्, जिल्द ३, पृ० ८८ और आगे; योगेशचन्द्र घोष, इहिक्वा०, जिल्द ९, पृ० ४८१ और आगे।

५. देखिए, र० चं० मजुमदार, हिस्ट्री ऑफ् बेंगाल, जिल्द १, पृ० ९९; वि० प्र० सिनहा, डिक्लाइन् ऑफ् दि किंगडम् ऑफ् मगध, पृ० ३२७।

के विपरीत वे सूर्यवंशी अथवा चन्द्रवंशी जैसे किसी प्राचीन कुल से जोड़े नहीं गये हैं[१]। इसके विपरीत **आर्यमंजुश्रीमूलकल्प** में गोपाल को दासकुल (दासजीविन:) का व्यक्ति बताया (का० प्र० जायसवाल, इम्पीरियल् हिस्ट्री, पृ० ७२) गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि बंगाल में पालों की उत्पत्ति के बारे में यह विश्वास था कि वे किसी हीन जाति अथवा अप्रशस्त विवाह-सम्बन्ध से उत्पन्न हुए थे। इस निष्कर्ष का समर्थन उन तिब्बती अनुश्रुतियों से भी होता है जिनमें उनकी उत्पत्ति किसी वृक्षदेवता अथवा नाग से जोड़ी गयी है[२]। **वल्लालचरित** के अन्तर्गत आने वाले **व्यासपुराण** में उन्हें 'सबसे हीन क्षत्रिय' कहा गया है[३]। असम्भव नहीं है कि अपने कुल के बड़प्पन में विश्वास न होने के कारण ही पाल शासक बौद्ध धर्म की ओर उन्मुख हुए हों, जो जन्म नहीं अपितु कर्म से किसी को बड़ा अथवा छोटा मानता था। किन्तु धीरे-धीरे जब वे अपने समय की एक प्रमुख राजनीतिक सत्ता बन गये तो क्षत्रिय मान लिये[४] गये और राष्ट्र-कूट तथा हैहय जैसे तत्कालीन शक्तिशाली राजपरिवारों से उनका विवाह सम्बन्ध भी होने लगा।

पालों के मूलक्षेत्र

यह निश्चित करने का कोई पूर्णत: विश्वास्य प्रमाण नहीं है कि गोपाल ने मूलत: बंगाल के किस भाग पर अपना राज्य स्थापित किया। संध्याकर नन्दी अपने **रामपाल-चरित** में वारेन्द्र का उल्लेख पालों की 'जनकभू' (पितृभूमि) के रूप में करता है। वैद्यदेव के कमौली अभिलेख में भी यह कहा गया है (एइ०, जिल्द २, पृ० ३५०) कि कैवर्त्तों पर विजय प्राप्त कर रामपाल ने अपनी 'जनकभू' पुन: प्राप्त कर ली। मिहिरभोज की ग्वालियर प्रशस्ति में नागभट्ट (द्वितीय) के शत्रु को **वंगपति**[५] कहा गया है। तारानाथ का कथन है कि गोपाल पुण्ड्रवर्धन के पास एक क्षत्रिय माता के गर्भ से उत्पन्न

---

१. वैद्यदेव के कमौली अभिलेख (एइ०, जिल्द २, पृ० ३५०) में तृतीय विग्रहपाल को सूर्यवंश से जोड़ा गया है। किन्तु यह इतने समय बाद का है कि उसको कोई महत्त्व नहीं दिया जा सकता। इस सम्बन्ध में और देखिए, हेमचन्द्र राय, डाहिनाइ०, जिल्द १, पृ० २८४।

२. देखिए, इहिक्वा०, जिल्द ८, पृ० ५३०-५३१।

३. मेम्वायर्स्, एशियाटिक् सोसायटी, बेंगाल, जिल्द ३, पृ० ४।

४. बाद में लिखे जाने वाले अनेक ग्रन्थों में पालों को राम और मान्धाता की तरह सूर्यवंशी क्षत्रिय कहा गया है। देखिए, रामचरित, प्रथम, १७; सोड्ढलकृत उदय-सुन्दरीकथा (गायकवाड ओरियण्टल् सीरिज), पृ० ४।

५. एइ० जि० १८, पृ० ११० और आगे।

हुआ था और बंगाल (**भंगल अथवा भंगाल**) का राजा चुना गया था[१] । इन विभिन्न कथनों के आधार पर डॉ० मजुमदार ने यह निष्कर्ष निकाला[२] है कि उत्तरी बंगाल (वारेन्द्र अथवा वारेन्द्री) में उत्पन्न होते हुए भी गोपाल का मूल राज्यक्षेत्र पूर्वी और दक्षिणी बंगाल (वंग) में ही था । किन्तु इस निर्णय के विरुद्ध अनेक आपत्तियाँ सामने आती हैं । प्रथमतः, गोपाल की उत्पत्ति सम्बन्धी तारानाथ के उल्लेखों में कल्पना और अन्धविश्वास के पुट बहुत अधिक हैं । दूसरे, पालों के अधिकांश अभिलेख बिहार और उत्तरी बंगाल से ही मिले है । तीसरे, राष्ट्रकूटों के अभिलेखों[३] में विजित बंगाल का राजा (गोपाल अथवा धर्मपाल) गौड (उत्तरी बंगाल) का स्वामी कहा गया है । द्वितीय ध्रुव द्वारा पराजित राजा (धर्मपाल) भी **गौडाधिपति** ही अभिहित है । ये उल्लेख पाल इतिहास के अत्यन्त प्रारम्भिक दिनों के हैं । अतः इस प्रश्न पर कोई निश्चित मत नहीं स्थापित किया जा सकता कि गोपाल ने मूलतः अपना राज्य उत्तरी बंगाल (गौडवारेन्द्र) में स्थापित किया था अथवा पूर्वी और दक्षिणी बंगाल (वंग) में[४] । साथ ही यह बात भी ध्यान योग्य है कि यद्यपि प्रारम्भ में वंग नाम पूर्वी और दक्षिणी बंगाल के लिए ही प्रचलित था, बाद में उस नाम से समस्त बंगाल का बोध होने लगा[५] ।

इस बात की जानकारी का हमारे पास कोई साधन नहीं है कि बंगाल पर अधिकृत हो जाने के बाद गोपाल मगध का कोई भाग अपने अधीन कर सका अथवा नहीं । तारा-नाथ यह अवश्य सूचित करता है कि उसने ओदन्तपुरी (आधुनिक बिहारशरीफ नामक-कस्बा) से थोड़ी दूर पर नालन्दा बिहार की स्थापना की[५] । बु-स्तोन नामक एक अन्य तिब्बती लेखक भी गोपाल द्वारा नलेन्द्र बिहार के स्थापित किये जाने का उल्लेख करता है[६] ।

---

१. इहिक्वा०, जि० १६, पृ० २२१-२२२ ।

२. पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १०२; इहिक्वा०, जि० १६, पृ० २१९ और आगे ।

३. इस सम्बन्ध में देखिए, इऐ०, जि० ११, पृ० १५६ और आगे; एइ०, जिल्द १८, पृ० २४४ और आगे । अन्य संदर्भों के लिए देखिए, वि० प्र० सिनहा, डिक्लाइन् ऑफ् दि किंगडम ऑफ मगध, पृ० ४४५ ।

४. इस सम्बन्ध में देखिए, प्रमोदलाल पाल, इहिक्वा०, जिल्द १२, पृ० ५२२-५२४; धीरेन्द्र चन्द्र गांगुली, इहिक्वा०, जि० १९, पृ० २९७ और आगे, विशेषतः पृ० ३१७ ।

५. इऐ०, जि० ४, पृ० ३६६ ।

६. बु-स्तोन, हिस्ट्री ऑफ् बुद्धिज्म (ओवरमिलर का अंग्रेजी अनुवाद), भाग २, पृ० १५६ ।

इससे कुछ विद्वान्[१] यह निष्कर्ष निकालते हैं कि गोपाल का मगध पर भी अधिकार हो गया था। किन्तु इस बात पर मतैक्य नहीं है कि तारानाथ का नालन्दा महाविहार और बु-स्तोन का नलेन्द्र बिहार एक ही थे[२]। पालों के प्रायः सभी अभिलेख मगध से प्राप्त हुए हैं, किन्तु उनमें कहीं भी गोपाल का मगध से कोई सम्बन्ध नहीं दिखाया गया है। देवपाल के मुंगेर ताम्रपत्रफलकाभिलेख से यह ज्ञात होता है कि गोपाल ने समुद्रपर्यंन्त पृथ्वी जीती। किन्तु इस साधारण सी प्रशस्ति से यह निर्णय नहीं निकाला जा सकता कि वह बहुत बड़ा विजेता था। तृतीय विग्रहपाल के आमागाछी अभिलेख की एक श्लेषात्मक, किन्तु अस्पष्ट, उक्ति[३] के आधार पर मुहम्मद शहीदुल्लाह[४] ने यह मत व्यक्त किया कि गोपाल ने कामरूप पर विजय प्राप्त की। किन्तु इस मत का समर्थक अन्य कोई भी प्रमाण अब तक उपलब्ध नहीं हो सका है, जिस कारण अन्य विद्वानों द्वारा यह स्वीकृत नहीं हो सका है। ऐसी स्थिति में गोपाल की राजनीतिक और सैनिक उपलब्धियों के बारे में निश्चयात्मक ढंग से केवल इतना ही कहा जा सकता है कि उसने बंगाल की अस्तव्यस्तता और शासनाभाव की स्थिति (**मात्स्यन्याय**) का अन्तकर पाल राज्य की नींव डाली, जो शीघ्र ही उसके पुत्र धर्मपाल के समय साम्राज्यरूप में विकसित होने के प्रयत्नों में अग्रसर होने लगा।

धर्मपाल (लगभग ७७०-८१० ई०)

गोपाल के शासनकाल की ठीक-ठीक अवधि नहीं ज्ञात है[५]। धर्मपाल के राज्या-रोहण-वर्ष के ज्ञान का भी हमारे पास कोई स्पष्ट साधन नहीं है। हम आगे देखेंगे कि

---

१. वि० प्र० सिनहा, पूर्वनिर्दिष्ट, २३२-३३; हेमचन्द्र राय, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २८४।

२. इस पर देखिए दि० चं० सरकार, इण्डियन् कल्चर, जि० ७, पृ० १८३।

३. जित्वा यः कामकारिप्रभवमभिभवं शाश्वतीं प्राप्य शान्तिम्
स श्रीमान् लोकनाथो दशबलोऽन्यश्चगोपालदेवः। एइ०, जि० १५, पृ० २९५। यहाँ गोपाल की तुलना बुद्ध (दशबल) से की गयी है, जिन्होंने काम को जीता। उन्हीं की तरह गोपाल ने भी कामक (कामरूप) के अरि अर्थात् शत्रु राजा को जीता। परन्तु यह निर्विवाद नहीं है कि कामक यहाँ कामरूप के लिए ही आया है।

४. इहिक्वा०, जि० ७, पृ० ५३१-५३६।

५. तारानाथ (इऐ०, जिल्द ४, पृ० ३६६) के अनुसार गोपाल ने ४५ वर्षों तक शासन किया। किन्तु मंजुश्रीमूलकल्प (जायसवाल, इम्पीरियल् हिस्ट्री, पृ० ४८) में उसकी शासनावधि केवल २७ वर्षों की बतायी गयी है। वहाँ यह भी कहा गया है कि वह ८० वर्षों की अवस्था में गंगा के किनारे मरा। वि० प्र० सिनहा (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३६६) उसका शासनकाल ७५६ से ७८३ तक मानते हैं। डॉ०

उसकी समकालिकता वत्सराज और द्वितीय नागभट्ट नामक गुर्जर प्रतीहार शासकों तथा ध्रुव और तृतीय गोविन्द नामक राष्ट्रकूट राजाओं से थी । इन चारों की कुछ तिथियाँ ज्ञात हैं, जिनके आधार पर उनका समय ८वीं शती के अन्तिम चतुर्थांश और नवीं के प्रथम चतुर्थांश में निश्चितरूप से पड़ता है । अतः इस लम्बी अवधि के भीतर ही कहीं धर्मपाल की भी स्थिति माननी होगी ।

उत्तर भारत में राजनीतिक शून्य और उसका परिणाम

गोपाल से धर्मपाल को बंगाल में एक सुशासित राज्य और राजनीतिक शान्ति का उत्तराधिकार प्राप्त हुआ । अपनी राजनीतिक सत्ता के विस्तार में उसने जिस योग्यता और कौशल से उस विरासत का उपयोग किया वह भारतीय, विशेषतः बंगाल के, इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय बन गया । संयोगतः उस समय उत्तरी भारत में एक राजनीतिक शून्य व्याप्त था । परम्परया वह साम्राज्यों का हृदयस्थल रह चुका था किन्तु उस समय वहाँ कोई भी ऐसी प्रमुख सत्ता नहीं थी जिसने मौर्यों, गुप्तों अथवा हर्षवर्धन जैसी प्रतिष्ठा और शक्ति अर्जित की हो । ऐसी स्थिति में पूर्व और पश्चिम के प्रत्यन्तों और दक्षिणापथ में उठती हुई तीन महत्त्वाकांक्षी सत्ताओं की आँखें उत्तर भारत के तत्कालीन राजनीतिक केन्द्र दोआब (कन्नौज) पर गड़ने लगीं । ये तीन सत्ताएँ थीं—पाल, गुर्जरप्रतीहार और राष्ट्रकूट । वे सभी प्रायः एक ही साथ क्रमशः बंगाल, राजपूताना-मालवा और दक्षिणापथ में उठीं और लगभग १००-१५० वर्षों तक अन-वरत पारस्परिक संघर्ष करती रहीं । इस संघर्ष के कारण क्या थे, सम्बन्द्ध साक्ष्यों से स्पष्ट नहीं हो पाता तथा इस सम्बन्ध में विद्वानों की अनेक मान्यताएँ[1] हैं । जहाँ तक पाल-प्रतीहार संघर्षों का प्रश्न है, इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि प्रारम्भ में वे दोनों ही कन्नौज नगर पर अपना अधिकार स्थापित कर उत्तर भारत पर अपनी साम्राज्य सत्ता

मजुमदार के अनुसार (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १०३) उसका राज्यारोहण वर्ष ७४०-७५० के बीच कभी भी तथा मृत्यु ७७० ई० में स्वीकार की जा सकती है ।

१. डॉ० मजुमदार के मत (ऐश्येण्ट इण्डिया, द्वि० सं०, पृ० २८२-८३) में इस संघर्ष का उद्देश्य उत्तर भारत पर साम्राज्य-स्थापन था, जिससे प्रेरित होकर तीनों ही कन्नौज नगर पर अधिकार करना चाहते थे । डॉ० वि० प्र० सिनहा (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३३८) इसे स्वीकार करते हुए यह कहते हैं कि पालों और प्रतीहारों तथा राष्ट्रकूटों की प्रतियोगी नीतियों के प्रेरक तत्त्व मूलतः आर्थिक थे । गंगा-यमुना दोआब की प्रचुर धनसम्पत्ति और उससे गुजरने वाले व्यापार पथों का नियन्त्रण ही उनका उद्देश्य था । और देखिए, प्रमोदलाल पाल, इहिक्वा०, जिल्द १२, पृ० ६३६ ।

बढ़ाने का प्रयत्न कर रहे थे । किन्तु उनके संघर्षों के प्रथम दौर का अन्त होते-होते द्वितीय नागभट्ट के नेतृत्त्व में गुर्जर प्रतीहार अप्रतिवार्य रूप में कन्नौज पर स्थापित हो गये । उसके बाद पालों से उनके संघर्ष प्रधानतः एक दूसरे के मुकाबले अपनी प्रभुसत्ता स्थापित करने के लिए और आधुनिक पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार में मिलने वाली पारस्परिक सीमाओं की रक्षा अथवा एक दूसरे की कमजोरी का लाभ उठाकर उन सीमाओं के विस्तार के लिए ही हुए । राष्ट्रकूट भी इन संघर्षों में बार-बार हस्तक्षेप करते रहे और बारी-बारी से उन्होंने पाल और प्रतीहार दोनों ही सत्ताओं को पराजित किया । किन्तु ऐसा नहीं प्रतीत होता कि उनके उत्तर भारतीय धावों के पीछे उनका यह उद्देश्य था कि कन्नौज पर स्थायीरूप से अधिकृत होकर वे सारे भारतवर्ष का राजनीतिक और सैनिक नियंत्रण करें । राष्ट्रकूट और गुर्जर प्रतीहार सीमाएँ मालवा के पास मिलती थीं और उन सीमाओं पर संघर्ष होना स्वाभाविक था । यह ध्यान देने योग्य है कि राष्ट्रकूटों ने उत्तर भारत पर प्रायः उसी समय अभियान किये जब प्रतीहार और पाल आपस में लड़ रहे थे । उसका लाभ उठाकर उन्होंने बारी-बारी से दोनों को हराया । किन्तु इसके पीछे उनका उद्देश्य यह प्रतीत होता है कि उत्तर भारत में उन दोनों राजवंशों में किसी की भी शक्ति इतनी न बढ़ने दी जाय कि वे राष्ट्रकूटों के लिए ही घातक सिद्ध होने लगे । अपने पैतृक क्षेत्रों की रक्षा की चिन्ता करते हुए उनके लिए यह सम्भव नहीं था कि वे उत्तर में स्थायी रूप से टिक सकें । अतः इस त्रिकोणात्मक संघर्ष में राष्ट्रकूटों का उद्देश्य तत्कालीन राजनीतिक शक्ति-संतुलन न बिगड़ने देना मात्र प्रतीत होता है । यह इस बात से प्रमाणित है कि जहाँ पालों और प्रतीहारों ने बिहार में एक दूसरे के क्षेत्रों को अपने-अपने अधिकार में करने के लिए बारी-बारी से अनेक सफल अथवा असफल प्रयत्न किये, वहाँ राष्ट्रकूटों ने पालों का कोई भी क्षेत्र नहीं हड़पा । प्रतीहारों के विरुद्ध भी वे कई बार दोआब और कन्नौज तक चढ़ गये और अनेक सैनिक अभियानों में उन्हें पर्याप्त सफलताएँ भी मिलीं, किन्तु गुर्जर प्रतीहार राज्य के उस हृदयस्थल पर स्थायी रूप में स्थापित होने का उनका कोई उद्देश्य नहीं जान पड़ता । सीमास्थित अवन्ति-बुन्देलखण्ड को छोड़कर कोई अन्य प्रतीहार क्षेत्र अपने शासनान्तर्गत करने का उन्होंने कभी प्रयत्न नहीं किया । आँधी जैसे उनके उत्तर भारतीय धावों के कोई ऐसे स्थायी परिणाम नहीं हुए, जिनसे उत्तर भारतीय राजनीति स्थायी रूप से प्रभावित हुई हो ।

त्रिकोणात्मक संघर्ष का प्रारम्भ

पाल-प्रतीहार—राष्ट्रकूट संघर्ष का पहला दौर गुर्जर-प्रतीहार शासक वत्सराज की धर्मपाल पर विजय से प्रारम्भ हुआ । पीछे हम देख चुके हैं कि वत्सराज ७८३-८४ ई० में उज्जैन (मालवा) और राजपूताना पर अधिकृत था । वहाँ से उत्तर भारत पर अपना

अधिकार जमाने का वह प्रयत्न करने लगा। चूँकि धर्मपाल भी पूर्व से बढ़ता हुआ उसी प्रयत्न में लगा था, दोनों की मुठभेड़ अवश्यम्भावी थी। किन्तु इस बात पर मतैक्य नहीं है कि दोनों की यह मुठभेड़ कहाँ हुई।[1] एतत्सम्बन्धी साक्ष्य राष्ट्रकूट अभिलेखों से प्राप्त होते हैं। तृतीय गोविन्द के ८०८ ई० के राधनपुर अभिलेख की सूचना[2] है कि वत्सराज ने गौडराज के दो श्वेत छत्रों को जीत लिया था, जिन्हें उससे ध्रुव (७८०-७९४ ई०) ने जीत लिया। कहा गया है कि वत्सराज ने गौड की राजलक्ष्मी बड़ी आसानी से छीन ली थी[3]। इस सन्दर्भ के गौडराज की पहचान प्राय: सभी विद्वान् धर्मपाल से करते हैं। यहाँ यह स्पष्ट है कि धर्मपाल पर वत्सराज की विजय अस्थायी सिद्ध हुई। यही नहीं, वत्सराज को स्वयं अपनी रक्षा के लिए राजपूताना के अपने पैतृक क्षेत्रों की ओर भागना पड़ा। इन घटनाओं के समय की अनिश्चितता आदि के बारे में पाँचवें अध्याय में वत्सराज का इतिहास लिखते समय हम विचार कर चुके हैं।

अमोघवर्ष के ८७१ ई० के संजान ताम्रफलकाभिलेख[4] से यह ज्ञात होता है कि ध्रुव की सेनाओं ने धर्मपाल को भी हराया। उसमें कहा[5] गया है कि ध्रुव ने गौडराज के गंगा-यमुना (दोआब) के बीच नष्ट होते हुए (भागते हुए) उसकी राजलक्ष्मी के दोलायमान कमलों और श्वेतछत्रों को छीन लिया। किन्तु ऊपर हम देख चुके हैं कि तृतीय गोविन्द के अभिलेखों में यह कहा गया है ध्रुव ने गौडराज के श्वेतछत्रों का अपहरण वत्सराज से किया था। अत: अमोघवर्ष के लेख में कुछ भ्रम स्पष्टत: दिखायी

---

१. इस सम्बन्ध में पीछे देखिए, पृ० १३२-१३३।

२. गौडीयं सरदिन्दुपादधवलं छत्रद्वयं केवलम्।
तस्मानाहृततत्यशोऽपि ककुभं प्राँतेस्थितं तत्क्षणात्।

एइ०, जिल्द ६, पृ० २३९ और २४८। इस लेख के इन तथ्यों की पुष्टि तृतीय गोविंद के वनि-दिन्दोरी और बड़ौदा वाले अभिलेखों से भी होती है। डॉ० स्मिथ (अर्ली हिस्ट्री, पृष्ठ ४१३) ने वत्सराज द्वारा पराजित गौडराज की पहचान गोपाल से की। किन्तु यह मत अब प्राय: अस्वीकृत हो चुका है।

३. हेलास्वीकृत गौडराज्यकमलां मत्तं प्रवेश्याचिरात्। इऐ०, जि० ११, पृ० १५७; एइ०, जि० ६, पृ० २४८।

४. एइ०, जि० १८, पृ० २३५ और आगे।

५. गंगायसुनयोर्भध्ये राज्ञो गौडस्य नश्यत:। लक्ष्मीलीलारविन्दानि श्वेतछत्राणि योऽहरात्। वहीं, पृष्ठ २४४।

देता है[१]। तथापि उससे यह अतिरिक्त सूचना अवश्य मिलती है कि ध्रुव ने वत्सराज के अलावा धर्मपाल को भी परास्त किया। यह तो स्पष्ट है कि यह ध्रुव-धर्मपाल संघर्ष कहीं दोआब में हुआ, किन्तु यह ज्ञात नहीं होता कि यह घटना ध्रुव-वत्सराज संघर्ष के पूर्व घटी थी या बाद में। संजान अभिलेख के सम्पादक डॉ० भण्डारकर (एइ०, जिल्द १८, पृ० २३९) का विचार था कि कन्नौज के राजा वत्सराज के ध्रुव से पराजित हो जाने के बाद धर्मपाल ध्रुव के विरुद्ध वत्सराज से मिल गया किन्तु ध्रुव ने उसे भी करारी मात दी। किन्तु इस विश्वास की सत्यता की संभावना किंचिन्मात्र भी नहीं प्रतीत होती। एक तो इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि वत्सराज ने कन्नौज पर अधिकार कर लिया था; दूसरे यह अत्यन्त असम्भव दिखायी देता है कि धर्मपाल ने उत्तर भारत पर अधिकार जमाने की अपनी योजनाओं में प्रमुख रूप से बाधक अपने शत्रु वत्सराज से उस स्थिति में मित्रता कर ली, जब वह (वत्सराज) स्वयं पराजित होकर भाग रहा था। डॉ० अल्तेकर की मान्यता[२] है कि वत्सराज ने कन्नौज जीतकर इन्द्रायुध को वहाँ केवल नाममात्र के सम्राट्‌रूप से वैसे ही शासन करने दिया जैसे १८वीं शती के अन्त में द्वितीय शाहआलम दिल्ली में शासन करता था। धर्मपाल को यह असह्य था और उसने दोआब पर चढ़ाई कर दी, किन्तु वह वत्सराज से हारा। दुबारा पुनः अपनी सेनाओं को सुसज्जित कर वह चला तथा वत्सराज को झाँसी के पास कहीं हराने में सफल हुआ, किन्तु स्वयं ध्रुव की सेनाओं से हार जाने को विवश हुआ। किन्तु, जैसा ऊपर हम देख चुके हैं, वत्सराज के कन्नौज पर चढ़कर उसे विजित करने अथवा इन्द्रायुध को अपने अधीनस्थ करने का कोई प्रमाण नहीं प्राप्त है। यह असम्भव नहीं है कि ध्रुव ने दोआब पर दो आक्रमण किये हों। प्रथमतः उसने वत्सराज को पराजित कर राजपुताने की ओर भाग जाने को विवश किया और दक्षिणापथ लौट गया। अपने शत्रु वत्सराज की इस कठिन स्थिति को देखकर धर्मपाल ने संभवतः फिर दोआब अधिकृत कर लिया। किन्तु ध्रुव ने एक बार पुनः लौटकर उसे भी हराया। जिन दो श्वेत राजछत्रों का एक दूसरे से अपहरण करने का बार-बार उल्लेख आया है, वे गंगा-यमुना दोआब पर अधिकार के प्रतीक जान पड़ते हैं। कर्क **सुवर्णवर्ष** के बड़ौदा अभिलेख[३]

---

१. विनयचन्द्र सेन (बि० प्र० सिनहा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३३० पादटिप्पणी २ में उद्‌घृत) का यह विश्वास है कि राधनपुर और संजान से प्राप्त होने वाले दोनों अभिलेख एक ही संघर्ष की ओर निर्देश करते हैं।

२. दि एज ऑफ् इम्पीरियल् कन्नौज, पृ० ४।

३. यो गंगायमुनेतरंग सुभगे गृहणन्परेभ्यः सम।
साक्षाच्छिन्ननिभेनचोत्तम पद तत्प्राप्त्वानैश्वरम्। इऐ०, जिल्द १२, पृ० १५९।

में भी यह का गया है कि 'अपनी तरंगों से सुन्दर लगने वाली गंगा और यमुना को अपने शत्रुओं से जीतकर यशःमूर्ति ध्रुव ने वह आधिराज्य प्राप्त किया जो (उन नदियों द्वारा) दृश्य रूप में प्रकट होता था।'

धर्मपाल की दिग्विजय

ध्रुव की विजयवाहिनी बारी-बारी से वत्सराज और धर्मपाल को दोआब में पराजित करने में समर्थ तो हुई, किन्तु वह उत्तर भारत में अपना शासन नहीं स्थापित कर सका। उससे पराजित होकर वत्सराज के राजपूताना की ओर भाग जाने के लिए विवश होने पर धर्मपाल को उत्तर भारतीय सम्राट् बनने की अपनी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं को पूरा करने का एक और सुनहरा अवसर प्राप्त हो गया। उसके खालिमपुर अभिलेख में कहा गया है उसने 'कान्यकुब्ज के सम्राट् रूप में स्वयं को अभिषिक्त कराने का अधिकार प्राप्त करते हुए भी, पंचालदेश के प्रसन्न वृद्धों द्वारा उठाये गये अभिषेक-कलशों से कान्यकुब्ज के राजा का राज्याभिषेक कराया, जिसे भोज, मत्स्य, मद्र, कुरु, यदु, यवन, अवन्ति, गंधार और कीर के राजाओं ने अपना सिर झुकाकर साधुवाद करते हुए स्वीकार किया'[१]। नारायणपाल का भागलपुर अभिलेख इस सूचना को और स्पष्ट करते हुए बताता है[२] 'कि धर्मपाल ने इन्द्रराज और अन्य शत्रुओं का हराकर महोदय (कन्नौज) नगर का अधिकार प्राप्त करते हुए भी उसे याचक चक्रायुध को वैसे ही वापस कर दिया जैसे बलि ने इन्द्र आदि शत्रुओं को जीतकर भी वामनरूप विष्णु को तीन लोकों का दान कर दिया था।' यहाँ इन्द्र और विष्णु (चक्रधारण करने वाले) की समता इन्द्रराज (इन्द्रायुध) और चक्रायुध से की गयी है[३], जो परस्पर भाई थे। पीछे हम जिनसेन के उस श्लोक का उद्धरण दे चुके हैं, जिसमें ७८३-४ ई० में इन्द्रायुध के कन्नौज में शासन करने का उल्लेख है। अतः इन्द्रायुध की धर्मपाल के हाथों

---

१. भोजैर्मत्स्यैः समद्रैर्कुरुयदुयवनआवन्तिगंधारकीरैर्भूपैर्व्यालोलमौलिप्रणति परिणतैः साधु संगीर्यमानः। हृष्यत्पञ्चालवृद्धोद्धृतकनकमयस्वाभिषेकोदकुम्भो दत्तः श्री कान्यकुब्जस्सललितचलति भ्रूलतालक्ष्मयेन ।। श्लोक १२, एइ०, जि० ४, पृ० २४८।

२. जित्वेन्द्रराजप्रभृतीनरातीनुपार्ज्जिता येन महोदयश्रीः।
दत्तापुनः सा बलिनार्थयित्रे चन्द्रायुधायानतिवामनाय ।। इऐ०, जि० १५, पृ० ३०५।

३. दे० कीलहॉर्न, इऐ०, जिल्द २०, पृ० १८७ और आगे। डॉ० मजुमदार (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १०६ नोट १) भागलपुर अभिलेख के इन्द्रराज की पहचान लाटेश्वरमण्डल के उस माण्डलिक से करते हैं जो ध्रुव (राष्ट्रकूट) का भाई था। किन्तु यह मत अन्य विद्वानों द्वारा मान्य नहीं हो सका है।

पराजय और चक्रायुध का उसके स्थान पर कन्नौज में राज्यस्थ किया जाना उस वर्ष के बाद की ही घटनाएँ होंगी। किन्तु सम्बद्ध साक्ष्यों से यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि इन्द्र-राज अथवा इन्द्रायुध के अतिरिक्त धर्मपाल के वे अन्य शत्रु कौन थे, जिन्हें पराजित कर उसने उत्तर भारत की राजनीतिक अधिसत्ता प्राप्त की। असम्भव नहीं है कि इन्द्रायुध के मित्रों में गुर्जर प्रतीहार राजा वत्सराज भी रहा हो और हार जाने पर उसे विवश होकर धर्मपाल द्वारा कन्नौज में आयोज़ित दरबार में प्रणत होकर उपस्थित होना पड़ा हो।

उपर्युक्त साक्ष्यों से कुछ स्पष्ट निर्णय निकलते हैं। प्रथमत: तो यह निर्विवाद है कि चक्रायुध ने कन्नौज में धर्मपाल द्वारा राज्याभिषिक्त होकर उसकी अधिसत्ता स्वीकार की। बाद में वह उसके युद्धों में सर्वदा भाग लेता रहा। चक्रायुद्ध के धर्मपाल के नामांकित होने तथा अपने पद के लिए उस पर निर्भर होने का प्रमाण अमोघवर्ष के संजान ताम्रफलक[१] और मिहिरभोज की ग्वालियर प्रशस्ति[२] से भी प्राप्त होता है, जहाँ क्रमश: तृतीय गोविन्द और द्वितीय नागभट्ट द्वारा धर्मपाल के साथ उसके पराजित होने के उल्लेख हैं। खालिमपुर अभिलेख से यह भी स्पष्ट है कि कन्नौज के दरबार में धर्मपाल के अधीन राजा के रूप में चक्रायुध के अभिषेक संस्कार में उपस्थित होने वाले राजाओं ने भी धर्मपाल की अधिसत्ता स्वीकार की। डॉ० त्रिपाठी (हिस्ट्री ऑफ् कन्नौज, पृ० २१६-१७, २३०) कन्नौज में उन विभिन्न राजाओं का उपस्थित होना केवल एक 'राजनीतिक शिष्टाचार' मात्र की बात मानते हैं। किन्तु खालिमपुर अभिलेख के 'प्रणतिपरिणतैः' से यह प्रमाणित है कि वे धर्मपाल के सामने झुकने को विवश हुए थे। तथापि यह कह सकना कठिन है कि उनपर धर्मपाल की सचमुच सैनिक विजयें हुई थीं, अथवा उससे डरकर उन्होंने स्वयं उसकी अधीनता मान ली। इस सन्दर्भ के राजाओं के क्षेत्रों की पहचान करने से धर्मपाल के अधिसत्तात्मक प्रभाव की सीमाओं का अनुमान किया जा सकता है। कन्नौज पंचाल की राजधानी थी और पंचाल-वृद्धों का उल्लेख कन्नौज राज्य की जनता की ओर ही निर्देश करता है। मत्स्य आधुनिक जयपुर, अलवर, भरतपुर और करौली के आसपास का क्षेत्र था; यदु[३] से मथुरा के पार्श्ववर्ती क्षेत्रों का तात्पर्य प्रतीत होता है; अवन्ति का अभिप्राय मालवा से है; कुरुदेश उत्तर में आधुनिक दिल्ली, इन्द्रप्रस्थ और कुरुक्षेत्र पर फैला हुआ था; यवन से कदाचित् सिन्ध के अरबों का मतलब है; गंधार उत्तरपश्चिमी पंजाब और सीमाप्रान्त के भागों में स्थित था तथा कीर हिमांचल प्रदेश में

---

१. एइ०, जिल्द १८, पृ० २३३ और आगे।

२. वहीं, पृ० ११० और आगे।

३. डॉ० मजुमदार ने (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १०८) यदु की पहचान पंजाब के सिंहपुर के यादवों से की है।

स्थित कांगड़ा प्रदेश की संज्ञा थी। ये सभी प्रदेश कन्नौज से उत्तर, उत्तरपश्चिम और पश्चिम में स्थित थे। केवल भोज नामक क्षेत्र कन्नौज से दक्षिण-पश्चिम स्थित विदर्भ के आसपास था। अत: ऐसा जान पड़ता है कि धर्मपाल की अधिसत्ता केवल उत्तर भारत पर व्याप्त हुई और राष्ट्रकूटों की शक्ति को वह चुनौती नहीं दे सका[१]। ऐसी स्थिति में केदार (गढ़वाल जिले का केदारनाथ तीर्थ) और गोकर्ण[२] नामक उन तीर्थों को भी उत्तर में ही कहीं रखना होगा, जिनमें धर्मपाल के सैनिकों के स्नान करने का उल्लेख देवपाल के मुंगेर अभिलेख में आता है[३]। वहाँ उन सैनिकों के गंगासागर में भी स्नान करने का उल्लेख है, जो दक्षिणी बंगाल में गंगा के समुद्र से मिलने का स्थल और प्रसिद्ध तीर्थ है।

उपर्युक्त साक्ष्यों से धर्मपाल के राजनीतिक प्रभाव-क्षेत्र का प्राय: सही निरूपण किया जा सकता है। प्राय: समस्त बंगाल[४] और बिहार उसके प्रत्यक्ष अधिकार और प्रशासन के अन्तर्गत थे। किन्तु बिहार के पश्चिमोत्तर से पंचाल तक का अधिकांश प्रदेश उसके नामांकित कन्नौज राज्य के स्वामी चक्रायुध के माध्यम से उसकी अधिसत्ता मात्र स्वीकार करता था, जिस पर उसका कोई प्रत्यक्ष शासन नहीं था। वह अधिसत्तात्मकता उसने इन्द्रायुध को हराकर कन्नौज में चक्रायुध को अपने अधीनस्थ के रूप में प्रतिष्ठित कर प्राप्त की थी। कन्नौज के दरबार में उपस्थित होने वाले राजाओं को या तो उसने पराजित किया अथवा वे स्वत: उसकी बढ़ती हुई शक्ति के भय से उसकी अधिसत्तात्मकता

---

१. डॉ० वि० प्र० सिनहा धर्मपाल की विजय-यात्राओं का विस्तार पश्चिम में कर्णाटक तक स्वीकार करते (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३४३) हैं।

२. कीलहॉर्न (इऐ०, जि० २१, पृ० २५९, नोट ६) ने गोकर्ण की पहचान बम्बई के उत्तरी कनारा जिले में स्थित उस नाम के स्थान (तीर्थ) से की है। किन्तु धर्मपाल दक्षिण-पश्चिम में राष्ट्रकूट क्षेत्रों को चीरता हुआ उतनी दूर पहुँच गया, यह अन्य किसी पुष्ट प्रमाण के अभाव में स्वीकार्य नहीं प्रतीत होता। डॉ० नलिनिनाथ दास गुप्त (इन्डियन् कल्चर, जि० ४, पृ० २६४ और आगे) और डॉ० मजुमदार (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १०६, पादटिप्पणी २) ने गोकर्ण की पहचान नेपाल के पशुपतिनाथ से २ मील उत्तरपूर्व में बागमती नदी के किनारे स्थित गोकर्ण नामक स्थान से की है। आज भी धर्मलीन हिन्दू केदारनाथ, बद्रीनाथ और पशुपतिनाथ की यात्राएँ प्राय: एक ही साथ करते हैं।

३. इऐ०, जिल्द २१, पृ० २५५। मूल पाठ है—केदारेविधिनोपयुक्तपयसा गंगा, समेताम्बुधौ, गोकर्णादिषु चाप्यनुष्ठितवानि तीर्थेषु धर्म्या: क्रिया:।

४. उत्तरी बंगाल पर धर्मपाल के प्रत्यक्ष अधिकार का उल्लेख तारानाथ और नेपाल से प्राप्त कुछ हस्तलिपियों में हुआ है। देखिए, इऐ०, जिल्द ४, पृ० १०२।

स्वीकार करने लगे थे, जिसका विस्तार हिमालय की तलहटी में उत्तर पूर्वी पंजाब से उत्तर-पश्चिमी पंजाब तक, पश्चिम में कदाचित् सिन्ध तक तथा दक्षिण पश्चिम में मालवा और विदर्भ तक था। कुछ समय के लिए धर्मपाल इन सभी प्रदेशों के शासकों को अपने सामन्तों की स्थिति में डालने में सफल हो गया। इन क्षेत्रों को धर्मपाल का दिग्विजित कहा जा सकता है। किन्तु अपने आंतरिक शासन में वे पूर्ण स्वतंत्र थे। समस्त उत्तर भारत पर उसके संप्रभुत्त्व की अनुश्रुति इस बात से भी सही प्रमाणित होती है कि ११वीं शती का सोढ्ढल नामक गुजरात का एक संस्कृत कवि उसे **उत्तरा-पथस्वामी**[1] की उपाधि देता है। निश्चित है कि कुछ समय के लिए धर्मपाल उत्तर भारत की सर्वप्रमुख सत्ता बन गया। उसकी सत्ता के चरमोत्कर्ष का समय ७८५ ई० से ८०० ई० के बीच प्रतीत होता है, जब ध्रुव उत्तर भारतीय अभियान से दक्षिणापथ लौट चुका था और गुर्जर प्रतीहार उससे पराजित होकर थोड़े समय के लिए लड़खड़ा गये थे।

पाल अधिसत्ता का अस्थायित्त्व

किन्तु प्रश्न यह उठता है कि क्या उत्तर भारत पर धर्मपाल का साम्राज्य और उसकी अधिसत्ता स्थायी रूप से उसके जीवनपर्यन्त अक्षुण्ण बनी रही ? प्रस्तुत लेखक के मत में इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक[2] ही होगा। इस सम्बन्ध में अन्य विद्वानों के मतों की परीक्षा राष्ट्रकूट और गुर्जर प्रतीहार अभिलेखों से प्राप्त होने वाले साक्ष्यों से की जा सकती है। प्रायः सभी विद्वान् कम से कम इस बात पर अवश्य सहमत हैं कि समस्त उत्तर भारत के सम्राट् पद की जो प्रतिष्ठा धर्मपाल ने अर्जित की उसे राष्ट्रकूटों और गुर्जर प्रतीहारों ने क्रमशः तृतीय गोविन्द और द्वितीय नागभट्ट के माध्यम से जोरदार चुनौती दी और बारी-बारी से आक्रमण कर उसे हराया। किन्तु इस बात पर बड़ा मतभेद है कि धर्मपाल पर पहले राष्ट्रकूटों ने आक्रमण किया अथवा द्वितीय नागभट्ट ने। साथ ही यह भी विवादास्पद है कि उन आक्रमणों से धर्मपाल को कितनी हानि हुई। डॉ० मजुमदार के मत (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ११०-११३) में धर्मपाल पर नागभट्ट का आक्रमण पहले हुआ,[3] किन्तु वह विजयी होते हुए भी पाल साम्राज्य को कोई हानि इस कारण नहीं पहुँचा सका कि उसे स्वयं तृतीय गोविन्द के आक्रमण का शिकार होना पड़ा। प्रायः उनका अनुसरण करते हुए, डॉ० वि० प्र० सिनहा भी धर्मपाल के विरुद्ध राष्ट्रकूट आक्रमण को

---

१. देखिए, गायकवाड़, संस्कृत सीरीज से प्रकाशित उदयसुन्दरीकथा, पृ० ४।

२. हेमचन्द्र राय ने बहुत पहले ही यह कहा (डाहिनाइ०, जि० १, पृ० २८७) था कि धर्मपाल अपने सम्राट् पद का भोग बहुत थोड़े समय ही कर सका था।

३. हेमचन्द्र राय (वहीं, पृ० २८७) की भी यही मान्यता है।

प्रतीहार आक्रमण के बाद की घटना मानते हैं और यह कहते (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३४६-३६२) हैं कि नागभट्ट से मुँगेर के युद्ध में पराजित होकर थोड़े समय के लिए अपना उत्तर भारतीय साम्राज्य खोने के बावजूद भी, गुर्जर प्रतीहारों के विरुद्ध तृतीय गोविन्द के सैनिक अभियान का लाभ उठाते हुए, धर्मपाल ने पुनः अपना साम्राज्य प्राप्त कर लिया। डॉ० त्रिपाठी (हिस्ट्री ऑफ् कन्नौज, पृ० २३१-३२) का विचार है कि नागभट्ट की भिड़न्त पहले तृतीय गोविन्द से ही हुई, जिसमें उसे मुँह की खानी पड़ी। किन्तु उसके बाद दूसरी दिशा में नागभट्ट धर्मपाल के मुकाबले अत्यन्त अधिक सफल[1] रहा। कन्नौज सहित उसके उत्तर भारतीय क्षेत्रों को अपने अधीन कर वह कन्नौज नगर से शासन करने लगा। यह निर्णय इस नाते तार्किक प्रतीत होता है कि जहाँ भोज की ग्वालियर प्रशस्ति और गुर्जर प्रतीहारों के सामन्तों से सम्बद्ध अभिलेखों में स्पष्टतः यह कहा गया है कि नागभट्ट ने धर्मपाल और उसके अधीनस्थ चक्रायुध को परास्त किया, वहाँ राष्ट्रकूटों पर उसकी किसी विजय की कोई चर्चा नहीं है। यदि उसने राष्ट्र-कूटों को हराने के बाद उत्तर भारतीय साम्राज्य हस्तगत किया होता तो ऐसी चुप्पी असम्भव थी। यह हमें अनेक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि नागभट्ट और उसके उत्तराधिकारियों नें कन्नौज नगर से राज्य किया। यदि धर्मपाल और चक्रायुध पर विजय करने के बाद नागभट्ट तृतीय गोविन्द से हारा होता और उसका लाभ उठाकर धर्म-पाल कन्नौज पर अपनी अधिसत्ता बनाये रखता तो इसका उल्लेख देवपाल और उसके वंशजों के अभिलेखों में कहीं न कहीं अवश्य होता। डॉ० मजुमदार (पूर्वनिर्दिष्ट पृ० ११३) ने देवपाल के मुंगेर ताम्रपत्राभिलेख के १२ वें श्लोक का साक्ष्य देते हुए इस बात की ओर निर्देश किया है कि धर्मपाल के बाद जब देवपाल ने गद्दी धारण की तो उसके राज्य में कहीं भी कोई उपद्रव नहीं था। किन्तु उस शान्ति का वातावरण धर्मपाल के बंगाल और बिहार वाले स्वशासित राज्य मात्र तक सीमित प्रतीत होता है। उपर्युक्त उल्लेख का अभिप्राय धर्मपाल के उत्तर भारतीय साम्राज्य से नहीं जान पड़ता।

---

१. डॉ० नलिनिनाथ दासगुप्त भी नागभट्ट से धर्मपाल की हार का समय तृतीय गोविन्द के अभियान के बाद ही देते हैं। देखिए, जबिओरिसो०, जिल्द १२, पृ० ३६६। डॉ० अल्तेकर की भी यही मान्यता है कि गोविन्द ने पहले कहीं बुदेन्लखण्ड में नागभट्ट को हराकर ही धर्मपाल और चक्रायुध को आत्मसमर्पण के लिए विवश किया था। देखिए, दि एज ऑफ् इम्पीरियल् कन्नौज, पृ० ७; देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर कमेमोरेशन् वाल्यूम, पृ० १५३ और आगे।

तृतीय गोविन्द के सामने धर्मपाल का आत्मसमर्पण

प्रथम अमोघवर्ष का संजान ताम्रफलकाभिलेख पहला आलेख्य है, जिससे यह ज्ञात होता है[१] कि तृतीय गोविन्द के सम्मुख धर्मपाल और चक्रायुद्ध स्वयं झुक गये (**स्वयमेवोपनतौ**)। राष्ट्रकूटों के इस उत्तर भारतीय अभियान को कोई चुनौती न देने में धर्मपाल का क्या उद्देश्य था, इस सम्बन्ध में अनेक अनुमान लगाये गये हैं। एक धारणा[२] यह है कि नागभट्ट से हार जाने के कारण कदाचित् धर्मपाल ने राष्ट्रकूटों का प्रतिरोध न करना ही राजनीतिक बुद्धिमानी मानी। राजनीति का एक सही मुहरा रखते हुए उसने यदि राष्ट्रकूटों का आक्रमण स्वयं आमंत्रित नहीं किया, तो भी उसका स्वागत अवश्य किया। उसमें उसने अपने असली शत्रु नागभट्ट को उत्तर भारत से उखाड़कर पुनः अपने लिए सम्प्रभुता की स्थिति प्राप्त करने का एक अचूक अवसर देखा होगा। किन्तु यहाँ भी धर्मपाल और चक्रायुद्ध के साथ-साथ उल्लेख से यही प्रतीत होता है कि गोविन्द के आक्रमण के पूर्व धर्मपाल और चक्रायुध की नागभट्ट से मुठभेड़ नहीं हुई थी[३]। इस निष्कर्ष को इस तर्क से पुष्ट किया जा सकता है कि नागभट्ट से पराजित होने के बाद भी चक्रायुध का धर्मपाल का पल्ला पकड़े रहना असंगत प्रतीत होता है। नागभट्ट से पराजित होने के बाद उसके लिए यह अधिक लाभप्रद था कि वह गुर्जर प्रतीहारों की उभरती हुई साम्राज्यसत्ता की छत्रछाया स्वयं स्वीकार कर उनका सामन्त अथवा राजदरबारी बन जाय। यह जान पड़ता है कि द्वितीय नागभट्ट से कन्नौज में पराजित होकर वह बिहार-बंगाल की ओर पालों के यहाँ शरण लेने के लिए भागा और उस स्थिति में उसकी सैनिक और राजनीतिक स्थिति एकदम असहाय और नगण्य हो गयी होगी। वैसी

---

१. स्वयमेवोपनतौ च यस्य महतस्तौ धर्मचक्रायुधौ, एइ०, जि० १८, पृ०, २४५, श्लोक २३।

२. रा० दा० बनर्जी, मेम्वायर्स, एशियाटिक, सोसायटी बेंगाल, जि० ५, पृ० ५१; र० चं० मजुमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १११-११२; वि० प्र० सिनहा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३५१ और आगे।

३. अमोघवर्ष के संजान अभिलेख में नागभट्ट की गोविन्द से पराजय धर्मपाल और चक्रायुध के आत्मसमर्पण के पूर्व वर्णित हैं। डॉ० सिनहा (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३५७-५८) उसे तैथिक क्रम के आधार से वर्णित मानते हैं। किन्तु प्राचीन भारतीय अभिलेखों में प्रायः तिथिक्रम की उपेक्षा की गयी है। यहाँ यह भी ध्यान दिया जाना चाहिए कि अमोघवर्ष ने तृतीय गोविन्द की उपलब्धियों का वर्णन उसका शासन खतम होने के ५५-५६ वर्षों के बाद कराया, जिसमें तिथिक्रम के पूर्वापर के ध्यान रखने की सम्भावना नहीं प्रतीत होती।

दशा में राष्ट्रकूट अभिलेख धर्मपाल के साथ उसका उल्लेख कर उसके महत्त्व को बढ़ाते नहीं। धर्मपाल के साथ उसके स्वतंत्र उल्लेख का कारण यही प्रतीत होता है कि वह पालों की अधिसत्ता स्वीकार कर कन्नौज में शासन करते समय ही तृतीय गोविन्द के सम्मुख झुकने को विवश हुआ था। तृतीय गोविन्द सम्भवतः अपने उत्तरभारतीय सैनिक अभियान के प्रारम्भ में ही मालवा से दोआब जानेवाले रास्ते के बीच कहीं द्वितीय नाग-भट्ट को हराकर उसका सुयश हर चुका था। पुनः सारा दोआब रौंदते हुए हिमालय की तलहटियों तक चले जाने का उसका मार्ग अप्रतिरुद्ध था। द्वितीय नागभट्ट का इतिहास लिखते समय हम यह देख चुके हैं[१] कि तृतीय गोविन्द के इस उत्तर भारतीय अभियान का समय ८०२ ई० के पूर्व कभी था।

गुर्जर प्रतीहार आक्रमण और धर्मपाल की पराजय

तृतीय गोविन्द अपने पिता ध्रुव की भाँति ही उत्तर भारत पर स्थायी शासन स्थापित कर सकने की स्थिति में नहीं था। उसका अभियान एक दिग्विजय मात्र था, जिससे धर्मपाल को कोई विशेष क्षति नहीं हुई। किन्तु द्वितीय नागभट्ट की तैयारी इसके ठीक विपरीत थी। वह उत्तर भारत को अधिकृत कर उसे अपना साम्राज्यकेन्द्र बनाने की योजना से प्रेरित था। तृतीय गोविन्द से हार जाने के बावजूद भी वह अपनी सैनिक और राजनीतिक मोर्चेबन्दियों में लगा रहा। उसकी तैयारियों का विवरण हम उसका इतिहास लिखते समय पीछे[२] दे चुके हैं, जिन्हें दुहराने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है। उसने कन्नौज के राजा चक्रायुद्ध पर आक्रमण कर उसे पराजित कर दिया, जिसकी 'क्षुद्रता (नीचभाव), इस बात से प्रमाणित थी कि वह दूसरों पर निर्भर करता था[३]'। यहाँ चक्रायुध की परनिर्भरता का यह अर्थ है कि वह नागभट्ट के 'पर' अर्थात् शत्रु धर्मपाल की अधीनता स्वीकार करता था। चक्रायुध को पराजितकर नागभट्ट ने कन्नौज जीत लिया किन्तु वह उतने ही से सन्तुष्ट नहीं हुआ। चक्रायुध कदाचित् धर्मपाल के यहाँ शरण लेने के लिए भागा और उसका पीछा करता हुआ नागभट्ट धर्मपाल के बिहार वाले क्षेत्रों पर भी

---

१. देखिए, पीछे पृ० १३६; किन्तु इस तिथि के निश्चय के सम्बन्ध में और देखिए, र० चं० मजुमदार, जडिले०, जि० १०, पृ० ४४; त्रिपाठी, हिस्ट्री ऑफ् कन्नौज, पृ० २३१-२३२; विनयचन्द्र सेन, सम् हिस्टॉरिकल् ऐस्पेक्ट्स् ऑफ् दि इन्स्कृप्शन्स् ऑफ् बेंगाल, पृ० २९८; वि० प्र० सिनहा, पूर्वनिर्दिष्ट पृ० २५८, ३६२।

२. देखिए पीछे पृ०, १३७-१३८।

३. जित्वा पराश्रयकृतस्फुटनीचभावं चक्रायुधं विनयनम्रवपुर्व्यराजत्। ग्वालियर प्रशस्ति एइ०, जिल्द १८, पृष्ठ, १०८, श्लोक ९।

चढ़ गया। भोज की ग्वालियर प्रशस्ति में कहा गया[१] है कि 'वंग का राजा (धर्मपाल) अपने हाथियों, घोड़ों और रथों के साथ काले घने बादलों की तरह युद्ध के लिए आ डटा'। किन्तु 'त्रिलोकों को प्रसन्न करनेवाला नागभट्ट उगते हुए सूर्य की तरह उस अन्धकार को काटने में सफल रहा।' इस उल्लेख से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि धर्मपाल हारा। प्रतीहार बाउक के जोधपुर अभिलेख (एइ० जिल्द १८, पृ० ९६-९८) से ज्ञात होता है कि यह युद्ध मुंगेर (मुद्गगिरि) में लड़ा गया। हम पाँचवें अध्याय में उन साक्ष्यों का विवेचन कर चुके हैं जिनसे यह प्रमाणित होता है कि इस युद्ध में नागभट्ट के सामन्तों के रूप में जोधपुर शाखा के प्रतीहार शासक कक्क, उत्तरी गुजरात के चालुक्य सामन्त बाहूकधवल और गुहिलवंशी शंकरगण ने भी भाग लिया था। स्पष्ट है कि नागभट्ट ने प्रतीहारकुल के मुख्य शत्रु धर्मपाल के विरुद्ध बहुत बड़ी तैयारी की थी और उसे करारी मात दी।

धर्मपाल का मूल्यांकन

राष्ट्रकूट और गुर्जर प्रतीहार आक्रमणों से धर्मपाल की राजनीतिक प्रतिष्ठा पर गहरा आघात लगा। इस सम्बन्ध में उन विद्वानों का मत[२] स्वीकार नहीं किया जा सकता जो यह मानते हैं कि धर्मपाल को अपने जीवन के अंतिम भागों तक अपने साम्राज्य की कोई विशेष क्षति नहीं उठानी पड़ी, अथवा नागभट्ट से हारने के बाद वह जो उत्तर भारत का सम्राट्पद खो चुका था, उसे गोविन्द के आक्रमण का लाभ उठाकर पुनः प्राप्त करने में सफल हो गया। वास्तव में नागभट्ट के मुकाबले उसकी गहरी पराजय के परिणामस्वरूप उसका उत्तर भारत पर आधिराज्य पूर्णतः समाप्त हो गया[३] और प्रायः वे सारे क्षेत्र, जो उसकी अधिसत्ता स्वीकार करते थे, अब या तो प्रत्यक्षतः गुर्जर प्रतीहारों के शासन में आ गये अथवा उनकी अधिसत्ता मानने लगे[४]। यह स्थिति उसके शासन के ३२वें वर्ष (खालिमपुर अभिलेख के प्रकाशन-वर्ष) के बहुत बाद की प्रतीत होती है, जब वह अधिक वृद्ध हो जाने के कारण अपनी समस्त उपलब्धियों को संचित न रख सकता था।

---

१. वहीं, श्लोक १०।

२. देखिए, मजुमदार, हिस्ट्री ऑफ् बेंगाल, जिल्द १, पृ० ११३; वि० प्र० सिनहा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३६२-३।

३. विनयचन्द्र सेन (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३३८-३९) और नलिनिनाथ दासगुप्त (जबि-ओरिसो; जि० १२, पृ० ३८१ और आगे) के भी प्रायः इसी प्रकार के मत हैं।

४. भोज की ग्वालियर प्रशस्ति के ११वें श्लोक (एइ०, जि० १८, पृ० १०८) से ज्ञात होता है कि नागभट्ट ने आनर्त्त, मालव, मत्स्य, किरात, तुरुष्क और वत्स के दुर्गों को बलपूर्वक अधिकृत कर लिया।

सम्भवत: उसी अवस्था में उसे तिब्बती राजा के आक्रमणों के विरुद्ध भी झुकना पड़ा। तिब्बती स्रोतों में कहा गया कि राजा धर्मपाल ने तिब्बती राजा की अधीनता मान ली। धर्मपाल का अधिकार अब केवल बिहार और बंगाल तक सीमित रह गया, जहाँ वह पूर्ण शान्ति और सुव्यवस्था बनाये रखने में समर्थ था। देवपाल का मुंगेर अभिलेख[१] यह बताता है कि उसने अपने पिता का राज्य वैसे ही निर्बाधरूप में पाया जैसे बोधिसत्त्व को बुद्धपद की प्राप्ति होती है। धर्मपाल एक महान् विजेता, कुशल कूटनीतिज्ञ और अत्यन्त सफल शासक था। अपने पिता गोपाल से उसने बंगाल में एक छोटा सा राज्य उत्तराधिकार में पाया था, किन्तु अपने चरमोत्कर्ष के दिनों में वह उत्तर भारत की सिरमौर सत्ता बन गया। उसने **परमभट्टारक, परमेश्वर** और **महाराजाधिराज** (नालन्दा अभिलेख) की उपाधियाँ धारण कीं। पाल अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि धर्मपाल का छोटा भाई वाक्पाल उसकी विजयों में सहायक था। सम्भवत: वह धर्मपाल का सेनापति था। साथ ही, गर्ग नामक ब्राह्मण का मंत्री होना भी ज्ञात होता है, जिसके सत्परामर्श को धर्मपाल को पूरब की प्रमुख सत्ता बनाने का श्रेय दिया गया है। धर्मपाल के शासन की सफलता और न्यायभावना का प्रमाण नारायणपाल के भागलपुर अभिलेख[२] से मिलता है, जहाँ उसे **समकर:** (उचित कर लगाने वाला अथवा सबके प्रति समता का व्यवहार करनेवाला) कहा गया है। धार्मिक दृष्टि से वह बौद्ध था, किन्तु अन्य सभी धर्मों का आदर करता था[३]। उसने विक्रमशिला विहार (भागलपुर के २४ मील पूर्व आधुनिक पाथरघाटा[४]) नामक प्रसिद्ध विश्वविद्यालय के अतिरिक्त वारेन्द्री (पश्चिमी और उत्तरी बंगाल) में सोय्यपुर (राजशाही जिले के पहाड़पुर में) नामक प्रसिद्ध विहार की स्थापना की। यद्यपि तारानाथ के इस कथन पर सन्देह व्यक्त किया जा सकता है कि धर्मपाल ने ६४ वर्षों तक शासन किया, खालिमपुर अभिलेख से यह निश्चित है कि उसने कम से कम ३२ वर्षों तक अवश्य शासन किया। उसके बाद ही नागभट्ट के हाथों उसकी पराजय हुई। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि उसका राजत्त्वकाल लगभग ४०–५० वर्षों का था। आश्चर्य यह है कि इतने दीर्घकाल तक सफलतापूर्वक शासन

---

१. इऐ०, जि० २१, पृ० २५५। मूलपाठ है—राज्यमायनिरुपप्लवं पितुर्बोधिसत्वैव सौगतपदम्।

२. इऐ० जिल्द १९, पृ० ३०५।

३. खालिमपुर अभिलेख में उसे सभी सम्प्रदायों, विशेषत: ब्राह्मणों का आदर करने वाला कहा गया है। यह भी ज्ञात होता है कि उसने नन्न–नारायण के मंदिर को चार गाँवों का दान दिया। एइ०, जिल्द ४, पृ० २५४।

४. नन्दलाल दे, जएसो०, बेंगाल, जिल्द ५ (नयी अवली), पृ० १ और आगे।

करने वाले उस महान् विजेता और प्रशासक के केवल तीन[१] ही अभिलेख अब तक प्रकाश में आये हैं, जिनसे हम उसका इतिहास अपर्याप्त रूप से ही जान पाते हैं।

देवपाल[२] (लगभग ८१०-८५० ई०)

मुंगरे अभिलेख से ज्ञात होता है कि धर्मपाल ने परबल नामक किसी राष्ट्रकूट राजा की रण्णादेवी नामक पुत्री से विवाह किया था। उससे उत्पन्न पुत्र देवपाल धर्मपाल का उत्तराधिकारी हुआ। किन्तु खालिमपुर अभिलेख से **युवराज** त्रिभुवनपाल नामक धर्मपाल के एक अन्य पुत्र की भी जानकारी होती है। उसके **युवराज** कहे जाने से यह प्रतीत होता है कि वही धर्मपाल का जेठा पुत्र था। किन्तु धर्मपाल के बाद देवपाल के राजगद्दी पर बैठने[३] से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि त्रिभुवनपाल धर्मपाल के सामने ही कालकवलित हो चुका था। देवपाल ने अपने पिता की तरह **परमेश्वर, परमभट्टारक** और **महाराजाधिराज** की साम्राज्यसूचक उपाधियाँ धारण कीं तथा वह अपने वंश का सबसे बड़ा विजेता सिद्ध हुआ। उसकी विजयों का उल्लेख उसके मुंगेर अभिलेख एवं नारायणपाल के बादाल और भागलपुर से प्राप्त अभिलेखों में हुआ है।

देवपाल की विजयें

देवपाल के शासन के ३३वें वर्ष के मुँगेर से प्राप्त होने वाले ताम्रफलकाभिलेख में कहा गया है कि उसकी विजयिनी सेनाओं ने विन्ध्यगिरि और कम्बोज[४] तक अभियान

---

१. देखिए उसके शासन के २६वें वर्ष का अभिलेख (जएसो, बेंगाल, नयी अवली, जि० ४, पृ० १०२); अतैथिक नालन्दा अभिलेख (एइ० जि० २३, पृ० २९० और आगे) तथा उसके शासन के ३२वें वर्ष का खालिमपुर अभिलेख (एइ०, जि० ४, पृ० २४५ और आगे)।

२. मजुमदार ने (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ११६) उसका शासनकाल ८१० से ८५० ई० तक माना है। यह निश्चय उसके नालन्दा अभिलेख (जएसो०, बेंगाल, जि० ७, पृ० २१५ और आगे) में दिये गये शासनवर्ष पर आधृत है। किन्तु कुछ लोग उसे ३९ पढ़ते (एइ०, जि० १७, पृ० ३१० और आगे) हैं। वि० प्र० सिनहा ने देवपाल का समय ८१८ से ८५८ ई० माना है। पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३७५।

३. डॉ० वि० प्र० सिनहा (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३६८ और उसकी पादटिप्पणी २) का यह विश्वास है कि देवपाल अत्यन्त छोटी अवस्था में गद्दी पर बैठा, जिसका लाभ उठाकर नागभट्ट ने कन्नौज जीत लिया। किन्तु, जैसा कि पीछे हम देख चुके हैं, यह अधिक सम्भव है कि कन्नौज पहले से ही गुर्जर प्रतीहार अधिकार में जा चुका था।

४. एइ०, जि० १८, पृष्ठ ३०५।

किया । यह भी कहा गया है कि देवपाल ने रामचन्द्र द्वारा बाँधे गये पुल (सुदूर दक्षिण में रामेश्वरम् के आगे) के पास तक की भूमि पर शासन किया । नारायणपाल के बादाल स्तम्भ लेख से इस सम्बन्ध में कुछ और जानकारी प्राप्त होती है । उस अभिलेख का उद्देश्य पालवंश की आनुवंशिक रूप में सेवा करने वाले मन्त्रियों की पाँच पीढ़ियों के कार्यों का उल्लेख करना मात्र प्रतीत होता है । किन्तु उसी सिलसिले में यह बताया गया है कि उनके परामर्श पर चलते हुए धर्मपाल एवं देवपाल जैसे शासकों ने बड़ी-बड़ी विजयें कीं और बढ़िया प्रशासन किया । तदनुसार, दर्भपाणि की सफल कूटनीति ने रेवा अर्थात् नर्मदा के पिता (उद्गम स्थल) विंध्याचल और गौरी (पार्वती) के पिता हिमाचल के बीच स्थित पश्चिम पयोधि से पूर्वपयोधि तक के सारे क्षेत्र को देवपाल का करद बना दिया[१] । यह भी कहा गया है कि उसने दर्भपाणि के पौत्र केदारमिश्र की कुशाग्रबुद्धि की सहायता से 'उत्कलों को उखाड़ फेंका, हूणों का दर्प चूर किया एवं द्रविड़ तथा गुर्जर राजाओं के घमण्ड को बिखेरकर समुद्रों से घिरी हुई सारी पृथ्वी का उपभोग किया[२]' । नारायणपाल के भागलपुर अभिलेख[३] में यह कहा गया है कि देवपाल के भाई और सेनापति जयपाल के सामने 'उत्कल का राजा अपनी राजधानी छोड़कर भाग गया तथा प्राग्ज्योतिष के राजा ने उसकी आज्ञाओं को शिरोधार्य करते हुए अपने राज्य पर शासन किया[४]' ।

उपर्युक्त अभिलेखों में वर्णित क्षेत्रों की पहचान करने से यह ज्ञात होता है कि देवपाल ने अपनी राजनीतिक और सैनिक प्रतिष्ठा का चतुर्दिक् विकास किया । इन साक्ष्यों

---

१. आरेवाजनकान्मृतङ्गदस्तिम्यच्छिलासंघतेरागौरीपितुरीश्वरेन्द्रकिरणैः पुष्यत्हितिम्नो गिरे ।

मार्त्तण्डास्तमयोदयारुणजलादावारिशिद्वयान्नीत्यायस्य भुवं चकार करदो श्रीदेव-पालो नृपः ।। एइ० जिल्द २, पृ० १६० और १६५, श्लोक ५ ।

२. उत्कीलितोत्कलकुलं हृतहूणगर्व्वखर्व्वीकृतद्रविडगुर्ज्जरनाथदर्प्पम् । वहीं, श्लोक १३ ।

३. इऐ०, जिल्द १५, पृ० ३०५ ।

४. महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री का यह मत (जएसो० बेंगाल, जि० ३ पृ० ८) था कि उक्त उद्धरण देवपाल के लिए नहीं अपितु शूरपाल के लिए लागू है । किन्तु लेख के सम्पादक कीलहॉर्न (एइ०, जि० २, पृ० १६५ और आगे) और रा० दा० बनर्जी (जएसो०, बेंगाल, जि० ५, पृ० ५८) उसे देवपाल के सम्बन्ध का ही मानते हैं । तारानाथ (इऐ०, जि० ४, पृ० ३६६) भी कहता है कि देवपाल ने वारेन्द्र और ओडिविष (उड़ीसा) अपने अधीन किया ।

को अत्यधिक महत्त्व देते हुए डॉ० र० चं० मजुमदार जैसे विद्वान् यह मानते हैं[१] कि 'असम से लेकर कश्मीर तक के समस्त उत्तर भारतीय क्षेत्रों द्वारा उसकी अधिसत्ता स्वीकृत थी तथा उसकी विजयिनी सेनाओं ने सिन्धु से ब्रह्मपुत्र के ऊपरी काँठों तक, हिमालय से विन्ध्याचल पर्वत तक और कदाचित् भारत के सुदूर दक्षिणी छोरों तक प्रयाण किया।' यदि इसे सही माना जाय तो यह निष्कर्ष निकलेगा कि देवपाल अपने समय का सर्वशक्तिमान् भारतीय नरेश था और उसकी सैनिक शक्ति अथवा राजनीतिक प्रतिष्ठा को कोई चुनौती देने वाला नहीं था। दूसरी ओर डॉ० त्रिपाठी (हिस्ट्री ऑफ् कन्नौज, पृ० २४०) और कीलहॉर्न जैसे विद्वान् देवपाल के विजय सम्बन्धी इन वर्णनों को 'कोरी बड़ी बात' मात्र मानते हैं। तत्कालीन भारत के राजनीतिक रंगमच को देखने से वास्तविक सत्य इन दोनों अतिवादी मान्यताओं के बीच कहीं प्रतीत होता है। स्वयं देवपाल के मुंगेर अभिलेख का साक्ष्य यह है कि उसकी सेनाएँ विन्ध्य पर्वत और कम्बोज तक गयीं। विन्ध्य पर्वत के किस भाग से यहाँ तात्पर्य है, यह स्पष्ट न होते हुए भी यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यह सन्दर्भ मध्य भारत की ओर उद्दिष्ट है। बादाल स्तम्भ लेख में जिन हूणों का दर्प चूर किये जाने का उल्लेख है, वे मालवा[२] के आसपास बसनेवाले ही हूण प्रतीत होते हैं न कि उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्तवाले हूण, जिनका निर्देश बाणभट्ट के **हर्षचरित** में मिलता है। उत्तर में हिमालय तक उसकी सेनाओं के पहुँच जाने के उल्लेख को एक प्राशंसिक वक्तव्यमात्र कहा जा सकता है। उससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि देवपाल ने सारा उत्तरी भारत रौंद डाला। रेवा (नर्मदा) के पिता (उद्‌गमस्थल) विन्ध्यगिरि से गौरी (पार्वती) के पिता हिमालय और पूर्वपयोधि से पश्चिमपयोधि तक के समस्त क्षेत्रों को करद बनाने का उल्लेख भी कोरी प्रशंसा मात्र प्रतीत होता है। ऐसे वक्तव्य अनेकानेक प्राचीन भारतीय राजाओं के सम्बन्ध में पाये जाते हैं, जिन्हें कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया जा सकता। मुँगेर अभिलेख में कम्बोज तक देवपाल की सेनाओं के अभियान का जो सन्दर्भ है, उससे

---

१. पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १२१।

२. मालवा के हूणमण्डल का निम्नांकित अभिलेखों में उल्लेख आया है—एइ० जिल्द १, पृ० २२३; जि० २३, पृ० १०२; इऐ०, जि० १६, पृ० १५६। विन्ध्य के दक्षिण में स्थित मध्य भारत पर देवपाल के दबाव का प्रमाण उसके शासन के तीसरे वर्ष में प्रकाशित नालन्दा अभिलेख से दिया जाता है, जिसमें किसी 'कलचुरिअन्तक' देवपाल का कोई वीर सेनानायक माना गया है। दे०, वि० प्र० सिनहा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३७१।

तिब्बत[१] का तात्पर्य है न कि सूदुर उत्तर-पश्चिम के उस कम्बोज का, जिसका उल्लेख सोलह महाजनपदों की सूची अथवा अशोक के शिलालेखों में प्राप्त होता है। वर्मा और बंगाल के बीच स्थित पूर्वी और उत्तरी लुशाई पहाड़ियों के प्रदेश को तिब्बती ग्रन्थ पेग्-सम्-जोन्-जंग में कम्-यो-त्म (कम्बोज) कहा गया है।[२] यह अत्यधिक सम्भव प्रतीत होता है कि धर्मपाल के समय बंगाल पर किये गये तिब्बती आक्रमण[३] का बदला लेने के लिए देवपाल ने उन भागों पर आक्रमण किया हो।

देवपाल के विजय सम्बन्धी उल्लेखों की ऐतिहासिक सत्यता का विचार करते हुए गुर्जर प्रतीहारों और राष्ट्रकूटों की तत्कालीन स्थिति ध्यान में रखना अपेक्षित है। वह क्रमशः द्वितीय नागभट्ट, रामभद्र और मिहिरभोज नामक तीन गुर्जर प्रतीहार शासकों का समकालिक था और यह निश्चय करना होगा कि उसने इनमें से किसका घमण्ड तोड़ा। ऐसा विश्वास किया जाता है कि रामभद्र के कमजोर शासन के समय[४] प्रतीहारों को देवपाल का आक्रमण सहना पड़ा था। इस सम्बन्ध में भोज के बराह (इऐ०, जिल्द १९, पृ० १५-१९) और दौलतपुर (एइ० जिल्द ५, पृ० २०८ और आगे) अभिलेखों का प्रमाण दिया जाता है, जिनमें कहा गया है कि रामभद्र के दिनों में **व्यावहारिन्** उपाधिधारी अधिकारियों की अयोग्यता के कारण क्रमशः कालंजरमण्डल और गुर्जरत्राभूमि में दान दी गयी उन भूमियों का आर्थिक लाभ दानग्रहीताओं को नहीं मिल रहा था, जो मूलतः द्वितीय नागभट्ट और वत्सराज द्वारा दान दी गयी थीं। किन्तु पीछे[५] मिहिरभोज का इतिहास लिखते समय हम यह देख चुके हैं कि सम्बद्ध साक्ष्यों से कहीं भी यह प्रमाणित नहीं होता कि रामभद्र के दिनों में उन क्षेत्रों से प्रतीहार शासन समाप्त हो चुका था। दान के लाभ के 'विहत' अर्थात् बाधित होने का कारण रामभद्र पर होने वाला कोई आक्रमण नहीं था। तथापि भोज की ग्वालियर प्रशस्ति में यह कहा गया है[६] कि रामभद्र ने 'सर्वोत्तम घोड़ों वाले अपने सामन्तों से शत्रुओं की सेनाओं के नायकों को बलपूर्वक बंधवाया।' हो

---

१. देखिए गौडराजमाला (बंगला में), रामप्रसाद चन्दा, पृ० ३७; र० चं० मजुमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १९१।

२. वहीं।

३. इस सम्बन्ध में देखिए मजुमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १२४-१२५।

४. रा० दा० बनर्जी, जएसो०, बेंगाल, जि० ५, पृ० ५६; वि० प्र० सिनहा पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३७०-७१।

५. देखिए, पृष्ठ १४२-१४३।

६. एइ०, जिल्द १८, पृ० १०८ श्लोक १२ के अनुसार 'तज्जन्माराम नामप्रवरहरिबल-न्यस्तभूभृतप्रबन्धैर्आवध्न्वाहिनीनाम् प्रसभमधिपतीन् उद्धृतक्रूरसत्त्वान्'।

सकता है कि शत्रुसेना के ये नायक देवपाल की ही सेना के नायक रहे हों। यदि इस उल्लेख की बादाल स्तम्भलेख के उस कथन से तुलना की जाय कि देवपाल ने गुर्जर राजा का घमण्ड तोड़ा तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि रामभद्र और देवपाल दोनों ही अपनी-अपनी सैनिक प्रमुखता का दावा करते थे। यह सम्भव है कि सीमाओं पर उनकी मुठभेड़े हुई हों, जिनका कोई सैनिक परिणाम न निकला हो और दोनों ही पक्ष अपनी-अपनी श्रेष्ठता का दावा करने लगे हों। डॉ० मजुमदार (पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ११९) और डॉ० त्रिपाठी (पूर्वनिर्दिष्ट पृ० २४१) का यह मत है कि देवपाल ने जिस 'गुर्ज्जरनाथ का दर्प चूर किया' वह प्रथम भोज था। बादाल स्तम्भ लेख में इस कृत्य का श्रेय देवपाल के मंत्री केदारमिश्र को दिया गया है। चूँकि केदारमिश्र देवपाल के एक दूसरे मंत्री दर्भपाणि का पौत्र था, मजुमदार ने यह माना है कि गुर्जरों को दबाने का कार्य देवपाल के शासन के अन्तिम वर्षों (८४०-८५० ई० के बीच कभी) में हुआ होगा। यही नहीं, वे यह कल्पना कर लेते हैं कि देवपाल के दबाव के बाद भोज को अनेक आक्रमणों और विद्रोहों का सामना करना पड़ा, जिनमें राष्ट्रकूटों का आक्रमण और राजपूताना में जोधपुर की प्रतीहार शाखा का स्वतन्त्र हो जाना प्रमुख था। किन्तु इस मान्यता के पीछे तर्क और ऐतिहासिक प्रमाण कम है[१]। यह असम्भव नहीं है कि भोज को अपने शासन के प्रारम्भिक वर्षों में देवपाल का कुछ दबाव सहना पड़ा हो। किन्तु अन्ततः वही बीस पड़ा और उसे ही विजयश्री मिली। उसके अतैथिक ग्वालियर अभिलेख से यह स्पष्ट है कि जिस 'लक्ष्मी ने धर्म (धर्मपाल) के पुत्र (देवपाल) का वरण कर लिया था, वही बाद में भोज की **पूनर्भू** (दुसरा पति करने वाली) हो गयी[२]। सम्भवतः इसी घटना की ओर कहला अभिलेख भी निर्देश करता है, जिसके अनुसार[३] भोज से भूमि प्राप्त करने वाले गुणाम्बोधिदेव नामक एक कलचुरि सामन्त ने गौडराज की लक्ष्मी का हरण कर लिया था। डॉ० मजुमदार इस घटना को नारायणपाल के समय रखते हैं (दि एज ऑफ् इम्पीरियल कन्नौज, पृ० ३१), जो सही नहीं प्रतीत होता। उन्हीं के अनुवाद के अनुसार (एइ०, जिल्द १८, पृ०१०९) यह स्पष्ट है कि लक्ष्मी 'धर्म के पुत्र' (देवपाल) को छोड़कर (न कि नारायणपाल को छोड़कर) भोज के पास आयी। अतः उनका यह कथन स्वीकार्य नहीं प्रतीत होता कि देवपाल की 'अधिसत्ता असम से लेकर कश्मीर तक स्वीकृत थी'[४]।

---

१. इस सम्बन्ध में देखिये, पीछे पृ० १४३-१४६।

२. धर्मापत्ययशः प्रभूतिरपरा लक्ष्मीः पुनर्भूर्त्रया। श्लोक १८, एइ०, जि० १८, पृ० १०९।

३. श्री गुणाम्बोधिदेव....आहृतगौडलक्ष्मीः' एइ०, जिल्द ७, पृ० ८९।

४. पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १२१।

पालों की राजनीतिक सत्ता का चरमोत्कर्ष

किन्तु इस बात में सन्देह नहीं है कि पूर्व, दक्षिणपूर्ण और दक्षिण–पश्चिम में अनेक सैनिक और राजनीतिक उपलब्धियाँ देवपाल के हाथ लगीं । नारायणपाल के भागलपुर अभिलेख में देवपाल के चचेरे भाई जयपाल के सामने प्राग्ज्योतिष के जिस राजा के झुकने की बात कही गयी है, वह प्रालम्भ अथवा सालम्भ प्रतीत होता है । चूँकि उसका पुत्र और उत्तराधिकारी हर्जरवर्मन् एक शक्तिशाली शासक प्रतीत होता है[१], यह कल्पना की जा सकती है कि प्रालम्भ ने पालों की अधिसत्ता स्वीकारकर कामरूप राज्य की आन्तरिक स्वतन्त्रता की रक्षा कर ली । उपर्युक्त अभिलेख में यह भी कहा गया है कि जयपाल की सेनाओं से भयभीत होकर उत्कल का राजा भाग गया । इसके अतिरिक्त बादाल स्तम्भलेख का साक्ष्य है कि देवपाल ने वत्कलों को उखाड़ फेंका । इस आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि उसने द्वितीय शिवकरदेव अथवा प्रथम शान्तिकरदेव के समय उड़ीसा पर कई बार आक्रमण कर उसे पूर्णतः अपने अधीन कर लिया[२] । किन्तु यह नहीं जान पड़ता कि इस आक्रमण के फलस्वरूप उड़ीसा से कर राजाओं का शासन समाप्त हो गया । आगे उनका इतिहास लिखते समय हम यह देखेंगे कि वे पाल आक्रमण के बाद भी उड़ीसा में शासन करते हुए साम्राज्यसूचक विरुद धारण करते रहे । बादाल स्तम्भलेख में यह भी कहा गया है कि देवपाल ने द्रविड़ों का घमण्ड तोड़ा । चूँकि यहाँ द्रविड़ों का उल्लेख गुर्जरों के साथ हुआ है, यह मान लिया जाता है कि इससे राष्ट्रकूटों का अभिप्राय[३] है, जो गुर्जर प्रतीहारों की तरह ही पालों के शत्रु थे । देवपाल का समकालिक राष्ट्रकूट शासक प्रथम अमोघवर्ष अपनी ही अनेक समस्याओं में फँसा था । इस कारण यह सम्भावना की जाती है कि देवपाल ने कदाचित् उसके विरुद्ध कुछ सफलताएँ प्राप्त कीं । लेकिन द्रविड से राष्ट्रकूट की पहचान करना बहुत सही नहीं प्रतीत होता । राष्ट्रकूट प्रायः दाक्षिणात्य अथवा कर्णाट शब्द से अभिहित होते थे । स्वयं प्रथम अमोघवर्ष के संजान ताम्रफलकाभिलेख[४] में **जगत्तुंग** द्वारा द्रविडों के अधीन किये जाने का उल्लेख है । अत; द्रविड की पहचान राष्ट्रकूट से न कर अन्य किसी राजवंश से की जानी चाहिये । डॉ० वि० प्र० सिनहा (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३७३) ने उनकी पहचान काँची के पल्लवों से[५]

---

१. इस सम्बन्ध में आगे देखिए, ग्यारहवाँ अध्याय ।
२. मजुमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ११७; क्लासिकल् एज, पृ० ६७ ।
३. अल्तेकर, राष्ट्रकूटज् ऐण्ड देयर टाइम्स्, पृ० ७९; रा० दा० बनर्जी, बांगलार इतिहास, जिल्द १, पृ० २०५ ।
४. एइ० जिल्द १८, पृ० २४६ ।
५. डॉ० मजुमदार (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १२०) ने देवपाल के द्रविड शत्रु की पहचान पाण्ड्य राजा श्रीमार श्रीवल्लभ (८१५–८६२ ई०) से की है ।

की है, जो सही प्रतीत होता है । इस पहचान से देवपाल के मुंगेर अभिलेख के उस कथन की पुष्टि होती है, जिसमें उसे उस पुल (सेतुबन्ध रामेश्वरम्) तक की भूमि पर शासन करने का श्रेय दिया गया है जो रामचन्द्र के यश की घोषणा करता था । अत: यह प्रतीत होता है कि विंध्य, उड़ीसा और सुदूर दक्षिण के द्रविड़ प्रदेशों पर देवपाल ने जो अभियान किये उनका उद्देश्य यह था कि राष्ट्रकूटों को उत्तर, पूर्व और दक्षिण से दबाकर अपने ही क्षेत्रों में सीमित रहने को विवश कर दिया जाय ।

देवपाल का मूल्यांकन

पीछे के विमर्श से यह स्पष्ट हो जाता है कि देवपाल अपने वंश का सम्भवत: सबसे बड़ा विजेता था, जिसने पाल साम्राज्य की अधिसत्ता का विस्तार पूर्व में कामरूप, दक्षिण में कलिंग और पश्चिम में विन्ध्य और मालवा तक किया । उसकी विजयिनी सेनाएँ दक्षिण में द्रविड प्रदेश (कांची) और उत्तर में तिब्बत तक गयीं तथा उन्होंने राष्ट्रकूटों और गुर्जर प्रतीहारों को अपने ही क्षेत्रों में दबाये रखा । देवपाल की आक्रामक नीति का लाभप्रद परिणाम इस बात से स्पष्ट है कि गुर्जर प्रतीहारों और राष्ट्रकूटों ने जहाँ धर्मपाल के हाथों में आयी हुई साम्राज्यलक्ष्मी छीनकर उसके विहार और बंगाल वाले क्षेत्रों को बार-बार रौंदा, वहाँ उन्हें एक बार भी देवपाल पर सीधा आक्रमण करने का साहस नहीं हुआ । अत: यदि पाल अभिलेख उसके **एकाधिराज्य** को महत्त्व देते हुए उसकी प्रशंसा करते हैं तो कोई आश्चर्य नहीं है । उसकी विजयों का कारण उसके प्रशासन की सफलता थी, जिसे दर्भपाणि और उसके पौत्र केदारमिश्र नामक मन्त्री योग्यतापूर्वक वंशानुगत रूप से चलाते थे । उसके सैनिक अभियानों का बहुत बड़ा उत्तरदायित्त्व उसका चचेरा भाई जयपाल सम्भालता था, जिसने कामरूप और उड़ीसा की विजयें कीं । किन्तु इन सबका नियंत्रण देवपाल के ही हाथों में था और उसे ही सारी सफलताओं का प्रमुख श्रेय दिया जाना चाहिये । अपने पिता धर्मपाल की तरह देवपाल भी बौद्ध था । उसने नालन्दा और विक्रमशिला के बिहारों के पल्लवन और विकास में बहुत रुचि दिखायी तथा अन्य अनेक बौद्ध मन्दिरों और विहारों को दान दिया । सम्भवत: इसी कारण तारानाथ उसे बौद्धधर्म का पुनर्स्थापक कहता है । उसके अथवा उसके समय के लगभग १०-१२[१] अभिलेख

---

१ देखिए नालन्दा और उसके पास से प्राप्त होने वाले अभिलेखों के लिए—इऐ०, जि० ४, पृष्ठ ३६६ और आगे; आसरि० १९२१-२२, पृ० २८ तथा पृष्ठ ३५; आसरि १९२७-२८, पृष्ठ १३९; मेम्वायर्स्, आसरि०, सं० ६६ पृष्ठ ८८ और ८९; एइ० जिल्द १७, पृ० ३१७ तथा एइ०, जि० २५, पृ० ३३४ और आगे; घोसरावां अभिलेख, इऐ०, जि० १७, पृ० ३०७ और आगे; मुंगेर अभिलेख एइ०, जि० १८, पृ० ३०४ और आगे; हिलसा अभिलेख, जबिओरिसो०, जि० १०, पृ० ३१ और

अब तक प्राप्त हो चुके हैं। उसकी मृत्यु-तिथि निश्चित करने की कोई प्रामाणिक साधन उपलब्ध नहीं है।

प्रथम विग्रहपाल : शूरपाल (लगभग ८५०-८५४ ई०)

देवपाल का राज्यपाल नामक एक पुत्र था, जिसे उसने अपना युवराज नियुक्त किया था[१]। वह देवपाल के शासन के ३३वें वर्ष तक जीवित था। किन्तु पाल अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि देवपाल के बाद राजगद्दी पर वह नहीं बैठा। इसका कारण या तो यह था कि राज्यपाल अपने पिता के सामने ही मर चुका था अथवा यह कि देवपाल के बाद उत्तराधिकार का कोई संघर्ष हुआ जिसमें उसे मारकर विग्रहपाल ने राजगद्दी हथिया ली। विग्रहपाल कदाचित् देवपाल के चचेरे भाई जयपाल का पुत्र[२] था। जयपाल स्वयं धर्मपाल के छोटे भाई वाक्पाल का पुत्र था। जयपाल देवपाल का सेनापति रह चुका था और असम्भव नहीं है कि उसने अपने पुत्र की सैनिक सहायता की हो। कुछ विद्वानों का मत[३] है कि देवपाल के बाद कुछ वर्षों के लिए पालक्षेत्र आपसी झगड़ों के कारण कई छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित हो गया। इसका प्रमाण ८६६ ई० के कुछ राष्ट्रकूट अभिलेखों से दिया जाता है जिनमें अंग, वंग और मगध का अलग-अलग उल्लेख है। ये सभी क्षेत्र पहले पाल राज्य के अभिन्न अंग थे। किन्तु देवपाल के बाद उत्तराधिकार सम्बन्धी घपले का अन्त यहीं नहीं होता। जहाँ नारायणपाल के भागलपुर अभिलेख (इऐ०, जि० १५, पृ० ३०४ और आगे) से यह प्रतीत होता है कि देवपाल के बाद विग्रहपाल राजा हुआ, वहीं उसके समय का बादाल स्तम्भ लेख (एइ० जिल्द २ पृ० १६१ और आगे) देवपाल और नारायणपाल के बीच शूरपाल को रखता है। कुछ[४] अपवादों को छोड़कर प्राय: सभी विद्वानों की यह मान्यता[५] है कि विग्रहपाल और शूरपाल

आगे; सिलाओ अभिलेख, एइ० जि० २५, पृ० ३२८-३३४; कुरकीहार अभिलेख, जबिओरिसो०, जि० १६, पृ० २५१ और आगे।

१. 'आत्मानुरूपचरितं स्थिरयौवराज्यं श्रीराज्यपालम्'। मुंगेर अभिलेख, एइ०, जि० १८, पृ० ३०७।

२. देखिए, मजुमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १८८-१८९।

३. इस सम्बन्ध में देखिए, वि० प्र० सिनहा पूर्वनिर्दिष्ट. पृ० ३८५-३८६।

४. वहीं, पृ० ३८२, ३८५-६। प्रमोदलाल पाल का विश्वास है (इहिक्वा०, जि० १२, पृ० ६२२) कि विग्रहपाले ने कदाचित् बाहरी आक्रमणों में परास्त होकर लज्जावश गद्दी छोड़ दी।

५. देखिए, रा० दा० बनर्जी, मेम्बायर्स्, एशियाटिक सोसायटी, बेंगाल जिल्द ५, पृ० ५७; कीलहॉर्न, एइ०, जि० २, पृ० १६१ और आगे; होयर्नल, इऐ०, जि० १४,

एक ही व्यक्ति के दो नाम थे । जो भी हो, विग्रहपाल–शूरपाल का शासन काल अत्यन्त लघु था । उस समय की कोई विशेष राजनीतिक घटना नहीं ज्ञात होती । सम्बद्ध साक्ष्यों में विग्रहपाल को केवल गोलमोल शब्दों में अपने शत्रुओं का नाश करने वाला कहा गया है तथा शूरपाल के सम्बन्ध में इतना मात्र ज्ञात है कि उसने अपने राज्य की रक्षा के लिए यज्ञ किया । यह स्पष्ट है कि विजयों अथवा प्रशासन की अपेक्षा यज्ञ और अनुष्ठान में उसकी रुचि अधिक थी ।

नारायण पाल (लगभग ८५४-९१५ ई०)

प्रथम विग्रहपाल की हैहयवंशी रानी लज्जादेवी से नारायणपाल नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसके पक्ष में उसने (विग्रहपाल ने) राज्यत्याग कर दिया ।[१] देवपाल के मन्त्री केदारमिश्र का पुत्र गुरवमिश्र नारायणपाल का मन्त्री था । किन्तु बादाल स्तम्भलेख में नारायणपाल को किसी सैनिक विजय का श्रेय नहीं दिया गया है । अपने पिता (विग्रहपाल) की तरह नारायणपाल भी शान्त प्रकृति का कमजोर शासक था, जिसमें सैनिक योग्यता की कमी थी । इसका परिणाम यह हुआ कि धर्मपाल और देवपाल द्वारा विजित और संवर्धित विशाल पाल साम्राज्य शिथिल होकर ढहने लगा । उसकी अधिसत्ता मानने वाले कामरूप और उड़ीसा जैसे राज्य स्वतन्त्र हो गये तथा राष्ट्रकूटों ने धावे मारना प्रारम्भ कर दिया । प्रतीहार इतिहास के सम्बद्ध साक्ष्यों से यह ज्ञात होता है कि नारायणपाल अपने शासन के प्रारम्भिक वर्षों में बंगाल के साथ अंग और मगध पर भी अधिकार बनाये रखने में सफल रहा । किन्तु उसके शासन के अगले भागों में सम्पूर्ण मगध के अतिरिक्त उत्तरी बंगाल का भी बहुत बड़ा भाग गुर्जर प्रतीहारों ने उससे छीन लिया, जिसे हम आगे देखेंगे ।

राष्ट्रकूटों का दबाव

नारायणपाल को अपने शासन के प्रारम्भिक वर्षों में ही राष्ट्रकूटों का दबाव सहना पड़ा । प्रथम आमोघवर्ष (८१४–८८०) के नीलगुण्ड और सिरूर से प्राप्त

पृ० १६२–१६५; हेमचन्द्रराय, डाहिनाइ०, जि० १, पृ० २९७ और आगे; र० चं० मजुमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १२७ ।

१. नारायणपाल के १७वें वर्ष के भागलपुर ताम्रफलकाभिलेख (इए०, जि० १५ पृ० ३०६) में कहा गया है (श्लोक १७) कि जैसे सगर ने भगीरथ से कहा कि 'मुझे अब तपस्या करनी चाहिए तथा तुम्हें राज्य सँभालना चाहिए', वैसे ही विग्रहपाल ने नारायणपाल से कहा ।

होने वाले (एइ०, जिल्द ६, पृ० १०३; इऐ०, जिल्द १२, पृ० २१८) अभिलेखों में कहा गया है कि अंग, वँग और मगध के राजा उसकी पूजा करते थे। डॉ० मजुमदार का मत (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १२७) है कि वेंगी के राजा को लगभग ८६० ई० के आसपास कभी परास्त[1] कर अमोघवर्ष पूर्वी किनारों से होता हुआ पाल क्षेत्रों पर चढ़ गया। यह उस समय की स्थिति प्रतीत होती है जब देवपाल के बाद पाल साम्राज्य कदाचित् आपसी झगड़ों के कारण कई भागों में बँट गया था। यह अनुमान लगाया गया है कि अंग, वंग और मगध के अलग-अलग उल्लेख का कारण पालों का आपसी संघर्ष ही था। ८८० ई० में अमोघवर्ष की मृत्यु के बाद द्वितीय कृष्ण राष्ट्रकूटों का राजा हुआ। तृतीय कृष्ण के अभिलेखों में कहा गया है कि द्वितीय कृष्ण ने 'गुरु की तरह पालों को विनम्रता का पाठ पढ़ाया तथा उसकी आज्ञाओं का पालन अंग, कलिंग, गंग और मगध' करते थे[2]। किस्तना (कृष्णा) जिले का वेलंनाडु नामक छोटा सा सरदार इस बात का दावा करता है (एइ०, जि० ४, पृ० ४०, ४८) कि उसने वंगों को हराया। हो सकता है कि पालों के विरुद्ध युद्ध में द्वितीय कृष्ण की सेनाओं के साथ उसने भी भाग लिया हो। लेकिन राष्ट्रकूट सेनाएँ सदा की भाँति अमोघवर्ष अथवा द्वितीय कृष्ण के समय भी पाल क्षेत्रों पर केवल विजय प्राप्तकर संतुष्ट रह गयीं, जिससे पालों की कोई स्थायी हानि नहीं हुई। नारायणपाल ने उनके सामने झुककर अपने राज्य की रक्षा कर ली। तथापि राष्ट्रकूटों के इस दबाव का परिणाम पालों के लिए अन्यत्र बुरा हुआ। सम्भवतः इन्हीं परिस्थितियों में उड़ीसा के सुल्किवंशी महाराजाधिराज रणस्तम्भ ने राढ़ (पश्चिमी बंगाल) के कुछ भागों को जीत लिया[3]। उड़ीसा के ही एक दूसरे भाग में शैलोद्भव-वंशी राजाओं ने अपनी पूर्ण प्रभुसत्ता स्थापित कर ली। ये शैलोद्भव कर राजाओं के बाद हुए, जिनके किसी प्रतिनिधि को देवपाल के चचेरे भाई और सेनापति जयपाल ने भाग जाने को विवश किया था। उड़ीसा की तरह कामरूप भी स्वतन्त्र हो गया। पीछे हम देख चुके हैं कि जयपाल ने सालम्भ अथवा प्रालम्भ नामक वहाँ के राजा को अपने सम्मुख झुकने को विवश किया था[4]। किन्तु उसके पौत्र वनमाल को अनेक युद्धों का विजेता कहा गया है। वनमाल नारायणपाल का समकालिक प्रतीत होता है। उसकी साम्राज्यसूचक उपाधियों से यह स्पष्ट है कि कामरूप पालों की अधिसत्ता का

---

१. देखिए, अल्तेकर, राष्ट्रकूटज् ऐण्ड देयर टाइम्स्, पृ० ७५।

२. तस्योत्तर्जितगूर्ज्जरोहृतहटलाटोद्भटश्रीमदोगौडानां विनयव्रतार्प्पण गुरूस्सामुद्रनिद्राहरः। दारस्थाँगकलिंगगांगमगधैरभ्यर्चिता ···· ।। एइ० ४, पृ० २८७।

३. रा० दा० बनर्जी—हिस्ट्री ऑफ् ओरिसा, जि० १, पृ० १९३-१९५।

४. देखिए, पीछे पृ० २५१।

बोझ न केवल पटक चुका था, अपितु पूर्ण स्वतन्त्र होकर स्वयं विजय मार्ग पर चलने लगा था।

बिहार और उत्तरी बंगाल से पालसत्ता की अस्थायी समाप्ति

नारायणपाल अपने शासन के प्रारम्भिक वर्षों में अंग और मगध पर अधिकार बनाये रख सकने में सफल था। इसकी पुष्टि उसके शासन के ६वें, ९वें और १७वें वर्ष के क्रमशः गया मन्दिर अभिलेख, इण्डियन् म्यूजियम् प्रस्तर अभिलेख और भागलपुर के ताम्रपत्राभिलेख से होती है[१], इन सबमें नारायणपाल को उन प्रदेशों का शासक बताया गया है। किन्तु उसके शासन के १७वें और ५४वें वर्ष के बीच का उसका कोई भी अभिलेख नहीं प्राप्त हुआ है। सम्भवतः उसका अन्तिम अभिलेख उसके शासन के ५४वें वर्ष का है[२]। गुरवमिश्र का बादाल स्तम्भलेख अतैथिक है, किन्तु वह नारायणपाल के प्रारम्भिक वर्षों में ही प्रकाशित हुआ प्रतीत होता है[३]। नारायणपाल के शासन के १७वें वर्ष के बाद तथा ५४ वर्ष के पूर्व उसके किसी अभिलेख के प्रकाशित न होने का कारण यह था कि उसके राज्य के अधिकांश क्षेत्र गुर्जर प्रतीहार राजा मिहिरभोज और महेन्द्रपाल के आक्रमणों के परिणामस्वरूप उसके हाथों से निकल गये। नारायणपाल की कमजोरी और अयोग्यता इस बात से स्पष्ट है कि प्रतीहारों ने उसके पश्चिमी क्षेत्रों को जीतकर अपने साम्राज्य का अभिन्न अंग बना लिया। अब तक पाल प्रतीहार युद्धों में एक दूसरे की विजयें तो हुई थीं, किन्तु किसी पक्ष के परम्परागत क्षेत्रों पर प्रत्यक्ष अधिकार नहीं किया गया था। नारायणपाल के शासन के पूर्वभाग में उसका प्रतीहार समकालिक प्रथम भोज था, जिसने देवपाल के अन्तिम दिनों में पाल क्षेत्रों पर धावे मारना प्रारम्भ कर दिया था। पालों के विरुद्ध उसकी सफलताओं का उल्लेख उसकी अतैथिक ग्वालियर प्रशस्ति में हुआ है, जिसमें एक स्थान पर कहा गया है कि उसने 'अपनी क्रोधाग्नि से अपने शक्तिशाली शत्रु वंग को जला दिया'[४]। यहाँ 'क्रोधाग्नि' के इस उल्लेख में किसी

---

१. देखिए, मेम्वायर्स, एशियाटिक सोसायटी, बेंगाल, जिल्द ५, पृ० ६०–६१; इऐ०, जि० १५, पृ० ३०४ और आगे।

२. बिहार मूर्ति अभिलेख इऐ०, जिल्द ४७, पृ० ११० और आगे।

३. इस सम्बन्ध में देखिए, एइ०, जि० २, पृ० १६० और आगे; वि० प्र० सिनहा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३८८।

४. यह अनुवाद हीरानन्द शास्त्री के पाठ (आसरि०, १९०३–४, पृ० २८५) के आधार पर लिया गया है। ग्वालियर प्रशस्ति के सम्पादक डॉ० रमेशचन्द्र मजुमदार (एइ०, जि० १८, पृ० १०९ और आगे) 'वृहद्वंगान्' की जगह 'वृहद्वंशानृ' पढ़ते हैं

वास्तविक युद्ध की ओर निर्देश नहीं है। तथापि यहां वंग का तात्पर्य पालों से ही है। किन्तु यह बता सकना कठिन है कि यह उल्लेख देवपाल की ओर उदिष्ट है अथवा नारायणपाल की ओर। अनेक विद्वानों[१] ने यह अनुमान लगाया है कि भोज ने अपने शासन के अन्तिम दिनों में नारायणपाल पर आक्रमण किया था। किन्तु इस अनुमान के पीछे कोई ठोस प्रमाण नहीं है। ग्वालियर से प्राप्त होने वाले उसके ८७५-८७६ ई० के एक अन्य अभिलेख में कहा गया है वह 'तीनों लोकों की विजय का इच्छुक था।' उससे यह प्रकट होता है कि ८७५-८७६ ई० तक भोज अपनी विजयें पूर्ण नहीं कर सका था। दक्षिण की ओर राष्ट्रकूटों ने उसे रोक रखा था। यद्यपि बाद में उनके मुकाबले भोज को सफलताएँ अवश्य मिलीं,[२] यह निश्चित प्रतीत होता है कि उसे पाल क्षेत्रों पर प्रत्यक्ष अधिकार कर लेने का कोई अवसर न था। ऐसी स्थिति में यह मानना अधिक समीचीन प्रतीत होता है कि नारायणपाल से जिन पाल क्षेत्रों को प्रतीहारों ने छीना, वह महेन्द्रपाल के समय की ही घटना थी। महेन्द्रपाल के अभिलेखों से मगध और उत्तरी बंगाल पर उसका शासनाधिकार प्रमाणित होता है। छपरा जिले के डिघवा दबौली नामक गाँव से उसका ९५५ वि० सं०=९८९ ई० का एक अभिलेख (इऐ०, जिल्द १५, पृ० १०५ और आगे) प्राप्त हुआ है, जो श्रावस्तीमण्डल के वालीयकविषय में स्थित पानीयक नामक ग्राम के भट्टपद्मेश्वर नामक ब्राह्मण को दान में दिये जाने का उल्लेख करता है, उसका एक अन्य अभिलेख गया जिले के रामगया नामक स्थान से विष्णु की दशावतार मूर्ति पर लिखा हुआ मिला है, जो उसके राज्याभिषेक के ८वें वर्ष प्रकाशित हुआ[३] था। उसके राज्याभिषेक के ९वें वर्ष का तीसरा अभिलेख गया जिले में ही स्थित गुनरिया नामक स्थान से प्राप्त हुआ था[४]। इनके अतिरिक्त बिहारशरीफ[५], हजारीबाग जिले में इतखोरी[६] और नालन्दा[७] से भी उसके अभिलेख मिले हैं। इनसे यह प्रमाणित होता है कि

---

१. दे० मजुमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १२८-१२९; दि एज ऑफ् इम्पीरियल् कन्नौज, पृ० ३१; वि० प्र० सिनहा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ०३८९-३९०; दशरथ शर्मा, राजस्थान थ्रू दि एजेज्, पृ० १५१-२; जर्नल ऑफ् ओरियण्टल् रिसर्च, मद्रास, २४ वाँ, पृष्ठ ७०-७१।

२. देखिए पीछे, भोज सम्बन्धी विवरण।

३. मेम्वायर्स्, एशियाटिक सोसायटी, बेंगाल, जि० ५, पृ०६३-४।

४. वहीं।

५. आसरि०, १९२३-२४, पृ० १०२; मेम्वायर्स, आर्केलॉजिकल् सर्वे ऑफ् इण्डिया, सं० ६६, पृ० १०५-६

६. वहीं।

७. मेम्वायर्स, एशियाटिक् सोसायटी, बेंगाल, जिल्द ५, पृ० ६३-६४।

महेन्द्रपाल ने अपने शासन के प्रारम्भिक वर्षों में ही सम्पूर्ण बिहार और छोटा नागपुर से पालों का अधिकार समाप्त कर वहाँ अपना शासन स्थापित कर लेने में सफलता प्राप्त कर ली थी। पहाड़पुर (बंगाल के राजशाही जिले) से प्राप्त होने वाले उसके शासन के पाँचवें वर्ष के एक अन्य अभिलेख (आसरि० १९२५-६, पृ० १४१) के साक्ष्य से यह भी प्रमाणित है कि मगध ही नहीं, अपितु उत्तरी बंगाल भी उसके अधिकार में जा चुका था। ऐसी स्थिति में नारायणपाल का राज्य 'पश्चिमी बंगाल और गंगा नदी के मुहाने के उत्तरी भाग' तक सीमित रह गया[१]। यह स्थिति सम्भवतः प्रथम महेन्द्रपाल के शासन के अन्तिम दिनों तक बनी रही। लेकिन उसकी मृत्यु के बाद अपनी भीतरी कमजोरियों और बाहरी आक्रमणों के कारण प्रतीहार साम्राज्य की अवनति प्रारम्भ हो गयी। उसका भरपूर लाभ उठाकर नारायणपाल ने खोए हुए अपने अधिकाँश प्रदेशों को पुनः हथिया लिया। इसके प्रमाण उसके शासन के ५४वें वर्ष का वह मूर्तिलेख है, जो पटना जिले के बिहार नामक कस्बे से प्राप्त (इऐ०, जि० ४७, पृ० १०९ और आगे) हुआ है। प्रथम महेन्द्रपाल का उत्तराधिकारी द्वितीय भोज अत्यन्त कमजोर और अल्पशासी था। भोज के बाद गद्दी पर बैठनेवाले प्रथम महीपाल के शासन के प्रारम्भिक वर्षों में ही (९१६-९१७) तृतीय इन्द्र के नेतृत्त्व में राष्ट्रकूट सेनाओं ने गुर्जर प्रतीहार साम्राज्य को रौंदा और थोड़े समय के लिए कन्नौज पर अधिकार भी कर लिया[२]। महीपाल को अपनी राजधानी पुनः प्राप्त करने के लिए अपने ही चन्देल सामन्त हर्षराज की सहायता लेनी पड़ी। इस विकट परिस्थिति में प्रतीहारों को अपना ही दायाद संभालना कठिन हो गया। परिणामतः, वे मगध और उत्तरी बंगाल से हट गये और नारायणपाल पुनः अपने पैतृक क्षेत्रों पर अधिकार कर लेने में सफल हो गया। उसे यह सफलता अपने शासनकाल के प्रायः अन्तिम समय में प्राप्त हुई। ऐसा प्रतीत होता है कि १०वीं ईसवी सदी के द्वितीय दशक में उसके राज्यकाल का अवसान हो गया।

राज्यपाल (लगभग ९१५-९४० ई०)

नारायणपाल के बाद उसका पुत्र राज्यपाल राजगद्दी पर बैठा। नालन्दा और गया जिले के कुर्किहार नामक स्थानों से उससे अनेक अभिलेख मिले[३] हैं। उसका विवाह राष्ट्रकूट राजकुमारी भाग्यदेवी से हुआ था, जो तुंगदेव की पुत्री थी। इस विवाह के कारण

---

१. देखिए, जबिओरिसो०, जिल्द १४, पृ० ५०८।

२. इस सम्बन्ध में पीछे देखिए, पृ० १५८-१६०।

३. देखिए, इऐ०, जि० ४७, पृ० ११९ और आगे; जबिओरिसो०, जि० २६, पृ० २३६ और आगे।

राष्ट्रकूटों से पालों का सम्बन्ध सुधर गया ।[1] राज्यपाल को ऊँचे-ऊँचे मन्दिरों और तालाबों के बनवाने का श्रेय दिया गया है,[2] जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उसने शान्तिपूर्वक शासन किया । उसका राज्यकाल कम से कम ३२ वर्षों का था और ९५० ई० के आसपास कभी उसकी मृत्यु हुई ।

द्वितीय गोपाल (लगभग ९५०-९६० ई०) और द्वितीय विग्रहपाल (लगभग ९६०-९८८ ई०)

राष्ट्रकूट कुलचन्द्र तुंग की पुत्री भाग्यदेवी से राज्यपाल को गोपाल नामक पुत्र उत्पन्न हुआ जो उसके बाद राज्य का उत्तराधिकारी हुआ । नालन्दा[3], बोधगया[4] और उत्तरी बंगाल के जाजिलपाड़ा नामक स्थानों से उसके अनेक अभिलेख मिले हैं जिनसे बिहार के अतिरिक्त उत्तरी बंगाल पर उसके अधिकार की पुष्टि होती है । उसने कम से कम १७ वर्षों तक शासन किया ।[5] तत्पश्चात् उसका पुत्र द्वितीय विग्रहपाल गद्दी पर बैठा । उसके पुत्र प्रथम महीपाल के बानगढ़ अभिलेख में उसके बारे में कुछ गोलमोल प्रशंसाओं के साथ कहा गया है[6] कि उसके 'युद्ध में लड़नेवाले हाथियों ने पूर्व के जलप्रचुर देश में मानों मेघों की तरह पानी पिया; स्वेच्छया मलयदेश के चन्दन वनों में विचरण किया; अपने सूड़ों से पानी के घने छीटें छोड़कर मरुदेश में ठण्डक फैलायी और हिमालय की तलहटियों का आनन्द लिया ।' हूबहू यही वर्णन द्वितीय गोपाल के लिए भी उसके एक अभिलेख में मिलता है । किन्तु ये विवरण गोपाल अथवा विग्रहपाल की विजयों के सूचक नहीं है ।

---

१. रा० दा० बनर्जी (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २२६) ने इस तुंगदेव की पहचान उस तुंग धर्मावलोक से की, जिसका एक अभिलेख बोधगया (जएसो० बेंगाल, १८९२, पृ० ८०, पादटिप्पणी ९) से मिलता है । नगेन्द्रनाथ बसु (वंगेर जातीय इतिहास, राजन्यकाण्ड, पृ० १२८) ने द्वितीय कृष्ण को ही तुंगदेव माना । किन्तु साधारण-तया इस तुंगदेव को द्वितीय कृष्ण के पुत्र जगत्तुंग से मिलाया जाता है । दे०, जएसो० बेंगाल १८१२, भाग १, पृ० ८० ।

२. एइ०, जि० १४, पृ० ३२४ और आगे ।

३. जएसो०, बेंगाल, जि० ४, नयी अवली, पृ० १०५-१०६ ।

४. वहीं, पृ० १०२-१०५ ।

५. महामहोपाध्याय प० हरप्रसाद शास्त्री ने मैत्रेय व्याकरण की एक तालपत्र-पाण्डु-लिपि के आधार पर राज्यपाल की शासनावधि ५७ वर्षों मानी । दे०, ए डिस्क्रिप्टिव कैटेलॉग ऑफ् संस्कृत मैनस्क्रिप्ट्स् इन् दि गवर्नमेण्ट कलेक्शन्, जि० १, कलकत्ता, १९१७, पृ० १४-१५ । किन्तु यह मत प्राय: अमान्य है ।

६. एइ० जि० १४, पृ० ३२८ और आगे ।

अपितु वे इस बात की ओर इंगित करते हैं कि स्वयं अपने राज्य में किसी बहुत बड़ी विपत्ति में पड़ जाने के फलस्वरूप उसे अपनी रक्षा के लिए इधर-उधर भटकना पड़ा। यह निष्कर्ष इस बात से पुष्ट होता है कि इन विवरणों से सम्बद्ध श्लोकों के ठीक नीचे प्रथम महीपाल की इसलिए प्रशंसा की गयी है कि उसने सभी शत्रुओं को मारकर अपने पैतृक राज्य को वापस जीत लिया, जिसे उन शत्रुओं ने 'अपना कोई अधिकार न होते हुए भी अपनी शक्ति के घमण्ड से छीन रखा था[1]'। गोपाल अथवा विग्रहपाल की किसी सैनिक विजय का कहीं भी कोई उल्लेख नहीं है। प्रत्युत् अनेक प्रमाणों से यह ज्ञात होता है कि उनकी कमजोरी के कारण अनेक समकालिक सत्ताओं ने बंगाल और बिहार पर आक्रमण किये, जिसके परिणामस्वरूप पालों का निजी शासनक्षेत्र अत्यन्त सीमित हो गया।

बाहरी आक्रमण और पाल राज्य का ह्रास

द्वितीय गोपाल का जाजिलपाड़ा (उत्तरी बंगाल) से प्राप्त होने वाला ताम्र-पत्राभिलेख उसके शासन के छठें वर्ष प्रकाशित किया गया था। उसके बाद उसके अथवा उसके पुत्र द्वितीय विग्रहपाल के समय का कोई अभिलेख उत्तरी बंगाल से नहीं मिलता। इसके विपरीत, काम्बोज नामक एक अन्य वंश के वहाँ अधिकृत होने के प्रमाण मिलते हैं। दिनाजपुर से प्राप्त एक स्तम्भ[2] लेख में 'दुर्दाम शत्रु सेनाओं को पीछे ढकेलने में सफल' एक काम्बोजवंशी गौडराजा (काम्बोजान्वय गौडपति) की प्रशंसाएँ गायी गयी हैं। यद्यपि इस लेख की तिथि के बारे में मतैक्य नहीं है, प्राय: ऐसा स्वीकार किया जाता[3] है कि इस काम्बोजवंशी राजा ने द्वितीय गोपाल अथवा द्वितीय विग्रहपाल पर आक्रमण कर उत्तरी बंगाल पर अधिकार कर लिया था। यह भी प्राय: सर्वस्वीकृत है कि ये काम्बोज मूलत: तिब्बत, भूटान एवं हिमालय की पेटी में स्थित प्रदेशों में रहते थे, जहाँ से वे उतरकर बंगाल के कुछ भागों पर जम गये। किन्तु उड़ीसा के बालासोर जिले में स्थित इर्दा नामक स्थान से

---

१. एइ०, जिल्द १४, पृष्ठ ३२८ और आगे।

२. जएसो०, बेंगाल, नयी अवली, जिल्द ७, पृ० ६१५ और आगे।

३. इस सम्बन्ध में देखिए, वहीं; रामप्रसाद चन्दा, गौडराजामाला (बंगला में) पृ० ३७; जएसो० बेंगाल, १९१४, पृ० ६७९; रा० दा० बनर्जी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २३१। हेमचन्द्र राय (डाहिनाइ०, जिल्द १, पृ०३०९-३११) का सुझाव है कि काम्बोज गुर्जर प्रतीहारों के सहायकरूप में उत्तरी बंगाल पर चढ़ आये थे, जो गुर्जर प्रतीहारों के वहाँ से हट जाने के बाद भी वहाँ जमे रहे।

प्राप्त[1] जयपाल के एक ताम्रपत्राभिलेख से उपरोक्त स्थिति की स्वीकृति में कुछ उलझन उत्पन्न होती है। तथापि उसके कारण यह त्याज्य नहीं हो जाती। ईदा अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि नयपाल **परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर** नारायणपाल का छोटा भाई और **परमेश्वर परमभट्टारक महाराजाधिराज** राज्यपाल का पुत्र था। वर्धमानभुक्ति (बर्दवान) के दण्डभुक्तिमण्डल में स्थिति भूमि के दान का अंकन करने वाला यह अभिलेख नयपाल की प्रियंगु नामक राजधानी से उसके शासन के १३वें वर्ष प्रकाशित हुआ था। प्रस्तुत विचार के सम्बन्ध में इसका सबसे मुख्य अंश यह है कि वहाँ राज्यपाल को **कम्बोजवंशतिलक** और बौद्धधर्मावलम्बी कहा गया है तथा उसकी रानी का नाम भी भाग्यदेवी बताया गया है। पाल अभिलेखों से बौद्धधर्मावलम्बी राज्यपाल और उसकी रानी भाग्यदेवी का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त होता है। किन्तु उनसे यह नहीं ज्ञात होता कि राज्यपाल का द्वितीय गोपाल के अतिरिक्त नारायणपाल नामक कोई अन्य पुत्र भी था। पुनः इर्दा अभिलेख के राज्यपाल का पुत्र नारायणपाल था, किन्तु पालवंशी राज्यपाल नारायणपाल का पुत्र था। ईदा अभिलेख का नयपाल नारायणपाल का छोटा भाई और राज्यपाल का पुत्र था किन्तु पालवंशी नयपाल प्रथम महीपाल का पुत्र था। साथ ही पालवंशी राज्यपाल की रानी भाग्यदेवी सभी स्थलों में तुंगनृपति की पुत्री कही गयी है जो ईदा अभिलेख की भाग्यदेवी के सम्बन्ध में नहीं कहा गया है। अतः यह निष्कर्ष सहज नहीं जान पड़ता कि नयपाल मूलतः पालवंश का ही कोई प्रतिनिधि था, जो द्वितीय नारायणपाल, द्वितीय गोपाल अथवा द्वितीय विग्रहपाल के समय दक्षिण-पश्चिमी बंगाल में स्वतन्त्र रूप से शासन करने लगा था। ऐसी स्थिति में यह नहीं कहा जा सकता कि इर्दा अभिलेख के **कम्बोजवंशतिलक** राज्यपाल और ९वीं-१०वीं ई० शती के पाल शासक नारायणपाल के पुत्र राज्यपाल एक ही व्यक्ति थे। प्रायः एक ही समय अथवा थोड़े समय के अन्तर से दो विभिन्न क्षेत्रों में समान उपाधिधारी और समाननामा सम्बन्धियों वाले व्यक्तियों की जानकारी भारतीय इतिहास से होती है। उदाहरणस्वरूप, गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त और उसकी रानी दत्तदेवी के समकालिक तथा ठीक-ठीक उन्हीं के नामवाले कामरूप के समुद्रवर्मन् और उसकी रानी दत्तदेवी की जानकारी प्राप्त है। इर्दा अभिलेख के राज्यपाल को **कम्बोजवंशतिलक** कहा गया है। किन्तु किसी भी पाल शासक को कहीं भी कम्बोजवंशी नहीं कहा गया है। ऐसी स्थिति में इर्दा अभिलेख का नयपाल या तो कम्बोजों का वह राजा रहा होगा, जिसकी प्रशंसा दिनाजपुर अभिलेख में की गयी है अथवा वह काम्बोजों की किसी अन्य शाखा का बंगाल पर चढ़ जानेवाला कोई स्वतन्त्र आक्रमणकारी रहा होगा।

---

१. आसारि०, १९३४-३५, पृ० ५६१ और आगे; एइ०, जिल्द २२, पृ० १५० और आगे।

पालों की कमजोरी के कारण उस समय की उठती हुई अन्य सत्ताओं ने भी उन पर आक्रमण किये। उनके मुख्य शत्रु गुर्जरप्रतीहारों की तो अब अवनति हो रही थी, किंतु प्रतीहार साम्राज्य के खण्डहरों पर विभिन्न दिशाओं में उठनेवाली नयी सत्ताओं में उन्हीं जैसी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा और साम्राज्य-भावनाएँ उत्पन्न होने लगीं। गुर्जर प्रतीहार साम्राज्य की अधिसत्ता का जुआ फेंकनेवालों में चन्देल सर्वप्रथम थे, जिनमें यशोवर्मा और धंग नामक राजे बहुत बड़े विजेता हुए। वे क्रमशः राज्यपाल, द्वितीय गोपाल और द्वितीय विग्रहपाल के समकालिक थे। चन्देल अभिलेखों में यह कहा गया है कि यशोवर्मा गौडरूपी क्रीडालता के लिए कुल्हाणी के समान था, तथा उसके पुत्र धंग ने 'राढ़ और अंग की रानियों को अपने कारागार में डाला[१]'। ये उल्लेख यशोवर्मा और धंग के पालक्षेत्रों पर आक्रमण के द्योतक हैं। पाल राजाओं को अपनी रक्षा के लिए उनके सम्मुख अवश्य झुकना पड़ा होगा। किन्तु दक्षिण-पश्चिम से पालों पर आक्रमण करनेवालों में चन्देल अकेले न थे। डाहल के कलचुरि राजा प्रथम युवराज और उसके पुत्र लक्ष्मण-राज ने भी पालों पर आक्रमण किये। बिलहरी अभिलेख में यह कहा गया है[२] कि युवराज ने 'गौड, कर्णाट, लाट, कश्मीर और कलिंग की स्त्रियों से प्रेमलीलायें कीं'। लेख में प्रयुक्त आलंकारिक भाषा पर विशेष ध्यान न देते हुए यह अनुमान किया गया है कि युवराज ने गौड और उड़ीसा पर आक्रमण किये। कर्ण के गोहरवा अभिलेख के अनुसार[३] लक्ष्मणराज ने भी बंगाल (दक्षिण-पूर्वी बंगाल) और ओड्र (उड़ीसा) की विजयें कीं। पीछे के साक्ष्यों में राढ़, अंग, वंग और मगध के अलग-अलग उल्लेखों से यह निष्कर्ष निकलता है कि इन सब पर अलग-अलग स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गये थे। द्वितीय गोपाल और द्वितीय विग्रहपाल के अधिकार में अब केवल अंग और मगध मात्र शेष रहे प्रतीत होते हैं। गौड, वारेन्द्री और राढ़ पर काम्बोजों का अधिकार पीछे हम देख चुके हैं। वंग अर्थात् पूर्वी और दक्षिणी बंगाल पर चन्द्रों ने अधिकार जमा लिया। चन्द्रवंश में लयहचन्द्रदेव, त्रैलोक्यचन्द्र और उसका पुत्र श्रीचन्द आदि अनेक शक्तिशाली शासक हुए। यद्यपि उनके ठीक-ठीक समय के बारे में कोई निश्चय नहीं है, वे प्रायः १०वीं शताब्दी में रखे जाते हैं।

प्रथम महीपाल (लगभग ९८८-१०३८ ई०) : पाल सत्ता का पुनर्स्थापन

द्वितीय विग्रहपाल के बाद उसका पुत्र प्रथम महीपाल राजा हुआ। विभिन्न समकालिक राजाओं की शासनावधि और समकालिक घटनाओं के आधार पर निश्चय

---

१. एइ०, जिल्द १, पृ० १२६, १३२, १३८ और १४५।

२. वहीं, पृ० २५६ और २६५, श्लोक २४।

३. वहीं, जिल्द ११, पृ० १४२।

किया जा सकता है कि उसने १०वीं शताब्दी के नवें अथवा दसवें दशक में कभी शासन-सूत्र संभाला था। महीपाल के राज्यारोहण के समय पाल राज्य की जो गिरी हुई अवस्था थी, उससे अधिक बुरा समय पालों के लिए और कभी नहीं आया था। बाहरी आक्रमणों से त्रस्त होकर द्वितीय गोपाल और द्वितीय विग्रहपाल केवल मगध में सिमट गये थे। महीपाल ने अपनी सैनिक योग्यता और राजनीतिक कुशलता से उस हीन अवस्था का अन्तकर पुनः एक बार पाल सत्ता को चमका दिया। यद्यपि उसके अथवा उसके उत्तराधिकारियों के अभिलेखों में कहीं भी उसकी किसी दिग्विजय का वर्णन नहीं मिलता, उसके ऐसे अनेक अभिलेख प्राप्त हुए हैं, जो दक्षिणी और पूर्वी बंगाल से वाराणसी तक विस्तृत उसके राजनीतिक प्रभाव के निदर्शक हैं। उत्तरी बंगाल के दिनाजपुर जिले में स्थित बानगढ़ नामक स्थान से प्राप्त होने वाला उसके शासन के नवें वर्ष का अभिलेख[१] उसका सर्वप्रमुख आलेख्य है। उसकी प्रमुख सूचना यह है कि महीपाल ने 'अपने सभी शत्रुओं को मारकर अपना पैतृक राज्य उन लोगों से पुनः ले लिया, जिन्होंने अपना कोई अधिकार न होते हुए भी अपने बाहुबल के घमण्ड से उसे छीन लिया था[२]।' यह भी कहा गया है कि उसने अपने कमलचरण राजाओं के सिरों पर रखा। बानगढ़ अभिलेख की इन सूचनाओं के ठीक पहले द्वितीय विग्रहपाल के हाथियों के दक्षिण में मलयगिरि से उत्तर में हिमालय तक तथा पूर्व के जलपूरित देश (देशे प्राचि प्रचुरपयसि) से पश्चिम के मरुस्थलों तक घूमने की चर्चा है। इसे इस बात का द्योतक माना जाता है कि कोई बाहरी आक्रमण जैसी किसी बहुत बड़ी विपत्ति के कारण विग्रहपाल को बहुत समय तक इधर-उधर भटकना पड़ा। यह विपत्ति उन शत्रुओं से उत्पन्न थी, जिन्होंने महीपाल का पैतृक राज्य छीन रखा था। प्रश्न यह उठता है कि वे शत्रु कौन थे, जिन्हें महीपाल ने मारा तथा वह पैतृक राज्य क्षेत्र कौन था, जिसे उसने पुनः अधिकृत किया। प्रारम्भिक पालों को गौड और वारेन्द्र से जोड़ा गया है। अतः यह समझा जा सकता है कि महीपाल ने उत्तरी और पश्चिमी बंगाल उन काम्बोजवंशी पालों से छीन लिया, जिनके लेख दिनाजपुर और इर्दा से प्राप्त हुए हैं। किन्तु महीपाल का पैतृक राज्य केवल उत्तरी अथवा पश्चिमी बंगाल मात्र तक सीमित नहीं था। उसमें दक्षिणी और पूर्वी बंगाल भी सम्मिलित थे। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उसने बंगाल के अधिकांश भागों पर अपनी सत्ता स्थापित कर ली। इसका समर्थन उसके[३] तीसरे वर्ष के बाघौरा अभिलेख से होता

---

१. एइ०, जिल्द १४, पृ० ३२८ और आगे।

२. श्लोक १२वाँ है—'बाहुदर्पादनधिकृतविलुप्तं राज्यमासाद्यपित्रां'। वहीं।

३. जएसो०, बेंगाल, जि० ११ (नयी अवली), पृ० १७ और आगे; एइ० जि० १७, पृ० ३५३-३५५। डॉ० धीरेन्द्रचन्द्र गांगुली ने इस लेख के महीपाल को प्रतीहार

है । बाघौरा आधुनिक बंगलादेश के कोमिल्ला जिले (प्राचीन समतट) में स्थित है । उस अभिलेख में महीपाल के राज्य में स्थित समतट में एक मूर्ति स्थापित किये जाने का उल्लेख है । समतट के त्रिपुरा जिले में स्थित नारायणपुर से भी महीपाल के चौथे वर्ष का एक (विनायक मूर्ति) अभिलेख मिला है[१] । इन अभिलेखों से यह स्पष्ट है कि महीपाल ने अपने शासन के तीसरे-चौथे वर्षों तक कोमिल्ला और त्रिपुरा जिलों तक अपना अधिकार विस्तृत कर लिया था । किन्तु यह तब तक असम्भव था जब तक वह उत्तरी और पश्चिमी बंगाल भी न जीत चुका हो, क्योंकि मगध और अंग से दक्षिण-पूर्वी बंगाल तक पहुँचने के लिए उत्तरी और पश्चिमी बंगाल से जाना आवश्यक था । अतः यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं प्रतीत होती कि महीपाल के राज्यारोहण के थोड़े ही दिनों बाद (तीन-चार वर्षों के भीतर ही) समस्त गौड, वारेन्द्र उत्तरी राढ़ तथा वंग-समतट पुनः पालसत्ता के अधीन हो गये ।

उत्तरी तथा दक्षिणी बिहार से महीपाल के अनेक अभिलेख प्राप्त हुए हैं । नालन्दा से प्राप्त होने वाले उसके शासन के ११वें वर्ष के दो अभिलेखों से उसकी बौद्धधर्म में अभिरुचि[२] और एक प्राचीन भग्न मन्दिर के पुनर्निर्माण की जानकारी होती है । नालन्दा से उसके घनिष्ठ सम्बन्ध का ज्ञान **अष्टसाहस्त्रिका प्रज्ञापारमिता** नामक बौद्ध ग्रन्थ की तालपत्र पर लिखी हुई एक हस्तलिपि से भी होता है जो उस **परमभट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर, परमसौगत** के शासन के छठें वर्ष लिपिबद्ध की गयी थी । गया जिले के कुर्किहार नामक स्थान से उसके शासन के ३१वें वर्ष का एक कांस्यमूर्ति पर लिखा हुआ अभिलेख (जाबिओरिसो० जि०२५, पृ० २३६ और आगे) मिला है । पटना जिले के बिहार नामक कस्बे के निकट तितरवा नामक स्थान से भी उसके समय का एक अभिलेख (आसरि०, जि० ३ पृ० ११३) प्राप्त है । इन अभिलेखों से यह प्रमाणित होता है कि प्रायः सम्पूर्ण बिहार पर उसका प्रभुत्त्व था, जिसे उसने राजकीय विरासत में पाया था ।

अपने शासन के अन्तिम वर्षों में महीपाल के अंग (उत्तरी-पूर्वी बिहार) पर भी शासन का प्रमाण मिलता है । मुजफ्फरपुर जिले में स्थित इमादपुर नामक गाँव से उसके शासन के ४८वें वर्ष के परस्पर अभिन्न रूप में लिखे हुए दो अभिलेख (इऐ०, जिल्द ५४ पृ० २६५ और आगे) मिले हैं ।

राजा महीपाल (प्रथम महेन्द्रपाल के पुत्र) से मिलाने का प्रयत्न किया (इहिक्वा०, जि० १६, पु० १७९-१८२) । किन्तु यह मत मान्य नहीं हो सका है । इस सम्बन्ध में देखिए, हेमचन्द्र राय, इहिक्वा०, जि० २१, पृ० ६३१ और आगे ।

१. इ० क०, जिल्द ९, पृ० १२१ और आगे ।

२. देखिए, र० चं० मजुमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १३७ ।

इस सम्बन्ध में रामायण की तालपत्र पर लिखी हुई उस हस्तलिपि के साक्ष्य की ओर भी ध्यान दिलाना आवश्यक है, जिसके अन्त में यह कहा गया है उसे 'नेपाल देश' के निवासी पण्डित श्री ठाकुर के पुत्र श्रीगोपति ने तिरहुत के कल्याणविजयराज्य में **महाराजाधिराज पुण्यावलोक**, सोमवंश में उत्पन्न, **गौडध्वज**[१] श्रीमद्‌गांगेयदेव के शासन के समय संवत् १०७६, आषाढ़ वदी ४ को लिखकर पूरा किया' । इस हस्तलिपि की ओर सर्वप्रथम ध्यान आकृष्ट कराने वाले वेण्डल[२] महोदय ने इसकी तिथि को विक्रम सं० में मानकर यह निश्चय किया कि वि सं० १०७६=१०१९ ई० में कलचुरिराज गांगेयदेव का तिरहुत पर अधिकार था और महीपाल ने तिरहुत गांगेयदेव से ही जीता था[३] । किन्तु यह सर्वस्वीकृत[४] नहीं है कि इस सन्दर्भ का गांगेयदेव कलचुरि गांगेयदेव ही था । इस सम्बन्ध में उठायी गयी अनेक आपत्तियों में यहाँ कुछ की ओर ही निर्देश किया जा सकता है । प्रथमतः, इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि कर्ण के पूर्व कलचुरियों ने गौड की विजय की थी । दूसरे, उनके किसी राजा ने **अवोजक** में अन्त करने वाला कोई विरुद नहीं धारण किया । तीसरे, कलचुरि गांगेयदेव को **महाराजाधिराज** कहने वाला सबसे पहला अभिलेख १०३७-१०३८ ई० का है, जिसके पूर्व वह केवल **महाराज महार्हमहामहत्तक** मात्र कहलाता था[५] । अतः यह प्रमाणित नहीं होता कि १०१९ ई० वह

---

१. वा० वि० मिराशी ने रामायण की इस हस्तलिपि की एक फोटो प्रतिलिपि लाहौर में देखी थी और उनका कहना है कि उसमें 'गौडध्वज' नहीं अपितु 'गुरुडध्वज' लिखा है, जो शैव मतावलम्बी कलचुरियों के लिए कदापि नहीं लगाया जा सकता । दे० ऐनल्स्, ऑफ् भण्डारकर ओ० रिसर्च इन्स्टीट्यूट, जि० २३, पृ० २९१ और आगे ।

२. दे० महा० हरप्रसाद शास्त्री, ए कैटेलांग ऑफ् पाम लीफ ऐण्ड सेलेक्टेड् पेपर मैंन-स्क्रिप्ट्स् बिलांगिंग्, टु दि दरबार लाइब्रेरी, नेपाल, भूमिका, पृ० १८-१९ ।

३. रा० दा० बनर्जी (मेम्वायर्स्, एशियाटिक सोसायटी बेंगाल, जि० ५, पृ० ७५; हेमचन्द्र राय डाहिनाइ०, जि० १, पृ० ३१७; का० प्र० जायसवाल, जबिओरिसो० जि० ९, पृ० ३०० और आगे तथा जो० चं० घोष (इण्डियन् कल्चर, जि० ७, पृ० ३ और आगे) आदि ने वेण्डल का मत मान लिया ।

४. देखिये, सिल्वाँ लेवी नेपाल, जि० २, पृ० २०२; मजुमदार, इहिक्वा० जि० ७, पृ० ६७९ और आगे; वा० वि० मिराशी, ऐनल्स् ऑफ् भण्डारकर ओरिवण्टल् रिसर्च इन्स्टीट्यूट, जि० २२, पृ० २९१ और आगे; रामप्रसाद चन्दा, गौडराजमाला (बंगला में), पृ० ४२ नोट ।

५. आसरि०, जि० १२, पृ० ११३ (प्यावाँ अभिलेख); मकुन्दपुर अभिलेख, कार्पस्, जिल्द ४, पृष्ठ २३४ और आगे ।

तिरहुत पर अधिकार कर **महाराजाधिराज** बन चुका था। चौथे, महोबा से प्राप्त होने वाला एक चन्देल अभिलेख यह सूचना देता[१] है कि परमार भोज और कलचुरि गांगेयदेव चन्देल राजा विद्याधर की वैसी ही पूजा करते थे जैसे कोई शिष्य अपने गुरु की करता है। महमूद गजनवी के आक्रमण के समय कायरता दिखाने वाले कन्नौज के प्रतीहार राजा राज्यपाल को मारकर विद्याधर १०१८-१०१९ ई० के आसपास अपनी शक्ति की पराकाष्ठा पर था। यह असम्भव नहीं है कि वह कलचुरि सीमाओं से बाहर अपनी शक्ति का विस्तार करने में गांगेयदेव के लिये बाधक रहा हो। ऐसी स्थिति में उपर्युक्त हस्तलिपि में उल्लिखित गांगेयदेव **पुण्यावलोक** की पहचान कठिन हो गयी है[२]।

तत्सम्बन्धी विवादों की स्थिति में यह कह सकना बड़ा कठिन है कि महीपाल ने अपने शासन के अन्तिम वर्षों में अंग प्रदेश उपर्युक्त गांगेयदेव **पुण्यावलोक** से जीता था अथवा वह पहले ही उसके अधिकार में आ चुका था। पुनः यह भी निश्चित नहीं है कि उसके शासन का ४८वाँ वर्ष ईसवी सं० का कौन सा वर्ष था।

सारनाथ से प्राप्त वि० सं० १०८३=१०२६ ई० के अभिलेख (इऐ०, जि० १४, पृ० १३९-४०) में कहा गया है कि गौडराज महीपाल ने काशी में अपने यश के सूचक सैकड़ों भवनों (मंदिरों आदि) की स्थापना के लिए स्थिरपाल और वसन्तपाल नामक अपने दो भाइयों को लगाया। इससे यह निष्कर्ष निकाला गया है कि महीपाल का सारनाथ और काशी पर १०२६ ई० में अधिकार था[३]। काशी और उसके आसपास के

---

१. एइ०, जि० १, पृ० १२२।

२. इस पहचान के सम्बन्ध में देखिए, मजुमदार, इहिक्वा०, जिल्द ७, पृष्ठ ६७९ और आगे: सिल्वाँ लेवी, नेपाल, जिल्द २, पृष्ठ २०२, टिप्पणी १; वा० वि० मिराशीं ऐनल्स् ऑफ् भण्डारकर ओरियन्टल् रिसर्च इन्स्टीट्यूट, जिल्द २२, पृष्ठ २९१ और आगे।

३. जो० चं० घोष महोदय ने इस निर्णय पर आपत्ति प्रकट करते हुए (इण्डियन् कल्चर जि० ७, पृ० ३ और आगे) यह कहा है कि वाराणसी, अयोध्या और बोधगया जैसे तीर्थों में भवनों की स्थापना धार्मिक दृष्टि से पुण्य कमाने के लिए की जाती थी, जिसमें किसी की ओर से कोई रुकावट नहीं होती थी। अतः उनके मत में यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि महीपाल का वाराणसी-सारनाथ पर अधिकार था। किन्तु प्रायः ऐसा ज्ञात होता है कि यदि एक देश के राजा ने दूसरे के राज्यक्षेत्र में पुण्य और धर्मभावना से प्रेरित होकर कुछ बनवाना चाहा तो उसके लिए अनुमति माँगी। प्रस्तुत संदर्भ में महीपाल की किसी से काशी में भवननिर्माण के लिए अनुमति माँगने का कोई उल्लेख नहीं है।

प्रदेशों पर उसके अधिकार की सम्भावना इस बात से और भी बढ़ जाती है कि महमूद के आक्रमणों से ध्वस्त होकर कन्नौज का प्रतीहार राज्य प्रायः समाप्त हो चुका था। राज्यपाल का पुत्र और उत्तराधिकारी त्रिलोचनपाल प्रयाग और झूसी के आसपास तक सीमित था[१]। महीपाल के लिए उसकी कमजोरी का लाभ उठाकर वाराणसी के प्रदेशों को हस्तगत कर लेना कठिन न रहा होगा, विशेषतः उस परिस्थिति में जब वे उसकी मगध वाली सीमाओं से सटे हुए थे। किन्तु वह वाराणसी पर बहुत दिनों तक अधिकृत न रह सका। दक्षिण-पश्चिम से कलचुरियों ने उसपर धावे मारना प्रारम्भ कर दिया[२]। मुसलमान इतिहासकार अब्दुल् बैहकी से यह ज्ञात होता है[३] कि १०३३-३४ ई० में जब अहमद नियाल्तगीन ने बनारस पर धावा किया था तो वह गंग अर्थात् कलचुरि राजा गांगेयदेव के अधिकार में था।

चोल आक्रमण

महीपाल को अपनी अनेक सफलताओं के बीच दक्षिण के चोल शासक राजेन्द्र की सेनाओं का एक आक्रमण (१०२१-१०२३ ई०) भी सहना पड़ा। सम्बद्ध साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि राजेन्द्र ने अपने राज्य की भूमि को गंगाजल से पवित्र करने का निश्चयकर अपने एक सेनापति (**दण्डनाथ**) को एक विशाल सेना के साथ गंगाजल लाने के लिए भेजा। इस अभियान के विवरण उसके तिरुवालंगाडु, तिरुमालै, करण्डै और चाराल से प्राप्त होने वाले अभिलेखों एवं अन्य तमिल प्रशस्तियों में मिलते हैं[४]। एक तमिल प्रशस्ति में कहा गया है[५] कि चोल सेनापति ने 'शक्तिशाली महीपाल को गहरे समुद्र

---

१. इस सम्बन्ध में देखिए, पीछे, प्रतीहारों का पतन सम्बन्धी प्रकरण।

२. देखिए, एइ०, जि० २२, पृ० १३२। गोहरवा अभिलेख (एइ०, जि० ११, पृ० १४३, श्लोक १७) से यह ज्ञात होता है कि गांगेयदेव ने अंग के किसी राजा को हराया था। अंग का वह राजा महीपाल हो सकता है।

३. इलियट् और डाउसन्, हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया ऐज टोल्ड बाइ इट्स् ओन हिस्टॉरियन्स्, जि० २, पृ० १२३।

४. तिरुवालंगाडु अभिलेख, श्लोक १०९; करण्डै अभिलेख, श्लोक ६४; चाराल अभिलेख, श्लोक ७१; एइ० जि० ९, पृ० २२३ और आगे; इहिक्वा०, जि० १३, पृ० १५१-५२।

५. सम्बद्ध प्रशस्ति के अनुवाद के लिए देखिए, नीलकान्त शास्त्री, चोलज्, द्वितीय संस्करण, १९५५, पृष्ठ २०७; इहिक्वा, जि० १३, पृ० १४९-१५२।
हुल्ट्ज् द्वारा दिये गये अनुवाद में थोड़ी भिन्नता है। देखिए एइ०, जिल्द ९, पृ० २३३।

से प्राप्त एक शंख की ध्वनि से भीषण लड़ाई में (युद्धस्थल से) भगाकर असाधारण शक्ति वाले हाथी, स्त्रियाँ तथा धन-सम्पत्ति छीनी' । मोती उत्पन्न करने वाले विस्तृत समुद्र के किनारे फैले हुए 'उत्तिरलाडम्' और अपने वक्षस्थल पर सुगन्धयुक्त फूल बहानेवाली तथा तीर्थों (घाटों) से जल टकराने वाली गंगा पर भी उसकी विजयें बतायी गयी हैं। उसके विजित क्षेत्रों और उनके राजाओं की पहचान करने से महीपाल की तात्कालिक शक्ति के विस्तार का ज्ञान होता है, जिसके व्यौरों में जाने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। यहाँ उत्तिरलाडम् से उत्तरी राढ़ अभिहित है, जहाँ महीपाल का राज्य था। वहीं चोल सेनापति को गंगा प्राप्त हुई। इस सम्बन्ध की सबसे महत्त्वपूर्ण सूचना यह है कि महीपाल को सम्भवतः अपनी रक्षा के लिए युद्धस्थल से भागना पड़ा और आक्रामकों के हाथ बहुत बड़ी धनसम्पत्ति लगी। उड़ीसा और महाकोसल जैसे चोलों द्वारा विजित क्षेत्र पालसत्ता से बिल्कुल ही बाहर थे। दण्डभुक्ति और दक्षिणी राढ़ के स्वतंत्र उल्लेख से भी यह प्रतीत होता है कि दक्षिणी और पश्चिमी बंगाल के बहुत बड़े हिस्से पर महीपाल अपनी प्रत्यक्ष शासनसत्ता नहीं स्थापित कर सका था। किन्तु यह असम्भव नहीं है कि वहाँ के शासक क्रमशः धर्मपाल और रणशूर, उसकी अधिसत्ता स्वीकार करते हों। किन्तु इस सम्बन्ध में निर्विवाद रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। तथापि यह स्पष्ट सा है कि चोल आक्रमण का बंगाल पर कोई स्थायी प्रभाव न हुआ।

चोल सेनाओं के लौट जाने पर महीपाल पुनः अपनी पूर्वस्थिति में आ गया। यह असम्भव नहीं है कि उसने अपनी कुछ विजयें इस आक्रमण (१०२१-१०२३ ई०) के बाद भी की हों। राजनीतिक दृष्टि से प्रभावकारी न होते हुए भी चोल आक्रमण की कुछ स्थायी सांस्कृतिक देनें स्वीकार की जाती हैं। डॉ० रा० दा० बनर्जी का विश्वास[१] था कि उस आक्रमण के बाद कर्णाट से कुछ सरदार पश्चिमी बंगाल में जाकर बस गये, जिनके वंशजों में सेनवंश का स्थापक सामन्तसेन मुख्य हुआ।

प्रथम महीपाल की उपलब्धियाँ

पीछे के विवरणों से महीपाल की राजनीतिक और सैनिक उपलब्धियाँ स्पष्ट हो जाती हैं। वास्तव में देवपाल के बाद यह पालवंश का सबसे प्रमुख शासक हुआ, जिसे पाल सत्ता और गौरव का द्वितीय संस्थापक अथवा पुनर्स्थापक कहा जाता है। जैसा हम पीछे देख चुके हैं, नारायणपाल और उसके बाद के पालों ने बंगाल के जिन क्षेत्रों को खो दिया था, उनके अधिकांश भागों को महीपाल ने पुनः जीतकर स्वाधिकृत कर लिया। तथापि पालों की गिरती हुई अवस्था को वह पूरी तरह उन्नत न कर सका, जो चोलों के

---

१. पालज् ऑफ् बेंगाल, पृ० ७३, ९९।

आक्रमण में उसकी पराजय तथा उस सम्बन्ध के अन्य स्वतन्त्र राजाओं के उल्लेख से स्पष्ट है । कदाचित् उसे गांगेयदेव कलचुरि का भी आक्रमण सहना पड़ा । सम्भवतः ये ही कारण[१] थे कि वह अपने समय की उत्तर भारतीय राजनीति में कोई भाग न ले सका । लेकिन धार्मिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में उसकी सेवाएँ प्रभूत थीं । बनारस, सारनाथ, बोधगया और नालन्दा में उसने सैकड़ों बौद्ध विहारों और हिन्दू मन्दिरों का जीर्णोद्धार और निर्माण कराया[२] । साथ ही, उसने महीपुर (बोगड़ा) नामक नगर बसाया तथा दिनाजपुर का महीपालदीघी नामक तालाब बनवाया । मुर्शिदाबाद के अनेक सरों के नाम उसके ही नाम पर रखे हुए प्रतीत होते हैं । आज भी बंगाल में उसके नाम से सम्बद्ध अनेक अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं ।

प्रथम महीपाल के कमजोर उत्तराधिकारी और पालों का त्वरित ह्रास

नयपाल (लगभग १०३८–१०५५ ई०)

प्रथम महीपाल ने लगभग ५० वर्षों तक शासन[३] किया । किन्तु यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है कि उसकी मृत्यु किस वर्ष हुई । उसके बाद नयपाल नामक उसका पुत्र

---

१. फिरिश्ता महमूद के विरुद्ध देश की रक्षा के लिए हिन्दुओं के जिन अनेक सामूहिक सैनिक प्रयत्नों की चर्चा करता है, उनमें महीपाल का नाम नहीं आता । विभिन्न विद्वान् अलग–अलग रूप में इसका कारण उसमें देशभक्ति की भावना की कमी (वि० प्र० सिनहा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ४१८–१९); उसकी संन्यासी जैसी प्रवृत्ति (रामप्रसाद चन्दा, गौडराजमाला, पृ० ४१) अथवा उसका धार्मिक विद्वेष (वह बौद्ध था, जब कि उत्तर भारत के प्रायः सभी राजे हिन्दू थे) मानते (रा० दा० बनर्जी, बांगलार इतिहास, जि० १, पृ० २५६) हैं । इस सम्बन्ध में और देखिए, हेमचन्द्रराय, डाहिनाइ०, प्रथम, ३२४; र० चं० मजुमदार, दि रिव्होल्ट ऑफ् दिव्वोक एगेन्स्ट महीपाल सेकेण्ड ऐण्ड अदर रिव्होल्ट्स् इन बेंगाल पृ० ९ ।

२. देखिए, नालन्दा स्तम्भ अभिलेख, जएसो०, बेंगाल, नयी अवली, जि० ४, पृ० १०६; बोधगया मूर्ति अभिलेख, रा० दा० बनर्जी, पालज् ऑफ् बेंगाल, पृ० ७५; सारनाथ अभिलेख इऐ०, जिल्द १४ पृ० १३९ और आगे ।

३. तारानाथ उसके शासन की अवधि ५२ वर्ष बतलाता है (इऐ० जि० ४, पृ० ३६६ और आगे) । उसके इमादपुर मूर्ति अभिलेख (इऐ०, जि० १४, पृ० १६५ और आगे) से भी ज्ञात होता है कि उसने कम से कम ४८ वर्षों तक अवश्य शासन किया ।

गद्दी पर बैठा और कम-से-कम १५ वर्षों तक शासन करता रहा। उसका शासन काल १०३८ से १०५० ई० (मजुमदार, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० १४४) अथवा १०४० से १०५५ ई० (हेमचन्द्रराय डाहिनाइ०, प्रथम, पृ० ३२६) तक माना गया है। इस बीच उसे कलचुरि कर्ण (१०४१-१०७३) के आक्रमण का शिकार होना पड़ा। कलचुरि अभिलेखों से ज्ञात होता है कि गौड और अन्य देशों के राजा कर्ण के सामने अधीनरूप में उपस्थित हुए थे[1] तथा उसकी वीरता से डरकर कलिंग और वंग के राजा[2] कांपते थे। तिब्बती अनुश्रुतियों से भी पश्चिम के तीर्थिक राजा कर्ण के पाल क्षेत्रों (मगध) पर आक्रमण की पुष्टि होती है।[3] उनसे यह सूचना मिलती है कि युद्ध के पहले दौर में तो कर्ण की सेनाओं ने विजयी होकर अनेक बौद्ध स्थलों को हानि पहुँचायी, किन्तु बाद में वे नयपाल द्वारा दबायी गयीं। अन्ततः दीपंकर श्रीज्ञान (अतीश) नामक प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् के बीच-बचाव से दोनों पक्षों में सन्धि हो गयी। आधुनिक विद्वान् इस बौद्ध अनुश्रुति को कुछ उलझा हुआ मानते हुए यह अस्वीकार करते से प्रतीत होते हैं कि पालों और कलचुरियों के बीच कोई सन्धि हुई थी। वास्तव में कर्ण ने अपनी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं का कभी भी त्याग नहीं किया और नयपाल के पुत्र और उत्तराधिकारी तृतीय विग्रहपाल के समय भी कर्ण का पालों से संघर्ष[4] हुआ और कुछ पालक्षेत्र कलचुरियों के हाथ में चले गये। कर्ण का एक स्तम्भ अभिलेख पश्चिमी बंगाल के वीरभूम जिले के पैकोर नामक स्थान से मिला (आसरि० १९२१-२२, पृ० ११५) है, जिससे वहाँ कलचुरि अधिकार की पुष्टि होती है। इस समय के बाद मगध और उत्तरी बंगाल (पुण्ड्रवर्धन) के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र से पालों का कोई अभिलेख नहीं मिलता। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वे अब प्रायः मगध और उत्तरी बंगाल तक ही सीमित हो गये। पूर्वी और दक्षिणी बंगाल पर वर्मनों और चन्द्रों के शासन

---

१. इऐ०, जि० १८, पृ० २१७। पालों के विरुद्ध कर्ण की सफलता अन्य अभिलेखों से भी प्रमाणित है, यथा—पैकोर अभिलेख, आसरि०, १९२१-२२, पृ० ७८; भेड़ाघाट अभिलेख, एइ०, जि० २, पृ० ११।

२. कुंग सद्गतिमाजगाम चकपे वंगः कलिगैः सहः।
एइ०, जि० २, पृ० ११, श्लोक १२।

३. देखिए शरत्चन्द्र दास, इण्डियन् पण्डितस्, इन् दि लैण्ड ऑफ् स्नो, कलकत्ता, १८९३ पृ० ४१।

४. रामपालचरित, प्रथम, श्लोक ९ की टीका; मेम्वार्यर्स् एशियाटिक सोसायटी, बेंगाल, जि० ३, पृ० २२।

तथा त्रिपुरा जिले के आसपास पट्टिकेरा के एक स्वतन्त्र राज्य की जानकारी हमें अन्य प्रमाणों से होती है[१] ।

तृतीय विग्रहपाल (लगभग १०५५-१०७० ई०)

यद्यपि **रामचरित** में कहा गया है कि कर्ण और तृतीय विग्रहपाल के संघर्ष में कर्ण हारा[२], हमें इस कथन को बहुत अधिक महत्त्व न देने में कोई आपत्ति नहीं जान पड़ती । वहाँ यह भी कहा गया है कि कर्ण ने अपनी पुत्री यौवनश्री का विग्रहपाल से विवाह कर मित्रता कर ली । प्राचीन शासक या तो हारने पर अथवा विजयी होते हुए भी अन्य दिशाओं में उत्पन्न होने वाले भयों की आशंका से अपनी पुत्रियों को शत्रुओं से ब्याहकर उनके दबाव से मुक्ति प्राप्त करते थे । यहाँ भी कुछ ऐसा ही हुआ प्रतीत होता है । लेकिन विग्रहपाल कलचुरियों से मित्रता स्थापित करने पर भी अन्य दिशाओं से भयमुक्त नहीं हो सका । बिल्हणकृत **विक्रमांकदेवचरित**[३] से ज्ञात होता है कि कल्याणी के चालुक्य राजा प्रथम सोमेश्वर के पुत्र विक्रमादित्य (षष्ठ) ने अपनी विजययात्राओं में गौड और कामरूप के राजाओं को १०६८ ई० के आसपास हराया । अन्य चालुक्य अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि प्रथम सोमेश्वर के पूर्व के भी दो चालुक्य शासकों ने वंग पर आक्रमण किया था । इन आक्रमणों के स्थायी प्रभाव की चर्चा करते हुए डॉ० मजुमदार[४] कहते हैं कि चालुक्य सेनाओं के साथ आने वाले कुछ कर्णाट सरदार बंगाल में बस गये, जिनके वंशज राढ़ा के सेन और सिंहपुर के वर्मन् नामान्त शासक हुए । उड़ीसा के महाशिवगुप्त ययाति और उद्योतकेसरी नामक राजाओं ने भी प्रायः इसी समय गौडों पर आक्रमण किये[५] । इन अनेक बाहरी आक्रमणों के प्रभावस्वरूप प्रायः सारा बंगाल तो पालों के हाथों से निकल ही गया, मगध का भी कुछ भाग वे खो बैठे । यक्षपाल के गया से प्राप्त होने वाले एक अभिलेख (इऐ०, जि० १६ पृ० ६४ और आगे) से वहाँ शूद्रक नामक एक राजा के स्वतन्त्ररूप से शासन करने का संकेत मिलता है, जिसकी 'स्वयं **गौडेश्वर** ने पूजा की ।' उसके पुत्र विश्वरूप को वहाँ **नृप** कहा गया है, जो उसकी स्वतन्त्रता का द्योतक है ।

---

१. देखिए, मजुमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, प्र० १४६-४७ ।

२. मेम्वायर्स, एशियाटिक सोसायटी, बेंगाल, जि० ३, पृ० २२; रामचरित, प्रथम, ९ और आगे ।

३. तृतीय, ७४; इहिक्वा, जि० १२, पृ० ६२९ ।

४. पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १४७ ।

५. वहीं पृ० १४८ ।

द्वितीय महीपाल (लगभग १०७०-१०७५ ई०)

ऊपर के विवरणों से यह स्पष्ट है कि तृतीय विग्रहपाल के समय पाल सत्ता जर्जर होकर सिकुड़ चुकी थी । विग्रहपाल का पुत्र और उत्तराधिकारी महीपाल (द्वितीय) था जो शूरपाल (द्वितीय) और रामपाल नामक अपने दो छोटे भाइयों से सशंकित रहने लगा और उसने उन्हें कारागार में डाल दिया । राजदरबार में व्याप्त अविश्वास की इन परिस्थितियों में दिव्य अथवा दिव्योक नामक एक कैवर्त्त सरदार ने विद्रोह कर महीपाल को मार डाला और वारेन्द्री में एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना कर ली[१] । इस सम्बन्ध की सारी चर्चाएँ सन्ध्याकरनन्दीकृत **रामचरित** में आती हैं[२] । किन्तु उनसे घटनाओं का सही क्रम नहीं ज्ञात हो पाता । तथापि इतना अवश्य स्पष्ट है कि दिव्य ने वारेन्द्री में एक ऐसे राज्य की स्थापना की, जो उसके छोटे भाई रुद्रोक और भतीजे भीम (रुद्रोक के पुत्र) के समय तक स्वतन्त्र बना रहा ।

रामपाल (लगभग १०७५-११२६ ई०)

महीपाल के वध के बाद शूरपाल (द्वितीय) का क्या हुआ[३], इसकी कोई स्पष्ट जानकारी नहीं मिलती । **रामचरित** से इतना मात्र ज्ञात होता है कि महीपाल के बाद रामपाल राजा हुआ और उसने अपने पैतृक राज्य की प्रतिष्ठा को पुनर्स्थापित करने का प्रयत्न किया । दिव्य द्वारा वारेन्द्री में स्वतन्त्र कैवर्त्त राज्य स्थापित कर लेने के परिणाम-स्वरूप रामपाल के अधिकार में केवल मगध और (राढ़) के कुछ भाग बचे हुए थे । प्रारम्भ में कैवर्त्तों (दिव्य अथवा भीम) ने सम्भवतः उसे भी दबाने की चेष्टा की[४] । किन्तु अपने पुत्रों, मन्त्रियों और अन्य सहायकों के परामर्श से उसने शत्रुओं के विरुद्ध संघर्षरत हो जाने का निश्चय किया । वारेन्द्री को पुनः प्राप्त करना उसके सामने सबसे प्रमुख समस्या थी, जिसे सुलझाने के लिए उसने बिहार और बंगाल के अनेक स्वतंत्र राजाओं की सैनिक सहायता अथवा सहानुभूति प्राप्त करने का प्रयत्न

---

१. रामचरित, महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री द्वारा सम्पादित, प्रथम, २९, तथा ३८ ।

२. वहीं, प्रथम, २७ से ३९ ।

३. डॉ० रा० दा० बनर्जी (पूर्वनिर्दिष्ट, प्रथम, पृ० २८) का मत है कि रामपाल ने उसे मार डाला ।

४. परमार शासक लक्ष्मणदेव ने भी पूर्वदिशा में गौड पर आक्रमण किया था । इस आक्रमण का समय रामपाल के शासन का प्रारम्भ हो सकता है । दे० एइ० जिल्द २, पृ० १८६, श्लोक ३८ ।

किया[१] । रामपाल की सहायता करने वाले शासकों में राष्ट्रकूट सरदार मथन अथवा महण (रामपाल का मामा) सर्वप्रमुख था, जो अपने दो पुत्रों और एक भ्रातृज के साथ युद्धों में सम्मिलित हुआ । रामपाल ने वारेन्द्री पर आक्रमण हेतु सेना भेजी, जिसका नेतृत्त्व **महाप्रतिहार** राष्ट्रकूट शिवराज ने किया । राजा स्वयं भी अपनी मुख्य सेनाओं का नेतृत्त्व करता हुआ गंगा पारकर भीम पर टूट पड़ा और दोनों पक्षों में घमासान युद्ध हुआ[२] । भीम लड़ता हुआ पकड़ा गया और उसकी सेना भाग खड़ी हुई[३] । उसके हरि नामक एक मित्र ने उसकी सेना को पुनः सज्जकर युद्ध के लिए ललकारा । किन्तु हरि को अनेक लालच देकर रामपाल ने अपनी ओर मिला लिया और अन्ततः वारेन्द्री पर अधिकार करने में सफल हो गया[४] । विद्रोह के लिए भीम और उसके सम्बन्धियों को दण्ड भोगना पड़ा । वे सभी रामपाल की आज्ञा से मार डाले गये[५] । **रामचरित** से यह ज्ञात होता है कि वारेन्द्री पर अधिकार कर रामपाल ने वहाँ अनेक प्रशासन सम्बन्धी सुधार किये ।

रामपाल ने दक्षिणी और पूर्वी बंगाल तथा उड़ीसा के राजाओं को भी अपने अधीन किया । विक्रमपुर से शासन करने वाले वर्मन् वंश के किसी राजा ने घोड़ों और रथों की भेंट के साथ उसकी पूजा की[६] । कलिंग (उड़ीसा) की तत्कालीन अशान्त राजनीतिक स्थिति से उत्साहित होकर उसने उस पर भी आक्रमण किया[७] । किन्तु वहाँ के राजा को पराजित करने के बाद भी उसे अपनी गद्दी पर बने रहने दिया । डॉ० मजुमदार का अनुमान है (हिस्ट्री ऑफ् बेंगाल, जि० १, पृ० १६१–१६४) कि रामपाल ने पूर्वी गंग राजाओं की बढ़ती हुई शक्ति को उत्तर की ओर बढ़ने देने से रोकने के लिए ही उड़ीसा पर आक्रमण

---

१. रामचरित, द्वितीय, ५, ६, ८, । विशेष विवरण के लिए देखिए, र० चं० मजुमदार, रा० गो बसाक और बनर्जी द्वारा संयुक्तरूप से सम्पादित और वारेन्द्र रिसर्च सोसायटी द्वारा प्रकाशित, रामचरित, पृ० २५वाँ, ३८वाँ; प्रमोदलाल पाल, इहिक्वा०, जि० १३, पृ० ३७ और आगे ।

२. सम्पूर्ण विवरण के लिए देखिए, रामचरित, द्वितीय, ९–२०; कमौली अभिलेख, एइ०, जि० २, पृ० ३५५ और आगे ।

३. रामचरित, द्वितीय, २९–३० ।

४. वहीं, ३१–४३ तथा तृतीय, १ ।

५. वहीं, द्वितीय, ४४–४९ ।

६. वहीं, तृतीय ४४; वह राजा हरिवर्मन् अथवा सामलवर्मन् हो सकता है ।

७. वहीं, तृतीय ४५; और देखिए, रा० दा० बनर्जी, बांगलार इतिहास, जि० १, पृ० २९३; ननिगोपाल मजुमदार, इन्स्कृप्शन्स् ऑफ् बेंगाल, जि० ३, पृ० ३० ।

किया था। इसी दृष्टि से उसने विजयी होने के बावजूद वहाँ के राजा को अपना मित्र बनाया। पूर्व दिशा में कामरूप राज्य पर भी रामपाल ने अपने किसी सामन्त सरदार के माध्यम से आक्रमण किया। कामरूप के राजा पर विजय प्राप्त कर लौटे हुए सरदार[१] का रामपाल ने बड़ा सत्कार (**रामचरित,** तृतीय, ४७) किया। कुछ विद्वान्[२] कामरूप के उस पराजित राजा की पहचान धर्मपाल से करते हैं। किन्तु वहाँ के शासकों के तिथि-क्रम के बारे में स्पष्ट जानकारी न होने से इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कोई मत नहीं व्यक्त किया जा सकता।

स्पष्ट है कि रामपाल ने अपने वंश की गिरती हुई प्रतिष्ठा पुनः स्थापित करने का अथक प्रयास किया। भीम को हराकर उसने कैवर्त्तों की स्वतंत्र सत्ता समाप्त कर दी एवं वारेन्द्र में शान्ति-सुव्यवस्था का संचार किया। कृषि की उन्नति-हेतु उसने करों में कमी की। **रामचरित** (तृतीय, १०-२७; चतुर्थ, १-३) से उसके अनेक जनहित के कार्यों का ज्ञान होता है। पूर्व में कामरूप और दक्षिण-पश्चिम में उड़ीसा पर अपनी राजनीतिक प्रतिष्ठा स्थापित करने के अपने प्रयत्नों द्वारा अपने वंश के पुराने राजनीतिक गौरव की उसने स्मृति दिलायी। उसके समय में दक्षिण-पश्चिम से षष्ठ विक्रमादित्य के नेतृत्त्व में कल्याणी के चालुक्य और कन्नौज-काशी के गाहडवाल मगध और बंगाल पर सैनिक दबाव डाल रहे थे। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि जब तक रामपाल शासन करता रहा, उन्हें विशेष सफलताएँ नहीं मिलीं। सम्भवतः उसकी सफलताओं ने ही संध्याकरनन्दी को **रामचरित** के माध्यम से उसकी प्रशंसा गाने को उत्साहित किया। वह कवि स्वयं को 'कलियुग का वाल्मीकि' और रामपाल को 'राम' कहता है। उसका पिता प्रजापति नन्दी रामपाल का **सांधिविग्रहिक** रह चुका था। अतः यह विश्वास किया जाता है कि संध्याकरनन्दी को रामपाल के समय की घटनाओं की प्रत्यक्ष जानकारी[३] थी। रामपाल ने रामवती नामक एक नयी राजधानी बसायी तथा उसे हिन्दू और बौद्ध देवताओं की

---

१. रामपाल के उस सहायक सरदार के बारे में मतैक्य नहीं है। पद्मनाथ भट्टाचार्य (कामरूप शासनावली, पृ० १४६ और आगे) उसकी पहचान सिलिमपुर प्रस्तर-लेख (एइ०, जि० १३, पृ० २८३) से ज्ञात जयपाल से करते हैं। र० चं० मजुमदार (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १६०-१६१, नोट ६) उसे कमौली अभिलेख के तिंग्यदेव से मिलाते हैं।

२. पद्मनाथ भट्टाचार्य, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १४६; र० चं० मजुमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १६०। अन्य मतों के लिए देखिए, प्रमोदलाल, इहिक्वा०, जि० १२, पृ० ६३०।

३. देखिए, प्रमोदलाल पाल, इहिक्वा०, जि० १३, पृ० ३७ और आगे।

मूर्तियों से सजाया। तारानाथ का कथन है कि उसने ६० वर्षों तक शासन किया। उसके दीर्घकाल तक शासन करने का प्रमाण चन्दिमऊ अभिलेख से भी मिलता है, जिससे कम से कम ४२ वर्षों का उसका शासन ज्ञात होता है।

पालों का अन्त

किन्तु रामपाल की सफलताएँ एक बुझते हुए दीपक की अन्तिम लौ के समान क्षणभंगुर साबित हुईं। उसके चार पुत्र थे। वीतपाल और राज्यपाल नामक उसके सबसे बड़े दो पुत्र प्रशासन में उसकी अनेक प्रकार से सहायता कर चुके थे। किन्तु वे गद्दी पर कभी नहीं बैठे। यह मालूम नहीं कि उनका क्या हुआ। रामपाल के बाद कुमारपाल नामक उसका तृतीय पुत्र राजा हुआ। उसकी कमजोरी के कारण असम के अधीनस्थ शासक तिंग्यदेव ने विद्रोह कर दिया। कुमारपाल ने उसे दबाने के लिए वैद्यदेव नामक अपने विश्वस्त और योग्य मंत्री तथा सेनापति को भेजा। वह पूर्वी बंगाल की विजय करता हुआ तिंग्यदेव को दबाने में तो सफल हो गया, किन्तु बाद में स्वयं प्राग्ज्योतिषभुक्ति और कामरूपमण्डल का स्वतंत्र राजा बन गया[1]। फलतः असम से पालों की अधिसत्ता समाप्त हो गयी। कुमारपाल के बाद उसका पुत्र तृतीय गोपाल राज्यासीन हुआ, जिसके समय की घटनाओं की कोई स्पष्ट जानकारी नहीं है। तत्पश्चात् कुमारपाल के छोटे भाई मदनपाल ने कम-से-कम १४ वर्षों तक शासन किया। इस अस्तव्यस्त उत्तराधिकार के लिए कदाचित् युद्ध भी हुए[2]। संध्याकर नन्दी ने मदनपाल के समय ही **रामचरित** लिखा। किन्तु मदनपाल के बारे में उसकी प्रशंसाओं के बावजूद यह नहीं प्रतीत होता कि उसमें कोई राजनीतिक अथवा सैनिक योग्यता थी। उसके समय के कुछ पूर्व से ही पूर्वी बंगाल में वर्मन् नामान्त एक राजवंश विक्रमपुर से स्वतंत्र शासन करने लगा था[3]। प्रायः उसी समय पूर्वी बंगाल में सेनवंश अपनी सत्ता स्थापित कर रहा था, जो कालान्तर में पालों को समाप्तकर बंगाल पर स्वयं अधिकृत हो गया। विजयसेन अपने देवपाड़ा अभिलेख (एइ०, जि० १, पृ० ३ और आगे) में **गौडेश्वर** (सम्भवतः मदनपाल) को पीछे हटा देने का दावा करता है। संध्याकरनन्दी (रामचरित, चतुर्थ, २७) का कथन है कि मदनपाल ने अपनी शत्रु-सेनाओं को कालिन्दी (मालवा क्षेत्र से होकर बहने वाली आधुनिक कालिन्दी) के किनारे तक पीछे ढकेल दिया। किन्तु ये शत्रु

---

१. वैद्यदेव का कमौली अभिलेख, श्लोक १३-१७; एइ० जि० २, पृ० ३५०-३५८।

२. मजुमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १६७; रा० दा० बनर्जी, पूर्वनिर्दिष्ट, जि० १, पृ० ३११।

३. देखिए भोजवर्मन् का बेलाव अभिलेख, एइ०, जि० १२, पृ० ४०, ४२।

कौन थे[१], यह निश्चित रूप से जानने का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। पश्चिम से कन्नौज–काशी के गाहडवाल भी पालों को दबाने लगे तथा ११२४ ई० के आसपास तक पटना तक के सभी क्षेत्र उनके अधिकार में चले गये[२]। विभिन्न दिशाओं से इन दबावों के परिणामस्वरूप मदनपाल अपने शासन के अन्तिम दिनों में केवल बिहार के मध्य और पूर्वी भागों में सीमित होकर एक छोटे प्रदेश का ही शासक रह गया। ११५० ई० के आसपास मदनपाल की मृत्यु के बाद गोविन्दपाल नामक एक अन्य राजा हुआ। उसके गया के आसपास के क्षेत्रों पर शासन करने की बात ज्ञात होती है। किन्तु उसकी **गौडेश्वर** अथवा अन्य साम्राज्यसूचक उपाधियों को कोई महत्त्व नहीं दिया जा सकता। पालवंशी अन्य राजाओं से उसके सम्बन्ध का भी हमें कोई ज्ञान नहीं प्राप्त होता। उसे पालवंश का प्रायः अन्तिम शासक स्वीकार किया जाता है।

❁❁❁

---

१. डॉ० मजुमदार (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १७०) उसकी पहचान मिथिला में बसे हुए कर्णाटों के राजा नान्यदेव से करते हैं जो गौड और वंग की शक्ति चूर करने का दावा करता है।

२. देखिए, माणेर अभिलेख, जएसो० बेंगाल, जि० १८, पृ० ८१; राहन अभिलेख (इऐ० जि० १८, पृ० १६) में मदनपाल के पुत्र गोविन्दचन्द्र को गौडसेना पर विजय का श्रेय दिया गया है।

१०

उड़ीसा के राजवंश

पृष्ठभूमि : क्षेत्र विस्तार

उड़ीसा उत्तरपूर्वी भारत का एक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है। वास्तव में यह (उड़ीसा) नाम प्राचीन ओड्र से निकला हुआ है, जो उत्तरपूर्व में दामोदर और वैतरणी नदियों के बीच स्थित इसी का एक छोटा सा भाग था। ओड्र के अतिरिक्त कोंगद और कलिंग नामक इसके मध्य और दक्षिण-पश्चिमी क्षेत्र भी थे। ऐतिहासिक युग में सर्वाधिक प्रसिद्धि लांगुलीया और गोदावरी के बीच पड़ने वाले कलिंग को ही प्राप्त हुई और उसी के नाम से ओड्र, तोसल अथवा कोंगद तथा कलिंग सम्मिलित रूप से त्रिकलिंग कहलाये। यह सारा क्षेत्र उत्तरपूर्व में दामोदर एवं दक्षिण-पश्चिम में गोदावरी नदियों के बीच स्थित था तथा दक्षिण-पूर्व में समुद्र के किनारों तक विस्तृत था। बंगाल की खाड़ी में दक्षिणाभिमुख अथवा पूर्वाभिमुख होकर गिरने वाली वैतरणी, महानदी और लांगुलिया आदि नदियाँ इसके प्राकृतिक सौन्दर्य तथा सुखसमृद्धि के साधन जुटाती थीं। प्राचीन कलिंग क्षेत्र में आधुनिक बंगाल के मिदनापुर और हावड़ा के कुछ क्षेत्र, समस्त उड़ीसा एवं आँध्र प्रदेश के कुछ उत्तरपूर्वी भाग भी सम्मिलित थे। उनके प्रायः मध्य से होकर महानदी बहती थी[१]।

गुप्तों का राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रभाव

प्राचीन भारतीय राजनीति के हृदयस्थल मध्यदेश से अपेक्षाकृत दूर और देश के किनारे पर स्थित होने के कारण उड़ीसा प्रायः स्वतन्त्र रहा। यद्यपि अशोक और समुद्रगुप्त जैसे महत्त्वाकांक्षी और शक्तिशाली सम्राटों ने देश के अन्यान्य भागों की तरह उड़ीसा को भी अपने अखिल भारतीय साम्राज्य के प्रशासनिक अथवा राजनीतिक प्रभाव की परिधि के भीतर लाने में सफलता पायी, मगध साम्राज्य उसे स्थायी रूप से अपना अङ्ग नहीं बना सका। समुद्रगुप्त द्वारा धर्मविजित कोसलक महेन्द्र, महाकान्तारक

१. कलिंग-उत्कल की प्राचीन भौगोलिक जानकारी के लिए देखिए, रा० दा० बनर्जी, हिस्ट्री ऑफ़् ओरिसा, जिल्द १, अध्याय १ और ४; वाटर्स्, जि० २, पृ० १९३-१९९।

व्याघ्रराज अथवा व्याघ्रदेव, कौरालक मण्टराज, और पिष्टपुरक महेन्द्रगिरि या तो प्राचीन उड़ीसा के सामन्त अथवा उसके ही क्षेत्रों पर शासन करने वाले राजा थे, जो क्रमशः मध्यभारत और उड़ीसा की सीमाओं, पश्चिमी उड़ीसा के जंगली प्रदेशों, कोलेरु झील के पार्श्ववर्ती क्षेत्रों और गोदावरी जिले के पीठापुरम् (प्राचीन कलिंग की राजधानी) के निकटवर्ती भागों पर शासन करते थे[१]। उड़ीसा पर साम्राज्यभोगी गुप्तों की यह अधि-सत्तात्मकता कितने दिनों बनी रही, इसे ठीक से जानने का हमारे पास कोई साधन नहीं है[२]। लेकिन इतना अवश्य ज्ञात होता है कि गुप्तों के चरमोत्कर्ष के दिनों में वहाँ जो धार्मिक और सांस्कृतिक संस्थाएँ स्थापित हुईं, उनका प्रभाव चिरकाल तक बना रहा। उदाहरण के लिए उड़ीसा से प्राप्त होने वाले अनेक अभिलेखों में गुप्त सम्वत् का प्रचलन मिलता है, जिनमें सर्वप्रमुख है गुप्तसम्वत् (गौप्ताब्द) ३०० का द्वितीय माधवराज का गंजाम अभिलेख। हर्षवर्धन का समय आते-आते स्वतन्त्र राज्यों ने उड़ीसा में अपनी सत्ताएँ पुनः स्थापित करनी शुरु कर दीं। यद्यपि पश्चिम और दक्षिण से महाराष्ट्र, आन्ध्र और मद्रास में स्थापित शक्तिशाली राजवंशों ने तथा पूर्वोत्तर एवं पश्चिमोत्तर से शशांक और हर्ष जैसे विजेता उड़ीसा के क्षेत्रों पर अपना प्रभाव-विस्तार करने में यदाकदा सफल रहे, उसकी स्वतन्त्र सत्ता कभी समाप्त नहीं हुई। लेकिन स्वतन्त्र होते हुए भी खारवेल के बाद उड़ीसा कभी भी एक स्वयंपूर्ण राजनीतिक इकाई न बन सका। उसके विभिन्न क्षेत्रों पर छोटे-छोटे ऐसे अनेक राजाओं ने अलग-अलग शासन किया जो आपस में ही

---

१. वाकाटक-गुप्त एज, सं० मजुमदार और अल्तेकर, पृ० १३३-१३४; जर्नल ऑफ् दि आँध्र हिस्टॉरिकल् रिसर्च सोसायटी, जि० १, पृ० २२८; एइ०, जि० १०, पृ० २६; जि० ६, पृ० १४१; फ्लीट, कार्पस्, जि० २, पृ० २९३; रा० दा० बनर्जी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ११५-११६। बनर्जी महोदय का कहना है (वहीं, पृ० १४६) कि एरण्डपल्ल और देवराष्ट्र भी कलिंग में ही पड़ते थे।

२. सुमण्डल अभिलेख (एइ०, जि० २८, पृ० ७९ और आगे) से यह पता चलता है कि कलिंग का पृथ्वीविग्रह नामक राजा गुप्त सं० २५०=५७० ई० में गुप्तों के साम्राज्य क्षेत्र के भीतर शासन करता था। लगता है, किसी गुप्तवंशी शासक की अधिसत्ता वह स्वीकार करता था। किन्तु वह गुप्त शासक मगध और प्रयाग के बीच शासन करने वाला कोई राजा नहीं प्रतीत होता। इस अभिलेख के प्रकाशन के समय के दस वर्षों के भीतर ही (गुप्त सं० २६० में) कलिंग में गुप्त अधिसत्ता समाप्त हो चली थी जो शंभुयशस् के सोरो अभिलेख (एइ०, जि० २३, पृ० २०१ और आगे तथा जि० २८, पृष्ठ ८२ और आगे) से ज्ञात है। वहाँ शंभुयशस् एकदम स्वतन्त्र दिखाया गया है।

राजनीतिक प्रमुखता के लिए सतत संघर्ष करते रहे। श्वान्-च्वांग् उड़ीसा के अनेक क्षेत्रों का विवरण उपस्थित करता है। यद्यपि उससे उनकी राजनीतिक स्थितियों की कोई विशेष जानकारी नहीं प्राप्त होती, सम्बद्ध क्षेत्रों के सांस्कृतिक इतिहास पर बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। ऐसी स्थिति में उड़ीसा के पूर्वमध्यकालीन राजनीतिक इतिहास की जानकारी के लिए हमें प्राय: वहाँ के शासक राजवंशों के अभिलेखों का ही सहारा लेना पड़ता है। सौभाग्यवश इन अभिलेखों की संख्या हजारों के आसपास है। किन्तु दुर्भाग्यवश उनसे भी राजनीतिक इतिहास के सम्बन्ध में महत्त्व की जानकारियाँ कम ही मिलती हैं। उनसे जो भी ज्ञान उपलब्ध है, उसका विवरण हम आगे उपस्थित करेंगे।

शैलोद्भव राजवंश : अभिलेखों से ज्ञात शासक

छठीं शताब्दी में उड़ीसा के मध्यभाग में शैलोद्भवों ने अपना राज्य स्थापित किया, जो आठवीं शती के मध्य तक चलता रहा। इस वंश के लगभग १५ अभिलेख प्राप्त[१] हुए हैं, जिनमें सर्वप्रमुख है द्वितीय माधवराज का ३०० गुप्तसम्वत्=६२० ई० का गंजाम अभिलेख। इससे उसकी गौडराज शशांक के प्रति अधीनता का प्रमाण मिलता है। इसमें द्वितीय माधवराज तक शैलोद्भववंशी (शिलोद्भववंशी) राजाओं का वंशवृक्ष भी दिया गया है। सम्भवत: उसी का खुर्दा अभिलेख[२] भी है, जिसकी वंशावली माधवराज के पितामह के नाम को छोड़कर गंजाम अभिलेख की तालिका से पूर्णरूप से मिलती है। तदनुसार, सैन्यभीत (गंजाम अभिलेख के अनुसार माधवराज) का पुत्र यशोभीत हुआ, जिसका पुत्र द्वितीय माधवराज हुआ। उसी वंश के एक अन्य शासक माधववर्मा का गंजाम जिले में घुम्सुर तालुका में स्थित बुगुद नामक स्थान से एक अतैथिक अभिलेख मिला है[३], जो शैलोद्भवों की वंशावली को कुछ अधिक विस्तृत रूप में बताता है। तदनुसार, कलिंगों में पुलिन्दसेन नामक व्यक्ति बहुत प्रसिद्ध हुआ। लोकैषणा से विरत (नेष्टभुवं मण्डलम्) उस पुलिन्दसेन की प्रार्थना से प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने एक शिला से शैलोद्भव नामक व्यक्ति उत्पन्न किया, जो एक सुप्रसिद्ध वंश का संस्थापक हुआ। उसके वंश में रणभीत हुआ, जिसका पुत्र सैन्यभीत था। उसी के वंश में अयशोभीत उत्पन्न

---

१. देखिए—हरेकृष्ण महताब, हिस्ट्री ऑफ् ओरिसा, जि० १, पृ० ७९-८१।

२. जएसो०, बेंगाल, जि० ७३ (१९०४), पृ० २८२ और आगे; रा० गो० बसाक माधवराज के एक अन्य (पुरी) अभिलेख की भी चर्चा करते हैं। देखिये, हिस्ट्री ऑफ् नार्थ ईस्ट इण्डिया, पृ० १७३-१७५।

३. एइ०, जिल्द ७, पृ० १००-१०९।

हुआ, जिसका पुत्र द्वितीय सैन्यभीत था। इस लेख के सम्पादक कीलहॉर्न महोदय के मत में द्वितीय सैन्यभीत और माधववर्मा एक ही व्यक्ति थे। ऐसा प्रतीत होता है कि **रण-भीत, सैन्यभीत** और **अयशोभीत** राजाओं के नाम न होकर उनके विरुद हैं और अनेक विद्वान्[1] इस बात पर सहमत हैं कि प्रथम सैन्यभीत और द्वितीय सैन्यभीत क्रमश प्रथम माधवराज (माधववर्मा) तथा द्वितीय माधवराज (माधववर्मा) ही थे। गंजाम और बुगुद दोनों ही अभिलेखों में यह कहा गया है कि वे कोंगद से प्रकाशित किये गये थे। माधवराज को सभी कलिंगों का स्वामी कहा गया है। मध्यमराज का पुरी जिले के पारिकुद नामक स्थान से एक अन्य अभिलेख मिला है, जो वंशावली को और आगे तक देता है। द्वितीय सैन्यभीत तक की वंशतालिका उसकी बुगुद अभिलेख की तालिका से पूर्णतः मिलती है। पुनः आगे की दो पीढ़ियों की चर्चा है, जिनमें द्वितीय सैन्यभीत और मध्यमराज के नाम गिनाये गये हैं, यद्यपि उन दोनों के आपसी सम्बन्धों की ओर कोई निर्देश नहीं किया गया है। यह अभिलेख मध्यमराज द्वारा अपने शासन के २६वें वर्ष तथा हर्ष संवत् के ८८वें वर्ष[2] (६९३-६९४ ई० में) कोंगदमण्डल की कटक नामक भुक्ति और उसी नाम के विषय के एक गाँव के दान को अंकित करने के लिए प्रकाशित किया गया था। मध्यमराज (प्रथम) का खोण्डेण्डा से भी एक अभिलेख मिला है (एइ०, जि० १९, पृ० २६५ और आगे), जिससे उपर्युक्त वंशावली की पुष्टि होती है। धर्मराज नामक एक अन्य शासक के दो[3] ताम्रपत्राभिलेख ज्ञात होते हैं। उनमें प्रथम (पुरी) अभिलेख में गोलस्वामी नामक ब्राह्मण को कोंगदमण्डल के वर्तिनी विषय के दोंगी नामक गाँव का एक खेत दान में दिये जाने का उल्लेख है। दूसरा अभिलेख सोनपुर से प्रकाशित किया गया था, जो खिडिंगहार विषय के खोण्डेण्डा नामक गाँव के अर्धभाग को भट्टगाँणदेवस्वामी नामक अग्निहोत्री ब्राह्मण को दान दिये जाने का उल्लेख करता है। धर्मराज मध्यमराज का पुत्र था जो **मानभीत** भी कहा जाता था। इन लेखों की सबसे महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सूचना यह है कि धर्मराज के छोटे भाई माधव ने भी गद्दी के लिए अपना दावा उपस्थित किया। परिणामस्वरूप उन दोनों में फासिक का युद्ध हुआ, किन्तु माधव हारा और राज्य से निकाल दिया गया। किन्तु तीवरदेव अथवा त्रिवर नाम राजा की मित्रता और सहायता से उसने दूसरा युद्ध छेड़ दिया। फिर भी उसकी हार हुई,

---

१. देखिए, हुल्ट्ज, एइ०, जिल्द ६, पृ० १४४, रा० दा० बनर्जी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १२१; किन्तु रा० गो० बसाक (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १७९) यह मानते हैं कि इन राजाओं के नामों का अन्त 'भीत' में होता था और उनका विरुदान्त 'राज' था।

२. रा० दा० बनर्जी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १७९।

३. एइ०, जि० १९, पृ० २६५-२७०।

तीवरदेव मारा गया। माधव को विन्ध्याचल की ओर भागकर अपना शेष जीवन उधर ही बिताने के लिए बाध्य होना पड़ा[१]। माधव के सहायक तीवरदेव की पहचान दक्षिण कोसल के श्रीपुर अथवा सिरपुर से शासन करने वाले सोमवंशी राजा तीवरदेव से की गयी है। उस आधार पर यह भी निश्चित किया गया है कि धर्मराज का शासन आठवीं शती में ७२५ से ७७५ ई० के बीच कभी रहा होगा[२]। मध्यमराज (तृतीय) नामक एक अन्य शैलोद्भव शासक का एक दानपत्र गंजाम जिले के तैक्कलि नामक स्थान से मिला है[३], जिसकी वर्ण्य बातें प्राय: प्रथम मध्यमराज और धर्मराज के उपर्युक्त अभिलेखों से मिलती हैं। वंशतालिका में धर्मराज का पुत्र मध्यमराज (द्वितीय) कहा गया है, जिसका पुत्र रणक्षोभ हुआ। उसका पुत्र मध्यमराज (तृतीय) हुआ, जो युवराजावस्था में तैल्लप कहलाता था। इस अभिलेख के पढ़ने योग्य अंश का यहीं अन्त हो जाने के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि तृतीय मध्यमराज के बाद भी शैलोद्भव वंश का कोई राजा हुआ या नहीं।

शैलोद्भव राजाओं का सामन्ती स्वरूप

उपर्युक्त अभिलेखों के प्रकाशन-स्थान, प्राप्ति-स्थान एवं उनमें वर्णित दान की भूमियों की भौगोलिक स्थिति को देखने से यह प्रकट है कि शैलोद्भव राजाओं का शासन-क्षेत्र कटक, पुरी, गंजाम और कोंगद तक व्याप्त था[४]। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मध्य (कोंगद) और दक्षिणी उड़ीसा (कलिंग) पर उनका अधिकार था। इनके अतिरिक्त ओड्र का दक्षिणी भाग भी उनके अधिकार में रहा प्रतीत होता है। उनके लेखों से लगभग १० पीढ़ियों के राजाओं के नाम ज्ञात होते हैं, जिससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि लगभग दो सवा दो सौ वर्षों (छठीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश

---

१. जबिओरिसो०, जि० १६, पृ० १८०।

२. जर्नल् ऑफ् दि आन्ध्र हिस्टॉरिकल् रिसर्च सोसायटी, जि० १०, पृ० ४-५; रा० गो० बसाक, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १७७-१७८; रा० दा० बनर्जी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १३४; विनायक मिश्र, मेडिवल् डाइनेस्टीज ऑफ् ओरिसा, पृ० ३।

३. जबिओरिसो०, जिल्द ४।

४. र० च० मजुमदार उनकी सीमाओं को उत्तर में चिल्का झील अथवा सम्भवत: उसके कुछ और उत्तर से गंजाम जिले में महेन्द्रगिरि पर्वत तक तथा पश्चिम में कालाहाण्डी के पश्चिमी पहाड़ों तक विस्तृत मानते हैं। देखिये, दि क्लासिकल् एज, पृ० ९४। किन्तु यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है कि उनकी राजधानी कहाँ थी। इस सम्बन्ध में देखिए, हरेकृष्ण महताब, हिस्ट्री ऑफ् ओरिसा० जि० १, पृ० ७९।

से आठवीं शती के अन्त) तक उनका राजवंश चलता रहा। किन्तु इस लम्बी अवधि में वे कभी भी पूर्णस्वतंत्र सत्ता नहीं हो सके। उनकी उपाधियाँ केवल **महासामन्त** और **महाराज** तक सीमित हैं। इन दो सौ वर्षों के लम्बे युग में शैलोद्भव वंश के **महाराज महासामन्त** किसी एक वंश की नहीं, अपितु बारी-बारी से अनेक शक्तिशाली सम्राटों की अधिसत्ता स्वीकार करते रहे होंगे। द्वितीय माधवराज (द्वितीय **सैन्यभीत**) के तीन अथवा चार पूर्वज सम्भवतः साम्राज्यभोगी गुप्तों के उन वंशजों के सामन्त प्रतीत होते हैं, जो सम्भवतः बंगाल में कहीं बच रहे थे। किन्तु इस सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। द्वितीय माधवराज स्वयं अपने गुप्त सं० ३०० के गंजाम अभिलेख में **गौडाधिपति** शशांक को अपना **महाराजधिराज** स्वीकार करता है[१]। शशांक अथवा द्वितीय माधवराज उसके बाद कितने दिनों जीवित रहे, इसकी हमें कोई जानकारी नहीं है। पीछे हम यह देख चुके[२] हैं कि सम्भवतः शशांक की मृत्यु के बाद उसके क्षेत्रों पर प्राग्ज्योतिष अथवा कामरूप के राजा भास्करवर्मा और कन्नौज सम्राट् हर्ष ने संयुक्त रूप से आक्रमण किया, जिसके फलस्वरूप शशांक की राजधानी कर्णसुवर्ण पर भास्करवर्मा का अधिकार हो गया और उत्तरी, पश्चिमी तथा दक्षिणी-पश्चिमी बंगाल के क्षेत्र हर्ष के अधिकार में चले गये। ६२८-२९ ई० तक (वर्धमानकोटि=बर्दवान के विजयी शिविर से प्रकाशित किये जाने वाले बाँसखेड़ा के अभिलेख का समय) हर्ष उन क्षेत्रों पर अधिकृत हो चुका था। बाद में (६४३ ई०) उसने कोंगद की विजय के लिए अभियान किया[३]। श्वान्-च्वांग् की **जीवनी** तथा उसके यात्रावृत्त से उड़ीसा के अनेक क्षेत्रों पर हर्ष के अधिकार की पुष्टि होती है[४]। लेकिन इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि शशांक की अधिसत्ता मानने वाला द्वितीय माधवराज अथवा उसकी मृत्यु के बाद उसका कोई वंशज हर्ष की अधिसत्ता स्थायीरूप से मानने के लिए विवश हुआ। माधवराज के खुर्दा अभिलेख से स्पष्ट है कि वह बाद में स्वतंत्र होकर अपने को 'सम्पूर्ण कलिंग का स्वामी' कहता था। कोंगद शैलोद्भवों के क्षेत्र का हृदयस्थल था और ६४३ ई० में उस पर हर्ष का आक्रमण उन्हीं के विरुद्ध हुआ प्रतीत होता है। यह

---

१. एइ०, जि० ६, पृ० १४३-१४६।

२. देखिए, पीछे पृ० ५३।

३. लाइफ, पृ० १७२।

४. देखिए, वाटर्स्, जि० २, पृ० १९७-९८; स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री, पृ० ३५४; त्रिपाठी, हिस्ट्री ऑफ् कनौज, पृ० १०६। इसके विपरीत रा० दा० बनर्जी यह अस्वीकार करते हैं (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १४०) कि हर्ष का उड़ीसा पर कभी अधिकार हुआ।

सम्भव है कि हर्ष की सेनाएँ जब तक उन क्षेत्रों में रही हों, उसे शैलोद्भव शासक अपना स्वामी मानते रहे हों और उनके हटते ही वह स्वामित्त्व समाप्त हो गया हो। कोंगद पर हर्ष के आक्रमण का उद्देश्य यह प्रतीत होता है कि वह बादामी के चालुक्यनरेश द्वितीय पुलकेशी को उत्तरपूर्व के रास्ते अपने (हर्ष के) क्षेत्रों पर चढ़ आने से रोकना चाहता था। पुलकेशी के अहिहोड़ अभिलेख (६३३–३४ ई०) से यह ज्ञात होता है कि महाकोसल और कलिंग पर उसकी विजयें हुई थीं[१]। यह सम्भव है कि कलिंग और उसके दक्षिण–पश्चिम में चालुक्य सत्ता और ओड्र–कोंगद में हर्ष की सैनिक स्थिति के प्रायः आमने–सामने होने की अवस्था का शैलोद्भवों ने भरपूर लाभ उठाया हो और उन्हें अत्यधिक दबाने अथवा समाप्त कर देने का उन दो महान् सत्ताओं में से किसी ने प्रयत्न नहीं किया हो। फलस्वरूप वे दोनों के बीच एक ओट के रूप में बचे रहे और बहुत दिनों आगे तक अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्र रूप में अपने क्षेत्रों के शासक बने रहे। बुगुद अभिलेख में कहा गया है कि द्वितीय **सैन्यभीत** (द्वितीय माधवराज) की तलवार शत्रुओं के हाथियों के मस्तक–भेदन करने में पूर्ण समर्थ थी तथा उसके सामने से शत्रु भाग गये और उनका गौरवपूर्ण यश कम हो गया (संक्षिप्तमण्डलरुचः)। किन्तु यह कह सकना कठिन है कि माधवराज के ये शत्रु कौन थे। जो भी हो, वह अपने वंश का सर्वाधिक प्रसिद्ध और शक्तिशाली शासक था तथा उसके बाद के शासक उसकी तुलना में नगण्य ही हुए। मध्यमराज की योग्यता और शक्ति की प्रसिद्धि अश्वमेघ और वाजपेय जैसे यज्ञों को पुनः प्रारम्भ करने के कारण है न कि किसी राजनीतिक विशेषता अथवा सैनिक विजय के कारण। शैलोद्भव आठवीं शताब्दी तक चलते रहे। किन्तु यह नहीं ज्ञात होता कि हर्ष की मृत्यु के बाद की राजनीतिक अव्यवस्था और केन्द्रीय सत्ता के अभाव का वे कोई लाभ उठा सके थे। वे केवल एक स्थानीय सत्ता बने रहे और अपना कोई विस्तार नहीं कर सके। इतना अवश्य प्रतीत होता है कि उनकी स्वतंत्र सत्ता को किसी प्रकार का कोई बाहरी हस्तक्षेप नहीं सहना पड़ा।

कर अथवा भौम वंश

आठवीं शती के मध्य में शैलोद्भवों के अवसान के बाद उड़ीसा के विभिन्न भागों में अनेक नये राजवंशों ने अपनी सत्ताएँ स्थापित कीं। यद्यपि उनकी जानकारी कराने–वाले अभिलेखों की संख्या अन्य अनेक बड़े क्षेत्रों अथवा प्रतिष्ठित और शक्तिशाली राजवंशों के अभिलेखों की संख्या की अपेक्षा बहुत अधिक है, उनसे राजनीतिक महत्त्व की बहुत ही कम बातें हमें ज्ञात होती हैं। पुनः, इन विभिन्न राजवंशों का न तो ठीक–ठीक तिथिक्रम ही निश्चित किया जा सकता है और न उनका आपसी सम्बन्ध ही ज्ञात है। इनमें

---

१. एइ०, जि० ६, पृ० ६ और ११।

सर्वमुख्य वंश था कर अथवा भौम राजाओं का, जो लगभग २०० वर्षों तक उड़ीसा के पूर्वी समुद्री किनारे के बालासोर, कटक और पुरी आदि के जिलों पर अधिकृत था। कर राजवंश के अभिलेखों[१] की संख्या भरपूर (कम से कम १७) होते हुए भी उसके राजाओं के पूर्वापर सम्बन्ध के बारे में और उनकी तिथियों के बारे में कोई मतैक्य नहीं स्थापित हो सका है। इसका सबसे बड़ा कारण है कि वे विभिन्न शासकों की केवल शासन-तिथि (वर्ष संख्याएँ[२]) ही देते हैं। उनके बारे में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वे किस संवत् के हैं। इसके अतिरिक्त, एक ही नाम कई राजाओं द्वारा धारण किये जाने से घपला और भी बढ़ जाता है। तथापि उनके बारे में जो भी प्रमुख बातें ज्ञात हैं, उनका संक्षेप हम नीचे उपस्थित करेंगे।

वंश परिचय

राजाओं का **कर** नामान्त होने के कारण यह वंश कर कहलाया। किन्तु इसका दूसरा नाम भौम[३] (भौमान्वय) भी है, क्योंकि यह अपनी उत्पत्ति भूमि से मानता था। भूमि के पुत्र नरक से अपना उद्गम मानने वाले इन भौमों को डॉ० रा० दा० बनर्जी ने कामरूप के वर्मन् राजाओं के वंश से मिलाया[४], क्योंकि नरक से ही उनकी भी उत्पत्ति मानी जाती है[५]। **विष्णुपुराण** में कलिंग, माहिषक और महेन्द्रभौम को गुहरक्षित कहा गया[६] है। उड़ीसा के भौम सम्भवतः इन्हीं महेन्द्रभौमों की सन्तान थे, जिनकी राजधानी

---

१. देखिए, विनायक मिश्र, ओरिसा अण्डर दि भौम किंग्स्, खण्ड १; हरेकृष्ण महताब, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १२८।

२. कुछ विद्वान् (विनायक मिश्र, डाइनेस्टीज ऑफ् मेडिवल् ओरिसा, पृ० २१; दि० चं० सरकार (जर्नल् ऑफ् दि कलिंग हिस्टॉरिकल् रिसर्च सोसायटी, जिल्द द्वितीय, पृ० १०३-४) इन लेखों के वर्षों को हर्ष संवत् के वर्षों से मिलते हैं, जो स्पष्टतः अस्वीकार्य है। इसके खण्डन के लिए देखिये, र० चं० मजुमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ६५-६६। दि० च० सरकार का अद्यतन मत यह है (सोसायटी ऐण्ड ऐडमिनिस्ट्रेशन ऑफ् ऐशिंयेण्ट ऐण्ड मेडिवल् इण्डिया पृ० २३७) कि इन लेखों का संवत् ८३१ ई० में प्रारम्भ हुआ था।

३. देखिए, रा० दा० बनर्जी पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १५९।

४. एइ० जि० १५, पृ० २।

५. दि क्लासिकल् एज, पृ० ८८।

६. पार्जिटर, डाइनेस्टीज ऑफ् दि कलि एज, पृ० ५४।

गुहदेवपाटक अथवा गुहेश्वरपाटक[1] के नाम पर आगे चलकर प्रसिद्ध हुई। यह भी सुझाया गया है कि उत्तरी उड़ीसा की पहाड़ियों में रहने वाले आजकल के भूना लोग एवं महानदी के दक्षिण में बसी हुई माटीवंश (मिट्टी से उत्पन्न होने वाली) कहलाने वाली जाति प्राचीन भौमों से ही उद्भूत है।

डॉ० मजुमदार ने कर राजाओं का निम्नलिखित उत्तराधिकार क्रम स्थापित किया है—

१—क्षेमकरदेव

२—प्रथमशिवकरदेव उर्फ उत्तमसिंह उर्फ भारसह

३—प्रथम शुभकरदेव

४—द्वितीय शिवकरदेव

६—द्वितीय शुभकरदेव

५—प्रथम शान्तिकरदेव उर्फ प्रथम गयाड

७—प्रथम त्रिभुवनमहादेवी उर्फ ललितहार

८—तृतीय शुभकरदेव उर्फ सिंहकेतु कुसुमहार

९—द्वितीय शांतिकरदेव उर्फ द्वितीय गयाड उर्फ प्रथम लोणभार

१०—चतुर्थ शुभकरदेव उर्फ द्वितीय कुसुमहार

११—तृतीय शिवकरदेव उर्फ द्वितीय ललितहार

१२—तृतीय शान्तिकरदेव उर्फ द्वितीय लवणहार

१३—पंचम शुभाकर (१४) गौरी

१७—धर्म महादेवी

१६—बकुलमहादेवी

१५—दण्डी महादेवी

१. उनकी राजधानी का विवरण एइ०, जि० १९, पृ० २६२-६४ और इहिक्वा०, जि० २१, पृ० २१७-२२० में प्रकाशित तलत्रली और शांतिरग्राम के ताम्रपत्राभिलेखों में मिलता है।

२. दि एज् ऑफ् इम्पीरियल् कन्नौज, पृ० ६३-६४। डॉ० हरेकृष्ण महताब ने प्रारम्भ में तो इससे मिलती-जुलती वंशतालिका तैयार की है। किन्तु आगे चलकर त्रह भिन्न है। देखिए; पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १३२-१३३।

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट हो जाता है कि इस वंश में एक ही नाम के कई राजा हुए, जैसे—शुभकर नाम के पाँच राजा। यही नहीं, एक-एक राजा के कई नाम थे। इसका परिणाम यह हुआ है कि विद्वान् उनके पूर्वापर के बारे में अलग-अलग मत रखते हैं। डॉ० रा० दा० बनर्जी[१] ने द्वितीय शिवकर तक के राजाओं को एक वर्ग का माना तथा अन्य कर राजाओं को एक दूसरे वर्ग का स्वीकार किया। दूसरा वर्ग दण्डी महादेवी और त्रिभुवन महादेवी के दानपत्राभिलेखों से ज्ञात होता है। किन्तु अद्यतन सामग्री को ध्यान में रखकर अब यह मत अस्वीकार करते हुए सभी कर राजाओं को एक ही क्रम में रखा जाता है। प्रोफेसर सिल्वाँ लेवी के आधार[२] पर बनर्जी ने यह भी माना[३] कि प्रथम शुभकर अथवा शुभकरदेव ने ७९५ ई० में चीनी सम्राट् ते-शोंग के यहाँ एक बौद्ध विद्वन्मण्डल द्वारा किसी बौद्ध ग्रन्थ की अपने हस्ताक्षरयुक्त एक हस्तलिपि भेजी थी। किन्तु इस बौद्ध ग्रन्थ और बौद्धमण्डल भेजनेवाले ओड्र अर्थात् उड़ीसा के राजा की पहचान डॉ० र० चं० मजुमदार ने शुभकरदेव के पिता प्रथम शिवकरदेव से की है।[४] चूँकि यह शिवकरदेव (७९५ ई०) अपने वंश का दूसरा शासक था, कर वंश की स्थापना का समय आठवीं शताब्दी का मध्य माना जाता है। इस राजवंश के अभिलेखों में एक की तिथि १८७ प्राप्त होती है। अतः इसकी सारी अवधि लगभग ७५० ई० से ९२५-९५० ई० तक स्वीकार की जा सकती है।

करों के राजनीतिक अधिकार का स्वरूप

कर राजाओं के इस लम्बे शासनकाल की बहुत राजनीतिक बातें ज्ञात नहीं होतीं। तथापि उनके राजनीतिक अधिकार के स्वरूप का कुछ ज्ञान हमें अवश्य प्राप्त होता है। प्रथम शुभकरदेव के नेउलपुर अभिलेख तथा द्वितीय शिवकरदेव के चौरासी अभिलेख से यह ज्ञात होता है[५] कि उन्होंने क्रमशः उत्तर और दक्षिण तोसल में ब्राह्मणों को भूमिदान किया। नेउलपुर अभिलेख के कोम्पारक और दण्डाण्कियोक नामक गाँव उत्तर तोसल के क्रमशः पंचाल और व्युभ्युदय नामक विषयों में स्थित थे। चौरासी अभिलेख का व्युरह नामक गाँव दक्षिण तोसल के आंतरुद्र विषय (पुरी जिले) में पड़ता था। ये क्षेत्र प्रायः वे ही थे जिन पर शैलोद्भववंशी राजाओं का अधिकार रह चुका था। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि उन्हें अपदस्थकर करों ने तोसल-कोंगद पर अपना अधिकार जमा

---

१. पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १४९ और आगे।
२. एइ०, जिल्द १५, पृ० ३६३।
३. पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १४६।
४. पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ६५।
५. देखिए, एइ० जि १५ पृ० १-८; जबिओरिसो०, जि० १४, पृ० २९२-३००।

लिया। इनके अतिरिक्त त्रिभुवनमहादेवी और दण्डीमहादेवी के धेनकनल और गंजाम के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उन्होंने दक्षिणकोसल में भूमि दान किया।[१] १४९वीं तिथि के तलचेर ताम्रफलक में कहा गया है कि उत्तमसिंह (संख्या २) ने राढ़ा अर्थात् राढ़ के राजा को युद्ध में परास्त किया तथा उसकी पुत्री को हर लिया। उसके पुत्र शुभकर-देव (प्रथम) ने कलिंगों को जीता। यद्यपि इन दोनों विजयों का कोई भी उल्लेख स्वयं शुभकरदेव के नेउलपुर अभिलेख में नहीं है, कर शासकों की उपर्युक्त विजयों का अप्रत्यक्ष समर्थन गंग राजाओं की श्वेतक शाखा के जयवर्मन् के गंजाम अभिलेख से होता है। उससे यह ज्ञात होता है[२] कि वह विरजस् के उत्तमकेसरी नामक राजा की अधिसत्ता स्वीकार करता था। यह उत्तमकेसरी कर वंश का शासक द्वितीय उत्तमसिंह ही हो सकता है। अत: यह प्रतीत होता है कि कोंगद के कुछ भागों पर उत्तमसिंह का अधिकार था। प्रथम शुभकरदेव ने कलिंग के उत्तरी भागों को जीतकर उनमें जोड़ दिया। कर वंश के सभी अभिलेख गुहदेवपाटक अथवा गुहेश्वरपाटक से प्रकाशित किये गये थे, जो उनकी राजधानी प्रतीत होती है। गुहदेवपाटक की पहचान विरजा अथवा विरजस्[३] से की गयी है, जो जयवर्मन् के गंजाम अभिलेख में उत्तमकेसरी की राजधानी कहा गया है। विरजा अथवा विरजस् आधुनिक जाजपुर का ही एक नाम है। जाजपुर के करों के अधिकार में होने की पुष्टि इस बात से भी होती है कि प्रथम शुभकरदेव का एक खण्डित अभिलेख जाजपुर के निकट स्थित विरजा मन्दिर से थोड़ी दूर पर स्थित शिवदासपुर के हंसेश्वर मन्दिर के खण्डरों से मिला है[४]। द्वितीय शिवकर के चौरासी अभिलेख में उसे तथा प्रथम शुभकरदेव को **परमेश्वर महाराजाधिराज परमभट्टारक** की साम्राज्यसूचक उपाधियाँ दी गयी हैं[५], जिन्हें आगे भी सभी राजाओं और रानियों ने धारण किया। किन्तु नेउलपुर अभिलेख में प्रथम तीन राजाओं को केवल **महाराज** कहा गया है, जो उनके सामन्तपद का सूचक है। लगता है, द्वितीय शिवकर ही कर वंश की राजनीतिक प्रतिष्ठा और शक्ति का सबसे पहला विस्तारक था। द्वितीय शिवकर तथा उसके बाद के सभी अभिलेख **महासामन्तों**, **महाराजों** और **राजपुत्रों** तथा अन्यान्य राज्याधिकारियों को सम्बोधित किये गये हैं, जिनसे यह प्रकट है कि कर शासक स्वयं

---

१. एइ०, जिल्द ६, पृ० १३३–१४०।

२. इहिक्वा०, जिल्द १२, पृ० ४८९।

३. देखिए, विनायक मिश्र, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ८७; इहिक्वा०, जि० २९, पृ० १४८ और आगे; एइ०, जिल्द २९, पृ० ८१ और आगे।

४. जर्नल् ऑफ् दि एशियाटिक् सोसायटी, बंगाल शाखा, जि० १७, पृ० १५।

५. जबिओरिसो, जि० १४।

किसी अन्य सत्ता की अधिसत्ता नहीं स्वीकार करते थे। किन्तु उनके सम्राट्पद की सूचक उपाधियों को बहुत महत्त्व नहीं दिया जा सकता। ये विरुद राजपूत युग की उस प्रवृत्ति के ही द्योतक प्रतीत होते हैं, जिसमें छोटे-छोटे अथवा कभी-कभी तो अधीनस्थ शासक भी साम्राज्यपद के सूचक बड़े-बड़े विरुद धारण कर लिया करते थे।

सांस्कृतिक दृष्टि से भौम-करों का शासनकाल उड़ीसा के इतिहास का स्वर्णयुग था। दर्शन, धर्म, कला और वास्तु तथा भाषा और साहित्य वृद्धि पर थे। उड़िया भाषा का विकास हो रहा था और उड़िया लोगों के उस निजी अस्तित्त्व का इसी समय प्रारम्भ हुआ, जिसका पूर्ण प्रस्फुटन गंगयुग में हुआ[१]।

अवनति और अन्त

देवपाल की विजयों के सिलसिले में यह कहा गया है कि उसने उत्कलों को उखाड़ फेंका।[२] डॉ० मजुमदार के मत में (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ७७) देवपाल का उड़ीसा पर यह आक्रमण या तो द्वितीय शिवकरदेव अथवा उसके भाई और उत्तराधिकारी प्रथम शान्तिकरदेव (आठवीं शताब्दी के द्वितीय चतुर्थांश) के समय में हुआ होगा। इसका अप्रत्यक्ष उल्लेख त्रिभुवनमहादेवी के तिथि ११० के धेनकनल अभिलेख में भी सम्भवत: मिलता है[३]। तदनुसार, उत्तमकेसरी और गयाड जैसे प्रसिद्ध महाराजाओं की मृत्यु के बाद कर वंश अपनी प्राचीन प्रतिष्ठा मात्र पर जी रहा था और राज्य की वही अवस्था हो गई थी जो प्रकाशमान ताराओं से हीन आकाश की अथवा दु:खीहृदय स्त्री की हो जाती है। इस स्थिति में ही दक्षिण के प्रसिद्ध नागवंशी सरदार राजमल्ल[४] की पुत्री त्रिभुवनमहादेवी (ललिताहार की रानी) ने गद्दी धारण किया, जिससे कर राज्य की लक्ष्मी की रक्षा करने की सामन्तमण्डल (**महासामन्तचक्र**) ने प्रार्थना की[५] थी। तिथि १४१ के तलचेर अभिलेख में यह[६] कहा गया है अपने पुत्र कुसुमहार की मृत्यु के बाद त्रिभुवन-

---

१. हरेकृष्ण महताब, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १४५।

२. देखिए, बादाल स्तम्भलेख, एइ०, जिल्द २, पृष्ठ १६० और आगे।

३. विनायक मिश्र, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २३ और आगे।

४. विनायक मिश्र (डाइनेस्टीज ऑफ् मेडिवल् ओरिसा, पृ० २०-२१) ने इस राजमल्ल की पहचान दक्षिण भारत के पालवमल्ल अथवा क्षत्रियमल्ल से की है। और देखिए, जबिओरिसो०, जि० २, पृ० ४१९-२७।

५. विनायक मिश्र, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ३२ और आगे।

६. वहीं, पृष्ठ ३२ और आगे।

महादेवी ने शासनसूत्र स्वयं संभाला था। राजगद्दी धारण करने के लिए उसका पौत्र लोणभार अभी अत्यन्त अल्पायु था, विशेषत: बाहरी आक्रमणों के दबाव के समय, और उसी कारण त्रिभुवनमहादेवी को शासनसूत्र संभालने के लिए आगे आना पड़ा। लगता है कि उसके पूर्व कर राज्य पर कोई विशेष विपत्ति आयी थी, जिससे उसकी शक्ति और प्रतिष्ठा दोनों का ह्रास हुआ था। यह विपत्ति देवपाल का आक्रमण ही हो सकती है[१]। त्रिभुवनमहादेवी ने, कदाचित् अपने पिता राजमल्ल की सहायता से, वंशप्रतिष्ठा पुनः स्थापित की। पाल अभिलेखों का यह दावा प्रशस्ति मात्र प्रतीत होता है कि देवपाल ने उत्कलों को उखाड़ फेंका, क्योंकि हम यह देखते हैं कि उस आक्रमण के बावजूद भी कर राजाओं का न केवल शासन चलता रहा, अपितु वे अपने साम्राज्यसूचक विरुद भी धारण करते रहे।

अवनित और अन्त

किन्तु त्रिभुवनमहादेवी के पौत्र लोणभार के बाद कर राजाओं और रानियों के बारे में कोई विशेष जानकारी नहीं प्राप्त होती। कर शासन के अन्तिम दिनों में कई रानियाँ ही बारी-बारी गद्दी पर बैठीं। गौरी (पंचम शुभकर की रानी), उसकी पुत्री दण्डीमहादेवी, उसकी विमाता बकुलामहादेवी और लवणभार की रानी धर्ममहादेवी ने क्रमशः गद्दी धारण किया।[२] ये शासिकाएँ भी **परमभट्टारिका** और **महाराजाधिराजपरमेश्वरी** जैसे विरुद धारण करती रहीं[३]। किन्तु इसे गतानुगतिकता मात्र मानकर कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिए। यह बात अवश्य अत्यन्त महत्त्व की है कि लगातार चार रानियाँ ही गद्दी पर बैठें। इसका कारण सम्भवतः कर राज्य में कोई आन्तरिक संघर्ष अथवा ऐसी ही अन्य कोई दुःखद परिस्थिति रही होगी। उसका परिणाम भी एक ही होना था—उस राज्य की अवनति और उसका अन्त। धर्ममहादेवी के बाद करों के बारे में हमें कोई

---

१. डॉ० रा० दा० बनर्जी के मत में यह बाहरी आक्रमण शत्रुभंज और रणभंज द्वारा किया गया था, जिनके विरुद्ध राजमल्ल ने कर सेनाओं की सहायता की थी। देखिये, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १५३।

२. उत्तराधिकार का यह क्रम डॉ० र० चं० मजुमदार (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ६७) से यथावत् से ले लिया गया है। और भी देखिये, इहिक्वा०, जि० २१, पृ० २१८; इन स्त्री शासिकाओं की और जानकारी के लिए देखिये, दि० चं० सरकार, सोसायटी ऐण्ड ऐडमिनिस्ट्रेशन इन् ऐशियेण्ट् ऐण्ड मेडिवल् इण्डिया, पृ० २३८-२४३।

३. देखिए दण्डी महादेवी के अभिलेख, एइ०, जि० २९ पृ० ७९ और आगे; विनायक मिश्र, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ५७ और आगे।

जानकारी नहीं प्राप्त होती। अन्ततः भञ्जों तथा दक्षिण कोसल के सोमवंशियों के दबाव के सामने वे अपनी स्थिति बनाये न रख सके तथा कर राज्य का ९५०–१००० ई० के बीच कभी अन्त हो गया।

भञ्ज राज्य

१०वीं–११वीं शताब्दी में करों को समाप्तकर भञ्जों और सोमवंशियों ने उड़ीसा में अपनी सत्ताएँ स्थापित कीं। यहाँ हम भञ्जों की चर्चा करेंगे, जिनके ३०–३५ अभिलेख अब तक प्राप्त हो चुके हैं। पाल, गुप्त अथवा कर जैसे ही इनके राजवंश का नाम भञ्ज इसलिए पड़ा कि इसके सभी राजाओं के नामान्त भञ्ज में पड़ते हैं। करों के इतिहास की तरह इनके इतिहास का भी तैथिक क्रम निश्चित करना बड़ा कठिन है और विभिन्न राजाओं के पूर्वापर के बारे में अत्यधिक मतभेद हैं। इस बात के प्रमाण हैं कि भञ्जों की दो शाखाएँ थीं जो खिञ्जलि और खिजिंग[1] नामक दो स्थानों से शासन करती थीं। कुछ विद्वानों के मत में भञ्जों के ये दो राज्य महानदी के उत्तरी और दक्षिणी किनारों पर पड़ते थे। यह कह सकना कठिन है कि भञ्जों के दोनों राजवंश एक ही मूलपुरुष से उत्पन्न हुए थे अथवा परस्पर भिन्न थे।

शत्रुभञ्ज के तेक्कलि अभिलेख[2] से खिञ्जलि[3] के निम्नलिखित चार राजाओं के नाम ज्ञात होते हैं—

१—यथासुख

२—मल्लगम्भीर

---

१. डॉ० र० चं० मजुमदार ने खिजिंग को पुराने मयूरभञ्ज के खिचिंग से मिलाया है। देखिए, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ६९; हरेकृष्ण महताब खिजिंगमण्डल में बामानघाटी, खण्डदेउली उखुण्डा, केसरी और आदिपुर को शामिल मानते हैं। देखिए, पूर्व-निर्दिष्ट, पृ० १५६।

२. जबिओरिसो०, जि० १८, पृ० ३८७; इहिक्वा०, जि० २८, पृ० २२९। किन्तु इस अभिलेख के वर्ष (संवत्) को विद्वानों ने भिन्न-भिन्न और विवादस्पद रूप से पढ़ा है।

३. खिञ्जलि की पहचान के बारे में मतैक्य नहीं है। बी० सी० मजुमदार ने इसे खिमिदि से मिलाया (जबिओरिसो०, जि० २, पृ० ४३०) है। हीरालाल ने (एइ०, जि० १, पृ० २२ और आगे) इसे केउन्झर से मिलाया है। लेकिन विनायक मिश्र के अनुसार वह अगुल में स्थित इंजिलि है। देखिए, डाइनेस्टीज ऑफ् मेडिवल् ओरिसा, पृ० ४३।

३—प्रथम शिलाभञ्ज (**आण्गद्दि**)

४—शत्रुभञ्ज (गन्धट : **मंगलराज**)[१]

प्रथम शिलाभञ्ज और शत्रुभञ्ज के अतिरिक्त अन्य छह राजाओं के नाम अन्य कई अभिलेखों से प्राप्त होते हैं, जो निम्नलिखित हैं—

५—रणभञ्ज

६—द्वितीय नेत्रभञ्ज (**धर्मकलश**)

७—दिग्भञ्ज अथवा दिशाभञ्ज

८—द्वितीय शिलाभञ्ज (**त्रिभुवनकलश**)

९—विद्याधरभञ्ज (**अमोघकलश**)

१०—तृतीय नेट्टभञ्ज अथवा नेतृभञ्ज द्वितीय (**कल्याणकलश**)

इनके अतिरिक्त राणक नेट्टभञ्ज (**त्रिभुवनकलश**) नाम का एक अन्य शासक भी ज्ञात होता है[२], जो सम्भवतः खिञ्जलि के भञ्जवंश का ११वाँ शासक था।

खिञ्जलि के शत्रुभञ्ज और रणभञ्ज

भञ्जवंश का सर्वप्रथम अभिलेख शत्रुभञ्ज ने प्रकाशित किया[३], जिसमें उसे **राणक** कहा गया है। किन्तु उसकी मुद्रा **महाराजकीय मुद्रा** अभिहित है। इससे प्रकट है कि वह एक स्वतन्त्र शासक था। उसका ठीक-ठीक समय निश्चित कर सकना कठिन है। शत्रुभञ्ज के पुत्र रणभञ्ज (प्रथम) ने ५८ वर्षों तक शासन किया। उसको राणक महा-सामन्तों द्वारा पूजित और **समधिगत पञ्चमहाशब्द** कहा गया है[४] जो उसकी आन्तरिक स्वतन्त्रता का द्योतक है। पुनः उसके अभिलेखों में उसे दोनों 'खिञ्जलियों का स्वामी'

---

१. ये खिञ्जलि के शासक थे, इस पर सन्देह व्यक्त किया गया है (दि० चं० सरकार, इहिक्वा०, जि०, २८, पृ० २२९)। उत्तर के लिए देखिए, र० चं० मजुमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ७०।

२. देखिए, मजुमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ७०-७१।

३. जबिओरिसो०, जिल्द १८, पृ० ३८७; राजगुरु, जर्नल् ऑफ् कलिंग हिस्टॉरिकल् रिसर्च सोसायटी, जिल्द प्रथम, पृ० १८१; रा० दा० बनर्जी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १६६।

४. देखिए, जबिओरिसो० जिल्द २०, पृ० १५१।

कहा गया है । यह विशेषता उसके उत्तराधिकारियों के सम्बन्ध में नहीं बतायी गयी है । इसके अतिरिक्त, जहाँ उसके पिता के और उसके अभिलेख धृतिपुर से प्रकाशित किये गये थे, उसके उत्तराधिकारियों के अभिलेख विजयवंजुलवक से प्रकाशित किये गये । यद्यपि विजयवंजुलवक की ठीक-ठीक पहचान नहीं हो सकी है, यह निष्कर्ष निकाला गया है[१] कि रणभञ्ज के उत्तराधिकारी खिञ्जलि से अपनी राजधानी हटाकर दक्षिण की ओर उन क्षेत्रों में ले गये, जो गंजाम और पुराने नवगढ़ राज्य में पड़ते थे । किन्तु यह ज्ञात नहीं होता कि रणभञ्ज के उत्तराधिकारी खिञ्जलि से स्वेच्छया हट गये अथवा किसी अन्य विजेता द्वारा निकाल दिये गये[२] । यह भी निश्चित करने का कोई साधन नहीं है कि उनके वहाँ से हट जाने पर खिञ्जलि किसके अधिकार में गया । किन्तु जुरद दानपत्र[३] से यह ज्ञात होता है कि **महामण्डलेश्वर** नेतृभञ्ज के पौत्र और रणभञ्ज के पुत्र **महामण्डलेश्वर** नेट्टभञ्जदेव ने खिञ्जिलिमण्डल में एक गाँव का दान दिया । यह नेट्टभञ्ज किसी अन्य भञ्ज शाखा का प्रतिनिधि प्रतीत होता है ।

प्रथम रणभञ्ज के उत्तराधिकारी

प्रथम रणभञ्ज का पुत्र और उत्तराधिकारी द्वितीय नेतृभञ्ज (**धर्मकलश**) हुआ, जिसने विजयवंजुलवक से कई दानपत्र प्रकाशित कर गंजाम जिले में कई गाँवों का दान किया । द्वितीय नेतृभञ्ज का भाई दिग्भञ्ज था, जिसका पुत्र द्वितीय शिलाभञ्ज था । किन्तु आगे जिस राजा के दानपत्राभिलेख मिले हैं[४], वह विद्याधरभञ्ज (**अमोघकलश**) ही था । उसके दानपत्र भी विजयवंजुलवक से ही प्रकाशित किये गये । विद्याधरभञ्ज का उत्तराधिकारी उसका पुत्र द्वितीय नेतृभञ्ज हुआ, जिसका विजयवंजुलवक से प्रकाशित एक अतैथिक दानपत्राभिलेख प्राप्त हुआ है[५] । उसमें खिञ्जिलिमण्डल के रामलव्व विषय में

---

१. मजुमदार पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ७१-७२ ।

२. मजुमदार और दि० चं० सरकार के मत में (वहीं, पृ० ७३ और १४९) इसका कारण सोमवंशियों का उड़ीसा पर आक्रमण था । डॉ० रा० दा० बनर्जी का यह कथन है (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १५३) कि शत्रुभञ्ज और रणभञ्ज ने थोड़े समय तक कर राज्य पर अधिकार कर लिया था किन्तु बाद में वे त्रिभुवनमहादेवी और उसके पिता राजमल्ल द्वारा हटा दिये गये । खिञ्जलि से उनके उत्तराधिकारियों का विजयवंजुलवक जाना इसी घटना का द्योतक है ।

३. एइ०, जिल्द २४, पृ० १५ ।

४. देखिए, एपि० इण्डिका, जि० १८, पृ० २९६-२९८ ।

५. रा० दा० बनर्जी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १७७-७८ ।

स्थित दोलड्डा नामक गाँव के एक खेत का भट्ट पुरुषोत्तम नामक एक ब्राह्मण को दान देने का उल्लेख है । लगता है कि उसने खिञ्जलि के कुछ क्षेत्रों को पुनः अपने अधिकार में कर लिया था । लेकिन लेख के विजयवंजुलवक से प्रकाशित किये जाने से यह भी स्पष्ट है कि उसकी राजधानी उसके चार पूर्वजों के समय की तरह ही अब भी वहीं थी । प्रथम रणभञ्ज के उपर्युक्त पाँचों उत्तराधिकारियों का शासनकाल सब मिलाकर भी थोड़े ही समय का प्रतीत होता है, जिसका प्रमाण यह है कि उन सबकी सेवा में एक सोनार का नाम समान रूप से ज्ञात होता है[१] ।

भञ्ज नामान्त किसी अन्य वंश के छह राजाओं के नाम भी ज्ञात होते हैं, जिनका खिञ्जलि पर अधिकार था । उनमें से प्रथम चार के तो कोई अभिलेख नहीं मिले हैं, किन्तु अन्तिम दो—यशोभञ्ज और उसके भाई जयभञ्ज—के दो अभिलेख प्राप्त हुए हैं[२] । इनमें इस वंश के प्रथम शासक देवभञ्ज को **महाराजाधिराज** और यशोभञ्ज को 'खिञ्जलि के स्वामी' की संज्ञा दी गयी है । किन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि इन राजाओं का समय क्या था ।[३]

खिजिंग के भञ्ज

खिजिंग के भञ्जवंश का संस्थापक कोट्टभञ्ज था किन्तु उसके वंशजों के नामों के बारे में विभिन्न अभिलेखों में परस्पर इनता अधिक भेद है कि उनका कोई सर्वमान्य वंशवृक्ष नहीं तैयार किया जा सकता । इनका सम्पूर्ण शासनकाल लगभग १५० वर्षों का (८५०-१००० ई०) माना जाता है । वीरभञ्ज और शत्रुभञ्ज जैसे इस वंश के कुछ राजाओं ने अपने को **चक्रवर्तिसम** और **महामण्डलाधिपति महाराजाधिराज परमेश्वर** कहा, जो उनकी स्वतन्त्रता के द्योतक हैं । संभव है, पालों के उड़ीसा पर आक्रमण से उत्पन्न अव्यवस्था के दिनों में खिजिंग के भञ्जों ने अपने राज्य की स्थापना की हो तथा राजनीतिक और सैनिक दृष्टि से एक स्वतन्त्र सत्ता बन गये हों । यद्यपि राजनीतिक क्षेत्र में उनके समय के इतिहास से सम्बन्धित कोई विशेष घटना की जानकारी हमें नहीं होती,

---

१. इहिक्वा०, जि० २८, पृ० २२८ ।

२. एइ०, जिल्द १७, पृ० २८२ और २९८ ।

३. भञ्जों के विभिन्न अभिलेखों की लिपियों की बहुलता के कारण उनके समय, उनके राजाओं की पहचान तथा अन्य तैथिक प्रश्नों पर बड़े विवाद हैं ।
उदाहरण के लिए देखिए, रा० दा० बनर्जी, पूर्वनिर्दिष्ट, अध्याय १२; विनायक मिश्र पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १०४-१०५; दि० चं० सरकार, इहिक्वा, जि० २८, पृ० २२७ और आगे; र० चं० मजुमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ७२-७६ ।

खिजिंग के भञ्ज शासकों ने मन्दिर और भित्तिचित्रों के निर्माण में अत्यधिक रुचि दिखायी। उनकी कुछ कृतियाँ तो उड़ीसा के वास्तुओं में अग्रगण्य समझी जाती हैं। १९४७ ई० में भारतवर्ष की स्वतन्त्रता प्राप्त होने के समय तक खिजिंग के भञ्जों के वंशज मयूरभञ्ज से शासन करते रहे।

उत्कल के सोमवंशी

१०वीं शती के मध्य में महाकोसल के सोमवंशियों ने आधुनिक उड़ीसा के संभलपुर, पटना और सोनपुर जिलों पर अपना अधिकार स्थापित किया। करों के पतन के बाद पूर्वी घाट के निचले भागों वाले समतल प्रदेशों पर भी उनका अल्पकालिक अधिकार हुआ प्रतीत होता है। **त्रिकलिंगाधिपति** की उपाधि धारण करने वाले इन सोमवंशियों का कभी-कभी करों अथवा गुहों से सम्बन्ध जोड़ा जाता है और कुछ लोग तो यहाँ तक मानते[१] हैं कि सोमवंशी उड़ीसा के निर्माता थे। अपने अभिलेखों में ये चन्द्रकुलोत्पन्न उदयन नामक व्यक्ति से उत्पन्न बताये गये हैं[२], जो पाण्डववंशी कहा गया है। ७वीं-८वीं शती में पूर्वी गोंडवाना में इन्होंने अपना एक छोटा सा राज्य स्थापित किया, किन्तु बाद गें वे सारे महाकोसल के स्वामी हो गये और सिरपुर से शासन करने लगे। किन्तु इस वंश का क्रमिक और सर्वमान्य वंशवृक्ष तैयार करने के साधन पर्याप्त नहीं है। यह अवश्य ज्ञात है कि बाद में महाकोशल के अतिरिक्त सिरपुर से १८० मील पूर्व विनीतपुर (उत्कल) में वे स्थापित हो गये, जिसकी पहचान सोनपुर के बिंका नामक स्थान से की गयी है। तथापि वे अपने को **कोशलेन्द्र** कहते रहे। उड़ीसा के इस सोमवंश का प्रथम शासक महाभवगुप्त (प्रथम) जनमेजय था,[३] जिसके अभिलेख पटना और सोनपुर से प्राप्त हुए हैं। कुछ विद्वानों के मत में उसने अपनी सीमाएँ कटक तक बढ़ा लीं, जो सर्वमान्य नहीं है। उसके अभिलेखों में उसे **त्रिकलिंगाधिपति**[४] **परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर** की उपाधियाँ दी गयी हैं। यद्यपि उसके पुत्र महाशिवगुप्त (प्रथम) ययाति के एक अभिलेख में महाभवगुप्त को कर्णाट, लाट, गुर्जर, द्रविड और काञ्ची की विजय करने का श्रेय दिया गया है, हम इस उल्लेख को सत्य स्वीकार नहीं कर

---

१. देखिए, बी० सी० मजुमदार, रा० दा० बनर्जी द्वारा उद्धृत, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २०४।

२. इनकी उत्पत्ति के लिए देखिए, हीरालाल, एइ०, जि० ११, पृ० १८४-२०१।

३. दि० चं० सरकार ने प्रथम महाभवगुप्त का समय ९३५-९७० ई० माना है। देखिए, दि एज ऑफ् इम्पीरियल्, कनौज, पृ० १४७।

४. जएसो, बेंगाल, जि० १३, पृ० ७४।

सकते । वास्तव में यह उपलब्धि उसकी शक्ति के बाहर थी[१] । यह सम्भव है कि उसने राढ़, उत्कल, कलिंग और कोंगद पर धावे किये हों। उसके बाद उसका पुत्र महाशिवगुप्त[२] (प्रथम) ययाति (९७०-१००० ई०) गद्दी पर बैठा । उसकी सर्वप्रमुख राजनीतिक उपलब्धि पूर्वी घाटों के समतल प्रदेशों पर अधिकार कर लेना प्रतीत होती है । उसने अपने कुछ अभिलेख तो विनीतपुर से प्रकाशित किये, किन्तु एक के ययातिनगर से भी प्रकाशित किये जाने का उल्लेख मिलता है। महाशिवगुप्त ययाति का पुत्र और उत्तराधिकारी महाभवगुप्त (द्वितीय) **भीमरथ** (१०००-१०१५ ई०) हुआ ।[३] अभिलेखों में उसकी अनेक विशेषताएँ बतायी गयी हैं तथा उसके द्वारा अपने राज्य के बाहर जयस्तम्भों के स्थापित किये जाने का उल्लेख है । वामण्डापाटि का माठर सरदार पुञ्ज उसके सामन्तों में एक था । भीमरथ का उत्तराधिकारी हुआ उसका पुत्र महाशिवगुप्त (द्वितीय) **धर्मरथ** (१०१५-१०२० ई०)। अभिलेखों में उसकी दिग्विजय की चर्चाओं के[४] साथ उसे द्वितीय परशुराम कहा गया है । **धर्मरथ** पुत्रहीन था । अतः उसके बाद उसका भाई महाभवगुप्त (तृतीय) नहुष गद्दी पर बैठा (१०२०-१०२५ ई०) । उसके समय राजनीतिक अव्यवस्था व्याप्त हो गयी तथा अमात्यों ने मिलकर[५] अभिमन्यु के पुत्र चण्डीहार महाशिवगुप्त (तृतीय) ययाति को गद्दी पर बिठाया,[६] जिसने कोशल और उत्कल दोनों को शत्रुओं से मुक्त किया। ये शत्रु सम्भवतः चोल थे, जिनके अभिलेखों में यह कहा गया है कि उन्होंने ओड्र के चन्द्रकुलीन (सोमवंशी) इन्द्ररथ को हराकर उसका राज्य छीन लिया । डॉ० दि० चं० सरकार, ने इस इन्द्ररथ की पहचान नहुष महाभवगुप्त (तृतीय) से की है[७], जो कदाचित् **धर्मरथ** का भाई और **भीमरथ** का पुत्र था । उड़ीसा पर चोलों के इस अस्थायी अधिकार को समाप्त करने वाला चण्डीहार

---

१. देखिए, बी० सी० मजुमदार, जबिओरिसो०, जिल्द २, पृ० ५० ।

२. दि० चं० सरकार महाशिवगुप्त ययाति को स्वभावतुंग से मिलाते हैं जिसके आधार पर उसका कलचुरियों से संघर्ष होना ठहरता है । देखिए, पूर्वानिर्दिष्ट, पृ० १४८ ।

३. जएसो०, बेंगाल, जि० १३, पृ० ७०; जबिओरिसो०, जि० १७, पृ० १-२४ ।

४. जबिओरिसो०, जि० १७, पृ० १५ ।

५. जएसो०, बेंगाल, जि० १३, पृ० ६९; जबिओरिसो०, जि० १७, पृ० १६ ।

६. चण्डीहार (तृतीय महाशिवगुप्त) ययाति ने 'केशरी' की भी उपाधि धारण की । वह महाभवगुप्त (तृतीय) नहुष का पुत्र नहीं अपितु दामाद था, जिसे मंत्रियों ने गद्दी दे दी । अतः हरेकृष्ण महताब (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १८४-१८५) उससे केशरी राजवंश का प्रारम्भ मानते हैं ।

७. दि स्ट्रगल् फॉर इम्पायर, पृ० २१० ।

ययाति (१०२५-१०५५ ई०) निश्चय ही एक वीर और शक्तिशाली शासक था। तत्पश्चात् उसका पुत्र चतुर्थ महाभवगुप्त उद्योतकेसरी (१०५५-१०८०) गद्दी पर बैठा और अपने पूर्वजों की विरासत को सफलता पूर्वक बनाये रखा। उसके बारे में यह कहा गया है कि उसने डाहल, ओड्र और गौड के राजाओं पर विजय प्राप्त की तथा अनेक राजाओं को अपने पैरों पर गिरने के लिए बाध्य किया[१]। लगता है कि कलचुरियों और पालों से उसके संघर्ष हुए। उद्योतकेसरी पूर्वी (कलिंग के) गंग शासक पञ्चम वज्रहस्त का समकालीन प्रतीत होता है, जिसके पुत्र प्रथम राजराज (१०७०-१०७८ ई०) ने उत्कल पर आक्रमण किया। प्रथम राजराज के पुत्र अनन्तवर्मा चोडगंग (१०७८-११५०) के भी उत्कल पर आक्रमण करने एवं वहाँ के राजा को परास्त कर पुन: उसे उसका राज्य लौटा देने का उल्लेख मिलता है[२]। चोडगंग १११२ ई० के अपने कोर्नी अभिलेख[३] में गंगा से गोदावरी नदियों के बीच सभी प्रदेशों से करसंग्रह करने और मंदार (हुगली जिले का गढ़ मन्दारन्) के राजा की राजधानी नष्ट करने का भी दावा करता है। पूर्वी गंगों के इन आक्रमणों का समय उद्योतकेसरी के शासन के बाद प्रतीत होता है। लेकिन उनका प्रभाव सोमवंशियों पर गम्भीर हुआ होगा। उद्योतकेसरी उनका अन्तिम प्रमुख और शक्तिशाली राजा प्रतीत होता है। उसका उत्तराधिकारी सम्भवत: कर्णकेसरी था, जिसे पाल राजा रामपाल के सामन्त और दण्डभुक्ति के शासक जयसिंह ने हराया। उसके बाद भी रणकेसरी और सुवर्णकेसरी नामक सोमवंशी राजाओं ने उत्कल पर शासन किया। कुछ दिनों तक तो वे पूर्वी गंगों के करद रहे प्रतीत होते हैं। किन्तु अन्त में अनन्तवर्मा चोडगंग ने सुवर्णकेसरी से उत्कल पूर्णत: छीन लिया और सोमवंशियों की सत्ता का नामनिशान भी वहाँ से समाप्त हो गया। सुवर्णकेसरी की जानकारी हमें केवल जनश्रुतियों मात्र से होती है और उसके बारे में कोई अभिलेख नहीं मिलता। इसका कारण यही हो सकता है कि वह राज़पद से च्युत कर दिया गया, जिसके साथ उसके वंश का भी अन्त हो गया। यह घटना कोर्नी अभिलेख के समय (१११२ ई०) के पूर्व ही हुई होगी, क्योंकि उसमें अनन्तवर्मा चोडगंग को उत्कल पर अधिकृत बताया गया है।

पूर्वी गंग

उड़ीसा पर उत्तरपूर्व, पश्चिम और दक्षिणपश्चिम से समय-समय पर पालों, दक्षिण कोशल के सोमवंशियों तथा गंगों के आक्रमण हुए। चूँकि पालों ने उस पर अपना कोई स्थायी अधिकार नहीं जमाया, हम यहाँ उनकी चर्चा नहीं करेंगे। किन्तु सोमवंशियों

---

१. वहीं; जएसो०, बेंगाल, जि० १३, पृ० ७२।

२. जर्नल् ऑफ् दि आंध्र हिस्टॉरिकल् रिसर्च सोसायटी, जि० १, पृ० ११८।

३. जर्नल् ऑफ् दि आन्ध्र हिस्टॉरिकल् रिसर्च सोसायटी, जि० ८, पृ० ४०।

और गंगों ने उस पर राज्य किया, जिनमें सोमवंशियों का इतिहास हम पीछे दे चुके हैं। गंगों को पूर्वीगंग अथवा उड़ीसा के गंग भी कहते हैं। पूर्वी गंग राजाओं[१] ने उड़ीसा के अन्यान्य भागों में भूमिदान का अंकन करने वाले अनेक अभिलेख भी प्रकाशित किये, जो उनके द्वारा प्रवर्तित एक स्वतन्त्र संवत् का उल्लेख (गंगकुल प्रवर्द्धमान विजयराज्य-संवत्सर) करते हैं। दुर्भाग्य यह है कि अब तक ऐसा कोई पक्का प्रमाण नहीं मिला है जिससे यह निश्चित किया जा सके कि इस संवत् के प्रवर्त्तन का वर्ष अन्य ज्ञात संवतों की गिनती में क्या था। अतः गंगों के प्रारम्भिक राजाओं का ठीक-ठीक समय नहीं निश्चित किया जा सकता। किन्तु वज्रहस्त (पंचम) **अनन्तवर्मन्** के समय से उड़ीसा पर शासन करने वाले गंगों का इतिहास स्पष्टरूप से ज्ञात है, जो पूर्वी गंग अथवा उड़ीसा के गंग नाम से भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध हैं। उनके अभिलेखों में उनका सम्बन्ध मैसूर के गंगों से स्थापित किया गया[२] है।

पंचम वज्रहस्त

कलिंग पर शासन करने वाले पंचम वज्रहस्त के कई निकटवर्ती पूर्वजों का ज्ञान उसके अथवा उसके वंशजों के अभिलेखों से प्राप्त होता है[३]। किन्तु उनका इतिहास बहुत धुंधला है। तथापि यह स्पष्ट-सा लगता है कि नवीं शती का अन्त होते-होते उन्होंने कलिंग पर अधिकार कर लिया था। पूर्वी गंग वंश का सर्वप्रथम प्रमुख और शक्तिशाली शासक पंचम[४] वज्रहस्त हुआ। उसका राज्याभिषेक १०३८ ई० में हुआ और उसने **अनन्तवर्मन्** की उपाधि धारण की। डॉ० दि० चं० सरकार की यह मान्यता है कि वज्रहस्त **अनन्तवर्मन्** ने चोल सम्राटों—राजराज और राजेन्द्रचोल—के सामन्त के रूप में ही कलिंग पर शासन किया था। जो भी हो, उसने **त्रिकलिंगाधिपति** की उपाधि भी धारण की तथा दन्तपुर अथवा कलिंगनगर (कलिंग की राजधानी) से अभिलेख प्रकाशित किये। उसके समय की सबसे प्रधान घटना कलचुरि शासक कर्ण का कलिंग

---

१. देखिए, हरेकृष्ण महताब, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ११०-१२७; रा० दा० बनर्जी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २२६—२४१।

२. देखिए, एज ऑफ् इम्पीरियल् कनौज, पृ० १४२।

३. देखिए, हरेकृष्ण महताब, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १९२-१९३।

४. स्वयंप्रकाशित अभिलेखों के आधार पर वह अपने वंश का तृतीय वज्रहस्त ठहरता है। किन्तु उसके वंशजों के अभिलेखों में उसे पंचम वज्रहस्त दिखाया गया है।

५. एज ऑफ् इम्पीरियल् कनौज, पृ० १४४।

पर आक्रमण था, जिसमें सम्भवतः वज्रहस्त परास्त हुआ और कर्ण ने स्वयं **त्रिकलिंगाधिपति** का विरुद धारण किया[१]।

प्रथम राजराज देवेन्द्रवर्मा

१०७० ई० में वज्रहस्त का पुत्र प्रथम राजराज **देवेन्द्रवर्मा** गद्दी पर बैठा। उसने चोलराज प्रथम कुलोत्तुंग के आक्रमण का सफलतापूर्वक सामना किया। **अनन्तवर्मन्** चोडगंग के विशाखापत्तनम् अभिलेख में कहा गया है[२] कि राजराज ने चोलों पर विजय पायी और उसने उनके राजा की पुत्री से विवाह किया। उसने उत्कल के सोमवंशियों पर भी अपना प्रभाव स्थापित किया। उसका वनपति नामक एक योग्य ब्राह्मण सेनापति था, जो चोड, वेंगी, किण्डी, कोसल और गिड्सिंगी के राजाओं पर विजय का दावा करता है[३]।

अनन्तवर्मा चोडगंग

राजराज के बाद उसकी चोलरानी राजसुन्दरी से उत्पन्न पुत्र **अनन्तवर्मा** चोडगंग १०७८ ई० में राजा हुआ और अगले ७०-७२ वर्षों तक शासन करता रहा। उसके समय के अनेकानेक ताम्रपत्राभिलेख, प्रस्तराभिलेख तथा स्वर्ण मुद्रायें मिलती हैं। साथ ही उड़िया, तेलुगु और तमिल साहित्य में भी उसकी बहुत चर्चाएँ हैं। वज्रहस्त की सभी उपाधियाँ उसने धारण कीं। ऐसा प्रतीत होता है कि उसके शासनकाल के प्रारम्भिक वर्षों में चोलों ने पुनः कलिंग पर आक्रमण प्रारम्भ कर दिया। सम्भवतः १०८३ ई० के कुछ ही समय बाद सारा कलिंग प्रथम कुलोत्तुंग के सेनापति करुणाकर ने जीत लिया। कुलोत्तुंग का पुत्र और वेंगी का राज्यपाल राजराज चोडगंग (१०८४-१०८८ ई०) महेन्द्रपर्वत तक के सारे प्रदेशों पर अपने अधिकार और शासन का दावा करता है[४]। चोलों पर इस दबाव से उत्पन्न **अनन्तवर्मा** की कठिनाइयाँ अवश्य ही बड़ी रही होंगी। लेकिन उसने हिम्मत नहीं हारी। सम्भवतः कल्याणी के चालुक्य राजा षष्ठ विक्रमादित्य के चोलों पर आक्रमण के फलस्वरूप **अनन्तवर्मा** को स्वयं चोलों के दबाव से मुक्त होने का अवसर मिल गया और, यही नहीं कि उसने कलिंग के अपने सारे क्षेत्रों पर पुनः अधिकार स्थापित कर लिया, उसने दक्षिण में गोदावरी नदी तक के प्रदेशों को भी जीत (१११२ ई०) लिया। लेकिन उसकी स्थायी सीमाएँ विशाखापत्तनम् जिले से आगे

---

१. देखिए, कर्ण का बनारस अभिलेख।

२. रा० दा० बनर्जी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २४६।

३. दीर्घासी अभिलेख, एइ० जिल्द ९, पृ० ३१४-३१८।

४. तमिल साहित्य के साक्ष्यों के आधार पर चोलों की कलिंग विजय का समय १०९५-९६ भी माना जाता है। देखिए, हरेकृष्ण महताब, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १९९।

नहीं बढ़ सकीं। १११२ ई० तक वेंगी पर विजय के अतिरिक्त, पूर्वोत्तर में उत्कल पर भी उसने अपना प्रभाव स्थापित कर लिया तथा **त्रिकलिंगाधिपति** के अलावे **उत्कल-स्वामी** की उपाधि धारण[१] की। उत्कल का हारा हुआ राजा कदाचित् सोमवंशी सुवर्ण-केशरी था, जिसका राज्य चोडगंग ने पुनः उसे वापस कर दिया। रामपाल की मृत्यु के बाद पालों की कमजोरी का लाभ उठाकर उसने उनके दक्षिणी क्षेत्रों पर भी धावे मारना प्रारम्भ कर दिया, जिनकी चर्चाएँ उसके अनेक अभिलेखों में मिलती हैं। उसके तथा उसके उत्तराधिकारियों के आलेख्यों में यह दावा किया गया है कि उन्होंने गंगा से गोदावरी के बीच के अनेक राजाओं से कर वसूल किया[२]। आनन्दभट्ट कृत **बल्लालचरित** से ज्ञात होता है कि सेनवंशी विजयसेन अनन्तवर्मा चोडगंग का मित्र था। लेकिन यह मित्रता अल्पकालिक ही साबित हुई और बाद में विजयसेन और चोडगंग में युद्ध हुआ[३]। पश्चिम में रत्नपुर के कलचुरियों से उसकी शत्रुता थी, जिनके अभिलेखों में कहा गया है कि द्वितीय रत्नदेव ने गंग शासक को हराया। उसके अभिलेख गंजाम, विशाखापत्तनम् और गोदावरी जिले के द्राक्षाराम नामक स्थानों से मिले[४] हैं, जो कलिंगनगर और सिन्दूरपुर से प्रकाशित किये गये थे। इस प्रकार स्पष्ट है कि **अनन्तवर्मा** चोडगंग की उपलब्धियाँ बहुत अधिक थीं। गंगवंश के अभिलेखों से प्रकट है कि चोडगंग के दिनों में उड़ीसा की सीमाएँ उत्तर में गंगा से दक्षिण में गोदावरी तक तथा पूर्व में बंगाल की खाड़ी से पश्चिम में पूर्वी घाटों तक विस्तृत थीं। उसकी बराबरी में उड़ीसा के इतिहास में केवल खारवेल का साम्राज्य ही दिखायी देता है। चोडगंग ने महान् राजनीतिक सत्ता का द्योतन करने वाले **महाराजाधिराज, राजपरमेश्वर, परमभट्टारक, त्रिकलिंगाधिपति, गंगचूड़ामणि** जैसे अनेक विरुद धारण किये। सांस्कृतिक उन्नति की ओर भी उसने भरपूर ध्यान दिया। जगन्नाथ के भव्य मंदिर का निर्माण चोडगंग ने ही कराया, जो उसके वास्तुओं का सर्वोत्तम उदाहरण है।

---

१. इऐ०, जिल्द, १८, पृ० १६५-१७२; जर्नल ऑफ् दि आन्ध्र हिस्टॉरिकल् रिसर्च सोसायटी, जि० १, पृ० ११८। वहाँ कहा गया है : —
पूर्वस्यांदिशिपूर्वमुत्कलपतिं राज्यं निधाय च्युतम्।
पश्चात् पश्चिमदिग्पते विधातितम् वेंगीसम्पेत्ययोः ॥
लक्ष्मीबन्धनमालिकामिव जयश्रीतोर्णस्तम्भ्ययो।
बन्धातीस्म सम्बर्धकीर्तिविभवैः श्री गंगचूड़ामणिः ॥

२. 'ग्रहणातीस्म करं भूमेर्गंगागौतमगंगयोः', हरेकृष्ण महताब द्वारा उद्धृत, पूर्वनिर्दिष्ट पृ० १९८, २००।

३. वहीं, पृ० २००।

४. एइ०, जि० १, पृ० ४०-४३; ४७-४९; जि० २१, पृ० १६१।

अनन्तवर्मा के उत्तराधिकारी

चोडगंग **अनन्तवर्मा** की मृत्यु ११४७-११५० ई० के बीच कभी हुई। उसके पूर्व ११४२ ई० में उसने अपने पुत्र कामार्णव को राज्याभिषिक्त कर दिया था[१]। कामार्णव के बाद ११५६ ई० में उसका वैमात्रिक भाई राघव गद्दी पर बैठा, जो सम्भवतः एक कमजोर शासक था। उसके समय सेन राजा विजयसेन ने दक्षिणी बंगाल से गंग सत्ता को हटाकर अपनी सत्ता स्थापित कर ली। राघव को कोई पुत्र नहीं था और उसके बाद ११७० ई० में उसका वैमात्रिक भाई द्वितीय राजपाल प्रायः अपनी वृद्धावस्था में गद्दी पर बैठा। उसने अपने छोटे भाई अनियंकभीम अथवा अनंगभीम को प्रशासन में सहायता के लिए नियुक्त किया। अनंगभीम ने बाद में एक स्वतंत्र राजा के रूप में भी १० वर्षों तक शासन किया। अनंगभीम (११९२-१२०५ ई०) और उसके उत्तराधिकारी तृतीय राजराज (१२०५-१२०६ ई०) के समय पश्चिमी और उत्तरी बंगाल तथा उड़ीसा पर मुसलमानों के आक्रमण होने लगे। इनमें सर्वप्रथम आक्रमण (१२०५ ई० में होने वाला) बख्तियार खलजी का था[२]। प्रथम नरसिंह (१२३८-१२४६ ई०) नामक एक गंग राजा ने इन मुसलमानी आक्रमणों का केवल जमकर मुकाबला ही नहीं किया, अपितु कभी-कभी तो पूर्वी बंगाल में स्थित उनके सत्ताकेन्द्र लखनौती तक पहुँचकर उनको दबाने में राजनीतिक पहल भी की। किन्तु प्रस्तुत पुस्तक की निश्चित परिधि (१२०० ई०) के बाहर होने के कारण यहाँ बाद वाले गंग शासकों की चर्चा नहीं की जा सकेगी। इतना मात्र निर्देश किया जा सकता है कि उड़ीसा में १५वीं शताब्दी के मध्य तक गंगवंशी शासक अधिकृत रहे।

अन्य राजवंश

शैलोद्‌भव, कर और भञ्ज राजवंशों के अतिरिक्त भी अनेक छोटे-छोटे राजवंशों ने उड़ीसा के अलग-अलग भागों पर समय-समय से शासन किया। किन्तु जो कठिनाइयाँ उपर्युक्त राजवंशों का सही समय, उनके राजाओं का क्रम और उनके राजनीतिक इतिहास की मुख्य बातों को जानने के सम्बन्ध में है, वे ही यहाँ भी हमारे सामने उपस्थित होती हैं। अतः नीचे उनका अत्यन्त साधारण परिचय मात्र दिया जाता है।

तुंग वंश

यह कहा गया है कि जगत्तुंग नामक तुंगों[३] का पूर्वज रोहितगिरि (शाहाबाद जिले

---

१. देखिए, कीलहॉर्न, एइ०, जि० ८, परिशिष्ट १, पृ० १७; जएसो०, बेंगाल, १९०३, पृ० १०८।

२. तबकाते-नासिरी, रैवर्टी का अंग्रेजी अनुवाद, पृ० ५७३-५७४।

३. इनके अभिलेखों के लिए, देखिए, जएसो० बेंगाल, नयी अवली (१९०९), जि० ५ पृ० ३४७; जि० १२, पृ० २९१।

का रोहतासगढ़) से उड़ीसा की ओर गया था। वहाँ तलचेर, पल्हर और केउन्झर के क्षेत्रों पर उसके वंशजों ने अधिकार किया। तुंग वंश के शासकों में प्रमुख रूप में केवल दो[१]—सालाणतुंग और गयाडतुंग—के नाम ज्ञात होते हैं। गयाडतुंग को **समधिगत-पंचमहाशब्द** और यमगर्त का शासक कहा गया है, जो निश्चय ही उसके सामन्तीस्वरूप का द्योतक है। असंभव नहीं है कि तुंगवंश कर राजाओं की अधीनता स्वीकार करता रहा हो। उनका अधिकारक्षेत्र **यमगर्तमण्डल** कहलाता था।

शूल्कि वंश

तुंगों की भाँति शूल्कि अथवा शूल्किक नामक एक अन्य वंश भी भौम-करों के सामन्त रूप में तलचेर, धेनकनल तथा आसपास के क्षेत्रों[२] पर गोण्डम् के शासक रूप में अधिकृत था। मौखरिवंशी ईशानवर्मा के हरहा अभिलेख में इन शूल्किकों की चर्चा ईशानवर्मा द्वारा पराजित लोगों में है[३], जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि छठीं शती से ही वे उड़ीसा की राजनीतिक सत्ताओं में गिने जाने लगे थे। इनके राजाओं में कांचनस्तम्भ, कलहस्तम्भ, (**विक्रमादित्य**) रणस्तम्भ अथवा कुलस्तम्भ, जयस्तम्भ और निदयस्तम्भ के नाम ज्ञात होते हैं, लेकिन उनका क्रम और आपसी सम्बन्ध सर्व-मान्यरूप में निश्चित नहीं किया जा सका है। उनके नौ अभिलेख ज्ञात होते हैं जो कोदा-लक अथवा कोदालोक से प्रकाशित किये गये थे, जिसकी पहचान धेनकनल के कुआलु से की गयी है[५]। कुछ शूल्कि राजाओं को **महाराजधिराज** और **परमभट्टारक** कहा गया है। किन्तु साथ ही वे **राणक** और **समधिगतपंचमहाशब्द** भी कहे गये हैं, जो वास्तव में उनके सामन्त मात्र होने का द्योतक है।

---

१. विनायक मिश्र ने (डाइनेस्टीज ऑफ् मेडिवल् ओरिसा, पृ० ४२) इस वंश के पाँच शासकों की गिनती की है, जिनका क्रम है—खड्गतुंग, विनीततुंग, जगत्तुंग, सालाणतुंग और गयाडतुंग। उनका मत डॉ० रा० दा० बनर्जी (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २०१) के निष्कर्षों पर आधृत प्रतीत होता है।

२. शूल्किकों की भौगोलिक सीमाओं के लिए देखिए, विनायक मिश्र, डाइनेस्टीज ऑफ् मेडिवल् ओरिसा, पृ० २७-३२।

३. एइ०, जि० १४, पृ० १२०, श्लोक १३।

४. उनके अभिलेखों के लिए देखिए, एइ० जि० १२, पृ० १५६; जएसो० बेंगाल, जि० ६४ (१८९५) पृ० १०३ और आगे तथा १२३-१२७; जबिओरिसो० जि० २, पृ० १६८ और आगे तथा ३९५ और आगे; जि० ४, पृ० १५१-१५७।

५. जबिओरिसो०, जि० १६, पृ० ४५३।

नन्द वंश

गोण्डम् पर सम्भवतः शूल्किकों के बाद शासन करने वाले नन्द नामक एक अन्य वंश की जानकारी हमें अभिलेखों से होती है। इसके चार अभिलेखों[१] से क्रमशः जयानन्द, परानन्द, शिवानन्द, देवानन्द अथवा विलासतुंग, द्वितीय देवानन्द तथा ध्रुवानन्द नाम के राजा ज्ञात होते हैं। विलासतुंग जैसे नामों और गोण्डम् पर अधिकार होने से यह प्रतीत होता है कि इनका तुंगों से कोई सम्बन्ध था। उनके अभिलेखों का प्रकाशन जयपुर से हुआ था, जिसकी पहचान धेनकनल क्षेत्र के जयपुर नामक स्थान से की गयी है। जयपुर उनकी राजधानी प्रतीत होती है। कुछ लोग[२] यह मानते हैं कि द्वितीय देवानन्द के समय से यह वंश भौम-करों की अधीनता से मुक्त होकर एकदम स्वतंत्र रूप से शासन करने लगा था।

❁❁❁

१. वहीं, जि० १५, पृ० ८७; जि० १६, पृ० ४५७; एइ०, जि० १६, पृ० ७४; जि० २७, पृ० ३२५ ३३४; ऐंश्येण्ट इण्डिया, पाँचवाँ, पृ० ५०।

२. हरेकृष्ण महताब, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १५१।

११

सेन राजवंश

उत्पत्ति और प्रारम्भिक इतिहास

बंगाल में रहनेवाले आधुनिक सेन लोग अपनी ही तरह प्राचीन सेनवंशी राजाओं को वैद्य मानते हैं। किन्तु यह ऐतिहासिक प्रमाणों से साबित नहीं होता। सेनवंशी शासकों के पूर्वपुरुषों के मूल स्थान और उत्पत्ति सम्बन्धी उल्लेख विजयसेन के देवपाड़ा अभिलेख एवं लक्ष्मणसेन के माधाइनगर अभिलेख में मिलते हैं[1]। तदनुसार, वे चन्द्रवंशी थे और उनका प्रारम्भिक पुरुष वीरसेन[2] था, जिस कुल में सामन्तसेन उत्पन्न हुआ। सामन्तसेन को कर्णाट क्षत्रियों का **कुलशिरोदाम** अथवा उस वंश का **ग्रीवमाल** एवं **दाक्षिणात्य क्षौणीन्द्र** कहा गया है। देवपाड़ा अभिलेख के आठवें श्लोक से ज्ञात होता है कि उसने दक्षिण दिशा में लड़े गये युद्धों में कर्णाटलक्ष्मी (धन) के दुष्ट लुटेरों (कर्णाटलक्ष्मीलुण्ठकानां) का इतना अधिक संहार किया कि डाइनों ने वह दिशा छोड़ी ही नहीं। इन सन्दर्भों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सेनवंश के पूर्वपुरुष मूलतः कर्णाट (आधुनिक पश्चिमी आन्ध्र प्रदेश और मैसूर के उत्तरी भाग) के निवासी[3] थे और तत्कालीन कुछ अन्य राजवंशों की तरह अपने को **ब्रह्मक्षत्रिय** स्वीकार करते थे। **ब्रह्म-क्षत्रिय** शब्द का प्रयोग सम्भवतः उन्होंने इसलिए किया कि वे स्वयं को ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों ही मानते थे। किन्तु कालान्तर में वे अपने को क्षत्रिय कहने (प्रोसीडिंग्स्,

---

१. एइ०, जि० १, पृ० ३०५ और आगे; जएसो०, बेंगाल, नयी अवली, जि० ५, पृ० ४७० और आगे।

२. आनन्दभट्टकृत बल्लालचरित (हरप्रसाद शास्त्री द्वारा सम्पादित, १८२३ शक सं०, पृ० ५५) में सेनों को महाभारत के वीर कर्ण से जोड़ा गया है और यह कहा गया है कि वीरसेन ने एक गौड ब्राह्मण की सोमता नामक पुत्री से विवाह किया, जो आगे चलकर सेनों की ब्रह्मक्षत्रिय संज्ञा का कारण हुआ।

३. डॉ० धी० चं० गांगुली उनका मूलतः दक्षिण निवासी होना स्वीकार नहीं करते। देखिए, इहिक्वा०, जि० १२, पृ० ६११–६१२।

एशियाटिक् सोसायटी, बेंगाल, जि० ५, पृ० ४६७; एइ०, जि० १५, पृ० २८४ और आगे) लगे। डॉ० देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर के मत में **ब्रह्मक्षत्रिय** शब्द पूर्वमध्यकाल के कम-से-कम पाँच राजवंशों के साथ लगा हुआ मिलता है 'जो मूलतः ब्राह्मण थे किन्तु बाद में क्षत्रिय हो गये तथा पौरोहित्य को छोड़कर युद्धकार्य करने लगे[1]।' उनके मत में सेन मूलतः विदेशी आक्रामकों के पुरोहित (ब्राह्मण) थे, जो यहाँ हिन्दू समाज में मिल जाने पर अथवा उसके कुछ पूर्व ही क्षत्रिय हो गये थे। किन्तु सेनों की उत्पत्ति विदेशी पुरोहितों-ब्राह्मणों से जोड़ना उपलब्ध प्रमाणों से प्रमाणित नहीं होता। सामन्तसेन **ब्रह्मवादी** भी कहा गया है, जिसका मूल तात्पर्य वेद पढ़ाने वाला होता था। श्री चि० वि० वैद्य ने सेनों को मूलतः चन्द्रवंशी क्षत्रिय मानते हुए उनके लिए प्रयुक्त **ब्रह्मवादी** अथवा **ब्रह्मक्षत्रिय** जैसे शब्दों का यह अर्थ किया कि वे ब्राह्मण अथवा वैदिक धर्म में विश्वास करनेवाले क्षत्रिय थे, न कि ऐसे क्षत्रिय जो मूलतः ब्राह्मण थे। किन्तु इस सम्बन्ध में प्रश्न यह उठता है कि अधिकांश प्राचीन भारतीय क्षत्रियवंशियों ने वैदिक धर्म में कट्टर विश्वास रखते हुए भी अपने को **ब्रह्मक्षत्रिय** क्यों नहीं कहा। ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट सा लगता है कि सेनवंशी राजाओं के पूर्वज कर्णाट ब्राह्मण थे, जो वैदिक साहित्य के अध्ययन-अध्यापन एवं यज्ञकार्यों[2] से अपनी जीविका चलाते थे।

सेन लोग कर्णाट छोड़कर कब और कैसे आये[3], इसकी बहुत स्पष्ट जानकारी नहीं प्राप्त होती। देवपाड़ा अभिलेख के अनुसार सामन्तसेन के प्रारम्भिक सैन्यकार्यों का क्षेत्र दक्षिण था, किन्तु अपनी वृद्धावस्था में उसने उत्तर में गंगा नदी के किनारों के वन्य प्रदेशों में स्थित तीर्थों का भ्रमण किया। किन्तु वल्लालसेन के नैहट्टी अभिलेख (श्लोक

---

१. डॉ० स्मिथ द्वारा अर्ली हिस्ट्री, चतुर्थ, सं० पृष्ठ ४३५-४३६ पर उद्धृत। डॉ० स्मिथ ने भण्डारकर का मत उद्धृत करते हुए उसे यथावत् स्वीकार कर लिया।

२. माधाइनगर अभिलेख (श्लोक ३) में यह कहा गया है कि सेनों ने 'त्रिलोकों की विजय के लिए उपर्युक्त यज्ञों (क्रतुओं) का आयोजन करते हुए देवताओं के सोमयज्ञ के पुरोहितों को दबाया।'

३. इस सम्बन्ध में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। उदाहरण के लिए देखिए, रा० दा० बनर्जी का यह मत (मेम्वायर्स् ऑफ् दि एशियाटिक् सोसायटी, बेंगाल, जि० ५, पृ० ९९) कि वे या तो राजेन्द्रचोल द्वारा बंगाल पर किये गये आक्रमण के साथ आये थे अथवा कर्ण कलचुरि के अभियान (जबिओरिसो०, जि० ९, पृ० ३०६) के साथ आये थे। डॉ० हेमचन्द्र राय (डाहिनाइ०, जि० १, पृ० ३५६-३५७) और डॉ० रमेशचन्द्र मजुमदार (हिस्ट्री ऑफ् बेंगाल, जि० १, पृ० २०८-९) उन्हें चालुक्य शासकों—द्वितीय सोमेश्वर और षष्ठ विक्रमादित्य—के उत्तर भारतीय अभियानों के सिलसिले में आया हुआ मानते हैं।

३-४) में उसके पूर्व के राजाओं का भी राढ़ा (उत्तर बंगाल) से सम्बन्ध जोड़ा गया है[१] । इन परस्पर-विरोधी उल्लेखों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करते हुए डॉ० मजुमदार (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २०६) ने निष्कर्ष निकाला है कि कर्णाट का कोई सेनवंश बंगाल में सामन्तसेन के पहले से ही बसा हुआ था, जिसके सम्बन्ध दक्षिण के अपने मूल क्षेत्रों से सामन्तसेन के समय तक टूटे नहीं थे । सामन्तसेन उन्हीं में से एक था, जिसने अपना बचपन कर्णाट में बिताया था, युवावस्था में वहीं के अनेक युद्धों में सम्मिलित होकर यश पाया, किन्तु वार्धक्य के समय बंगाल चला गया । यद्यपि अभिलेखों में उसके पूर्वजों को भी राजपद के सूचक विरुद किये गये हैं और उन्हें चन्द्रवंशी राजपुत्रों के कुल में उत्पन्न बताया गया है, इस बात का कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है कि बंगाल में वे कोई स्वतंत्र राज्य स्थापित कर सके थे । उस दिशा में सर्वप्रथम प्रयास उसी का प्रतीत होता है । उसने राढ़ा के उत्तरी भागों में एक छोटा सा क्षेत्र अधिकृत कर लिया । उसके प्रयत्नों के परिणामस्वरूप उसका पुत्र हेमन्तसेन वास्तविक राजसत्ता का उपभोगी हुआ । वंश के अभिलेखों में पूर्ण राजत्त्व के सूचक विरुद सर्वप्रथम हेमन्त-सेन के लिये ही प्रयुक्त हुए[२] हैं । पालों के विरुद्ध कैवर्त्तों के विद्रोह एवं बंगाल पर कलचुरि कर्ण के आक्रमण से उत्पन्न अस्थिर राजनीतिक अवस्था में (११वीं शती के अन्तिम भागों में) उसे एक छोटा सा राज्य स्थापित कर लेने का अवसर मिल गया प्रतीत होता है ।

विजयसेन (लगभग १०९५-११५८ ई०)

हेमन्तसेन के बाद रानी यशोदेवी से उत्पन्न उसका विजयसेन नामक पुत्र गद्दी पर बैठा । अपरमन्दार अर्थात् दक्षिण राढ़ा में स्थापित शूरवंश की एक राजकुमारी (विलासदेवी) से विवाहकर उसने अपनी सत्ता के विस्तार का प्रयत्न किया । देवपाड़ा (एइ०, जि० १, पृ० ३०५ और आगे), बैरकपुर (एइ०, जि० १५ पृ० २८४ और आगे) और पैकोर नामक स्थानों से उसके तीन अभिलेख प्राप्त हुए हैं । बैरकपुर अभि-लेख से उसके कम-से-कम ६२ वर्षों तक शासन करने का प्रमाण मिलता है, जिसे मोटे तौर पर १२वीं शती के प्रथमार्ध में रखा जा सकता है[३] । रामपाल की मृत्यु के बाद पालों

---

१. देखिये, न० गो०, मजुमदार, इन्सक्रृप्शंस् ऑफ् बेंगाल, जि० ३, पृ० ७१-७२, ७६; एइ० जि० १४, पृ० १५९, श्लोक ३-४ ।

२. विजयसेन के बैरकपुर ताम्रपत्राभिलेख में (एइ०, जि० १५, पृ० २८४ और आगे) हेमन्तसेन को महाराजाधिराज कहा गया है ।

३. डॉ० हेमचन्द्र राय ने विजयसेन का शासनकाल १०९७ से ११५९ ई० तक निश्चित किया है । देखिए, डाहिनाइ०, जि० १, पृ० ३५३ ।

की अवनति का लाभ उठाकर विजयसेन ने धीरे-धीरे अपनी सत्ता पूर्व बंगाल और उत्तरी बंगाल के बहुत बड़े भाग पर स्थापित कर ली। यद्यपि हमें यह स्पष्टरूप से ज्ञात नहीं है कि उसने अपनी सैनिक और राजनीतिक सफलताएँ किस क्रम से अथवा किस प्रकार प्राप्त कीं, ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में उसने कलिंग के राजा **अनन्तवर्मा चोडगंग** से मित्रता स्थापित की। इस कारण वह **चोडगंगसखा** कहा जाता था। उसका यह कार्य राजनीतिक दृष्टि से इसलिए बुद्धिमानीपूर्ण था कि **अनन्तवर्मा** एक शक्तिशाली शासक था, जिसने अपनी सीमाएँ उत्तर में हुगली नदी के किनारे तक बढ़ा ली थीं। उसे प्रारम्भ में छेड़ना विजयसेन के लिए अपनी सत्ता-विस्तार में एक बहुत बड़ी बाधा सिद्ध हुई होती। उसके देवपाड़ा अभिलेख (एइ०, जि० १, पृ० ३०५ और आगे) में यह कहा गया है कि उसे नान्य, वीर, राघव और वर्धन नामक राजाओं के अतिरिक्त गौड, कामरूप और कलिंग के शासकों से युद्ध करना पड़ा। इन विभिन्न राजाओं की पहचान करते हुए डॉ० मजुमदार कहते[१] हैं कि इनमें 'वर्धन को कौशाम्बी के द्वोरघवर्धन से तथा वीर को कोटाटवी के वीरगुण से मिलाया जा सकता है, जो दोनों ही रामपाल के मित्र सरदार थे। दो विभिन्न श्लोकों में उल्लिखित राघव और कलिंगराज सम्भवतः एक ही व्यक्ति के नाम हैं। उस स्थिति में हमें उसकी पहचान **अनन्तवर्मा** चोडगंग के द्वितीय पुत्र से करनी होगी, जिसने ११५६ से ११७० ई० तक शासन किया ऐसा होने पर (विजयसेन के) इस आक्रमण का समय अवश्य ही उसके शासन का अन्तिम भाग रहा होगा'। इस सन्दर्भ का नान्य मिथिला का शासक नान्यदेव प्रतीत होता है, जो विजयसेन की ही तरह कर्णाट सरदार था और १०९७ ई० के आसपास मिथिला जीतकर उसे स्वाधिकृत कर लिया था। उसने भरत के **नाट्यसूत्र** पर एक टीका लिखी थी, जिसमें वह गौड और वंग के राजाओं को हराने का दावा[२] करता है। वहाँ वंग राजा का सन्दर्भ सम्भवतः विजयसेन के लिए ही है। ऐसी स्थिति में जब दोनों ही पक्ष अपनी-अपनी विजयों का दावा करते हैं, यह निष्कर्ष सही प्रतीत होता है कि उनमें परस्पर दो युद्ध हुए, जिनके दूसरे दौर में सम्भवतः विजयसेन ही सफल हुआ। इस निर्णय की पुष्टि आनन्दभट्टकृत **वल्लालचरित** (२७वाँ, श्लोक ५-८) से होती है, जहाँ यह स्पष्टतः कहा गया है कि वल्लालसेन ने अपने पिता विजयसेन की विजययात्राओं में भाग लिया था और मिथिला जीता था। किन्तु विजयसेन के कामरूप के राजा को पीछे ढकेल देने-वाले उल्लेख को बहुत महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिए। अधिक सम्भव यह प्रतीत होता है कि कामरूप के स्वतंत्र सरदार[३] वैद्यदेव से

१. पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २११-२१२।

२. देखिए, इहिक्वा०, जि० ७, पृ० ६७९ और आगे।

३. हेमचन्द्र राय ने (डाहिनाइ०, जि० १, पृ० २५९-६०) कामरूप के उस शासक

सीमाओं पर कहीं उसकी भिड़न्त हुई हो। आगे चलकर हम देखेंगे कि लक्ष्मणसेन ने भी कामरूप पर आक्रमण किया था।

गौडराज पर विजयसेन की विजय को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाना चाहिए। उसके देवपाड़ा अभिलेख में यह कहा गया है कि गौडराज उससे युद्ध न कर पराङ्मुख हो गया। भयभीत होकर भाग जाने वाला यह गौडराज पालशासक मदनपाल था। गौडों की इस पराङ्मुखता के परिणामस्वरूप उत्तरी बंगाल में पाल सत्ता ढीली पड़ने लगी और क्रमशः उसकी जगह सेन स्थापित होने लगे। लक्ष्मणसेन के कुछ अभिलेखों[१] से यह ज्ञात होता है कि उसने अपने पितामह विजयसेन के गौड और उत्कल पर किये गये अभियानों में कुमाररूप में भाग लिया था और उनपर होने वाली विजयों में उसका भी हाथ था। इससे एक अन्य बात यह प्रमाणित होती है कि विजयसेन द्वारा उड़ीसा पर किये गये आक्रमण की ही तरह पालों के विरुद्ध उसका अभियान भी उसके शासन की प्रायः अन्तिम घटना थी। विजयसेन की शक्ति का प्रारम्भिक केन्द्र और उसकी राजधानी पूर्वी बंगाल में विक्रमपुर थी, जहाँ उसकी रानी ने **कनकतुलापुरुषमहादान** नामक यज्ञ किया था। बाद में उसने पालों से उत्तरी और पश्चिमी बंगाल का बहुत बड़ा भाग छीन लिया। राजशाही के पश्चिम लगभग ७ मील की दूरी पर स्थित देवपाड़ा नामक स्थान से उसके दरबारी कवि उमापतिधर द्वारा विरचित उसका एक अभिलेख प्राप्त हुआ है। वह यह सूचित करता है कि विजयसेन ने वहाँ के पदुमसर (प्रद्युम्नसर) नामक तालाब के किनारे प्रद्युम्नेश्वर शिव का मन्दिर बनवाया। साथ ही, उससे यह भी ज्ञात होता है कि उसने **परमेश्वर, परमभट्टारक, महाराजाधिराज** एवं **अरिराजवृषभशंकर** जैसे गौरवसूचक विरुद धारण किये। उसकी राजनीतिक सफलताओं और अन्य उपलब्धियों से आकृष्ट होकर श्रीहर्ष ने भी **विजयप्रशस्ति** और **गौडोर्विशप्रशस्ति** नामक काव्यों की रचना की।[२] देवपाड़ा अभिलेख में उसकी इस बात के लिए प्रशंसा की गयी है कि उसने श्रोत्रिय ब्राह्मण और निर्धनों को प्रभूत दान दिये। धोयी कवि के **पवनदूत** नामक काव्य में वर्णित (पंचम, ३६) राजधानी विजयपुर सम्भवतः उसी ने बसायी थी। उसके अभिलेखों में प्रयुक्त उसकी उपाधियों और देवनमस्कारों से स्पष्ट है कि वह शिव का भक्त था।

की पहचान तिंग्यदेव से की, जिसका तेजपुर से प्राप्त होने वाला एक अभिलेख (एइ०, जि० ५, पृ० १८६) उसकी वंग राजा पर विजय का उल्लेख करता है। और देखिए, धी० चं० गांगुली, स्ट्रगल फॉर इम्पायर, पृ० ३७।

१. देखिए, माधाइनगर अभिलेख।

२. इस सम्बन्ध में देखिए, इण्डियन् कल्चर, जिल्द २, पृ० ५७८ और आगे।

वल्लालसेन (लगभग ११५९-११७९ ई०)

सन् ११५८-११५९ के आसपास विजयसेन की मृत्यु हो गयी और विलासदेवी से उत्पन्न उसका वल्लालसेन नामक पुत्र राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। उसका एक अभिलेख बर्दवान जिले के नैहट्टी नामक गाँव से प्राप्त हुआ (एइ०, जि० १४, पृ० १५६-१६३) है, जिससे उसके कम से कम ११ वर्षों तक शासन करने की बात ज्ञात होती है। वल्लालसेन की किसी विशेष सैनिक विजय की तो जानकारी नहीं होती, किन्तु यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसने विजयसेन से प्राप्त राजनीतिक विरासत को अक्षुण्ण बनाये रखा। इतना ही नहीं, पालों की सत्ता को अन्तिम रूप से समाप्तकर सेन सत्ता का प्रतिष्ठापन सम्भवतः उसी का कार्य प्रतीत होता है। उसने कदाचित् गोविन्दपाल को ११६२ ई० के आसपास युद्ध में हराकर बिहार पर अधिकार कर लिया और **गौडेश्वर** की वह उपाधि स्वयं धारण की, जो पाल शासक धारण किया करते थे। इसके संकेत **अद्भुतसागर** और **वल्लालचरित** नामक ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं[१]। बिहार पर उसके अधिकार की पुष्टि गंगा के किनारे स्थित कोलगांग नामक स्थान से प्राप्त एक अभिलेख (इहिक्वा०, जि० ३०, पृ० २११-२) से होती है। लक्ष्मणसेन के माधाइनगर ताम्रफलकाभिलेख से ज्ञात होता है कि वल्लालसेन ने किसी चालुक्य राजा (सम्भवतः द्वितीय **जगदेकमल्ल**) की पुत्री रामदेवी से विवाह किया। यह निश्चय ही उसकी राजनीतिक प्रतिष्ठा का द्योतक है। **वल्लालचरित** में उसके राज्यक्षेत्र के भीतर वंग, वारेन्द्र, राढ़ा, बागडी[२] और मिथिला की गिनती की गयी है। इनमें से प्रथम चार क्षेत्र उत्तरी, पश्चिमी और दक्षिणी बंगाल के बोधक हैं और मिथिला से उत्तरी बिहार का तात्पर्य है। पीछे हम देख चुके हैं कि विजयसेन ने मिथिला के शासक नान्यदेव पर सफल आक्रमण किया था। सम्भवतः वल्लालसेन ने भी उसमें भाग लिया था[३]। अतः उत्तरी बिहार पर उसके वास्तविक अधिकार की परम्पराओं में ऐतिहासिक सत्य के न होने का सन्देह नहीं किया जा सकता। उसने अपने पिता की तरह **परममाहेश्वर, परमभट्टारक, महाराजाधिराज** और **निःशंकशंकर** अथवा **अरिराजनिःशंकशंकर** की उपाधियाँ धारण कीं। उसी की तरह वह भी शैव था।

---

१. अद्भुतसागर नामक ग्रन्थ में उसकी भुजाओं को गौडराज को बाँधने के लिए स्तम्भ कहा गया है। दे० र० चं० मजुमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २१६ और २४१।

२. बागडी की पहचान के बारे में विद्वान् एकमत नहीं हैं। इस सम्बन्ध में देखिए, जएसो०, बेगांल, नयी अवली, जि० १२, पृ० ४९ और आगे; कनिंघम्, आसरि०, जि० १५, पृ० १४५-१४६।

३. लघुभारत में वल्लालसेन के मिथिला पर आक्रमण की चर्चा है। देखिए, जएसो० बेंगाल, जि० ५६, पृ० २६।

वल्लालसेन ने राजनीतिक क्रियाकलापों की अपेक्षा सांस्कृतिक विषयों में अधिक रुचि दिखायी। उसका नाम परम्परागतरूप में बंगाल के सामाजिक इतिहास से बहुशः जोड़ा जाता है। वहाँ की कुलपंजिकाओं से यह प्रकट है कि सर्वप्रथम उसी ने कान्यकुब्ज से उन अनेक ब्राह्मण परिवारों को बुलाकर बंगाल में बसाया, जो आगे चलकर यहाँ की **कुलीन** प्रथा के जनक हुए। वल्लालसेन स्वयं भी परिष्कृत बुद्धि का विद्वान्[१] था, जिसने १०९१ शकसंवत्=११६७-७० ई०, में **दानसागर** नामक ग्रन्थ की रचना की। इसके अतिरिक्त उसने ११६८-६९ ई० में **अद्भुतसागर** नामक एक दूसरा ग्रन्थ भी लिखना प्रारम्भ किया था, किन्तु उसे पूरा किये बिना ही उसने गृहस्थ जीवन त्यागकर त्रिवेणी संगम पर अपना अन्तिम समय बिताने का निश्चय कर लिया। इस ग्रन्थ की पूर्ति उसके पुत्र लक्ष्मणसेन ने की। उसका गुरु अनिरुद्ध अपनी विद्वता के लिए समस्त बंगाल में प्रसिद्ध (श्लाध्यः वारेन्द्रीतले) था, जिससे उसने स्वयं सभी पुराणों और स्मृतियों का अध्ययन (अधिगतसकलपुराणस्मृतिसारः) किया था। अनिरुद्ध ने अनेक ग्रन्थों की रचना की थी और यह असम्भव नहीं कि वल्लालसेन की साहित्यिक कृतियों में उसका भी कुछ योग रहा हो।

लक्ष्मणसेन (लगभग ११७९-१२०५ ई०)

वल्लालसेन ने अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में गद्दी को त्यागकर रानी रामदेवी से उत्पन्न पुत्र लक्ष्मणसेन को राज्याभिषिक्त कर दिया। किन्तु इस घटना के समय[२] के बारे में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। यदि मुसलमानी साक्ष्यों को स्वीकार किया जाय तो यह मानना होगा कि राज्यारोहण के समय लक्ष्मणसेन की अवस्था लगभग ६० वर्ष की थी। वह अपने वंश का सर्वाधिक प्रसिद्ध शासक प्रतीत होता है। उसके शासनकाल के कम-से-कम आठ अभिलेख (एक मूर्ति अभिलेख तथा सात ताम्रपत्राभिलेख) बंगाल के विभिन्न भागों से प्राप्त हुए हैं, जिनसे उसकी विजयों और सांस्कृतिक क्रियाकलापों की जानकारी होती है। उनमें उसे **अरिराजमदनशंकर** और **गौडेश्वर** की उपाधियों के अतिरिक्त **परमवैष्णव** की उपाधि दी गयी है। स्पष्ट है कि उसने अपने पिता और

---

१. विजयसेन के बैरकपर अभिलेख (श्लोक ८) में उसे 'बृहस्पति की बुद्धि का प्रिय प्रेमी' कहा गया है जो उसके प्रति मानों 'अत्यधिक काम से प्रेरित थी।' दे० जएसो०, बेंगाल, नयी अवली, पृ० ९७ और आगे।

२. डॉ० हेमचन्द्र राय (डाहिनाइ०, जि० १, पृ० ३६७) लक्ष्मणसेन का राज्यारोहण ११८५ ई० में रखते हैं, जबकि डॉ० र० चं० मजुमदार (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २१८) उसे ११७९ ई० में मानते हैं।

पितामह द्वारा मान्य शैवधर्म को त्यागकर वैष्णवधर्म अपना लिया था। उसके अभिलेख नारायण की स्तुति के साथ प्रारम्भ होते हैं।

लक्ष्मणसेन की विजयें

अपने पुत्र विश्वरूपसेन के मदनपाड़ा अभिलेख (न० गो० मजुमदार, इन्स्क्रिप्शन्स् ऑफ् बेंगाल, जि० ३, पृ० ११८-१३१) में वह **अश्वपति गजपति नरपति राजत्रयाधिपतिसेनकुलकमलविकासभास्करसोमवंशप्रदीप परमभट्टारक परम-सौरमहाराजाधिराज अरिराजमदनशंकर गौडेश्वर** जैसी लम्बी विरुदावली से विभूषित किया गया है। साथ ही यह भी कहा गया है कि उसने पुरी (भुवनेश्वर), काशी और त्रिवेणी संगम अर्थात् प्रयाग में विजयस्तम्भों की स्थापना की। स्पष्ट है कि अपने पुत्रों की दृष्टि में लक्ष्मणसेन एक महान् विजेता था, जिसकी सैनिक उपलब्धियाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थीं। स्वयं उसके अभिलेखों में भी उसकी विजयों के कुछ संकेत प्राप्त होते हैं। शासन के प्रारम्भिक वर्षों में सम्पूर्ण गौड, वंग और राढ़ पर उसके अधिकार की पुष्टि उसके प्रारम्भिक अभिलेखों से होती है। इनके अतिरिक्त, उसके शासन के २७वें वर्ष के भोवल अभिलेख और माधाइनगर अभिलेख (न० गो० मजुमदार, इन्स्क्रिप्शन्स् ऑफ् बेंगाल, जि० ३, पृ० १०६-११५) से बंगाल के बाहर भी उसकी विजयों की जानकारी होती है। तदनुसार, उसने गौड, कामरूप, काशी और कलिंग की विजयें[१] कीं। पीछे हम देख चुके हैं कि उसने अपने पितामह विजयसेन के साथ, या तो उसके नेतृत्त्व में अथवा उसकी ओर से स्वयं अपने सेनापतित्त्व में, कलिंग, पालराजाओं के क्षेत्र बिहार और कामरूप पर चढ़ाइयाँ की थीं। उससे पराजित होनेवाला पालराज मदनपाल रहा होगा। किन्तु प्रस्तुत प्रमाणों के आधार पर यह ठीक-ठीक बताना कठिन है कि कामरूप (असम) और कलिंग (उड़ीसा) पर उसने अपने शासनकाल में भी आक्रमण किया था या नहीं। हो सकता है कि पूर्व और दक्षिण के उन क्षेत्रों पर सेन सत्ता को अच्छी तरह स्थापित करने के लिए उसे दुबारा अभियान करने पड़े हों। काशी और

---

१. उमापतिधर नामक उसके एक राजदरबारी कवि ने भी किसी अनामांकित राजा की प्राग्ज्योतिष (कामरूप=असम) और काशी पर विजयों की चर्चा की है। दूसरे दरबारी कवि शरण ने गौड, कलिंग, कामरूप, काशी, मगध, चेदिराज और एक म्लेच्छराज पर होनेवाली उसकी विजयों का उल्लेख किया (जएसो०, बेंगाल, नयी अवली, जि० २, पृ० १७४) है। डॉ० र० चं० मजुमदार (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २१९ नोट ३ और पृ० २२१-२२) ने उस विजयी राजा को लक्ष्मणसेन ही माना है।

प्रयाग में उसके द्वारा विजयस्तम्भों की स्थापना का उल्लेख उसके किसी गाहडवाल राजा से संघर्ष में आने के साक्ष्यस्वरूप उपस्थित किया जाता है। मगध से पालों की सत्ता समाप्त करने में पश्चिम से गाहडवाल और पूर्व से सेन शासक क्रमश: गोविन्दचन्द्र और विजयसेन के समय से ही लगे हुए थे। ११८३ और ११९२ ई० के बीच गाहडवालों ने पटना और बोधगया के क्षेत्रों तक अपनी सीमाएँ विस्तृत कर लीं, जो जयच्चन्द्र के बोधगया से प्राप्त एक अभिलेख (इहिक्वा०, जि० ५, पृ० १४ और आगे) से प्रमाणित है। लक्ष्मणसेन के काशी तक पहुँच जाने के उल्लेख से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि उसने सम्पूर्ण मगध से गाहडवालों की सत्ता उखाड़ फेंकी और पारम्परिक पाल क्षेत्रों का स्थायी रूप से वास्तविक उत्तराधिकारी हो गया। तथ्य यह प्रतीत होता है कि उत्तर भारत पर मुसलमानी आक्रमणों की आँधी के भय से गाहडवाल जयच्चन्द्र कन्नौज के आसपास के अपने पैतृक क्षेत्रों की रक्षा के लिए ही सम्भवत: बहुत अधिक चिन्तित हो गया। परिणामत:, उसे मगध की रक्षा की फुरसत नहीं रही और मगध शासनरहित हो गया। शासनाभाव की इस स्थिति में लक्ष्मणसेन के लिए काशी तक पहुँच जाना बड़ा आसान सिद्ध हुआ होगा। तथापि बिहार के क्षेत्रों पर उसका अधिकार स्थायी नहीं साबित हुआ। किन्तु इस प्रश्न पर कुछ भी निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता कि बिहार पर उसकी अस्थायी सफलता किस गाहडवाल राजा के विरुद्ध थी अथवा किस समय प्राप्त हुई। इस विषय पर लिखने वाले विद्वान्[१] प्राय: यह मानते हैं कि उसका प्रतिद्वन्द्वी जयच्चन्द्र रहा होगा। इसमें सन्देह नहीं कि वह जयच्चन्द्र का समकालिक था। दोनों के एक अनिर्णायक संघर्ष की सूचना राजशेखरकृत **प्रबन्धकोश**[२] से मिलती है, जिसमें जयच्चन्द्र (जयन्तचन्द्र) की लक्ष्मणसेन के राज्य पर चढ़ाई बतायी गयी है। वहाँ के विवरणों से ज्ञात होता है कि इस आक्रमण का कोई परिणाम नहीं निकला। किन्तु इससे दोनों की शत्रुता तो ज्ञात होती ही है। असम्भव नहीं है कि पृथ्वीराज पर मुहम्मदगोरी की विजय (११९२ ई०) के परिणामस्वरूप जब जयच्चन्द्र को तराइन की लड़ाइयों में भाग न लेने की अपनी भूल समझ में आयी हो और स्वयं उसका राज्य विदेशी आक्रमण-कारियों की कुदृष्टि का शिकार हुआ हो तो मगध की रक्षा करने की उसकी शक्ति और साधन समाप्त हो गये हों तथा लक्ष्मणसेन के लिए सारा मैदान खाली मिला हो[३]। यह भी

---

१. देखिए, र० चं० मजुमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २२०-२२१, धी० चं० गांगुली, दि स्ट्रगल फॉर इम्पायर, पृ० ३८।

२. सिंधी जैन ग्रन्थमाला प्रकाशन, भाग १, पृ० ८८-९०।

३. इख्तियारुद्दीन मुहम्मद-इब्न्-बख्तियार के ११९३ में बिहार पर आक्रमण और अधिकार की बात मुसलमानी इतिहासकार बताते हैं। देखिए, मिनहाजुद्दीन, तब-

असम्भव नहीं है कि लक्ष्मणसेन ने चन्दावर के युद्ध में जयच्चन्द्र के मारे जाने के बाद काशी तक के क्षेत्रों को अपने अधिकार में कर लिया हो। तथापि प्रयाग (त्रिवेणी संगम) पर उसके अधिकार की जो चर्चा उसके पुत्रों के अभिलेखों में मिलती है, वह अतिरंजित प्रतीत होती है। स्वयं लक्ष्मणसेन के विजयसम्बन्धी उल्लेखों में वैसा कोई वर्णन नहीं मिलता।

सेन राज्य का विश्रृंखलन

लक्ष्मणसेन की अनेक विशेषताओं को आँख से ओझल न करते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता है कि 'उसके अधीन रहते हुए बंगाल ने उत्तर भारतीय राजनीति में महत्त्वपूर्ण भाग लिया।'[1] यह विश्वास लक्ष्मणसेन की गाहडवाल राजा जयच्चन्द्र पर कल्पित विजय पर आधृत है। ऊपर हम देख चुके हैं कि उसका कोई आधार नहीं है। वास्तव में उस समय उत्तर भारतीय राजनीति की सर्वप्रमुख समस्या थी मुसलमानी आक्रमणों की विभीषिका। उसका मुकाबला करने की आवश्यकता ११वीं शती के प्रारम्भ में न तो महीपाल (पालराजा) ने समझी और न १२वीं शती के अन्त में लक्ष्मणसेन के वश की ही वह बात थी। बख्तियार खलजी द्वारा लखनौती पर आक्रमण (१२०२ ई०) के पूर्व (११९८ ई० में) लक्ष्मणसेन अपने राज्य का खाड़ी (आधुनिक सुन्दरवन) नामक प्रमुख मण्डल खो चुका था, जहाँ डोम्मणपाल ने एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना कर ली थी[2]। इसके अतिरिक्त मेघना नदी के पूर्व वाले क्षेत्रों पर देव नामक एक अन्य वंश ने स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया था। सेन राज्य का यह विश्रृंखलन कदाचित् लक्ष्मणसेन की वृद्धावस्था[3] की शिथिलता का परिणाम था। किन्तु उसकी वृद्धावस्था ही अकेला कारण नहीं हो सकती। उसका प्रशासन ढीला हो चुका था और राज्य की सुदृढ़ता को बनाये रखने की उसकी शक्ति समाप्त हो चुकी थी, जिसके पूरे प्रमाण बख्तियार खलजी के आक्रमण के समय हमें मिलते हैं।

बख्तियार खलजी का आक्रमण

११९३ ई० में मगध के बिहार नामक नगर को ध्वस्तकर बख्तियार खलजी जब कुतुबुद्दीन ऐबक के सम्मुख उपस्थित हुआ तो उसे बहुत बड़े आदर और सत्कार के साथ

काते-नासिरी का रैवर्टी कृत अंग्रेजी अनुवाद, जिल्द १, पृ० ५४८-५५२।

१. र० चं० मजुदार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २२२।

२. देखिए, इहिक्वा०, जि० १०, पृ० ३२१ और आगे।

३. मुसलमान इतिहासकारों के अनुसार बख्तियार खलजी के आक्रमण के समय (१२०२ ई० में) लक्ष्मणसेन की अवस्था ८० वर्षों की थी।

लखनौती भी जीतने की आज्ञा मिली[1]। मिनहाजुद्दीन ने अपने **तबकाते-नासिरी** में बख्तियार द्वारा नदिया-लखनौती की विजय का जो विवरण[2] दिया है, वह बहुश: अति-रंजित होते हुए भी अन्य साक्ष्यों के अभाव में विद्वानों द्वारा प्राय: स्वीकृत किया जा चुका है। तदनुसार, बिहार पर आक्रमण के समय तुर्कों की नृशंसता और नरसंहार का वृत्तान्त सुनकर लक्ष्मणसेन के ज्योतिषी, दरबारी एवं परामर्शदाता अत्यन्त भयभीत होकर बंगाल पर भी उसके आक्रमण की आशंका करने लगे। उन्होंने लक्ष्मणसेन को राज्य छोड़कर भाग जाने की सलाह दी, किन्तु उस वृद्ध राजा ने अधिकांश लोगों, विशेषत: ब्राह्मणों, के वहाँ से भागकर वंग (दक्षिणी बंगाल) और कामरूप चले जाने पर भी अपना राज्यक्षेत्र नहीं छोड़ा। बख्तियार ने इतनी तेजी से सेन क्षेत्रों पर धावा किया कि उसकी सेना का मुख्य भाग उससे बहुत पीछे छूट गया और लक्ष्मणसेन (मुसलमान लेखकों का राय लखमनिया) की राजधानी नदिया[3] पहुँचते-पहुँचते उसके साथ केवल १८ घुड़सवार बच रहे। सभी लोगों ने यह समझा कि वह घोड़ों को बेंचनेवाला कोई सौदागर है। यद्यपि वहाँ उसने अपनी गति थोड़ी धीमी कर दी, तथापि नि:शंक होकर वह राजा के महल में घुस गया। तब तक उसके २९० अन्य सैनिक भी उसके साथ आ चुके थे। राजमहल में भगदड़ और हल्ला मच जाने पर जब राजा को वास्तविक वस्तुस्थिति का पता लगा तो उसके सामने भागकर प्राण बचाने के सिवा अन्य कोई चारा नहीं रहा। उस समय वह दोपहर का भोजन कर रहा था, जिसे छोड़कर नंगे पाँव वह राजमहल के पिछले द्वार से भागा और वंग (दक्षिणी-पूर्वी बंगाल) चला गया[4]। मिनहाज के इस विवरण का आधार उसके समय मुसलमानों में प्रचलित अनुश्रुतियाँ मात्र थीं और यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उसमें कितनी सत्यता है। किन्तु उसके आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि लक्ष्मणसेन ने प्रारम्भ में ही राज्य छोड़कर भाग जाने की सलाह तो

---

१. तबकाते-अकबरी का बिब्लियोथिका इण्डिका से प्रकाशित अंग्रेजी अनुवाद, पृ० ५०।

२. इस सम्बन्ध में देखिए, इहिक्वा०, जि० १७, पृ० ९२ और आगे; तबकाते-नासिरी का रैवर्टीकृत अंग्रेजी अनुवाद जिल्द १, पृ० ५५४ और आगे।

३. कलकत्ता से लगभग ६० मील उत्तर की ओर भागीरथी नदी के किनारे बसा हुआ नदिया आज भी एक जिले का प्रधान नगर है, जहाँ प्राचीनकाल में एक बहुत बड़ा विश्वविद्यालय था।

४. बंग में लक्ष्मणसेन ने कहाँ से शासन किया, इस विषय पर कुछ भ्रमात्मक बातें मिलती हैं। सेन लोग सम्भवत: अपनी पुरानी राजधानी विक्रमपुर में पुन: रहने लगे।

नहीं मानी, उसकी रक्षा का भी उसने कोई उपाय नहीं किया। यह बड़ा आश्चर्यजनक प्रतीत होता है कि बख्तियार की १८ घुड़सवारों की अगली टुकड़ी को बिना किसी रोकटोक के नगर अथवा राजमहल में प्रवेश करने से किसी ने रोका नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि सेन राजदरबार में तुर्कों के नाममात्र से अत्यधिक भय व्याप्त हो गया था तथा राजा अपनी वृद्धावस्था और ढीले प्रशासन के कारण अपने अनुयायियों में कोई उत्साह न संचारित कर सका। परिणामतः, नदिया और उसके साथ सारा उत्तरी बंगाल आक्रमणकारियों के सामने मानों पके फल की तरह चू गया।

लक्ष्मणसेन का राजदरबार

भयाक्रांत लक्ष्मणसेन की तुर्क आक्रमणकारियों के सामने दुर्गति तो हुई, किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से उसका समय महत्त्वपूर्ण था। मिनहाजुद्दीन उसे 'बंगाल का एक बहुत बड़ा राय' (राजा) कहता है[१], 'जिसके वंश को हिन्द के अन्य राय (राजा) बहुत अधिक महत्त्व देते थे तथा वंशावतरण की दृष्टि से उसे मानों खलीफा समझते थे।' वह पुनः कहता है कि 'राय लखमनिया (लक्ष्मणसेन) के हाथों अत्याचार तो कभी हुआ ही नहीं' तथा 'वह अपनी दानशीलता के लिए प्रसिद्ध था।' स्पष्ट है कि लक्ष्मणसेन की उदारता, गुणों और प्रसिद्धि की सूचनाएँ उसके समय के मुसलमानों को भी थीं। राज-शेखर अपने **प्रबन्धकोश** में लक्ष्मणसेन की प्रशंसा करता हुआ कहता है कि वह बड़ा 'प्रतापी और न्यायी' था तथा उसके पास 'विपुल राज्य और अपार सेना[२]' थी। विद्वान् लेखकों और कवियों को आदर और राज्याश्रय देना उसकी सबसे बड़ी विशेषता थी। विजयसेन की देवपाड़ा प्रशस्ति का लेखक उमापतिधर उसके समय तक जीवित था। **गीतगोविन्द** के प्रसिद्ध रचयिता जयदेव के भी उसके दरबार में होने की बात कही जाती है। **पवनदूत** के लेखक धोयी, **ब्राह्मणसर्वस्व** के कर्त्ता हलायुध और **सदुक्तिकर्णामृत** के सकंलक श्रीधरदास साहित्यिक क्षेत्र में उसके समय के प्रकाशमान तारे थे, जिन्हें उसकी कृपाएँ प्राप्त थीं। श्रीधरदास उसका **महामाण्डलिक** कहा गया है और उसका पिता वटुदास **महासामन्त चूड़ामणि** के विशेषण से अलंकृत है। स्पष्ट है कि वे दोनों लक्ष्मणसेन के प्रशासन से भी सम्बद्ध थे। इसी प्रकार हलायुध ने प्रधान न्यायाधीश और मुख्यमन्त्री का पद सुशोभित किया था। शरण और गोवर्धन नामक दो अन्य कवियों को भी उसका राज्याश्रय प्राप्त था। इन अनेक लेखकों और कवियों को राज्याश्रय देने मात्र तक लक्ष्मणसेन की विशेषताएँ सीमित नहीं थीं। वह स्वयं भी उच्चकोटि का विद्वान् और कवि था। उसकी अनेक कविताएँ श्रीधरदास ने अपने **सदुक्तिकर्णामृत** में संकलित की

---

१. तबकाते-नासिरी, रैवर्टी का अंग्रेजी अनुवाद, जिल्द १, पृ० ५५४।

२. सिंधी जैन ग्रन्थमाला प्रकाशन, भाग १, पृ० ८८।

थीं। लक्ष्मणसेन ने अपने पिता बल्लालसेन द्वारा अधूरे छोड़े हुए खगोलशास्त्र से सम्बन्धित **अद्भुतसागर** नामक ग्रन्थ की पूर्ति की, जो उसके वैदुष्य का ज्वलन्त उदाहरण है।

लक्ष्मणसेन के उत्तराधिकारी

नदिया पर १२०२ ई० में बख्तियार खलजी के आक्रमण के साथ लक्ष्मणसेन अथवा उसके वंश की समाप्ति नहीं हो गयी। उसके बाद कम-से-कम तीन-चार वर्षों तक वह स्वयं बंग अर्थात् दक्षिण-पूर्वी बंगाल में लखनौती से शासन करता रहा। विद्वानों की यह मान्यता है कि उसने १२०५-६ ई० के आसपास अपने शासन के २७वें वर्ष में भोवल ताम्रपत्राभिलेख प्रकाशित किया था, जिसमें ढाका जिले के भोवल परगना में उसके भूमिदान का विवरण प्राप्त होता है। **सदुक्तिकर्णामृत** के एक स्थल से ज्ञात होता है कि उसकी मृत्यु १२०५ ई० में हुई[१]। उसके बाद क्रमशः विश्वरूपसेन और केशवसेन नामक उसके दो पुत्रों ने दक्षिण और पूर्वी बंगाल पर लगभग २०-२५ वर्षों तक शासन किया, जहाँ से उनके कम-से-कम तीन अभिलेख प्राप्त हुए हैं[२]। यद्यपि उन अभिलेखों में उन्हें परम्परागत रूप में सभी साम्राज्यसूचक विरुद किये गये हैं, उनके सम्बन्ध में किसी निश्चित राजनीतिक तथ्य की जानकारी नहीं होती। मिनहाजुद्दीन कहता है कि ६५८ हि०=१२६० ई० में जब उसने **तबकाते-नासिरी** की रचना पूर्ण की तब भी लक्ष्मणसेन के वंशजों का शासन उन प्रदेशों पर स्थापित था।

❁❁❁

---

१. देखिए, इहिक्वा०, जि० ३, पृ० १८८।

२. देखिए न० गो० मजुमदार, इन्स्कृप्शन्स् ऑफ् बेंगाल, जिल्द ३ पृ० ११८ और आगे, पृ० ३१२ और आगे; पृ० १४० और आगे।

१२

कामरूप

भौगोलिक स्थिति

आजकल के असम[१] राज्य के अत्यन्त प्राचीन नाम प्राग्ज्योतिष और कामरूप थे, जिनके उल्लेख **रामायण, महाभारत, रघुवंश** और पुराणों में मिलते हैं । प्राग्ज्योतिष नाम का व्यवहार सम्भवत: उस नाम के राज्य की राजधानी (पुर) के लिए भी होता था । यद्यपि तैथिक क्रम की दृष्टि से प्राग्ज्योतिष कामरूप की अपेक्षा पुराना नाम प्रतीत होता है, इन दोनों नामों का व्यवहार बहुत दिनों तक एक दूसरे के पर्यायवाची रूप में होता रहा । किन्तु आगे चलकर कामरूप नाम ही अधिक प्रचलित हुआ । कुछ के मत में कालिदास ने कामरूप का उल्लेख कदाचित् उस नाम के राज्य एवं प्राग्ज्योतिष का प्रयोग उसकी राजधानी के लिए किया है[२] । प्रयाग स्तम्भ अभिलेख[३] में समुद्रगुप्त के साम्राज्य की सीमा पर स्थित समतट, दवाक, कर्त्तृपुर और नेपाल की तरह कामरूप भी एक प्रत्यन्त राज्य बताया गया है, जो उसकी अधिसत्ता स्वीकार कर **सर्वकरदान आज्ञाकरण** और **प्रणामागमन** आदि अधीनता की सूचक शर्तें मानता था । श्वान्-च्वांग्[४] कहता है

---

१. कामरूप का आधुनिक नाम असम अथवा आसाम अपेक्षाकृत बहुत बाद में प्रचलित हुआ और अहोमों के शासन के पूर्व इसका प्रयोग नहीं मिलता । इस नाम की व्युत्पत्ति भी बहुत निश्चित नहीं है । कभी-कभी असम की व्युत्पत्ति दक्षिणी बंगाल की बराबर भूमि (समतल) की तुलना में उँची-नीची भूमि (असम) से की जाती है । दूसरी व्युत्पत्ति यह है कि असम नाम वहाँ रहनेवाली अहोम नामक जाति के नाम से निकला, जो स्वयं वहाँ की मंगोल जाति शन् अथवा सम् या श्यम् से निकला हुआ है । देखिए, गेट, हिस्ट्री ऑफ् असम, परिशिष्ट जी' ।

२. देखिए, रा० गो० बसाक, हिस्ट्री ऑफ् नार्थ ईष्ट इण्डिया, पृ० २१०; प्राग्ज्योतिष की पहचान गोहाटी नगर से २ मील दक्षिण की ओर स्थित दिसपुर नामक गाँव से की गयी है । दिसपुर असम राज्य की अब नयी राजधानी हो गयी है । देखिए क० ला० बरुआ,, अर्ली हिस्ट्री ऑफ् कामरूप, पृ० १२-१३ ।

३. कार्पस्, जिल्द ३, भाग १, पृ० २०-२१ ।

४. वाटर्स् जिल्द २, पृ० १८४-१८७ ।

कि पु-न-फ-ट-न अर्थात् पुण्ड्रवर्धन से ९०० 'ली' पूर्व की ओर चलने पर कोलो-नु अर्थात् करतोया नामक एक बड़ी नदी को पारकर वह क-लु-पो अर्थात् कामरूप राज्य में पहुँचा था। अल्बीरूनी जैसे मुसलमानी इतिहासकार भी असम को कामूल अर्थात् कामरूप नाम से ही पुकारते हैं[1]। यद्यपि **वृहत्संहिता, हर्षचरित** और **काव्यमीमाँसा** जैसे इस युग के कुछ साहित्यिक ग्रन्थों में कहीं-कहीं प्राग्ज्योतिष नाम का प्रयोग दिखायी देता है, ऐतिहासिक उल्लेखों में कामरूप नाम का ही अधिकाधिक प्रयोग मिलता है। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आधुनिक असम गुप्त युग के पूर्व प्रायः प्राग्ज्योतिष कहा जाता था, किन्तु उसके बाद वह मुख्यतः कामरूप कहा जाने लगा।

प्राचीन प्राग्ज्योतिष की भौगोलिक सीमाएँ बहुत विस्तृत बतायी गयी हैं। ये उत्तर में भूटान की पहाड़ियों, दक्षिण में समुद्र (जो उस समय बहुत ऊपर तक फैला हुआ था), पश्चिम में नेपाल और बिहार के मिथिला प्रदेश (कौशिक=कोसी नदी) और पूर्व में दीखू नदी के दूसरे पार तक फैली हुई थी[2]। **रामायण, महाभारत** और पुराणों के साक्ष्य के आधार पर कुछ विद्वानों ने निश्चय किया[3] है कि असम के पहाड़ी और मैदानी भागों के अतिरिक्त आधुनिक उत्तरी बंगाल और बंगालदेश के बहुत बड़े भाग भी प्राचीन कामरूप राज्य में सम्मिलित थे। किन्तु श्वान्-च्वांग् कहता है कि सातवीं शती के आसपास कामरूप की पश्चिमी सीमा केवल करतोया नदी तक फैली हुई थी, जो पुण्ड्र-वर्धन की पूर्वी सीमा थी। **योगिनीतन्त्र**[4] नामक एक मध्यकालीन ग्रन्थ के अनुसार कामरूप के पूर्व में दीखू (दिक्षु) नदी, पश्चिम में करतोया नदी, उत्तर में कुंजगिरि की पहाड़ी और दक्षिण में लाक्ष्या और ब्रह्मपुत्र नदियों का संगमस्थल पड़ता था। इससे यह प्रतीत होता है कि मध्ययुग में भी कामरूप की सीमाओं के भीतर असम की सम्पूर्ण घाटी, उत्तरी और पूर्वी बंगाल के कुछ भाग, भूटान के कुछ भागों सहित खासी ओर गारों की पहाड़ियाँ और सिलहट का उत्तरी भाग सम्मिलित माना जाता था। किन्तु ऐसा प्रतीत होता

---

१. अल्बीरूनी'ज इण्डिया, पृ० २०१।

२. देखिए, क० ला० बरुआ, अर्ली हिस्ट्री ऑफ् कामरूप, पृ० १ और आगे।

३. पार्जिटर, जएसो०, बेंगाल, १८९७, पृ० १०६; गेट, हिस्ट्री ऑफ् असम, १९६३ पृ० १०-११।

४. उत्तरस्यां कुंजगिरिः करतोया तु पश्चिमे।
तीर्थश्रेष्ठा दिक्षुनदी पूर्वस्यां गिरिकन्यके।।
ब्रह्म ब्रह्मापुत्रस्य लाक्षायाः संगमावधि।
कामरूप इति ख्यातः सर्वशास्त्रेषु निश्चितः।। योगिनीतंत्र, ११वां पटल।

है कि ये विस्तृत भूभाग कामरूप की राजनीतिक सीमा के भीतर न होकर केवल उसकी सांस्कृतिक सीमा के द्योतक थे।

भास्करवर्मा (लगभग ६३०-६५० ई०)

भास्करवर्मन् अथवा भास्करवर्मा अपने वंश का अन्तिम शक्तिशाली शासक हुआ। उस वंश की स्थापना गुप्त साम्राज्य के विकास के प्रारम्भिक वर्षों (चौथी शती के प्रथमार्ध) में पुष्यवर्मा ने की थी। वंश के अभिलेखों में उसे नरक और उसके पुत्र भगदत्त से जोड़ा गया है और कहा गया है कि भगदत्त के तीन हजार वर्षों बाद इसी वंश में पुष्यवर्मा हुआ। नरक और उसके वंशजों को **महाभारत** (शान्ति०, ७५, १) और पुराणों में असुर कहा गया है। किन्तु श्वान्-च्वांग् भास्करवर्मा को ब्राह्मण कहता है (बील, सुशीलगुप्त, चतुर्थ, पृ० ४०४)। सम्भवतः ब्राह्मणधर्म मानने के कारण ही उसे ब्राह्मण कहा गया है। स्मिथ महोदय इस वंश को हिन्दू धर्म में दीक्षित कच नामक आदिवासियों से उदभूत मानते हैं[1]।

भास्करवर्मा के पूर्व पुष्यवर्मा के १० अथवा ११ उत्तराधिकारी कामरूप राज्य पर शासन कर चुके थे। उनकी वंशावली भास्करवर्मा के सिलहट जिले के पंछखण्ड क्षेत्र में स्थित निधानपुर नामक ग्राम से प्राप्त ताम्रफलकाभिलेख से; उसी राजा की खण्डित नालन्दामुद्रा (जबिओरिसो०, १९१९, पृ० ३०१ और १९२०, पृ० १५१-१५२) से और बाणभट्ट के **हर्षचरित** से ज्ञात होती है। किन्तु हम भास्करवर्मा के पूर्व के राजाओं की चर्चा इस पुस्तक की योजना के भीतर उनके न आने के कारण नहीं करेंगे।

भास्करवर्मा **श्रीमृगांक** सुस्थितवर्मा का उसकी रानी श्यामलक्ष्मी अथवा श्यामादेवी से उत्पन्न द्वितीय पुत्र था। उसका बड़ा भाई सुप्रतिष्ठितवर्मा था, जिसकी प्रशंसा में निधानपुर अभिलेख में यह कहा गया है कि 'विद्वज्जनों से घिरा हुआ तथा रणगजों वाली साधनसम्पन्न सेना से युक्त' उसका उदय दूसरों की भलाई के लिए ही हुआ था। विद्वानों में इस बात पर परस्पर विरोध है कि उसने अपने पिता की मृत्यु के बाद वास्तविक राजा के रूप में शासन किया या नहीं। किन्तु इतना निश्चित प्रतीत होता है कि या तो अपनी युवराजावस्था में अथवा गद्दी धारण करने के बाद उसने प्रशासन सम्बन्धी अनेक सुधार किये, जिनमें सेना का पुनर्संगठन सर्वप्रमुख था। शशांक के इतिहास के सिलसिले में पीछे हम देख[2] चुके हैं कि सुप्रतिष्ठितवर्मा और भास्करवर्मा ने अपने कौमार्यकाल में ही अपनी वीरता का परिचय देते हुए शशांक के असम पर होनेवाले

---

१. देखिए हेमचन्द्र राय, डाहिनाइ०, जिल्द १, पृ० २४० पर उद्धृत।

२. देखिये पीछे पृ० ९८-९९।

आक्रमण को असफल सिद्ध कर दिया था[१] । भास्करवर्मा के पिता सुस्थितवर्मा के समय कामरूप पर मगधराज महासेनगुप्त ने भी आक्रमण किया था और उसमें सुस्थितवर्मा की लौहित्य नदी के किनारे पराजय[२] हुई थी । किन्तु बाद में सुप्रतिष्ठितवर्मा का सैन्यसंगठन अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण हो गया और शशांक की आक्रमणकारी सेनाओं का पीछे ढकेल दिया जाना निश्चय ही कामरूप राज्य की एक विशेष उपलब्धि थी । गद्दी धारण करते समय भास्करवर्मा को एक शक्तिशाली सेना (विशेषत: गजसेना, जो असम की प्राकृतिक अवस्थाओं के कारण सेना का सर्वोत्तम अंग रही होगी) और सुसंगठित प्रशासन प्राप्त हुआ[३] ।

राज्याभिषेक का समय

भास्करवर्मा ने कब गद्दी धारण की, इसका ठीक-ठीक निश्चय नहीं किया जा सकता । किन्तु इस सम्बन्ध में कुछ अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि शशांक उसके गद्दी धारण करने के पूर्व ही मध्य और उत्तरी बंगाल में एक स्वतन्त्र सत्ता के रूप में स्थापित हो चुका था । उसने सुप्रतिष्ठितवर्मा और भास्करवर्मा के कुमार होने की अवस्था में ही कामरूप के पश्चिमी भागों पर आक्रमण किया था, जिसे उन दोनों ने असफल कर दिया था । बाणभट्ट का कथन है कि (६०५-६०६ ई० में) राज्यवर्धन की शशांक द्वारा हत्या के परिणामस्वरूप जब हर्षवर्धन थानेश्वर राज्य का स्वामी बना और भाई के वध का बदला लेने एवं दिग्विजय करने चला तो उसकी यात्रा के प्रारम्भ में ही भास्करवर्मा का दूत हंसवेग अपने स्वामी की हर्ष से स्थायी मित्रता के प्रस्ताव के साथ

---

१. देखिए, दूबी ताम्रपत्राभिलेख, जर्नल् ऑफ् असम रिसर्च सोसायटी, जिल्द १२, भाग १ और २, पृ० १६ ।

२. इस पराजय का अप्रत्यक्ष उल्लेख भास्करवर्मा के निधानपुर अभिलेख में भी प्राप्त होता है, जहाँ यह कहा गया है कि सुस्थितवर्मा ने, पृथ्वी की तरह अपनी राज्य-लक्ष्मी भी याजकों को दे दी' । एइ० जि० १२, पृ० ७४ और ७७ श्लोक ३९; और देखिए, कार्पस्, तृतीय; पृ० २०२-२०३ ।

३. रा० गो० बसाक (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २१७) ने निधानपुर अभिलेख के २१वें श्लोक के 'यस्योन्नतिः परार्थी' का यह अर्थ लगाया है कि उस (सुप्रतिष्ठितवर्मा) की उन्नति अर्थात् सुधारों का लाभ उसके 'पर' अर्थात् शत्रु (मगध के विजयी शासक महासेनगुप्त) को मिला । किन्तु यह ठीक नहीं प्रतीत होता । इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि महासेनगुप्त कामरूप पर विजय प्राप्त करके या तो उसे अपने प्रत्यक्ष अधिकार में कर सका था अथवा सुस्थितवर्मा और सुप्रतिष्ठितवर्मा को अपना सामन्त बना सका था ।

उपस्थित हुआ । इससे यह निश्चय किया जा सकता है कि भास्करवर्मा ने ६०० और ६०६ ई० के बीच कभी गद्दी ग्रहण की होगी । हम उसके शासनकाल का प्रारम्भिक वर्ष ६०३-४ ई० स्वीकार कर सकते हैं ।

शशांक के विरुद्ध हर्ष से मित्रता

भास्करवर्मा के इतिहास की जानकारी के लिए हमारे पास प्रधानतः तीन ही साधन है—बाणभट्ट का **हर्षचरित**, श्वान्-च्वांग् के विवरण और निधानपुर से प्राप्त होने वाला उसका अथैतिक ताम्रपत्राभिलेख । किन्तु इनसे हमें जो सूचनाएँ मिलती हैं, वे अलग-अलग एक दूसरे की पूरक होते हुए भी एकांगी हैं । तिब्बत और नेपाल के इतिहास के सिलसिले में भी उसकी चर्चाएँ आती हैं, जो उसके जीवन के अन्तिम भाग से सम्बद्ध हैं । हम पीछे देख चुके हैं कि भास्करवर्मा की सर्वप्रथम और कदाचित् सर्वप्रधान चिन्ता का कारण शशांक की महत्त्वाकांक्षी शत्रुता थी । बंगाल की ओर से होने वाले आक्रमण का उसे सदा भय था । उस स्थिति में उसे एक शक्तिशाली और स्थायी मित्र की आवश्यकता थी । संयोगवश शशांक ने अपनी सत्ता के विस्तार के सिलसिले में कन्नौजराज ग्रहवर्मा के हत्यारे देवगुप्त से मित्रता कर तथा राज्यवर्धन का छलपूर्वक वधकर थानेश्वर राज्य को अपना शत्रु बना लिया । भास्करवर्मा को इससे बढ़कर अन्य कोई सुअवसर नहीं मिल सकता था और प्राचीन राजनीतिक विचारकों के अन्तरराज्यीय नीति सम्बन्धी विचारों के ठीक अनुरूप उसने अपने अरि शशांक के अरि हर्षवर्धन को मित्र बना लेने में देर नहीं की । इस सम्बन्ध का विवरण बाणभट्ट अपने **हर्षचरित** में देता है । तदनुसार, दिग्विजय और पृथ्वी को निर्गौड कर देने की प्रतिज्ञाकर जब हर्ष एक विशाल सेना के साथ दिग्विजय के लिए चला तो उसकी यात्रा के प्रथम दिन के अन्त में ही उसकी राजधानी थानेश्वर से थोड़ी दूर सरस्वती नदी के किनारे भास्करवर्मा का दूत हंसवेग अनेक उपहारों सहित अपने स्वामी का सन्देश लेकर उसके सामने उपस्थित हुआ । अपने दौत्य का उद्देश्य बताते हुए उसने हर्ष से कहा कि 'इस राजकुमार (भास्करवर्मा) का बचपन से ही यह दृढ़ निश्चय रहा है कि वह शिव के चरणकमलों को छोड़कर अन्य किसी के सामने अपना सिर नहीं झुकायेगा । इस त्रिभुवन में इस कठिन व्रत का पालन तीन में किसी एक उपाय से ही सम्भव हो सकता है—या तो सम्पूर्ण पृथ्वी की विजय से अथवा मृत्यु से अथवा आप जैसे मित्र की प्राप्ति से[१] ।' पुनः 'राजाओं की मित्रताएँ भी सप्रयोजन

---

१. 'अयमस्य शैशवादारभ्य संकल्पः स्थेयान् स्थाणुपदारविन्दद्वयादृते नादृमन्यं नमस्कुर्यामिति । ईदृशस्त्वयं मनोरथस्त्रिभुवनदुर्लभस्त्रयाणामन्यतमेन सम्पद्यते, सकलभुवनविजयेन वा, मृत्युना वा, यदि वा प्रचण्डप्रतापज्वलनदिग्दाहैन जगत्येकवीरेण देवोपमेन मित्रेण', हर्षचरित, सप्तम उच्छ्वास ।

ही हुआ करती हैं। किन्तु आप महामहिम का कौन सा प्रयोजन हो सकता है ? धन की प्राप्ति तो आपके लिए दूर की ही बात हो सकती है, क्योंकि आपका उद्देश्य यश प्राप्त करना है। जो अपनी बाहुओं पर ही भरोसा करता है, उसे दूसरे की सहायता की अपेक्षा नहीं होती, उसमें भी किसी अपरिचित की।—प्राग्ज्योतिष का राजा आपसे अक्षय मित्रता (अजर्य्य संगतम्) की कामना करता है—यदि आपका हृदय भी मित्रता की ओर उन्मुख हो और यदि आप ऐसा समझते हों कि मित्रता के नाम पर मित्र वास्तव में एक दूसरे की दासता के बन्धन में ही अपने को डालते हैं तो इत्यलम्। मुझे यह कहने की आज्ञा दीजिए कि प्राग्ज्योतिष के राजा का हृदय आपके हृदय से वैसे ही मिले जैसे मंदार ने विष्णु भगवान् के हृदय को प्राप्त किया था[१]।' हंसवेग के मुख द्वारा बाणभट्ट के उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि भाष्करवर्मा ने हर्ष को यह कहलाया कि उन दोनों की मित्रता का स्पष्ट उद्देश्य पारस्परिक लाभ था। शशांक की बढ़ती हुई शक्ति को रोकना उस मित्रता का प्रयोजन था। मित्रता की इस सन्धि में भास्करवर्मा को न तो हर्ष को अपना अधिराज मानना पड़ा और न किसी अन्य प्रकार की हीनता ही स्वीकार करनी पड़ी, जो हर्ष के उत्तर से स्पष्ट है। हर्ष ने कहा कि भास्करवर्मा 'स्वयं शक्तिशाली भुजाओं वाला है और मुझ जैसे धनुष के पुजारी को मित्ररूप में पाकर वह शिव के अतिरिक्त और किसके सामने अपना सिर झुका सकता है। उसके (मित्रता सम्बन्धी) निश्चय से मेरा उसके प्रति झुकाव बढ़ गया है। हृदय सिंह जैसे हिंस्र पशु के भी स्वाभिमान का आदर करता[२] है'। इस उत्तर से यह भी झलकता है कि हर्ष ने भास्करवर्मा को शशांक से बिल्कुल निर्भय रहने का आश्वासन दिया। रायबहादुर क० ला० बरुआ[३] के मत में उन दोनों की यह मित्रता प्रतिरक्षात्मक और आक्रमणात्मक दोनों ही थी। हर्ष स्वयं कामरूप के राजा को अपना 'परोक्ष सुहृत्' मानता था।

कर्णसुवर्ण पर अधिकार

किन्तु इस सन्धि का कोई तात्कालिक परिणाम हुआ या नहीं, इस पर विद्वानों में मतभेद है। कुछ[४] के मत में हर्ष और भास्करवर्मा ने तुरन्त क्रमशः पश्चिम और पूर्व की

---

१. कॉवेल और टॉमस्, हर्षचरित, पृ० २१७-२१८।

२. वहीं, पृष्ठ २१८।

३. पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ६५।

४. वहीं, पृ० ६५-६६; नगेन्द्रनाथ बसु, बांगलार जातीय इतिहास, जि० १, पृ० ६५-६६; रा० दा० बनर्जी, हिस्ट्री ऑफ् औरिसा जि० १।

ओर से बंगाल पर एक साथ आक्रमण कर शशांक को उड़ीसा भाग जाने को विवश कर दिया तथा भास्करवर्मा ने उसके राज्य के पूर्वी भागों पर उसकी राजधानी कर्णसुवर्ण सहित अधिकार कर लिया। कर्णसुवर्ण पर अधिकार की पुष्टि उसके निधानपुर अभिलेख से होती है[१] जो 'कर्णसुवर्णवासक के जयस्कन्धावार से' (जयशब्दान्वर्थस्कन्धावारात् कर्णसुवर्णवासकात्) प्रकाशित किया गया था। किन्तु यह मत स्वीकार करने में अनेक आपत्तियाँ प्रतीत होती हैं। पीछे हम यह देख चुके हैं कि **हर्षचरित** से यह ज्ञात नहीं होता कि हर्ष पृथ्वी को निर्गौड कर देने की अपनी प्रतिज्ञा के पालन में तुरन्त समर्थ हो सका। हर्ष की पंचभारतों के विजय सम्बन्धी श्वान्-च्वांग के गोलमोल उल्लेखों से भी यह स्पष्ट नहीं है कि वह अपने शासन के प्रारम्भिक वर्षों में ही शशांक को हरा सकने में समर्थ हो चुका था। प्रत्युत् शैलोद्भववंशी द्वितीय माधवराज के ६१९-२० ई० वाले गंजाम अभिलेख से यह निर्विवाद रूप से ज्ञात है कि शशांक न केवल उस समय तक जीवित था, अपितु उड़ीसा के उस शासक द्वारा अपना **महाराजाधिराज** भी स्वीकृत किया जाता था। कुछ विद्वानों की यह मान्यता तर्कसंगत नहीं प्रतीत होती कि वह अपने बंगाल के क्षेत्रों से तो हर्ष-भास्करवर्मा के आक्रमण के कारण पलायित हो गया किन्तु उड़ीसा में **महाराजाधिराज** स्वीकृत किया जाता रहा। वास्तविकता यह प्रतीत होती है कि या तो हर्ष-भास्करवर्मा सैनिक संघ ने उसपर ६१९-२० ई० तक आक्रमण नहीं किया था अथवा उनका यदि कोई आक्रमण हुआ भी था तो वह शशांक को कोई हानि नहीं पहुँचा सका। कर्णसुवर्ण पर भास्करवर्मा का अधिकार और वहाँ से निधानपुर ताम्रफलकाभिलेख का प्रकाशन शशांक की मृत्यु के बाद की ही घटना प्रतीत होती है। **आर्यमंजुश्री-मूलकल्प**[२] शे-किया-फेंग्-चे[३] और हर्ष के बाँसखेड़ा अभिलेख के सामूहिक साक्ष्यों के आधार पर पीछे हम यह निर्णय कर चुके हैं कि हर्ष ने शशांक पर अन्ततोगत्त्वा विजय अवश्य पायी थी तथा पुण्ड्र (उत्तरी बंगाल) और वर्धमान (पश्चिमी बंगाल) को अपने अधिकार में कर लिया था। ६२८ ई० में उसने बाँसखेड़ा का अभिलेख बंगाल के वर्धमान (वर्धमानभुक्ति का प्रधान नगर बर्दवान) के विजयी शिविर से प्रकाशित किया था[४]। यह विजयी शिविर बंगाल पर उसके आक्रमण तथा उसके उत्तरी और पश्चिमी

---

१. एइ० जिल्द १२, पृ० ९८।

२. पराजयामास सोमाख्यं दुष्टकर्मानुचारिणम्।
ततो निषिद्धो सोमाख्यो स्वदेशेनावतिष्ठतः ।। ६३४ ।।

३. सुधाकर चट्टोपाध्याय द्वारा 'अर्ली हिस्ट्री ऑफ् नार्थ इण्डिया' के पृ० २५० पर उद्धृत।

४. एइ० जि० ४, पृ० २०८ और आगे।

भागों को अधिकृत कर लेने की प्रक्रिया में ही स्थापित किया गया प्रतीत होता है। ऐसा लगता है कि शशांक की मृत्यु[१] के पूर्व ही बंगाल में व्याप्त अव्यवस्थाओं के समय हर्ष ने पश्चिम से और भास्करवर्मा ने पूर्व से शशांक के क्षेत्रों पर आक्रमण किया और दोनों ने उसे आपस में बाँट लिया। भास्करवर्मा को कर्णसुवर्ण और उसके दक्षिण के मध्य एवं दक्षिण बंगाल वाले क्षेत्र मिले तथा उत्तरी और पश्चिमी बंगाल हर्ष के प्रशासन में चले गये। परिणामस्वरूप गंगा नदी उनके पारस्परिक अधिकार क्षेत्रों के बीच की सीमा हो गयी। बाद में हर्ष ने उड़ीसा भी अधिकृत कर लिया। भास्करवर्मा ने कर्ण-सुवर्ण (मुर्शिदाबाद से १२ मील दक्षिण की ओर स्थित आजकल का रांगामाटी) के विजयी शिविर से जब अपना अभिलेख प्रकाशित किया, उस समय वहाँ उसकी नौ हस्ति, अश्व तथा पदाति सेना उपस्थित थी[२]। अतः यह प्रतीत होता है कि कर्णसुवर्ण पर अपने सफल आक्रमण और अधिकार से प्रसन्न होकर अपनी सफलताओं का अंकन कराने के लिए ही उसने वह अभिलेख प्रकाशित किया था। ऐसी स्थिति में पण्डित पद्मनाथ भट्टाचार्य का यह मत[३] ग्राह्य नहीं प्रतीत होता कि कर्णसुवर्ण पर भास्करवर्मा का अधिकार अल्पकालिक रहा और शशांक ने पुनः उसे वापस जीत लिया। इस बात की पूरी सम्भावना है कि उस नगर पर अधिकार कर लेने के बाद भास्करवर्मां अपनी मृत्युपर्यन्त वहाँ जमा रहा। जब श्वान्-च्वांग् के भारत से चीन लौटने का समय आया तो भास्करवर्मा ने उससे कहा कि यदि वह (श्वान्-च्वाग्) समुद्री मार्गों से लौटने का निश्चय करे तो वह (भास्करवर्मा) उसके साथ राजपुरुषों को भेजकर उसे पूरी सुरक्षा देगा[४]। इससे यह साबित होता है कि दक्षिणी बंगाल और उसके आगे दक्षिण-पूर्व के देशों को जाने वाले समुद्री मार्गों का नियन्त्रण भास्करवर्मा के हाथों में था। पुनः, जब श्वान्-च्वांग् पुण्ड्रवर्धन, कर्णसुवर्ण, समतट और ताम्रलिप्ति का स्वतन्त्र उल्लेख करते हुए भी उनके शासकों का नाम नहीं लेता तो वैसा करते उसका तात्पर्य इतना ही है कि वे सभी प्रसिद्ध स्थान तो थे, लेकिन अलग-अलग स्वतन्त्र राज्यों के केन्द्र नहीं थे।

---

१. श्वान्-च्वांग् से यह ज्ञात होता है कि शशांक अपने बौद्धधर्म विरोधी कार्यों के कारण किसी देवदण्ड से पीड़ित होकर एक घोर शारीरिक व्याधि के कारण मरा। यह इस पारम्परिक विश्वास का द्योतक प्रतीत होता है कि वह किसी युद्ध में नहीं मारा गया।

२. स्वस्ति महानौहस्त्यश्वतिसम्पत्युपातजयशब्दान्वर्थस्कन्धावारात् कर्णसुवर्णवास-कात्।

३. कार्पस् ऑफ् कामरूप इन्स्कृप्शन्स्, भूमिका, पृ० १६, पादटिप्पणी २।

४. एस्० बील, जीवनी, भूमिका, पृ० १६वाँ तथा पृ० १८८।

तो मेरा सिर माँग लें, किन्तु मैं अभी श्वान्-च्वांग् को नहीं भेज सकता' । हर्ष इस उत्तर से अत्यन्त उत्तेजित हो गया और अपने को अपमानित समझता हुआ उसने दूसरा सन्देश भेजा कि भास्करवर्मा 'सन्देशवाहक के हाथ अपना सिर ही भेज दे ताकि वह उसे शीघ्र पा सके ।' इस पर कामरूप के राजा को अपनी भूल समझ में आयी और, कदाचित् इस भय से कि हर्ष कहीं उस पर आक्रमण न कर दे, वह स्वयं श्वान्-च्वांग् को लेकर ३००० नावों वाले एक बड़े जलबेड़े और २००० हस्तिसेना के साथ गंगा के बहाव के विपरीत ऊपर की ओर उस नदी से होता हुआ हर्ष के सामने उपस्थित हुआ । उस समय हर्ष गंगा के उत्तरी पार्श्व में स्थित कजंगल (राजमहल की पहाड़ियों) में शिविर लगाये पड़ा था । हर्ष भास्करवर्मा के इस व्यवहार से शान्त तो हो गया, किन्तु भास्करवर्मा उसके बाद भी कन्नौज की धर्मसभा और प्रयाग की महामोक्षपरिषद् में उपस्थित होने का हर्ष का निमन्त्रण अस्वीकार नहीं कर सका । इस सम्बन्ध के श्वान्-च्वांग् के विवरणों से यह स्पष्ट है कि हर्ष ने गंगा के दक्षिणी किनारे से कन्नौज की ओर जाते समय भास्करवर्मा को अपने ही समानान्तर उसके उत्तरी किनारे से चलने का अवसर दिया[१] तथा कन्नौज की धर्मसभा और प्रयाग की महामोक्षपरिषद् में उसे उचित आदर दिया गया । तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि उन दोनों के पारस्परिक राजनीतिक सम्बन्धों में कुछ परिवर्तन अवश्य आ गये थे । इस बात का तो कोई प्रमाण नहीं है कि भास्करवर्मा को हर्ष की अधिसत्ता स्वीकार करनी पड़ी, किन्तु यह जान पड़ता है कि हर्ष की बढ़ती हुई सैनिक और राजनीतिक शक्ति तथा उत्तर भारत के बहुत बड़े भाग पर उसके साम्राज्य के स्थापित हो जाने पर आसपास के राज्य उसकी सत्ता से आंतकित रहने लगे । हर्ष के पूर्व मगध का एक राजा (महासेनगुप्त) कामरूप पर भास्करवर्मा के पिता के समय आक्रमण कर चुका था । असम्भव नहीं, भास्करवर्मा भी हर्ष से सशंकित रहा हो कि कहीं वह अप्रसन्न होकर उसके राज्य के विरुद्ध चढ़ न जाय । ऐसी स्थिति में यह प्रतीत होता है कि बंगाल पर संयुक्तरूप से आक्रमणकर उसे हर्ष के साथ विभाजित कर लेने पर भी अपने शासन के उत्तरार्द्ध में भास्करवर्मा हर्ष से मित्रता बनाये रखने का हर सम्भव प्रयत्न करता रहा । उन दोनों की पहले की समसंधि कदाचित् अब विषमसंधि में परिवर्तित हो गयी थी । राजनीति में इस प्रकार के अन्तरसम्बन्धों के परिवर्तन प्रायः सर्वदा ही होते रहते हैं, जो वास्तव में पक्षविपक्ष की पारस्परिक शक्ति के घटने अथवा बढ़ने के परिचायक होते हैं ।

---

१. सम्भवतः उसी यात्रा के समय हर्ष की तरह भास्करवर्मा ने भी अपनी नालन्दा की मुहर निकाली थी ।

मगध और तिरहुत पर चीनी आक्रमण और भास्करवर्मा

भास्करवर्मा अपने मित्र हर्ष की मृत्यु (६४७-६४८ ई०) के बाद भी कुछ वर्षों तक जीवित रहा । चीनी साक्ष्यों[१] से यह प्रमाणित है कि जब वैंङ्ग-हवान्-शे ने तिब्बतियों और नेपालियों की सहायता से अरुणाश्व को पराजित कर बन्दी बना लिया तथा मगध और तिरहुत पर उसका अधिकार हो गया तो कामरूप के राजा भास्करवर्मा ने भी उसके यहाँ अनेक भेंटे भेजीं । एक उल्लेख[२] तो यहाँ तक है कि 'पूर्वी भारत के राजा' शि-किन्-मा अर्थात् श्रीकुमार=भास्करवर्मा ने ३०००० बैलों और घोड़ों से उसकी सहायता की । उन सबके लिए उसने शस्त्र और खाने पीने की रसद भी भेजी । ऐसा प्रतीत होता है कि हर्ष की मृत्यु के उपरान्त उत्तर भारत में जो अव्यवस्था फैली तथा उसका लाभ उठाते हुए तिब्बती-नेपाली संघ ने दक्षिण की ओर अपने प्रसार का जो प्रयत्न किया, उसमें भास्करवर्मा को कदाचित् अपनी वृद्धावस्था के कारण अपने ही राज्य को बचाने की समस्या उठ खड़ी हुई । परिणामतः, उनके आक्रमणों की आँधी से बचने के लिए उसे उनकी अधीनता स्वीकार करनी पड़ी । यही नहीं, श्रांग-बुत्सान्-गैम्पो नामक जिस तिब्बती राजा ने वैंङ्ग-ह्वान-शे की अरुणाश्व के विरुद्ध सहायता की थी, उसने बाद में भारत पर स्वयं धावे मारना प्रारम्भ कर दिया । असम पर उसकी विजय की बात स्वीकार की जाती है[३] । किन्तु बहुत सम्भव है कि यह घटना भास्करवर्मा की मृत्यु के बाद की हो । वह अपना कोई उत्तराधिकारी नहीं छोड़ गया और उसके बाद उसके वंश का शासन ही समाप्त हो गया । तिब्बतियों का आक्रमण वर्मन् वंश की अवनति का प्रमुख कारण प्रतीत होता है ।

भास्करवर्मा का प्रशासन

निधानपुर ताम्रपत्राभिलेख के गद्यांशों से भास्करवर्मा की जनप्रियता, प्रशासन-सम्बन्धी सफलताओं और उसकी राजनीतिक सत्ता के स्वरूप का थोड़ा परिचय मिलता है । वहाँ यह कहा गया है कि उसे 'भगवान् विष्णु ने जगत् के उदय, प्रबन्ध और अन्त के लिए तथा विभिन्न वर्णों और आश्रमों के व्यवस्थित कर्त्तव्यों का ठीक-ठीक पालन कराने के लिए[४] ही उत्पन्न किया था' । उसने 'अपनी आय का यथोचित उपयोग करते हुए

---

१. देखिए, जर्नल् एशियाटिके, पेरिस, १९००, पृ० २९७ और आगे ।

२. इए०, जिल्द ९, पृ० १४ ।

३. सिल्वाँ लेवी, नेपाल, जिल्द २, पृ० १४८ ।

४. 'इत्यपि जगदुदयकल्पनास्तमयहेतुना भगवता कमलसम्भवेनावकीर्णवर्णाश्रमधर्म-प्रविभागाय निर्मितो ।' एइ०, जिल्द १२, पृ० ७४-७५ ।

कलियुग के अन्धकार को दूरकर आर्यधर्म का प्रकाश फैलाया' तथा 'अपनी ही भुजाओं की शक्ति से समस्त सामन्तमण्डल की शक्ति की बराबरी की'। उसने 'अपनी आनुवंशिक प्रजा के सुख के लिए अनेक उपाय किये, जिनका उसके प्रति अत्यधिक भक्तिभाव था। वह भी उनके प्रति विनम्र तथा सुलभ था[१]'। 'प्रशंसाभरे शब्दों में सैकड़ों पराजित राजा उसका गुणगान किया करते थे' तथा राजनीति के सिद्धान्तों (षाड्गुण्य) का यथासमय और यथास्थान उपयोग करने के कारण अन्य लोग उसे मानों दूसरा बृहस्पति ही मानते थे।' भास्करवर्मा की व्यक्तिगत विशेषताओं का समर्थन श्वान्-च्वांग् के विवरणों से प्राप्त होता है। वह कहता है कि 'राजा विद्याव्यसनी था' और दूर-दूर के देशों से बड़े-बड़े विद्वान् उसके राज्य में पद और प्रतिष्ठा की खोज में आते थे। यह भी ज्ञात होता है कि उसने श्वान्-च्वांग् से चीनी साहित्य और दर्शन का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा व्यक्त की थी। वह स्वयं शैव था। अतः श्वान्-च्वांग् को अपने दरबार में बुलाकर आदर देने और बौद्ध दर्शन समझने की उसकी उत्कट इच्छा उसकी धार्मिक उदारता और साहित्यप्रेम का सबसे बड़ा उदाहरण है।

पीछे जो कुछ लिखा गया है, उससे असम के इतिहास में भास्करवर्मा के महत्त्वपूर्ण स्थान का सहज ही निश्चय हो जायगा। पुष्यवर्मा के वंश के उस अन्तिम शासक को पैतृक उत्तराधिकार में एक छोटा सा राज्य मिला था, जिस पर पास और दूर के सभी शत्रु आँख लगाये बैठे थे। किन्तु अपनी योग्यता और नीतिमत्ता से उसने उसकी रक्षा मात्र ही नहीं की बल्कि उसे अपने समय के भारत की एक प्रमुख सत्ता के रूप में परिवर्तित कर दिया। उसने प्रशासन को हर प्रकार से सुसंगठित किया और अपने राज्यकाल के परवर्ती भागों में कामरूप की प्रशासित सीमाओं में गौड-वंग के भी कुछ भागों को सम्मिलित कर लिया। निश्चय ही वह अपने वंश का सर्वप्रमुख और सर्वाधिक शक्तिशाली शासक था। उसके विश्वास वर्णाश्रमधर्म पर आधृत थे तथा उद्देश्य प्रजा का हित और सुखचिन्तन था। किन्तु उसका और उसके साथ कामरूप का भी यह दुर्भाग्य था कि उसकी सफलता को और अधिक आगे बढ़ाने वाला उसका कोई औरस उत्तराधिकारी नहीं हुआ।

म्लेच्छ सालस्तम्भ का वंश : सालस्तम्भ

भास्करवर्मा की मृत्यु का समय निश्चितरूप से ज्ञात नहीं है, किन्तु उसे ६५० ई० के आसपास घटित हुआ माना जा सकता है। वह कुमार अथवा कुमारराज नाम से

---

१. यथायथमुचितकरनिकरवितरणाकुलितकलितिमिरसंचयप्रकाशित आर्यधर्मावलोकः स्वभुजवलतुलितसकलसामन्तचक्रविक्रमः। वहीं।

जीवनपर्यन्त अभिज्ञात रहा, जिससे यह अनुमान लगाया गया है कि उसने विवाह नहीं किया। अतः निजी शरीर से उत्पन्न कोई उसका उत्तराधिकारी भी नहीं हुआ। कुछ विद्वान्[१] ऐसा मानते हैं कि अवन्तिवर्मन् नामक उसका कोई सम्बन्धी कुछ वर्षों के लिए (६५०-६५५) कामरूप का राजा हुआ। किन्तु यह निश्चित है कि भास्करवर्मा की मृत्यु के थोड़े ही समय बाद सालस्तम्भ नामक एक म्लेच्छ राजा नरकवंश को अपदस्थ कर कामरूप पर अधिकृत हो गया[२]। सालस्तम्भ के लिए 'म्लेच्छ' विशेषण का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि वह मंगोल रक्त का कोई अहिन्दू था[३]। किन्तु बाद में उसके वंशज अपने को नरक के पुत्र भगदत्त (वर्मन् वंश के पूर्वज) से जोड़ने लगे[४], जो अनैतिहासिक प्रतीत होता है। रत्नमाल के बढ़गाँव अभिलेख (श्लोक ९, जएसो० बेंगाल, १८९८, पृ० ९९) से यह स्पष्ट[५] है कि सालस्तम्भ भगदत्त के वंश का नहीं था। हेमचन्द्र राय (डाहिनाइ०, प्रथम, पृ० २४०) जैसे कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि भगदत्त और सालस्तम्भ दोनों ही मूलतः मंगोलों की दो शाखाओं के प्रतिनिधि थे, जिन्होंने बाद में आर्यधर्म अपना लिया था। इस वंश के कई राजाओं के अभिलेख हमें प्राप्त होते हैं, जिनका निर्देश यथास्थान आगे किया जाएगा।

विजय से वज्रदेव तक

सालस्तम्भ के उत्तराधिकारियों में प्रमुखरूप से हर्जरवर्मन् (इहिक्वा० १९२७, पृ० ८३८ और आगे), वनमाल (जएसो० बेंगाल, जिल्द ९, भाग २, पृ० ७६६ और आगे) तथा तृतीय बलवर्मन् (जएसो०, बेंगाल १८९७, पृ० २८५ और आगे) की

---

१. क० ला० बरुआ, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १०५, ११० और १३३।

२. 'एवम् वंशक्रमेण क्षितिमथ निखिलं भुजतं नरकानां राज्यं म्लेच्छाधिनाथो विधिचलनवसदेवाजग्राह राज्यम्।' जएसो०, बेंगाल, जि० ६७ (१८९८) भाग १, पृ० ९९।

३. क० ला० बरुआ के मत में वह भास्करवर्मा के विशाल राज्य के किसी प्रान्त का मलेच्छजातीय (आजकल की मेचजाति का) राज्यपाल था, जिसने विद्रोहकर कामरूप राज्य हथिया लिया। पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १०७ और आगे।

४. देखिए, जयदेव का नेपाल अभिलेख, इए० जिल्द ९, पृ० १७९ और १८१; जराएसो०, १८९८, पृ० ३८४-५। इसके समर्थन में देखिए, जएसो०, बेंगाल, जिल्द ९, पृ० ७६६ और १८९७, पृ० २८५।

५. देखिए, ऊपर की पादटिप्पणी २ का श्लोक।

जानकारी अभिलेखों से होती है। किन्तु हर्जरवर्मा के अभिलेख के अनुसार सालस्तम्भ के बाद क्रमशः विजय (सालस्तम्भ का पुत्र), पालक, कुमार और वज्रदेव राजा हुए। यह निश्चय करने का हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है कि इन राजाओं के समय कामरूप के वे सभी प्रदेश इनके अधिकार में रहे या नहीं, जो भास्करवर्मा के अधिकार में रह चुके थे। उनके समय की कोई विशेष बात ज्ञात न होने से यह प्रतीत होता है कि वे सभी साधारण शासक थे।

हर्षदेव अमवा हर्षवर्मदेव

वज्रदेव का उत्तराधिकारी श्रीहर्षदेव अथवा हर्षवर्मदेव हुआ, जो अपने सूक्ष्मनाम हर्ष, हरिष अथवा हरीष से भी ज्ञात है। कुछ विद्वानों ने इस हर्ष की पहचान नेपाल के लिच्छवि राजा जयदेव के पशुपति अभिलेख[१] में वर्णित 'अपने मदस्रावी हाथियों के दाँत रूपी भालों से शत्रुओं के मस्तक चूर करने वाले **गौडओड्रादिकलिंगकोसलपति** श्रीहर्षदेव' से की है, जो जयदेव की रानी राज्यमती का पिता था। उसी अभिलेख में राज्यमती को 'भगदत्तराजकुलजा' भी कहा गया है, जिसके आधार पर कभी-कभी हर्ष और उसके पूर्वजों को भगदत्त के वंश का मान लिया जाता है। इस अभिलेख के आधार पर यह मान लिया जाता है कि हर्ष का पूर्वी भारत के समस्त क्षेत्रों (असम, बंगाल, बिहार और उड़ीसा) पर अधिकार था, जिन्हें या तो उसने विरासत में पाया था अथवा स्वयं जीता था। परिणामस्वरूप, उसे पूर्व में सदिया से लेकर पश्चिम में अयोध्या तथा उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में बंगाल की खाड़ी और गंजाम तक के क्षेत्रों का अधिराज स्वीकार किया जाता है। जयदेव के उपर्युक्त अभिलेख का समय ७४८ ई० निश्चित किया गया है और उस आधार पर हर्षदेव का समय ८वीं शती का द्वितीय चतुर्थांश होना चाहिए[२]। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि क्या उपर्युक्त अभिलेख के वर्णनों को ऐतिहासिक सत्य स्वीकार किया जाय अथवा यह माना जाय कि वे प्रशंसक दरबारियों की निस्तत्त्व प्रशस्तिमात्र हैं[३]। क० ला० बरुआ (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १११ ओर १२०), रा० दा० बनर्जी (बांगलार इतिहास, जि० १, पृ० १०५) और रा० प्र० चन्दा (प्रवासी, जि० ३२, संख्या १) आदि विद्वान् हर्षदेव का बंगाल और उड़ीसा पर अधिकार या तो राजकीय उत्तराधिकार अथवा व्यक्तिगत विजय द्वारा होना स्वीकार करते हैं। वे यह मानते हैं कि वह अपने वंश का सर्वशक्तिमान् तथा सबसे बड़ा विजेता राजा था। यह भी

---

१. इऐ०, १८८०, जि० ९, पृ० १७९; जएसो०, बेंगाल १८९८, पृ० ३८४-३८५।

२. क० ला० बरुआ, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ११२ और आगे।

३. एडवर्ड गेट महोदय (हिस्ट्री ऑफ् असम, पृ० ३०) उसे कोरी प्रशस्ति मानते हैं।

माना जाता है कि उड़ीसा के कर अथवा भौमवंशी राजा कदाचित् उसके ही सम्बन्धी थे, जिन्हें उसने एक अधीन सत्ता के रूप में वहाँ स्थापित कर दिया था और जो अपने को नरक के वंश से उत्पन्न हुआ मानते थे[१]। हर्षदेव का समकालिक मध्यदेश का शासक यशोवर्मा था, जिसकी विजयों का वर्णन वाक्पतिराज अपने **गउडवहो** में करता है। क० ला० बरुआ[२] और कृष्णस्वामी आयंगार[३] यशोवर्मा द्वारा पराजितकर मारे जाने वाले गौड देश के राजा की समता द्वितीय जीवितगुप्त से न कर इस हर्षदेव से ही करते हैं। इस प्रकार हर्षदेव की वास्तविक राजनीतिक स्थिति के सम्बन्ध में अत्यन्त अधिक विवाद और मतवैभिन्न्य हैं। पीछे हम देख चुके हैं कि शशांक की मृत्यु के बाद बहुत दिनों तक बंगाल में इतनी अव्यवस्था और अशान्ति रही कि वहाँ कोई भी शासक स्थिर नहीं हो सका। उन परिस्थितियों में हर्षदेव जैसे महत्त्वाकांक्षी सैनिक के लिए भी यह असंभव नहीं था कि वह कामरूप के बाहर के प्रदेशों पर धावे मारे। किन्तु बंगाल, उड़ीसा और महाकोसल के क्षेत्रों से कोई भी ऐसा प्रमाण नहीं मिला है, जो उन प्रदेशों पर उसके अधिकार की बात का समर्थन करता हो। अतः जबतक अन्य कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं हो जाता, इस विषय पर कोई निश्चित मत व्यक्त करना सम्भव नहीं प्रतीत होता कि गौड, ओड्र, कलिंग और कोसल पर हर्षवर्मदेव का वास्तविक अधिकार था या नहीं।

बलवर्मन् से प्रालम्भ (सालम्भ) तक

वनमाल के तेजपुर अभिलेख में सालस्तम्भ को अपने वंश का प्रारम्भिक और हर्ष अथवा हरीष को अन्तिम राजा कहा गया है[४]। इस आधार पर कुछ विद्वानों ने हर्ष के साथ सालस्तम्भ के वंश का अन्त माना है[५]। किन्तु कुछ अभिलेख ऐसे हैं, जिनमें उसके बाद

---

१. देखिए, पीछे दसवाँ अध्याय।

२. पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ११५–११८।

३. जर्नल् ऑफ् इण्डियन् हिस्ट्री, जि० ३, पृ० ३१३–३३०।

४. 'सालस्तम्भप्रमुखैः श्रीहरीषान्तमहीपालैः'। देखिए, जबिओरिसो०, जि० ३, पृ० ५०८ और आगे; जएसो०, बेंगाल १८४० (जिल्द ९, भाग २), पृ० ७६६ और आगे।

५. एडवर्ड गेट, हिस्ट्री ऑफ् असम, द्वितीय संस्करण, पृ० ३०–३१; होयर्नल् जएसो० बेंगाल, १८९८ (जि० ६७) पृ० १०३ और आगे; हेमचन्द्र राय, डाहिनाइ० प्रथम, पृ० २४१। किन्तु एडवर्ड गेट की पुस्तक के १९६३ वाले संशोधन में बरुआ और मूर्ति (संशोधकों) ने गेट की भूल का परित्याग कर सालस्तम्भ और सालम्भ को एक ही वंश का माना है। दे० पृ० ३२।

भी सालस्तम्भ के ही वंश में अन्य अनेक राजाओं को गिनाया गया है[१]। रत्नपाल के बड़गाँव अभिलेख में उनकी कुल संख्या २० बतायी गयी है[२] और त्यागसिंह सालस्तम्भ का अंतिम वंशज कहा गया है। हर्षवर्मदेव का उत्तराधिकारी बलवर्मन् हुआ। उसके बाद गद्दी पर आने वाले दो उत्तराधिकारियों का अनुमान हर्जरवर्मन् के युगुथल अभिलेख (इहिक्वा०, जिल्द ३, पृ० ८३८, ८४१, ८४४) से लगता है, किन्तु उनके नाम स्पष्टरूप से नहीं पढ़े जा सके हैं। उनके बाद प्रालम्भ[३] अथवा सालम्भ नामक शासक प्राग्ज्योतिष में राज्यारूढ़ हुआ।

हर्जरवर्मन्

प्रालम्भ का उत्तराधिकारी उसकी रानी जिवदा से उत्पन्न पुत्र हर्जरवर्मन् हुआ। उसका तेजपुर से गुप्त सं० ५१०=८२९ ई० का एक प्रस्तर अभिलेख प्राप्त हुआ है। (जबिओरिसो०, जिल्द ३, पृ० ५०८ और आगे), जिससे उसका समय नवीं शती के तृतीय दशक में निश्चित रूप से ज्ञात होता है। उस अभिलेख में गुप्त संवत् के प्रयोग से असम पर गुप्तों का सांस्कृतिक प्रभाव बने रहने की पुष्टि होती है। तृतीय बलवर्मन् के नौगांव अभिलेख (जएसो०, बंगाल १८९७, पृ० २९३ और आगे) में हर्जरवर्मन् को शत्रुओं के लिए कष्टकारक' कहा गया है, जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वह शक्तिशाली शासक था। उसकी शक्ति और प्रभाव का प्रमाण अभिलेखों से ज्ञात होनेवाली उसकी **महाराजाधिराज परमेश्वर परमभट्टारक** जैसी उपाधियों से प्राप्त होता है।

वनमालवर्मन्

हर्जरवर्मन् की रानी तारा से उत्पन्न पुत्र वनमालवर्मन्[४] अपनी युवराजावस्था से ही

---

१. देखिए, पद्मनाथ भट्टाचार्य, इहिक्वा०, १९२७, पृ० ८४४-४५।

२. सालस्तम्भक्रमेऽस्यापि नरपतयो विग्रहस्तम्भमुख्या विख्याता सम्बभूबुर्द्धिगुणी दशता संख्यया संविभिन्ना ।। जएसो०, बेंगाल १८९८, पृ० १०८।

३. जो विद्वान् हर्षवर्मन् के साथ सालस्तम्भ के वंश का अन्त मानते हैं, उनके मत में प्रालम्भ अथवा सालम्भ उस वंश का अन्तक और एक नये वंश का संस्थापक था। डॉ० र० चं० मजुमदार तो यहाँ तक कल्पना कर लेते हैं (दि एज ऑफ् इम्पीरियल कनौज, पृ० ६०) कि पालशासक देवपाल के कामरूप पर किये गये आक्रमण के बाद प्रालम्भ ने पालों के करदरूप में एक नये वंश की स्थापना कर ली। किन्तु जब तक कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता, इस कल्पना को कोई महत्त्व नहीं दिया जा सकता।

४. अभी हाल में ज्ञात होने वाले वनमाल के परबतिया अभिलेख (एइ० जि० २९ पृ०

प्रशासन से सम्बद्ध था। नारायणपाल के भागलपुर दानाभिलेख के आधार पर डॉ० हेमचन्द्रराय का यह विश्वास है (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २४८) कि कदाचित् देवपाल ने अपनी दिग्विजय के क्रम में अपने सेनापति जयपाल को प्राग्ज्योतिष के विरूद्ध भेजा, जिसने करतोया नदी पारकर बिना युद्ध किये ही या तो हर्जरवर्मन् को अथवा उसके पुत्र वनमालवर्मन को पालों की अधिसत्ता मानने को विवश किया। यदि इस विश्वास को सही भी स्वीकार कर लिया जाय तब भी यह निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता कि देवपाल की अधिसत्ता स्वीकार करने वाला कामरूप का राजा कौन था—हर्जरवर्मन्, वनमालवर्मन् अथवा अन्य कोई शासक[1] ? ऊपर हम देख चुके हैं कि हर्जरवर्मन् साम्राज्यपद की सूचक सभी उपाधियाँ धारण करता था। वनमालवर्मन् के एक अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि उसने त्रिस्रोता (आधुनिक तिस्ता) नदी के पश्चिमी किनारे की कुछ भूमि दान दी, जिससे पश्चिम बंगाल से तिस्ता नदी के दोनों किनारों तक की भूमि पर उसके अधिकार की पुष्टि होती है। चूँकि देवपाल का शासन-समय बहुत लम्बा (८१०-८५० ई०) था, वह असम के कई शासकों का समकालीन रहा होगा। ऐसी दशा में यह अधिक सम्भव जान पड़ता है कि उसने असम पर अपनी अधिसत्ता का विस्तार प्रालम्भ के समय किया, जिसका बोझ हर्जरवर्मन् ने निश्चय ही उतार फेंका। वनमालवर्मन् ने भी अपने समय में अर्जित अपने वंश की राजनीतिक प्रतिष्ठा में कोई आँच नहीं आने दी। पश्चिम में कामरूप की जो सीमा परम्परागत रूप में करतोया नदी तक विस्तृत थी, उसमें कोई ह्रास नहीं हुआ। इसके अतिरिक्त, दक्षिण में उसकी सीमा समुद्री किनारे की वन्यभूमि (सिलहट और मैमनसिंह के जिलों) तक विस्तृत थी। वनमालवर्मन् ने कम-से-कम १९ वर्षों तक शासन किया।

वनमालवर्मन् के उत्तराधिकारी

वनमालवर्मन् का पुत्र जयमाल अगला राजा हुआ। उसने गद्दी धारण करने के बाद अपने को **बीरबाहु** कहना प्रारम्भ किया। उसका पुत्र और उत्तराधिकारी था तृतीय बलवर्मा। उसके एक अभिलेख में शत्रु राजाओं पर उसकी विजयों की प्रशंसात्मक चर्चा मिलती है। किन्तु विजित राजाओं के नाम अथवा क्षेत्र नहीं बताये गये हैं और इस कारण हम उस उल्लेख को कोई विशष महत्त्व नहीं दे सकते। वंश का अन्तिम शासक राजा

---

१४५) के आधार पर श्री दत्त ने हर्जरवर्मन् को आरथि का पुत्र माना है जो उनके अनुसार सालम्भ का भाई और उत्तराधिकारी था। देखिए इण्डियन् हिस्ट्री कांग्रेस प्रोसीडिंग्स्, जि० १२, पृ० १५७-१५९।

१. जलनिधितटवनमालसीमावधि मेदिनी पतिस्तस्य योग्या इति नामधात चक्रे वन-माल इति। जएसो०, बेंगाल जिल्द ९, (१८४०), पृ० ७६६ और आगे।

त्यागसिंह हुआ जिसकी जानकारी रत्नपाल के बड़गाँव अभिलेख (जएसो०, बेंगाल, जि० ६७ पृ० ९९ और आगे) से होती है । यद्यपि वहाँ त्यागसिंह को उस वर्ग का २१वाँ राजा कहा गया है, सालस्तम्भ से गिनती करने पर अन्यान्य अभिलेखों से ज्ञात राजाओं की संख्या केवल १४ होती है । अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि बलवर्मा से त्यागसिंह के बीच छह अन्य शासकों ने भी कामरूप पर राज्य किया । किन्तु उन राजाओं के बारे में हमें कोई जानकारी नहीं है ।

सालस्तम्भ वंश ने ६५०–५५ से १००० ई० के बीच लगभग ३५० वर्षों तक शासन किया और उस सारी अवधि में कामरूप का राज्य प्रायः पूर्णरूप से स्वतंत्र रहा । अभिलेखों से यह प्रमाणित है कि कम–से–कम हर्जरवर्मन् और उसके कुछ वंशजों के समय उत्तरी और दक्षिणी बंगाल भी उनकी राज्यसीमा के भीतर पड़ते थे । इस वंश ने हारूप्पेश्वर[1] नामक पुर अर्थात् राजधानी से शासन किया, जो लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) नदी के किनारे स्थित की ।

ब्रह्मपाल का वंश : ब्रह्मपाल

सालस्तम्भ वंश के अन्तिम शासक त्यागसिंह का अपने शरीर से उत्पन्न कोई उत्तराधिकारी नहीं हुआ । रत्नपाल के बड़गाँव से प्राप्त एक अभिलेख से यह ज्ञात होता[2] है कि उसके (त्यागसिंह के) बाद जनता ने उसके सम्बन्धी ब्रह्मपाल को अपना राजा चुना । यह उल्लेख पालवंश के संस्थापक के **प्रकृतियों** द्वारा **मात्स्यन्याय** से मुक्ति पाने के लिए राजा चुने जाने की बात का हमें स्मरण दिलाता है । किन्तु यह कह सकना कठिन है कि जनता द्वारा किये जाने वाले इन चुनावों की परम्पराओं में कितना ऐतिहासिक तथ्य है । हो सकता है कि ब्रह्मपाल की सैनिक सफलताओं को त्यागसिंह के दरबारियों और शासितों ने अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी हो । ब्रह्मपाल सालस्तम्भ के वंशजों की ही तरह भौम अथवा नरक या भगदत्त का वंशज कहा गया है । तथापि यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि वह भास्करवर्मा के वंश से रक्त द्वारा सम्बद्ध था या नहीं । ब्रह्मपाल का स्वयंप्रकाशित कोई आलेख्य नहीं ज्ञात होता । वंश के अभिलेखों में यद्यपि वह **महाराजाधिराज** कहा गया है, ऐसा नहीं प्रतीत होता कि उसकी सत्ता बहुत बड़ी थी । ब्रह्मपाल के वंश के सभी राजाओं के नामों के अन्त में पाल' होने के कारण कुछ लोगों ने इसे कामरूप के पालवंश की संज्ञा दी है ।

---

१. देखिए, बलवर्मन् का नौगांव अभिलेख, जएसो०, बेंगाल, जिल्द ६६ (१८९७), पृ० १२१, २८५–२९७; जिल्द ६७ (१८९८), पृ० १०८ और ११४ ।

२. जएसो०, बेंगाल, १८९८, जिल्द ६७, पृ० १०६ और आगे ।

रत्नपाल

ब्रह्मपाल का अपनी रानी कुलदेवी से उत्पन्न रत्नपाल नामक पुत्र अपने वंश का सर्वाधिक शक्तिशाली राजा हुआ। उसके बड़े हो जाने पर उसके पिता ब्रह्मपाल ने सम्भवतः राजगद्दी त्याग दी थी। रत्नपाल के दो अभिलेख प्राप्त हुए हैं जिनमें उसका पूरा नाम रत्नपालवर्मदेव मिलता है। बड़गाँव से प्राप्त होने वाला रत्नपाल के शासन के २५वें वर्ष का अभिलेख (जएसो०, बेंगाल, जिल्द ६७, १८९८, पृ० ९९ और आगे) कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। उसमें उसे **परमेश्वर परमभट्टारकमहाराजाधिराज** की उपाधियाँ दी गयी हैं। उसकी राजधानी के वर्णन के सिलसिले में उसे 'गुर्जराधिप के लिए वेदनाकारक, गौडेन्द्र के उद्दाम हाथियों के लिए ज्वरकारक, केरलेश के लिए प्रज्वालक, वाहीकों और ताइकों के लिए भयोत्पादक तथा दाक्षिणात्य क्षोणीपति के लिए यक्ष्मा-कारक[1]' कहा गया है। किन्तु यह उल्लेख केवल प्रशस्ति मात्र प्रतीत होता है। इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि रत्नपाल का उपर्युक्त राजाओं से कोई युद्ध अथवा उसकी उनपर विजयें हुईं। उपर्युक्त अभिलेख के गुर्जराधिप की समता या तो कन्नौज के राज्य-पाल अथवा त्रिलोचनपाल से या अह्निलवाड़ के चौलुक्य प्रथम भीम से; गौडेन्द्र की समता महीपाल अथवा नयपाल से; केरलेश की समता भास्कर रविवर्मन् से; वाहीकों की समता पंजाब के तुर्कों से; ताइकों (ताजिकों) की समता सिन्ध के अरबों से तथा दाक्षिणात्य क्षोणीपति की समता कल्याणी के राजा प्रथम सोमेश्वर से की जानी चाहिए। इनमें सबसे निकट का क्षेत्र गौड था। किन्तु महीपाल-नयपाल से सम्बन्धित साक्ष्यों में किसी से भी यह ज्ञात नहीं होता कि उनका कामरूप से कोई संघर्ष हुआ। केरल और गुजरात बहुत दूर थे और कामरूप के राजा से उनका कोई युद्ध हुआ हो, यह बहुत असम्भव प्रतीत होता है। दाक्षिणात्य राजकुमार विक्रमादित्य (षष्ठ) ने अपने पिता सोमेश्वर की ओर से कामरूप पर आक्रमण किया था, जिसका उल्लेख बिल्हण के **विक्रमांकदेवचरित** में मिलता है[2]। अतः यह सम्भावना प्रतीत होती है कि रत्नपाल का कदाचित् विक्रमादित्य चालुक्य से कोई संघर्ष हुआ। किन्तु उसके परिणाम के बारे में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। ऐसी स्थिति में रत्नपाल के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि उसने कामरूप की परम्परागत सीमाओं के बाहर कोई युद्ध अथवा विजय

---

१. 'यश्च शक्रक्रीडाशनिदृढ़पंजरेण गुर्जराधिराजपंजरेण दुर्दान्तगौडेन्द्रकरिकूटपाकलेन केरलेशाकलाशिलाजतुनावाहीकताइकांतककरिणादाक्षिणात्यक्षोणीपतिराजजन्मणाक्ष-पितारातिपक्षतया—' । जएसो०, बेंगाल, १८९८, पृ० १०९-११०।

२. देखिए, दि स्ट्रगल फॉर इम्पायर, पृ० १७२; विक्रमांकदेवचरित, ह्लूलर द्वारा सम्पादित १८७५, पृ० ७४।

की । उपर्युक्त अभिलेख की आलंकारिक भाषा में उसकी विजयों अथवा युद्धों का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है । इतना अवश्य प्रतीत होता है कि उसका शासन असम के परम्परागत क्षेत्रों पर पूर्णतः स्थापित था तथा स्वयं उसे अन्य किसी भी शासक की अधिसत्ता नहीं स्वीकार करनी पड़ी । उसकी साम्राज्यपदसूचक उपाधियाँ इस निष्कर्ष की ओर स्पष्ट इंगित करती हैं । ब्रह्मपुत्र नदी के उत्तर में स्थित कुछ भूमि के दान का उल्लेख करना बड़गाँव अभिलेख का मुख्य उद्देश्य है । साथ ही उसमें रत्नपाल की राजधानी दुर्जया अथवा श्रीदुर्जया का वर्णन है, जो ब्रह्मपुत्र (लौहित्य) नदी के किनारे स्थित थी । विद्वानों ने श्रीदुर्जया की समता गोहाटी से की है । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सालस्तम्भ वंश की राजधानी हारूप्पेश्वर को छोड़कर रत्नपाल ने दुर्जया में अपनी राजधानी स्थापित कर ली । उसके सभी वंशजों ने भी वहीं से शासन किया । उसका दूसरा अभिलेख (जएसो०, बंगाल, १८९८, पृ० १२० और आगे) गौहाटी अधिमण्डल के सुआलकुची नामक गाँव से मिला है, जिसे उसने अपने शासन के २६वें वर्ष प्रकाशित किया था । इससे इतना निश्चित है कि उसने कम-से-कम २६ वर्षों तक अवश्य शासन किया । बड़गाँव अभिलेख के सम्पादक डॉ० होयर्नल का अनुमान है (जएसो०, बेंगाल, १८९८, पृ० १०२) कि उसके शासन का समय १०१० ई० से १०५० ई० तक था ।

रत्नपाल के उत्तराधिकारी

रत्नपाल के पुत्र पुरन्दरपाल की युवराजावस्था में ही अकाल मृत्यु हो गयी । अतः उसके बाद उसका पौत्र इन्द्रपाल राजा हुआ । उसके दो अभिलेख प्राप्त होते हैं, जिनका कोई विशेष ऐतिहासिक महत्त्व नहीं है । किन्तु उनसे यह अवश्य ज्ञात होता है कि उसने कम-से-कम २१ वर्षों तक शासन किया । कुछ लोगों ने ऐसा अनुमान किया है कि पूर्वी बंगाल के यादववंशी शासक जातवर्मन् ने कामरूप पर इन्द्रपाल के समय ही आक्रमण किया था । इस आक्रमण के समय के बारे में सभी विद्वान् एकमत नहीं है । इन्द्रपाल के अभिलेखों में उसे **प्राचीप्रदीप** कहा गया है । इन्द्रपाल का पुत्र और उत्तराधिकारी गोपाल हुआ । गोपाल के बाद उसके लड़के हर्षपाल ने गद्दी धारण की । हर्षपाल की रानी रत्ना से उत्पन्न पुत्र धर्मपाल कामरूप का अगला राजा हुआ, जिसके तीन अभिलेख प्राप्त हुए हैं[१] । उसका राज्यकाल १२वीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में स्वीकार किया जाता है । वह विद्वान् पुरुष था जो इस बात से प्रमाणित होता है कि उसने अपने एक अभिलेख का कुछ

---

१. जएसो०, बेंगाल, १८९७, जि० ६६, पृ० ११३-१३२; गेट, हिस्ट्री ऑफ् असम, १९६३, पृ० ३५ ।

भाग स्वयं ही लिखा था। सिलिमपुर[१] से प्राप्त प्रहास नामक ब्राह्मण के एक स्तम्भ अभिलेख से जयपालदेव नामक कामरूप के एक अन्य राजा (कामरूपनृपति) की जानकारी होती है। किन्तु कामरूप के तत्कालीन इतिहास का तिथिक्रम निश्चित न होने से यह कह सकना कठिन है कि वह इन्द्रपाल–धर्मपाल के बीच में गद्दी पर आने वाला कोई शासक था अथवा धर्मपाल के बाद गद्दी पर बैठा। सिलिमपुर के अभिलेख में यह कहा गया है कि मूलतः श्रावस्ती में रहने वाले ब्राह्मणों के वंशज प्रहास ने जयपालदेव के अनेक आग्रहों पर भी न तो उससे **तुलापुरुषदान** का स्वर्ण स्वीकार किया और न उसकी दान की हुई भूमि ही ली। जयपालदेव का नाम कामरूप के राजाओं की आधिकारिक सूची में नहीं मिलता[२]। कुछ लोग उसे धर्मपाल का पुत्र मानते हैं, किन्तु इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

पाल आक्रमण से बख्तियार खलजी के आक्रमण तक

संध्याकरनन्दीकृत **रामपालचरित** (तृतीय, ४७) से यह ज्ञात होता है कि पाल-वंशी राजा रामपाल ने वारेन्द्री में अपने उपद्रवी सामन्तों का दमन करने के पश्चात् पूर्व और दक्षिण की दिशाओं में पाल प्रतिष्ठा बढ़ाने का प्रयत्न किया। कामरूप पर पाल आक्रमण का नेता सम्भवतः तिंग्यदेव था। उसने वहाँ के राजा को मारकर पालों की अधिसत्ता स्वीकार करने वाले एक सामन्त राज्य की स्थापना की[३]। तिंग्यदेय की बहुत प्रतिष्ठा थी। किन्तु थोड़े ही समय बाद उसने पालसत्ता के विरुद्ध स्वयं विद्रोह कर दिया। इस विद्रोह की जानकारी वाराणसी नगर के पास गंगा और वरुणा के संगम पर स्थित कमौली नामक गाँव से मिलने वाले वैद्यदेव नामक एक राजा के दानपत्र से होती है[४]। उसमें यह लिखा है कि वैद्यदेव गौडराज कुमारपाल का अत्यन्त प्रिय मंत्री था और उसका पिता बोधिदेव रामपाल का मंत्री रह चुका था। वैद्यदेव एक योग्य मन्त्री ही नहीं अपितु एक कुशल सेनापति भी था, जो कुमारपाल द्वारा तिंग्यदेव का विद्रोह दबाने के लिए भेजा गया। अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक प्रयाणकर उसने तिंग्यदेव को हराया और मार डाला तथा 'पूर्वदिशा में स्वयं राजा हो गया।' कमौली अभिलेख से यह भी ज्ञात होता है कि वैद्यदेव

---

१. एइ०, जि० १३, पृ० २८३–२९५।

२. देखिए पद्मनाथ भट्टाचार्य विद्याविनोद, कामरूप शासनावली, पृ० १४६ और आगे।

३. कामरूप शासनावली, पृ० १४६; अन्य मतों के लिए देखिए, इहिक्वा०, जि० १२ पृ० ६३०; क० ला० बरुआ, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १९० और आगे।

४. एइ०, जि० २, पृ० ३४७।

ने श्रीधर नामक एक ब्राह्मण को प्राग्ज्योतिषभुक्ति के कामरूपमण्डलान्तर्गत बदविषय के कुछ गाँवों की भूमि दान दी। वह अभिलेख हसकोंची के विजय स्कन्धावार से वैद्यदेव के शासन के चौथे वर्ष प्रकाशित किया गया था[१]। उसमें उसे **महाराजाधिराज परमेश्वर परमभट्टारक** की उपाधियाँ दी गयी हैं, जिनसे यह स्पष्ट लगता है कि वैद्यदेव ने स्वयं भी पालों की अधिसत्ता बहुत दिनों तक नहीं स्वीकार की। पालों की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई कमजोरी के कारण यह स्वाभाविक ही था। दुर्भाग्यवश इस अभिलेख की ठीक-ठीक तिथि ज्ञात नहीं है। ऐसी स्थिति में विभिन्न विद्वानों ने वैद्यदेव का राज्यकाल अलग-अलग रूप में माना है।

वैद्यदेव के शासन-समय और शासित क्षेत्रों के बारे में जैसी अनिश्चितता है, वैसी ही अनिश्चितता उसके बाद के कामरूप के इतिहास के बारे में भी है। हमारे पास ऐसे स्पष्ट प्रमाण नहीं है, जिनसे उसका क्रमिक और सर्वमान्य इतिहास लिखा जा सके। कुछ विद्वानों ने ऐसा माना है कि वैद्यदेव के बाद दो अज्ञात शासकों ने शासन किया। कइयों के मत में वैद्यदेव का उत्तराधिकारी उसका भाई बुधदेव हुआ। किन्तु इस सम्बन्ध में कोई निश्चित मत नहीं बनाया जा सकता। तेजपुर से शक संवत् ११०७=११८५ ई० का एक दानपत्राभिलेख मिला है,[३] जिसे वल्लभदेव का असम अभिलेख पुकारा जाता है। उससे चन्द्रवंश में उत्पन्न भास्कर और उसके क्रमशः तीन उत्तराधिकारियों के नाम ज्ञात होते हैं, जिन्हें **नृप** रायारिदेव **त्रैलोक्यसिंह,** उदयकर्ण **निःशकसिंह** और वल्लभदेव **श्रीवल्लभ** कहा गया है। वल्लभदेव ही उपर्युक्त अभिलेख का प्रकाशक था। किन्तु यदि ये शासक वैद्यदेव के वंश के होते तो वल्लभदेव के अभिलेख में उसका नाम अवश्य आता। अतः इस सम्बन्ध में निम्नलिखित दो में कोई भी एक सम्भावना हो सकती है–एक तो यह कि वल्लभदेव के किसी पूर्वज राजा ने वैद्यदेव के वंशजों का उन्मूलन कर एक स्वतंत्र राज्य

---

१. इन स्थानों की पहचान और कामरूप में वैद्यदेव के अधिकार-क्षेत्र आदि के बारे में देखिए—एइ०, जि० २, पृ० ३४७ और आगे; पद्मनाथ भट्टाचार्य, कामरूप शासनावली, पृ० ४० और आगे; क० ला० बरुआ, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १९०-१९५।

२. कमौली अभिलेख के सम्पादक वेनिस् ने उसके प्रकाशन का समय ११४२ ई० माना। और देखिए, क० ला० बरुआ, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १९५; हेमचन्द्र राय, पूर्वनिर्दिष्ट जि० १, पृ० २५७-५८; रा० दा० बनर्जी, बांगलार इतिहास, जि० १, पृ० २८४-८५।

३. एइ०, जि० ५, पृ० १८१-१८२।

की स्थापना कर ली अथवा दूसरी यह कि असम के किसी भाग[१] में **नृप** रायारिदेव और उसके वंशज भी स्वतंत्र रूप से शासन करने लगे। किन्तु उनकी पूर्ण स्वतंत्रता का कोई प्रमाण नहीं मिलता। न तो वल्लभदेव की राजधानी का कहीं उल्लेख है और न उसकी स्वतंत्रता के सूचक विरुद अथवा अन्य किसी लक्षण का। वल्लभदेव के असम अभिलेख से इतना अवश्य ज्ञात है कि रायारिदेव ने 'वंग के राजा को युद्धक्षेत्र में शस्त्रप्रयोग बन्द कर देने को विवश कर दिया'। किन्तु उससे यह नहीं ज्ञात है कि वह युद्धक्षेत्र कहाँ था और वंग का इस सन्दर्भ का राजा कौन था। अधिकांश विद्वान् ऐसा स्वीकार करते हैं कि बंगाल का वह राजा विजयसेन था, जिसके देवपाड़ा अभिलेख में कामरूप के राजा का उल्लेख आता है। डॉ० गांगुली का मत[२] है कि विजयसेन कामरूप के शासक रायारिदेव द्वारा पराजित हुआ। किन्तु सम्बद्ध स्थलों से यह स्पष्ट नहीं होता कि रायारिदेव अथवा विजयसेन में किसकी विजय अथवा पराजय हुई। वास्तव में उपर्युक्त दोनों अभिलेखों में कोई भी किसी भी स्पष्ट विजय का दावा नहीं करता। वल्लभदेव का अभिलेख केवल इतना कहता है रायारिदेव ने 'वंग के राजा को युद्ध में शस्त्र प्रयोग बन्द कर देने को विवश कर दिया।' विजयसेन भी केवल इस बात का दावा करता है कि उसने 'कामरूप के राजा को हटा दिया।' ऐसी स्थिति में सही निर्णय यह होगा कि रायारिदेव और विजयसेन की मुठभेड़ असम और दक्षिण-पूर्वी बंगाल की सीमाओं पर कहीं हुई, किन्तु उसमें किसी की विजय अथवा पराजय के रूप में कोई सैनिक निर्णय नहीं हुआ। यह भी निर्णय करने का हमारे पास कोई साधन नहीं है कि रायारिदेव एक स्वतंत्र शासक के रूप में वंग के राजा से लड़ा था अथवा कामरूप की किसी अन्य राजनीतिक सत्ता के सामन्तरूप में। इस समय के कामरूप के अस्पष्ट इतिहास से यह निष्कर्ष निकलता है कि १२वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में उसकी राजनीतिक सत्ता शिथिल हो चुकी थी, जिसके परिणामस्वरूप उसपर आक्रमणकारियों की कुदृष्टि पड़ने लगी। सेन राजा लक्ष्मणसेन ने कामरूप पर आक्रमण कर उसके राजा को पराजित किया। यह घटना १२वीं शती के अन्त की प्रतीत होती है, किन्तु यह स्पष्टतः ज्ञात नहीं है कि कामरूप का वह पराजित राजा कौन था।[३]

---

१. एक मान्यता यह है कि पूर्वी बंगाल से सटे हुए कामरूप के भागों पर ये शासक शासन करते थे। देखिए, इहिक्वा०, १९२७, पृ० ८५३।

२. दि स्ट्रगल् फॉर इम्पायर, पृ० ४३।

३. देखिए, माधाइनगर अभिलेख, जएसो०, बेंगाल जि० ५, नयी अवली, पृ० ४६ और आगे; डॉ० हेमचन्द्र राय का अनुमान है (डाहिनाइ०, जि० १: पृ० २६०) कि असम का यह पराजित राजा वल्लभदेव था। यह मत डॉ० गांगुली ने भी स्वीकार कर लिया। देखिए, दि स्ट्रगल् फॉर इम्पायर, पृष्ठ ४३।

बख्तियार खलजी का असफल आक्रमण

भारतीय इतिहास में १२वीं शती का अन्तिम भाग और १३वीं शती का प्रारम्भ मुसलमानी आक्रमणों का समय था, जिनके फलस्वरूप हिन्दू राज्यों का एक-एक करके अन्त हो गया और उनके स्थान पर मुसलमान सत्ता की स्थापना हो गयी। उत्तर-पश्चिम और पश्चिम के भागों से प्रवेश कर तुर्क-अफगानों ने बारी-बारी से उत्तर भारत के सभी राजपूत राजवंशों को धराशायी कर दिया। विनाश एवं संहार करते हुए क्रमशः वे पूर्व की ओर बढ़ने लगे। किन्तु उनका बढ़ाव सर्वदा अप्रतिरुद्ध नहीं रहा। उत्तर भारत में उनके पूर्णरूप से स्थापित हो जाने पर भी पूर्व में उड़ीसा (जाजनगर) और कामरूप के राजाओं ने उनके बार-बार होने वाले आक्रमणों को असफल कर उन्हें पीछे ढकेल देने में कई दशकों तक पूर्ण सफलता प्राप्त की। इसके प्रमाण उनके अभिलेखों में तो मिलते ही हैं, मुसलमानी इतिहासकारों के ग्रन्थों से भी प्राप्त होते हैं। मिनहाजुद्दीन कृत **तबकाते-नासिरी** से ज्ञात होता है[1] कि मुहम्मद-इब्न् बख्तियार खलजी ने १२०२ ई० में सेनवंशी राजा लक्ष्मणसेन (राय लखमनिया) को उसकी राजधानी लक्ष्मणावती=लक्षणावती अथवा लखनौती (मालदा जिले का गौर) से भगाकर दक्षिण-पूर्वी बंगाल में मुसलमानी शासन की स्थापना की। उसके पूर्व वह मगध और उत्तरी बंगाल हस्तगत कर चुका था। किन्तु उसकी सैनिक महत्त्वाकांक्षाएँ उतने से ही संतुष्ट नहीं हुईं और वह १२०५ ई० में १० या १२ हजार घुड़सवारों के साथ तिब्बत और तुर्किस्तान अथवा चीन की विजय के लिएं चल पड़ा। मुसलमान धर्म में नवदीक्षित अलीमेच नामक कोई मेच सरदार उसकी सेना का पथप्रदर्शक बना। दिनाजपुर जिले में स्थित देवकोट और वर्धमानकोट होता हुआ वेगमती[2] नदी का उत्तरी किनारा पकड़कर दस दिनों की यात्रा के बाद वह एक ऐसे स्थान पर पहुँचा, जहाँ नदी पर पत्थरों से बना हुआ २० से अधिक मेहराबों वाला एक पुल था। उसे पारकर वह कामरूप की सीमाओं में प्रविष्ट हुआ। वहाँ कामरूप के राजा ने बख्तियार की तिब्बत की प्रस्तावित विजय-यात्रा के विरुद्ध परामर्श देते हुए उसके पास

---

१. देखिए, तबकाते-नासिरी का अंग्रेजी अनुवाद, रैवर्टी, पृ० ५६०-५७२।

२. इस नदी की ठीक-ठीक पहचान नहीं हो सकी है। ब्लाकमन् ने इसे करतोया नदी से मिलाया। हेमचन्द्रराय ने उस मत को सहमति देते हुए यह स्वीकार किया कि बख्तियार के सैनिकों की दस दिनों तक की यात्रा करतोया और तिस्ता (त्रिस्रोता) के उत्तरी किनारों से थी। देखिए, डाहिनाइ०, प्रथम, पृ० २६१। किन्तु नलिनिकान्त भट्टसाली ने वेगमती की पहचान ब्रह्मपुत्र से की, जो रांगाभाटी से थोड़ी दूर पर बहती थी। मजुमदार महोदय (दि स्ट्रगल् फॉर इम्पायर, पृ० १२३) भी इसे ब्रह्मपुत्र ही मानते हैं।

एक संदेश भेजा। उसने कहला भेजा–'तिब्बतदेश पर चढ़ाई का यह उचित समय नहीं है और लौट जाना आवश्यक है। उसके लिए भरपूर तैयारी होनी चाहिए। मैं कामरूप का राजा हूँ और इस बात के लिए तैयार हूँ कि अगले वर्ष अपनी सेनाओं को सज्ज करके मुसलमानी सेनाओं के आगे-आगे प्रयाण करते हुए उस देश की विजय में सहायक होऊँगा'।[१] किन्तु बख्तियार ने इस परामर्श पर ध्यान नहीं दिया। वह आगे बढ़ता गया और अन्त में एक उपजाऊ, घने रूप से बसे हुए और अनेक दुर्गों से युक्त मैदान में पहुँचा। वहाँ उसकी सेना ने लूटपाट प्रारम्भ कर दिया। वहाँ के निवासियों ने अपने देश के सैनिकों के साथ मिलकर आक्रमणकारियों का ऐसा जोरदार मुकाबला किया कि अन्ततः उन्हें अपनी ही प्रतिरक्षा के लिए विवश होना पड़ा। इसी बीच बख्तियार को यह भी सूचना मिली कि शत्रुओं की सहायता के लिए ५०००० और सैनिक आ रहे हैं। परिणामतः उसकी हिम्मत एकदम टूट गयी और उसने लौटने का निश्चय कर लिया। लौटते हुए उसे प्रबल मानव प्रतिरोध के अतिरिक्त प्रकृति के कोप का भी शिकार होना पड़ा। इस उद्देश्य से कि शत्रु की थकी-मादी और पिटी सेना को लौटते हुए कुछ भी खाने-पीने को न मिले, पहाड़ियों ने अपने सारे जंगलों तथा घास और हरियाली को जला दिया। उस स्थिति में मुसलमानी सेना और उसके घोड़ों को कोई वस्तु खाने को न मिली और उसके सैनिकों को अपने पशुओं को ही खाना पड़ा। इस प्रकार बख्तियार जब उत्तर की तिब्बती, मंगोली और पार्वत्य हिन्दुओं की सेनाओं से त्रस्त था, कामरूप के राजा ने भी उसका रास्ता पीछे से काट देने का निश्चय कर लिया। यह निश्चय राजनीतिक और सैनिक दोनों ही दृष्टियों से बुद्धिमत्तापूर्ण था। मुसलमानों की लौटती हुई सेना पर असमिया सैनिक टूट पड़े, उनमें बहुत से या तो मार डाले गये अथवा कैद कर लिये गये। इन अनेक विपत्तियों के बीच जब बख्तियार उस नदी को वापस पार करने लौटा, जिससे होकर वह तिब्बत की ओर चढ़ा था, तो उसे उसका पुल नष्ट किया हुआ मिला। विवश होकर वह एक मन्दिर में अपनी रक्षा के लिए छिपा। किन्तु कामरूप के राजा ने वहाँ भी उसे घेर लिया। मुसलमानी सैनिक अपने प्राणों को बचाने के लिए भागकर नदी में कूद पड़े किन्तु उसकी तेजधारा में लगभग एक सौ को छोड़कर सभी बह गये। बख्तियार बचने वालों में एक था और किसी तरह विपत्ति का मारा वह अपनी राजधानी गौर (लखनौती) पहुँचा। वहाँ थोड़े ही समय बाद वह अपने ही किसी सैनिक द्वारा मार (१२०६ ई०) डाला गया।

बख्तियार खलजी के तिब्बत और असम पर किये गये आक्रमण की भयंकर असफलता मिनहाज के उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है। इस आक्रमण के पीछे उसका

---

१. देखिए, रैवर्टी, तबकाते-नासिरी का अंग्रेजी अनुवाद, पृ० ५६४।

वास्तविक उद्देश्य क्या था, इस पर अनेक विचार[1] हैं। लगता यह है कि बिहार और बंगाल की गिरी हुई तत्कालीन राजनीतिक स्थिति के कारण उन्हें अत्यन्त आसानी से हस्तगत कर लेने में उसे जो सफलता मिली थी उससे वह अहंकारी, महत्त्वाकांक्षी और दुस्साहसी हो गया था। असम और तिब्बत पर अपने अभियानों की सम्भावित कठि-नाइयों का उसने कोई अनुमान नहीं लगाया। ऐसी भूलें भारतीय इतिहास में बख्तियार के बाद भी कई राजनायकों अथवा सेनापतियों ने कीं और परिणामतः, प्रायः प्रत्येक अवसर पर एक ही जैसा हाल हुआ। उदाहरण के लिए, शाहशुजा के नाम पर अंग्रेजी सेनाओं के १८३९ ई० में अफगानिस्तान पर अधिकार के लिए किये गये प्रयत्न को; अथवा असफलता के बाद; वहाँ से १८४८ ई० में उनके भागते समय; अथवा भारतीय सेनाओं को अपनी ही प्रतिरक्षा में १९६२ ई० में चीनियों के विरुद्ध वैसी ही दुर्दशाएँ भोगनी पड़ीं, जैसी बख्तियार की हुई थीं। किन्तु बख्तियार की अदूरदर्शिता की ओर इंगित करते हुए असमियों की वीरता और दूरदर्शिता का महत्त्व कदापि कम नहीं किया जा सकता। कामरूप के राय ने प्रथमतः बख्तियार को समझा-बुझाकर तथा भविष्य में अपनी भी सहायता प्रस्तुत करने का वचन देकर लौटाने का जो प्रत्यत्न किया वह कदाचित् इस कारण था कि उसने अपनी सीमित शक्ति की तुलना में मुसलमानी आक्रामकों के विस्तृत साधनों का ठीक-ठीक अनुमान लगाया था। उनसे भयभीत होकर असम के क्षेत्रों से तिब्बत की ओर जाते हुए भी आक्रामकों का उसने कोई प्रतिरोध नहीं किया। लेकिन ज्यों ही उसंने उन्हें विपत्ति और दबाव में देखा, त्यों ही एक सच्चे और जागरूक राजनीतिज्ञ की तरह उनपर प्रहार करने का निश्चय कर लिया। वह बुद्धिमानी राजा कौन था, इस पर मतैक्य नहीं है। कुछ विद्वान्[2] ऐसा स्वीकार करते हैं कि वह वैद्यदेव का वंशज वृतु अथवा पृथु था। किन्तु अन्यों के मत[3] में वह वल्लभदेव भी हो सकता है। किन्तु जानकारी की अपूर्णता की स्थिति में इस सम्बन्ध में कुछ भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। इन मुसलमानी आक्रामकों की पराजय की जानकारी गोहाटी से थोड़ी दूर उत्तर

---

१. ब्लाकमन् ने इस आक्रमण को बख्तियार की महत्त्वाकांक्षा और मूर्खता का परिचायक माना है। हेमचन्द्र राय इसका उद्देश्य यह समझते हैं कि बख्तियार तिब्बत से उत्तरी बंगाल और असम के व्यापारी रास्तों पर अपना नियन्त्रण कर उनसे होने वाले व्यापार का लाभ उठाना चाहता था। देखिए—डाहिनाइ०, प्रथम, पृ० २६३।

२. देखिए, वूलज़्ले हेग, कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, जि० ३; क० ला० बरुआ, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १९८-१९९।

३. हेमचन्द्र राय, डाहिना०, जि० १, पृ० २६०।

से मिले हुए एक प्रस्तर अभिलेख से भी होता है। उसमें कहा गया है कि 'शक संवत् ११२७ की चैत्र त्रयोदशी के दिन कामरूप में आये हुए तुरुष्क नष्ट हो गये[१]।' इस अभिलेख का प्रकाशक और प्रकाशन समय अज्ञात हैं। सम्भवतः यह १३वीं शती का है, जो कामरूप में मुसलमानी पराजय की प्रचलित परम्परा का सही उल्लेख करता है।

❁❁❁

---

१. शाके तुरगजुग्मेश मधुमासत्रयोदशे।
कामरूपं समागत्य तुरुष्का क्षयमायसुः ।। क० ल० बरुआ द्वारा उद्धृत, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ २११।

१३

गाहडवाल राजवंश

उत्पत्ति

कन्नौज और काशी के गाहडवाल राजाओं के वंश के बारे में हमें बहुत ही कम जानकारी प्राप्त है। यद्यपि उनके कुछ अभिलेखों[१] में उन्हें क्षत्रिय कहा गया है, न तो उन्हें कहीं सूर्य अथवा चन्द्र से जोड़ा गया है, और न किसी प्रसिद्ध राजवंश से ही। गहडवाल अथवा गाहडवाल नाम भी उनके कुछ ही अभिलेखों में आया है। समकालिक साहित्य में भी उनकी चर्चा नहीं है। ऐसी स्थिति में विभिन्न विद्वानों ने गाहडवालों को पालों[२], राष्ट्रकूटों, कर्णाट-चालुक्यों[३] अथवा विन्ध्याचल की पहाड़ियों के आसपास रहने वाले भारत के उन मूल निवासियों से जोड़ा है, जिन्होंने हिन्दूधर्म के प्रभाव में आकर राजकार्यों में लग जाने पर अपने को क्षत्रिय कहना प्रारम्भ कर दिया। इस सम्बन्ध के विभिन्न मत प्राय: उन अनुश्रुतियों पर आधृत हैं, जो आजकल अपने को गाहडवाल अथवा राठौर समझनेवाले क्षत्रिय राजपरिवारों में प्रचलित हैं। उन्हें राष्ट्रकूटवंश का माननेवाले[४] विद्वान् निम्नलिखित प्रमाण उपस्थित करते हैं—

---

१. चन्द्रावती से प्राप्त दो अभिलेख, एइ० जिल्द १४, पृ० १९३-२०९; इहिक्वा०, १९४९, पृष्ठ ३२ और आगे। कुमारदेवी का सारनाथ अभिलेख (एइ० जिल्द ९, पृष्ठ ३२४, श्लोक ४) चन्द्रदेव के बारे में कहता है 'जगति गहडवाले क्षत्रवंशे प्रसिद्धेऽजनि नरपतिश्चन्द्रश्चन्द्रनामा नरेन्द्रः।'

२. होयर्नल, इऐ० जिल्द १४, पृष्ठ ९८, १०९।

३. र० चं० मजुमदार, हिस्ट्री ऑफ् बेंगाल, जिल्द १, पृ० २०९; इहिक्वा०, जिल्द ७ पृष्ठ ६३४ नोट तथा ६८१ और आगे।

४. पं० रामकरन, आशुतोष मुकर्जी रजत जयन्ती अंक (अंग्रेजी में) भाग २, पृ० २५९-२६७; विश्वेश्वरनाथ रेउ, जराएसो०, १९३०, पृ० १११-१२९; चि० वि० वैद्य, हिमेहिइ०, जिल्द ३, पृ० २१७-२२१ अथवा 'हिन्दू भारत का अन्त', पृ० ३३४ और आगे; और देखिए, जइहि०, जिल्द १५, पृ० २४-२९।

१—मिर्जापुर में स्थित माँड़ा-बीजापुर के राजा अपने को राठौर कहते हैं तथा जयच्चन्द्र के छोटे भाई मानिकचन्द्र से अपनी उत्पत्ति मानते हैं।

२—मारवाड़ के राठौर (राष्ट्रकूट) अपने को सीहाजी से जोड़ते हैं। चूँकि वह जयच्चन्द्र का पुत्र अथवा पौत्र था, गाहडवालों को भी राठौर अथवा राष्ट्रकूट कुल का ही स्वीकार करना चाहिए।

३—चन्द्रबरदायीकृत **पृथ्वीराजरासो** में जयच्चन्द्र को कामदान अथवा राठौर कहा गया है। वहाँ क्षत्रियों के ३६ कुलों में राठौरों की गिनती तो की गयी है किन्तु गाहडवालों का उनसे स्वतन्त्र रूप में अलग कोई उल्लेख नहीं मिलता। उससे निष्कर्ष यह निकलता है कि गाहडवाल राठौरों की ही एकजातीय शाखा थे[१]।

४—अभिलेखों[२] से यह प्रमाणित है कि ग्यारहवीं शती में कन्नौज और उसके आस-पास (बदायूँ) के क्षेत्रों में राष्ट्रकूटों ने अनेक राजवंशों की स्थापना कर ली थी। अतः लखनपाल (राष्ट्रकूट) के बदायूँ अभिलेख में वर्णित चन्द्र को गाहडवाल वंश के चन्द्र से मिलाना चाहिए।

किन्तु गाहडवालों को राष्ट्रकूटों अथवा राठौरों से जोड़नेवाले तर्क कई कारणों से ग्राह्य नहीं प्रतीत होते। प्रथमतः तो गाहडवाल शासक कभी भी अपने को राठौर नहीं कहते। दूसरे उनका गोत्र कश्यप था जबकि राठौरों का गोत्र गौतम है और वे दोनों आपस में विवाह करते हैं। यदि वे एक ही कुल के होते तो परस्पर विवाह सबंध न होते। तीसरे, लखनपाल के बदायूँ अभिलेख की तिथि नहीं ज्ञात है और असम्भव नहीं है कि वह गाहडवाल शासकों के समय से बहुत बाद का हो। अतः उसके चन्द्र को गाहडवाल शासक चन्द्र से जोड़ना निर्विवाद नहीं कहा जा सकता। चौथे, बीथू से एक अभिलेख मिला है (इऐ०, जिल्द ५०, पृ० १८१), जो सीहाजी की मृत्युतिथि वि० सं० १३३०=१२७३ ई० बताता है। वह जयच्चन्द्र गाहडवाल के समय से इतना दूर है कि वह उसका पुत्र अथवा पौत्र नहीं जान पड़ता। यही नहीं, ९९७ ई० के हथुण्डी (हस्ति-कुण्डी) अभिलेख (एइ०, जिल्द १०, पृ० १७-२४) से यह ज्ञात होता है कि

---

१. कुछ विद्वान् उनके गाहडवाल नाम की उत्पत्ति दक्षिण भारत के गाहड अथवा गावरमाड नामक स्थान से मानते हैं। देखिए चि० वि० वैद्य हिमेहिइ०, जिल्द ३, पृ० २१७ और आगे तथा 'हिन्दू भारत का अन्त', पृ० ३३४ और आगे; र० चं० मजुमदार, इहिक्वा०, जिल्द ७, पृ० ६३४, नोट १।

२. सूरत अभिलेख इऐ०, जिल्द १२, पृष्ठ २०१; लखनपाल का बदायूँ अभिलेख, एइ०, जिल्द १, पृ० ६४।

गाहडवालों के लगभग १०० वर्षों पूर्व ही राजस्थान के मारवाड़ क्षेत्र में राष्ट्रकूटों (राठौरों) की बस्तियाँ बस गयी थीं। ऐसी स्थिति में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि कन्नौज अथवा बदायूँ के राष्ट्रकूटों का गाहडवालों से कोई सम्बन्ध था ही। पाँचवें, **पृथ्वीराजरासो** के **आल्हा प्रस्ताव** में गहरवारों का उनके नाम से स्पष्ट उल्लेख है। कर्नल टॉड ने राज्यस्थान के ३६ क्षत्रिय कुलों की जो सूची तैयार[1] की, उसमें उनका स्वतन्त्र रूप में नाम आता है। स्वयं गोविन्दचन्द्र की रानी कुमारदेवी के सारनाथ अभिलेख में जहाँ उसके पति को गाहडवालवंश का बताया गया है, वहीं उसकी माँ को राष्ट्रकूटवंशोत्पन्ना कहा गया है। उसमें ऐसा कोई उल्लेख नहीं है कि वे दोनों वंश एक ही थे।

गहडवाल, गाहडवाल, गाहड़वाल अथवा गहरवार शब्दों की उत्पत्ति के बारे में भी हमें कोई स्पष्ट जानकारी नहीं प्राप्त होती। पीछे हम देख चुके हैं कि कुछ विद्वान् इन्हें पोरवाल, अग्रवाल अथवा ओसवाल की तरह स्थानवाची स्वीकार करते हैं। मिर्जापुर में स्थित कन्तित अथवा कान्तित का क्षत्रिय कुल अपने को गाहडवाल मानता है। उसका विश्वास है (मिर्जापुर गजेटियर पृ० २०४) कि उसका पूर्वपुरुष प्रसिद्ध राजा ययाति (चन्द्रवंशी) का देवदास नामक कोई वंशज था, जिसे सत्पथ से भ्रष्ट करने का शनि ग्रह ने बड़ा प्रयत्न किया। किन्तु वह अपने सत्कर्मों से विचलित न हुआ और उस कारण उसे **ग्रहवर** या **ग्रहवार** (दुष्ट ग्रह शनि का वारण करनेवाला) की उपाधि मिली। इसी से आगे गहरवार अथवा गहडवाल शब्द निकला। किन्तु पुराणों में गह्वर अथवा गिरिगह्वर नामक एक जाति का वर्णन आता (विल्सन्, विष्णुपुराण, पृष्ठ १९६) है, जो जंगलों और पहाड़ों की कन्दराओं में रहती थी। अतः कुछ लोगों ने गाहडवाल को गह्वरवासी माना है। ऐसा प्रतीत होता है कि मिर्जापुर की पहाड़ियों के आसपास रहनेवाली किसी पहाड़ी जाति ने अवसर पाकर काशी के पास अपने लिए एक राज्य का निर्माण कर लिया, जो कालान्तर में कन्नौज पर अधिकार कर गाहडवाल वंश के रूप में सामने आयी। यह अनुमान इस उल्लेख[2] से पुष्ट होता है कि कल्याणी के चालुक्य राजा प्रथम सोमेश्वर **आहवमल्ल** (१०४२-१०६८ ई०) की शक्ति के भय से 'प्रारम्भ से ही अनियन्त्रित कन्नौज के राजा ने जल्दी ही गुहाओं (गह्वरों) का आश्रय ले लिया।' तथापि पीछे जिन साक्ष्यों का उल्लेख हुआ है, उनसे गाहडवालों के वंश के बारे में कोई स्पष्ट चित्र सामने नहीं आता। वे कभी तो अपने को सूर्यवंशी कहते हैं और कभी चन्द्रवंशी। वे स्वयं अपने

---

१. ऐनेल्स् ऐण्ड ऐन्टीक्विटीज ऑफ् राजस्थान (क्रुक द्वारा सम्पादित), जिल्द १, पृ० ९८।

२. ऐऊर पट्टाभिलेख, इऐ०, जिल्द ८, पृष्ठ १९।

को राष्ट्रकूटों से नहीं जोड़ते । उनके निजी अभिलेख तो उन्हें स्वतन्त्ररूप से उपस्थित करते हैं, किन्तु अन्यत्र समसामयिक साहित्य में गाहडवाल शब्द का कहीं भी प्रयोग नहीं हुआ है । ऐसी स्थिति में उनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में हम कोई निश्चित मत नहीं प्रकट कर सकते ।

प्रारम्भिक इतिहास : दोआब पर अधिकार के लिए होड़

कन्नौज के गुर्जर प्रतीहारों के पतन के परिणामस्वरूप उत्तर भारत में राजनीतिक अराजकता सी व्याप्त हो गयी । महमूद गजनवी के अनेक धावों तथा लाहौर में स्थायी रूप से स्थापित उत्तराधिकारियों के आक्रमणों में अन्तर्वेदि अर्थात् गंगा–यमुना का दोआब त्रस्त होने लगा । इसी स्थिति में डाहल के कलचुरि राजा गांगेयदेव तथा मालवा के परमार राजा भोज ने प्रतीहारों के अनेक क्षेत्रों पर बारी–बारी से अधिकार कर लिया । मुसलमान लेखक अब्दुल् बैहकी कहता[१] है कि १०३३ ई० में बनारस पर नियाल्तगीन द्वारा किये गये आक्रमण के समय वहाँ का राजा गंग (गांगेयदेव) था । उसके कुछ सिक्के कन्नौज नगर से प्राप्त हुए (इऐ०, जिल्द १४, पृ० ९९) थे । जबलपुर अभिलेख की सूचना (एइ०, जिल्द २; पृष्ठ ४; श्लोक १२) है कि उसने अपनी १०० रानियों के साथ प्रयाग के तीर्थस्थल में प्राणत्याग किया । स्पष्ट है कि गांगेयदेव कलचुरि ने प्रतीहारों के दक्षिण–पूर्वी क्षेत्रों पर ११वीं शती के चौथे दशक में अपना अधिकार स्थापित कर लिया था । किन्तु उसी समय मालवा का भोज परमार (१०१०–१०५५ ई०) भी अपनी शक्ति का विस्तार कर रहा था और अन्त में उसने गांगेयदेव को अपदस्थकर पूर्वी उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बिहार के कुछ क्षेत्रों पर अपनी सत्ता स्थापित कर ली । **प्रबन्ध-चिंतामणि** में मेरुतुंग कहता है कि भोज की शक्ति के सामने 'राजाओं में सुभट समान कान्यकुब्ज कुबड़ा हो गया है[२] ।' किन्तु भोज को अपने विजित क्षेत्रों की रक्षा के लिए गांगेयदेव के पुत्र लक्ष्मीकर्ण से अनवरत युद्ध करने पड़े । अन्त में काशी का क्षेत्र उसके अधिकार से निकलकर लक्ष्मीकर्ण के हाथ में चला गया, जहाँ उसने एक विशाल मन्दिर (कर्णमेरु) की स्थापना की । यही नहीं, उसने कन्नौज़ होते हुए कीर अर्थात् हिमांचल प्रदेश की तलहटियों में स्थित कांगड़ा प्रदेश तक अपनी विजयें कीं[३] । किन्तु कालान्तर में

---

१. इलियट् ऐण्ड डाउसन्, हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया ऐज् टोल्ड बाइ इट्स् ओन हिस्टॉ-रियन्स्, जिल्द २, पृष्ठ १२३, १२४ ।

२. प्रचिद्वि०, पृ० ४० ।

३. इऐ०, जिल्द १८, पृ० २१७ ।

उसे भी गुजरात के सोलंकी राजा प्रथम भीम (१०२४-१०६४ ई०), कल्याणी के चालुक्य राजा प्रथम सोमेश्वर (१०४२-१०६८ ई०) और चन्देल राजा कीर्त्तिवर्मा (१०६०-११०० ई०) के सामूहिक आक्रमणों का शिकार होना पड़ा और उत्तर प्रदेश के अधिकृत क्षेत्र उसके हाथों से निकल गये । सम्भवतः इन्हीं परिस्थितियों में गाहडवाल वंश की स्थापना हुई । मध्य और दक्षिण-पश्चिम की विभिन्न राजनीतिक सत्ताओं के बीच इस समय (११वीं शती के द्वितीय और तृतीय चतुर्थांश में) जो आपसी प्रतिस्पर्धा चल रही थी, उसके परिणामस्वरूप एक ऐसी राजनीतिक स्थिति पैदा हो गयी थी जो उत्तर भारत में किसी भी महत्त्वाकांक्षी वीर के लिए अपने हाथ दिखाने का मानों एक खुला निमन्त्रण था । गाहडवालवंश के संस्थापक चन्द्रदेव ने इस अवसर से लाभ उठाने में देर नहीं की ।

गाहडवाल वंश में सबसे पहला नाम यशोविग्रह का ज्ञात होता है । सूर्यकुल अर्थात् गुर्जर प्रतीहारों के राजा देवपाल के उत्तराधिकारियों के अन्त के बाद कान्यकुब्ज पर बलात् अधिकार कर लेनेवाले[१] वंश में वह पैदा हुआ था । यह देवपाल[२] द्वितीय महेन्द्रपाल (९४६ ई०) का उत्तराधिकारी था, जिसके समय से कन्नौज के प्रतीहार साम्राज्य की अवनति प्रारम्भ हो चुकी थी । तथापि मुसलमानी इतिहासकारों से ज्ञात होता है कि १०१७-१०१८ ई० तक कन्नौज पर राज्यपाल प्रतीहार का अधिकार था । अतः यशोविग्रह के वंशजों ने उसके बाद ही उसपर अधिकार किया होगा । अभिलेखों में उसके नाम के साथ कोई राजकीय विरुद नहीं लगाया गया है । अतः यह जान पड़ता है कि वह कदाचित् कलचुरि कर्ण का कोई अधिकारी था । यशोविग्रह का पुत्र मही-चन्द्र अथवा महीतल या महीयल हुआ । गोविन्दचन्द्र के अभिलेखों में उसे 'नृप' की उपाधि[३] दी गयी है । साथ ही यह भी कहा गया है कि उसने शत्रुसमूह (अरिचक्र) को जीता । किन्तु यह कह सकना कठिन है कि उसने ये विजयें एक स्वतन्त्र राजा की हैसियत से की थीं अथवा किसी अन्य अधिपति की ओर से । उसके साथ 'नृप' शब्द लगे होने से यह प्रतीत होता है कि वह किसी अन्य बड़ी सत्ता (सम्भवतः कलचुरियों) का सामन्त था ।

---

१. एइ०, जिल्द १३, पृष्ठ २१८; जिल्द ९, पृष्ठ ३०४ ।

२. कृष्णदेव ने इस देवपाल को लखनपाल के अतैथिक बदायूँ अभिलेख के देवपाल (लखनपाल के प्रपितामह) से मिलाया (एइ०, जिल्द २६, पृ० २७०, पाद-टिप्पणी ३) है । किन्तु यह मत स्वीकार नहीं हो सका है ।

३. अभून्नृपगाहडवालवंशे महीतलनामा जितारिचक्रः । इऐ०, जिल्द १८, पृ० १४ और आगे ।

चन्द्रदेव (लगभग १०८९-११०४ ई०)

महीचन्द्र का पुत्र चन्द्रदेव गाहडवालों की स्वतंत्र सत्ता का वास्तविक संस्थापक हुआ। उसके चार अभिलेख[1] प्राप्त हैं, जिनमें सबसे पहला वि० सं० ११४८=१०८८-८९ ई० का है तथा अन्तिम वि० सं० ११५६=११०० ई० का है। यद्यपि ये सभी अभिलेख चन्द्रदेव के दान मात्र की चर्चा करते हैं, उनसे यह स्पष्ट है कि काशी और अयोध्या जैसे प्रमुख नगरों सहित गंगा और सरयू (घाघरा) नदियों के किनारों के प्रदेश उसके अधिकारक्षेत्रों का निर्माण करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि मूलतः उसने इन्हीं प्रदेशों से अपनी राजनीतिक सत्ता का विस्तार प्रारम्भ किया और अन्त में कन्नौज पर अपनी सत्ता स्थापित कर ली[2]। अपने एवं वंशजों के अभिलेखों में वह **परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर, श्रीचन्द्रदेव** अथवा चन्द्रादित्यदेव कहा गया है। उसके पुत्र मदनपाल और पौत्र गोविन्दचन्द्र के ११०४ ई० के बसही अभिलेख में कहा गया[3] है कि 'भोजराज के दिवंगत हो जाने एवं कर्ण की कीर्तिमात्र शेष रह जाने (अर्थात् उसके मर जाने) पर जब पृथ्वी अत्यन्त अत्यय (विपत्ति) में पड़ गयी तो उसने चन्द्रदेव नामक राजा को विश्वासपूर्वक अपने रक्षक के रूप में अपनाया।' स्पष्ट है कि चन्द्रदेव को कर्ण की मृत्यु (१०७२-१०७३ ई०) के बाद ही अपनी सत्ता विस्तार का अवसर प्राप्त हुआ और उसने अपनी भुजाओं से कान्यकुब्ज का आधिपत्य प्राप्त[4] कर लिया। वास्तव में उत्तर भारत उस समय तुर्की आक्रमणों का बार-बार शिकार हो रहा था[5] और तुर्क कई

---

१. देखिए एइ० जिल्द ९, पृष्ठ ३०२-३०५; जिल्द १४ पृष्ठ १८३-२००; जि० १८ पृ० ९-१८; इहिक्वा०, १९४९, पृ० ३१-३७।

२. डॉ० धी० चन्द्र गांगुली ने इस चन्द्रदेव की पहचान उस चन्द्रराय से की (इहिक्वा० जिल्द ९, पृ० ९५३) जिसकी चर्चा फारसी कवि सल्मां के दीवान में सुल्तान इब्राहिम के पुत्र महमूद के अश्वरक्षक के रूप में की गयी है।

३. याते श्रीभोजभूपे विवुधवरबधूनेत्रसीमातिथित्वम्,
श्रीकर्णे कीर्तिशेषे गतवति चनृपे क्ष्मात्यये जायमाने।
भर्त्तारं यं धरित्री त्रिदिव विभुनिभ प्रीतिर्योबादुपेता ॥
त्राता विश्वासपूर्ण समभवदिह स क्ष्मापनिश्चन्द्रदेवः (इऐ०, जि० १४, पृ० १०३। यह श्लोक गोविन्दचन्द्र के सं० ११६३ के बनारस अभिलेख (एइ०, जिल्द २, पृष्ठ ३५९, श्लोक २-३) में भी मिलता है।

४. निजभुजोपर्जित कान्यकुब्जाधिपत्य श्रीचन्द्रदेवः। इऐ०, जि० १८, पृ० १८।

५. इलियट् ऐण्ड डाउसन् पूर्वनिर्दिष्ट, जि० २, पृष्ठ २०५ और जिल्द ४, पृ० ५२३-५२४।

अवसरों पर आगरा तक लूट-पाट मचा चुके थे । इधर दोआब में कोई ऐसी सत्ता नहीं थी, जो उन्हें सफलतापूर्वक रोक सकती । सम्भवतः इस अराजक और अरक्षित अवस्था को ही बसही अभिलेख (११०४ ई०) में 'पृथ्वी का अत्यय' कहा गया है । चन्द्रदेव ने इस परिस्थिति का अन्तकर काशी (वाराणसी), कुशिक (कान्यकुब्ज) उत्तर कोसल (अयोध्या) और इन्द्रस्थानीय (दिल्ली-इन्द्रप्रस्थ) के सभी पार्श्ववर्ती क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया[१] । इस स्थिति तक पहुँचने में उसे अनेक राजाओं से युद्ध करना (क्रान्तद्विषन्मण्डलः) पड़ा । उसका चन्द्रावती से प्रकाशित १०९३ ई० का अभिलेख उसे **नरपति, गजपति, गिरिपति** और **त्रिशंकुपति** पर विजय का श्रेय देता है । इनमें **नरपति** और **गजपति** कलचुरि राजाओं की उपाधियाँ थीं[२], जिससे यह निर्णय निकाला गया है कि उसने लक्ष्मीकर्ण के पुत्र यशःकर्ण को पराजित किया । असम्भव नहीं है कि अपने पिता के अन्तर्वेदि वाले विजित क्षेत्रों पर अधिकार बनाये रखने के प्रयत्न में यशःकर्ण को चन्द्रदेव से संघर्ष करना पड़ा हो और उसमें उसे पराजय सहनी पड़ी हो । किन्तु **गिरिपति** और **त्रिशंकुपति** के तात्पर्य स्पष्ट नहीं हैं । यह भी स्पष्टरूप से ज्ञात नहीं है कि चन्द्रदेव ने कन्नौज किससे जीता[३] । डॉ० त्रिपाठी (हिस्ट्री ऑफ् कन्नौज, पृष्ठ ३०१) का अनुमान है कि कन्नौज का वह राजा कदाचित् गोपाल था, जिसकी चर्चा लखनपाल के बदायूँ अभिलेख में है और जिसे सहेत महेत अभिलेख में **गाधिपुराधिप** कहा गया है । चन्द्रदेव के युद्धों का स्थल गंगा-यमुना का दोआब था, यह उसके पौत्र गोविन्दचन्द्र की रानी कुमारदेवी के सारनाथ अभिलेख (एइ०, जिल्द ९, पृष्ठ ३२४, श्लोक १४) के इस उल्लेख से प्रमाणित है कि उससे पराजित राजाओं की स्त्रियों की

---

१. 'तीर्थानिकाशीकुशिकोत्तरकोशलेन्द्रस्थानीयकानि परिपालयताधिगम्य ।' इऐ०, जि० १८, पृष्ठ १६ ।

२. देखिए कर्णदेव का गोहरवा अभिलेख, एइ०, जिल्द ११, पृ० १४१ । श्वान्-च्वांग् के अनुसार (बील, जिल्द १; प्रथम सं०, पृ० १३ नोट) साम्राज्यसत्ता के अभाव में दक्षिणी, पश्चिमी, उत्तरी और पूर्वी दिशाओं के राजाओं को गजपति, छत्रपति, अश्वपति और नरपति कहा जाता था । अतः यह भी माना जाता है कि ये उपाधियाँ विभिन्न श्रेणियों के सामन्तों की सूचक थीं ।

३. रोमा नियोगी (हिस्ट्री ऑफ् दि गाहडवाल डाइनेस्टी, पृ० ४८-९) का सुझाव है कि चन्द्रदेव ने कदाचित् चन्देल राजा सल्लक्षणवर्मा को हराया, जिसका अन्तर्वेदि पर अधिकार करने का प्रयत्न मदनवर्मा के मऊ अभिलेख में (एइ०, जिल्द १, पृ० २०१, ३८-३९वें श्लोक) उल्लिखित है । किन्तु निमाईसधन बोस (हिस्ट्री ऑफ् चन्देल्स्, पृ० ८१-२) के मतानुसार युद्ध का दबाव चन्द्रदेव ने ही प्रारम्भ किया था, जिसे सल्लक्षणवर्मा ने सफलतापूर्वक रोका ।

आसुँओं से यमुना नदी का जल और भी अधिक श्याम हो गया। इस प्रश्न पर कुछ निश्चित मत नहीं बनाया जा सकता कि उत्तर में दिल्ली-इन्द्रप्रस्थ तक उसके क्षेत्रों अथवा अधिकार सीमाओं का क्या स्वरूप था। ऐसा माना जाता है कि दिल्ली में उस समय तक तोमर स्थापित हो चुके थे और अपनी नवोदित शक्ति बचाने के लिए उन्होंने गाहडवालों (चन्द्रदेव और उसके वंशजों) की अधिसत्ता स्वीकार कर ली थी। पंचाल (पश्चिमी उत्तर प्रदेश) चन्द्रदेव के प्रशासित क्षेत्रों में निश्चय ही सम्मिलित था।

पूर्व दिशा में पालों और सेनों से भी चन्द्रदेव के संघर्षों के बारे में मत व्यक्त किये गये हैं। उसके अभिलेखों में यह उल्लेख है कि उसने पूर्व में अपनी सेनाएँ भेजीं। रामपाल के सामन्त भीमयशस् (पीठी के शासक) को **रामचरित** में **कान्यकुब्ज-राजबाजीनीगण्ठन भुजंगः** कहा गया है। इन दोनों उल्लेखों को एक साथ मिलाकर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि रामपाल के विरुद्ध मगध की ओर अपना प्रसार करने में चन्द्रदेव असफल रहा और पालसामन्त भीमयशस् से हारा[१]। किन्तु यह जानने का कोई पक्का प्रमाण नहीं है कि भीमयशस् को कान्यकुब्ज के जिस राजा को दबाने का श्रेय दिया गया है वह चन्द्रदेव ही था। **रामचरित** एक अन्य स्थल पर चन्द्र नामक किसी राजा की इसलिए प्रशंसा करता है कि उसने पाल राजा की सम्भवतः विजयसेन के विरुद्ध सहायता की थी। इस चन्द्र की पहचान चन्द्रदेव गाहडवाल से कर उसके विजय-सेन से भी संघर्षरत होने का अनुमान किया गया है। किन्तु यहाँ भी चन्द्र की चन्द्रदेव से पहचान सर्वसम्मत रूप से मान्य नहीं है। अतः स्पष्ट प्रमाणों के अभाव में पूर्व दिशा (मगध) में चन्द्रदेव के सैनिक क्रियाकलापों के विषय में निश्चितता से कुछ नहीं कहा जा सकता।

मदनपाल (लगभग ११०४-१११४ ई०)

चन्द्रदेव की अन्तिम ज्ञात तिथि वि० सं० ११५६=११०० ई० है और उसके पुत्र तथा उत्तराधिकारी मदनचन्द्र अथवा मदनपाल का उल्लेख करने वाला प्रथम अभिलेख वि० सं० ११६१=११०४ ई० का है। अतः इस अवधि के भीतर ही किसी वर्ष चन्द्रदेव की मृत्यु हुई होगी और मदनपाल ने राजगद्दी प्राप्त की होगी। उसके समय के कुल पाँच अभिलेख ज्ञात होते हैं, जिनमें तीन अभिलेख तो उसके पुत्र (**महाराजपुत्र**) और **युवराज** गोविन्द्रचन्द्र द्वारा प्रकाशित किये गये थे[३]। चौथे में उसकी रानी पृथ्वीसीका के

---

१. रोमा नियोगी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ५२-५४।

२. त्रिपाठी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३०४-५।

३. बसही अभिलेख, इऐ०, जिल्द १४, पृ० १०१-१०४; कमौली अभिलेख, एइ०, जिल्द २, पृ० ३५८-३६१।

दान का उल्लेख (जराएसो० १८९६, पृ० ७८७-८) है । अतः केवल पाँचवाँ दानपत्र ही उसका निजी (पूर्णतः अपने नाम से प्रकाशित) अभिलेख कहा जा सकता है[१] । उसमें उसे **परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर** की पूर्ण साम्राज्यसूचक उपाधियाँ दी गयी हैं । किन्तु गोविन्द्रचन्द्र ने उसके समय जिन अभिलेखों को प्रकाशित किया, उनमें यह कहा गया है कि दान हेतु उसने जागुक नामक पुरोहित, बाल्हन अथवा गाँगेय नामक महत्तक, गौतम प्रतीहार और जननी राल्हादेवी की भी अनुमति प्राप्त की । राजा के रहते ऐसा क्यों हुआ, इस सम्बन्ध में कई मत प्रस्तुत किये गये हैं । उनमें एक[२] यह है कि बहुत रुग्ण होने अथवा ऐसे ही किसी अन्य कारण से वास्तविक शासन मदनपाल की ओर से एक संरक्षक समिति के हाथों में था, जिसके उपर्युक्त सभी व्यक्ति सदस्य थे । मदनपाल के समय गजनी-लाहौर के यमीनी तुर्कों ने लाहौर के पूर्व दूर-दूर तक आक्रमण किया तथा सम्भवतः कन्नौज को लूटा और थोड़े समय के लिए उसपर अधिकार कर लिया । **तबकाते-नासिरी** की सूचना[३] है कि सुल्तान तृतीय मसूद (इब्न् इब्राहिम, १०९९-१११५ ई०) के समय हाजी तुगातिगिन गंगा नदी पारकर उन स्थानों तक चढ़ गया जहाँ सुल्तान महमूद को छोड़कर अन्य कोई सेना लेकर नहीं पहुँच सका था । **दीवाने-सल्माँ** में तो यहाँ तक चर्चा है कि उसने अभागे राजा मल्ही (मल्हीर) को पकड़ लिया[४] । इसके साथ ही उसमें राजधानी कन्नौज के धनवैभव तथा भारतीयों के मन में उसके प्रति आकर्षण की भी चर्चाएँ हैं । सल्माँ अपने उल्लेखों में मल्ही को हिन्द का राजा और कन्नौज को हिन्द की राजधानी कहता है । प्रश्न यह उठता है कि मसूद द्वारा पकड़ा गया यह मल्ही कौन था । उपर्युक्त सदर्भों से वह कन्नौज का गाहडवाल राजा मदनपाल ही जान पड़ता है । ११०४ ई० के बसही अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि उस वर्ष तक वह कन्नौज से ही शासन करता था । उसके तुर्क आक्रमणकारियों द्वारा पकड़े जाने के बाद उसे छुड़ाने के लिए[५] महाराजपुत्र गोविन्दचन्द्र को कठोर संघर्ष करना पड़ा । वि० सं० ११६६=११०९ ई० के उसके राहन अभिलेख से ज्ञात होता है कि 'बार-बार प्रदर्शित

---

१. जर्नल् ऑफ् यू० पी० हिस्टॉरिकल् सोसायटी, जिल्द १४, पृ० ६६ और आगे ।

२. रोमा नियोगी ने (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ५५) ने डॉ० त्रिपाठी को इस मत का जनक माना है । किन्तु उनकी पुस्तक (हिस्ट्री ऑफ् कन्नौज, पृ० ३०६) का जो सन्दर्भ उन्होंने दिया है, वहाँ इस प्रकार की कोई बात नहीं कही गयी है ।

३. रैवर्टी का अनुवाद, जिल्द १, पृष्ठ १०७ ।

४. इलियट् ऐण्ड डाउसन् पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द ४, पृष्ठ ५२५-५२७ ।

५. डॉ० हेमचन्द्रराय का विश्वास है (पूर्वनिर्दिष्ट, जि० १, पृ० ५१४) कि उसे अपने को छुड़ाने के लिए मुक्तिधन देना पड़ा ।

अपने रण कौशल से उसने हम्मीर को शत्रुता त्याग देने को विवश किया था[१] ।' यहाँ हम्मीर शब्द का प्रयोग अरबी के अमीर शब्द के लिये किया गया है और तृतीय मसूद के किसी सेनापति अथवा अधिकारी के लिए प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है । इस अभिलेख में गोविन्दचन्द्र के बार-बार (मुहुर्मुहुः) वीरता प्रदर्शित करने का जो उल्लेख है उससे लगता है कि तुर्क आक्रमणकारियों के साथ उसका संघर्ष बहुत लम्बा रहा[२] । **महा-सान्धिविग्रहिक** लक्ष्मीधर भी **कृत्यकल्पतरु**[३] में कहता है कि गोविन्दचन्द्र ने हम्मीर-वीर को एक असमान युद्ध में मार डाला । किन्तु ये दोनों उल्लेख दो अवसरों के प्रतीत होते हैं, जिनके समय के बारे में कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता ।

राहन अभिलेख[४] तथा **कृत्यकल्पतरु**[५] की एक दूसरी से मिलती-जुलती हुई सूचनाएँ हैं कि गोविन्दचन्द्र ने पाल शासक (रामपाल) के हाथियों की पाँतों को वीरता-पूर्वक चीर डाला । किन्तु किसी स्पष्ट प्रमाण के अभाव में यह नहीं निश्चित किया जा सकता कि यह युद्ध प्रतिरक्षात्मक था या आक्रमणात्मक । यह प्रतीत होता है कि पालों ने मदनपाल के समय गाहडवाल राज्य पर आक्रमण किया था किन्तु गोविन्दचन्द्र की वीरता के सामने वे टिक न सके । अतः युवराज होने की अवस्था में लड़े गये गोविन्दचन्द्र के सभी युद्ध प्रतिरक्षात्मक ही जान पड़ते हैं । किन्तु उनसे इतना निश्चित जान पड़ता है कि उसने अपनी वीरता का पूरा प्रदर्शन किया और उसके पिता मदनपाल के समय गाहडवाल राज्य की सीमाओं में कोई कमी नहीं होने पायी ।

गाहड़वाल राज्य का विस्तार : गोविन्दचन्द्र (लगभग १११४-११५४ ई०)

मदनपाल के शासनकाल का अन्तिम अभिलेख ११०९ ई० में प्रकाशित हुआ था और स्वतन्त्र शासक के रूप में गोविन्दचन्द्र का कमौली से प्राप्त होनेवाला प्रथम

---

१. हम्मीरन्यस्तवैरं मुहुर्मुहुः रणक्रीडया यो विधत्ते । इऐ०, जि० १८, पृ० १६-१८ ।

२. डॉ० त्रिपाठी की मान्यता (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३०९) है कि राष्ट्रकूट मदनपाल ने इन मुसलमान आक्रमणकारियों के विरुद्ध गोविन्दचन्द्र की एक सामन्त के रूप में सहायता की थी । बदायूँ अभिलेख (एइ० जि० १, पृ० ६२) में यह कहा गया है कि उसकी 'प्रसिद्ध वीरता के कारण हम्मीर के देवनदी (गंगा) के किनारे तक पहुँच सकने की कोई बात ही नहीं रही' ।

३. गायकवाड़ ओरियण्टल् सीरीज़, दानकाण्ड भूमिका, पृष्ठ ४८ ।

४. दुर्वास्फारगौड़द्विरदवरघटाकुम्भनिर्भेदभीमः । इऐ०, जिल्द १८, पृ० १४ और आगे ।

५. क्रीडातर्जितगौड़गर्जितभयस्तम्भीमवत्पार्थिवः । कृत्यकल्पतरु, दानकाण्ड, भूमिका, पृ० ४८ ।

अभिलेख (एइ०, जिल्द ४, पृ० १०१ और आगे) वि० सं० ११७१=१११४ ई० का ज्ञात है । अत: मदनपाल की मृत्यु तथा उसकी रानी राल्हादेवी से उत्पन्न पुत्र गोविन्दचन्द्र का राज्यारोहण इन्हीं दोनों तिथियों के बीच कभी हुआ होगा । गोविन्दचन्द्र **राजपुत्र अथवा महाराजपुत्र (युवराज)** के रूप में अपने पिता के समय भी प्रशासन के सभी कार्यों से परिचित था (समस्तराजप्रक्रियोपेत) एवं गाहडवाल राज्य पर किये गये यमीनी और पाल आक्रमणों का सफलतापूर्वक मुकाबला कर चुका था । अपने यौव-राज्यत्त्वकाल में प्राप्त उन प्रशासनिक और सैनिक अनुभवों का उपयोग उसने तुर्कों से अपने राज्य की रक्षा करने, उसके चतुर्दिक् विस्तार, समकालिक बड़े-बड़े राजदरबारों से मैत्री और बराबरी के सम्बन्धों की स्थापना करने और प्रशासन की विभिन्न इकाइयों को सुसंगठित करने में किया । धीरे-धीरे वह अपने समय के उत्तरी भारत का सर्वप्रमुख सम्राट् बन गया और कन्नौज पुन: एक बार राजनीति साहित्य और संस्कृति का केन्द्र हो गया । उसकी प्रत्यक्ष सत्ता, राजनीतिक प्रभाव और सांस्कृतिक क्रियाकलापों के सूचक लगभग ४०-४२ अभिलेख पश्चिमी बिहार से प्रारम्भकर पश्चिमी उत्तर प्रदेश तक के विभिन्न स्थानों से प्राप्त हुए हैं । उनमें अधिकांश तो बनारस और उसके आसपास के पूर्वी उत्तर प्रदेश के क्षेत्रों से मिले हैं ।

गोविन्दचन्द्र की सैनिक नीति के दो स्वरूप प्रतीत होते हैं । पश्चिम में तो उसने तुर्क आक्रमणकारियों के वास्तविक अथवा सम्भावित आक्रमणों से अपने राज्य की रक्षा करने के लिए प्रतिरक्षात्मक नीति का पालन किया । किन्तु पूर्व, दक्षिण और उत्तर की दिशाओं में उसकी नीति विजय हेतु आक्रमण करने की थी, जिसका उद्देश्य गाहडवाल राज्य की सीमाओं को बढ़ाना था । उसकी रानी कुमारदेवी के अतैथिक सारनाथ अभि-लेख में कहा गया है कि 'दुष्ट तुरुष्क वीर से वाराणसी की रक्षा करने के लिए हर (शंकर) द्वारा नियुक्त हरि (विष्णु) का वह मानों अवतार था[1] और अकेला ही व्यक्ति था' जो उस कार्य को पूरा कर सकता था । किन्तु यह उल्लेख उसके युवराजरूप में तुर्कों के विरुद्ध लड़े गये युद्धों की ओर निर्दिष्ट मानना चाहिए, क्योंकि तृतीय मसूद के बाद कन्नौज, वाराणसी अथवा गाहडवाल क्षेत्र के अन्य किसी स्थान पर तुर्कों के किसी भी आक्रमण की सूचना मुसलमान इतिहासकार हमें नहीं देते । यदि उसे अपने राज्यत्त्व काल में भी तुर्की आक्रमणकारियों से वाराणसी जैसे नगर की रक्षा का प्रयत्न करना पड़ा तो वह उसके प्रारम्भिक वर्षों में ही किया गया प्रतीत होता है ।

---

१. वाराणसी भुवनरक्षणदक्षएको दुष्टात्तुरुष्कसुभटादवितुं हरेण ।
उक्तोहरि: स पुनरत्र बभूव तस्मात् गोविन्दचन्द्र इति प्रथिताभिधान: ।।
एइ०, जिल्द ९, पृष्ठ ३२४, श्लोक १६ ।

सरयूपार की विजय

गोविन्दचन्द्र की विजयों का कोई तैथिक क्रम निश्चित कर सकना सम्भव नहीं जान पड़ता। किन्तु उसके अभिलेखों के आधार पर उनका स्वरूप अवश्य निश्चित किया जा सकता है। चन्द्रदेव और मदनपाल के समय गाहडवाल क्षेत्रों का विस्तार वाराणसी से थोड़ा उत्तर, अयोध्या होते हुए, पूर्वी उत्तर प्रदेश के उन क्षेत्रों तक सीमित था जो घाघरा नदी के दक्षिणी किनारे पर पड़ते हैं। उसके उत्तरी भागों की विजय गोविन्दचन्द्र ने की। उसके वि० सं० ११७१=१११४ ई० के पालि अभिलेख[1] में उसे नवराज्यगज पर अधिकार कर लेने का श्रेय दिया गया है। यहाँ नवराज्यगज से क्या तात्पर्य है, यह स्पष्ट नहीं है। अभिलेख का प्राप्तिस्थान तथा उसमें वर्णित स्थान पालि और ओण्वल घाघरा नदी के उत्तर आजकल के गोरखपुर जिले के धुरियामार परगने में स्थित आधुनिक पाली और उनवल नामक गांवों के द्योतक हैं। इस अभिलेख में सरवार शब्द का प्रयोग आजकल के सरयूपार का ही रूपान्तर है। अतः यह अत्यन्त सम्भव है कि गोविन्दचन्द्र ने घाघरा नदी के उत्तर के क्षेत्रों (सरयूपार) की विजय करते हुए उसे एक नये राज्य (नवराज्यगज) की विजय के रूप में स्वीकार किया हो। वि० सं० ११६७=११११ ई० के गोरखपुर जिले से ही प्राप्त एक अन्य अभिलेख में (एइ०, जिल्द ७, पृ० ९३ और आगे) कीर्त्तिपाल को दरदगण्डकीदेश (घाघरा और बड़ी गण्डक के बीच) का शासक बताया गया है। उसके कुछ सिक्के तो प्राप्त हुए हैं, किन्तु न तो उसके वंश के बारे में कोई जानकारी उपलब्ध है और न उसका अन्य कोई अभिलेख ही प्राप्त हुआ है। बहुत सम्भव है कि गोविन्दचन्द्र ने ११११ ई० और १११४ ई० के बीच कभी उसे पराजित कर पूर्वोत्तर में अपनी राज्यसीमा बड़ी गण्डक तक बढ़ा ली हो। उसके ११४६ ई० के लार अभिलेख से ज्ञात होता[2] है कि उसने सरयूपार के क्षेत्रों में ब्राह्मणों को भूमिदान किया था।

पश्चिमी और मध्य बिहार पर अधिकार

पूर्व में पाल राजाओं की सत्ता समाप्त हो रही थी। अतः यह स्वाभाविक था कि उसकी पार्श्ववर्ती उदीयमान सत्ताएँ पाल क्षेत्रों को हथियाने का प्रयत्न करतीं। सेनवंशी राजा विजयसेन और गाहडवाल राजा गोविन्दचन्द्र पारम्परिक पालक्षेत्रों (बिहार) के क्रमशः पूर्व और पश्चिम में अधिकारस्थ थे और उन्होंने दोनों दिशाओं से उस पर बढ़ाव प्रारम्भ कर दिया। विजयसेन के समय सेन नौसेना के गंगा नदी से होकर बहुत दूर तक

---

१. जबिओरिसो०, जिल्द १९, पृष्ठ २३३ और आगे।

२. एइ०, जिल्द ७, पृष्ठ ९८–१००।

ऊपर चढ़ जाने का उल्लेख मिलता है ।[1] सेनों के पश्चिम की ओर बढ़ाव को रोकने के लिए गाहडवाल अवश्य उद्यत रहें होंगे । गोविन्दचन्द्र का पालों से संघर्ष रामपाल के समय ही प्रारम्भ हो गया प्रतीत होता (राहन अभिलेख, ११०९ ई०) है, जिसे गाहड-वालों के पूर्व की ओर बढ़ाव का पहला चरण कहा जा सकता है । उसका समकालिक पाल शासक रामपाल (१०८४-११२६ ई०) था, जिसने पालों की गिरती हुई प्रतिष्ठा को एक बार पुनः उठाने का जीतोड़ और बहुत हद तक सफल प्रयत्न किया । किन्तु उसका सारा उद्योग एक बुझते हुए दीपक की अन्तिम लौ के समान था । उसके शासन के अन्तिम वर्षों में पाल शासन ढीला हो चला था, जिसका लाभ उठाते गोविन्दचन्द्र जैसे महत्त्वा-कांक्षी विजेता को देर न लगी । यद्यपि यह तो नहीं ज्ञात है कि गोविन्दचन्द्र किस क्रम से मगध पर अधिकार करने बढ़ा था, उसपर उसके वास्तविक प्रशासन के प्रमाण स्पष्टरूप से मिलते हैं । पटना-दानापुर क्षेत्र के मनेर नामक गाँव से विक्रम सं० ११८३=११२४ ई० का उसका एक अभिलेख प्राप्त है,[2] जिससे ज्ञात होता है कि उसने मणियारी पत्तला (पटना जिले के पश्चिमी भाग) के गुणाव और पडाली नामक गाँवों को गणेश्वर शर्मा नामक ब्राह्मण को दान दिया । देवरिया जिले के लार नामक कस्बे से वि० सं० १२०२=११४६ ई० का उसका अन्य अभिलेख मिला है[3], जिसमें यह कहा गया है कि मुद्गगिरि (मुंगेर) में निवास करते समय उसने सरुवार-स्थित गोविसालक के पन्दल-पत्तला में स्थित पोटाचवाड नामक गाँव ठक्कुर श्रीधर नामक ब्राह्मण को दान दिया था । स्पष्ट है कि १२वीं शती के द्वितीय दशक में गाहडवाल राज्य की सीमा पटना तक तथा उसके चौथे दशक में मुंगेर (उत्तरपूर्वी बिहार) तक पहुँच चुकी थी । इनमें पटना के पश्चिम के क्षेत्र तो उसने रामपाल से जीता होगा, जो ११२६ ई० के आसपास तक पाल राजगद्दी पर वर्त्तमान था । किन्तु उसके पूर्वोत्तर के क्षेत्र मदनपाल से छीने गये होंगे । डॉ० रोमा नियोगी (पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ७३) का विश्वास है कि गोविन्दचन्द्र की मुंगेर के आसपास के क्षेत्रों की विजय स्थायी नहीं हुई और मदनपाल ने उन पर पुनः अधिकार कर लिया, जो वहाँ से प्राप्त होने वाले उसके शासन के १४ वें और १८ वें वर्ष के दो अभिलेखों (जर्नल् ऑफ् एशियाटिक् सोसायटी ऐण्ड लेटर्स्, जिल्द १७, पृष्ठ २७ और आगे तथा जिल्द २०, पृ० १३ और आगे) से प्रमाणित है । इस सम्बन्ध में उनका दूसरा तर्क यह है कि मुंगेर से अपना लार दानपत्र प्रकाशित करते हुए भी गोविन्दचन्द्र ने जो

---

१. देवपाड़ा अभिलेख, एइ०, जिल्द १, पृष्ठ ३०४ और आगे ।

२. जबिओरिसो०, जिल्द २, पृष्ठ ४४१-४७; जएसो, बेंगाल, १९२२ (जिल्द ५ नयी अवली), पृष्ठ ८१-८४ ।

३. एइ०, जिल्द ७, पृष्ठ ९८-१०० ।

भूमि दान दी, वह वहाँ नहीं स्थित थी अपितु सरुआर (आजकल के सरयूपार अर्थात् सरयू या घाघरा नदी के उत्तरी कांठे) में स्थित थी। किन्तु यह तर्क बहुत सबल नहीं प्रतीत होता। सम्बन्धित अभिलेख का प्राप्ति-स्थान लार सरुआर में स्थित है। दान की भूमि भी कहीं उसी के पास थी। हो सकता है कि वहाँ का कोई निवासी ब्राह्मण गोविन्द-चन्द्र की सैनिक सेवाओं के सम्बन्ध में उसके साथ मुंगेर में (सम्भवत: गोविन्दचन्द्र की किसी विजय यात्रा के सिलसिले में) उपस्थित हो, किन्तु उससे दान लेते समय उसने अपने निवास के आसपास की भूमि का ही दान पाना अधिक अच्छा समझा हो और राजा ने उसकी इच्छाओं का सहर्ष आदर किया हो। पाल शासक मदनपाल के शासन-समय के बारे में भी निश्चित नहीं हुआ जा सकता। असम्भव नहीं है कि मुंगेर के आसपास के क्षेत्र गोविन्दचन्द्र की मृत्यु के बाद गाहडवालों के हाथों से निकलकर पालों के अधिकार में गये हों।

कलचुरि क्षेत्रों की विजयें

यह अत्युक्ति नहीं होगी कि कलचुरि साम्राज्य के भग्नावशेषों पर ही गाहडवाल राज्य का निर्माण हुआ था और लक्ष्मीकर्ण द्वारा विजित क्षेत्रों की उसके कमजोर उत्तरा-धिकारियों के समय जितनी ही छीजन होती गयी, उतना ही गाहडवाल राज्य विस्तृत होता गया। चन्द्रदेव ने यमुना नदी के किनारे जिन राजाओं को परास्त किया था,[१] उनमें कदाचित् कर्ण का पुत्र यश:कर्ण भी एक था। गोविन्दचन्द्र ने कलचुरियों के मूल्य पर अपनी राज्यसीमाओं के विस्तार का क्रम जारी रखा। वि० सं० ११७७=११२० ई० के उसके एक अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि उसने अन्तराल पत्तला के करण्ड और करण्डतल्ल नामक दो गाँवों को ठक्कुर वसिष्ठ नामक ब्राह्मण को दान दिया। उसी अभिलेख की सूचना है कि दोनों गाँव पहले यश:कर्ण द्वारा राजगुरु रुद्रशिव को दान दिये गये थे।[२] स्पष्ट है कि उन गाँवों से कलचुरि अधिकार समाप्त कर[३] गोविन्दचन्द्र ने अपने

---

१. देखिए, चन्द्रावती अभिलेख, एइ०, जिल्द १४, पृ० १९३ और आगे; कुमारदेवी का सारनाथ अभिलेख, एइ०, जिल्द ९, पृष्ठ ३२४; श्लोक १४।

२. राजाश्रीयश:कर्णदेवेन राजगुरुशैवाचार्यभट्टारक श्री रुद्रशिवपास्योभिक्षत्वेन शासनीकृत्वा प्रदत्तम्। जएसो०, बेंगाल, जिल्द ३१, पृ० १२३-१२४।

३. यश:कर्ण की अंतिम ज्ञात तिथि १०७८ ई० है। अत: यह निर्णय निकाला जा सकता है कि गोविन्दचन्द्र ने उपर्युक्त अभिलेख में वर्णित क्षेत्रों को उसके उत्तराधिकारी गयाकर्ण से ही छीना होगा। गयाकर्ण की एक ही तिथि (११५१ ई०) ज्ञात है।

दान के माध्यम से उनकी नयी व्यवस्था की । इस अभिलेख की सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सर्वप्रथम उसने इसी समय **अश्वपति नरपति गजपति राजत्रयाधिपति** के विरुद अपनी अन्य उपाधियों (**परमभट्टारक महाराजाधिराजपरमेश्वर परम-माहेश्वर**) के साथ जोड़ा, जो आगे उसके सभी अभिलेखों में प्राप्त होते हैं । यही नहीं, कर्ण के सिक्कों की बनावट की नकलकर उसने 'बैठी हुई लक्ष्मी' शैली वाले सोने, ताँबे और चाँदी के साथ मिली हुई अन्य धातुओं के सिक्के भी चलाये । उसके पूर्व के गाहडवाल सिक्के सोने के न होकर ताँबे और मिश्रित धातुओं के ही होते थे तथा उनकी बनावट 'वृषभ-अश्वारोही' शैली की थी । इनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि उसने अपने को कलचुरि साम्राज्य का उत्तराधिकारी मानकर कलचुरि विरुदों और मुद्राप्रणाली को अपना लिया । किन्तु सम्बद्ध अभिलेखों में उल्लिखित स्थानों की सही-सही पहचान नहीं की जा सकी है और यह स्पष्ट नहीं है कि दक्षिण में उसने कलचुरि राज्य के किस भाग को जीतकर अपने प्रशासन में सम्मिलित किया । ११३७ ई० में नागोद क्षेत्र में गाहडवाल वंश के आडवकमल्ल नामक किसी अधिकारी के होने का प्रमाण मिलता है, जिससे यह निर्णय निकाला गया है कि गोविन्दचन्द्र द्वारा कलचुरियों से जीते हुए क्षेत्र यमुना और सोन नदियों के बीच में स्थित थे ।

दशार्ण की विजय

नयचन्द्र कृत **रम्भामञ्जरीनाटक** से ज्ञात[१] होता है कि गोविन्दचन्द्र ने दशार्ण अर्थात् पूर्वी मालवा भी जीता । उस विजय के समय ही उसे पौत्रोत्पत्ति की सूचना मिली, जिससे प्रसन्न होकर उसने अपने पौत्र को जयच्चद्र नाम दिया । दशार्ण परमारों का क्षेत्र था, जिनके नरवर्मा और यशोवर्मा नामक उस समय के राजा कमजोर थे । उनकी कमजोरी का लाभ उठाकर उनके क्षेत्रों पर चढ़ जाना गोविन्दचन्द्र जैसे महत्त्वाकांक्षी विजेता के लिए असम्भव नहीं था । किन्तु पूर्वी मालवा तक जाने के लिए उसे चन्देलों का राज्यक्षेत्र पार करना पड़ा होगा । उसके समकालिक चन्देल राजे जयवर्मा (१११५-११२०), पृथ्वीवर्मा (११२०-११२९) और मदनवर्मा (११२९-११६३) थे । जयच्चन्द्र के जन्म और दशार्ण की विजय के समय के एक होने की जो सूचना नयचन्द्र देता है, उससे प्रतीत होता है कि पूर्वी मालवा (दशार्ण) की विजय के लिए जाते समय उसे मदनवर्मा से ही संघर्ष करना पड़ा होगा । उन दोनों के संघर्ष के अनेक प्रमाण मिलते हैं[२] । तथापि किसी स्पष्ट तैथिक साक्ष्य के अभाव में गोविन्दचन्द्र के चन्देलों और परमारों के विरुद्ध अभियान का समय निश्चित नहीं किया जा सकता ।

---

१. बम्बई प्रकाशन, १८९९ ई० पृ० ४ ।

२. देखिए, निमाई सघन बोस, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ८७-८८ ।

गोविन्दचन्द्र का अन्य राज्यों से सम्बन्ध

गोविन्दचन्द्र की कूटनीतिक योग्यताएँ और बुद्धिमत्तापूर्ण अन्तरराज्यीय सम्बन्ध उसकी सैनिक और राजनीतिक सफलताओं की आधारशिलाएँ थीं। समकालिक अनेकानेक राज्यों के उनकी सीमाओं वाले राज्यों से क्या सम्बन्ध थे अथवा उनका बला-बल कब कैसा था, इनका बारीक अध्ययन करने के पश्चात् ही उसने अपनी विजय-सम्बन्धी सैनिक नीतियों का निर्धारण किया। दूरस्थ और समीपस्थ अनेक राज्यों से उसके राजनयिक, सांस्कृतिक अथवा वैवाहिक सम्बन्धों के प्रमाण उपलब्ध हैं। किन्तु दूरस्थ राज्यों की तुलना में समीपस्थ राज्यों से उसके सम्बन्धों में बदलती हुई राजनीतिक परिस्थितियों के अनुरूप एक ऐसी परिवर्तनशीलता अथवा गतिशीलता दिखायी देती है, जो गाहडवाल राज्य के निजी हित अथवा विकास को दृष्टिगत रखते हुए उन सम्बन्धों पर सतत् विचार और आवश्यकतानुसार परिवर्तन के लिए तैयार रहने की इच्छा और प्रयत्नों के बिना असम्भव थी। इस प्रकार की गतिशीलता और राज्यहित के प्रति सतत् जाग-रूकता ही किसी भी सच्चे राजनयिक का दर्पण है और इस कसौटी पर कसने से गोविन्दचन्द्र खरा उतरता है।

१११४ ई० अथवा उसके कुछ पूर्व राजगद्दी प्राप्त करते समय बार-बार होनेवाले यमीनी आक्रमणों से अपने राज्य की रक्षा उसके सम्मुख सबसे प्रमुख समस्या थी। इस स्थिति में यह आवश्यक था कि वह अपने पार्श्वों की रक्षा करता। अतः पहले उसने पालों और उनके सामन्तों से मित्रता के लिए हाथ बढ़ाया और कुमारदेवी से विवाह किया। कुमारदेवी पीठी के चिक्कोरवंशी देवरक्षित की पुत्री और रामपाल के मामा मथनदेव राष्ट्रकूट की दौहित्री थी। अतः इस विवाह से पालों और उनके सामन्तों से उसके सम्बन्ध अच्छे हो गये और उत्तर में सरयूपार के क्षेत्रों को जीतकर आत्माधीन कर लेने का उसे अबाध अवसर मिल गया। इस निश्चित अवसर का उपयोग उसने दक्षिण दिशा के कलचुरि जैसे अपने वंश के शत्रुराज्य की भूमियों को छीनने में भी किया तथा उस हेतु उन्हीं के सामन्तों को फोड़कर अपनी ओर मिलाया। तुम्माण के कलचुरि राजा जाज्जलदेव (११०९-११२४ ई०) का रतनपुर से १११४ ई० का एक अभिलेख प्राप्त है[१], जिसमें उसे 'चेदि राजा से मित्रताबद्ध और कान्यकुब्ज राजकुमार से आदृत' कहा गया है। इसके पूर्व तुम्माण शाखा के कलचुरि त्रिपुरी के कलचुरियों (चेदियों) के सामन्त थे और अब गाहडवालों से मित्रताबद्ध होने का उल्लेख उनकी स्वतन्त्रता का परिचायक है। इसका परिणाम यह हुआ होगा कि जब गोविन्दचन्द्र ने यमुना और सोन के बीच के कलचुरि क्षेत्रों पर अपना अधिकार जमा लेने का अभियान प्रारम्भ किया होगा तो

---

१. एइ०, जिल्द १, पृष्ठ ३२ और आगे, श्लोक २१।

जाज्जलजदेव पूर्व समय के अपने अधिराज (त्रिपुरी के कलचुरि राजा गयाकर्ण) की सहायता न कर सम्भवतः चुप लगा गया होगा । इस प्रकार दक्षिण और उत्तर में अपनी राज्यसीमाओं को बढ़ाकर गोविन्दचन्द्र ने भरपूर शक्ति अर्जित कर ली और क्रमशः शक्तिहीन होते जाने वाले पालों की मित्रता की अब उसे कोई आवश्यकता न रही । उसने अपने वैवाहिक सम्बन्ध और मित्रता की चिन्ता किये बिना रामपाल के अन्तिम दिनों में पालों पर प्रहार प्रारम्भ कर दिया और धीरे-धीरे पटना और मुंगेर तक के पाल क्षेत्रों को हड़प लिया । यह उसकी अवसरवादिता का ज्वलन्त उदाहरण है ।

मदनवर्मा (११२९-११६३ ई०) चन्देल के अतैथिक महू अभिलेख की सूचना है कि 'काशी का राजा भय के मारे उससे मित्रतापूर्णं व्यवहार के साथ अपना समय बिताता[१] था' । यह काशी का राजा या तो गोविन्दचन्द्र रहा होगा या विजयचन्द्र । यद्यपि स्वयं गोविन्दचन्द्र के किसी आलेख्य में इस मित्र-सम्बन्ध का उल्लेख नहीं है, महू अभिलेख के कथन की संभाव्यता पर सन्देह नहीं किया जा सकता । पीछे हम परमार और कलचुरि क्षेत्रों पर गोविन्दचन्द्र की विजय की चर्चायें कर चुके हैं । ये दोनों ही वंश चन्देलों के शत्रु थे । अतः 'शत्रु के शत्रु से स्वाभाविक मित्रता' का सिद्धान्त कार्यान्वित कर गोविन्दचन्द्र ने मदनवर्मा से मित्रता बनाये रखी हो, यह सम्भव जान पड़ता है[२] ।

गाहडवाल राज्य की सीमाओं से मिले हुए राज्यों के साथ गोविन्दचन्द्र के इन सम्बन्धों का स्वरूप प्रायः राजनीतिक था । किन्तु भारतदेश की सीमाओं पर स्थित अनेक ऐसे राज्य थे, जिनसे उसने सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित किये थे । चोलराज प्रथम कुलोतुङ्ग के शासन के ४१वें वर्ष (१११०-११ ई०) के त्रिचनापल्ली-स्थित गं. कोण्डचोल्लपुरम् से प्राप्त एक अभिलेख[३] के नीचे एक लेख अंकित है जो यशोविग्रह से चन्द्रदेव तक गाहडवालवंश की वंशावली देता है । यह बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण है कि लेख अपूर्ण है और इसके प्रकाशक का नाम अथवा उतनी दूर उक्त गाहडवाल अभिलेख के खोदे जाने के अवसर के बारे में हमें कोई भी जानकारी उससे नहीं प्राप्त होती । डॉ० हेम-चन्द्रराय[४] का विश्वास है कि कलचुरियों के प्रति समान शत्रुता के कारण गाहडवाल और चोल राज्य एक दूसरे के निकट आये थे और उपर्युक्त अभिलेख कदाचित् चोल-दरबार में मित्ररूप से उपस्थित हुए किसी गाहडवाल राजकुमार ने लिखवाया था । मेरुतुंग[५] के

१. एइ०, जिल्द १, पृष्ठ १९५-२०७ ।
२. इस सम्बन्ध में आगे देखिए, चौदहवाँ अध्याय, मदनवर्मा का प्रकरण ।
३. आसरि०, वार्षिक विवरण १९०७-८, पृ० २२८ ।
४. पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द १, पृष्ठ ५३१ ।
५. प्रचिद्वि०, पृ० ८८ ।

प्रबन्धचिन्तामणि की सूचना है कि अण्हिलवाड़ के चौलुक्य राजा जयसिंह **सिद्ध-राज** ने काशी के राजा जयच्चन्द्र के दरबार में एक दूत भेजा था। अण्हिलावाड़ और काशी के राजदरबारों के बीच इस दौत्य सम्बन्ध के उल्लेख पर सन्देह करने का कोई कारण नहीं हो सकता। किन्तु जयसिंह **सिद्धराज** (१०९४-११४३ ई०) का सम-कालिक काशिराज जयच्चन्द्र (११७०-११९४ ई०) न होकर गोविन्दचन्द्र (१११४-११५४ ई०) रहा होगा। चौलुक्य-गाहडवाल मित्रता कदाचित् कुमारपाल के समय तक चलती रही। जयसिंहसूरिकृत **कुमारपालभूपालचरित** (सप्तम, ५८८) से ज्ञात होता है कि कुमारपाल ने जीवहिंसा बन्द कराने के लिए अपने मंत्रियों (दूतों) को काशी भेजा था। **राजतरंगिणी** में कल्हण कहता है[१] कि कश्मीर के राजा जयसिंह (११२८-११४९ ई०) ने 'बड़े-बड़े भूखण्डों पर अधिकार रखने के कारण शक्तिशाली कान्यकुब्ज और अन्य स्थानों के राजाओं को अपनी मित्रता से गौरवान्वित किया।' इस सन्दर्भ का कन्नौजराज गोविन्दचन्द्र था, जिसकी कश्मीर के राजदरबार से मित्रता का एक अन्य प्रमाण भी उपलब्ध है। जयसिंह के **महासांधिविग्रहिक** मंख कवि के **श्रीकण्ठचरित** से ज्ञात[२] होता है कि जयसिंह के मंत्री अलंकार ने कश्मीरी पण्डितों और अधिकारियों की एक संगोष्ठी का आयोजन किया था, जिसमें गोविन्दचन्द्र ने भी सुहल नामक अपना एक प्रतिनिधि भेजा था।

विद्या और साहित्य

गोविन्दचन्द्र के समय कन्नौज का राजदरबार हर्षवर्धन और महेन्द्रपाल प्रतीहार के समय की ही तरह पुनः एक बार विद्या, संस्कृति और साहित्यिक क्रियाकलापों का केन्द्र हो गया। वह स्वयं अपने अभिलेखों में **विविधविद्याविचारवाचस्पति** कहा गया है, जो उसके शास्त्रनैपुण्य और ज्ञान-विज्ञान के ऊहापोह की प्रवृत्ति का परिचायक है। विभिन्न राजदरबारों से उसके सांस्कृतिक और राजनीतिक सम्बन्धों के पीछे उसकी पैनी साहित्यिक और राजशास्त्रीय परख स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है। उसकी राजनीतिक सफलताओं का बहुत कुछ श्रेय उसके **महासांधिविग्रहिक** लक्ष्मीधर को दिया जाना चाहिए, जिसकी 'मंत्रमहिमा के आश्चर्य' से ही वे सम्भव बतायी गयी हैं।[३] उसने अपना

---

१. अष्टम, श्लोक २४५३।

२. अन्यः स सुहलस्तेन ततोवन्द्यतपण्डितः दूतो गोविन्दचन्द्रस्य कान्यकुब्जस्य भूभुजः। श्रीकण्ठचरित, २५वाँ, १०२।

३. राज्ञां मूर्द्धानि यत्पादं व्यरचदगोविन्दचन्द्रनृपः।
तत्सर्वं खलु यस्य मन्त्रमहिमाश्चर्यं सः लक्ष्मीधरः ।। कृत्य०, दानकाण्ड, भूमिका, पृष्ठ ५१ (गायकवाड ओरियण्टल् सीरीज)।

कृत्यकल्पतरु नामक सर्वप्रसिद्ध ग्रंथ गोविन्दचन्द्र के आग्रह पर (**महाराजाधिराज** श्री गोविन्दचन्द्रदेवेनादिष्टेन श्री लक्ष्मीधर भट्टेन, विरचितम्) लिखा। यह ग्रन्थ चौदह अध्यायों (काण्डों अथवा कल्पतरुओं) में विभक्त है, जिसमें राजधर्मकल्पतरु और व्यवहारकल्पतरु राजनीति और विधि से सम्बद्ध है। असम्भव नहीं है कि **विविधविधा-विचारवाचस्पति** गोविन्दचन्द्र ने स्वयं भी कुछ कविताएँ अथवा ग्रन्थ लिखे हों। किन्तु उनकी अथवा उसके राजदरबार के अन्य सम्भाव्य कवियों की कृतियों की कोई जानकारी हमें नहीं प्राप्त है।

विजयचन्द्र (लगभग ११५५-११६९ ई०)

गोविन्दचन्द्र के तीन पुत्र थे, जिसमें सबसे जेठा आस्फोटचन्द्रदेव था, जिसे ११३४ ई० के एक अभिलेख (एइ०, जिल्द ८, पृ० १५५) में **समस्तराजक्रियोपेत** (प्रशासन के सभी कार्यों से सम्बद्ध) और **युवराज** (यौवराज्याभिषिक्त) कहा गया है। उसके छोटे भाई राज्यपालदेव की जानकारी ११४२ ई० के एक अन्य अभिलेख (एइ०, जिल्द १३, पृष्ठ २१७) से होती है। किन्तु इन दोनों के कदाचित् अकालकालकवलित हो जाने अथवा उत्तराधिकार के किसी अज्ञात युद्ध[1] में मारे जाने से विजयचन्द्र गोविन्दचन्द्र का उत्तराधिकारी हुआ। साहित्यिक ग्रन्थों में उसे विजयपाल अथवा मल्लदेव भी कहा गया है। उसके केवल चार अभिलेख प्राप्त हुए हैं, जिनमें सबसे पहले प्रकाशित किये जाने वाले की तिथि वि० सं० १२२१=११६८ ई० है। गोविन्दचन्द्र के समय का अंतिम अभिलेख ११५४ ई० का है। अत: यह अनुमान किया जा सकता है कि विजयचन्द्र ११६८ ई० के बहुत पूर्व ही राज्यासीन हो चुका होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि विजयचन्द्र के समय से गाहडवालों की अवनति प्रारम्भ हो गयी।

पृथ्वीराजरासो में चन्दबरदायी का कथन है कि विजयचन्द्र ने कटक के सोमवंशी राजा मुकुन्ददेव को हराया, जिसे अपनी पुत्री का ब्याह जयच्चन्द्र से करना पड़ा। उसमें यह भी उल्लेख है कि उसने दिल्ली के अनंगपाल और पट्टनपुर (अण्हिलवाड़) के भोला भीम को हराया तथा विन्ध्याचल के पार दक्षिण के अनेक देशों पर आक्रमण किया। किन्तु ये उल्लेख इस नाते आग्राह्य हैं कि चन्दबरदायी विजयचन्द्र द्वारा पराजित जिन राजाओं के नाम लेता है वे उसके समकालिक नहीं थे। कटक अर्थात् उड़ीसा में उस समय तक सोमवंशियों का शासन समाप्त हो चुका था और विजयचन्द्र का समकालिक वहाँ का राजा गंगवंशी सप्तम कामार्णव (११४७-११५६) अथवा राघव (११५६-

---

१. देखिए, एइ०, जिल्द ९, पृष्ठ ३२१; हेमचन्द्रराय, पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द १, पृ० ५३२-३३।

११७०) रहा होगा। वास्तव में मुकुन्ददेव नामक उड़ीसा का कोई राजा ज्ञात ही नहीं है। चौलुक्य राजा भोला भीम[१] अर्थात् द्वितीय भीमदेव (११७८-१२४१ ई०) भी उसका नहीं, अपितु उसके पुत्र जयच्चन्द्र का समकालिक था। यद्यपि दिल्ली पर विग्रहराज **वीसलदेव** चाहमान (११५३-११६३) का अधिकार[२] हो चुका था, यह असम्भव नहीं है कि चाहमानों द्वारा पराजित किये जाने के पूर्व तोमरों ने गाहडवालों की अधिसत्ता का भार फेंक देने का प्रयत्न किया हो और विजयचन्द्र का अनंगपाल को हराने का उल्लेख उसके तोमरों के संघर्ष में आने का परिचायक हो। किन्तु उस संघर्ष का परिणाम क्या हुआ, यह ज्ञात नहीं है।

विजयचन्द्र के पुत्र जयच्चन्द्र के बनारस से प्राप्त ११६८ ई० के कमौली अभिलेख में यह कहा गया है कि उसने 'पृथ्वी का दलन करते हुये मानों खिलवाड़ करने वाले हम्मीर की स्त्रियों की आँखों की, मानों बादलों से गिरते हुए पानी के समान, आँसुओं से पृथ्वी का कष्ट धो डाला'।[३] यह हम्मीर (अमीर) लाहौर के खुशरूशाह (११५०-११६० ई०) अथवा खुशरूमलिक (११६०-११८६ ई०) का कोई अधिकारी अथवा सेनानायक प्रतीत होता है, जिसने सम्भवतः दिल्ली अथवा उसके आगे के गाहडवाल क्षेत्रों पर आक्रमण किया था। यद्यपि इस आक्रमण का उल्लेख किसी मुसलमान लेखक ने नहीं किया[४] है, चाहमान आलेख्यों[५] से ज्ञात होता है कि विजयचन्द्र के समकालिक राजा विग्रहराज (चतुर्थ) **वीसलदेव** ने भी मुसलमान (म्लेच्छ) आक्रामकों का सफलतापूर्वक प्रतिरोध किया था। कदाचित् इन आक्रमणों में अपने पक्ष की हार के कारण ही मुसलमान लेखकों ने इनका कोई उल्लेख नहीं किया। किन्तु ये आक्रमण कब हुए थे, यह सम्बद्ध साक्ष्यों से ज्ञात नहीं है।

उत्तर में तुरुष्क आक्रमण के विरुद्ध उलझे होने के कारण कदाचित् कुछ समय के लिए विजयचन्द्र की पूर्वी सीमाएँ पूर्णतः प्रतिरक्षित नहीं रह गयीं। परिणामस्वरूप उन पर सेन राजकुमार लक्ष्मणसेन ने धावा बोल दिया। उसके माधाइनगर अभिलेख की सूचना

---

१. इसके विपरीत हेमचन्द्र द्वाश्रयकाव्य (षष्ठम् ७९) में कहता है कि कुमारपाल ने कान्यकुब्ज के राजा को आतंकित किया।

२. इऐ०, जिल्द १९, पृष्ठ २१९।

३. 'भुवनदलनहेलाहर्म्यहम्मीरनारी नयनजलधारा धौतभूलोकतापः।' इए०, जिल्द १८, पृष्ठ १३०, ९-१०वीं पंक्तियाँ।

४. देखिए, कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, जिल्द ३, पृष्ठ ३७ और ६८८।

५. दिल्ली शिवालिक स्तम्भलेख, एइ०, जिल्द १, पृष्ठ ९३; बिजोलिया अभिलेख, इऐ०, जिल्द १९, पृ० २१५-२१९।

है कि उसने कुमार के रूप में गौड पर अधिकार कर लिया और काशी के राजा को हराया[1]। किन्तु इन उल्लेखों का यह अर्थ नहीं लगाया जा सकता कि लक्ष्मणसेन (अथवा विजयसेन या बल्लालसेन) ने गाहडवाल राज्य के किन्हीं क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया। विजयचन्द्र के समय के कमौली से प्राप्त अभिलेखों से काशी पर उसका पूर्णरूप से अधिकार स्पष्टत: प्रमाणित है। यही नहीं, बिहार में सहसराम के आसपास तक ११६८-९ ई० में उसका अधिकार व्याप्त था। वहाँ की ताराचण्डी की मूर्ति पर उल्लिखित वि० सं० १२२५=११६८-९ ई० का एक अभिलेख प्राप्त है, जो वहाँ के स्थानीय शासक खयरलवंशी जपिल प्रतापधवल (**महानायक**) की यह सूचना प्रकाशित करता है कि वहाँ के कुछ ब्राह्मणों ने कान्यकुब्जराजश्रीविजयचन्द्रदेव के देउ नामक दास को घूस देकर (उत्कोच्य) कालाहण्डी और वडपिला नामक गाँवों का दान गलतरूप से प्राप्त कर[2] लिया था। यहाँ श्रीविजयचन्द्रदेव और कन्नौज का स्पष्ट उल्लेख यह प्रमाणित करता है कि उपर्युक्त गाँवों पर गाहडवालों का ११६९ ई० तक अधिकार बना हुआ था, और उसका 'दास' अर्थात् अधिकारी उन गाँवों का दान दे सकता था[3]।

किन्तु विजयचन्द्र के समय पश्चिम में गाहडवालों की प्रभाव-सीमा का ह्रास हुआ। दिल्ली के तोमरवंशी शासक गाहडवालों की अधिसत्ता चन्द्रदेव के समय से ही स्वीकार करते थे। किन्तु अब शाकम्भरी के विग्रहराज (चतुर्थ) **वीसलदेव** (११५३-११६३ ई०) ने उनपर अपना आधिराज्य स्थापित कर लिया। उसके दिल्ली-शिवालिक अभिलेख और सोमेश्वर के बिजोलिया अभिलेख से ज्ञात होता है कि विग्रहराज ने दिल्ली और हाँसी पर अधिकार कर लिया।[4] ये दोनों ही स्थान तोमरों के अधिकार[5] में थे। लेकिन चाहमानों ने उन स्थानों पर अपना प्रत्यक्ष प्रशासन स्थापित न कर तोमरों को अपने सामन्त के रूप में शासन करने दिया। चाहमानों ने अपनी सफलता से गाहडवालों को

---

१. 'येनाऽसौ काशीराजभुविजिता' जएसो० बेंगाल, ज़िल्द ५, (नयी अवली), पृ० ४७३।

२. एइ०, जिल्द ४, पृ० ११७-२०, ३११; जर्नल् ऑफ् अमेरिकन् ओरियन्टल् सोसायटी, द्वितीय, पृ० ५४७-५४९।

३. रोमानियोगी (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ९८-९९) का विश्वास है कि सहसराम के आस-पास के क्षेत्रों की विजय स्वयं विजयचन्द्र ने की होगी, क्योंकि गोविन्दचन्द्र की उस दिशा में विजय का कोई प्रमाण नहीं मिलता।

४. इए०, जिल्द १९, पृ० २१४-२१९; जएसो०, बेंगाल, जिल्द ५५, भाग १ (१८८६), पृ० ४२; एइ०, जि० १, पृ० ९३, श्लोक ४।

५. दशरथ शर्मा, अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० ५९-६०।

उत्तर-भारत की प्रमुख राजनीतिक सत्ता होने के स्थान से हटाकर स्वयं वह गौरव प्राप्त कर लिया।

जयच्चन्द्र (११७०-११९४ ई०)

विजयचन्द्र का चन्द्रलेखादेवी से उत्पन्न पुत्र जयच्चन्द्र आषाढ़ सुदी षष्ठी, वि० सं० ११२६=२१ जून, ११७० ई० को गाहडवाल राजगद्दी पर बैठा। राजशेखर उसका नाम 'जयन्तचन्द्र' देता (प्रबन्धकोश, सिंधी जैन ग्रन्थमाला, पृ० ८८-९०) है। गद्दी पर आने के दो वर्षों पूर्व (आषाढ़ सुदी दशमी, वि० सं० १२२४=१६ जून, ११६८ ई०) से ही वह युवराज के रूप में प्रशासन से पूर्णतः सम्बद्ध (समस्तराजक्रियोपेत) था[१]। उसने अपने पिता के समय तो दान की सूचनाओं वाले अभिलेख प्रकाशित किये ही; स्वयं अपने राज्यकाल में भी १६ अभिलेखों का प्रकाशन किया। किन्तु उनसे राजनीतिक महत्त्व की बहुत ही कम बातें हमें ज्ञात होती हैं। यद्यपि चन्दबरदायीकृत **पृथ्वीराजरासो**[२] विद्यापतिकृत **पुरुषपरीक्षा** और मेरुतुंगकृत **प्रबन्धचिन्तामणि** जैसे साहित्यिक ग्रन्थों में उसके उल्लेख प्राप्त होते हैं, समसामयिक गाहडवाल अथवा अन्य राजवंशों के अभिलेखीय साक्ष्यों से उनका समर्थन नहीं होता। अतः उनका उपयोग अत्यन्त सावधानी से ही किया जाना चाहिए।

अन्य राज्यों से सम्बन्ध

समकालिक चाहमान राजा तृतीय पृथ्वीराज से जयच्चन्द्र का सम्बन्ध ही उससे सम्बद्ध साहित्यिक विवरणों की धुरी प्रतीत होता है। चन्दबरदायी का मूल उद्देश्य पृथ्वीराज की प्रशंसा करना था। अतः उसके राजनीतिक और सम्भवतः व्यक्तिगत, शत्रु जयच्चन्द्र की प्रशंसा और उसकी शक्ति को बढ़ा-चढ़ाकर बताना भी चन्दबरदायी के लिए आवश्यक हो गया।[३] पुनः उसी लिए पृथ्वीराज के सभी शत्रु जयच्चन्द्र के मित्र हो

---

१. एइ०, जिल्द ४, पृ० ११८, ११९, १२०-१२१।

२. पृथ्वीराजरासो के ऐतिहासिक उल्लेख बड़े काल्पनिक प्रतीत होते हैं। उनकी अग्राह्यता के बारे में तो बूहलर ने यहाँ तक कहा (प्रोसीडिंग्स्, एशियाटिक् सोसायटी, बेंगाल १८९३, पृ० ९५) कि यदि 'उसे मुद्रित न किया गया होता तो अच्छा था'। उसके ऐतिहासिक मूल्य के बारे में देखिए, जएसो०, बेंगाल, जि० ५५, पृ० ५-२६; जएसो० बंगाल, (नयी अवली), जि० ३, पृ० २०३-२११।

३. पृथ्वीराजरासो की ७०० योजनों तक की दिग्विजय के सिलसिले में जयच्चन्द द्वारा देवगिरि के यादवों पर आक्रमण, जयसिंह सिद्धराज की पराजय और विजयसूचक राजसूययज्ञ सम्बन्धी विवरण ऐतिहासिक और विश्वसनीय नहीं प्रतीत होते। जयसिंह सिद्धराज तो उसका समकालिक भी नहीं था।

गये, जिनकी उसके द्वारा सहायता की कहानियाँ **पृथ्वीराजरासो** में आवश्यकतानुसार पिरो दी गयीं। यद्यपि राजनीतिशास्त्र और राजनय के नियमों के अनुसार जयच्चन्द्र का चन्देलों, चौलुक्यों और परमारों की पृथ्वीराज के दबावों के विरुद्ध सहायता करना असम्भाव्य तो नहीं था, इन राजवंशों के अभिलेखों अथवा अन्य साक्ष्यों में उसकी सहायताओं की कोई चर्चा नहीं मिलती। जयच्चन्द्र को गोविन्दचन्द्र द्वारा निर्मित एक विशाल राज्य, महान् सैनिक[1] शक्ति और कुशल प्रशासन उत्तराधिकारक्रम से मिला था, जो उसके पिता विजयचन्द्र के समय भी शिथिल नहीं हुआ था। अतः समकालिक राजनीति में उसकी महत्त्वाकांक्षाएँ स्वाभाविक जान पड़ती हैं। किन्तु, जैसा कि हम क्रमशः आगे देखेंगे, उन महत्त्वाकांक्षाओं के अनुरूप उसकी राजनीतिक सूझ-बूझ नहीं थी। उसका शत्रु पृथ्वीराज चाहमान भी प्रायः इसी कमी का शिकार था, जिसका परिणाम उन्हीं दोनों के लिए नहीं, अपितु सारे भारतवर्ष के लिए अत्यन्त घातक साबित हुआ और गोरी आक्रामकों के सामने एक-एक कर वे दोनों तो मिट ही गये, उत्तर भारत के अन्य सभी राज्य और राजे भी समाप्त हो गये।

जयच्चन्द्र के चन्देल राजाओं से सम्बन्धों के बारे में परस्पर विरोधी उल्लेख प्राप्त होते हैं। नयचन्द्रकृत **रम्भामञ्जरी**[2] में जयच्चन्द्र की भुजाओं की तुलना 'मदनवर्मा की राज्यश्रीरूपी हाथी को बाँधने के लिए खम्भ' से की गयी है, जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उसने मदनवर्मा को हराया। किन्तु मदनवर्मा (११२९-११६३ ई०) और जयच्चन्द्र (११७०-११९४) के समकालिक न होने से यह उल्लेख कुछ संशयात्मक प्रतीत होने लगता है। सम्भव है, जयच्चन्द्र ने अपने पिता विजयचन्द्र[3] के

---

१. मुसलमान इतिहासकार (इलियट् ऐण्ड डाउसन, पूर्वनिर्दिष्ट, जि० २, पृ० २५१) उसका राज्य चीन की सीमाओं से मालवा प्रान्त तक लम्बा और समुद्र से उस स्थान तक विस्तृत बताते हैं जहाँ से लाहौर दस दिनों में पहुँचा जा सकता है। वे उसे भारतवर्ष का सबसे बड़ा राजा कहते हैं। चन्दबरदायी उसकी सेना की विशालता बताते हुए कहता है (टॉड द्वारा उद्घृत, पूर्वनिर्दिष्ट, जि० २, पृ० ९३६) कि उसके अग्रभाग के युद्धस्थल तक पहुँच जाने पर भी पिछला भाग यात्रा-प्रारम्भ नहीं किये रहता था। यह कोरी प्रशंसा है। सूरजप्रकाश (वहीं उद्घृत) के अनुसार उसकी सेना में ८० हजार शस्त्रधारी, ३० हजार बख्तरबन्द घोड़े, ३ लाख पदाति २ लाख धनुर्धर और बहुत से हाथी थे।

२. 'अभिनवरामावतारश्रीमद्मदनवर्ममेदिनीदमितसाम्राज्यलक्ष्मी करेणुकालानस्तम्भ-यमान बाहुदण्डस्य', त्रिपाठी (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३२३-४) द्वारा उद्घृत।

३. देखिए, विश्वेश्वरनाथ रेउ, जराएसो०, १९३२, पृष्ठ १३-१४।

युवराज के रूप में मदनवर्मा पर कोई आक्रमण किया हो । **पृथ्वीराजरासो** के **आल्हा प्रस्ताव** से ज्ञात होता है कि यद्यपि चन्देलों का राजा परमर्दिन् (परमाल) आल्हा और ऊदल नामक अपने बनाफर सामन्तवीरों के साथ पृथ्वीराज चाहमान द्वारा पराजित हुआ,[१] जयच्चन्द्र ने उसकी (परमर्दिन् की) चाहमानों के विरुद्ध सहायता की थी । पृथ्वीराज के ११८३-४ ई० के मदनपुर अभिलेख (आसरि०, पश्चिमी चक्र, १९०४, पृष्ठ ५५) से चाहमानों का परमर्दिन् के राज्य पर आक्रमण और उसके कुछ भागों पर चाहमान अधिकार प्रमाणित है । अतः, यद्यपि चाहमान-चन्देल साक्ष्यों में इसकी कोई चर्चा नहीं है, यह असम्भव नहीं है कि जयच्चन्द्र ने परमर्दिन् की सहायता की हो । यह इस नाते भी बहुत सम्भव प्रतीत होता है कि परमर्दिन् का पितामह मदनवर्मा गोविन्दचन्द्र अथवा उसके पुत्र विजयचन्द्र का मित्र रह चुका था और चाहमान राजा विग्रहराज **वीसलराज** ने विजयचन्द्र के समय दिल्ली के तोमरों द्वारा मान्य गाहडवाल अधिसत्ता को हटाकर उनपर चाहमान अधिसत्ता स्थापित कर ली थी, जिसकी कसक जयच्चन्द्र के मन में ताजी रही होगी ।

पूर्व दिशा में सेनवंशी राजा लक्ष्मणसेन जयच्चन्द्र का प्रतिद्वन्द्वी था । उन दोनों के बीच एक अनिर्णायक संघर्ष की सूचना राजशेखर के **प्रबन्धकोश**[२] से मिलती है । वहाँ कहा गया है कि जयच्चन्द्र (जयन्तचन्द्र) ने सेन राज्य पर आक्रमण तो किया किन्तु दोनों पक्षों में किसी की विजय अथवा पराजय के पूर्व ही वह काशी लौट आया । उन दोनों के बीच बिहार पर अपना-अपना अधिकाधिक अधिकार जमाने की प्रतिस्पर्धा सी रही प्रतीत होती है । लक्ष्मणसेन ने पश्चिम की ओर बढ़ने की इच्छा अवश्य की होगी । किन्तु जयच्चन्द्र के जीवित रहते लक्ष्मणसेन को इस इच्छा की पूर्ति में कोई सफलता नहीं प्राप्त हो सकी । पीछे हम देख चुके हैं कि सहसराम के आसपास के क्षेत्रों पर ११६९ ई० में विजयचन्द्र का प्रशासकीय अधिकार था । ११७५ ई० का जयच्चन्द्र का शिवहर ताम्रफलकाभिलेख यह सूचित करता है कि उसने मारणपत्तला में दो गाँवों का दान किया था । यह मारणपत्तला गोविन्दचन्द्र के ११२४ ई० वाले अभिलेख का मणियारी पत्तला अथवा मनेर जान पड़ता है, जो पटना-दानापुर क्षेत्र में स्थित था । जयच्चन्द्र का बोधगया से प्राप्त ११८३ और ११९२ ई० के बीच का एक अन्य अभिलेख (इहिक्वा०, जिल्द ५, पृ० १४-३०) गया तक उसके अधिकार को प्रमाणित करता है । वहाँ उसे 'काशीश' और सैकड़ों राजाओं द्वारा सेवित (नृपशतकृतसेवः) कहा गया है । किन्तु इन साक्ष्यों के

१. पृथ्वीराजरासो, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २५०७-२६१५ ।

२. सिंघी जैन ग्रन्थमाला में प्रकाशित, पृष्ठ ८८-९० ।

विपरीत लक्ष्मणसेन और उसके पुत्र विश्वरूपसेन के अभिलेखों[१] में कहा गया है कि लक्ष्मणसेन ने काशिराज को हराया एवं बनारस तथा प्रयाग में अपने विजयस्तम्भों की स्थापना की। डॉ० रमेशचन्द्र मजुमदार[२] जैसे अनेक विद्वान् इस काशिराज को जयच्चन्द्र मानकर ऐसा विश्वास करते हैं कि उससे गया के आसपास के कुछ भाग लक्ष्मणसेन ने छीन लिये। प्रमाणस्वरूप वे लक्ष्मण संवत् ५१ और ७४ के अशोकछल्ल के अभिलेखों का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। किन्तु न तो यही निश्चित है कि लक्ष्मणसेन के शासन का प्रारम्भिक वर्ष क्या था और न यही स्पष्ट है कि सम्बद्ध सेन अभिलेखों का काशिराज जयच्चन्द्र ही था। पीछे सेनों का इतिहास बताते हुए हम यह निश्चय कर चुके हैं कि लक्ष्मणसेन की ये विजयें जयच्चन्द्र के शिहाबुद्दीनगोरी से हार जाने तथा मारे जाने के बाद हुई थीं न कि उसके समय में। अतः यहाँ यह कह देना मात्र पर्याप्त होगा कि जयच्चन्द्र के समय गाहडवालों की पूर्वी सीमाओं (पटना-गया) में कोई भी ह्रास नहीं हुआ। मुसलमान साक्ष्यों से यह स्पष्टतः ज्ञात है कि गोरी आक्रमण (११९३-४ ई०) के समय वह कान्यकुब्ज और वाराणसी से सवैभव शासन करता था[३]।

पश्चिमोत्तर दिशा में शाकम्भरी-अजमेर के चाहमानों का राज्य जयच्चन्द्र का सीमावर्ती क्षेत्र था। उसके शासक पृथ्वीराज से जयच्चन्द्र के सम्बन्धों के बारे में मध्य-कालीन साहित्य से अनेक अनुश्रुतियाँ ज्ञात होती हैं। उन सबमें प्रमुख हैं **पृथ्वीराजरासो** के वे विवरण, जिनमें जयच्चन्द्र की दिग्विजय तथा उसके उपलक्ष्य में राजसूय यज्ञ और संयोगिता के स्वयंवर की चर्चाएँ हैं[४]। स्वयंवर में पृथ्वीराज का आमंत्रित न किया जाना, संयोगिता का उसके प्रति प्रेम तथा पृथ्वीराज का छिपकर स्वयंवर स्थल पर उपस्थित होकर संयोगिता को भगा ले जाना आदि कथाएँ इतनी बहुश्रुत हैं कि उनकी चर्चा यहाँ आवश्यक नहीं है। किन्तु इन कथाओं में कितनी ऐतिहासिकता है, यह प्रश्न सर्वदा विद्वानों में मतभेद का कारण रहा है। उनका सारा स्वरूप कल्पनाप्रभूत होते हुए भी उनमें

---

१. इन्सक्रृप्शन्स् ऑफ् बेंगाल, जिल्द ३, पृष्ठ १२२-२३, १३५ और १४४।

२. हिस्ट्री ऑफ् बेंगाल, जिल्द १, पृष्ठ २२१; जएसो० बेंगाल, नयी अवली, जिल्द १७, पृ० ८ और आगे।

३. फिरिश्ता, पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द १, पृ० १७८; इलिएट् ऐण्ड डाउसन् पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द २, पृष्ठ २२२-२२३; प्रबन्धचिन्तामणि (पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ८८) में भी जयच्चन्द्र को काशी का राजा कहा गया है।

४. देखिए, काशी नागरी प्रचारिणी सभा का प्रकाशन, ४५-५०वें और ६०-६१वें समय।

सत्य का आधार होना असम्भव नहीं है, अबुलफजल की **आइने-अकबरी** (द्वितीय, पृ० ३०० और आगे) तथा चन्द्रशेखरकृत **सुर्जनचरित** (दशम्, १३-१२८) में भी उन कथाओं का उल्लेख है। जयानकभट्ट भी अप्रत्यक्षरूप से संयोगिता का उल्लेख **पृथ्वीराजविजय** में करता है।[1] अतः **पृथ्वीराजरासो** की उपर्युक्त कथा को पूर्णतः अस्वीकार्य नहीं माना जा सकता। जयच्चन्द्र और पृथ्वीराज की शत्रुताओं के मूल में उन दोनों का यह अलग-अलग प्रयत्न था कि एक दूसरे को हटाकर वे तत्कालीन राजनीति में प्रमुख स्थान बना लें। ऐसी स्थिति में जयच्चन्द्र द्वारा पृथ्वीराज को निमंत्रित न किया जाना अत्यन्त स्वाभाविक था और यह भी असम्भव नहीं है कि पृथ्वीराज ने एकाएक जयच्चन्द्र पर उस समय धावा बोलकर संयोगिता का अपहरण कर लिया हो, जब वह कुछ धार्मिक कृत्यों के सम्पादन में लगकर असावधान रहा हो[2]। किन्तु इसका परिणाम अत्यन्त बुरा हुआ। राजनीतिक क्षेत्र का प्रतिस्पर्द्धी जयच्चन्द्र अब अपमानित होकर व्यक्तिगत शत्रु हो गया और उत्तर भारत के उन दो सर्वप्रमुख राजाओं के आपसी वैमनस्य से शिहाबुद्दीन गोरी की बन आयी तथा उसके सामने वे एक-एक कर दोनों ही समाप्त हो गये। मुसलमान आक्रामक इन स्थितियों से अवश्य अवगत रहे होंगे और उन्होंने उनका पूरा-पूरा लाभ उठाया। **पृथ्वीराजप्रबन्ध** की सूचना है कि पृथ्वीराज के मारे जाने का समाचार सुनकर जयच्चन्द्र ने अपनी राजधानी में दीवाली मनायी। तत्कालीन अविवेकपूर्ण हिन्दू नीति की यह हीनतम परिणति थी।

शिहाबुद्दीन गोरी का आक्रमण (११९३-४) और गाहडवाल राज्य का पतन

१२वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में उत्तर भारत के चार सर्वाधिक प्रमुख राज्य—गाहडवाल, चाहमान, सोलकीं और चन्देल—जब आपस में ही लड़ रहे थे, ग़ियासुद्दीन मुहम्मद और मुइज़ुद्दीन (शिहाबुद्दीन) मुहम्मद गोरी के नेतृत्त्व में गोर के पहाड़ों में पारसीक मुसलमानों की एक शाखा मुसलमान साम्राज्य के इतिहास में एक नये अध्याय का सूत्रपात कर रही थी। उसकी महत्त्वाकांक्षाएँ गोर जैसे एक छोटे से क्षेत्र में सीमित रहने से सन्तुष्ट होनेवाली नहीं थीं और गजनी साम्राज्य का अपने को वास्तविक उत्तराधिकारी समझते हुए उन्होंने भारत के लहलहाते मैदानों की ओर दृष्टि फेरी। क्रमशः उन्होंने गजनी (११७३ ई०), मुल्तान (११७५ ई०), पेशावर (११७९ ई०) और लाहौर (११८७ ई०) पर अधिकार कर लिया। ११७८ ई० में उन्होंने चौलुक्यों के राज्य पर भी चढ़ाई

---

१. दशरथ शर्मा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ७८।

२. वहीं पृ० ७९।

३. पुरातनप्रबन्धसंग्रह, पृष्ठ ८६, ८९।

की, किन्तु वहाँ के नवजवान और वीर राजा भीमदेव ने काशह्रद के मैदान में उन्हें करारी मात दी। उस समय उसकी न तो चाहमान राजा पृथ्वीराज ने सहायता की और न जयच्चन्द्र ने ही। यह इस बात का द्योतक है कि अकेले-अकेले भी बड़ी-बड़ी वीरताओं के प्रदर्शन में समर्थ उन राजाओं ने यह कभी नहीं सोचा कि सबके लिए समान शत्रु (मुहम्मदगोरी) के सामने उनका एक हो जाना ही उनके सामने अकेला विकल्प रह गया था। वे अपने युग की कमजोरी से ऊपर नहीं उठ सके और परस्पर लड़कर एक दूसरे को शक्तिहीन करते रहे। इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि उन्हें गोरी आक्रमणों के दूरगामी परिणामों की किञ्चिन्मात्र भी कल्पना थी। **ताजुल-मसीर** के अनुसार 'अपनी बड़ी सेना और महान् वैभव के कारण पृथ्वीराज के मन में विश्व-विजय करने जैसी भावना का मानों कोई भूत घर कर गया था।'[१] किन्तु असली अवसर आने पर जब उसने आक्रामकों के सामने कमर कसी तो अकेला ही रह गया। जयच्चन्द्र[२] तथा भीम तमाशा देखते रहे। तराइन की दूसरी लड़ाई (११९२ ई०) में जब वह पराजित होकर मारा गया तो जयच्चन्द्र ने दीवाली तो मनायी, किन्तु उसके दीपों की लवें स्वयं उसपर शीघ्र ही मोहम्मद गोरी के आक्रमण की आँधी में बुझ गयीं।

जयच्चन्द्र को कदाचित् अपनी 'बालू के कणों की तरह अनगिनत' जान पड़नेवाली 'लगभग १० लाख पदातियों और ७०० हाथियों' की सेना[३] पर अत्यधिक विश्वास था। भारतीय साक्ष्यों से ज्ञात होता[४] है कि उसने चन्दावर के युद्ध के पूर्व सहाबदिन (शिहाबुद्दीन) की सेनाओं को कई बार हराया था। तराइन की सफलता के बाद मुहम्मद गोरी के सेनानायक मेरठ, दिल्ली (११९३ ई०) और उसके आगे तक धावे मारकर अपना अधिकार-क्षेत्र बढ़ाने लगे, और यह असम्भव नहीं है कि गाहडवाल सेनाओं से संघर्ष के प्रारम्भिक चक्रों में वे पराजित हुए हों। ११९४ ई० में अपने ५० हजार शस्त्रकवचधारी घुड़सवारों के साथ शिहाबुद्दीन ने उस पर सबसे तीखा आक्रमण

---

१. इलियट् ऐण्ड डाउसन्, पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द २, पृ० २१४।

२. पृथ्वीराजरासो के आधार पर मेजर रैवर्टी (तबकाते-नासिरी, अंग्रेजी अनुवाद जि० १, पृ० ४६६, नोट १ और पृ० ४६७) का मत है कि जयच्चन्द्र छिपे-छिपे पृथ्वीराज के विरुद्ध मोहम्मद गोरी से पत्रव्यवहार कर रहा था। किन्तु इसका कोई पक्का प्रमाण नहीं है।

३. इलियट् ऐण्ड डाउसन्, पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द २, पृ० २५१।

४. पुरुषपरीक्षा (बम्बई, १९१४ ई०), पृ० १४६-१४७; रम्भामंजरी; (बम्बई १८९९) प्रथम, पृष्ठ ५।

किया ।[१] युद्ध के प्रथम दौर में तो आक्रामक अत्यन्त भयभीत रहे, किन्तु अपने हाथी पर बैठकर सेना का नेतृत्त्व करते हुए जयच्चन्द्र की आँख में कुतुबुद्दीन का एक तेज तीर लगा और वह नीचे गिर गया। अन्ततः वह मारा गया और उसकी सेना पराजित हुई। आक्रामकों ने 'स्त्रियों और बच्चों को छोड़कर' किसी को भी मारने से नहीं छोड़ा। 'उनके हाथ लूट का इतना अधिक धन लगा कि उसे देखते हुए आँखें भी थक जातीं।' शिहाबुद्दीन ने कन्नौज से आगे बढ़कर फतेहपुर के पास स्थित असनी के उस दुर्ग को भी लूटा, जिसमें जयच्चन्द्र के राज्य का सारा धन रखा हुआ था। यही नहीं, आक्रामक सेनाओं ने आगे बनारस को लूटा और वहाँ के १००० मंदिरों को धराशायी कर उनके स्थानों पर मस्जिदें खड़ी कर दीं। इस प्रकार हिन्दुओं का अन्तिम गढ़ (गाहडवाल राज्य) भी ढह गया।

जयच्चन्द्र की चन्दावर में हार और मृत्यु से गाहडवाल राज्य की प्रतिष्ठा तो धूल में मिल गयी, किन्तु उसकी एकदम समाप्ति नहीं हुई। गोरी सेनाओं ने सम्भवतः कन्नौज पर अधिकार नहीं किया[२]। बनारस तक के अपने धावों में उन्होंने केवल लूटपाट की। यद्यपि रास्ते में पड़ने वाले सैनिक सरदारों ने उनके सामने सिर झुका दिया, उन प्रदेशों पर स्थायीरूप से मुसलमान सत्ता की स्थापना अभी नहीं हुई। जौनपुर जिले में स्थित मछलीशहर तहसील से जयच्चन्द्र के पुत्र हरिश्चन्द्र का वि० सं० १२५५=११९८ ई० का एक दानपत्राभिलेख उसे **परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर परममाहेश्वर अश्व-पति गजपति नरपति राजत्रयाधिपति विविधविद्याविचारवाचस्पति** कहता है।[३] गाहडवाल राजाओं की इन उपाधियों का प्रयोग स्वतंत्र सत्ता का द्योतक है। उसकी स्वतंत्र राजनीतिक स्थिति का समर्थन ११९७ ई० के **राणकश्री** विजयकर्ण के मिर्जापुर जिले के बेलखरा स्तम्भ अभिलेख से भी होता है, जिसमें वह **परमभट्टारक...... .....राजावलि............श्रीमत्कान्यकुब्जविजयराज्य** की अधिसत्ता[४] स्वीकार करता

---

१. इलियट् ऐण्ड डाउसन्, पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द २, पृष्ठ २२२, २५१-२, २७८-७९।

२. फिरिश्ता के अतिरिक्त अन्य कोई भी मुसलमान इतिहासकार चन्दावर के युद्ध के तुरन्त बाद मुसलमान सेनाओं के कन्नौज पहुँचने का उल्लेख नहीं करता। इस सम्बन्ध में देखिए, रोमा नियोगी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ११५-११६।

३. एइ०, जिल्द १०, पृष्ठ ९३-१००।

४. जएसो०, बेंगाल, १९११, पृष्ठ ७६३-६५।

है। इस लेख में कान्यकुब्ज के राजा का नाम न दिया जाना कान्यकुब्ज के आसपास भी राजनीतिक स्थिति की अस्तव्यस्तता का सूचक हो सकता है। किन्तु उससे इतना तो स्पष्ट ही है कि मिर्जापुर-वाराणसी-जौनपुर के क्षेत्रों में हरिश्चन्द्र पूर्णरूप से ११९७-८ ई० तक अधिकारस्थ था। किन्तु उस तिथि के बाद उसकी अथवा कन्नौज-काशी के गाहडवाल राज्य के अन्य किसी भी प्रतिनिधि की कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है।

❀❀❀

१४

जेजाकभुक्ति के चन्देल

उत्पत्ति

चन्देलों की उत्पत्ति के बारे में प्रामाणिक रूप से अभी तक कुछ निश्चय नहीं हो सका है। इसका प्रधान कारण यह है कि उनके मूल की चर्चा करनेवाले साक्ष्य बहुत स्पष्ट नहीं हैं। तत्सम्बन्धी साक्ष्यों को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। प्रथमतः, अभिलेखीय और द्वितीयतः, जनश्रुतिमूलक। कालक्रम की दृष्टि से ये दोनों क्रमशः एक दूसरे के बाद के हैं। अतः यहाँ उनकी चर्चा उसी क्रम से की जायगी।

चन्देलों की उत्पत्ति सम्बन्धी प्रथम चर्चा धंग के खजुराहो स्थित लक्ष्मणजी (चतुर्भुज) मंदिर से प्राप्त होने वाले विक्रम सं० १०११ के एक शिलालेख (एइ०, जि० १ पृ० १२७) में आती है। तदनुसार, विश्व की उत्पत्ति करने वाले पुराण पुरुष से मरीचि और अत्रि जैसे ऋषियों की उत्पत्ति हुई। अत्रि के पुत्र चन्द्रात्रेय थे, जिन्होंने अपनी तपस्या से बहुत बड़ी शक्ति प्राप्त की। उसी ऋषि चन्द्रात्रेय ने ऐसे राजाओं (भुभुजाम्) को जन्म दिया, जिनके पास पृथिवी के संहार अथवा रक्षण की शक्ति थी। उन्हीं के वंश में नृप नन्नुक की उत्पत्ति हुई, जो वंश का पहला राजा था[१]। खजुराहो से ही प्राप्त धंग के एक दूसरे लेख[२] (वि स० १०५९) में अत्रि के नेत्रकमल से चन्द्रमा, चन्द्रमा से चन्द्रात्रेय तथा चन्द्रात्रेय से चन्देलों की उत्पत्ति बतायी गयी है। परमर्दिदेव का वि० सं० १२५२ का बधारि तथा बटेश्वर शिलालेख[३] भी उनकी उत्पत्ति अत्रि, चन्द्रमा और चन्द्रात्रेय से बताते हैं। इस प्रकार वंश का इतिहास प्रकट करने वाले अधिकांश अभिलेखों में चन्देलों को चन्द्र और उसके पुत्र चन्द्रात्रेय का ही वंशज (**चन्द्रात्रेय-मुनेर्महीयसीकुले** अथवा **चन्द्रात्रेय नरेन्द्राणां वंशे**) माना गया है।

---

१. इऐ०, जि० १८, पृ० २३६-३७।

२. एइ०, जि० १, पृ० १३७-१४७।

३. वहीं, जिल्द १, पृ० २२८-९।

यशोवर्मा के पौत्र देवलब्धि के दुधई शिलालेख[1] में चन्द्रेल्ल शब्द का प्रयोग हुआ है। उस लेख के सम्पादक डॉ० कीलहॉर्न ने उसे चन्द्र और इल्ला (इला) से मिलाते हुए चन्देलों का मूल प्राकृत नाम माना तथा यह सुझाव दिया कि चन्द्र और अत्रि से जोड़ने वाला संस्कृत नाम 'चन्द्रात्रेय' कदाचित् बाद में अपना लिया गया। कालान्तर में मूल 'चन्देल्ल' शब्द अपने संक्षिप्त रूप चन्द्रेल्ल[2] चन्देल्ल[3] अथवा चन्देल[4] मात्र में साहित्य और अभिलेखों में प्रयुक्त होने लगा। साक्ष्यों से यह स्पष्ट होता है कि चन्देल राजे अपने को चन्द्रवंशी[5] मानते हुए विश्वास करते थे कि उनका मूल पुरुष चन्द्रात्रेय था।

किन्तु परवर्ती जनश्रुतियों में चन्देलों के बारे में एक विचित्र कहानी[6] दी गयी है। **महोबाखण्ड**[7] के अनुसार काशी के गाहडवाल (गहिरवार) राजा इन्द्रजित के हेमराज नामक पुरोहित की हेमवती नाम की एक अत्यन्त सुन्दरी कन्या थी। वह १६ वर्ष की अल्पायु में ही विधवा हो गयी थी। एक बार रति तालाब में स्नान करते समय उसके रूप से मोहित होकर चन्द्रमा ने उसका आलिंगन कर लिया। हेमवती लोकलांछन के भय से जब उसे शाप देने को उद्यत हुई तो चन्द्रमा ने रुककर कहा—'मुझे शाप न दो, प्रत्युत इस बात से प्रसन्न होवो कि तुम्हारा पुत्र राजा होकर सारे विश्व पर शासन करेगा और उससे हजारों शाखाएँ निकलेंगी।' चन्द्रमा ने यह भी आदेश दिया कि कर्णवती (केननदी) के किनारे अपने पुत्र की उत्पत्ति के बाद वह उसे खजुराहो (खज्जुरपुर) ले जाय और अपना कल्मष धोने के लिए महोबा (महोत्सवनगर) में यज्ञ करावे। किन्तु **महोबाखण्ड** की यह अनुश्रुति बहुत बाद में (१८वीं-१९वीं शताब्दी) संग्रथित हुई, जिसमें कविकल्पनाएँ प्रभूत मात्रा में पिरोयी हुई हैं। इस जनश्रुति में अनेक अतिमानवीय अथवा

---

१. इऐ०, जिल्द १८, पृ० २३६-२३८।

२. कीर्तिवर्मा का देवगढ़ प्रस्तर अभिलेख, इऐ०, जि० १८, पृ० २३८, प्रथम पंक्ति।

३. लक्ष्मीकर्ण का बनारस दानपत्राभिलेख, एइ०, जिल्द २, पृ० ३०६, श्लोक ८।

४. तृतीय पृथ्वीराज का मदनपुर प्रस्तरलेख, आसरि० जि० २१, पृ० १७४; देववर्मा का चरखारि ताम्रपत्राभिलेख, एइ०, जि० २०, पृ० १२७, नवीं पंक्ति।

५. बाद के अभिलेखों में उन्हें सीधे चन्द्रमा से उद्भूत कहा गया है। दे० महोबा अभिलेख, एइ०, जि० १, पृ० २१७ (तस्मादजनि रजनीवल्लभाद्विश्वकान्तः) वीरवर्मा का अजयगढ़ प्रस्तरलेख, एइ०, जि० १, पृ० २३५।

६. इऐ०, १८७३, पृ० ३३; आसरि०, जि० २, पृ० ४४५-६।

७. काशी नागरी प्रचारिणी सभा से बाबू श्यामसुन्दर दास ने इसे 'परमालरासो' शीर्षक से प्रकाशित किया था। इसका रचयिता चन्दबरदायी था या नहीं, इस बात पर विद्वानों में मतैक्य नहीं है।

मिथकीय बातों का सम्मिश्रण भी है यथा—बृहस्पति ने हेमवती के पुत्र चन्द्रवर्मा का जन्मांग बनाया, चन्द्रमा ने उसे पारसमणि दी तथा कुबेर, चन्द्र और बृहस्पति ने उसे राजनीति की शिक्षा दी। यही नहीं, उसमें जो मानवीय प्रकरण हैं भी, उनका तैथिक पूर्वापर ऐतिहासिक कसौटी पर कसने से सही नहीं उतरता। उदाहरण के लिए, इस सन्दर्भ के विवरण का श्रोता तोमरराज अनंगपाल बताया गया है, जिसके समय (११वीं शती के मध्य) तक चन्देलों की राजनीतिक सत्ता की दुपहरी काफी ढल चुकी थी। हेमवती के पिता हेमराज को काशी के गाहडवाल राजा इन्द्रजित का पुरोहित बताया जाना भी कम सन्देहकारक नहीं है। किसी भी अन्य प्रमाण से इन्द्रजित नामक किसी गाहडवाल राजा की जानकारी हमें नहीं होती। गाहडवालों में सबसे पहला राजा यशोविग्रह था, जिसका समय ११वीं शताब्दी के उत्तरार्ध के पूर्व कदापि नहीं रखा जा सकता[१], जो जेजाकभुक्ति में चन्देलों के स्थापित हो जाने के कम से कम २०० वर्षों बाद पड़ता है। ऐसी दशा में हेमवती और चन्द्रमा के सम्बन्ध से चन्देलों के पूर्वपुरुष चन्द्रवर्मा की उत्पत्ति सम्बन्धी कहानी का केवल इतना मात्र ऐतिहासिक आधार प्रतीत होता है कि चन्देलों की चन्द्रवंशी उत्पत्ति लोकपरम्परा में भी विश्रुत थी। किन्तु मातृकुल से वे ब्राह्मणों से सम्बद्ध थे, इसका अन्यत्र कहीं भी कोई समर्थन नहीं प्राप्त होता।

डॉ० विन्सेण्ट स्मिथ[२] की दृष्टि में हेमवती से चन्देलों के मूलपुरुष चन्द्रवर्मा की उत्पत्ति सम्बन्धी सारी कथा बेवकूफी की है, जिसका मुख्य उद्देश्य केवल इतना था कि उनके वंश के बारे में कोई सफाई दी जाय। उनके मूल को एक ब्राह्मण कन्या और चन्द्रमा से जोड़कर उन्हें प्रथित क्षत्रिय वंश से जोड़ने का प्रयत्न किया गया। उनके मत में चन्देल मूलत: मध्यप्रदेश के आदिवासी गोंड़ों अथवा भरों की सन्तान[३] थे, जो इस बात से स्पष्ट है कि मनियागढ़ में स्थित मनियादेवी की पूजा चन्देल और भर आज भी समानरूप से करते हैं। किन्तु स्मिथ के सारे तर्कों की विडम्बना यह है कि उनके पीछे अनुमान पर आधृत दलीलों और मनमानी मान्यताओं के अतिरिक्त कोई भी अभिलेखीय, पुरातात्त्विक

---

१. डॉ० स्मिथ का अनुमान था कि गाहडवाल काशी और कन्नौज में स्थापित होने के पूर्व भी एक छोटी सत्ता के रूप में विद्यमान थे और उनकी कोई शाखा महोबा में भी थी। किन्तु इस अनुमान का समर्थक कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। उनके मत के लिए दे०, जएसो०, बेंगाल, १८८१, जि० ५० भाग १, पृ० १।

२. दे० इऐ०, जि० ३७, पृ० १३६-१३७।

३. जएसो०, बेंगाल, १८७७, जि० ४६, भाग १, पृ० २२९-२६६। रसेल की यह मान्यता थी कि चन्देल और गाहडवाल दोनों ही मूलत: भरों की सन्तान थे। देखिए, ट्राइब्स् ऐण्ड कास्ट्स् ऑफ् सेण्ट्रल् प्राविन्सेज् ऑफ् इण्डिया, पृ० ४४०-४४३।

अथवा साहित्यिक प्रमाण नहीं है । श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य जैसे अनेक विद्वानों ने स्मिथ के मतों को जोरदार चुनौती दी और यह प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया कि चन्देल आर्यों की शुद्ध सन्तान हैं । किन्तु उनके भी तर्क निर्विवाद रूप से स्वीकार नहीं हो सकते । पीछे जिन अभिलेखीय और लोकानुश्रुतिक विश्वासों का हवाला दिया गया है, उनमें एक समान बात यह है कि दोनों ही चन्देलों की उत्पत्ति चन्द्रमा से मानते हैं जो उनके चन्द्रवंशी क्षत्रिय होने की ओर निर्देश करता है[१] ।

चन्देल राज्य की स्थापना

जनश्रुतियों एवं अभिलेखों में चन्देलों को खजुराहो, कालंजर, महोबा, अजयगढ़[२] तथा कर्णवती (केन) नदी के किनारों से जोड़ा गया है । प्रारम्भ से ही ये सभी स्थान उनके अधिकार में बराबर बने रहे । महोबा के कानूनगो परिवार में सुरक्षित वंशावली से ज्ञात होता है[३] कि चन्द्रवर्मा ने परिहारों को अपदस्थकर ६७७ अथवा ६८२ संवत् में बुन्देलखण्ड अधिकृत किया । परिहारों अथवा प्रतीहारों को चन्देलों ने बुन्देलखण्ड के अधिकार से हटाया था, यह निःसन्देह एक ऐतिहासिक तथ्य है । किन्तु इस उपलब्धि के साथ जो चन्द्रवर्मा का नाम जोड़ा गया है वह तथ्यपरक नहीं है । एक चन्देल अभिलेख धंग को ही यह श्रेय देता है[४] कि उसने कान्यकुब्ज के राजा को हराकर साम्राज्यश्री छीन

---

१. ख़जुराहो से प्राप्त होने वाले धंग के जिस अभिलेख में (एइ०, जि० १, पृ० १२५) वंश की उत्पत्ति-चर्चा है उसमें नन्नुक को क्षात्रधर्मरूपी शुद्ध सोने को कसने की कठोर कसौटी (तत्र क्षत्रसुवर्णसारनिकषग्रीवा) कहा गया है । पुनः उससे यह भी सूचित होता है कि 'सौन्दर्यशाली और प्रखर बुद्धि वाले' हर्ष ने सवर्णा चाहमान कुल में उत्पन्न कञ्चुका नामक स्वानुरूप और सुन्दरी कन्या से विवाह किया (सवर्णचाहमान कुलोद्भवां सोऽनुरूपां सरूपांगां कञ्चुकाख्याम्-कुण्ठधीः) । स्पष्ट है कि चाहमान जैसे उच्च क्षत्रिय कुलों से बराबरी और समानता का चन्देलों को अभिमान था ।

२. विंसेण्ट स्मिथ को ऐसा लगा (इए०, जि० ३७, पृ० १३२) कि भव्य मंदिरों से युक्त खजुराहो, अभेद्य दुर्ग वाले कालंजर और उत्तम राजप्रासादों वाले अजयगढ़ में चन्देलों की क्रमशः धार्मिक, सैनिक और नागर राजधानियाँ थीं । चन्देलों का सबसे पहला उल्लेख करने वाला अरबी लेखक इब्नुल-अतहर (अल्-तारिख-उल्-कामिल, बुलक, जि० ९, पृ० ११४-६) भी चन्देलों का सम्बन्ध खजुराहो से बताता है ।

३. जएसो०, बेंगाल, जि० ५०, पृ० ३ ।

४. मदनवर्मा का मह्‌ू प्रस्तर अभिलेख, एइ०, जि० १, पृ० १९७, श्लोक ३ ।

ली। यदि इस घटना के संवत् ६७७ अथवा ६८२ को कलचुरि संवत माना जाय, तो वह समय भी ६७७+२४९=९२६ ई० अथवा ६८२+२४९=९३१ ई० ठहरता है, जो धंग की प्रथम ज्ञात तिथि (९५४ ई०) के थोड़ा ही पूर्व पड़ता है। किन्तु उसे यदि शक सं० स्वीकार किया जाय तो वह तिथि ७६० ई० पड़ेगी। परन्तु उस समय परिहारों अर्थात् प्रतीहारों का बुन्देलखण्ड पर अधिकार था, इस बात का कोई स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं है। ऐसी स्थिति में केवल इतना निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि स्थानीय परम्पराओं में चन्देलों के जो प्रथम राजनीतिक सम्बन्ध कन्नौज के गुर्जर प्रतीहारों से बताये गये हैं, वे तिथि सम्बन्धी भ्रम के बावजूद ठोस ऐतिहासिक तथ्यों पर आधृत प्रतीत होते हैं। चन्देल सत्ता की स्थापना की जो तिथि (६७७ अथवा ६८२ कलचुरि सं०) जनश्रुतियों से ज्ञात होती है, वह वास्तव में हर्ष अथवा यशोवर्मा के समय की तिथि थी। वे दोनों ही प्रतीहारों के मुकाबले काफी शक्तिशाली हो चुके थे[१]।

चन्देल क्षेत्रों का प्रारम्भिक नाम जेजाभुक्ति अथवा जेजाकभुक्ति अथवा जेजाक-भुक्तिक था। महोबा से प्राप्त एक खण्डित अभिलेख का कथन[२] है कि वंश के तीसरे राजा जयशक्ति (प्राकृत रूप जेजा अथवा जेज्जा) ने अपने शासित क्षेत्र को वैसे ही अपना नाम (जेजाभुक्ति अथवा जेजाकभुक्ति) दिया, जैसे पृथु ने पृथ्वी नाम दिया था। आगे चलकर यही नाम जुझौती अथवा जज्झौती रूप में परिवर्तित हो गया, जहाँ के ब्राह्मण (जजहोतिया या जझौतिया) बड़े प्रसिद्ध हुए। बाद में बुन्देलों के नाम पर यह प्रदेश बुन्देलखण्ड कहलाया। यह प्रदेश यमुना नदी के दक्षिण-पश्चिम में वेत्रवती (बेतवा) तक, पूर्व में तमसा (टोंस) तक तथा दक्षिण में नर्मदा के किनारे कैमूर की पहाड़ियों तक विस्तृत था। किन्तु कालान्तर में इस क्षेत्र के बाहर भी चन्देलों के अधिकार क्षेत्र अथवा प्रभावक्षेत्र फैल गये थे, जो उत्तरपूर्व में गंगा, पश्चिम में चम्बल और दक्षिण

---

१. तृतीय इन्द्र के आक्रमण (९१६-९१७ ई०) के समय कन्नौज से अपदस्थ गुर्जर प्रतीहार सम्राट् क्षितिपालदेव अर्थात् प्रथम महीपाल को अपनी राजगद्दी पुनः प्राप्त करने में हर्ष ने सहायता की थी। दे० एइ०, जि० १, पृ० १२२, पंक्ति १०। यशोवर्मा का राजनीतिक प्रभाव हिमालय से लेकर मालवा तक तथा कश्मीर से लेकर बंगाल तक व्याप्त हो चुका था। दे० एइ०, जि० १, पृ० १२६।

२. जेजाख्यया अथ नृपतिः सबभूव जेजाकभुक्तिः पृथु इव यथा पृथिव्यामासीत्। एइ०, जि० १, पृ० २२१, छठीं पंक्ति। चाहमान नरेश तृतीय पृथ्वीराज के मदनपुर अभिलेख (आसरि० जि० १०, पृ० ९८; जि० २१, पृ० १७३-४) में भी इस नाम का प्रयोग हुआ है। किन्तु कहीं-कहीं (आसरि० जि० २१, पृ० १७४) जेजाकभुक्तिमण्डल नाम भी मिलता है।

में नर्मदा नदी एवं कैमूर तथा मेकल की पहाड़ियों तक पड़ते थे । आगे चलकर यथास्थान इस सबका उल्लेख किया जायगा ।

नन्नुक (लगभग ८३१-८४५ ई०)

खजुराहो से प्राप्त होने वाले धंग के वि० सं० ११०१ के अभिलेख (एइ०, जि० १, पृ० १२५, श्लोक १०) से प्रथम चन्देल शासक का नाम नन्नुक ज्ञात होता है, जिसकी पुष्टि अन्य अभिलेखों से भी होती है । वहाँ उसे **नृप** और **महीपति** कहा गया है । डॉ० कनिंघम ने नन्नुक से छठीं पीढ़ी में उत्पन्न धंग से उपर्युक्त अभिलेख की तिथि (वि० सं० १०११=९५४ ई०) के आधार पर प्रत्येक पीढ़ी के लिए २०-२५ वर्षों का समय मानते हुए (आसरि०, जि० २, पृ० ४४६-७) उसका समय मोटे तौर पर ९वीं शताब्दी का प्रथम चरण माना । जनश्रुतियों में हेमवती के पुत्र चन्द्रवर्मा की तिथि २२५ संवत् दी गयी है, जिसे प्रायः सभी विद्वानों ने हर्ष संवत् माना है। उस आधार पर वह तिथि २२५+६०६=८३१ ई० ठहरती है । डॉ० हेमचन्द्र राय ने कनिंघम के निष्कर्षों की पुष्टि करते हुए (डाहिनाइ०, जि० २, पृ० ६६७) **चन्द्रवर्मा** को नन्नुक का विरुद मान लेने का सुझाव दिया और उसकी राज्यस्थापना की तिथि ८३१ ई० मानी । यह निष्कर्ष प्रायः सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं । नन्नुक की **नृप** और **महीपति** जैसी उपाधियों से स्पष्ट है कि वह पूर्ण स्वतन्त्र राजा न होकर एक सामन्त सरदार मात्र था । उस समय की सर्वप्रमुख सत्ता कन्नौज के गुर्जर प्रतीहारों की थी और नन्नुक उस वंश के तत्कालीन सम्राट् द्वितीय नागभट्ट के अधीन रहा होगा[१] । एक नवीन मान्यता[२] यह है कि नन्नुक ने रामभद्र के

---

१. निमाई सधन बोस चन्देलों की उत्पत्ति और प्रारम्भिक सत्ता के बारे में डॉ० स्मिथ की काल्पनिक मान्यताओं के जाल में अत्यधिक फँसे हुए प्रतीत होते हैं । अपने लन्दन में लिखे गये शोधप्रबन्ध में वे ऐसी अनेक बातें कहते हैं, जिनका कोई भी अभिलेखीय अथवा उसी स्तर का प्रामाणिक आधार नहीं हैं । जैसे वे कल्पना कर लेते हैं (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १६) कि नन्नुक ने कनौज के प्रतीहारों की सत्ता तो स्वीकार की, किन्तु सम्भव है कि उसने महोबा में शासन करनेवाली किसी शाखा को उखाड़ फेंका हो । इसी प्रकार उनका विश्वास है कि (वहीं, पृ० १४-१५) कि महोबा में परिहारों के पूर्व गाहडवालों का शासन था । अपने मन्तव्यों के समर्थन में वे स्मिथ के तर्कों (जएसो०, बेंगाल, जि० ५०, पृ० १-४) को दुहराते हैं । पर स्मिथ ने नगरों के बसाये जाने के उल्लेख अथवा झीलों और तालाबों के निर्माण अथवा महोबा पर परिहारों के शासन की जितनी भी परम्परायें गिनायी हैं, वे बहुत बाद की हैं । ८-९वीं शती में बुन्देलखण्ड पर गाहडवालों या परिहारों के शासन का कोई स्पष्ट साक्ष्य नहीं है ।

२. अयोध्याप्रसाद पाण्डेय, चन्देलकालीन बुन्देलखण्ड का इतिहास, पृ० २०-२९ ।

कमजोर दिनों में **नृप** और **महीपति** की उपाधि से चन्देल राज्य की स्थापना की। यह निर्देश रामभद्र के समय की उस घटना की ओर है जब उसके प्रशासनाधिकारियों की कमजोरी के कारण दान की हुई कालञ्जरमण्डल की कुछ भूमि का उपभोग दानप्रापकों के लिए बाधित हो गया था। किन्तु जैसा रामभद्र के इतिहास के सम्बन्ध में हम देख चुके हैं, यह उल्लेख इस बात का प्रमाण नहीं है कि कालञ्जरमण्डल उसके हाथों से निकल गया था। वास्तव में छोटे-छोटे सामन्तों की आन्तरिक रूप से स्वतन्त्र स्थिति को स्वीकार करते रहने का ढंग प्रतीहारों ने नागभट्ट के समय से ही अपना रखा था। असम्भव नहीं है कि पालों और राष्ट्रकूटों के मुकाबले युद्धरत रहने की स्थिति में नन्नुक के नेतृत्त्व में उठने वाली चन्देलों की स्थानीय सत्ता को प्रतीहारों ने छेड़ने की आवश्यकता न समझी हो। धंग के खजुराहो अभिलेख (वि० सं० १०११) में कहा गया है कि नन्नुक के 'आदेश को उसके शत्रु पुष्पोपहार की भाँति शिरोधार्य करते थे और उसका शौर्य देवताओं और अर्जुन का स्मरण दिलाता था।' ये प्राचीन भारतीय राजाओं को दी जाने वाली गतानुगतिक एवं सामान्य प्रशंसाएँ मात्र प्रतीत होती हैं।

वाक्पति (लगभग ८४५-८७० ई०)

नन्नुक का उत्तराधिकारी उसका पुत्र वाक्पति था, जिसकी जानकारी उसके पिता की तरह धंग के केवल दो अभिलेखों मात्र से प्राप्त होती है। वह श्रीवाक्पति अथवा **क्षितिप** मात्र कहा[1] गया है, जो प्रतीहारों के प्रति उसके सामन्तपद का द्योतक है। किन्तु साथ ही, विन्ध्य पर्वत को उसका 'क्रीडागिरि' कहा गया है[2]। हो सकता है, अपने सामन्ती क्षेत्रों की सीमा उसने कुछ और बढ़ायी हो। विद्या और शौर्य का एक साथ आस्पद होने के कारण उसे पृथु और ककुत्स्थ से भी बढ़कर बताया गया है।

जयशक्ति और विजयशक्ति (लगभग ८७०-९०० ई०)

वाक्पति के जयशक्ति और विजयशक्ति नामक दो पुत्र थे, जिन्हें **वीर** विशेषण से विभूषित किया गया है। कहा गया[3] है कि 'उनके अप्रतिमशौर्य से शत्रु वैसे ही नष्ट हो गये, जैसे तीव्र रूप से प्रज्ज्वलित अग्नि में जंगल जल जाते हैं।' उनकी वीरता की अनुश्रुतियाँ आगे चलकर इतनी बद्धमूल हो गयीं कि प्रायः सभी परवर्ती चन्देल अभिलेखों में नन्नुक के स्थान पर उन्हीं को वंश के संस्थापकों के रूप में गिनाया गया।

---

१. स्मिथ, इऐ०, जिल्द ३७, पृ० १२८।

२. एइ०, जि० १, पृ० १२५-६, श्लोक १२-१३।

३. अमितप्रतापदावाग्निदग्धाऽहितकाननानि। एइ०, जि० १, पृ० १२६, श्लोक १४-१५।

किन्तु उनके लिए राजसूचक किसी विरुद का प्रयोग न होने से प्रायः सभी विद्वानों की यह मान्यता है कि वे तत्कालीन किसी साम्राज्यसत्ता के सामन्त थे। यह निष्कर्ष इससे भी प्रमाणित होता है कि जयशक्ति (प्राकृत के जेजा अथवा जेज्जा, जेज्जाक या जेजाक) के नाम[1] पर जेजाभुक्ति, जेज्जाभुक्ति अथवा जेजाकभुक्ति नाम पड़ा। भुक्ति किसी बड़े साम्राज्य के प्रांत की संज्ञा होती थी, और इस सन्दर्भ के जेज्जाभुक्ति का अर्थ होगा 'वह भुक्ति जिसपर जेजा (जयशक्ति) शासन करता था'। जयशक्ति अल्पायु में ही या तो किसी युद्ध में लड़ते हुए मारा गया अथवा किसी अन्य कारण से अकालकालकवलित हुआ। लगता है, उसका कोई पुत्र नहीं था। अतः उसके बाद विजयशक्ति[2] चन्देलों के सामन्त राज्य का स्वामी हुआ। उसकी प्रशंसा में कहा गया[3] है कि अपने किसी 'सुहृद के उपकार के लिए विजय की इच्छा से राम की तरह वह दक्षिण दिशा की सीमाओं (अन्त) तक चला गया।'

प्रश्न यह उठता है कि उसका वह मित्र कौन था, जिसके लिए उसने दक्षिण की विजय यात्रा की। विभिन्न विद्वानों के इस पर विभिन्न मत हैं। डॉ० मजुमदार के मत हिस्ट्री ऑफ् बेंगाल, जि० १, पृ० ११९, पादटिप्पणी ४) में विजयशक्ति ने पाल राजा देवपाल की दक्षिण-विजयों में सहायता की। उनका यह भी विश्वास है कि उसने प्रतीहार शासक मिहिरभोज की पराजय में देवपाल की सहायता की थी, जिससे प्रसन्न होकर खजुराहो के आसपास के प्रदेशों पर देवपाल ने उसे स्वामित्त्व प्रदान कर दिया। किन्तु इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। चन्देल अभिलेखों में अथवा स्वयं पाल अभिलेखों में इस निर्णय का कोई आधार नहीं प्राप्त होता। प्रत्युत् इसके विपरीत भोज के बराह अभिलेख (एइ०, जि० १४, पृ० १८) से प्रमाणित है कि उसका कालंजरमण्डल पर अधिकार था। पीछे प्रतीहारों के इतिहास के सम्बन्ध में हम यह भी देख चुके हैं कि मिहिरभोज की देवपाल पर विजय हुई थी। डॉ० निमाइ सधन बोस (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २०) का यह संशय सही प्रतीत होता होता है कि विजयशक्ति समय की दृष्टि से कदाचित् देवपाल का समकालिक था ही नहीं। अतः डॉ० हेमचन्द्र राय (डाहिनाइ०, जिल्द २, पृ० ६७१) के इस निष्कर्ष से सहमत होने में कोई आपत्ति नहीं प्रतीत होती कि

---

१. जेजाख्यया अथ नृपतिः स बभूव जेजाकभुक्तिः पृथु इव यथा पृथिव्यामासीत्। एइ०, जि० १, पृ० २२१-२२२।

२. उसके नाम के दूसरे रूप थे—विजा और विज्जाक। दे० स्मिथ, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १२८।

३. सुहृदुपकृतिदक्षो दक्षिणांशां जिगीषुः पुनरधिपतयो धेर्बन्धवैधुर्यमर्यः। श्लोक २०, एइ०, जि० १, पृ० १४१-२।

विजयशक्ति गुर्जर प्रतीहार शासक भोज अथवा प्रथम महेन्द्रपाल का करद और सामंत था। असम्भव नहीं है कि राष्ट्रकूट राजा द्वितीय कृष्ण (८७५-९११ ई०) के विरुद्ध किये गये भोज प्रतीहार के सैनिक अभियानों में उसने भाग लिया हो।

राहिल (लगभग ९००-९१५ ई०)

विजयशक्ति का पुत्र राहिल हुआ, जिसके लिए धंग के खजुराहो अभिलेख में कहा है कि वह 'युद्धयज्ञ से कभी थकता नहीं था' अथवा 'उसका स्मरण कर शत्रुगण रात्रि को अपनी नींद खो देते थे। वह मित्रों का हितैषी और वैरियों को दण्ड देने वाला था।' इन प्रशंसाओं का कोई विशेष अर्थ नहीं है और वह[1] भी प्रतीहारों के सामन्तरूप में एक गौण शासक ही था। किन्तु राहिल ने वास्तु और झीलों के निर्माण की वह परम्परा आरम्भ की, जिससे चन्देल भारतीय इतिहास में अमर हो गये। उसने अजयगढ़ में एक मन्दिर बनवाया, जिसमें उसके नामवाले पत्थर आज भी वर्तमान हैं।[2] यह भी जनश्रुति है कि उसने वहाँ कुछ जलाशय भी बनवाये। महोबा के निकट राहिल सागर (अथवा राहिल्य सागर) उसकी सर्वप्रमुख कृति थी। सम्भवतः वहाँ उसने राहिलनगर नामक एक नगर भी बसाया। उसने अपने नाम पर रसौं अथवा रासन नामक एक अन्य नगर भी बसाया,[3] जो कालंजर से २० मील उत्तर-पूर्व बदौसा परगने में उसी नाम के एक गाँव की पहाड़ी पर बसा था[4]।

चन्देल सत्ता के उत्कर्ष का प्रारम्भ : हर्ष (लगभग ९१५-९३० ई०)

समकालिक राज्यों के बीच बराबरी और प्रतिष्ठित रूप में चन्देलों की सर्वप्रमुख स्वीकृति राहिल के पुत्र हर्ष के समय (दसवीं शती के प्रथम पाद में) प्रारम्भ हुई। वह गुर्जर प्रतीहार सम्राट् महीपाल (९१४-९४६ ई०) का समकालिक था। उसके बारे में यद्यपि थोड़ी ही जानकारी प्राप्त है, किन्तु उससे उसकी राजनीतिक प्रतिष्ठा और महत्ता स्पष्टतः प्रतिबिम्बित होती है। धंग का नान्योर फलकाभिलेख (इऐ०, जि० १६, पृ० २०२) सूचित करता है कि वह 'अपने आश्रितों के लिए कल्पवृक्ष, सज्जनों के लिए आनन्ददायक, मित्रों का अमृत, शत्रु समूह के लिए एक विशाल धूमकेतु की तरह अनिष्टकारक और युद्धरूपी समुद्र को पार करने के लिए सेतु के समान था। भयो-

---

१. अयोध्याप्रसाद पाण्डेय (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २४) के इस मत का कोई समर्थक प्रमाण नहीं है कि राहिल ने प्रतीहारों के विरुद्ध विद्रोह किया था।

२. आसरि०, जि० ७, पृ० ४९, २२६; जि० २१, पृ० १५-१७; जएसो०, बेंगाल १८८१, पृ० ८।

३. परमालरासो, नागरी प्रचारिणी सभा, पृ० २६-७, ८८वां पद।

४. आसरि०, जि० ७, पृ० २२६; जि० २१, पृ० १५-१७।

त्पादक सैन्यसंयोजन करनेवाले तथा अन्य राजाओं को अपना करद बना लेने वाले उस राजा का शौर्य ग्रीष्मसूर्य की प्रचण्ड किरणों की तरह दुःसह था'। अन्यत्र (एइ०, जि० १, पृ० १३७) कथित है कि उसने 'शत्रुओं को बारी-बारी से नष्टकर समुद्रपर्यन्त पृथ्वी की रक्षा की।' वंश के कुछ अन्य अभिलेखों में भी ऐसे उल्लेख प्राप्त होते हैं, जो यह इंगित करते हैं कि हर्ष की उपलब्धियाँ महत्त्वपूर्ण थीं। तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियाँ भी उस महत्त्वाकांक्षी के अनुकूल थीं। उनका अवसरानुकूल उचित उपयोग कर उसने चन्देल राजसत्ता को स्वकालिक राजमण्डल में प्रतिष्ठित स्थान दिलाया।

चन्देल राज्य की शक्ति और प्रतिष्ठा बढ़ाने में हर्ष ने नीतिप्रयोग के अतिरिक्त अन्य राजवंशों से वैवाहिक सम्बन्धों का मार्ग भी अपनाया। उसके राज्य की दक्षिण-पूर्वी सीमाओं के पार कोक्कल्ल के नेतृत्त्व में कलचुरियों ने तेजी से अपनी सत्ता का विस्तार प्रारम्भ कर दिया था। कर्ण के बनारस दानपत्र से ज्ञात होता[१] है कि कोक्कल्ल ने नट्टादेवी नामक किसी 'चन्देलवंशोद्भवा' राजकुमारी से विवाह किया था, जो हर्ष से रक्त द्वारा निकट सम्बन्ध में बंधी प्रतीत होती है। इस विवाह से चन्देलों की केवल कलचुरियों से ही मित्रता नहीं हुई' अपितु अप्रत्यक्षरूप से राष्ट्रकूटों से भी उनका सौमनस्य स्थापित हो गया, क्योंकि कोक्कल्ल की पुत्री का विवाह द्वितीय कृष्ण से हुआ था।[२] कलचुरि अभिलेखों से ज्ञात होता है कि कोक्कल्ल के हाथों किसी हर्ष को अभय प्राप्त हुआ था। अनेक विद्वानों की मान्यता है कि इस सन्दर्भ का हर्ष चन्देलराज हर्ष ही है। किन्तु कोक्कल्ल का शासन-समय इस हर्ष के पूर्व था। अतः उसकी पहचान प्रथम भोज (प्रतीहार) के सामन्त गुहिलराज हर्ष से करना अधिक समीचीन होगा[३]। हर्ष ने स्वयं सवर्ण चाहमान वंश में उत्पन्न कंचुका से अपना विवाह कर[४] पश्चिमोत्तर दिशा में भी अपने मित्रसम्बन्धों का विस्तार किया।

अपने समय की अन्यान्य राजसत्ताओं से राजनीतिक सामंजस्य बैठाते हुए हर्ष ने प्रत्येक अनुकूल परिस्थिति का अवश्य ही सदुपयोग किया होगा। इसका सबसे बड़ा उदाहरण धंग के खजुराहो अभिलेख से प्राप्त होता है। तदनुसार[५], उसने कन्नौज के राजा

---

१. कार्पस्, जि० ४, पृ० २४२।

२. दे० इऐ०, जि० १२, पृ० २५० और २६५।

३. इस सम्बन्ध में आगे देखिए, अठाहरवाँ अध्याय, कोक्कल्ल प्रकरण।

४. सोऽनुरूपां सुरूपांगां कंचुकाख्यामकुण्ठधीः सवर्णां विधिनोवाह चाहमान कुलोद्भवाम्। एइ०, जि १, पृ० १२६, श्लोक २१।

५. पुनर्येनक्षितिपालदेव नृपतिः सिंहासने स्थापितः। एइ०, जि० १, पृ० १२२। यहाँ यह ध्यान योग्य है कि जिस राजा ने क्षितिपालदेव की सहायता की, उसका

श्री क्षितिपालदेव को पुनः अपने सिंहासन पर बिठाया' । कुछ विद्वान् इस सन्दर्भ का अर्थ यह लगाते हैं कि द्वितीय भोज और प्रथम महीपाल (क्षितिपालदेव) के उत्तराधिकार सम्बन्धी आपसी संघर्ष में हर्ष ने महीपाल को अपनी सहायता से गद्दी दिलायी थी । किन्तु यह मत अमान्य करते हुए कन्नौज के गुर्जर प्रतीहारों का इतिहास लिखते समय पीछे हम कह चुके हैं कि भोज और महीपाल के बीच होने वाले तथाकथित युद्ध का कोई निर्णायक प्रमाण नहीं है । साथ ही, यह भी देखा जा चुका है कि किस प्रकार राष्ट्रकूट शासक तृतीय इन्द्र की सेनाओं ने ९१६-९१७ ई० के अपने आक्रमण में सारा दोआब रौंद डाला और प्रतीहारों की राजधानी कनौज ध्वस्त कर उस पर अधिकार कर लिया । इस घटना का उल्लेख करते हुए कन्नड़ कवि पम्प अपने **विक्रमार्जुनभ्युदयकाव्य** में कहता है[१] कि राष्ट्रकूटों के चालुक्य सामन्त 'नरसिंह ने गूर्जरराज की सेनाओं को पराजित कर भगा दिया ।' 'महीपाल को मानों बिजली मार गयी तथा वह आतंकित होकर इस प्रकार भागा कि भोजन करने, सोने अथवा विश्राम के लिए भी नहीं रुका ।' प्रतीहार शासक का अपनी राजधानी कन्नौज से हाथ धोना भी पम्प कवि के इस कथन से साबित होता है कि नरसिंह चालुक्य ने 'गुर्जरराज की बाहुओं से वह राजलक्ष्मी छीन ली, जिसे उसने चाहते हुए भी बहुत कसकर नहीं पकड़ा था ।' इस घोर स्थिति में महीपाल ने अपने ही सामन्त हर्ष की सहायता माँगी, जिसने तुरन्त मददकर उसे कन्नौज की राजगद्दी पर पुनः आसीन कराया[२] तथा राष्ट्रकूटों द्वारा विजित क्षेत्र भी वापस दिलाया । यह घटना भविष्य का स्पष्टरूप से द्योतक थी, जिसमें प्रतीहार सम्राट् धीरे-धीरे शिथिल होकर कनौज के आसपास सिमट गये और उन्हीं के सामन्त चन्देलों ने उनके स्थान पर साम्राज्यपद हथिया

नाम सम्बद्ध अभिलेख से स्पष्ट नहीं होता । उसके सम्पादक कीलहॉर्न ने उसे हर्ष माना, जिसे प्रायः सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं । केवल होयर्नल का यह विश्वास था (जराएसो०, १९०४, पृ० ६६५ पादटिप्पणी १) कि वह हर्ष का पुत्र यशोवर्मा था । किन्तु यशोवर्मा का शासन-समय क्षितिपाल-महीपाल के शासनकाल के उत्तरार्ध में था, जब महीपाल को किसी विशेष कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा । यशोवर्मा द्वितीय महेन्द्रपाल और देवपाल नामक महीपाल के उत्तराधिकारियों का भी समकालिक था ।

२. लुई राइस द्वारा सम्पादित तथा बिब्लियोथिका कर्नाटिका में १९१८ में प्रकाशित, पृ० ३-५ ।

३. विन्सेण्ट स्मिथ का अनुमान था (इऐ०, जि० ३७, पृ० १३८-९) कि हर्ष ने पहले महीपाल को युद्ध में हराया, किन्तु अपने को उसका राज्य हस्तगत न कर सकने की स्थिति में पाकर उसे पुनः अपनी गद्दी पर आसीन कर दिया । किन्तु यह मत किसी को भी स्वीकार्य नहीं है ।

लिया। यद्यपि यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि इस घटना के बहुत वर्षों बाद तक चन्देल गुर्जर प्रतीहारों की अधिसत्ता मानते रहे, यह निःसन्देह रूप में कहा जा सकता है कि वह मान्यता केवल नाममात्र की थी। यह असम्भव नहीं है कि अपनी सहायता के बदले अथवा राष्ट्रकूटों को दक्षिण में रोक रखने के लिए हर्ष ने प्रतीहारों से चित्रकूट का दुर्ग प्राप्त कर धीरे-धीरे उसपर स्थायी अधिकार कर लिया हो, जिसे 'पुनः वापस प्राप्त करने की आशा भी गुर्जरराज के मन से' ९३९-४० ई० के राष्ट्रकूट आक्रमण के बाद 'एकदम समाप्त हो गयी हो'।[१]

चन्देल सत्ता का विकास : यशोवर्मा (लगभग ९३०-९५० ई०)

हर्ष की चाहमान कुलोत्पन्ना रानी कंचुकादेवी से उत्पन्न पुत्र यशोवर्मा (उपनाम लक्ष्मवर्मा) चन्देल वंश का प्रथम प्रमुख विजेता और सम्राट् हुआ। मोटे तौर पर उसका शासन काल १०वीं सदी के दूसरे चतुर्थांश में पड़ता है। धंगदेव का १०११ वि० सं० अर्थात् ९५४ ई० का खजुराहो अभिलेख उसकी व्यक्तिगत विशेषताओं, विस्तृत विजयों और जनप्रिय प्रशासन का विशद विवरण (श्लोक २४ और आगे) देता है। यद्यपि उसकी काव्यात्मक शैली और पंडिताऊ प्रशंसाओं में अतिरंजन की बहुत सम्भावनायें हैं, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि उन विवरणों की भित्ति वास्तविक ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर खड़ी है। तत्कालीन राजनीतिक स्थिति उस उत्साही और महत्त्वाकांक्षी वीर के लिए अत्यन्त अनुकूल थी, जिसका भरपूर लाभ उठाना उसकी महत्ता और योग्यता का सबसे बड़ा प्रमाण है। प्रथम महीपाल के समय (९१६-१७ ई०) राष्ट्रकूट तृतीय इन्द्र ने मालवा और दोआब होते हुए कन्नौज पर एक भीषण आक्रमण किया था। उस झंझावत ने गुर्जर प्रतीहार साम्राज्य की नींव खोखली कर दी। चन्देल शासक हर्ष की सहायता से उस विभीषिका को झेलकर यद्यपि महीपाल ने पराम्परागत प्रतीहार क्षेत्रों की रक्षा करते हुए आगे कुछ नयी विजयें भी कीं, अपनी वृद्धावस्था में उसे पुनः तृतीय कृष्ण के आक्रमणों (९३९-४० ई०) का शिकार होना पड़ा। उसके उत्तराधिकारियों के समय तो प्रतीहारों की प्रतिष्ठा और शक्ति और भी तेजी से घटने लगी। चतुर्थ गोविन्द के विषयी जीवन के कारण राष्ट्रकूट अपने गृह-कलहों[२] में फँसे हुए थे और बाद में अपने मित्र चेदिवंश से भी उनके संबंध बिगड़ गये। यशोवर्मा के सामने अपनी महत्त्वाकांक्षाएँ पूरी करने के लिए ये सुनहले अवसर

---

१. यस्य परुषेक्षिताखिलदक्षिणदुर्गविजयमाकर्ण्य गलितागूर्ज्जरहृदयात्कालंजरचित्र-कूटाशा। श्लोक ३०, तृतीय कृष्ण का कर्हाट अभिलेख, एइ०, जिल्द ४, पृ० २८९।

२. दि एज ऑफ् इम्पीरियल् कनौज, पृ० १३-१४।

थे, जिनका पूरी कुशलता से उपयोग करते हुए वह चन्देल साम्राज्य के निर्माण में जुट गया ।

यशोवर्मा की विजयें

धंग के वि० सं० १०११ के खजुराहो अभिलेख के अनुसार यशोवर्मा 'गौड़रूपी क्रीडालता के लिए तलवार (काटने वाला) था; उसने खसों की सेनाओं की बराबरी की; कोशलों का कोश लूटा; कश्मीर के वीर का नाश किया; मिथिला के राजा को शिथिल किया; वह मालवों के लिए काल के समान था; उसके सामने गर्हित चेदिराज काँपने लगा तथा वह कुरुरूपी वृक्ष के लिए आँधी के समान और गुर्जरों के लिए दाहकारक था[१]' । उसी सिलसिले में आगे कहा गया है[२] कि 'उसने निर्भय हो शीघ्र ही युद्ध क्षेत्र में उस चेदिराज को पराजित किया, जिसके पास अगणित सेना थी ।' पुनः कथित[३] है कि पर्वतीय-भूभागों की विजय करते हुए उसके सैनिकों ने उन हिमाच्छादित श्रेणियों की चढ़ाई धीरे-धीरे किसी तरह पूरी की जहाँ पार्वती ने स्वर्गलोक के वृक्षों से पुष्पराशियाँ लाकर संग्रहीत की थीं और जहाँ गंगा की तेज धाराओं की ध्वनि से उसकी अश्वसेना घबड़ा उठी थी ।' उसने 'खेल-खेल में ही कालंजरगिरि जीत लिया, जो शंकर का निवास-स्थान है और जिसकी ऊँचाई दुपहरी के सूर्य की गति को बाधित करती है'[४] । उसने 'कलिंद और जह्नु की पुत्रियों (गंगा-यमुना) को क्रमशः अपना क्रीड़ा सरोवर बनाया और उनके तटों पर शिविर स्थापित कर, अपने किसी भी शत्रु से अनादर न प्राप्त करते हुए, अपने भयंकर और प्रबल हाथियों के स्नान से उनका जल मैला कर दिया' ।[५] यशोवर्मा की विजयों के इस काव्यात्मक विवरण में प्राशंसिक अतिरंजन का

---

१. गौडक्रीडालतासिस्तुलितखसबलः कोशलः कोशलनाम् ।
नश्यत् कश्मीरवीरः शिथिलतमिथिलः कालवन्मालवानाम् ।।
सीदत्सावद्यचेदिः कुरुतरुषुमरुत्संज्वरो गूर्जराणाम् ।
तस्मात्तस्यां स जज्ञे नृपकुलतिलकः श्रीयशेवर्मराजः ।। एइ०, जि० १, पृ० ११६, श्लोक २३ ।

२. संख्येऽसंख्यः बलं व्यजेष्ठ गतभीर्यश्चेदिराजं हठात् । वहीं, पृ० १२७, श्लोक २८ ।

३. यत्सैन्यैः प्रतिकल्पपादपमुमालून प्रसेनोच्चयाः ।
प्रालेयाचलः मेखलाः कथमपि क्रान्ताः शनैर्दिग्जये ।। वहीं, श्लोक ३० ।

४. यस्मिन्मध्यन्दिने स्यात्तराणिरनुदिनं नीलकण्ठाधिवासम् ।
जग्राह क्रीडया यस्तिलकमिव भुवं किंच कालिंजराद्रिस ।। वहीं

५. मज्जनमत्तकरीन्द्रपंकिलजलाँ श्री लक्ष्मवर्माभिदः ।
चक्रे शक्रसमः कलिन्दतनयां जह्नोः सुतां च क्रमात् ।। वहीं श्लोक ३९ ।

पुट अवश्य हो सकता है, तथापि इतना स्पष्ट लगता है कि उसका प्रभावक्षेत्र हिमालय से मालवा एवं कश्मीर से बंगाल तक विस्तृत था। किन्तु इस समस्त क्षेत्र की दिग्विजय के बावजूद उसका अधिकांश भाग उसके प्रत्यक्ष प्रशासन के बाहर था, जो उपर्युक्त विवरणों के अगले विवेचन से स्पष्ट हो जायगा। यह भी ध्यान योग्य है कि यशोवर्मा की विजयों का उपर्युक्त उल्लेख न तो तैथिक क्रम से किया गया जान पड़ता है और न दिशा क्रम से ही। अतः उनका अत्यन्त सम्भावित स्वरूप ही नीचे ग्रहण किया जायगा।

कालंजर विजय

अपने सैनिक महत्त्व और चन्देल राजधानी खजुराहो के करीब होने के कारण कालंजर ने यशोवर्मा को सम्भवतः सबसे पहले आकृष्ट किया होगा। कहा गया है कि उसने 'खेल-खेल में ही कालिंजर गिरि जीत लिया।' लगता है कि उस महत्त्वपूर्ण दुर्ग के लिए उसे कोई बहुत बड़ा प्रयत्न नहीं करना पड़ा। परन्तु यह कह सकना बड़ा कठिन है कि यह महान् उपलब्धि किन परिस्थितियों में सम्भव हुई अथवा उसने वह दुर्ग किससे जीता[१]। उसने राष्ट्रकूट आक्रमणों की आँधी से ग्रस्त प्रतीहार साम्राज्य की शिथिलता का लाभ उठाते हुए कदाचित् राष्ट्रकूटों के विरुद्ध या तो प्रथम महीपाल (९१४-९४६ ई०) की रक्षा करने के बहाने अथवा बलात् कालंजर वैसे ही हथिया लिया, जैसे उसके पिता हर्ष ने चित्रकूट ले लिया था। मध्यप्रदेश के मैहर जिले में जूर नामक स्थान से राष्ट्रकूट शासक तृतीय कृष्ण का एक अभिलेख मिला है[२], जो प्रतीहार साम्राज्य के कुछ दक्षिणी-पश्चिमी क्षेत्रों पर उसके अधिकार का द्योतक है। पुनः, उसके ९४० ई० के देवली (एइ०, चतुर्थ, १८८ और आगे) और कर्हाट (एइ० जिल्द ४, पृ० २७४) के

---

१. इस विषय पर विभिन्न विद्वानों के मतभेदों को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है। डॉ० हेमचन्द्र राय (डाहिनाइ, जि० २, पृ० ६७४), डॉ० त्रिपाठी (हिस्ट्री ऑफ् कन्नौज, पृ० २७१), डॉ० अल्तेकर (राष्ट्रकूटज् ऐण्ड देअर टाइम्स्, पृ० ११३) और डॉ० शिशिर कुमार मित्र (अर्ली रूलर्स् ऑफ् खजुराहो, पृ० ४१) के अनुसार यशोवर्मा ने कालंजर राष्ट्रकूटों से जीता। चि० वि० वैद्य (हिमेहिइ, जि० २ पृ० १२६), कनिंघम् (क्वायन्स् ऑफ् मेडिवल् इण्डिया, पृ० ६७-६८), जयदेव तथा बोस (निमाइसधन बोस द्वारा उद्धृत, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३० तथा पृ० ३२) उसे कलचुरियों से विजित मानते हैं। डॉ० मिराशी के मत (कार्पस्, जि० ४, भूमिका, पृ० ७५वां) में चित्रकूट और कालंजर दोनों ही चन्देलों के अधिकार में आने से पूर्व प्रतीहारों के अधिकार में थे।

२. जबिओरिसो, १९२८, पृ० ४७६ और आगे।

अभिलेखों में कहा गया है कि उसकी 'कठोर दृष्टि मात्र से ही दक्षिण दिशा के सभी दुर्ग उसके अधिकार में चले गये और गूर्ज्जरराज के मन से चित्रकूट और कालंजर की सभी आशाएँ समाप्त हो गयीं।' किन्तु इसके विपरीत धंग के वि० सं० १०११=९५४ ई० के खजुराहो अभिलेख का यशोवर्मा द्वारा कालंजर-विजय सम्बन्धी साक्ष्य[1] यदि देखा जाय तो उपर्युक्त राष्ट्रकूट अभिलेखों के वर्णन की रूढ़िगत गतानुगतिकता स्पष्ट हो जायगी और अल्तेकर जैसे विद्वानों की यह मान्यता[2] स्वीकार नहीं की जा सकेगी कि राष्ट्रकूटों का चित्रकूट और कालंजर पर अधिकार हो गया था तथा यशोवर्मा ने उन्हीं से कालंजर जीता। ये दोनों ही स्थान जूर (मैहर जिला) से उत्तर-पूर्व काफी दूरी पर पड़ते थे, और इतना मात्र प्रतीत होता है कि उनपर तृतीय कृष्ण के ९४०-४१ के आक्रमण की छाया (**परुषेक्षित**) अर्थात् कठोर दृष्टि मात्र पड़ी थी। वास्तव में अपने नाममात्र के प्रतीहार सम्राट् महीपाल से हर्ष और यशोवर्मा उन्हें पहले ही छीन चुके थे[3] और प्रतीहारों के मन में उन्हें वापस पा सकने की जो रही सही आशा भी थी वह उस राष्ट्रकूट आक्रमण के कारण समाप्त हो गयी। यही कारण है कि खजुराहो अभिलेख यशोवर्मा के विजितों में राष्ट्रकूटों की गिनती नहीं करता। यहाँ कुछ विद्वानों[4] की इस धारणा की ओर ध्यान दिलाना अप्रासंगिक नहीं होगा कि यशोवर्मा ने कालंजर कलचुरियों से जीता। इस विश्वास का मूल कारण यह प्रतीत होता है कि चेदि राजाओं ने **कालंजरपुरवराधीश्वर** की उपाधि धारण (एइ०, जि० ५, पृ० २४) की थी। किन्तु कालंजर पर चेदियों का

---

१. डॉ० अ० बि० लाल अवस्थी (राजूपत वंशों का इतिहास, पृ० २१२-३) यशोवर्मा से हारे हुए राजाओं में राष्ट्रकूट शासक तृतीय कृष्ण की गिनती करते हैं। परन्तु सम्बद्ध श्लोक का 'इन्दु' शब्द राष्ट्रकूट राजा के लिए प्रयुक्त हुआ है, यह खींचतान का ही अर्थ जान पड़ता है। 'इन्दु' का अर्थ 'इन्दुवंश' मान लेना व्याकरण के साथ अन्याय होगा।

२. राष्ट्रकूट्ज ऐण्ड देयर टाइम्स्, पृ० ११३।

३. इस सम्बन्ध में और देखिये, डॉ० नीलकान्त शास्त्री, प्रोसीडिग्स् ऑफ् दि आल् इण्डिया ओरियण्टल् कांग्रेस, १९४६, पृ० ४३६-७। तदनुसार, कलचुरियों ने प्रत्यक्षतः और राष्ट्रकूटों ने अप्रत्यक्षतः प्रतीहारों से कालंजर छीनने में यशोवर्मा की सहायता की थी। किन्तु यह सम्भव नहीं जान पड़ता कि चन्देल, राष्ट्रकूट और कलचुरि कभी एक पक्ष में हुए हों। वास्तव में कलचुरियों से यशोवर्मा की शत्रुता थी।

४. चि० वि० वैद्य, हिमेहिइ, जि० २, पृ० १२६; कनिंघम्, क्वायन्स् ऑफ् मेडिवल इण्डिया, पृ० ६७, ६८।

अधिकार प्रतीहार शासक प्रथम भोज द्वारा उसे अधिकृत किये जाने के पूर्व ही रहा था और बाद के कलचुरि राजाओं ने यदि अपने को **कालिंजरपुरवराधीश्वर** विरुद से अलंकृत किया तो वह उनके प्राचीन गौरव की स्मृति मात्र थी। कालंजर से उनका अधिकार आठवीं शताब्दी के अन्त में ही हट चुका था। यह स्थिति ठीक उसी तरह की थी, जैसे चालुक्यों के सामन्तरूप में शासन करनेवाले प्रारम्भिक कलचुरि शासक माहिष्मती पर अधिकार न रखते हुए भी अपने को **महिष्मतीपुरवरेश्वर** कहते हुए गौरवान्वित होते थे। वास्तव में प्रथम कोक्कल्ल के बाद कलचुरि राज्य उसके १८ पुत्रों द्वारा कई मण्डलों अर्थात् भागों में विभक्त हो गया और त्रिपुरी के शासक स्वयं कमजोर हो गये, जिससे कालंजर पर उनके अधिकार की सम्भावना नहीं जान पड़ती।

चेदि विजय

कालंजर विजय के बाद यशोवर्मा ने अपनी सत्ता के विस्तार का कार्य कदाचित् दक्षिण-पूर्व और दक्षिण-पश्चिम के कमजोर राज्यों पर आक्रमण के साथ प्रारम्भ किया। खजुराहो अभिलेख में चेदि राजा पर यशोवर्मा की विजय के दो उल्लेख हैं। प्रथमतः, यह कहा गया है कि उससे भयभीत होकर 'गर्हित चेदिराज काँपने लगा (सीदत् सावद्य चेदिः)' और दूसरा यह कि 'उसने निर्भयतापूर्वक अगणित सैन्य समूहवाले चेदिराज को बलपूर्वक हराया।' ऐसा लगता है कि युद्ध केवल एक ही हुआ। इसका कारण सम्भवतः यह था कि कलचुरि राजाओं ने चन्देलों से अपनी पुरानी मित्रता का सम्बन्ध धीरे-धीरे त्यागकर उनके शत्रु राष्ट्रकूटों से अपना मित्र-सम्बन्ध बढ़ा लिया। कदाचित् यही कारण था कि उपर्युक्त अभिलेख में उन्हें 'गर्हित' कहा गया है। किन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि यशोवर्मा ने किस चेदि राजा[१] पर आक्रमण कर विजय पायी। बालहर्ष, प्रथम युवराज और लक्ष्मणराज नामक तीन कलचुरि राजे यशोवर्मा के समकालिक थे। इनमें पहला शासक (बालहर्ष) अत्यन्त कमजोर व अल्पशासी था, जिसका उल्लेख कलचुरि वंश की वंशावली देने वाले बिलहरी अभिलेख में नहीं मिलता। खजुराहो अभिलेख की सूचना है कि चेदिराज के पास अगणित सेना थी। यह उल्लेख बालहर्ष के उत्तराधिकारी प्रथम युवराज के सम्बन्ध में अधिक ठीक

---

१. डॉ० हेमचन्द्र राय एक स्थान (पूर्वनिर्दिष्ट, जि० २, पृ० ७५९-६०) पर तो यह मानते हैं कि वह हारा हुआ चेदिराज बालहर्ष था, किन्तु दूसरे स्थान पर (वहीं, पृ० ६७५) उसे प्रथम युवराज या लक्ष्मणराज मानते हैं। यह भ्रम तथ्यों और तिथियों की अनिश्चयता के कारण ही है। डॉ० मिराशी के मत (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ८५) में यशोवर्मा द्वारा पराजित चेदिराज प्रथम युवराजदेव था।

बैठता है, जिसे कलचुरि अभिलेखों और राजशेखर के संस्कृत नाटक **विद्धसाल-भंजिका** में अनेक विजयों का श्रेय दिया गया है[१]। निश्चय ही उसके पास एक बलवती सेना रही होगी, जिसका उल्लेख खजुराहो अभिलेख में स्पष्टतः हुआ है।

कोशल और मालव को त्रास

यशोवर्मा की अधिकांश विजयों का स्वरूप केवल दिग्विजय मात्र का था, जिनसे उसकी प्रत्यक्ष राज्यसीमाओं में कोई वृद्धि नहीं हुई। लगता है कि कालंजर पर अधिकार और चेदियों पर विजय प्राप्तकर उसने दक्षिण-पूर्व में स्थित महानदी की ऊपरी घाटी वाले क्षेत्रों पर एक आकस्मिक और तेज धावा किया, जिसकी चर्चा 'कोशलः कोशलानां' (कोशल राज्य का कोश लूटने वाला) से की गयी है। कोशल का तात्पर्य यहाँ महाकोशल (मध्यप्रदेश के छत्तीसगढ़, रायपुर, विलासपुर और संभलपुर के क्षेत्र) से है, न कि उत्तर भारतीय कोशल से, जिसे बाद में अवध कहा गया। अतः कोशल से प्रतीहार[२] राज्य का बोध नहीं होना चाहिए। दक्षिण-पश्चिम में मालवा के परमार शासक द्वितीय वैरिसिंह (लगभग ९१८-९४६) अथवा द्वितीय सीअक (९४६-९७३) को यशोवर्मा का भय मात्र था और उनके लिए 'कालवन्मालवानां' का प्रयोग मालवों से उसकी किसी प्रत्यक्ष मुठभेड़[३] का परिचायक नहीं प्रतीत होता। वास्तव में जैसे प्रतीहारों की अधिसत्ता फेंककर यशोवर्मा के नेतृत्त्व में चन्देल अपनी पूर्ण स्वतन्त्र सत्ता का विकास कर रहे थे, ठीक वही कार्य द्वितीय सीअक के नेतृत्त्व में परमारों ने भी प्रारम्भ कर दिया था। इतना मात्र प्रतीत होता है कि मालवराज यशोवर्मा की तेजी से बढ़ती हुई शक्ति से आतंकित था।

---

१. दे० वा० वि० मिराशी, पूर्वनिर्दिष्ट, भूमिका, पृ० ८३-८५वाँ।

२. डॉ० हेमचन्द्र राय (पूर्वनिर्दिष्ट, जि० २, पृ० ६७६) जैसे कुछ विद्वानों की धारणा है कि यहाँ कोशल से प्रतीहार राज्य के क्षेत्रों (मध्य और पूर्वी उत्तर प्रदेश) का तात्पर्य है। डॉ० बोस (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३७) ने उन्हें यथावत् स्वीकार कर लिया है। किन्तु इस समय के अभिलेखों में 'कोशल' का प्रयोग महाकोशल के लिये किया गया है। रायपुर जिले में स्थित श्रीपुर (सिरपुर) से छठीं-७वीं शती ई० के अनेक राजाओं के अभिलेख मिले हैं, जो अपने को 'कोशलाधिपति' कहते हैं। बिलहरी अभिलेख (इ०, जि० १, पृ० २५६) में भी कोक्कल्ल को यह श्रेय दिया गया है कि उसने पूर्वी समुद्र के किनारे के देशों को जीत कर कोशल के राजा (कोशलेन्द्र) से पालि छीन लिया।

३. डॉ० धी० चन्द्र गांगुली का विश्वास है (हिस्ट्री ऑफ् परमार डायनेस्टीज्, पृ० ४०) कि द्वितीय सीअक का यशोवर्मा से युद्ध हुआ था।

उत्तर भारतीय अभियान

प्रतीहार साम्राज्य की गिरती हुई अवस्था से यशोवर्मा सर्वाधिक लाभान्वित हुआ। यद्यपि वह उस साम्राज्य की नाममात्र की अधिसत्ता अब भी स्वीकार करता था,[१] उसकी अवस्था ठीक वैसी ही थी, जैसी १८वीं-१९वीं शती के पतित मुगल साम्राज्य की नाम-मात्र की महिमा मानने वाले वजीर, निजाम और नवाबों की थी, जो दिल्ली के शाहंशाह के नाम पर शासन करते हुए भी प्रायः सभी बातों में पूर्ण स्वतन्त्र थे। प्रथम महीपाल के उत्तराधिकारियों के समय ढहते हुए कन्नौज साम्राज्य को चोट देने में चन्देल कदाचित् सबसे आगे थे। खजुराहो अभिलेख कहता है कि यशोवर्मा ने 'कलिंद और जह्नु की पुत्रियों (यमुना-गंगा) को क्रमशः अपना क्रीड़ा सरोवर बनाया।' स्पष्ट है कि यमुना नदी को पारकर गंगा के किनारे तक के सारे अन्तर्वेदि (दोआब) प्रदेश पर उसकी सेनाएँ बेरोकटोक घूमीं, जहाँ उसने अपने सैनिक शिविर स्थापित किये। यह कहा गया है कि उसने गंगा-यमुना दोआब के क्षेत्र में 'किसी भी शत्रु से अनादर नहीं प्राप्त किया।' उससे यह प्रतीत होता है कि गुर्जर प्रतीहार सेनाओं ने उसका कोई मुकाबला नहीं किया। कदाचित् उनके पास इतनी शक्ति ही नहीं थी कि वे उसका प्रतिरोध कर सकें। परिणामतः, चन्देलों ने गंगा-यमुना का दोआब अपने प्रशासन में ले लिया। वि० सं० १०५९ के खजुराहो अभिलेख से ज्ञात होता है (एइ०, जि० १, पृ० १४६) कि धंग ने स्वेच्छया प्रयाग संगम के निकट जलसमाधि ली। यह प्रयाग पर उसके निजी अधिकार का द्योतक है, जो सम्भवतः यशोवर्मा के समय ही स्थापित हो चुका था। सम्भवतः इसी अभियान में यशोवर्मा ने 'हेरम्बपाल के पुत्र हयपति देवपाल[२] से बैकुण्ठ की वह मूर्ति प्राप्त की, जिसे मूलतः भोटनाथ[३] (तिब्बत-भूटान के राजा) ने कैलाश पर्वत से पाया

---

१. यशोवर्मा की विजयों का उल्लेख करने वाले खजुराहो अभिलेख के अन्त में कहा गया है कि उसका प्रकाशन श्रीविनायकपालदेव के शासन (श्रीविनायकपालदेव पालयतिवसुधां) में हुआ था। एइ०, जि० १, पृ० १२९, २९वीं पंक्ति)।

२. कैलाशाद्भोटनाथः सुहृददिति च ततः कीरराजः प्रपेदे।
साहिस्तस्मादवापद्विपतुरगबलेनानु हेरम्बपालः॥
तत्सूनोर्देवपालात्तमथ हयपतेः प्राप्य निन्ये प्रतिष्ठां।
वैकुण्ठं कुण्ठितारिः क्षितिधरतिलकः श्री यशोवर्मराजः॥
धंग का १०११ वि० सं० का खजुराहो अभिलेख, श्लोक ४३, एइ० जि० १, पृ० १२९। डॉ० गौ० ही० ओझा के मत से हयपति देवपाल कन्नौजराज देवपाल नहीं था, क्योंकि प्रतीहारों ने कभी हयपति की उपाधि नहीं धारण की। दे० एइ०, जि० १४, पृ० १८०। उनके खण्डन के लिए दे०, डॉ० त्रिपाठी, हिस्ट्री ऑफ् कनौज, पृ० २५७-२५८।

३. भोट की तिब्बत से पहचान के लिए देखिए, एइ० जि० १, पृ० १२४।

था । पुनः उसके बाद वह (कीर=कांगड़ा) के शाही राजा के पास मित्रता के उपहार-रूप पहुँची; और पुनः उसे हेरम्बपाल ने घोड़ों और हाथियों की एक टुकड़ी देकर प्राप्त किया ।' ऐसा नहीं लगता कि देवपाल से वह मूर्ति यशोवर्मा ने परस्पर मित्रता के परिचायक उपहाररूप में प्राप्त की । प्रत्युत यह एक शक्तिशाली मित्र के कमजोर मित्र पर दबाव का परिचायक[१] प्रतीत होता है ।

यशोवर्मा प्रयाग तक के प्रतीहार क्षेत्रों पर अधिकार कर लेने मात्र से सन्तुष्ट नहीं रहा । प्रतीहारों की राजधानी कन्नौज से उत्तर के क्षेत्रों को भी उसने रौंदा । यह इस उल्लेख से स्पष्ट है कि वह 'कुरुरूपी वृक्ष के लिए झंझावत के समान था ।' यह भी सूचित है कि दिग्विजय के समय उसकी सेनाओं ने उन हिमाच्छादित[२] श्रेणियों की चढ़ाई की, जहाँ 'गंगा की तेज धाराएँ अपनी भयंकर ध्वनि से प्रवाहित होती थीं !' यह हरद्वार के उत्तरी क्षेत्रों पर उसके अभियान का द्योतक है । ये सभी क्षेत्र कन्नौज के गुर्जर प्रतीहारों के अधीन थे और उन पर यशोवर्मा की दिग्विजय-यात्रा निश्चय ही उनके लिए सन्तापकारक सिद्ध हुई होगी । यही कारण है कि उसे 'संज्वरो गुर्जराणाम्' कहा गया है ।

किन्तु यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि 'नश्यत् कश्मीरवीर:' का तात्पर्य क्या है । यद्यपि कल्हण की **राजतरंगिणी** से यह सूचना मिलती है (पंचम, २४९-५००) कि उस समय कश्मीर में आन्तरिक षड्यन्त्र और राजनीतिक अस्थिरता थी, उसपर किसी बाहरी आक्रमण का कोई प्रमाण नहीं मिलता । सम्भव है कि अपने उत्तरी अभियान में कश्मीर की दक्षिणी सीमाओं के पास कश्मीर राज्य की किसी सैनिक टुकड़ी से यशोवर्मा की कोई आकस्मिक मुठभेड़ हो गयी हो । किन्तु उस मुठभेड़ को कोई

---

१. यशोवर्मा ने देवपाल से वैकुण्ठ की मूर्ति वैसे ही प्राप्त की जैसे कन्नौज-सम्राट् हर्ष ने काश्मीर के राजा दुर्लभवर्धन को कश्मीर के एक विहार में रखे हुए बुद्ध के दाँतों को भेज देने के लिए विवश किया था ।

२. डॉ० अयोध्याप्रसाद पाण्डेय कहते हैं कि 'इस श्लोक के सूक्ष्म अध्ययन से प्रकट होता है कि इस वर्णन से कैलाश पर्वत से तात्पर्य नहीं है, क्योंकि हिमपर्वत, जिसका उल्लेख यहाँ किया गया है, कालंजरगिरि ही है ।' यह भ्रम कदाचित् सम्बद्ध अभिलेख के कालिंजर पर्वत की ऊँचाई सम्बन्धी वर्णन के कारण हो गया है । किंतु उसके बर्फ से ढके रहने की बात उसकी भौगोलिक स्थिति को देखते हुए समझ में नहीं आती । पुनः, सम्बद्ध विवरण में हिमाच्छादित श्रेणियों के साथ गंगा की तेज धाराओं का भी उल्लेख है । अतः कालंजर से गंगा की दूरी देखते हुए डॉ० पाण्डेय का मत (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३७) अस्वीकार्य ही होगा ।

विशेष महत्त्व नहीं दिया जा सकता। ठीक यही स्थिति उस उल्लेख की भी है, जिसमें कहा गया है कि यशोवर्मा ने 'खसों के बल अर्थात् सेना का मुकाबला (तुलितखस-बलः) किया।' ये खस कश्मीर के दक्षिण में राजापुरी और लोहर के दुर्गों के बीच स्थित थे, जिन्हें स्टाइन ने आधुनिक खोखरों का पूर्वज माना है।[१]

पूर्वी अभियान

पूरब में यशोवर्मा ने मिथिला होते हुए गौड अर्थात् बंगाल पर अपनी दिग्विजयपताका फहरायी। मिथिला पर पहले पालों का अधिकार था, किन्तु इस समय वह उनकी कमजोरी के कारण कदाचित् स्वतंत्र हो गया था[२]। तथापि यह निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता कि उस पर किसका अधिकार था। जो भी हो, वहाँ का शासक यशोवर्मा के सामने झुकने को विवश हुआ और उसकी सैनिक क्षमता जाती रही। (शिथिलित मिथिलः)। चन्देल सेनाएँ केवल मिथिला मात्र को पदाक्रान्तकर सन्तुष्ट नहीं हुई। आगे बढ़कर उन्होंने गौड अर्थात् उत्तरी बंगाल के पाल क्षेत्रों पर धावा किया। नारायणपाल के उत्तराधिकारी राज्यपाल (दसवीं शती का दूसरा-चौथा दशक) और द्वितीय गोपाल (दसवीं शती का चौथा-पाँचवां दशक) अत्यन्त कमजोर थे। वे उत्तर-पूर्व की दिशा से काम्बोजों के आक्रमण के भी शिकार हो रहे थे[३]। इन विषम परिस्थितियों में वे यशोवर्मा के धावे का कोई सैनिक मुकाबला न कर सके और इतनी आसानी से धराशायी हो गये, मानों किसी तलवार से कोई नरम लता भग्न (गौडक्रीडालतासिः) हो गयी हो। मिथिला और गौड पर अभियानों से यशोवर्मा की

---

१. राजतरंगिणी का अंग्रेजी अनुवाद भाग १, पृ० ४७-४९, पादटिप्पणी १, पृ० ३१७ तथा भाग २, पृ० ४३०।

२. डॉ० हेमचन्द्र राय के मतानुसार (पूर्वनिर्दिष्ट, जि० २, पृ० ६७६) नारायणपाल ने अपने शासन के अन्तिम वर्षों में महेन्द्रपाल (प्रथम) प्रतीहार के कमजोर उत्तराधिकारियों से उत्तरी बंगाल और मिथिला सहित बिहार के उन सभी प्रदेशों को पुनः जीत लिया था, जिन्हें महेन्द्रपाल ने पालों से छीना था और यशोवर्मा की विजयों के सम्बन्ध में मिथिला का अलग उल्लेख ऐतिहासिक महत्त्व से हीन है। किन्तु बिहार में गंगा नदी के उत्तर से नारायणपाल का कोई भी अभिलेख नहीं मिला है। उसके उत्तराधिकारियों में प्रथम महीपाल (११वीं शती के प्रथम चरण) के शासन के ४८वें वर्ष के इमादपुर मूर्ति अभिलेख (इऐ०, जि० १४, पृ० १६५) के पूर्व का कोई ऐसा प्रमाण नहीं है, जिससे तिरहुत पर पालों का अधिकार प्रमाणित हो।

३. देखिए, पीछे पृ० २६०-२६२।

राजनीतिक और सैनिक प्रतिष्ठा की वृद्धि तो अवश्य हुई होगी, किन्तु उससे उसकी राज्य-सीमाओं में कोई वृद्धि नहीं हुई। ये दोनों ही प्रदेश बुन्देलखण्ड से बहुत दूर थे, जिनके बीच प्रतीहारों और कलचुरियों के राज्यक्षेत्र पड़ते थे। अत: वे चन्देल प्रशासन में नहीं लाये जा सकते[१] थे।

यशोवर्मा की उपलब्धियों का मूल्यांकन

पीछे के विवेचन से स्पष्ट है कि यशोवर्मा की उपलब्धियाँ महान् थीं। महीपाल (प्रथम) प्रतीहार के सामन्त पद से प्रारम्भकर उसने अपनी शक्ति क्रमश: इतनी बढ़ा ली कि अन्त में स्वयं सम्राट् बन बैठा। महीपाल न तो उसे कालंजरगिरि के अधिकार से वंचित कर सका और न महेन्द्रपाल-देवपाल उसकी दिग्विजय का मार्ग अवरुद्ध कर सके। धीरे-धीरे चन्देल सत्ता को उसने उत्तर भारतीय राजनीति में सिरमौर बना दिया और उसकी सैनिक प्रतिष्ठा को चुनौती देने वाली कोई सत्ता नहीं रही। किन्तु स्वस्थ, सुगठित और सफल प्रशासन के बिना उसकी राजनीतिक और सैनिक उपलब्धियाँ सम्भव नहीं थीं। दुर्भाग्यवश उस प्रशासन की विशेष जानकारी नहीं प्राप्त होती। तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रजा उसके प्रशासन से सुखी और प्रसन्न थी। कहा गया है कि वह 'प्रजाओं के सन्तोष के लिए ही पैदा हुआ' (सन्तोषाय प्रजानामजनि) था। वास्तुक्षेत्र में खजुराहो के जगत्प्रसिद्ध मन्दिरों के निर्माण का प्रारम्भ यशोवर्मा से ही हुआ। देवपाल से उसने वैकुण्ठ की जो मूर्ति प्राप्त की उसकी प्रतिष्ठा खजुराहो के एक ऐसे मन्दिर में की गयी, जिसके 'स्वर्णशिखर (कलश) आकाश को दीप्तिमान करते थे और स्वर्गलोक के जीव भी उससे आकृष्ट होते थे[२]।' वहाँ उसने एक महान् झील (तडागार्णवम्) का भी निर्माण कराया[३]। वह 'भयभीतों को त्राण देने वाला' (त्रस्तस्त्राता); 'त्रयीधर्म' अर्थात् वेदविहित सामाजिक और धार्मिक विधान की रक्षा करने वाला एवं 'गोद्विजों' को प्रसन्न करने वाला कहा गया है। इन कथनों से प्राचीन हिन्दू धर्मशास्त्रों द्वारा विहित उस धार्मिक

---

१. डॉ० अ० प्र० पाण्डेय (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३३-३४) के इस मत का कोई प्रामाणिक आधार नहीं है कि यशोवर्मा ने सोन नदी तक के प्रदेशों को अपने राज्य में मिला लिया। किन्तु वे यह सही अनुमान करते हैं। (पृ० ३४) कि यशोवर्मा की सेनाएँ मिथिला होकर गौड गयीं। ऐसी स्थिति में उन्होंने प्रतीहार क्षेत्रों से होकर हिमालय की तलहटियों का मार्ग पकड़ा होगा और उसी से लौट भी आयी होंगी। अत: सोननदी के क्षेत्र उसके मार्ग में पड़े ही न होंगे।

२. एइ०, जि० १, पृ० १२९, श्लोक ४२; कनिंघम् ने इस मन्दिर की पहचान खजुराहो के चतुर्भुज मन्दिर से की है।

३. वहीं, ३८वाँ श्लोक।

और सामाजिक व्यवस्था की ओर निर्देश किया गया है, जिसकी मर्यादारक्षा प्रत्येक हिन्दू राजा का पवित्र कर्तव्य समझा जाता था। आश्चर्य नहीं है कि यशोवर्मा की कर्तव्यपरायणता ने सारी जनता का मन मोह लिया हो और 'राजाओं के निवासों में, मुनियों के आश्रमों में, सज्जनों के इकट्ठे होने पर गाँवों में, छोटे-छोटे लोगों के बीच, व्यावसायियों की गलियों में, चौपालों और रास्तों में तथा वनवासियों के घरों में अर्थात् सभी ओर सभी स्थानों में सभी लोग सर्वदा उसकी कीर्ति का विस्मय से गुणगान करते हों[१]।'

चन्देल सत्ता का चरमोत्कर्ष : धंग (लगभग ९५०-११०२ ई०)

यशोवर्मा का पुत्र धंग ९५४ ई० में अथवा उसके कुछ पूर्व चन्देल राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। उसकी माता का नाम पुष्पादेवी (पुप्पादेवी) था। धंग का कृष्ण नामक एक छोटा भाई भी था, जिसकी जानकारी उसके भ्रातृज देवलब्धि के दुधई अभिलेख[२] से होती है। धंग ने अपना पहला अभिलेख वि० सं० १०११=९५४ ई० में खजुराहो में लिखवाया। अतः उसके पूर्व वह राजगद्दी पर अवश्य बैठ चुका होगा। उसमें चन्देल राजाओं की वंशावली, यशोवर्मा की विजयें और धंग सम्बन्धी अनेक परिचयात्मक बातें एवं उसके साम्राज्य-विस्तार सम्बन्धी सूचनाएँ उल्लिखित हैं। उस अभिलेख के अन्त में अंकित है[३] कि 'श्री विनायकपालदेव के पृथ्वी का पालन करते हुए पराजित शत्रु पृथ्वी नहीं जीत सके'। इस प्रश्न पर बड़ा विवाद है कि यह विनायकपालदेव कौन था अथवा लेख

---

१. आस्थानेसु महीभुजां मुनिजनस्थाने सतां संगमे,
ग्रामे पामरभण्डलीषु वणिजां वीथीपथे चत्वरे।
अध्वन्यध्वगसं कथासु निलयेऽरण्यौकसां विस्मया-
न्नित्यं तद्गुणकीर्त्तनैकमुखराः सर्वत्र सर्वे जनाः ।।
एइ०, जि० १, पृ० १३३ श्लोक ४०।

२. इऐ० जि० १८, पृ० २३६-२३७; इस सम्बन्ध में और दे० आसरि० १९३६-३७, पृ० ९४-९५।

३. 'श्री विनायकपालदेवपालयतिवसुधां वसुधा नाधिगता निर्दग्धवैरिभिः।' लेख के सम्पादक डॉ० कीलहॉर्न को विनायकपाल सम्बन्धी पंक्ति के सही वाचन पर ही सन्देह था और वे इस सम्बन्ध में कोई भी निश्चित मत नहीं बना सके (एइ०, जिल्द १, पृ० १२४)। उनके मत में अभिलेख की मूल रचना यशोवर्मा ने ही करायी थी, किन्तु वह किसी कारणवश स्थापित न हो सका, जो धंग ने किया। कुछ लोग सम्भवतः उसी आधार पर विनायकपाल की पहचान ९३१ ई० वाले बेंगाल एशियाटिक् सोसायटी अभिलेख के विनायकपाल (प्रथम महीपाल) से

मूलतः यशोवर्मा ने लिखाया अथवा धंग ने। अधिकांश विद्वानों की यह मान्यता है कि इस अभिलेख का वास्तविक लेखयिता धंग ही था, जो अपने प्रशासन के प्रारम्भ में परम्परया गुर्जर प्रतीहार सम्राट् विनायकपाल (द्वितीय) की नाममात्र की अधिसत्ता स्वीकार करता था। किन्तु उसने यह दिखावा शीघ्र ही छोड़कर पूर्ण सम्प्रभु ढंग से शासन प्रारम्भ कर दिया, जो इस बात से स्पष्ट है कि आगे उसके किसी भी अभिलेख में किसी प्रतीहार शासक का नाम नहीं आता। आगे हम यह देखेंगे कि उसने प्रतीहारों की साम्राज्यश्री छीनकर अपने को उत्तरभारत का सर्वप्रमुख शासक बना लिया।

धंग की राज्यसीमाएँ

खजुराहो के लक्ष्मणनाथ मन्दिर से प्राप्त धंग के प्रथम अभिलेख (वि० सं० १०११) से यह ज्ञात होता है कि राजगद्दी पर उसके बैठने के समय चन्देल राजसत्ता किन-किन स्थानों तक व्याप्त थी। तदनुसार, उसका राज्यक्षेत्र 'कालंजर तक; मालव नदी के किनारे स्थित भास्वत तक: वहाँ से कालिन्दी (यमुना) नदी के किनारे तक; वहाँ से चेदिदेश की सीमाओं तक तथा वहाँ से गोप नामक पहाड़ (गोपाभिधानगिरि) तक फैला हुआ था[१]।' कथित है कि उसने उपर्युक्त समस्त क्षेत्र अपनी भुजाओं से खेल-खेल में ही जीत लिया था। तथापि यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो यह प्रतीत होगा कि इस उल्लेख के अधिकांश क्षेत्र यशोवर्मा द्वारा जीते जा चुके थे और धंग को उन्हें पुनः जीतने की कोई आवश्यकता नहीं थी। किन्तु यह स्पष्ट है कि उसके राज्य के उत्तर-पश्चिम की ओर स्थित ग्वालियर का किला उसकी अपनी उपलब्धियों में प्रमुख था। साथ ही, दक्षिण-पश्चिम में मालव नदी के किनारे स्थित भास्वत[२] अर्थात् भिलसा (भैल्ल-

---

करते (र० चं० मजुमदार, जडिले०, जि० १०, पृ० ६०-१) हैं। डॉ० निहाररंजन राय उसे प्रतीहार शासक द्वितीय विनायकपाल से मिलाते (इऐ०, जि० ५७, पृ० २३०-२३४) हैं। डॉ० निमाइ सधन बोस (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ४२) का विश्वास है कि विनायकपाल धंग का ही दूसरा नाम था।

१. आकालंजरमाचमालवनदीतीरस्थिते भास्वतः
कालिन्दीसरितस्तटादितइतोप्या चेदिदेशावधेः।
आतस्मादपिविस्मयैकनिलयाद् गोपाभिधानाद्गिरे
र्यश्शास्ति क्षितिमायतोर्ज्जितभुजव्यापारलीलार्जिताम्।। एइ०, जि० १, पृ० १२९-१३४।

२. भास्वत की भैल्लस्वामिन् अर्थात् भिलसा से पहचान का सुझाव सर्वप्रथम कील-हॉर्न ने दिया। साथ ही उन्होंने मालवनदी को बेतवाँ से मिलाया। दे० एइ०, जि० १, पृ० १२४

स्वामिन्) भी उसी ने सर्वप्रथम अधिकृत किया । यदि मानचित्र में देखा जाय तो यह प्रतीत होगा कि धंग के स्वशासित क्षेत्रों का स्वरूप एक ऐसे टेढ़े-मेढ़े त्रिभुज के समान था, जिसके ऊपरी कोण पर ग्वालियर का दुर्ग स्थित था; वहाँ से एक वक्र रेखा वेत्रवती के पूर्वी किनारे से दक्षिण में भिलसा तक जाती थी; जहाँ से दूसरी वक्र रेखा यमुना नदी पारकर प्रयाग तक पहुँचती थी और तीसरी यमुना के बायें किनारे से होती हुई ग्वालियर छूती थी ।

ग्वालियर-विजय धंग की सर्वप्रमुख सैनिक और राजनीतिक उपलब्धि प्रतीत होती है । सम्भवतः उसी के साथ उसने प्रतीहार शासकों की वह नाममात्र की अधिसत्ता माननी बन्द कर दी, जिसका दिखावा हर्ष के समय से ही चन्देल करते आ रहे थे । १०९३ वि० सं० के सासबहू अभिलेख से ज्ञात होता है कि वज्रदमन नामक कच्छपघात राजा ने 'गाधिनगर की बढ़ती हुई शक्ति का दमन किया' और 'उसकी अप्रतिवार्य एवं शक्तिशाली भुजाओं द्वारा विजित गोपाद्रि के दुर्ग में उसके नगाड़ों की प्रतिध्वनि ने उसका वीरव्रत पूरा किया ।'[१] उपर्युक्त अभिलेख महीपाल कच्छपघात के समय (वि० सं० १०९३) प्रकाशित हुआ था और वज्रदमन उसकी छठीं पीढ़ी पूर्व का शासक था, जिसे वि० सं० १०३४=९७७ ई० के सुहनिया से प्राप्त[२] एक जैन अभिलेख में उल्लिखित **महाराजाधिराज** वज्रदाम से मिलाया गया है । महीपाल के पूर्व बीस-पचीस वर्षों का शासनकाल प्रति पीढ़ी के हिसाब से जोड़ने पर वज्रदमन निश्चय ही धंग का समकालिक ठहरता है[३] । विनायकपाल (प्रथम महीपाल) के वि० सं० ९९९=९४२ ई० के रखेत्र अभिलेख (आसरि०, १९२४, पृ० १६८) से स्पष्ट है कि उस तिथि तक ग्वालियर पर प्रतीहारों का अधिकार था । उसके बाद ही, किन्तु ९७७ ई० (सुहनिया अभिलेख की तिथि) के पूर्व किसी समय वह दुर्ग उनके हाथों से निकला होगा । प्रतीहारों का इतिहास लिखते समय पीछे हम देख चुके हैं कि यह अवधि उनकी अवनति का युग थी, जब कन्नौज की राजगद्दी पर अनेक अल्पशासी और कमजोर शासक बैठे । किन्तु ग्वालियर-दुर्ग के अधिकारान्तरण के सम्बन्ध में अनेक शंकायें और विवाद हैं । प्रमुख प्रश्न तो यह है कि वज्रदमन ने गाधिनगर अर्थात् कन्नौज के राजा (विजयपाल)[४] को स्वतन्त्र रूप में अकेले ही

---

१. इऐ०, जि० १५, पृ० ३६ और ४१, श्लोक ६ ।

२. जएसो०, बेंगाल, जि० ३१, पृ० ४११; शिशिरकुमार मित्र, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ५८ ।

३. डॉ० हेमचन्द्र राय (पूर्वनिर्दिष्ट, जि० २, पृ० ८३५) वज्रदमन का समय ९७५ से ९९७ ई० रखते हैं । किन्तु वह और पूर्व होना चाहिए । दे०, शिशिरकुमार मित्र, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ५९-६० ।

४. देखिए, हेमचन्द्र राय, पूर्वनिर्दिष्ट, जि० २, पृ० ८२२-३ ।

हराया अथवा उसने वह सफलता धंग के सामन्त के रूप में प्राप्त की । डॉ० मजुमदार का विश्वास है कि धंग ने पहले प्रतीहारों से वह दुर्ग जीता और पुन: उसे वज्रदमन ने उनसे छीन लिया । इस प्रकार वज्रदमन ने चन्देल राजा धंग और उसकी सहायता में आये हुए उसके प्रतीहार अधिराज दोनों को हराया । सम्भवत: इसी अप्रतिष्ठित पराजय के बाद धंग ने प्रतीहारों की नाममात्र की अधिसत्ता का आवरण उतार फेंका ।[१] किन्तु वज्रदमन द्वारा धंग की पराजय का कोई उल्लेख नहीं मिलता । अत: विद्वानों के इस अनुमान[२] में तत्त्व प्रतीत होता है कि वज्रदमन ने गाधिनगराधिप को धंग के सामंत रूप में ही हराया । उस युग के सामन्तगण इस प्रकार की अपनी विजयों में प्राय: अपने अधिराजों का उल्लेख नहीं करते थे[३] । धंग के वि० सं० १०११ के खजुराहो अभिलेख में उसे गोपगिरि (गोपाद्रि अथवा ग्वालियर) तक शासन करने का जो श्रेय दिया गया है, उसका समर्थन मदनवर्मा के महू अभिलेख के इस उल्लेख से भी होता है कि उसने 'निखिलनृप (सम्राट्) कान्यकुब्ज नरेन्द्र को समरभूमि में जीतकर स्वयं उच्च सम्राट् पद प्राप्त किया[४] ।' पुन: इस बात के प्रमाण हैं कि कछवाहे अगले कई दशकों तक चन्देल अधिसत्ता स्वीकार करते रहे । प्रमाणस्वरूप विक्रमसिंह कछवाहा के वि० सं० ११४५ के दूबकुण्ड अभिलेख का साक्ष्य प्रस्तुत किया जा सकता है, जिसमें कथित है कि उसके पूर्वज अर्जुन ने विद्याधर की सेवा में रत होकर कान्यकुब्जनरेन्द्र श्रीराज्यपाल को भयंकर युद्ध में मार डाला[५] । निश्चय ही कछवाहों द्वारा चन्देलों की अधिसत्ता की यह स्वीकृति धंग के समय से चली आ रही थी और इस कारण ग्वालियर पर उनका अधिकार होते हुए भी धंग उसे अपना राज्यसीमान्त मानता था ।

खजुराहो अभिलेख के धंग की राज्य-सीमाओं सम्बन्धी उल्लेख में 'आ कालं-

---

१. जडिले०, जिल्द १०, पृ० ६१ और आगे ।

२. त्रिपाठी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २७८; शिशिरकुमार मित्र, इहिक्वा, जि० २९, पृ० ८८-९३; पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ५९; निमाइ सधन बोस, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ०; ४५; डॉ० हेमचन्द्र राय की मान्यता है (पूर्वनिर्दिष्ट, जि० २, पृ० ८२३) कि वज्रदमन ने पहले तो अपने सम्राट् प्रतीहारों से ग्वालियर जीता, किन्तु बाद में उसे चन्देलों की बढ़ती हुई शक्ति की अधिसत्ता स्वीकार करनी पड़ी ।

३. देखिए, बाउक का जोधपुर अभिलेख, जराएसो० १८९४, पृ० ४; पृथ्वीराजविजय पञ्चम, ११० ।

४. निखिलनृपं कान्यकुब्जं नरेन्द्रं समरभुवि विजित्य प्राप साम्राज्यलक्ष्मीम् । एइ०, जि० १, पृ० १९७ और २०३, श्लोक ३ ।

५. एइ०, जि० २, पृ० २३७ ।

जर' से डॉ० हेमचन्द्र राय (पूर्वनिर्दिष्ट, जि० २, पृ० ६७९) ने यह अनुमान लगाया कि उसकी राजधानी कालंजर में न होकर खजुराहो में स्थित थी, जहाँ से चन्देलों के अधिकांश प्रारम्भिक लेख प्राप्त हुए है । तोपखाने के ज्ञानाभाव वाले उस युग में अभेद्य कालंजर दुर्ग का महत्त्व अत्यधिक था, जिसे अधिकृत रखने अथवा प्राप्त करने के लिए उस समय की सभी प्रमुख सत्ताएँ लालायित थीं । धंग इस महत्त्व को भलीभाँति समझता था और १०५५ वि० सं० का एक अभिलेख उसे **कालंजराधिपति** कहता है । सम्भव है कि उस समय तक उसने कालंजर को अपनी सैनिक शक्ति का सर्वप्रमुख केन्द्र बना लिया हो । चन्देल राजधानी खजुराहो में होने की परम्परा आगे भी बनी रही । मुसलमान इतिहासकार धंग के पौत्र विद्याधर को भी खजुराहो का ही शासक बताते हैं[१] ।

धंग की उत्तर-पूर्वी राज्यसीमाएँ प्रयाग और काशी के प्रसिद्ध तीर्थक्षेत्रों को छूती थीं । उसके १०५५ वि० सं० अर्थात् ९९८ ई० के हमीरपुर जिले में स्थित नन्यौरा नामक गाँव से प्राप्त अभिलेख[२] से ज्ञात होता है कि उस वर्ष एक चन्द्रग्रहण के अवसर पर उसने काशी में भट्टयशोधर को युलि नामक गाँव दान में दिया था । बाद के एक अन्य चन्देल अभिलेख[३] से ज्ञात होता है कि उसने १०० वर्ष की अवस्था पूर्णकर गंगा और यमुना के प्रयाग स्थित संगमस्थल के जल में धार्मिक विधि द्वारा जलसमाधि लेकर अपना प्राण त्याग किया । पीछे हम देख चुके हैं कि प्रयाग की विजय सम्भवतः धंग के पिता यशोवर्मा के समय में ही की जा चुकी थी । किन्तु उसके और पूर्व में स्थित काशी तक के क्षेत्रों की विजय का श्रेय निश्चय ही धंग को दिया जाना चाहिए । ये सभी प्रदेश पहले प्रतीहार साम्राज्य के भीतर थे और चन्देलों ने उन्हें जीतकर यदि यह दावा किया कि 'धंग ने कान्यकुब्जनरेन्द्र को समरभूमि में जीतकर उसकी साम्राज्य-श्री छीन ली'[४] तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है । किन्तु दुर्भाग्य यह है कि किसी निश्चित प्रमाण के अभाव में हम धंग द्वारा पराजित इस 'कान्यकुब्जनरेन्द्र' की ठीक-ठीक पहचान नहीं कर सकते ।

धंग की अन्य विजयों का स्वरूप

वि० सं० १०५९ के एक खजुराहो अभिलेख में धंग की प्रशंसा में कहा गया है[५] कि

---

१. इब्न्-उल्-अतहर के अल्-तारीखुल-कामिल् का अंग्रेजी अनुवाद, बुलक, जि० ९, पृ० ११५-११६ ।
२. एइ०, जि० १, पृ० १३५-६; इऐ०, जि० १६, पृ० २०३ ।
३. एइ०, जि० १, पृ० १४६ और आगे; श्लोक ५५ ।
४. मदनवर्मा का महू अभिलेख, श्लोक ३, एइ०, जि० १, पृ० ११७ और २०३ ।
५. एइ०, जि० १, पृ० १४५, श्लोक ४५-६ ।

'कोशल, क्रथ, सिंहल और कुन्तल के राजा झुककर उसकी आज्ञाएँ सुनते थे' तथा 'कांची, आन्ध्र, राढ़ और अंग के राजाओं की रानियाँ उसके बन्धनागारों में सड़ती थीं !' अधिकांश इतिहासकार[१] इन उल्लेखों को ऐसी अतिशयोक्ति और कोरी प्रशंसा मानते हैं, जिनमें कोई ऐतिहासिक तथ्य छिपा नहीं प्रतीत होता । तथापि उपर्युक्त देशों की पहचान और उनके तत्कालीन आन्तरिक इतिहास के दर्शन से हम वास्तविक तथ्य के निकट पहुँच सकते हैं । कोशल उत्तरपश्चिमी उड़ीसा और दक्षिणपूर्वी मध्यप्रदेश में स्थित था, जहाँ उस समय कोई प्रतिष्ठित और शक्तिशाली सत्ता नहीं थी[२] । क्रथ विदर्भ के आसपास का प्रदेश[३] था और वहाँ की भी राजनीतिक अवस्था अव्यवस्थित और पराक्रान्त थी । सिंहल लंका का प्राचीन नाम है और कुन्तल से कर्नाटक के बनवासी जिले के आसपास स्थित क्षेत्र का तात्पर्य है, जिसपर कल्याणी के चालुक्यों (द्वितीय तैलप, ९७३-९९७, और सत्याश्रय, ९९७-१००८ ई०) का अधिकार था । इनमें से कोई भी प्रदेश चन्देल राज्य की सीमाओं को छूता नहीं था और बीच-बीच में चेदि, चोल और परमार राज्यक्षेत्र पड़ते थे, जिनके राजाओं से धंग के किसी भी युद्ध का कोई वर्णन नहीं मिलता । सिंहल अथवा लंका इतनी दूर था कि उसके सम्बन्ध की उपर्युक्त चर्चा को कोरी कल्पना ही मानना चाहिए । किन्तु यह सम्भव है कि इन राज्यों में धंग ने अपने दूत भेजे हों, जिन्हें उनके राजाओं ने मित्रतापूर्वक सत्कृत किया हो । कदाचित् इसे ही प्रशस्तिकार ने यह मान लिया कि उन राजाओं ने झुककर धंग की आज्ञाएँ स्वीकार कीं ।

उपर्युक्त अभिलेख के इस कथन से कि कांची, आन्ध्र, राढ़ और अंग के राजाओं की रानियाँ उसके बन्धनागार में सड़ती थीं, यह अनुमान लगाया गया है कि धंग ने कदाचित् उनपर धावे बोलकर उन्हें पराजित किया था । किन्तु इस निष्कर्ष की प्रामाणिकता सिद्ध करने का कोई अकाट्य प्रमाण नहीं है । यद्यपि इस सम्बन्ध में कोई निश्चित मत नहीं स्थापित किया जा सकता, इस बात की सम्भावना अवश्य है कि पालों की अवनति के उस युग में धंग ने उनके क्षेत्र राढ़ (वीरभूम और वर्दवान के क्षेत्र) तथा

---

१. दे० कनिंघम्, आसरि०, जि० २, पृ० ४५१-२; निमाइ सधन बोस, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ४६-७; शिशिरकुमार मित्र, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ६१ ।

२. ज्ञातव्य है कि कोशल में उस समय महाभवगुप्त शासक था, जिसके समय कोशल पर प्रथम युवराज कलचुरि ने आक्रमण किया था (एइ०, जि० १, पृ० २६०, श्लोक ६२ ।

३. महाभारत में इसकी स्थिति दी गयी है । देखिए, अ० प्र० पाण्डेय, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ४२-३ ।

अंग (भागलपुर और मुजफ्फरपुर के क्षेत्र) पर धावे किये[१] हों। आगे चलकर कलचुरियों ने भी उन प्रदेशों पर चढ़ाइयाँ कीं।

धंग की हम्मीर से तुलना

महोबा से प्राप्त कीर्त्तिवर्मा (१०६०-११०० ई०) के एक अतैथिक और खण्डित अभिलेख में धंग की प्रशंसा में कहा गया है कि 'शत्रुओं को तोड़ने में समर्थ (तथा) पृथ्वी के लिये मंगलकारक श्रीधंग ने अपनी भुजाओं की शक्ति से पृथ्वी के लिए बहुत बड़े भार बने हुए और अत्यन्त शक्तिशाली हम्मीर की तुलना की[२]।' धंग की मृत्यु के कई दशकों बाद वाले (यह समय ५० से १०० वर्षों बाद तक का हो सकता है) इस उल्लेख का वास्तविक तात्पर्य क्या है, इस पर विद्वानों में मतभेद है, जिसे मोटे तौर पर दो पक्षों में विभाजित किया जा सकता है। अधिकांश विदेशी इतिहासकार यह मानते[३] हैं कि सम्बद्ध उल्लेख में धंग की हम्मीर[४] (सुबुक्तगीन अथवा महमूद गजनवी) से यह

---

१. श्री योगेन्द्रचन्द्र घोष (एइ०, जि० २४, पृ० ४३-५) ने नयपालदेव के इर्दा ताम्र-पत्राभिलेख का एक स्वतन्त्र पाठ करते हुए यह मत व्यक्त किया है कि धंग ने राज्यपाल के समय राढ़ पर आक्रमण किया था। किन्तु इसे स्वीकृत करने में कठिनाई यह है कि राज्यपाल का समय या तो धंग के शासन के अत्यन्त प्रारम्भिक भाग में था अथवा उसके पूर्व था। अपने प्रारम्भिक लेखों में धंग बंगाल पर विजय का दावा नहीं करता। वह दावा सबसे पहले उसके १००२ ई० के एक अभिलेख में किया गया है। अत: श्री घोष का मत समीचीन नहीं प्रतीत होता। डॉ० शिशिर कुमार मित्र का मत (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ६२) है कि धंग ने यदि राढ़ पर आक्रमण किया तो वह काम्बोजों के विरुद्ध हुआ होगा, जिनका वर्धमानभुक्ति और दण्डभुक्ति पर अधिकार हो जाना इर्दा अभिलेख (एइ०, जि० २२, पृ० १५० और आगे, १८-२०वीं पंक्तियाँ) से प्रकट होता है। किन्तु डॉ० धी० चं० गांगुली के मत (दि एज ऑफ् इम्पीरियल् कनौज, पृ० ८६) में राढ़ पर उस समय रणशूर का कोई पूर्वज शासन करता था।

२. निर्मितवैरिभंग: श्रीधंग: इत्यवनिमंगलर्माविरासीत्।
सारेण य: स्वभुजयोर्भुवनातिभारं हम्मीरमप्यतिबलंतुल्यं चकार। एइ०, जि० १, पृ० २२१, श्लोक १७।

३. देखिए, विन्सेण्ट स्मिथ, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ४०; निमाइ सधन बोस, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ४९-५०; केशवचन्द्र मिश्र, चन्देल और उनका राजत्वकाल, पृ० ८१-३; अ० प्र० पाण्डेय, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ४४-५; हूल्ट्ज़्, एइ०, जि० १, पृ० १२८-९।

४. हम्मीर शब्द अरबी भाषा के अमीर का संस्कृत रूपान्तर है। उसका पूर्ण रूप 'अमीरुल्-मुमिनीन (धर्मपरायणों का नेता) है। उसी से सम्बद्ध है 'उमर', जो

तुलना फिरिश्ता द्वारा निर्दिष्ट[१] उस हिन्दू सैनिक संघ की ओर निर्देश करती है, जो या तो सुबुक्तगीन के विरुद्ध ९८९-९० ई० में शाही राजा जयपाल ने तैयार किया था अथवा महमूद गजनवी के विरुद्ध १००८ ई० में जयपाल के पुत्र आनन्दपाल ने रचा था। इस संघ की चर्चा घटना के लगभग ६०० वर्षों बाद होने वाला मुगलकालीन इतिहासलेखक फिरिश्ता मात्र करता है और अल्-उत्बी, इब्न्-उल्-अतहर और निजामुद्दीन जैसे प्रारम्भिक लेखक इसका कोई उल्लेख नहीं करते। इस आधार पर डॉ० हेमचन्द्र राय जयपाल अथवा आनन्दपाल द्वारा तुर्कों के विपरीत किसी सैनिक संघ के निर्माण के कथन को तथ्यात्मक नहीं मानते,[२] जो सही प्रतीत होता है। फिरिश्ता अपना स्रोत नहीं देता[३] तथा उसके उल्लेखों में अनेक भ्रान्तियाँ भी हैं, जिनकी चर्चा शाहीवंश का इतिहास

खलीफाओं का विरुद था। मुहम्मद, इब्न्साम के सोने के सिक्कों पर 'श्रीमद्हमीर महमूद साम' के रूप में भी 'हम्मीर' अथवा हमीर अंकित है। १०००-१३०० ई० के बीच 'अमीर' शब्द दिल्ली के सुल्तानों एवं कई अन्य मुसलमान शासकों अथवा सेनापतियों के नाम के साथ लगा रहता था। दे० कैटेलॉग ऑफ् दि क्वायन्स् ऑफ् दि इण्डियन् म्यूजियम, कलकत्ता, भाग २, १९२७, पृ० १७; हेमचन्द्रराय, पूर्व-निर्दिष्ट, जि० २, पृ० ६८१-२।

१. तारीखे फिरिश्ता, ब्रिग्स् का अंग्रेजी अनुवाद, जि० १, पृ० १७-१८।

२. पूर्वनिर्दिष्ट, जि० १, पृ० ८३, ९१-९२, ५९७ और आगे तथा जि० २, पृ० ६८२-३। इस तथाकथित संघ की तथ्यात्मकता पर विशेष विचार किये बिना भी विभिन्न प्रवृत्तियों के आधुनिक इतिहासकार सम्भवतः अपनी मानसिक ग्रन्थियों के कारण इसे अन्धस्वीकृति दे देते हैं। फिरिश्ता के समय से आजतक के मुसलमान इतिहासकार (दे० मु० हबीद, महमूद ऑफ् गजना, पृ० २७); नाजिम (दि लाइफ ऐण्ड टाइम्स् ऑफ् सुल्तान ऑफ् गजनीन, पृ० ३०) कदाचित् इस बात में गौरव समझते हैं कि महमूद की वीरता के सम्मुख हिन्दुओं का टिड्डीदल बेकार था। स्मिथ जैसे अंग्रेज इतिहासकार हिन्दुओं की कमजोरी दिखाकर अंग्रेजी शासन की अनिवार्यता तथा उसकी छत्रछाया की उपयोगिता सिद्ध करना चाहते थे और हिन्दू लोग ऐसा समझकर गर्व करते हैं कि उनके पूर्वजों ने बिना लड़े ही अपनी स्वतन्त्रता नहीं चली जाने दी, बल्कि वे समवेत होकर जमकर लड़े किन्तु दुर्भाग्यवश हार गये। इस सम्बन्ध में दे०, योगेन्द्र मिश्र, प्रोसीडिंग्स्, इण्डिन् हिस्ट्री कांग्रेस, १९७० ई०।

३. डॉ० मु० हबीब, फिरिश्ता के अंग्रेजी अनूदक जनरल ब्रिग्स् को अत्यन्त मूर्ख और साथ ही दम्भी कहते हैं (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १०)। आश्चर्य है कि इसके बावजूद भी उसी के अनुवाद को वे अपने निष्कर्षों का आधार बनाते हैं।

लिखते समय पीछे हम कर चुके हैं। यह तर्क[1] बड़ा लचर है कि चूँकि १००१ ई० के युद्ध में जयपाल ने केवल ८००० घुड़सवार, ३०००० पैदल और ३०० हाथी लेकर सुल्तान (महमूद) का मुकाबला किया', ८८९-८९० ई० के सुबुक्तगीन के विरुद्ध १ लाख घुड़सवारी सहित उसका युद्ध में उतरना यह बात प्रकट करता है कि घुड़सवारों की यह बड़ी संख्या निश्चय ही संघ सेना की थी। वास्तव में ये दोनों उल्लेख दो लेखकों, क्रमशः उत्बी और फिरिश्ता, के हैं और उनका पूर्वापर बैठाना समीचीन नहीं जान पड़ता। फिरिश्ता जब संघ की बात कहता है तो यह स्वाभाविक है कि वह उसकी सेनाओं की संख्या भी बढ़ा-चढ़ाकर बतावे। किन्तु वह भी इतना मात्र कहता है कि दिल्ली, अजमेर, कालंजर और उज्जैन के राजाओं ने सहायता मात्र भेजी। उन राजाओं के ९८९-९९० ई० अथवा १००८ ई० के युद्धों में स्वयं सम्मिलित होने का वह कोई उल्लेख नहीं करता। अतः यह कथन अत्यन्त भ्रमात्मक और तथ्यहीन है कि हिन्दू संघ की सेनाओं द्वारा लड़े गये 'युद्ध में धंग को अपना शौर्य और कौशल दिखाने का पर्याप्त अवसर मिला और उसका पराक्रम तथा वीरता उसके साथी नरेशों को विजयी अमीर के ही तुल्य प्रतीत हुई।'[2] यह मत भी अनेकशः व्यक्त किया गया है कि हिन्दू नरेशों का ९८९-९९० ई० में सुबुक्तगीन के विरुद्ध युद्ध में उतरना आक्रमणात्मक था, न कि प्रतिरक्षात्मक। किन्तु भारतीय इतिहास की तत्कालीन प्रवृत्तियों को देखते हुए यह अत्यन्त असम्भव और काल्पनिक प्रतीत होता है कि आक्रमणात्मक रूप में हिन्दू राजे कभी एक हो सकते थे। वास्तव में यदि फिरिश्ता का साक्ष्य छोड़ दिया जाय तो यह किसी अवसर पर दिखाई नहीं देता कि बराबरी वाले दो राजे भी (कइयों की तो बात दूर रही) रक्षात्मक युद्ध के लिए भी (आक्रामणात्मक उपक्रम की तो चर्चा ही क्या) कभी समवेत हुए हों।

किन्तु इस सारे विवेचन के बाद भी मूल प्रश्न ज्यों का त्यों अनुत्तरित रह जाता है कि यदि धंग सुबुक्तगीन अथवा महमूद के विरुद्ध तथाकथित सैनिक संघों में स्वयं अथवा अपने सैनिकों के माध्यम से सम्मिलित नहीं हुआ तो उसकी समता हम्मीर[3] से क्यों की गयी? यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि धंग के जीवित रहते महमूद ने काबुल और पश्चिमी पंजाब से आगे अपने धावे नहीं मारे। अतः उस समय के लिए

---

१. देखिए, अ० प्र० पाण्डेय, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ४५।

२. वहीं।

३. हेमचन्द्र राय इस हम्मीर का मिलान महमूद गजनवी से करते हैं न कि सुबुक्तगीन से। उनकी यह भी धारणा है कि धंग १००२ ई० के बाद भी जीवित रहा। दे० पूर्वनिर्दिष्ट, जि० २, पृ० ६८२-३।

महमूद को भारतीय भूमि के लिए अति भारस्वरूप (भुवनातिभारं) कहना ऐतिहासिक तथ्य के विपरीत है । असम्भव नहीं है कि धंग की शक्ति का परिचय पाकर ही उसके जीवित रहते महमूद ने अपने को उत्तरी-पश्चिमी सीमाप्रान्त तक सीमित रखा हो, जिस तथ्य ने कीर्तिवर्मा के समय के प्रशस्तिकार को धंग की हम्मीर से तुलना करने को उत्साहित किया हो । साथ ही यह भी सम्भव है कि हम्मीर को 'पृथ्वी का भारी बोझ' कहने में प्रशस्तिकार ने स्वयं अपने समय (११वीं शती के मध्य) की राजनीतिक स्थिति को धंग के समय भी अवस्थित मान लिया हो । यह सुज्ञात है कि कीर्तिवर्मा के समय (१०६०-११०० ई०) काशी के आसपास तक का सारा मध्यदेश लाहौर के यमीनी तुर्कों द्वारा आक्रांत हो रहा था और वे सचमुच आर्य संस्कृति के रक्षकों द्वारा 'पृथ्वी के बोझ' समझे जाने लगे थे ।

धंग का सुशासन

ऊपर के विवरणों से स्पष्ट है कि धंग सैनिक और राजनीतिक दृष्टि से अपने समय का सर्वप्रमुख उत्तर भारतीय नरेश था । उसके अनेक अभिलेख और खजुराहो में निर्मित मंदिर इसके साक्षी हैं कि उसने प्राचीन भारतीय राजनीति-शास्त्रज्ञों के निर्देशों पर चलते हुए अपनी सत्ता का उपयोग निरंकुश रूप में न कर धर्म, कला और संस्कृति के संरक्षण और विवर्धन में किया । स्मिथ के शब्दों[१] में 'खजुराहो के भव्य मन्दिरों के रूप में मन्दिर-वास्तु की उत्तरी शैली यशोवर्मा और धंग के शासनों (९३०-११०० ई०) में अपनी चरमोन्नति में पहुँच गयी । ठीक ही है कि वे उस शैली के आदर्श प्रतिमान होने का स्वत्त्व रखते हैं, जो अपनी संगतिपूर्ण रचना, आकार महिम्नता और सुसमृद्ध सजावट के कारण भूरि-भूरि प्रशंसा के पात्र हैं ।' धंग का निजी धर्म हिन्दू था, जिसके अन्तर्गत आने वाले सभी देवी-देवताओं—वासुदेव्, शिव, भारती (सरस्वती) गणेश आदि की स्तुतियाँ उसके अभिलेखों में की गयी हैं । तथापि वि० सं० १०५९ के खजुराहो अभिलेख से प्रतीत होता है कि हिन्दू देवताओं में भी उसकी सर्वाधिक भक्ति शिव के प्रति थी । भट्ट यशोधर जैसे अनेक विद्वान् ब्राह्मणों को करमुक्त भूमि दान देकर उसने चन्देल राज्य में बसने को उत्साहित किया[२] एवं उन्हें राजकीय पदों पर नियुक्त किया । स्वयं भट्ट यशोधर उसका **धर्माधिकारी** अर्थात् मुख्य न्यायाधीश था । मदनवर्मा के मऊ अभिलेख से ज्ञात होता है

---

१. पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १४१; इस सम्बन्ध में और देखिए, कनिंघम्, आसरि० जि० २, पृ० ४१९; और आगे, फर्ग्युसन्, हिस्ट्री ऑफ् इण्डियन् एण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, १९१०, जि० २, पृ० १० और आगे ।

२. दे० वि० सं० १०५५ का नान्योरा अभिलेख, इऐ०, जि० १८, पृ० २०१-४; वि० सं० १०५९ का खजुराहो अभिलेख, एइ० भाग १, पृ० १३७ और आगे ।

कि प्रभास नामक एक दूसरा ब्राह्मण उसका मुख्यमन्त्री था, जिसकी नियुक्ति कौटिल्य के **अर्थशास्त्र** में अनुशंसित विधियों द्वारा परीक्षित करने के बाद (सर्वोपधाशुद्धि) ही की गयी थी[१] । कहा गया है कि वह एक सफल राजनीतिज्ञ था (नयप्रयोगे गहने सुदक्षः) । धंग ने उस युग में प्रचलित 'तुलापुरुषदान' नामक धार्मिक दान-विधि भी सम्पन्न की थी[२] । जहाँ एक ओर उसने खजुराहो में अपने पिता द्वारा प्रारम्भ वैकुण्ठनाथ के मन्दिर का निर्माण पूरा कराया तथा स्वयं भगवान् शम्भु के मन्दिर का निर्माण कराकर उसमें एक मरकतमणि (मरकतेश्वर) से बना हुआ शिवलिंग तथा दूसरा प्रस्तरलिंग स्थापित कराया, वहीं जैनियों को भी अपने धर्म प्रसार और जैनमन्दिरों के निर्माण की पूरी सुविधाएँ दीं । उसका सबसे बड़ा उदाहरण जिननाथ का मन्दिर है, जिसमें १०११ वि० सं० का एक दानपरक जैन अभिलेख भी अंकित है । यद्यपि इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि भारत में विभिन्न धर्मावलम्बी साधारण जनता परस्पर प्रेम से मिलजुलकर रहती थी और साधारणतः राजागण भी अपने आचरणों में एक दूसरे के प्रति कोई भेदभाव नहीं करते थे, ऐसे भी अनेक उदाहरण हैं कि अपने-अपने विश्वासों की मान्यता अधिकाधिक लोगों द्वारा स्वीकृत कराने के कार्य में लगे हुए कठोर सम्प्रदायवादियों में तीखे आपसी वाग्युद्ध और एक दूसरे को नीचा दिखाने के प्रत्यन भी चलते रहते थे । खजुराहो के अनेक हिन्दू मन्दिरों में जो नग्न और मुण्डित जैन क्षपणकों की नग्न स्त्रियों के साथ विभिन्न रतिमुद्राएँ दिखायी गयी हैं, वे कदाचित् उनमें व्याप्त कामाचार की निन्दा के लिए ही उत्खचित की गयीं । किन्तु राजागण प्रायः इस प्रकार की प्रवृत्तियों से अलग ही रहते थे और साधारणतया प्रबुद्ध जनता सभी धर्मों और देवी-देवताओं में एक ही नित्य और सत्य का अनुभव करती थी । खजुराहो स्थित वैद्यनाथ के मन्दिर से प्राप्त एक शिलालेख[३] में धंग के समय की धार्मिक सहिष्णुता का मनोरम वर्णन प्राप्त होता है ।

स्पष्ट है कि प्रत्येक दृष्टि से धंग एक सफल और उदार शासक था । लगभग ५०-५५ वर्षों तक शासन करने के बाद उसने १०० वर्षों से अधिक की आयु में गंगा-यमुना के संगम (प्रयाग) के पवित्र जल में निमीलित नेत्रों से भगवान् शिव का हृदय में जप

---

१. एइ०, जि० १, पृ० १९९, श्लोक १८-२२ ।

२. वहीं पृ० १४६, श्लोक ५२ ।

३. यं वेदान्तविदोवदन्ति मनसः संकल्पभूतं शिवम्,
ब्रह्मेकं परमक्षयं तमजरंतं चामरं तद्विदः ।।
अन्ये तत्शिवमेव बुद्धमलंन्वन्ये जिनं धामनम्, तस्मै सर्वमयोक्त कारणपतेसर्वाय-नित्यं नमः ।। एइ० जि० १, पृ० १४४ श्लोक ३ ।

और ध्यान करते हुए अपना शरीर त्यागकर निवृत्ति प्राप्त की।[१] मृत्यु का इस प्रकार आलिंगन निश्चय ही उस सर्वविधसफल हिन्दू राजा के परम सन्तोष के भाव का परिचायक है।

गण्ड (लगभग १००३ से १०१७ ई०)

धंग की मृत्यु के बाद उसके पुत्र गण्ड ने चन्देल वंश की शासनसत्ता सम्भाली। किन्तु उसका स्वयं का कोई अभिलेख नहीं मिलता। विद्वानों में उसकी ठीक-ठीक शासनावधि के बारे में भी मतभेद है, जिसके ब्यौरों में पड़ने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है। एक बात अवश्य ध्यानयोग्य है कि चूँकि धंग ने १०० वर्षों से भी अधिक जीवन प्राप्त किया था, राजगद्दी पर बैठते समय गण्ड वृद्ध हो चला होगा। कदाचित् इसी कारण न तो उसने कोई नया सैनिक अभियान किया और न कोई अपना लेख ही प्रकाशित कराया। उसकी रस्मी प्रशंसाएँ उसके समय के १०० वर्षों बाद के चन्देल अभिलेख में मिलती हैं, जिन्हें विशेष महत्त्व नहीं दिया जा सकता। अनेक इतिहास लेखक गण्ड की पहचान उस नन्द नामक राजा से करते[२] हैं, जिसकी चर्चा मुसलमान लेखक कन्नौजराज राज्यपाल के मारने अथवा दण्डित करने वाले के रूप में करते हैं। किन्तु यदि गण्ड ने उस समय की तेजी से बदलती हुई और युद्धबहुल राजनीति में कोई मुख्य भाग लिया होता तो कहीं तो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्षरूप से चन्देल अभिलेखों में उसकी चर्चा होती। आगे हम देखेंगे कि नन्द नामक वह राजा गण्ड नहीं अपितु विद्याधर था। इतना निश्चित है कि गण्ड ने धंग से प्राप्त विशाल चन्देल साम्राज्य की सीमाओं में किसी प्रकार की कोई कमी नहीं होने दी और वह विरासत अक्षुण्णरूप में अपने पुत्र विद्याधर को छोड़ गया।

चन्देल साम्राज्यवाद : विद्याधर (लगभग १०१८-१०२९ ई०)

गण्ड का पुत्र विद्याधर १०१९ के पूर्व कभी (सम्भवतः १०१८ ई० में) गद्दी पर बैठ चुका था। अपने पितामह धंग के समान ही वह शक्तिशाली और युद्धप्रिय सिद्ध

---

१. रक्षित्वा क्षितिमम्बुराशिरशनामेतामनन्यायतिम्,
जीवित्त्वा शरदां शतं समधिकं श्रीधंगपृथ्वीपतिः
रुद्रं मुद्रितलोचनः स हृदये ध्यान्यञ्जपन्,
जाह्नवीकालिन्द्योः सलिले कलेवरपरित्यागादन्निर्वृतिम् ।। वहीं, जि० १, पृ० १४६, श्लोक ५५।

२. देखिए कनिंघम्, आसरि, जि० २, पृ० ४५२; हुल्ट्ज, एइ०, जि० १, पृ० २१९; वि० स्मिथ, इऐ०, जि० ३७, पृ० १४१-२; अ० प्र० पाण्डेय, पूर्वनिर्दिष्ट पृष्ठ ५०-५८; केशवचन्द्र मिश्र, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ८५-९९।

पीछे हम देख चुके हैं कि इब्न्-उल्-अतहर विद्याधर के बारे में कहता है कि राज्यपाल के वध के बाद वह 'शरारती और मनमाना हो गया तथा उसकी कीर्ति सारे भारत में फैल गयी।' वास्तव में विद्याधर राज्यपाल का अन्तकर उत्तर भारत का सर्वप्रमुख सम्राट् हो गया और **परमेश्वरपरमभट्टारक महाराजाधिराज** (इए० जि० १६, पृ० २०५) की अपनी उपाधियों को पूर्णतः सार्थक करने लगा। यह निश्चित है कि भगोड़े राज्यपाल को दण्डित करने से उसकी राजनीतिक प्रतिष्ठा बढ़ी होगी और देश के अन्य राजे महमूद के प्रायः वार्षिक आक्रमणों से त्रस्त होने की अवस्था में उसकी ओर देखने लगे होगें। इब्नुल्-अतहर कहता[1] है कि 'यामिनुद्दौला (महमूद) द्वारा विजित भारत के एक राजा ने विदा की सेवा ग्रहण कर ली और उससे रक्षा की भीख माँगी।' यद्यपि वह उस राजा का नाम तो नहीं देता, सन्दर्भों से प्रतीत होता है कि वह या तो कन्नौज के प्रतीहार राजा राज्यपाल का पुत्र त्रिलोचनपाल था अथवा पंजाब के शाही राजा आनन्दपाल का पुत्र त्रिलोचनपाल था। यह जान पड़ता है कि कभी के चन्देलों के अधिराज और सम्राट् प्रतीहारों का नामलेवा त्रिलोचनपाल अब समय की विपरीत गति में उन्हीं का आश्रित हो गया और विद्याधर का प्रभाव आगे पंजाब तक विस्तृत हो गया एवं शाही राजा उसकी सहायता से अपनी खोयी हुई प्रतिष्ठा और राज्य पुनः प्राप्त करने की ताक में लग गया[2]।

महमूद का चन्देलों पर आक्रमण (१०१९-१०२० ई०)

महमूद गजनवी भारत से लौट जाने पर भी इन सारी परिस्थितियों से अवगत और चिन्तित था। अपने भारतीय अभियानों के इतिहास में कदाचित् पहली बार उसे एक चुनौती का अनुभव हुआ और कन्नौज पर आक्रमण और विजय से उसने जो प्रतिष्ठा कमायी थी, उसपर उसे विद्याधर की ओर से आँच आते दिखायी दी। किन्तु उसके व्यक्तित्त्व में यह नहीं था कि इन चुनौतियों को वह चुपचाप बढ़ते हुए देखता रहता। इब्नुल्-अतहर के शब्दों में 'वह चिन्तित हो उठा और युद्ध की तैयारी करने लगा'। हि० सन् ४१०=१०१९ ई० में विद्याधर को लक्ष्यकर वह अफगानिस्तान होता हुआ पुनः एक बार भारत के लहलहाते मैदानों पर आ टूटा। इब्न्-उल्-अतहर और निजामुद्दीन कहते हैं कि यमुना[3] के किनारे 'नरोजयपाल ने अपना खेमा गाड़ दिया' और युद्ध की तैयारी में लग

---

१. पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ११६।

२. हेमचन्द्रराय, डाहिनाइ, जि० १, पृ० ६०५।

३. तबकाते-अकबरी, पृ० १२। यहाँ यह ध्यातव्य है कि निजामुद्दीन द्वारा यमुना का उल्लेख गलत है। प्रायः सभी आधुनिक इतिहासकार (देखिए, इम्पीरियल् गजेटियर ऑफ् इण्डिया, जि० २१, पृ० १७५) उत्बी का यह कथन स्वीकार करते

गया। सम्बद्ध विवरणों से स्पष्ट है कि इस अवसर का नरोजयपाल अथवा तरोजयपाल पंजाब का शाही राजा त्रिलोचनपाल[१] था, जिसने नदी के अपने पार वाले किनारे की ऐसी नाकेबन्दी कर रखी थी कि महमूद को उसे पार करने में सैनिक कौशल और मोर्चेबन्दी के अपने कई दाँव दिखाने पड़े। त्रिलाचनपाल लड़ा, हारा और विद्याधर से जा मिलने के लिए भागा, किन्तु रास्ते में कुछ हिन्दुओं ने ही उसे मार डाला[२]। महमूद ने आगे बढ़ते हुए बारी लूटा तथा विद्याधर की दिशा में अभियान किया। इब्नुल्-अतहर के अनुसार, दोनों की मुठभेड़ किसी नदी के किनारे हुई तथा दोनों ने ही अपनी-अपनी सेनाओं की संख्या बढ़ाते हुए घमासान लड़ाई की। किन्तु रात्रि ने दोनों को अलग कर दिया और दूसरे दिन महमूद ने मैदान खाली देखा। उसने जंगलों और झुरमुटों में विद्याधर की सेनाओं का पीछा करते हुए बड़ी संख्या में हिन्दू सैनिकों को मारा और विद्याधर अकेले बच निकला। महमूद विजयी होकर गजनी लौट गया। किन्तु निजामुद्दीन इस मुठभेड़ का विवरण कुछ और ही प्रकार से देता है। तदनुसार, नन्दा अर्थात् विदा (विद्याधार) ने '३६००० घोड़ों, १४५,००० पदाति और ३९० हाथियों की एक विशाल सेना इकट्ठी की। सुल्तान ने नन्दा की सेना के सामने अपना खेमा गाड़कर उसे इस्लाम स्वीकार करने को आमन्त्रित किया। किन्तु नन्दा ने दासता के जुए में अपना गला डालने से इनकार कर दिया। तत्पश्चात् सुल्तान उसकी सैन्य संख्या का अनुमान लगाने के लिए एक ऊँचे स्थान पर गया और उसकी विशालता को देखकर अपने आने पर पछतावा करने लगा। उसने अपना सिर जमीन पर रखकर बड़ी विनयपूर्वक सभी दयाओं के दानी (ईश्वर) से विजय की प्रार्थना की। रात्रि होने पर नन्दा भयातंकित हो गया और अपनी सारी सेना एवं शस्त्रास्त्रों को छोड़कर कुछ चुने हुए साथियों के साथ भाग गया। दूसरे दिन जब सुल्तान ने इसे सुना तो अपने घोड़े पर सवार होकर उन सभी स्थानों को खोजा, जहाँ धोखे से छापा मारने के लिए नन्दा के छिपे होने का उसे सन्देह था। किन्तु जब उसे इस बात का भरोसा हो गया कि धोखे अथवा विश्वासघात का कोई इरादा नहीं है तो उसने

हैं कि महमूद गजनवी और नरोजयपाल अथवा तरोजयपाल का सामना राहिब अर्थात् रामगंगा के किनारे हुआ था। इस सम्बन्ध में देखिए नाजिम, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ९४, फुटनोट ७।

१. स्मिथ ने इस त्रिलोचनपाल की पहचान (जराएसो०, १९०९, पृ० ३७९-८०) कन्नौज के शासक राज्यपाल के पुत्र त्रिलोचनपाल से की, जो सही नहीं प्रतीत होती। फिरिश्ता स्पष्टतः उसे लाहौर या पंजाब का राजा बताता है। ब्रिग्स्, जि० १, पृ० ६३।

२. इब्नुल्-अतहर, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ११६ और आगे।

लूट और विनाश प्रारम्भ कर दिया तथा इस्लाम की सेनाओं के हाथों लूट का विशाल भण्डार लगा[१] ।" किन्तु निजामुद्दीन के इस विवरण की परस्पर विरोधी बातें स्पष्ट हैं । विद्याधर के पास सुल्तान के मन में भय पैदा करने वाली एक विशाल सेना होने तथा स्वधर्म के प्रति उसके महान् आत्मसम्मान का इस बात से कोई मेल नहीं है कि बिना युद्ध किये ही वह भाग गया । यह वर्णन कदाचित् मुसलमान लेखकों के अल्लाह की प्रार्थना की शक्ति में अटूट विश्वास मात्र का परिचायक है और हेमचन्द्र राय (पूर्व-निर्दिष्ट जि० २, पृ० ६९१) प्रभृति विद्वान् इसकी अपेक्षा इब्नुल्-अतहर का विवरण ही अधिक विश्वास्य मानते हैं । उससे यह ज्ञात होता है कि महमूद और विद्याधर के बीच प्रथमतः तो घमासान लड़ाई हुई, किन्तु अपनी सेनाओं को व्यर्थ कटाने के बजाय सम्भवतः दूसरी मोर्चेबन्दी की नियत से विद्याधर रात्रि के अंधेरे में युद्ध का पहला मैदान छोड़कर कहीं अन्यत्र चला गया । कदाचित् इसका कारण यह था कि दोनों पक्षों की सेनाएँ जिस नदी के किनारे थीं, उसका पानी रोककर महमूद ने मैदान को गीला कर दिया, जिससे विद्याधर को महमूद को हराने में अपेक्षाकृत अधिक कठिनाई महसूस हुई और रात्रि में वह दूसरे मैदान की खोज में हट गया, जिसे मुसलमान लेखक भाग जाना मानते हैं । उसे पुनः छेड़ने का महमूद को साहस नहीं था और वह भी गजनी लौट गया । निजामुद्दीन, गर्दीजी और फिरिश्ता के विवरणों से भी स्पष्ट है कि चन्देल सेनाओं के मैदान से हट जाने के बावजूद भी महमूद को इस बात का भय था कि कहीं वह धोखे से उसपर आक्रमण न कर दे और गजनी लौटने के पूर्व वह बराबर उसकी ताक में रहा । ऐसी स्थिति में यह भी स्वीकार्य नहीं प्रतीत होता कि महमूद को ५८० हाथियों सहित लूट के बहुत अधिक सामान मिले ।

महमूद का चन्देलों पर दूसरा आक्रमण : ४१३ हिजरी=१०२२ ई०

सभी साक्ष्यों को एक साथ मिलाकर देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि १०१९-२० ई० का महमूद-विद्याधर युद्ध अनिर्णायक था । मुसलमान इतिहासकार महमूद की विजय का दावा केवल इस नाते करते हैं कि विद्याधर ने अन्य मैदान की तलाश में एक रात पहले मैदान छोड़ते हुए अपनी सेनाएँ प्रत्यावर्तित कर लीं । यह इस बात से भी स्पष्ट है कि विद्याधर से सफलतापूर्वक निपटने के लिए उसने १०२२ ई० में दोबारा उसके राज्य

---

१. पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १२-१३; गर्दीदी, इहिक्वा०, जि० ९; पृ० ९३८-९; किताब जैनुल अखबार, पृ० ७६७ तथा फिरिश्ता (ब्रिग्स् जि० १, पृ० ६३-६४) भी इस अवसर का विवरण निजामुद्दीन के समान ही देते हैं ।

पर चढ़ाई की। निजामुद्दीन कहता[१] है कि पहले तो 'उसने नन्दा के राज्य में स्थित ग्वालियर के किले पर चढ़ाई की जिसके हाकिम'[२] ने ४ दिनों की घेरेबन्दी के बाद ३५ हाथियों की भेंट देकर अपनी रक्षी की प्रार्थना की। तत्पश्चात् महमूद ने अपनी शक्ति और अभेद्यता के लिए सारे हिन्दुस्तान में प्रसिद्ध कालंजर की घेरेबन्दी की, जो बहुत दिनों तक चलती रही। नन्दा ने ३०० हाथियों की अधीनतासूचक भेंट के बदले अपनी रक्षा की प्रार्थना की। उसे यह देखकर बड़ा विस्मय हुआ कि उसने जिन ३०० मतवाले हाथियों को बिना पीलवानों के महमूद की सेना की ओर छोड़ा था, उन्हें तुर्कों ने, महमूद की आज्ञा से, बहादुरी से या तो वश में कर लिया अथवा उनपर सवारी की या एक ओर जाने के लिए विवश कर दिया, जहाँ थोड़ी ही देर में वे काबू में कर लिये गये। उसके बाद नन्दा ने हिन्दी की कविताओं (लुगात-ए-हिन्दुई) में महमूद की प्रशंसायें लिख भेजीं, जिन्हें अपने साथ आये हुए कवियों और हिन्दुस्तान के अन्य विद्वानों को दिखा-दिखाकर सुल्तान महमूद बड़ा प्रसन्न हुआ और नन्दा को बधाइयाँ भेजीं। साथ ही उसने अपनी ओर से अनेक उपहारों के साथ उसे १५ किलों की किलेदारी (नायकत्त्व) का अधिकार दिया। नन्दा ने भी बहुमूल्य रत्नों सहित बहुत धन-सम्पत्ति सुल्तान की स्वीकृति के लिए भेजी। उस स्थान से सुल्तान विजयी होकर गजनी लौटा।'

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि महमूद कालंजर का किला बहुत दिनों तक घेरे रहने के बावजूद भी अपनी सैनिक शक्ति से जीत नहीं सका और चन्देलों के विरुद्ध दोनों युद्धों में उसे वैसी सफलताएँ नहीं हाथ लगीं, जैसी कन्नौज के विरुद्ध अथवा उसके पूर्व वह प्राप्त कर सका था। यह निश्चित प्रतीत होता है कि मुसलमान इतिहासकारों के वे

---

१. तबकाते-अकबरी, अंग्रेजी अनुवाद, पृ० १४; फिरिश्ता (ब्रिग्स्, जि० १, पृ० ६६-७) और गर्दीजी (किताब-जैनुल-अखबार, पृ० ७९-८०) भी इस अवसर का प्रायः निजामुद्दीन जैसा ही विवरण देते हैं। किन्तु फिरिश्ता कहता है कि नन्दा (विद्याधर) ने महमूद को अनेक भेंटों के साथ जजिया देना भी स्वीकार किया। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि ब्रिग्स् ने फिरिश्ता के अनुवाद में महमूद के कालंजर घेरे का समय ४१४ हिजरी=१०२३ ई० दिया है, जो गलत है। वह ४१३ हिजरी ही होना चाहिए। दे० हेमचन्द्र राय, पूर्वनिर्दिष्ट, जि० २, पृ० ६९२ नोट।

२. हाकिम का अर्थ होता है 'गवर्नर' अथवा नायक (सेनापति)। ग्वालियर के दुर्ग का यह नायक चन्देलों का कोई कच्छपघात सामन्त था। डॉ० हेमचन्द्र राय (डाहिनाइ०, जि० २, पृ० ८२४-५) और डॉ० शिशिर कुमार मित्र (दे०, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ८१) ने उसकी पहचान सासबहू अभिलेख के कीर्त्तिराज से की है।

कथन अतिरंजित है कि विद्याधर ने महमूद को ३०० हाथियों की भेंट उसके प्रति अधीनता की स्वीकृति स्वरूप दी थी अथवा महमूद विजयी होकर गजनी लौटा। उनके ये उल्लेख औपचारिक रूप से महमूद की प्रशंसाएँ मात्र हैं। स्मिथ का कथन[1] मुसलमान साक्ष्यों से भी प्रमाणित नहीं है कि 'विद्याधर ने राज्यपाल को तो उसकी कायरता के लिए मार डाला, किन्तु स्वयं भी उतना ही हिम्मतहीन निकला और इस्लाम के कठोर लड़ाकों के सामने अपना हृदय कड़ा न कर सका।' बिना महावत वाले मतवाले हाथियों को महमूद के खेमे में छोड़कर विद्याधर वास्तव में चुनौती देते हुए उसकी वीरता की परीक्षा लेना चाहता था। पुनः, उसके और महमूद के बीच पारस्परिक प्रशंसाओं, बधाइयों और उपहारों का आदान-प्रदान यह नहीं सूचित करता कि विद्याधर हारा था। सही तो यह है कि युद्ध हुआ ही नहीं और दोनों ने एक दूसरे की शक्ति का अनुमान लगाकर मित्रता कर ली, जिसे सम्बद्ध मुसलमानी साक्ष्यों में बढ़ा-चढ़ाकर महमूद की विजय कहा गया है। विद्याधर के जीवन की यह सबसे बड़ी सफलता थी कि जहाँ महमूद के विजयी धावों की आँधी में भारत के सभी राजे-महाराजे उड़ गये, वह अकेला स्तम्भ की तरह खड़ा रहा और तुर्क उसके गढ़ कालंजर में चन्देलों की शक्ति का भेदन न कर सके।[2]

विद्याधर की राजनीतिक प्रतिष्ठा

महमूद की लुटेरू और धर्मपरिवर्तिनी तलवार को सफलतापूर्वक रोकने से विद्याधर की प्रतिष्ठा सारे उत्तरी भारत के राजाओं पर स्थापित हो गयी। पीछे हम देख चुके हैं कि ग्वालियर का कच्छपघात वंश वज्रदमन के समय से ही चन्देलों (धंग) की अधिसत्ता स्वीकार करता था तथा दूबकुण्ड के अर्जुन ने विद्याधर की आज्ञा से राज्यपाल का बधकर अपने को गौरवान्वित माना था। तदुपरान्त प्रतीहारराज त्रिलोचनपाल भी चन्देलों की प्रभुसत्ता स्वीकार चुका था। यही नहीं, विद्याधर की अधिसत्ता गंगा-यमुना दोआब के ऊपरी भागों से आगे जाकर पंजाब के निचले हिस्सों के शाही शासक त्रिलोचनपाल पर भी व्याप्त हो गयी। किन्तु यह स्पष्टरूप से ज्ञात नहीं है कि महमूद के

---

१. जराएसो०, १९०९, पृ० ३७९।

२. इस सम्बन्ध में देखिए, र० चं० मजुमदार, ऐंश्येण्ट इण्डिया पृ० ३५१; हेमचन्द्र राय, पूर्वनिर्दिष्ट, जि० २, पृ० ६९२-३। वास्तव में महमूद और विद्याधर अपने शेष जीवन भर मित्र बने रहे और महमूद ने १०२९ ई० में सेलजुक (शत्रु) के एक लड़के को कैदी बनाकर भारत में कालंजर के किले में बन्द करने के लिए भेजा, जो वहाँ सात वर्षों बाद कैदी के रूप में ही मर गया। दे० ब्राउन, लिटरेरी हिस्ट्री ऑफ् परशिया, पृ० १७०; मुहम्मद इकबाल, राहत-उस्-सदूर, पृ० १०३।

विरुद्ध मोर्चेबन्दियों के अतिरिक्त विद्याधर का किसी और सत्ता से कोई युद्ध हुआ था या नहीं। सासबहू अभिलेख से यह अवश्य ज्ञात होता[१] है कि उसके ग्वालियर स्थित कछवाहा वंश के सामन्त कीर्त्तिराज ने 'मालवभूमिप की असंख्य सेनाओं को हराया।' इस 'मालवभूमिप[२] की पहचान प्रायः भोज परमार से की जाती है जो स्वयं भी एक अत्यन्त शक्तिशाली शासक था। किन्तु यह कह सकना कठिन है कि कीर्त्तिराज की यह विजय किसी आक्रमणात्मक युद्ध में हुई अथवा प्रतिरक्षात्मक[३] युद्ध में। तथापि यह अत्यन्त सम्भव है कि भोज के विरुद्ध युद्ध में विद्याधर अपने कच्छपघात सामन्त कीर्त्तिराज की विजय में सहायक रहा हो।[४] ऐसी स्थिति में भोज विद्याधर की शक्ति से अवश्य भयभीत रहा होगा। एक चन्देल अभिलेख[५] कहता है कि 'भोजदेव और कलचुरिचन्द्र भयभीत होकर युद्धकला के आचार्य (विद्याधर) की शिष्य की भाँति पूजा करते थे।' यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि विद्याधर के रहते भोज को उत्तर दिशा में कोई भी सफलता नहीं प्राप्त हुई। यही स्थिति चन्देल क्षेत्रों के दक्षिण-पूर्व में शासन करने वाले कलचुरि राजाओं की भी थी। विद्याधर की पूजा करने वाले उपर्युक्त अभिलेख के 'कलचुरिचन्द्र' की पहचान लेख के सम्पादक ने (एइ०, जि० १, पृ० २१९) त्रिपुरी के शासक द्वितीय कोक्कल्ल से की। किन्तु अब यह प्रायः सर्वमान्य सा हो गया[५] है कि यह कलचुरिचन्द्र गांगेयदेव था, जिसका एक अभिलेख कलचुरि सं० ७७२=१०१९ ई० का प्राप्त हुआ है। इससे यह स्पष्ट लगता है कि विद्याधर के चन्देल राजगद्दी पर बैठने के समय गांगेयदेव कलचुरि राज्य का स्वामी हो चुका था। गांगेयदेव के उपर्युक्त अभिलेख में उसे **महाराज महार्ह महामहत्तक** की उपाधियाँ दी गयी हैं, जिनसे यह प्रमाणित होता है कि वह तब तक सम्राट् पद का दावा नहीं करता था। इस आधार पर डॉ० मिराशी का मत[६] है कि '१०१९ ई० में गांगेयदेव चन्देल सम्राट् गण्ड की अधीनता की स्थिति स्वीकार करता था।' सभी साक्ष्यों को एक साथ मिलाकर देखने पर यह प्रतीत होगा कि गांगेयदेव गण्ड की नहीं, अपितु विद्याधर की अधिसत्ता स्वीकार करता रहा होगा।

---

१. इऐ०, जि० १५, पृ० ३६, श्लोक १०।

२. डॉ० धी० चन्द्र गांगुली का विश्वास (हिस्ट्री ऑफ् दि परमार डायनेस्ट्री, पृ० १०३-६) है कि भोज ने चन्देल राज्य पर दो असफल आक्रमण किये थे।

३. हेमचन्द्र राय, डाहिनाइ० जि० २, पृ० ८२४-८२५।

४. एइ० जि० १, पृ० २१९, श्लोक २२।

५. दे० धी० च० गांगुली, हिस्ट्री ऑफ् दि परमार डायनेस्टी, पृ० १०४, पादटिप्पणी; चि० वि० वैद्य, डाउनफाल ऑफ् हिन्दू इण्डिया, पृ० १८०।

६. ऐनल्स् ऑफ् दि भण्डारकर ओरियन्टल् रिसर्च इन्स्टीट्यूट, जि० २१, पृ० २९६।

ऊपर के विवरणों से यह स्पष्ट हो गया होगा कि विद्याधर अपने समय का सर्वप्रमुख उत्तरभारतीय शासक था, जो प्रत्येक अर्थ में सम्राट् कहलाने का पूर्ण अधिकारी था। किन्तु दुर्भाग्य यह है कि उसके महान् चरित का परिचय देने वाला कोई निजी अभिलेख अब तक नहीं प्राप्त हो सका है। जैसे उसके राजत्त्व की प्रारम्भिक तिथि के बारे में मुसलमान लेखकों के विभिन्न साक्ष्यों से हम अनुमान मात्र लगाते हैं, उसी तरह उसकी अन्तिम तिथि के बारे में भी कोई निश्चित ज्ञान नहीं प्राप्त है। विद्वान् लोग प्राय: उसकी मृत्यु तिथि १०२९ ई० स्वीकार करते हैं।

चन्देल सत्ता का क्षीण युग : विजयपाल से पृथ्वीवर्मा तक

विजयपाल : (लगभग १०३०-१०५० ई०)

विद्याधर के पुत्र विजयपाल के समय चन्देलों की सत्ता शिथिल और संकुचित होने लगी। यद्यपि उसका शासन लगभग बीस वर्षों का था, उसका कोई निजी अभिलेख नहीं मिलता और उसके उत्तराधिकारियों के अभिलेखों[१] में उसकी केवल रस्मी प्रशंसाएँ की गयीं हैं। चन्देलों के दुर्भाग्य से वह ऐसे समय शासक हुआ था, जब गांगेयदेव (१०१९-१०४१ ई०) के नेतृत्त्व में त्रिपुरी का कलचुरिवंश और भोज (१०१०-१०५५ ई०) के नेतृत्त्व में अवन्ति का परमारवंश अपने दिग्विजय-व्यापार में लगकर अपनी-अपनी श्री और सीमाओं की वृद्धि कर रहे थे। जो गांगेयदेव विद्याधर की अधिसत्ता स्वीकार करता था, वही अब **विक्रमादित्य** की उपाधि धारण कर कीर, अंग, उत्कल और कुन्तल की विजयों में सफल हो रहा था।[२] गांगेयदेव के बारे में चन्देलों से सम्बन्ध रखने वाला सर्वप्रमुख उल्लेख यह[३] है कि उसने प्रयाग में अक्षयवट के नीचे अपना निवास जमाया। मुसलमान लेखक वैहकी कहता[४] है कि लाहौर के प्रथम महमूद के सेनापति अहमद नियाल्तगीन ने जब १०३३-३४ ई० में बनारस पर आक्रमण किया तो वह गंग के अधिकार में था। इस गंग की पहचान गांगेयदेव से ही की जाती है। किन्तु

---

१. महोबा का खण्डित अभिलेख, एइ०, जि० १, पृ० २१९, श्लोक २३-६; कीर्तिवर्मा का देवगढ़ शिलालेख, इऐ०, जि० १८, पृ० २३८; एइ० जि० १, पृ० १९८, श्लोक ६।

२. देखिए, एइ० जि० ११, पृ० १४३, श्लोक १७।

३. गांगेयदेव का प्यावाँ अभिलेख, आसरि०, जि० २१, पृ० ११२-११३; यश:कर्ण का जबलपुर ताम्रपत्राभिलेख, एइ०, जि १२, पृ० २११; जिल्द २, पृ० ४, श्लोक १२।

४. तारीखे-बैहकी, मोर्ले द्वारा सम्पादित, पृ० ४९७; इलियट् ऐण्ड डाउसन्, जि० २ पृ० १२३।

पीछे हम देख चुके हैं कि प्रयाग और काशी के तीर्थक्षेत्र यशोवर्मा से प्रारम्भकर विद्याधर तक चन्देलों के अधिकार में थे। निश्चय ही गांगेयदेव ने इन्हें विजयपाल से जीता होगा। कलचुरि-चन्देल संघर्ष की सूचना महोबा के एक अभिलेख से भी मिलती है। उसकी यह अतिशयोक्ति है कि 'विश्वविजय करने वाले (जितविश्व) गांगेयदेव के हृदयकमल की पंखुडियाँ भयोत्पादक विजयपाल को युद्ध में देखकर बन्द हो गयीं[१]।' वास्तविकता यह प्रतीत होती है कि गांगेयदेव ने ही कलचुरि राज्य को उत्तरपश्चिम में चन्देलों की राजधानी महोबा के पास तक के क्षेत्रों तक विस्तृत कर लिया था।

विजयपाल की शान्तिप्रियता का प्रभाव एक दूसरी दिशा में भी पड़ा। ग्वालियर के कच्छपघात चन्देलों की अधिसत्ता से कदाचित् मुक्त होने का प्रयत्न करने लगे। सास-बहू अभिलेख[२] में कीर्त्तिराज के पुत्र मूलदेव को **भुवनपाल** और **त्रैलोयक्यमाल** जैसी उपाधियाँ दी गयी हैं और यह कहा गया है कि उसका शरीर चक्रवर्ती सम्राट् के चिन्हों से युक्त था। इससे यह निष्कर्ष निकाला गया[३] है कि वह चन्देलों की अधिसत्ता से स्वतन्त्र होने के प्रयत्न में लगा हुआ था। दूबकुण्ड का कच्छपघातवंशी राजा अर्जुन विद्याधर का सामन्त रह चुका था। किन्तु उसके पुत्र अभिमन्यु ने विजयपाल का कमजोर कन्धा छोड़कर मालवा के परमार राजा भोज का पल्ला पकड़ लिया। उसके बारे में दूबकुण्ड अभिलेख में कहा[४] गया है कि 'अत्यन्त बुद्धिमान राजा श्री भोज ने घोड़ों और रथों की चमत्कारी व्यवस्था में उसकी निपुणता का विस्तृत गुणगान किया'। साथ ही यह भी कथित है कि अर्जुन 'अन्य राजाओं को तृण के समान भी नहीं समझता था।' इस सन्दर्भ के भोज को परमारराज भोज से मिलाया जाता है और इस आधार पर यह माना गया है कि जहाँ अर्जुन ने विद्याधर की अधिसत्ता स्वीकृत की थी, वहीं उसके पुत्र अभिमन्यु ने विजयपाल के कमजोर शासन के समय भोज के अधीन परमारों की विकासमान सत्ता को अपना स्वामी स्वीकार कर लिया।

देववर्मा (लगभग १०६० ई०)

विजयपाल का पुत्र देववर्मा उसका उत्तराधिकारी हुआ। उसके दो अभिलेख[५]

---

१. एइ० जि० १, पृ० २२२, श्लोक २४।
२. इऐ०, जि० १५, पृ० ३६-४२, श्लोक १२-१३।
३. डाहिनाइ० जि० २, पृ० ८२५; निमाइसधन बोस, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ६९; शिशिर-कुमार मित्र, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ९०।
४. एइ०, जि० २, पृ० २३३।
५. नन्यौरा अभिलेख, इऐ०, जिल्द १३, पृ० २०५-७; चरखारी अभिलेख, एइ० जि० २०, पृष्ठ १२५-२८।

प्राप्त हुए हैं। किन्तु आश्चर्य यह है कि इस **कालंजराधिपति** का नाम तक उसके वंशजों के सभी अभिलेखों में नहीं मिलता और कीर्त्तिवर्मा को सीधे विजयपाल का उत्तराधिकारी (तत्पादानुध्यात्) बताया गया है। ऐसा कदाचित् इस कारण हुआ कि देववर्मा के समय चन्देलों की सत्ता सर्वाधिक क्षीण हो गयी और इसी कारण लज्जावश उसका नाम आगे के अभिलेखों में नहीं लिया गया। यह भी असम्भव नहीं है कि कलचुरि राजा कर्ण से उसके हारने के बाद उसे अपदस्थकर उसके छोटे भाई कीर्त्तिवर्मा ने चन्देल राजगद्दी हथिया ली हो और अपने अभिलेखों में उसके नाम का उल्लेख न किया हो। विजयपाल और देववर्मा के समय चन्दलों के पराभव का मुख्य कारण कर्ण के नेतृत्त्व में डाहल के कलचुरियों की साम्राज्यवादी सत्ता का उत्कर्ष था। वह अपने पिता गाँगेयदेव से भी अधिक शक्तिशाली और बड़ा विजेता सिद्ध हुआ, जिसे बिल्हण अपने **विक्रमांकदेव-चरित**[1] में कालंजरगिरि के राजा के लिए काल' (कालःकालंजरगिरिपतेर्यः) की संज्ञा देता है। स्वयं चन्देलों के अधीन लिखे गये कृष्णमिश्र के **प्रबोधचन्द्रोदय** नामक नाटक में भी कहा गया है कि चेदिराजा ने 'चन्द्र राजाओं का वंश उखाड़ फेंका'।[2] वहाँ कर्ण को सभी राजकुलों के लिए प्रलयंकारी काल, अग्नि और रुद्र के समान बताया गया है। आगे चलकर हम देखेंगे कि कीर्त्तिवर्मा ने चन्देल सत्ता के इस दुर्दिन का अन्त किया।

कीर्त्तिवर्मा (लगभग १०६०-११०० ई०)

लगभग १०६० ई० में देववर्मा का छोटा भाई कीर्त्तिवर्मा चन्देल राजगद्दी पर आसीन हुआ। देववर्मा को या तो कोई पुत्र नहीं था अथवा यदि था भी तो देववर्मा के सामने ही मर चुका था।[3] यह भी सम्भव है कि कीर्त्तिवर्मा ने उत्तराधिकार के लिए युद्ध किया हो और देववर्मा अथवा उसके पुत्र से राज्याधिकार छीन लिया हो।[4] जो भी हो,

---

१. ब्लूलर द्वारा सम्पादित, १८वाँ, ९३।

२. यतः सकलभूपालकुलप्रलयंकालाग्निरूद्रेण चेदिपतिना समुन्मूलित चन्द्रान्वय-पार्थिवानाम्। प्रबोधचन्द्रोदय (निर्णयसागर प्रेस), पृ० १९; डॉ० निमाइ सधन बोस (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ७२, ७४) देववर्मा पर कर्ण की विजय का समय १०५१ ई० मानते हैं।

३. इस सम्बन्ध में देखिए, कनिंघम्, आसरि०, जि० १०, पृ० २४; जएसो०, बेंगाल १८८४, पृ० ३१७ और ३१९। वहाँ एक ऐसे चन्देल राजकुमार की जानकारी होती है जो कर्ण की सेनाओं से लड़ा था। हो सकता है, वह देववर्मा का पुत्र हो।

४. देखिए जयदेव, प्रबोधचन्द्रोदय पर शोध पुस्तक (अप्रकाशित, किन्तु डॉ० निमाइ सधन बोस द्वारा उद्धृत पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ७२, पादटिप्पणी २९।

राजाओं के सैन्य समुद्र का मंथन कर राज्यलक्ष्मी वैसे ही अपने वश में कर ली, जैसे 'मधुमंथक (विष्णु) ने समुद्र मंथन द्वारा लक्ष्मी पायी थी ।' स्पष्ट है कि कीर्त्तिवर्मा के दिग्विजय-व्यापार में संलग्न गोपाल को चन्देल राज्यक्षेत्रों से कर्ण की सेनाओं को निकालने हेतु एक बड़े मोर्चे में अद्‌भुत सैनिक प्रतिभा दिखानी पड़ी थी, जिससे कीर्त्तिवर्मा उसपर अत्यन्त प्रसन्न था और कदाचित् अपने को उपकृत भी मानता था । युद्ध इतना कठोर था कि 'उसके कठोर कुठार ने अबला, बाल और वृद्ध किसी को नहीं छोड़ा ।' स्पष्ट है कि दाँव इतना ऊँचा था कि विजयहेतु युद्धनीति भी ताख पर रख दी गयी । चन्देलों ने कर्ण के विरुद्ध सफलता के लाभस्वरूप बिलहरी नगर पर अधिकार कर लिया, जो मदनवर्मा के समय तक बना रहा[१] ।

यह गोपाल की अकेली उपलब्धि नहीं प्रतीत होती । उसने चन्देल-सामन्तों को वशीभूत किया, कीर्त्तिवर्मा को खोयी हुई प्रतिष्ठा दिलायी और उसके लिए 'साम्राज्य का संयोजन किया ।'[२] यहाँ यह प्रश्न उठता है कि कीर्त्तिवर्मा-कर्ण युद्ध कब हुआ था । कर्ण की अन्तिम तिथि १०७२ ई० ज्ञात है और कीर्त्तिवर्मा की पहली तिथि १०६० ई० स्वीकृत है । अतः युद्ध इन दोनों तिथियों के बीच ही कभी हुआ होगा । चन्देलों की तैयारियों के लिए कुछ समय आवश्यक रहा ही होगा । अतः उसका समय १०६४ ई० के आसपास रखा जा सकता है ।

चेदिराज पर कीर्त्तिवर्मा के विजय सम्बन्धी **प्रबोधचन्द्रोदय** के उल्लेखों का समर्थन चन्देल अभिलेखों[३] से भी होता है । किन्तु दोनों साक्ष्यों में एक बड़ा भारी वैषम्य यह है कि जहाँ कृष्णमिश्र विजय का सारा श्रेय गोपाल को देता है, वहाँ अभिलेखों में यह श्रेय कीर्त्तिवर्मा को दिया गया है । किन्तु अभिलेखों की शब्दावली **प्रबोधचन्द्रोदय** की युद्ध विवरण-सम्बन्धी शब्दावली से इतनी मिलती-जुलती है कि यह स्पष्ट है कि सम्बद्ध अभिलेखों के लेखयिताओं और लेखकों को उस नाटक का ज्ञान[४] था । उनमें 'प्रजेश्वर

---

१. इऐ०, जि० ३७, पृ० १४३-१४४ ।

२. साम्राज्यकीर्त्तिवर्मा नरपतिर्तिलको येन भूयोऽभ्यषेचि । प्रबोधचन्द्रोदय, प्रथम, ४ ।

३. वीरवर्मा का अजयगढ़ प्रस्तर अभिलेख, एइ०, जि० १, पृ० ३२७, ३२९, श्लोक ३; महोबा अभिलेख, एइ०, जि० १, पृ० २१९, २२२, श्लोक २६ ।

४. महोबा अभिलेख (श्लोक २६) में पुरुषोत्तम द्वारा समुद्रमंथन से लक्ष्मी और दिग्गजों की प्राप्ति की तुलना कीर्त्तिवर्मा द्वारा अपनी शक्तिशाली बाहुओं से दर्पशील कर्ण की पराजय (मंथन) से 'श्री' अर्थात् राज्यलक्ष्मी और गजों के पाने से की गयी है । प्रायः ऐसा ही प्रबोधचन्द्रोदय में भी कथित है ।

इतना निश्चित है कि कीर्त्तिवर्मा के राजगद्दी पर आने के समय चन्देल राज्य अनेक विपत्तियों से गुजर रहा था। चेदिराज कर्ण ने देववर्मा को या तो अपदस्थ कर दिया था अथवा मार डाला[१] (कालः कालंजरगिरिपतेर्यः) था और उस विपत्ति से चन्देल राज्य को उबारना सर्वप्रमुख समस्या थी। कीर्त्तिवर्मा इसी कार्य के लिए चन्देल इतिहास में प्रसिद्ध है। हमें इस सम्बन्ध की जानकारियाँ कीर्त्तिवर्मा के सामन्त गोपाल की प्रशंसा में कृष्णमिश्र द्वारा लिखे गये **प्रबोधचन्द्रोदय** नामक नाटक के उपोद्घात और कुछ चन्देल अभिलेखों से होती हैं, जो एक दूसरे के समर्थक और पूरक हैं।

प्रबोधचन्द्रोदय में चेदि आक्रमण (कर्णसेनासागरम्) का जो स्वरूप खींचा गया है, उससे जान पड़ता है कि चन्देलों के लिए वह अत्यन्त विनाशक और आपत्तिपूर्ण सिद्ध हुआ था। 'प्रलयंकारी काल, अग्नि और रुद्र के समान' कर्ण के मुकाबले में कीर्त्तिवर्मा के गोपाल नामक **सकलसामन्तचक्रचूड़ामणि, सहजमित्र** के भगीरथ प्रयत्नों की प्रशंसा उस नाटक में मुक्तकण्ठ से की गयी है। साथ ही सूत्रधार और नटी के माध्यम से यह भी स्पष्ट किया गया है कि स्वयं कीर्त्तिवर्मा उस नाटक का अभिनय देखने को लालायित था और गोपाल ने उसके अभिनय की आज्ञा दी। उससे यह निष्कर्ष निकाला गया[२] है कि कलचुरि सेनाओं को परास्तकर चन्देलसत्ता के पुनर्स्थापन का जो श्रेय गोपाल को दिया गया है, वह वास्तविक तथ्यों पर आधृत था और गोपाल की प्रशंसाओं को अपने ही कानों सुनने में कीर्त्तिवर्मा को कोई आपत्ति नहीं थी। साधारणतः विद्वान् लोग गोपाल को कीर्त्तिवर्मा का कोई प्रमुख सामन्त स्वीकार करते हैं। **प्रबोधचन्द्रोदय** (निर्णयसागर प्रेस, पृ० १२, टिप्पणी) का टीकाकार नाण्डिल्लगोपप्रभु गोपाल को राजा कहता है। डॉ० शिशिरकुमार मित्र (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ९८-९) ने गोपाल को कीर्त्तिवर्मा का चचेरा भाई (अथवा उसी प्रकार का अन्य कोई भाई) माना है। चाहे वह जो भी रहा हो, गोपाल ने चेदिराज कर्ण द्वारा उपस्थित विपत्ति के प्रतिवारण के लिए भरपूर तैयारियाँ कीं और चन्देल सेनाओं का सामन्तों की सेनाओं के साथ एक बृहद् संघ बनाया। उसकी तुलना विष्णु के नृसिंह और वराहावतारों से की गयी है तथा इस बात के लिए उसकी प्रशंसा की गयी है कि उसने 'विनाश के समुद्र में गिरी हुई पृथ्वी' का उद्धार किया तथा वह प्रलयंकारी काल, अग्नि और रुद्र स्वरूप कलचुरि कर्ण द्वारा समूलुन्मूलित चन्द्रवंश' की पुनर्स्थापना के लिए क्रोधित हो उठा। उसकी सेना ने कर्ण और अन्य शत्रु-

---

१. हेमचन्द्र राय, डाहिनाइ०, जि० २, पृ० ६९८।

२. हेमचन्द्र राय, डाहिनाइ०, जि० २, पृ० ६९७, पादटिप्पणी ३। किन्तु हूल्ट्ज् (एइ०, जि० १, पृ० २२०) और स्मिथ (इऐ०, जि० १८, पृ० १४३) ने गोपाल को कीर्त्तिवर्मा का ब्राह्मण सेनापति माना, जिसका कोई आधार नहीं है।

जयवर्मा (लगभग १११५-११२० ई०)

सल्लक्षणवर्मा का पुत्र और उत्तराधिकारी जयवर्मा था। उसने धंग के खजुराहो अभिलेख (वि० सं० १०५९) को अपने परिशिष्ट सहित वि० सं० ११७३=१११७ ई० में 'साफ अक्षरों में' प्रकाशित किया। किन्तु उससे उसके इतिहास की कोई विशेष बात नहीं ज्ञात होती। उसे गोविन्द्रचन्द्र गाहडवाल का दबाव बर्दाश्त करना पड़ा, जिसका छतरपुर से वि० सं० ११७७=११३० ई० का एक अभिलेख प्राप्त हुआ है। स्पष्ट है कि गोविन्दचन्द्र ने उन प्रदेशों को जयवर्मा से जीत लिया था। ललितपुर जिले में स्थित दुधई से प्राप्त १२वीं शती का एक अन्य अभिलेख भी गाहडवालों का दक्षिण-पश्चिम की ओर बढ़ाव प्रकट करता है[१]।

पृथ्वीवर्मा (लगभग ११२०-११२९ ई०)

जयवर्मा कदाचित् अपुत्रक[२] था और उसके बाद उसका चचा पृथ्वीवर्मा (सल्लक्षणवर्मा का सहोदर भाई) राजा हुआ। मदनवर्मा का मह्‌ू प्रस्तराभिलेख (एइ०, जि० १, पृ० १९८, श्लोक १३) मात्र उसकी कुछ गतानुगतिक प्रशंसाएँ करता है। यह प्रतीत होता है कि वह एक कमजोर शासक था, जिसमें महान् राजाओं की कोई योग्यता नहीं थी।

मदनवर्मा (लगभग ११२९-११६३ ई०) और चन्देल सत्ता का क्षणिक पुनरुत्थान

पृथ्वीवर्मा का पुत्र मदनवर्मा चन्देलवंश के अनेक महान् शासकों में एक था। चन्देल राज्य के विभिन्न भागों से पाये जाने वाले उसके समय के लगभग १५ अभिलेख, लगभग एक दर्जन सोने के सिक्के तथा चालीस से अधिक चाँदी के सिक्के उसकी राजनीतिक प्रतिष्ठा और आर्थिक समृद्धि प्रकाशित करते हैं। उसकी विशेषता इस बात से प्रमाणित है कि गोविन्दचन्द्र गाहडवाल (१११४-११५४ ई०) तथा जयसिंह **सिद्धराज** चौलुक्य (१०९४-११४२ ई०) जैसे समकालिक विजेताओं ने भी उसकी ओर आँख उठाने का साहस नहीं किया। चेदियों और परमारों की पतनोन्मुख सत्ताओं का तो कहना ही क्या ? यदि चन्देल अभिलेखों का साक्ष्य अतिरंजित न स्वीकार किया जाय तो यह प्रतीत होगा कि मदनवर्मा उन समकालिक महान् शासकों से भी बढ़-चढ़कर था।

उपलब्ध नहीं हुआ। डॉ० निमाइ सधन बोस पूर्वनिर्दिष्ट, ८१-२) का विचार है कि सल्लक्षणवर्मा ने चन्द्रदेव गाहडवाल का दक्षिणी बढ़ाव रोकने का प्रयत्न किया था और उसे अन्तर्वेदि में कोई सफलता न मिली।

१. देखिए, आसरि०, १९३६-७, पृ० ९३।

२. इऐ०, १९०८, पृ० १४७।

कीर्त्तिवर्मा' की 'नूतनराज्यसृष्टि' के लिए प्रशंसा की गयी है, जिससे स्पष्ट है कि कर्ण को हराकर उसने मानो नये सिरे से अपने वंश की राजप्रतिष्ठा प्राप्त की। अतः दोनों साक्ष्यों में परस्पर कोई भेद नहीं जान पड़ता। अभिलेखों में गोपाल की जगह विजय का श्रेय एकमात्र कीर्तिवर्मा को दिये जाने का कारण कदाचित् यह था कि वे उसके शासन के अन्त के लगभग ५० वर्षों अथवा उसके और बाद उसके उत्तराधिकारियों द्वारा लिखाये गये थे, जब गोपाल जीवित नहीं था और उसकी कीर्त्ति धूमिल पड़ गयी थी।

सल्लक्षणवर्मा (लगभग ११००-१११५ ई०)

कीर्त्तिवर्मा का पुत्र सल्लक्षणवर्मा अथवा हल्लक्षणवर्मा[१] चन्देलवश का अगला शासक हुआ। यद्यपि उसका कोई निजी अभिलेख नहीं प्राप्त हुआ है, बाद के चन्देल अभिलेखों से उसके बारे में जानकारियाँ उपलब्ध होती हैं। उनसे यह स्पष्ट है कि उसके समय चन्देल प्रशासन में न तो कोई ढीलाई आयी और न उसकी राज्य सीमाओं में ही कोई ह्रास हुआ। मदनवर्मा के महू प्रस्तराभिलेख (एइ०, जि० १, पृ० १९८) से यह ज्ञात होता है कि सल्लक्षणवर्मा ने 'कण्टकशोधन' का कार्य सफलतापूर्वक सम्पादित किया, जिसका कौटिल्य के **अर्थशास्त्र** के आधार पर यह अर्थ लगाया जाना चाहिए कि उसके समय शान्ति व्यवस्था और दण्डन्याय का प्रबन्ध उत्तम था। वीरवर्मा के अजयगढ़ अभिलेख से यह भी सूचना मिलती है कि सल्लक्षणवर्मा ने 'मालव और चेदि लक्ष्मियों को लूटने वाली तलवार धारण की।'[२] लगता है कि उसने मालवा और चेदि राज्यों पर धावे बोले थे। किन्तु इनका कोई निश्चित परिणाम हुआ, ऐसा नहीं प्रतीत होता। मदनवर्मा का महू प्रस्तराभिलेख (एइ०, जि० १, पृ० १९७ और आगे, श्लोक ३८-९) सल्लक्षणवर्मा के बारे में यह बताता है कि उस समय गंगा-यमुना का दोआब (अन्तर्वेदि) राजनीतिक दृष्टि से अत्यन्त अस्तव्यस्त था और वहाँ राष्ट्रकूटों की कुछ छोटी-छोटी शाखाओं ने अधिकार कर लिया था। साथ ही चन्द्रदेव के नेतृत्त्व में गाहडवालों की सत्ता भी वहाँ स्थापित हो रही थी। किन्तु यह ठीक-ठीक कह सकना बड़ा कठिन है कि सल्लक्षणवर्मा के इस उत्तर-पूर्वी दबाव[३] अथवा धावे का शिकार कौन था। अनेक विद्वानों की धारणा है कि चन्देलों को उत्तर में कोई सफलता नहीं मिली।

---

१. कनिंघम्, क्वायन्स् ऑफ् मेडिवल् इण्डिया, पृ० ९; आसरि०, जि० २, पृ० ४५८-९।

२. सल्लक्ष्मणमालवचेदिलक्ष्मीलुण्ठकखंगः। एइ० जि० १, पृ० ३२७; श्लोक ४।

३. कनिंघम् के मत (आसरि०, जि० २, पृ० ४५३) में यह धावा मात्र था। डॉ० हेमचन्द्र राय (डाहिनाइ०, जि० २, पृ० २७२) का विश्वास है कि इस धावे का लक्ष्य कन्नौज का राष्ट्रकूट वंशी गोपाल था, किन्तु चन्देलों को इससे कुछ भी

और इन्हीं में किसी एक को उसने 'समुन्मूलित' किया। इनमें से प्रथम दो राजाओं की सारी शक्ति चौलुक्यराज जयसिंह से ही लड़ने में समाप्त हो गयी थी[१]। चाहे वह हारा हुआ परमार राजा जो भी हो[२], मदनवर्मा के अनेक अभिलेख ऐसे स्थानों में मिले हैं अथवा ऐसे स्थानों में उसके दान देने की चर्चा करते हैं, जो पहले परमार राज्य में शामिल थे[३]। उदाहरण के लिए उसने अपना औगसी (बाँदा जिला) दानपत्र भैल्लस्वामिन् (भिलसा) के शिविर से प्रकाशित किया (इऐ०, जि० १६, पृ० २०२ और आगे)। पदमर्दिन् के सेमरा अभिलेख से ज्ञात होता है कि ११६२ ई० में मदनवर्मा ने वारिदुर्ग (आधुनिक वारिगार) में निवास करते हुए झाँसी जिले के बडवारि तथा ललितपुर जिले के दुधई नामक गाँवों का दान किया था। इनसे प्रतीत होता है कि मदनवर्मा का अधिकारक्षेत्र बेंतवा को पारकर काली सिन्धु के निचले काँठों वाले परमार क्षेत्र तक पहुँच गया था।

उत्तरपूर्व में चन्देलों एवं पश्चिम में चौलुक्यों की दो चक्कियों में परमारों के पिस जाने का परिणाम यह हुआ कि मदनवर्मा और जयसिंह **सिद्धराज** द्वारा विजित क्षेत्र आपस में टकराने की स्थिति में आ गये। उन दोनों के बीच संघर्ष की चर्चाएँ गुजरात के जैन ग्रन्थों में कई जगह मिलती हैं। **कीर्तिकौमुदी** का उल्लेख[४] है कि मालव राजधानी धारा की विजय करता हुआ जयसिंह **सिद्धराज** कालंजर तक पहुँच गया। किन्तु **कुमारपालभूपालचरित**[५] में इंगित है कि उस चौलुक्यराज को वहाँ से बिना किसी उपलब्धि के मदनवर्मा से संधि कर वापस लौटना पड़ा। यह स्थिति कालंजर अभिलेख के इस कथन से पूरी प्रकार मेल खाती है कि 'क्षणमात्र में मदनवर्मा ने वैसे ही गुजरेश को हरा दिया[६] जैसे कृष्ण ने कंस को हराया था'।

---

१. प्रबन्धचिन्तामणि, टॉनी का संस्करण, पृ० ८५ आगे; द्राश्रयकाव्य, इऐ०, जि० ४, पृ० २६६; धी० चं० गांगुली, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ०१६७–८।

२. डॉ० गांगुली का मत (वहीं, पृ० १७१) है कि मदनवर्मा ने जयवर्मा अथवा लक्ष्मीवर्मा को हराया।

३. देखिए, शिशिरकुमार मित्र, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ११४; निमाइ सघन बोस, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ८६; एइ०, जि० २४, पृ० २३०।

४. देखिए, बम्बई गजेटियर, जि० १, भाग १, पृ० १७८–१७९।

५. प्रथम, ४२।

६. जएसो०, बेंगाल, जि० १७, पृ० ३१८, १४वीं पंक्ति। चन्दबरदायी भी यह उल्लेख करता है (इऐ०, जि० ३७, पृ० १४४) कि मदनवर्मा ने जयसिंह को हराया।

विद्याधर के बाद चन्देलों की प्रतिष्ठा और शक्ति में जो गौणता अथवा धूमिलता आ गयी थी, उसे दूरकर उसने चन्देल सत्ता को पुनः एक बार चमकाया। उसकी महत्ता के गीत स्थानीय जनश्रुतियों में भरे पड़े हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि उसने अपने निकट के पूर्वजों की अनाक्रमण नीति का परित्याग कर चन्देल सेनाओं को पुनः एक बार विजयोन्मुख किया।

मदनवर्मा की विजयें

महू प्रस्तराभिलेख के १५वें श्लोक[१] में कथित है कि 'कठोर युद्ध में पराजित चेदिराज मदनवर्मा के नाममात्र से जल्दी ही भाग जाता है; जिसके भय से काशी का राजा सर्वदा अपना समय मित्रतापूर्ण आचरण में बिताता है; जिसने शेखीवाले मालवराज को जल्दी ही उखाड़ फेंका तथा अन्य राजे जिसके प्रति अपनी भक्ति का प्रदर्शन करते हुए परम शान्ति का भोग करते है।' इस उल्लेख को कवि की अतिरंजित प्रशस्ति मात्र मानने का कोई कारण नहीं है, विशेषतः उस दशा में जब मदनवर्मा के समकालिक चेदि और मालवा के राजे शिथिल और कमजोर थे। चेदि देश पर शासन करने वाला मदनवर्मा का समकालिक गयाकर्ण (११२५-११५१ ई०) था, जिसे उपर्युक्त अभिलेख में मदनवर्मा द्वारा 'कठोर युद्ध में पराजित' बताया गया है। चेदियों को हराकर मदनवर्मा ने अपनी राज्य-सीमाएँ दक्षिण-पूर्व में कैमूर की पहाड़ियों तक विस्तृत कर लीं, जो रीवाँ क्षेत्र के पनवार नामक स्थान में पाये जाने वाले उसके सिक्कों के ढेर से प्रमाणित है।[३] बिलहरी चन्देलों के अधिकार में पहले से ही था। इस प्रकार बुन्देलखण्ड के साथ उत्तरी बघेलखण्ड का भी कुछ भाग मदनवर्मा के अधिकार में आ गया। दक्षिण-पश्चिम में परमारों की भी कलचुरियों जैसी ही गति हुई। कई परमार राजे (नरवर्मा १०९०-११३४; यशोवर्मा ११३४-११४२ और जयवर्मा तथा लक्ष्मीवर्मा) मदनवर्मा के समकालीन थे

---

१. दे० स्मिथ, इऐ०, जि० ३८, पृ० १४४।

२. द्राग्विद्रात्येवचैद्यसमरजयितो यस्यनाम्नाऽपिनित्यम्।
कालं सौहार्दवृत्या गमयतिसततं त्रासितः काशिराजः।
येनौद्धत्यंदधानः रुचिसपदि समुन्मूलितो मालवेशः।
स्तुवन्तो यत्र भक्तिं परभवनिभुजः स्वास्थ्यमन्ये च भेजुः॥ एइ०, जि० १, पृ० १९८, २०४।

३. जएसो०, बेंगाल, जि० १० (नयी अवली) पृ० १९९-२००; हेमचन्द्र राय, डाहिनाइ०, जि० २, पृ० ७९१। बिलहरी के पास के अनेक स्थानों और सिंगोरगढ़ के दुर्ग के मदनवर्मा के अधिकार में होने की परम्पराएँ भी मिलती हैं। देखिए, स्मिथ—इऐ०, जि० ३८, पृ० १४४।

में विजयचन्द्र के पुत्र और युवराज जयच्चन्द्र के आक्रमण का शिकार होना पड़ा था। नयचन्द्रसूरि रचित **रम्भामंजरी** नाटक में कथित है कि 'मदनवर्मा की राज्यलक्ष्मीरूपी हाथी को बाँधने के लिए जयच्चन्द्र की बाहुएँ मानों खम्भ के समान थीं[१]।' चूंकि मदन-वर्मा के शासन के अन्तिम वर्ष (११६३ ई०) तक जयच्चन्द्र राजा नहीं हुआ था, यह माना गया है कि उसने युवराज रूप में ही चन्देलों पर आक्रमण किया था[२]।

ऊपर के विवरणों से स्पष्ट है कि मदनवर्मा ने अपनी आक्रामक नीति से चन्देल राज्य की खोयी हुई भूमि और प्रतिष्ठा ही नहीं पुनः प्राप्त की, अपितु उसे बढ़ायी भी कालंजर, खजुराहो, अजयगढ़ और महोबा सहित बुन्देलखण्ड के सभी मुख्य स्थान तो उसकी राज्यसीमा में थे ही, बघेलखण्ड के रीवाँवाले क्षेत्र भी उसमें शामिल थे। उसके राज्य की सीमा उत्तर में यमुना, दक्षिण-पश्चिम में बेतवा, पूर्व में रीवाँ और दक्षिण में नर्मदा तक व्याप्त थी। डॉ० हेमचन्द्र राय का सुझाव है (पूर्वनिर्दिष्ट, जि० २, पृ० ७०५) कि उसके समय चन्देल राज्य एक ऐसे त्रिभुजाकार रूप से बढ़ गया, जिसकी आधार रेखा विन्ध्य-भाण्डौर और कैमूर की श्रेणियों से बनती थी तथा यमुना और बेंतवा उसकी दो भुजाएँ थीं।

चन्देल सत्ता का पराभव और पतन

मदनवर्मा के समय का चन्देलों का पुनरुत्कर्ष अल्पकालिक साबित हुआ। उसके कमजोर उत्तराधिकारियों के समय उनकी अवनति का क्रम तेज हो गया और बाहरी आक्रमणों के मुकाबले चन्देल राज्य धीरे-धीरे शिथिल होकर ढह गया। मदनवर्मा का पुत्र और उत्तराधिकारी यशोवर्मा (द्वितीय) अकृतिकर और अल्पशासी हुआ। यह निश्चित है कि यशोवर्मा का शासन एक-डेढ़ वर्षों से अधिक का नहीं था। सेमरा अभि-लेख (एइ०, जि० ४, पृ० १५३-७०) से ज्ञात है कि ११६५-६ ई० में परमर्दिन् चन्देल राजगद्दी पर बैठ चुका था।

परमर्दिदेव (लगभग ११६५-१२०२ ई०)

परमर्दिदेव के लगभग एक दर्जन अभिलेख प्राप्त हैं। किन्तु उनसे उसके **परम-भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर और परममाहेश्वर श्री कालंजराधिपति** जैसे विरुदों को छोड़कर कोई विशेष राजनीतिक महत्त्व की जानकारी नहीं प्राप्त होती। उसे तृतीय पृथ्वीराज के नेतृत्त्व में चाहमानों और कुतुबुद्दीन ऐबक के नेतृत्त्व में तुर्कों के दो

---

१. देखिए, त्रिपाठी, हिस्ट्री ऑफ् कनौज, पृ० ३२४; निमाइ सघन बोस, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ८८।

२. जराएसो०, १९३२, पृ० १३-१४।

राजशेखर अपने **प्रबन्धकोश** के **मदनवर्मप्रबन्ध** में मदनवर्मा और जयसिंह **सिद्धराज** के आपसी साक्षात्कार का जो विवरण[१] देता है, उससे उन दोनों में किसी युद्ध की बात नहीं ज्ञात होती। तदनुसार, मदनवर्मा की राजकार्यों में अरुचि और रमणी-रमणता[२] की प्रवृत्ति जानकर जयसिंह उसकी सीमाओं पर चढ़ गया। जब मंत्रियों ने मदनवर्मा को इसकी सूचना दी तो उसने कहा कि 'उस कबाड़ी राजा से कह दो कि यदि वह हमारे राज्य पर चढ़ाई करेगा तो हम युद्ध करेंगे, किन्तु यदि वह धन चाहता है तो धन ले ले'। यह सुनकर जयसिंह विस्मित हुआ और बहुत धन (८६ करोड़ स्वर्णमुद्राएँ) प्राप्त कर लेने के बाद भी मदनवर्मा को देखने की इच्छा से उसने सन्देश भेजा। दोनों महोबा के चंदेल राजदरबार में मिले, प्रेम से बातें कीं और मित्र जैसे अलग हो गये। जयसिंह धारा नगरी होता हुआ अण्हिलवाड़ लौट गया। उपर्युक्त सभी साक्ष्यों के समवेत अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जयसिंह ने यदि चन्देल राज्य पर चढ़ाई भी की तो वह विजय पाने में या तो असफल रहा अथवा युद्ध अनिर्णायक रहा।

यह निश्चित करना बड़ा कठिन है कि महू प्रस्तराभिलेख के इस कथन का वास्तविक अर्थ क्या है कि 'मदनवर्मा के भय से काशी का राजा मित्रता के व्यवहार में अपना समय बिताता था।' काशी का यह राजा गोविन्दचन्द्र (१११४-११५४ ई०) प्रतीत होता है। वास्तव में गोविन्दचन्द्र और मदनवर्मा दोनों ही शक्तिशाली विजेता थे और उनका एक दूसरे से संघर्ष में आना स्वभाविक था। गोविन्दचन्द्र ने जयवर्मा के समय छतरपुर और दुधई के आसपास के क्षेत्रों को जीतकर अपने अधिकार में कर लिया था। किन्तु छतरपुर से मदनवर्मा का ११४७ ई० का एक अभिलेख प्राप्त हुआ है,[३] जिससे निश्चित है कि अपने पैतृक क्षेत्रों को पुनः प्राप्त करने के लिए उसका गोविन्दचन्द्र से युद्ध हुआ होगा। गोविन्दचन्द्र का इतिहास लिखते समय हम यह देख चुके हैं कि उसने दशार्ण की विजय की थी। उसके लिए उसे चन्देल क्षेत्रों से गुजरना पड़ा होगा। असंभव नहीं है कि पहले उसका मदनवर्मा से संघर्ष हुआ हो, किन्तु बाद में दोनों ने मित्रता कर ली हो। कलचुरि और परमार दोनों के वे समान शत्रु थे और वैसी स्थिति में उन दोनों के प्रति अपने-अपने अभियानों के समय निर्बाधता का ध्यानकर वे परस्पर मित्र बन गये हों, यह अत्यन्त सम्भव है। किन्तु मदनवर्मा को अपने शासन के अन्तिम दिनों

---

१. सिंधी जैन ग्रन्थमाला में प्रकाशित, १९३५, पृ० ९०-९३।

२. 'इदं तु श्रुतम्—स नारीकुंजरःसभायां कदापिनोपविशति। केवलं हसितललितानि तनोति। प्रत्यक्षइन्द्रः। वहीं, पृ० ९१।

३. आसरि० १९३५-६, पृ० ९४।

पज्जुनराय नामक अपने एक सेनापति को महोबा का नायक नियुक्त कर अपनी राजधानी लौट गया।

यद्यपि उपर्युक्त विवरणों में अधिकांश तो कथामूलक और काल्पनिक ही प्रतीत होते हैं, पृथ्वीराज के चन्देल क्षेत्रों पर आक्रमण और महोबा पर अधिकार के तथ्य की पुष्टि मदनपुर से प्राप्त होने वाले (वि० सं० ११३९=११८२ ई०) के उसके दो-तीन अभिलेखों से होती है[१]। मदनपुर दुधई से २४ मील दक्षिण-पूर्व, ललितपुर से ३५ मील दक्षिण-पूर्व और सागर से ३० मील उत्तर-पूर्व में स्थित तत्कालीन चन्देल राज्य का एक गाँव है। सम्बद्ध अभिलेखों में पृथ्वीराज और परमर्दिन् के नामों के अतिरिक्त पृथ्वीराज द्वारा विजित जेजाकभुक्ति अथवा जेजाकभुक्तिमण्डल का नाम भी दिया गया है। **सारंगधरपद्धति**[२] और **प्रबन्धचिन्तामणि**[३] के कुछ श्लोकों से भी इस चाहमानचन्देल संघर्ष का ज्ञान होता है।

किन्तु इस बात के प्रमाण हैं कि जनश्रुतियों का यह साक्ष्य अतिरंजित है कि पृथ्वीराज ने महोबा में पज्जुनराय को अपना 'थानापति' नियुक्त किया। महोबा के किले की एक दीवार से परमर्दिन् का वि० सं० १२४०=११८३ ई० का एक अभिलेख[४] मिला है। उससे प्रमाणित है कि ११८२ ई० में चाहमान आक्रमण के परिणामस्वरूप यदि महोबा परमर्दिन् के हाथों से निकला भी तो उसने उसे पुनः उससे एक वर्ष के भीतर ही प्राप्त कर लिया। ऐसा करने में उसे जयच्चन्द्र गाहडवाल से पृथ्वीराज की बढ़ती हुई प्रतियोगिता और शत्रुता से अवश्य लाभ हुआ होगा। साथ ही यह भी सम्भव है कि पृथ्वीराज ने मुहम्मदगोरी के उत्तर-पश्चिमी और पश्चिमी भारत के धावों से चिन्तित होकर, उन दिशाओं में अपने सीमाओं की रक्षा के लिए उद्यत होते हुए, बुन्देलखण्ड से अपना अधिकार स्वयं हटा लिया हो। १२०१ ई० के कालंजर से प्राप्त होने वाले परमर्दिन् के एक अभिलेख में उसे **दशार्णाधिनाथ** कहा गया है, जिससे यह निर्णय निकाला गया है कि परमर्दिन् तब तक अपने खोये हुए सभी प्रदेशों पर अधिकार प्राप्त कर चुका था।

---

१. आसरि०, जिल्द १०, पृष्ठ ९८-९९; जिल्द २१; पृष्ठ १७२-१७४।

२. दे०, पीटर्सन् का प्रकाशन, बम्बई, १८८८, श्लोक १२५४।

३. दशरथ शर्मा, इण्डियन् कल्चर, जि० ११, पृ० ६० पादटिप्पणी १; अर्ली चौहान डाइनेस्टीज़्, पृ० ७५।

४. आसरि०, जि० २१, पृ० ७१।

आक्रमण सहने पड़े, जो अन्ततः चन्देल सत्ता के पतन के बहुत बड़े कारण सिद्ध हुए। लेकिन इन आक्रमणों के बावजूद भी परमर्दिन् की राज्यसीमाओं में कोई कमी नहीं हुई प्रतीत होती। वह भारतीय राजनीति के एक ऐसे युग में उत्पन्न हुआ था, जो मुहम्मद गोरी के नेतृत्त्व में मुसलमानी आक्रमणों के कारण कई दृष्टियों से निर्णायक और हिन्दू सत्ता के लिए अत्यन्त विनाशक सिद्ध हुआ। वह स्वयं अपने गुण-दोषों की दृष्टि से उन अन्यान्य भारतीय राजाओं से भिन्न नहीं प्रतीत होता जो बिगड़ती हुई अथवा बदलती हुई स्थिति पर काबू नहीं रख सके और मुसलमानी आक्रमणों की आँधी में उड़ गये।

चाहमानों का बुन्देलखण्ड पर आक्रमण

चन्दबरदायीकृत **पृथ्वीराजरासो, परमालरासो (महोबाखण्ड)** और जगनिककृत **आल्हाखण्ड** से चाहमान शासक तृतीय पृथ्वीराज के चन्देल राज्य पर आक्रमण की सूचनाएँ मिलती हैं। यद्यपि इन जनश्रुतिक ग्रन्थों की रचना के समय, उनके मूलस्वरूप और उनमें बाद में जोड़ी गयी बातों के बारे में अनेक मतमतान्तर हैं, उनसे ज्ञात होने वाले तथ्यों का अन्य अधिक विश्वास्य और ऐतिहासिक साक्ष्यों से समर्थन मिलता है। कहा गया है कि पृथ्वीराज जब राजा पद्मसेन की पुत्री का अपहरण कर लौट रहा था, तुर्कों ने उसके सैनिकों पर आक्रमण कर दिया, जो भागते हुए रास्ता भूल गये और महोबा स्थित चन्देलों के एक बाग में जा छिपे। चन्देल रखवारों से कहासुनी से प्रारम्भ होकर बात इतनी बढ़ गयी कि चन्देल सैनिकों ने कइयों को मार डाला तथा घायल कर दिया। परमर्दिन् ने भी उन्हें घेर लेने की आज्ञा दे दी। पृथ्वीराज यह सुनकर अत्यन्त क्रोधित हुआ और वि० सं० १२४०=११८२-३ में सेना लेकर चन्देल क्षेत्रों पर जा धमका। रास्ते में शिशिरगढ़ के किले पर मलखान नामक बनाफर सरदार बहादुरी से लड़ता हुआ मारा गया। वहाँ से बेंतवा पारकर पृथ्वीराज महोबा पहुँचा, जहाँ महीनों घेरा डाले रहने के बाद उसकी चन्देल सेनाओं से भीषण मुठभेड़ हुई। आल्हा और ऊदल नामक चन्देल सेना के बनाफर सरदारों की सहायता में बनारस के गाहडवाल राजा जयच्चन्द्र ने भी अपने सैनिक भेजे थे[१]। परमर्दिन् युद्ध की भीषणता देखकर कालंजर भागा किन्तु चाहमानों ने वहाँ तक उसका पीछा किया। वह पकड़कर पृथ्वीराज के सामने लाया गया और दिल्ली ले जाया गया। इस प्रकार पृथ्वीराज पूर्णतः विजयी होकर

---

१. गाहडवाल सहायता की बात प्रायः सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं। इस सम्बन्ध में यह ध्यान योग्य है कि भारत कला भवन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में रखा हुआ परमर्दिन् का एक दानपत्र (अप्रकाशित) बनारस के मणिकर्णिकाघाट से वि० सं० १२४७ में निःसृत हुआ था। यह उसकी काशिराज जयच्चन्द्र से मित्रता का द्योतक है।

चले गये और चन्देल अब जेजाकभुक्ति के कुछ थोड़े ही क्षेत्रों में सीमित रह गये। परमर्दिन् के पुत्र और उत्तराधिकारी त्रैलोक्यवर्मा (१२०३-१२४७ ई०) ने कालंजर पर थोड़े दिनों के लिए अधिकार तो किया[१], किन्तु १२३२ ई० में उसपर मुसलमानों ने फिर चढ़ाई की और उसे लूटा[२]। यद्यपि अगले लगभग ५०-६० वर्षों तक त्रैलोक्यवर्मा के कुछ उत्तराधिकारी शासन करते रहे, उनकी सत्ता सीमित और कमजोर ही रही।

❁❁❁

१. दे०, गढ़ा अभिलेख, एइ०, जि० १६, पृ० २७२-२७७।

२. रैवर्टीकृत तबकाते-नासिरी का अनुवाद, जि० १, ७३२-३३।

कुतुबुद्दीन का आक्रमण और परमर्दिन् का अन्त (१०२२ ई०)

किन्तु चाहमानों के दबाव एवं चन्देल क्षेत्रों पर उनके अधिकार से मुक्ति पाने पर भी परमर्दिन् एक दूसरे शत्रु से पीड़ित हुआ। मुहम्मदगोरी ने तृतीय पृथ्वीराज (११९२ ई०) तथा जयच्चन्द्र गाहडवाल (११९३-४ ई०) का अन्तकर अपने विभिन्न सिपहसालारों को उत्तरभारत के अन्य राज्यों की विजय में नियोजित किया। कुतुबुद्दीन और इल्तुतमिश ने १२०२ ई० में चन्देलों पर चढ़ाई की, जिसका विवरण हसन निजामी नामक समकालिक मुसलमान इतिहासकार देता है। तदनुसार, 'मैदान में बुरी तरह लड़ने के बाद परमाल (पमरमर्दिन्) कालंजर के किले में जा छिपा तथा बाद में अधीनता स्वीकृत करते हुए आत्मसमर्पण को विवश हुआ। किन्तु इसके पूर्व कि वह अधीनता सूचक धन और हाथियों की भेंट देता, उसकी मृत्यु हो गयी। उसका दीवान (मंत्री) आत्मसमर्पण के लिए तैयार नहीं था और शत्रुओं को बहुत तंग करने के बाद वह तभी विवश किया जा सका जब भीषण सूखे के कारण किले के सारे जलाशय सूख गये। उसके सैनिक किले को छोड़कर बाहर आ गये'। 'कालंजर का वह किला ले लिया गया, जो विश्वभर में अपनी मजबूती के लिए उतना ही प्रसिद्ध था जितनी सिकन्दर की दीवार। पचास हजार व्यक्ति दासता के अधीन हुए तथा मैदान हिन्दुओं से अलकतरे की तरह काला हो गया। हाथी, पशु और अनगिनत शस्त्र विजेताओं के हाथ लूट में लगे। विजय की बागडोर उसके बाद महोबा की ओर घुमायी गयी और कालंजर का शासन हजबरुद्दीन हसन अर्नाल को सौंपा गया[१]'। फिरिश्ता[२] भी इस सम्बन्ध में करीब-करीब मिलता-जुलता विवरण देता है। किन्तु उसमें एक अन्तर यह है कि परमर्दिन् के मुसलमानों के प्रति अधीनतासूचक प्रस्ताव को उसके मंत्री अजयदेव ने कायरतापूर्ण माना और उसका वध कर डाला। एक बात दोनों से स्पष्ट है कि अजयदेव ने आक्रामकों को वीरतापूर्वक रोकने का प्रयत्न किया, किन्तु पानी के अभाव में अन्ततः वह विवश हुआ।

चन्देलों के लिए कुतुबुद्दीन के आक्रमण का प्रभाव आपात्तिक सिद्ध हुआ। पर-मर्दिन् की मृत्यु (१२०२ ई०) चाहे स्वाभाविक हो अथवा वह अपने मंत्री अजयदेव के हाथों मारा गया हो, कालंजर और महोबा के आसपास के क्षेत्र मुसलमानों के हाथों में

---

१. इलियट् ऐण्ड डाउसन्, हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया ऐज टोल्ड बाइ इट्स् ओन हिस्टॉ-रियन्स्, जि० २, पृ० २३१-२३२।

२. ब्रिग्स्, जि० १, पृ० १९७; डॉ० हेमचन्द्रराय (डाहिनाइ०, जि० २, पृ० ७२१) ने फिरिश्ता के विवरण को बाद का होने के कारण मनगढ़न्त माना।

उन्होंने तक्षकों[१] (सिथियायी जातियों) से चाहमानों की उत्पत्ति मान ली । इस निर्णय के पीछे उनकी मुख्य दलील यह थी कि सिथियायियों और भारतीय राजपूतों के अनेक रीतिरिवाज, धार्मिक विश्वास एवं पूजापद्धतियाँ एक समान थीं । बाद में बिलियम क्रूक ने यह मत व्यक्त किया कि चाहमानों और अन्य तीन अग्निकुलीय वंशो—प्रतीहार, परमार और चौलुक्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में आबू का यज्ञ संबंधी मिथक 'अग्नि द्वारा शुद्धि संस्कार का प्रतीक है, जिससे विदेशियों की अपवित्रता का अन्तकर हिन्दुओं की वर्ण व्यवस्था में उचित स्थान दे दिया गया ।' इस संस्कार का स्थल दक्षिण राजपूताना[२] था । स्मिथ ने यह मत यथावत् स्वीकार करते हुए[३] तथाकथित अग्निकुलीय वंशों को गुर्ज्जर अथवा गुर्जरों (विदेशियों) की सन्तान माना । जेम्स् कैम्पबेल् और बेडेन पावेल् जैसे अन्य विदेशी लेखकों ने भी प्रायः इसी प्रकार के मत प्रतिपादित किये[४] ।

किन्तु इन सभी मतों का आधार काल्पनिक अथवा अनुमानित ही है । विश्व की अनेक वीर जातियों में समान प्रथाओं के प्रचलन उन सबके एक मूल से उत्पन्न होने के कारण न होकर युद्ध की समान आवश्यकताओं के कारण हो सकते हैं । चाहमानों का विदेशी सिथियायियों अथवा गुर्जरों से सम्बद्ध होने का कोई भी प्रमाण भारतीय साहित्य में कही नहीं प्राप्त होता । प्रत्युत् अभिलेखों आदि के प्रमाण बिल्कुल भिन्न हैं । सबसे प्रमुख बात तो यह है कि **पृथ्वीराजरासो** अथवा तद्वत् अन्य ग्रन्थों की आबू के यज्ञकुण्ड से चार राजपूत वंशों की उत्पत्ति संबंधी कथा[५] ही बहुत बाद में प्रकल्पित हुई । बीकानेर राजदरबार के पुस्तकालय से उपलब्ध उसकी प्राचीन हस्तलिपियों में ऐसी कोई कथा नहीं मिलती, जिससे यह स्पष्ट होता है कि **रासो** के क्रमशः बढ़ते हुए कलेवर में चारणों ने कभी बाद में (कदाचित् १५वीं शती) अग्निकुलों की कथा पिरो दी[६] । यह असम्भव

१. ऐऐरा०, जिल्द १, पृ० ७९-८०; जिल्द २, पृ० ३८३-४ ।

२. टॉडकृत ऐऐरा० की भूमिका और आगे ।

३. स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, तृतीय सं०, पृ० ४१२ ।

४. बम्बई गजेटियर, जिल्द ९, भाग १, पृ० ४८३; जराएसो०, १८९९, पृष्ठ ५४६ ।

५. नैणसी की ख्यात, ना० प्र० सभा, प्रथम, पृ० ११९; जोधराजकृत हम्मीररासो, ना० प्र० सभा (१९२९) पृ० ७-१४ । सूर्यमल्लमिश्रणकृत वंशभास्कर, पृ० ५१५; चौहान चन्द्रिका, पृ० ४१-४३ । किन्तु चन्दबरदायी अन्यत्र रवि, शशि और यादव नामक तीन ही वंशों को मानता है और उन्हीं में चाहमानों की गिनती करता है । दे०, चि० वि० वैद्य, हिमेहिइ०, जिल्द २, पृ० १६ ।

६. देखिए, दशरथ शर्मा इहिक्वा०, जिल्द १६, पृ० ७३८-७४९; चि० वि० वैद्य, हिमेहिइ०, जिल्द २, पृ० १२-२१ । चाहमानों, चौलुक्यों, परमारों और प्रतीहारों

१५

चाहमान राजवंश

उत्पत्ति और प्रारम्भिक क्षेत्र

चाहमानों की उत्पत्ति के बारे में बहुत अधिक मतभेद हैं। इसका प्रधान कारण यह है कि स्वयं चाहमान अभिलेखों, साहित्यिक ग्रन्थों एवं राजपूताने में प्रचलित जनश्रुतियों में इतनी अधिक भिन्नताएँ हैं कि किसी एक निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सकता। अब तक जो मत प्रतिपादित किये जा चुके हैं, उनका यहाँ समाहार देते हुए मूल साक्ष्यों के आधार पर अत्यन्त सम्भावित निष्कर्ष तक पहुँचने का प्रयत्न किया जायगा। इस सम्बन्ध की अनेक प्रपत्तियों को प्रधानतः दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। एक वर्ग उनका है हैं जो अन्य कई राजपूत जातियों की तरह चाहमानों को भी विदेशी आक्रान्ताओं का वंशज स्वीकार करता है और दूसरा उनकी उत्पत्ति भारतीय क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण मूल से मानता है। आगे हम उनका क्रमशः विवेचन करेंगे।

चाहमानों के विदेशी मूल का सिद्धान्त

चाहमान अथवा अन्य राजपूत वंशों के मूल की चर्चा करने वाला कोई ऐसा उल्लेख नहीं है, जो विदेशी नृजातियों से उनका सम्बन्ध जोड़ता हो। किन्तु उस सम्बन्ध में जो प्रचलित जनश्रुतियाँ हैं उनका भारतीय इतिहास लिखने वाले अनेक पश्चिमी विद्वानों ने यह अर्थ निकाला है कि वे उन नवोदित राजवंशों की प्रशस्त उत्पत्ति बताने मात्र के लिए गढ़ ली गयीं। राजपूताने का इतिहास लिखते समय कर्नल् टॉड का ध्यान **पृथ्वीराजरासो** तथा उस प्रकार के चारण साहित्य के उन उल्लेखों[१] की ओर गया, जहाँ परमार, प्रतीहार, चौलुक्य और चाहमान नामक वीरों की उत्पत्ति आबू पर्वत के उस यज्ञकुण्ड से बतायी गयी है, जो म्लेच्छों और दैत्यों से ऋषियों के यज्ञों की रक्षा हेतु वशिष्ठ की मंत्रशक्ति से उत्पन्न हुए थे। टॉड ने इन जनश्रुतियों को तो विश्वास्य नहीं माना, किन्तु

---

१. पृथ्वीराजरासो (सार), नागरीप्रचारिणी सभा, पृ० ७–८। लगभग इसी प्रकार की कहानी जोधराजकृत (१७२८ ई०) हम्मीररासो (ना० प्र० सभा, पृ० ८–१४) और सूर्यमल्लमिश्रणकृत वंशभास्कर (पृ० ९१–९४) में भी मिलती है।

यह वासुदेव खजरों अथवा गुर्जरों का ही कोई प्रतिनिधि[१] था। किन्तु इस सम्बन्ध में डॉ० दशरथ शर्मा[२] की एक बड़ी जोरदार आपत्ति है कि सम्बद्ध सिक्के पर केवल वासुदेव नाम नागरी अक्षरों में अंकित है और 'बहमन' सहित शेष लेख सासानी-पहलवी अक्षरों में अंकित हैं, जिसमें 'ब' और 'च' का कोई घपला हो ही नहीं सकता। उसमें वे दोनों अक्षर नागरी लिपि के विपरीत अलग-अलग ढंग से लिखे जाते हैं। इस प्रकार 'वासुदेव बहमन' को यदि 'वासुदेव चाहमान' से नहीं मिलाया जा सकता तो डॉ० भण्डारकर का सारा निष्कर्ष बालू की दीवार जैसा ढह जाता[३] है। साथ ही, उनका निष्कर्ष स्वीकार करने में एक दूसरी बड़ी आपत्ति यह होगी कि चाहमानों के सत्ता के चरमोत्कर्ष के दिनों में भी टक्क (दक्षिण-पूर्वी पंजाब का प्रदेश), जाबुलिस्तान और मुल्तान पर उनकी सत्ता नहीं व्याप्त थी। उनका मूल क्षेत्र राजपूताना के मध्य में सांभर (शाकम्भरी) अर्थात् सपादलक्ष और पुष्कर के आसपास था। किन्तु वह सपादलक्ष वासुदेव बहमन के सिक्के वाले सपर्दलक्षन (सपादलक्ष) से कदाचित् भिन्न था। अल्-मसूदी[४] मुल्तान के आसपास के क्षेत्रों को भी १ लाख २० हजार गाँवों वाला बताता है और यह असम्भव नहीं है कि उसे भी सपादलक्षदेश कहा जाता हो[५]। अतः चाहमानों का संस्थापक शासक वासुदेव एवं उपर्युक्त सिक्के का वासुदेव बहमन एक नहीं, अपितु दो व्यक्ति प्रतीत होते हैं, जो समय की दृष्टि से भी काफी अन्तर से हुए थे।

चाहमानों की क्षत्रिय उत्पत्ति के साक्ष्य

चाहमानों की चर्चा करने वाले संस्कृत साहित्य के ग्रन्थों और अभिलेखों का अध्ययन करने से यह निष्कर्ष निर्विवादरूप से सामने आता है कि मूलतः वे शुद्ध भारतीय थे, जो म्लेच्छों के अन्त (हिन्दू संस्कृति की रक्षा) के लिए आगे बढ़े थे। किन्तु यहाँ भी सम्बद्ध साक्ष्यों से विभिन्न अर्थ निकालते हुए अनेकानेक विद्वान् उन्हें चन्द्रवंशी, सूर्यवंशी अथवा मूलतः ब्राह्मण स्वीकार करते हैं। चाहमानों को चन्द्रवंशी बताने वाले

---

१. इऐ०, जिल्द ४१, पृष्ठ २५।

२. अर्ली चौहान। डाइनेस्टीज़्, पृष्ठ ८।

३. रैप्सन् (इण्डियन् क्वायन्स्, पृष्ठ ३०-३१) के मत में सम्बद्ध सिक्के का वासुदेव कोई सासानी राजा था। कनिंघम् उसे हूण मानते हैं।

४. इलियट् ऐण्ड डाउसन्, हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया ऐज टोल्ड बाइ इट्स् ओन हिस्टॉ-रियन्स्, जिल्द १, पृष्ठ २३।

५. स्कन्दपुराण के कुमारखण्ड (अध्याय ३९) में सपादलक्ष नाम छः प्रदेशों (वरेन्दु=वारेन्द्र (?), सयंभर=सांभर, मेवाड़, तोमर, कर्णाट और पिंगल) को दिया गया है। देखिए, चि० वि० वैद्य, हिमेहिइ०, जिल्द २, पृ० ३९-४२।

नहीं है कि इस कथा का आधार पद्मगुप्तकृत **नवसाहसांकचरित** (११वीं शती का प्रारम्भ) का वह विवरण हो जिसमें परमारों की उत्पत्ति वशिष्ठ द्वारा विश्वामित्र से अपनी कामधेनु की रक्षा के लिए बतायी गयी[१] है । किन्तु ऐसी कथाओं का चाहमान अभिलेख और समकालिक साहित्य में कोई उल्लेख नहीं है । अत: उन्हें तथ्यात्मक नहीं माना जा सकता ।

चाहमानों की विदेशी गुर्जरों (हूणों की कोई शाखा) से उत्पत्ति का सिद्धान्त अनेक भारतीय भारतीविदों ने भी स्वीकार कर लिया । उनमें सर्वप्रमुख थे डॉ० दे० रा० भण्डारकर । चूँकि प्रतीहार गुर्जर कहे गये हैं तथा उनके साथ अन्य तीन राजवंश भी अग्निकुलीन गिनाये गये हैं, वे कहते हैं—'मेरा विश्वास है कि वे सभी गुर्जर जाति के थे ।'[२] इन गुर्जरों को वे मूलत: उन खजरों से मिलाते हैं, जो हूणों के साथ भारत में ५वीं–६वीं शताब्दियों में प्रविष्ट हुए थे और कदाचित् किसी आक्रमणकारी जाति के पुरोहित थे । किन्तु उनका यह तर्क कोरे परिकल्पना के आधार पर खड़ा है । खजर नामक कोई जाति भारत में हूण आक्रमणकारियों के साथ आयी थी, इसका कोई ऐतिहासिक उल्लेख नहीं प्राप्त होता । चाहमानों को विदेशी मानने के लिए डॉ० भण्डारकर का कदाचित् अधिक प्रभावशाली तर्क यह है कि बहमन का एक ऐसा सिक्का मिला[३] है जिसके ऊर्ध्व भाग पर दाहिनी ओर सासानी–पह्लवी लिपि में 'सफ् वर्स तेफ्–श्रीवासुदेवं' तथा उसी भाग पर किनारे की ओर 'सफ् वर्स तेफ्—बहमन् मुल्तान मल्का' अर्थात् 'मुल्तान के शासक श्री वासुदेव' तथा पह्लवी अक्षरों में 'तुकन् जौलिस्तान सपर्दलक्षन' अर्थात् 'तक्क जाबु–लिस्तान और सपादलक्ष' लिखा हुआ है । उन्होंने इस सिक्के के 'वासुदेव बहमन' को वासुदेव चाहमान पढ़ा तथा उसे **पृथ्वीराजविजय** और **प्रबन्धकोश** में उल्लिखित चाहमानवंश के संस्थापक वासुदेव (वि० सं० ६०८) से मिलाया । उनके निष्कर्ष में

के सम्बन्ध में अग्निकुलीय मिथक की सारहीनता के लिए देखिए, धी० चं० गांगुली, हिस्ट्री ऑफ् दि परमार डायनेस्टी, पृ० ७–८, पादटिप्पणी; प्रतिपाल भाटिया, दि परमारज, पृ० १३; होयर्नल, जराएसो०, १९०५, पृ० २१; कनिंघम्, आसरि० १८६४–५; जिल्द १, पृ० २५३–२५४; कविराज श्यामलदास, जराएसो०, बेंगाल, जिल्द ४५, भाग १, पृ० ४१–४३ ।

१. ११वाँ, ६४–७१ । नवसाहसांकचरित का यह मिथक भी अपने ढंग का सर्वप्राचीन मिथक नहीं है । वाल्मीकि रामायण (बालकाण्ड, ५४–५५वें अध्याय) में वशिष्ठ–विश्वामित्र संघर्ष के सम्बन्ध में ठीक उसी प्रकार का मिथक मिलता है ।

२. इऐ०, जि० ४१, पृ० ३० ।

३. रैप्सन्, इण्डियन् क्वायन्स्, पृष्ठ ३०–३१ ।

पुष्कर कहलाने लगा और उसके यज्ञ की रक्षा करने वाले सूर्यमण्डलोत्पन्न वीर ने चतुर्मुख ब्रह्मा से सार्वभौम सत्ता प्राप्तकर राजाओं पर वैसे ही शासन किया जैसे सूर्य पर्वत-शिरों पर शासन करता है। चौहान नाम से यही व्यक्ति अपने वंशवृक्ष का मूल हुआ'। रणथम्भौर के राणा सुर्जन के दरबारी कवि चन्द्रशेखर के **सुर्जनचरित**[१] तथा **हम्मीर-महाकाव्य** में भी चाहमानों की उत्पत्ति परम्परा प्रायः इसी रूप में दी गयी है।

इन सन्दर्भों से भारतीय इतिहास का यह तथ्य मात्र समर्थित होता है कि चाहमानों का सर्वप्रथम आविर्भाव अजमेर-पुष्कर के आसपास के उन प्रदेशों में हुआ, जहाँ म्लेच्छों (मुसलमानों) का दबाव बढ़ रहा था। डॉ० दशरथ शर्मा कहते हैं कि उनसे शाकम्भरी के चाहमानों का सूर्यवंशी होने का दावा मात्र ज्ञात होता है, जिसे प्रमाणित करने का उनमें एक भी प्रबल तर्क नहीं उपस्थित है। इसके (चाहमानों के सूर्यवंशी होने के) समर्थन में यदि हम सभी कथनों को यथावत् स्वीकार भी कर लें तो भी उनसे यह नहीं सिद्ध होता कि चाहमान शुद्ध क्षत्रिय मूल के थे, क्योंकि उन्हीं के अनुसार प्रथम चौहान कलियुग के प्रारम्भ होने पर उस समय हुआ जब विष्णु का बुद्धावतार हो चुका था और म्लेच्छों ने भारत पर आक्रमण करना (**पृथ्वीराजविजय, प्रथम** ३६-७४) प्रारम्भ कर दिया था। अतः सूर्यवंश से सम्बद्ध होने में वह इक्ष्वाकु का बहुत बाद का कोई वंशज रहा होगा। यह बड़ा विस्मयकारक है कि उसे ऐसा न तो प्राचीन **पृथ्वीराजविजय** में कहा गया और न मध्यकालीन **हम्मीरमहाकाव्य** में और न अपेक्षाकृत बहुत बाद में लिखे गये **सुर्जनचरित** में ही।[२]

ब्राह्मण मूल की ओर निर्देश

चाहमानों के मूलतः ब्राह्मण होने के अनेक प्रमाण उनके अभिलेखों से ही उपस्थित किये गये हैं। सोमेश्वर के विक्रम संवत् १२२६=११७० ई० के बिजोलिया प्रस्तराभि-लेख में कहा गया[३] है कि 'अनेक सामन्तों वाला सामन्तराज नामक विप्र अहिछत्रपुर में

---

१. आठवाँ, १५१-१६२। इस सम्बन्ध में एक विशेष बात यह है कि हम्मीरमहाकाव्य (प्रथम, २७) और सुर्जनचरित (प्रथम, ९) चाहमान वंश के संस्थापक को वासुदेव दीक्षित कहते हैं। 'दीक्षित' शब्द उस समय ब्राह्मणों की उपाधि रूप में प्रचलित होने लगा था। अतः निर्देश यह प्रतीत होता है कि वासुदेव का ब्राह्मणत्त्व १५वीं १६वीं शती तक स्वीकृत और मान्य था।

२. अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० ५-६।

३. एइ०, जिल्द २६, पृ० ८४ और आगे, श्लोक १२। किन्तु यहाँ ध्यानयोग्य है कि इस लेख के सही पाठ और अर्थ के बारे में बड़े मतभेद हैं। कविराज श्यामलदास ने सम्बद्ध पाठ 'विप्रश्रीवत्सगोत्रेऽभूत्' (श्रीवत्स नामक ब्राह्मण के गोत्र में उत्पन्न)

साक्ष्य द्वितीय पृथ्वीराज के हांसी अभिलेख (एशियाटिक् रिसर्चेंज्, १५वां, पृ० ४४४) तथा चन्द्रावती के चाहमान शासक लुण्टिगदेव के वि० स० १३७७ के आबू अभिलेख (एइ० जिल्द ९, पृष्ठ ७० और आगे) मात्र हैं। यह अवश्य है कि चाहमान स्वयं भी गोत्रोच्चार में अपने को चन्द्रवंशी कहते हैं। किन्तु इसे भ्रमात्मक मानकर हमें उनकी उत्पत्ति से सम्बद्ध अन्य साक्ष्यों पर ही विचार करना चाहिए। यहाँ यह भी ध्यान योग्य है कि आबू अभिलेख अपने कथनों में स्पष्ट न होकर भ्रमित है। तिथि की दृष्टि से रत्नपाल का वि० सं० ११७६=१११९ ई० का सेवदी ताम्रपत्राभिलेख चाहमानों की उत्पत्ति की चर्चा करने वाला सबसे पहला अभिलेख है। तदनुसार[१], 'प्राचीदिग्पति' इन्द्र की आँखों से एक व्यक्ति निकला, जिससे चाहमान वंश का उदय हुआ। यहाँ इन्द्र को बारह आदित्यों में एक मानकर चाहमानों को सूर्यवंशी माना गया है। विग्रहराज **वीसलदेव** का सरस्वती मंदिर (आजकल की अढ़ाई दिन का झोपड़ा नामक मस्जिद) में लिखित अभिलेख[२] सूचित करता है कि अजमेर के चाहमानवंश का संस्थापक इक्ष्वाकु और राम के कुल (रघुवंश) में उत्पन्न हुआ था। इसी प्रकार तृतीय पृथ्वीराज की बेदला प्रशस्ति[३] में भी चाहमानों को सूर्यवंशी माना गया है। साहित्यिक ग्रन्थों में जयानकभट्टकृत **पृथ्वी-राजविजयकाव्य** चाहमानों के प्रथम राजा वासुदेव की उत्पत्ति सूर्यकुल (अर्क-मण्डल) से बताता[४] है। नयचन्द्रसूरि (१५वीं शती) चाहमानों की उत्पत्ति के बारे में प्रचलित अनेक जनश्रुतियों की खिचड़ी पकाते हुए **हम्मीरमहाकाव्य** में कहता[५] है कि 'एक बार यज्ञ के लिए उचित स्थान की खोज में घूमते हुए ब्रह्मा के हाथ से कमल पृथ्वी पर गिर पड़ा। उस देवता ने उस स्थान को पवित्र मानकर वहीं अपना यज्ञ प्रारम्भ कर दिया। उसने दानवों के उपद्रव के भय से सहस्रशिम सूर्य का स्मरण किया, जिसके मण्डल से चमकती हुई आभा वाला एक व्यक्ति निकला। उसे ही ब्रह्मा ने अपने यज्ञ का रक्षक नियुक्त किया। ब्रह्मा का कमल गिरने के कारण उस दिन से वह यज्ञस्थान

---

१. एइ०, जिल्द ११, पृष्ठ ३०५, श्लोक २।

२. गौ० ही० ओझा, राजपूताना का इतिहास, जिल्द १, पृष्ठ ७३ तथा उसकी पाद-टिप्पणी १।

३. श्लोक ३५-३७।

४. पृथ्वीराजविजय में वंश के मूल पुरुष चाहमान का उदय म्लेच्छों अर्थात् तुर्कों से पुष्कर तीर्थ की रक्षा हेतु बताया गया (प्रथम, २४) है। पृथ्वीराज के लिए वहाँ (अष्टम्, ५४) कहा गया है : 'उन्नतिं रविवंशस्य पृथ्वीराजेन पश्यता'।

५. प्रथम १४-१७।

सभी साक्ष्यों की परीक्षा करने से कुछ निश्चय अपने आप उभर आते हैं। सर्व-प्रथम, यह कहा जा सकता है कि आबू के यज्ञकुण्ड से वसिष्ठ आदि ऋषियों के मंत्र से चाहमानों की उत्पत्ति की कथाएँ पूर्णतः मनगढ़ंत और कल्पित हैं। चाहमान, परमार, चौलुक्य और प्रतीहार वंशों को अतिमानवीय गौरव प्रदान करने के लिए ही ये कथाएँ बहुत बाद में गढ़ दी गयीं, जिनका मात्र उद्देश्य यह था कि चारणगण साधारणजनों में कौतूहल और विस्मय की भावनाओं को जगाकर इन वंशों की प्रतिष्ठा जगा सकें। चाहमानों के निजी अभिलेखों और उनके समकालिक साहित्य के रचयिताओं ने उनकी अग्निकुण्डीय उत्पत्ति की कथा सुनी भी नहीं थी। इसी कारण किसी ने उसका उल्लेख नहीं किया। अतः उन्हें पूर्णतः अनैतिहासिक और अविश्वास्य मानते हुए चाहमानों के विदेशी मूल के होने का सिद्धान्त भी परिकल्पित और तत्त्वहीन स्वीकार करना होगा। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि उन्हें भारतीय मूल का स्वीकार करने पर ब्राह्मण मानना चाहिए अथवा क्षत्रिय। क्या कारण है कि स्वयं चाहमान अभिलेखों से उनके ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों होने के समर्थक साक्ष्य प्राप्त होते हैं? प्रस्तुत लेखक के मत में दोनों में कोई आत्यन्तिक और असमन्वयात्मक विरोध नहीं है। मूलतः चाहमानों के पूर्वज वत्स नामक ब्राह्मण ऋषि के वंश में उत्पन्न हुए थे। वे इसी कारण अपने को वत्सगोत्री भी कहते हैं, न कि इस कारण कि वे अपने ब्राह्मण आचार्य वत्स ऋषि के वंशजों का गोत्र धारण करते हैं। पीछे दिये हुए अनेक अभिलेखीय साक्ष्यों से यह बात स्पष्ट है कि चाहमानों को १४वीं शती तक यह भलीभाँति स्मृत था कि वे मूलतः वत्सऋषि के वंशज थे। किन्तु साथ ही उन्हें यह भी ज्ञात था कि उनके पूर्वज बहुत दिनों पूर्व ब्राह्मणों का कार्य छोड़कर क्षत्रिय कर्म अपना चुके थे। इस वर्ण-परिवर्तन के बाद वे रघुकुल से जोड़े जा चुके थे, जिनके प्रमाण उनके राजत्त्वकाल के साहित्य और अभिलेखों से प्राप्त होते हैं। उनका यह वर्ण-परिवर्तन कब हुआ, यह जानने का कोई साधन नहीं है। किन्तु इतना स्पष्ट है कि उनके राजत्त्व के चरमोत्कर्ष के दिनों में सारा भारतीय समाज उन्हें क्षत्रिय स्वीकार करता था और क्षत्रिय परिवारों से उनके सवर्ण विवाह होने लगे थे[१]। वे स्वयं अपने को भ्रष्ट और पतित सामाजिक स्थिति के प्रतीक कलियुग की प्रवृत्तियों को रोकने, म्लेच्छों से पृथ्वी का परित्राण करने, वैदिक और पौराणिक विधिविधानों, यज्ञों और

---

१. चन्देलराज हर्ष ने चाहमान राजकुमारी कंचुका से विवाह किया था, जिसे 'सवर्णा' (क्षत्रिय कन्या) कहा गया है। एइ०, जिल्द १, पृष्ठ १२६, श्लोक २१। वहाँ इस विवाह को विधिपूर्ण (विधिनोबाह) कहा गया है, जिससे स्पष्ट है कि यह विवाह प्रतिलोम अर्थात् (चाहमान) कन्या का क्षत्रिय (चन्देल) वर से नहीं अपितु अनुलोम (क्षत्रिय कन्या का क्षत्रियवर से) था।

श्रीवत्सगोत्र में पैदा हुआ'। यह सामन्तराज चाहमानों का प्रारम्भिक शासक था। जालोर के चाहमानों की चर्चा करने वाला चाचिगदेव (१२६१-१२८१ ई०) का सुन्धा पहाड़ी अभिलेख (वि० सं० १३१९) भी वंश को नाम देने वाले चाहमान को 'वत्स-ऋषि' की आँख से उत्पन्न और उनके लिए आह्लादकारक[१] कहता है। वत्सऋषि से चाहमानों के सम्बन्ध की पुष्टि लुण्टिगदेव के आबू शिखराभिलेख (वि० सं० १३७७) से भी होती है, जिसमें स्पष्ट उल्लेख है कि सूर्य-चन्द्रवंशों का अन्त हो जाने के बाद वत्स (बच्चा) ऋषि ने चाहमान नामक एक नये वीरवंश का प्रारम्भ किया[२]। यहाँ सूर्य और चन्द्रवंशों के अन्त हो जाने के बाद चाहमानवंश के आगमन का उल्लेख स्पष्टतः इस बात की ओर निर्देश करता है कि १४वीं शती में चन्द्रावती के चाहमान अपने को उन दोनों में किसी भी वंश से सम्बद्ध नहीं मानते थे। चाहमानों की वत्सऋषि से उत्पत्ति की परम्परा **क्यामखाँरासो** के रचयिता जान नामक नवदीक्षित मुसलमान लेखक को भी ज्ञात थी। वह चाहमान को जामदग्न्यगोत्रीय वत्स ऋषि से जोड़ता है[३]। इन विभिन्न साक्ष्यों के आधार पर चाहमानों के मूलपुरुष को पल्लवों, कादम्ब और गुहिलों की तरह विप्र[४] अर्थात् ब्राह्मण स्वीकार करना[५] कुछ आश्चर्यजनक नहीं है।

माना। इस आधार पर चाहमानों का क्षत्रिय मूल मानने में इस नाते कोई आपत्ति नहीं समझी गयी कि क्षत्रियों के भी गोत्र ब्राह्मण ऋषियों के नाम पर प्रचलित थे। देखिये, रामवृक्ष सिंह, दि हिस्ट्री ऑफ् दि चाहमानज्, पृ० ४१। किन्तु चि० वि० वैद्य (हिमेहिइ० जिल्द २, पृ० ९२), भण्डारकर (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २६) और दशरथ शर्मा (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ९), उसका शुद्ध पाठ 'विप्रः श्रीवत्सगोत्रे-ऽभूत्' स्वीकार करते हुए सामन्तराज के साथ 'विप्र' शब्द लगाकर उसे ब्राह्मण मानते हैं।

१. एइ०, जिल्द ९, पृ० ७१, ७४, श्लोक ४।

२. वहीं, जिल्द ९, पृ० ७९ श्लोक ६-१०। किन्तु इस कथन के बावजूद भी इस अभिलेख में एक भ्रमात्मक उल्लेख यह है कि चाहमानों की उत्पत्ति वत्स ने चन्द्रमा के सहयोग से की अर्थात् वे चन्द्रवंशी थे।

३. राजस्थान पुरातत्त्व मन्दिर संस्करण, पृ० ४।

४. अक्षयकीर्त्ति व्यास (एइ०, जिल्द २६, पृ० ९०-९१) ने विप्र शब्द का अर्थ 'महीधर अथवा महाराज अर्थात् क्षत्रिय' लगाया। किन्तु सारे संस्कृत साहित्य में कहीं से भी इस अर्थ की पुष्टि नहीं होती।

५. देखिए रणजीत सिंह सत्याश्रय, ऑरिजिन् ऑफ् दि चौलुक्यज, पृ० ७५, पाद-टिप्पणी; दशरथशर्मा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ९-१०।

सकता है । डॉ० भण्डारकर ने जांगलदेश और सपादलक्ष को हिमालय की तलहटियों वाले उन पर्वतीय क्षेत्रों से मिलाया[१], जो शिवालिक की पहाड़ियों में पड़ते हैं । उन्होंने चाहमानों की प्रारम्भिक राजधानी अहिछत्र को भी वहीं कहीं स्थित माना । उनकी दृष्टि में हिमालय के उन निचले प्रदेशों से ही चाहमान राजपूताने की ओर गये और अपने विजित प्रदेशों को उन्होंने सपादलक्ष नाम दे दिया । किन्तु उनके तर्कों का सारा आधार ही इस गलत विश्वास पर टिका है कि चाहमानों के पूर्वज विदेशी खजर जाति के थे, जो राजपूताने में अन्तिम रूप से पहुँचने के पूर्व कई स्थानों से गुजर चुकी थी[२] । पीछे इस निष्पत्ति की नि:सारता देखी जा चुकी है । यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि सपादलक्ष और अहिक्षत्र को कहीं और खोजने की आवश्यकता है । एक अहिछत्र उत्तर पंचाल की राजधानी (बरेली जिले की आंवला तहसील का रामनगर) था । किन्तु वहाँ से चाहमान सत्ता का प्रारम्भ इस नाते नहीं स्वीकार किया जा सकता कि उनका सारा विकास मारवाड़ के उत्तरीपूर्वी हिस्सों से प्रारम्भ होकर उत्तर और उत्तर-पूर्व की ओर अजमेर दिल्ली तक हुआ न कि इन दिशाओं के विपरीत क्रम से, जिसमें पंचाल देश की राजधानी अहिछत्र की स्थिति थी । राजपूताना का इतिहास लिखने वाले अनेक लेखकों ने अहिछत्र की पहचान मारवाड़ के नागोर (प्राचीन नाम नागपुर) नामक नगर से की है[३] । इस पहचान का समर्थन वे इस बात से करते हैं कि अहिछत्र जांगल देश की राजधानी थी और 'जाँगलु' अथवा 'जांगलधर' पहले के बीकानेर राज्य के क्षेत्रों और उसके शासक को कहा जाता था । किन्तु डॉ० दशरथ शर्मा की मान्यता[४] है कि चूँकि प्रथम चाहमान शासक वासुदेव को सांभर झील (शाकंभरी) पर अधिष्ठित बताया गया है और वंश के दूसरे प्रारम्भिक राजा नरदेव को जोधपुर खण्ड के पूर्णतल्ल अर्थात् पुन्तला का शासक कहा गया है, अहिछत्र भी पुन्तला और सांभर के बीच में उन दोनों से थोड़ी ही दूरी पर स्थित होना चाहिए तथा अनन्तदेश शेखावटी में हर्ष नामक देवस्थान के पास होना चाहिए ।

---

१. इऐ०, १९११, पृष्ठ २८-२९ । डॉ० भण्डारकर के पूर्व भगवानलालइन्द्रजी ने सपादलक्ष को गढ़वाल और कुमायूँ की पहाड़ियों से मिलाया । इऐ०, १८७९ ।

२. इन तर्कों के उत्तर के लिए देखिए, चि० वि० वैद्य, हिमेहिइ०, जिल्द २, पृष्ठ ३६ और आगे ।

३. गौ० ही० ओझा, नागरीप्रचीरिणी पत्रिका, जिल्द २, पृष्ठ ३२३-३२९; हरविलास शारदा, स्पीचेज् ऐण्ड राइटिंग्स्, पृष्ठ २१५-२२३; हेमचन्द्र राय, डाहिनाइ०, जिल्द २, पृ० १०५३-४ ।

४. पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १२ और २३ ।

मन्दिरों की रक्षा करने तथा आर्यावर्त्त को सचमुच आर्यसंस्कृति का क्षेत्र बनाने के लिए राजनीतिक रंगमंच पर अवतरित हुआ मानने[१] लगे। भारतीय राजनीति-शास्त्रज्ञों ने इन्हें राजाओं का परमकर्त्तव्य माना है। अतः उन्हें सेनों, परमारों और गुहिलोतों की तरह 'ब्रह्मोपेत' क्षत्रियों अथवा ब्रह्मक्षत्रकुलीनो[२] की श्रेणी में रखना चाहिए।

चाहमानों के मूल क्षेत्र

चाहमानों की चर्चा करने वाले साहित्य (**सुरथोत्सव**, द्वितीय, ४६; **सुकृत-संकीर्त्तन, द्वितीय**, ४३) और अभिलेखों (एइ०, जिल्द २, पृ० ४२२-३; इऐ०, १९१२, पृ० १९६; आसरि, जिल्द ६, २१वाँ फलक) में उन्हें सपादलक्ष देश का शासक कहा गया है। **पृथ्वीराजविजय** (पंचम, ६) से इंगित होता है कि वंश के प्रथम शासक वासुदेव की राजधानी सांभर के निकट अनन्तदेश में स्थित थी। साथ में यह भी ज्ञात होता है कि पुष्कर क्षेत्र उनका उत्पत्तिस्थल था। इसका समर्थन **हम्मीरमहाकाव्य** और **सुर्जनचरित** जैसे ग्रन्थों से भी होता है। कुछ अभिलेखों में भी (जएसो०, बेंगाल, जिल्द ५५, पृ० ४१; एइ०, द्वितीय, पृ० १२१) चाहमान शासक सामन्त का सम्बन्ध अनन्त नामक देश और अहिछत्रपुर नामक राजधानी से बताया गया है। अनेक साहित्यिक ग्रन्थों में उनके शासित क्षेत्रों को जांगलदेश की संज्ञा दी गयी है। यदि इन साक्ष्यों के परिप्रेक्ष्य में उनके भलीभाँति ज्ञात इतिहास के क्रम की भौगोलिक पृष्ठभूमि देखी जाय तो यह निष्कर्ष निकलेगा कि चाहमान मूलतः शाकम्भरीक्षेत्र (सांभर) में उदित हुए; उनकी प्रारम्भिक राजधानी अहिछत्रपुर थी; पुनः वे पुष्कर क्षेत्र की ओर बढ़ते हुए अजमेर नगर से शासन करने लगे और वहाँ से उत्तर-पूर्व की ओर बढ़कर दिल्ली सहित गंगा-यमुना की घाटी के ऊपरी भागों पर अधिकृत हो गये।

किन्तु ऊपर निर्दिष्ट स्थानों अथवा प्रदेशों में अनेक की पहचान के बारे में बहुत मतवैभिन्य है। यहाँ उसके विशेष ब्यौरों में न जाकर कुछ की ओर ही निर्देश किया जा

---

१. देखिए, चतुर्थ, विग्रहराज का दिल्ली शिवालिक अभिलेख, इऐ०, जिल्द १९, पृ० २१६; दशरथशर्मा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ६१।

२. देखिए पीछे ग्यारहवाँ अध्याय, पृ० ३०३-३०५; चि० वि० वैद्य, हिमेहिइ०, जिल्द २, पृ० ६२; हेमचन्द्रराय, पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द २, पृ० ११५४-११५६; दे० रा० भण्डारकर, जएसो० बेंगाल, १९०९, पृ० १६७ और आगे; श्रीमती मालती शर्मा, इहिक्वा०, जिल्द २८, पृ० ८३ और आगे; हलायुधकृत पिंगलसूत्रवृत्ति, चतुर्थ, १९; प्रतिपाल भाटिया, दि परमारर्स्, पृ० १९; वि० श० पाठक, ऐश्येण्ट हिस्टॉरियन्स् ऑफ् इण्डिया, पृ० १११-११२।

प्रतीहारों के सामन्तरूप में चाहमान

१०वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में कन्नौज के गुर्जर प्रतीहारों की अवनति प्रारम्भ होने के पूर्व चाहमानवंश की अनेक शाखाएँ उनकी अधिसत्ता स्वीकार करती थीं। उनमें भृगुकच्छ, प्रतापगढ़ और धवलपुरी की शाखाओं का तो सामन्तरूप में ही अन्त हो गया, किन्तु शाकम्भरी की चाहमान शाखा आगे चलकर अपना सामन्ती स्वरूप छोड़कर एक साम्राज्यसत्ता के रूप में विकसित हो गयी। उसके प्रारम्भिक इतिहास एवं वंशावली की जानकारी द्वितीय विग्रहराज के वि० सं० १०३० के हर्ष अभिलेख, सोमेश्वर के वि० सं० ११२६ के बिजोलिया प्रस्तराभिलेख और तृतीय पृथ्वीराज के राजदरबारी कवि जयानक भट्ट के **पृथ्वीराजविजयकाव्य** से होती है। हर्ष अभिलेख प्रथम गूवक के पूर्व के राजाओं का नाम नहीं देता। इस सम्बन्ध में विजोलिया अभिलेख तथा **पृथ्वीराज-विजय** की सूचनाएँ अधिक पूर्ण हैं, जिनमें वंश का इतिहास क्रमशः सामन्तराज और वासुदेव के समय से ही प्राप्त होता है। तुलनात्मक दृष्टि से भी उनके विवरण एक दूसरे से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। नयचन्द्र के **हम्मीरमहाकाव्य** में और चन्द्रशेखर के **सुर्जनचरित** में भी **पृथ्वीराजविजय** के आधार पर ही चाहमान वंशावली और इतिहास दिये गये हैं।

सपादलक्ष के चाहमानों के इतिहास से सम्बद्ध साहित्यिक साक्ष्य वासुदेव को वंश का प्रथम शासक बताते हैं। **पृथ्वीराजविजय**[1] कुछ काव्यात्मक परिकल्पनाओं द्वारा बताता है कि शाकम्भरी के आसपास के प्रदेशों पर वह शासनस्थ था। एक विद्याधर की कृपा से शाकम्भरी प्राप्तकर वह **शाकम्भरीश्वर** कहलाया। राजशेखर अपने **प्रबन्ध-कोश** में वासुदेव की तिथि वि० सं० ६०८=५५१ ई० बताता है, किन्तु उसकी प्रामाणिकता सिद्ध करने का कोई पक्का तुलनात्मक साधन नहीं है[2]।

सामन्तराज

अगला शासक सामन्तराज हुआ। यह निश्चित नहीं है कि वासुदेव से उसका क्या सम्बन्ध था। बिजोलिया अभिलेख[3] में उसे ब्राह्मण ऋषि वत्स के गोत्र में उत्पन्न अनन्तदेश का शासक कहा गया है, जिसकी राजधानी अहिछत्रपुर थी। द्वितीय विग्रहराज के हर्ष प्रस्तराभिलेख की तिथि वि० सं० १०३० से प्रारम्भकर १२ पीढ़ी पीछे (बिजोलिया अभिलेख की वंशावली के अनुसार) तक का हिसाब लगाते हुए डॉ० हेमचन्द्र राय (डाहिनाइ०, जिल्द २, पृष्ठ १०६१-२) ने सामन्तराज का समय सातवीं

---

१. सर्ग ३ और ४।

२. इस सम्बन्ध में भण्डारकर द्वारा प्रतिपादित वासुदेव और नागरी सासानी सिक्कों वाले वासुदेव वहमन (चाहमन) की समता का सिद्धान्त पीछे हम त्याज्य मान चुके हैं। अतः वासुदेव की तिथि संबंधी उनका सुझाव भी मान्य नहीं हैं।

३. जएसो०, बेंगाल, जिल्द ५५, पृ० ४१, श्लोक १२।

अहिछत्र चाहे जहाँ भी रहा हो, सपादलक्ष और जांगलदेश की पहचान प्राय: नि:संदिग्ध और सर्वस्वीकृत सी है । सपादलक्ष का शाब्दिक अर्थ है सवालाख और उस युग में सवालाख गाँवों वाले कई क्षेत्रों के लिए यह नाम प्रयुक्त होता[१] था । **स्कन्दपुराण** के **कुमारीखण्ड**[२] (अध्याय ३९) में सयंभर अथवा शाकम्भर (साम्भर) अर्थात् सपादलक्ष के उल्लेख से स्पष्ट है कि सपादलक्ष सांभर का विशेषण था, जो कालान्तर में सांभर झील के आसपास के क्षेत्रों के लिए क्षेत्रनाम के रूप में प्रचलित हो गया । उसी प्रकार जांगलदेश नाम उसकी वन्य स्थितियों का सूचक था जो कई और भी क्षेत्रों के लिए प्रयुक्त होता[३] था । वास्तव में यह कुछ प्राकृतिक और वानस्पतिक विशेषताओं का सूचक था । संस्कृत शब्दकोषों की परिभाषा के अनुसार जांगलदेश उसे कहते हैं, जहाँ 'आकाश निर्मेघ (शुभ्र) रहता हो, घास कम उगती हो, तेज हवाएँ बहती हो', भीषण गर्मी होती हो, किन्तु पानी बरस जाने पर काफी अनाज पैदा होता हो'[४]; अथवा निरभ्र आकाश और प्रचंड हवाओं वाले उस देश को जांगलदेश कहते हैं जहाँ शमी, करील, बेल, मदार, पीलू और कर्कन्धु जैसे सुस्वादु फलवाले वृक्ष थोड़ा पानी पाकर भी (जीवित) रहते हों[५] ।' चाहमान शासनान्तर्गत मरुस्थल प्रदेशों के लिए ये परिभाषाएँ एकदम ठीक बैठती हैं और चाहमानों के जांगलदेश को शाकम्भरी—अजमेर क्षेत्रों के अतिरिक्त अन्यत्र खोजने की कोई आवश्यकता नहीं है ।

---

१. डॉ० भण्डारकर (इऐ०, १९११, पृष्ठ २८) सपादलक्ष को शिवालिक से मिलाते हुए बाबरनामा का साक्ष्य उपस्थित करते हैं जहाँ उसे 'सवलख, अथवा 'स्वलख' (सवा लाख शिखरों वाला) कहा गया है । किन्तु यह एक भूल प्रतीत होती है । वसाफ और मिनहाजुद्दीन जैसे अनेक मुसलमान इतिहासकार भी 'सवालाख' या 'शिवालिख' को राजपूताना में बताते हैं और उसका अर्थ सवालाख गाँवों और नगरों वाला मानते हैं । देखिए, इलियट् ऐण्ड डाउसन्, पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द ३, पृ० ११, ३१, ११० और २०० ।

२. देखिए, चि० वि० वैद्य, हिमेहिइ०; जिल्द २, पृ० ३९-४२ ।

३. देखिए, जएसो०, बेंगाल, १९२२, पृष्ठ २८७ । 'कुरुजांगल' और 'माद्रेयजांगल' इस प्रकार के कुछ उदाहरण हैं ।

४. स्वल्पोदक तृणे यस्तु प्रवात: प्रचुरातपा: । स स्यु: जांगलो देशो बहुधान्यादि-संयुत: । शब्दकल्पद्रुम, जिल्द २, पृ० ५२९ ।

५. आकाशशुभ्रश्च उच्चश्च स्वल्पपानीयपादप: । शमीकरीरविल्वार्कपीलूकर्कन्धु-संकुल: । हरिणैशर्ष्यपुषगोकर्णखरसंकुल: । सुस्वादुफलवानदेशो बातल: जांगल: स्मृत: ।। शब्दार्थचिन्तामणि, पृष्ठ ९९१ ।

प्रवृत्तियों का प्रदर्शन कर रहे थे' अथवा राजस्थान और मालवा के प्रतीहारों से राजनीतिक प्रभुता की प्रतियोगिता अथवा संघर्ष में लगे हुए थे । यदि ऐसा होता तो उनकी गोल मोल प्रशंसाओं के बजाय उनकी स्वतन्त्र राजनीतिक प्रतिष्ठा के सूचक विरुद और प्रतीहारों के विरुद्ध संघर्ष की चर्चाएँ उनसे सम्बद्ध साहित्य एवं अभिलेखों अथवा जोधपुर के प्रतीहारों के अभिलेखों में अवश्य मिलतीं ।

प्रथम दुर्लभराज

गोपेन्द्रराज के पुत्र[१] प्रथम दुर्लभराज ने मालवा के प्रतीहार शासक वत्सराज के साथ उत्तरभारतीय राजनीति में जोरदार ढंग से प्रवेश कर प्रभूत सैनिक यश और सफलता प्राप्त की । **पृथ्वीराजविजय**[२] की सूचना है कि उसने 'अपनी तलवार को गंगा और समुद्र के संगम स्थल (गंगासागर) में स्नान कराया तथा गौड देश का भोग (रसास्वाद) अर्थात् विजय की ।' राजस्थान के उस छोटे से शासक के लिए केवल अपनी शक्ति के बूते पर इतनी दूर पूर्व दिशा में अकेले बढ़ते हुए गौडदेश की विजय करना एवं गंगासागर के पवित्र स्थल तक युद्धरत सैनिक के रूप में पहुँच जाना सम्भव नहीं था । विद्वानों का प्रायः एकमत अनुमान है कि उसका यह सैनिक अभियान किसी अन्य बड़ी सत्ता के सहयोग में ही हुआ था । वह सत्ता प्रतीहारों की थी । वे उत्तर भारत की विजय में सन्नद्ध थे और उस पर स्थायी अधिकार के लिए बंगाल के पालों से संघर्ष प्रारम्भ कर चुके थे । इस संघर्ष का ज्ञान पालों और प्रतीहारों के समान शत्रु राष्ट्रकूटों के अभिलेखों से प्राप्त होता है । राधनपुर अभिलेख की स्पष्ट सूचना है कि वत्सराज ने 'खेलखेल में ही गौडराज की लक्ष्मी अपने अधीन (स्वीकृत) कर ली तथा शरदऋतु के चन्द्रमा की तरह गौडराज के दो धवल छत्रों को उसके यश के साथ ही छीन लिया ।'[३] इस अभिलेख से स्पष्ट है कि वत्सराज ने गौडराज्य पर चढ़ाई कर विजय पायी और गौड़ तथा वंग पर अधिकार के सूचक दो धवलछत्रों वाले पालों के राजचिह्न का अपहरण कर लिया । उस समय उसका प्रतिद्वन्द्वी गौड राजा धर्मपाल था । वत्सराज ने इस महदुपलब्धि के पूर्व निश्चय ही महान् सैनिक तैयारियाँ की होंगी और प्रथम दुर्लभ-राज उसी सैनिक सज्जा का घटक रहा होगा । इस सम्बन्ध में डॉ० मजुमदार का यह

---

१. पृथ्वीराजविजय में दुर्लभराज चन्द्रराज का पुत्र बताया गया है । पंचम, १८ ।

२. असिः स्नातोत्थितो यस्य गंगासागरसंगमे । चिरं गौडरसास्वादशुद्धो ब्राह्मणतां ययौ ।। पंचम, २० ।

३. हेलास्वीकृतगौडराज्यकमलां मत्ते प्रवेश्याचिरात् । दुमार्गं मरुमध्यमप्रतिबलैः यो वत्सराजं बलैः गौडीयं शरदिन्दुपादधवलं छत्रद्वयं केवलम् । तस्मान्नाहृततद्यशोऽपि ककुभं प्रांतेस्थितं तत्क्षणात् ।। एइ०, जिल्द ११, पृष्ठ १९६ और आगे ।

शताब्दी के मध्य में रखा। किन्तु डॉ० दशरथ शर्मा (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २३) उसका समय सातवीं शती के तीसरे चतुर्थांश में स्वीकार करते हैं। **पृथ्वीराजविजय** का कथन है कि वह अनेक सामन्तों का स्वामी[१] था। अत: उसे शाकम्भरी की चाहमान सत्ता का प्रभाव-विस्तार प्रारम्भ करने का श्रेय दिया जा सकता है।

नरदेव से गोपेन्द्रराज तक

सामन्तराज का उत्तराधिकारी नरदेव हुआ, जिसे बिजोलिया अभिलेख में पूर्णतल्ल अर्थात् पुन्तला (जोधपुर का एक गाँव) का शासक निर्दिष्ट किया गया[२] है। तत्पश्चात् सामन्त का पुत्र जयराज अथवा प्रथम अजयराज गद्दी पर बैठा। एक मान्यता है कि वह शक्तिशाली शासक था, जिसने अजमेर के किले और नगर की स्थापना की[३]। किन्तु उसके सम्बन्ध की आनुश्रुतिक कविप्रशंसाओं को बहुत महत्त्व नहीं दिया जा सकता। उसकी किसी विजय अथवा राजनीतिक उपलब्धि की स्पष्ट जानकारी के अभाव में हम उसके अजमेर-निर्माण की सूचना प्रामाणिक नहीं मान सकते। उसके बाद क्रमश: उसके पुत्र (प्रथम) विग्रहराज तथा प्रथम चन्द्रराज और गोपेन्द्रराज नामक दो पौत्रों ने राजगद्दी संभाली[४]। इनके सम्बन्ध में कोई महत्त्वपूर्ण राजनीतिक सूचनाएँ नहीं मिलतीं। स्पष्ट है कि सामन्तराज के बाद गोपेन्द्रराज तक शाकम्भरी के चाहमान शासक बहुत शक्तिशाली नहीं थे। कदाचित् तत्कालीन उत्तर भारत की अस्तव्यस्त राजनीतिक स्थिति में उन्हें अपनी सत्ता के विकास का यथेष्ट अवसर नहीं मिला। इस मान्यता[५] का कोई समर्थक प्रमाण नहीं है कि इस अवधि में शाकम्भरी के शासकगण 'स्वतन्त्र होने की स्पष्ट

---

१. सामन्तराजः सामन्तराजिकैरविणीरविः। पञ्चम, ७।

२. किन्तु अक्षयकीर्त्ति व्यास और डॉ० भण्डारकर पूर्णतल्ल को नरदेव का ही दूसरा नाम मानते हैं। देखिए एइ०, जिल्द २६, पृष्ठ ९७ तथा इन्स्कृप्शन्स् ऑफ् नार्दर्न् इण्डिया, एइ०, जिल्द २३, सं० ३४४।

३. रामवृक्ष सिंह, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ८६-८८। इस विश्वास का आधार प्रबन्धकोश का यह कथन (सिंधी जैन ग्रन्थमाला प्रकाशन, पृष्ठ १३३) है कि वह अजमेरु दुर्ग 'कारापकः' था। प्रबन्धकोश की रचना पृथ्वीराजविजय के बहुत बाद हुई, जो अजमेर अथवा अजयमेरु की स्थापना का श्रेय अजयदेव या द्वितीय अजयराज को देता है। द्वितीय अजयदेव को प्रबन्धकोश अपनी चाहमान वंशावली में स्थान भी नहीं देता। किन्तु पृथ्वीराजविजय में उसकी प्रभूत चर्चाएँ मिलती हैं। यह स्पष्ट है कि प्रबन्धकोश की सूचना भ्रमित है।

४. पृथ्वीराजविजय, पंचम, ११-७।

५. रामवृक्ष सिंह पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ८९-९०।

प्रतिष्ठा[१] पायी। हर्ष प्रस्तर अभिलेख की सूचना है कि गूवक ने कुलदेवता श्री हर्षदेव के मन्दिर का निर्माण कराया। प्रथम गूवक के पुत्र और उत्तराधिकारी द्वितीय चन्द्रराज (बिजोलिया अभिलेख के शशिनृप) के बारे में कोई विशेष बात नहीं ज्ञात होती। किन्तु उसका पुत्र द्वितीय गूवक अपने पितामह की तरह ही वीर था। उसने कान्यकुब्ज सम्राट् (सम्भवत: प्रथम भोज) से अपनी बहिन कलावती का विवाहकर[२] प्रतीहार-चाहमान सम्बन्धों को और दृढ़ता एवं आत्मीयता का स्वरूप प्रदान किया। इस सम्बन्ध में **पृथ्वीराजविजय** की यह सूचना एक काव्यात्मक अतिरंजन प्रतीत होती है कि गूवक ने कलावती के परिणय के इच्छुक बारह राजाओं को हराकर उनकी धनसम्पत्ति भी प्रतीहार सम्राट् को भेंट की। यह असम्भव नहीं है कि कलावती के विवाह के समय उसने अपनी ओर से कुछ उपहार दिये हों। चाहमानों के साथ इस सम्बन्ध से भोज उच्च राजनीतिक प्रतिष्ठा अर्जित करने में सफल हुआ, जिसका प्रमाण इन्द्रराज के प्रतापगढ़ अभिलेख से स्पष्टत: मिलता है[३]। गूवक का उत्तराधिकारी उसका पुत्र चन्दनराज हुआ। उसके समय प्रतीहारों की मित्रता का लाभ उठाते हुए चाहमानों ने अपनी प्रतिष्ठा और राज्य-सीमाओं की वृद्धि हेतु पार्श्ववर्त्ती राज्यों से संघर्ष प्रारम्भ कर दिया, जो हर्ष प्रस्तर अभिलेख की इस सूचना से प्रमाणित होता है कि चन्दनराज ने तोमर राजा रुद्र (रुदेन) का वध किया[४]। इस रुद्र की समता अधिकांश विद्वानों द्वारा दिल्ली क्षेत्र के आसपास शासन करने वाले किसी तोमर राजा से की गयी है। चन्दनराज के इस कार्य से चाहमानों का तोमरों से परस्पर प्रतिरक्षा और विस्तार के लिए वह कठोर संघर्ष छिड़ गया जो अगली लगभग तीन शताब्दियों तक अनवरत चलता रहा और विग्रहराज **वीसलदेव** द्वारा दिल्ली पर अधिकार करने के पूर्व कभी समाप्त नहीं हुआ। **पृथ्वीराजविजय** से ज्ञात होता है कि चन्दनराज की रानी रुद्राणी अथवा आत्मप्रभा महान् शिवभक्त थी और एक योगिनी के रूप में प्रसिद्ध थी। उसने पुष्कर तालाब के चारों ओर अंधकार को दूर करने के लिए १००० दीपों (प्रकाश स्तम्भों) की स्थापना[५] की।

---

१. चि० वि० वैद्य (हिमेहिइ०, जिल्द २, पृष्ठ ९५) की इस मान्यता का कोई आधार नहीं है कि गूवक एक स्वतंत्र शासक था, जिसने मुसलमानों के विरुद्ध युद्धों में यश पाया।

२. पृथ्वीराजविजय, पंचम, ३०-३२।

३. येन्नोचैः सुखमासितं क्षितिभृतश्रीभोजदेवेन च। श्लोक ५, एइ०, जिल्द १४, पृष्ठ १८०।

४. हत्वा रुद्रेन भूपं समरभुवि बलाद्येन लब्धा जयश्रीः। श्लोक १४, एइ०, जिल्द २, पृष्ठ १२१।

५. पृथ्वीराजविजय, पंचम, ३७-३९।

तर्क[१] मान्य नहीं हैं कि चूँकि **पृथ्वीराजविजय** की रचना इन घटनाओं के लगभग चार सौ वर्षों के बाद हुई, उसका दुर्लभराज की गौडविजय वाला उल्लेख विश्वास्य और सही नहीं माना जा सकता। उनकी दृष्टि में वत्सराज और धर्मपाल की मुठभेड़ कहीं दोआब में ही हुई[२] थी और गंगासागर पूर्वी बंगाल का गंगासागर नहीं था, अपितु गंगा-यमुना का संगमस्थल प्रयाग था। किन्तु जब तक **पृथ्वीराजविजय** और राघनपुर अभिलेख के साक्ष्यों के विपरीत कोई स्पष्ट साक्ष्य नहीं मिलता, इस बात में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता कि वत्सराज ने धर्मपाल को उसी के घर बंगाल (गौड) में हराकर उसके राजचिह्नों का अपहरण किया[३] था। उसके सैनिक सहायकों में दुर्लभराज प्रमुख था।

प्रथम गूवक से चन्दनराज तक

दुर्लभराज का पुत्र गूवक[४] हुआ। हर्ष प्रस्तराभिलेख में यह सूचना मिलती है कि 'गूवक ने नागावलोक के दरबार में वीर के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त की।'[५] यह नागावलोक वत्सराज का पुत्र और उत्तराधिकारी द्वितीय नागभट्ट था। स्पष्ट है कि प्रथम दुर्लभराज ने प्रतीहारों की अधिसत्ता स्वीकारकर उनकी छत्रछाया में चाहमान सत्ता के पल्लवन का जो क्रम प्रारम्भ किया वह उसके निकट के वंशजों के समय यथावत् चलता रहा और अन्य छोटे-छोटे चाहमान वंशों की तरह शाकम्भरी के चाहमान भी सामन्त रूप में कन्नौज के प्रतीहारों की सेवा में जुट गये। इस बात की अत्यधिक सम्भावना है कि गूवक ने धर्मपाल के विरुद्ध युद्धों में नागभट्ट की सैनिक सहायता करके ही उसके दरबार में वीर की तरह

---

१. हिस्ट्री ऑफ् बेंगाल जिल्द १, पृ० १०५।

२. डॉ० त्रिपाठी (हिस्ट्री ऑफ् कनौज, पृष्ठ २२०) की भी यही मान्यता है।

३. इस विषय पर पीछे देखिए, पृष्ठ १३२-१३४; दशरथ शर्मा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २५।

४. पृथ्वीराजविजय (पंचम, २१-२३) में दुर्लभराज और गूवक (गोवाक) के बीच में गोविन्दराज भी रखा गया है।

५. इऐ०, १९११, पृष्ठ २३९-४०; १९१३, पृष्ठ ५८; एइ०, जिल्द २, पृष्ठ १२१, श्लोक १२। सम्बद्ध श्लोक है :—

आद्यः श्रीगूवकाख्योप्रथितनरपतिश्चाहमानान्वयोऽभूत्।
श्रीमन्नागा (व) लोकप्रवरनृपसभालब्धवीरप्रतिष्ठः॥

डॉ० कीलहॉर्न इसका अनुवाद यह करते हैं कि 'चाहमान वंश के श्री गूवक ने श्री नागों और अन्य विश्वप्रसिद्ध राजाओं की सभा में वीर रूप में प्रतिष्ठा पायी। किन्तु अद्यतन ज्ञान के आधार पर यह अनुवाद सही नहीं स्वीकार किया जाता।

सेना थी, जिसका मुकाबला तंत्रपाल के धीरे-धीरे चलने वाले हाथी नहीं कर सकते थे। अतः चाहमान राजा अपने अधिराज के वश में नहीं आ सका। यदि इस 'क्ष्माभर' अथवा अधिराज की समता महीपाल से की जाय तो यह निश्चय प्रतीत होता है कि वाक्पतिराज ने प्रतीहारों के आधिराज्य का जुआ फेंककर पूर्णस्वतंत्र हो जाने का जोरदार उपक्रम प्रारम्भ कर दिया।

सिंहराज

वाक्पतिराज के बाद विन्ध्यनृपति अथवा विंध्यराज राजा हुआ। वह वाक्पतिराज का पुत्र प्रतीत होता है। किन्तु उसके बारे में कोई विशेष बात ज्ञात नहीं है। कदाचित् उसने बहुत थोड़े समय तक शासन किया। तत्पश्चात् उसका छोटा भाई सिंहराज[१] राज्यासनस्थ हुआ। उसने अपने पिता वाक्पतिराज की नीति जारी रखते हुए आसपास के राजाओं से युद्ध किया। हर्ष प्रस्तर अभिलेख की सूचना[२] है कि उसने तोमर नायक सलवण को मारकर उसके सहायक मित्रों को या तो भगा दिया अथवा कारागार में डाल दिया, जिन्हें छुड़ाने के लिए स्वयं 'रघुकुल भूचक्रवर्ती' को उसके यहाँ उपस्थित होना पड़ा। इस सन्दर्भ में चाहमान सत्ता के विकास के कई पक्षों पर एक ही साथ प्रकाश पड़ता है। सबसे मुख्य बात तो यह है कि सिंहराज समकालीन राजनीति में स्वतन्त्र रूप से भाग लेना प्रारम्भ कर चुका था और अब कन्नौज के प्रतीहारों की नाममात्र की अधिराजसत्ता की उसे कोई चिन्ता न थी। उस अधिराज की तेजी से क्षीण होती हुई सत्ता का यह बहुत बड़ा उदाहरण है कि उसे अपने ही चाहमान सामन्त (सिंहराज) के दरबार में अपने अन्य सामन्तों को कारामुक्त कराने के लिए स्वयं उपस्थित होना पड़ा। साथ ही, यह सिंहराज की बढ़ती हुई राजनीतिक और सैनिक शक्ति एवं प्रतिष्ठा का भी द्योतक है। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि उसके यहाँ उपस्थित होने वाला 'रघुकुलभूचक्रवर्त्ती' कौन था। उसका नाम तो स्पष्टतः ज्ञात नहीं ही है। स्वयं सिंहराज के शासन—समय के बारे में कोई निश्चय नहीं है। अतः अनुमान मात्र यहाँ सहायक होगा। अनेक विद्वानों के मत

---

१. दशरथ शर्मा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २८-९।

२. तोमरनायकं सलवणं सैन्याधिपत्योद्धतं
युद्धे येन नरेश्वराः प्रतिदिशं निर्न्ना (वर्णा) क्षिता विष्णुना।
कारावेश्मनि भूर्यश्च विधृतास्तावद्धि यावद्गृहे
तन्मुक्त्यर्थमुपागतो रघुकुलो भूचक्रवर्ती स्वयम्॥ एइ०, जिल्द २, पृष्ठ १२१-१२२, श्लोक १९।

वाक्पतिराज

चन्दनराज की रानी रुद्राणी से उत्पन्न पुत्र वाक्पतिराज अथवा वप्यराज अगला शासक हुआ। यद्यपि हर्ष अभिलेख में उसे **महाराज** मात्र की उपाधि दी गयी है, **पृथ्वीराजविजय** (पंचम, ४१) उसे १८८ विजयों का श्रेय देता है। इसे अतिरंजित मानते हुए भी इतना तो स्वीकार किया ही जा सकता है कि वह अनवरत युद्धों में व्यस्त रहा। उत्तर-भारत की राजनीतिक अवस्था में उस समय पुनः अस्थिरता आ गयी थी। ९१५-१६ ई० के आसपास राष्ट्रकूटों ने इन्द्र के नेतृत्त्व में प्रतीहार साम्राज्य को एक बार फिर रौंदा और उसकी सेनाएँ कन्नौज को ध्वस्त करती हुई प्रयाग तक पहुँच गयीं। किन्तु उनके लौटने के बाद भी प्रतीहार सत्ता अपना प्राचीन गौरव नहीं प्राप्त कर सकी। इन परिस्थितियों को प्रतीहारों के सामन्तकुल अपने लिए सुनहला अवसर मानकर अपनी शक्ति बढ़ाने में लग गये। वाक्पतिराज भी प्रतीहारों की कमजोर स्थिति का लाभ उठाते हुए अपनी सत्ता-विस्तार के लिए चतुर्दिक् युद्धों में लग गया होगा। कम-से-कम उसकी सैनिक सफलता के बारे में तो स्पष्ट जानकारी प्राप्त है। हर्ष प्रस्तर अभिलेख की सूचना है कि वाक्पति-राज ने 'अपने अधिराज (क्ष्माभर अर्थात् पृथ्वीपति) की आज्ञा से अनन्तदेश (अनन्तपार्श्व) की ओर तेजी से उद्दण्डतापूर्वक आते हुए एक तंत्रपाल को लौट जाने को विवश कर दिया'।[१] यह तंत्रपाल कोई पदनाम है अथवा व्यक्तिनाम, इस पर किसी निर्णयकारी साक्ष्य का अभाव है। प्रायः ऐसा माना जाता है कि वह गुर्जर प्रतीहार सम्राट् महीपाल का कोई राज्यपाल अथवा सूबेदार था[२], जिसका नाम क्ष्मापाल[३] था। जो भी हो, सम्बद्ध साक्ष्य से स्पष्ट है कि वाक्पतिराज के पास तेज दौड़ने वाले घोड़ों की एक कुशल

---

१. येनादैन्यं स्वसैन्यं कथमपि दधता वाजिवल्गामुमुक्षुः,
प्रागेव त्रासितेभः सरसिकरि रटडिंडमैर्डिण्डु (-जे)।
बन्यक्ष्माभर्त्तुराज्ञां हमदमभि (व) हन्तागतानंतपार्श्वं
क्ष्मापालस्तत्रपालो दिशि दिशि गमितो ह्रीविषण्णः प्रसण्ण (नः) ॥
एइ०, जिल्द २, पृष्ठ १२१, श्लोक १६।

२. ऐसी स्थिति में उज्जैनस्थित प्रतीहार तंत्रपाल से उसकी पहचान (रामवृक्षसिंह, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ९८-९९) का समर्थन नहीं किया जा सकेगा।

३. सम्बद्ध श्लोक की डॉ० भण्डारकर की यह व्याख्या स्वीकार नहीं की जा सकती कि तंत्रपाल के वाक्पतिराज को अपने धीभे हाथियों से न पा सकने के कारण उत्पन्न लज्जा से अभिभूत होने के बावजूद वाक्पतिराज ने उसकी (तंत्रपाल की पूजा की। उसके लिए ऐसा करना स्वाभाविक नहीं होता।

सम्प्रभु चाहमान सत्ता का विकास

डॉ० दशरथ शर्मा का अनुमान (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २९) है कि सिंहराज का पुत्र द्वितीय सिंहराज कुछ कठिन परिस्थितियों में राजगद्दी पर बैठा। इस अनुमान का आधार हर्ष अभिलेख का यह कथन है कि उसने 'अपने वंश की राजलक्ष्मी और विजयश्री का कष्ट से उद्धार किया'।[१] सिंहराज की विजयों का वर्णन करनेवाले श्लोक के तुरंत बाद का यह श्लोक इस बात की ओर अवश्य निर्देश करता है कि विग्रहराज को अपने शासन के प्रारम्भ में ही किसी विशेष चुनौती का सामना करना पड़ा। हो सकता है कि वह किसी शत्रु अथवा शत्रुसंघ का आक्रमण हो, जिसका वर्णन प्रशस्तिकार स्पष्टरूप से न करना चाहता हो। किन्तु यह निश्चितरूप से बताने का कोई साधन नहीं है कि वह चुनौती किसकी अथवा किनकी थी और यदि शत्रुओं ने चाहमान राज्य पर आक्रमण किया था तो उनमें कन्नौज का गुर्जर प्रतीहार शासक[२] भी सम्मिलित था या नहीं।

विग्रहराज की कीर्त्तियों का संग्रह वि० सं० १०३०=९७३ ई० के हरस (हर्ष) अभिलेख में मिलता है। उसमें कहा गया (श्लोक २१-२२) है कि 'सिंहराज के बाद मानों डरी हुई राज्यलक्ष्मी इस चिन्ता से त्रस्त थी कि अब उसका कौन (रक्षक) होगा[३], किन्तु विग्रहराज ने अपनी दोनों बाहुओं में दीर्घ अवधि तक उसे प्रतिष्ठित किया' और 'चारों ओर दुष्टों के दमन द्वारा सारी पृथ्वी को खेल ही खेल में अपने पैरों के नीचे मानों नौकरानी की तरह वशवर्त्तिनी बना लिया'।[४] पुनः श्लोक २३-२४ में उसकी सुख-सम्पदाओं का प्रशंसात्मक विवरण है, जो उसके सफल प्रशासन, सम्पन्न राजकोष एवं सैन्यशक्ति का परिचायक है। जयानकभट्ट (पंचम, ४८) कहता है कि उसने अपने घोड़ो की सेना से उठी धूल को अन्धकाररूप में परिवर्त्तित कर दिया।

विग्रहराज ने अपनी सर्वप्रमुख सफलता गुजरात के चौलुक्य शासक प्रथम मूलराज के विरुद्ध प्राप्त की। उसकी चर्चा हर्ष अभिलेख में कदाचित् इस कारण नहीं है कि वह

---

१. विग्रहराजोभूत्तत्सुत वासवोपमः।
वंशलक्ष्मीर्ज्जयश्रीश्च येनैते विधिरोद्धृते ।। एइ०, जिल्द २, पृष्ठ १२०, श्लोक २०।

२. डॉ० दशरथ शर्मा (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २९) की दृष्टि में कन्नौज के प्रतीहारों के नेतृत्त्व में किसी शत्रुसंघ ने सिंहराज पर आक्रमण किया था।

३. श्रीसिंहराजरहिता किल चिन्तयति भीतेव सम्प्रति विभुर्नन्नु को ममेति, येनात्मवा (बा) हुयुगले चिरसन्निवासं संधीरितेति ददता निज (रा) ज्यलक्ष्मीः ।। एइ०, जिल्द २, पृ० १२२, श्लोक २१।

४. इए०, जिल्द २, पृष्ठ, १२२, श्लोक २२।

में अपने सामन्तों को छुड़ाने के लिए शाकम्भरीराज के सम्मुख उपस्थित होनावाला प्रतीहार सम्राट् विजयपाल हो सकता है ।[१]

उपरोक्त सन्दर्भ में सिंहराज द्वारा तोमरनायक सलवण[२] के मारे जाने के उल्लेख से स्पष्ट है कि तोमरों से संघर्ष का जो क्रम चन्दनराज ने प्रारम्भ किया था, वह बन्द नहीं हुआ था । किन्तु इस तोमरनायक की पहचान तोमरराजा तेजपाल (९४०-९६१ ई०) से करना[३] समीचीन नहीं प्रतीत होता । सन्दर्भस्थ तोमरनायक वास्तव में तेजपाल का कोई सेनापति प्रतीत होता है, जो एक सैनिक संघ का नेतृत्त्व करता हुआ चाहमान क्षेत्रों पर चढ़ गया जान पड़ता है । किन्तु यह प्रमाणित है कि इस अभियान में उसे मुँह की खानी पड़ी ।

हम्मीरमहाकाव्य[४] के इस कथन पर कोई विश्वास नहीं किया जा सकता कि सिंहराज ने कर्णाट, लाट, गुजरात चोल और अंग के राजाओं को युद्ध में हराया । राजस्थान के उस जैसे एक छोटे शासक के लिए यह बिल्कुल असम्भव था कि वह इतनी दूर-दूर के देशों पर विजय पा सकने में सफल हुआ हो । **प्रबन्धकोश** (पृ० १३३) और **हम्मीरमहाकाव्य** (प्रथम, १०२) की सूचना है कि सिंहराज ने हेजिमुद्दीन अथवा हेतिम नामक किसी मुसलमान सेनापति को जेठन नामक[५] स्थान पर पराजित कर मार डाला । किन्तु अभिलेखों अथवा **पृथ्वीराजविजय** में इस घटना का कोई उल्लेख नहीं मिलता । सिन्ध और मुल्तान में स्थित मुसलमान सत्ता उस समय बहुत कुण्ठित और कमजोर थी और उसमें शाकम्भरी राज्य तक चढ़कर युद्ध करने की क्षमता नहीं थी । अतः इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट निर्णय नहीं किया जा सकता । तथापि सिंहराज की **महाराजाधिराज**[६] की उपाधि से इस बात में सन्देह नहीं रह जाता कि उसकी शक्ति तेजी से बढ़ रही थी ।

---

१. एइ०, जिल्द ३, पृ० २६६ और आगे; दशरथ शर्मा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २९ ।

२. हर्ष प्रस्तर अभिलेख के सम्पादक कीलहॉर्न तोमरनायक को सलवण का विशेषण न मानते हुए (एइ०, जिल्द २, पृ० ११७) सम्बद्ध पाठ का अर्थ करते हैं 'लवण सहित तोमरनायक' । किन्तु ये दोनों शब्द विशेषण-विशेष्य के अर्थ में ही प्रयुक्त हुए प्रतीत होते हैं ।

३. कनिंघम्, आसरि० १८६२-६३, जिल्द १, पृ० १४९ ।

४. प्रथम, ८८-१०२ ।

५. हरविलास शारदा ने जेठन की पहचान अजमेर से २० मील दूर स्थित जेठना नामक स्थल से की । देखिए स्पीचेज़् ऐण्ड राइटिंग्स्, पृ० २०१, पादटिप्पणी ।

६. एइ०, जिल्द २, पृ० १२४, ३४वीं पंक्ति ।

नदी के तीर तक पहुँचकर भृगुकच्छ में आशापुरी देवी का मन्दिर (धाम) बनवाने में सफल हुआ था[1] तो यह मूलराज पर उपर्युक्त आक्रमण के पूर्व की घटना प्रतीत होती है। भृगुकच्छ बारप की राजधानी थी, जिसका लाट पर अधिकार था और सम्भवतः वहीं दोनों ने गुजरात पर संयुक्त आक्रमण की योजना बनायी[2] थी। **हम्मीरमहाकाव्य** (द्वितीय, ९) का यह कथन सही नहीं जान पड़ता कि मूलराज विग्रहराज के हाथों मारा गया।

द्वितीय दुर्लभराज से प्रथम पृथ्वीराज तक (लगभग ९७३ से ११०५ ई०)

द्वितीय विग्रहराज कदाचित् अपुत्रक था। अतः उसके बाद उसका छोटा भाई द्वितीय दुर्लभराज गद्दी पर बैठा। दोनों भाइयों के आपसी प्रेम और सहयोग का परिचय हर्ष अभिलेख (श्लोक २६) से प्राप्त होता है, जहाँ यह कहा गया है कि 'दुलर्भराज अपने छोटे भाई विग्रहराज से वैसे ही विभूषित था जैसे लक्ष्मण से राम और कृष्ण से बलराम विभूषित थे'। राष्ट्रकूट धवल के विक्रम सं० १०५३ के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि दुर्लभराज ने नाडोल के चाहमान शासक महेन्द्र पर चढ़ाई[3] की थी। किन्तु इस बात की कोई जानकारी नहीं है कि इस आक्रमण का क्या कारण था। दुर्लभराज के दो निजी अभिलेख[4] भी प्राप्त हुए हैं, किन्तु उनसे राजनीतिक महत्त्व की कोई बात नहीं ज्ञात होती। उनमें वह **दुर्लध्यमेरु** (जिसकी आज्ञा का उल्लंघन न किया जा सके) कहा गया है, जो एक साधारण प्रशंसा जान पड़ती है। उसका पुत्र और उत्तराधिकारी द्वितीय गोविन्दराज **वैरिधरट्ट**[5] अर्थात् शत्रुओं को चूर करने वाला कहा गया है। राजशेखर अपने **प्रबन्धकोश** (पृ० १३३) में कदाचित् उसे ही गंड नाम देते हुए महमूद सुलतान के ऊपर विजय का श्रेय देता है। फिरिश्ता भी कहता है (ब्रिग्स्, प्रथम, पृ० ६९) कि महमूद को अपने १०२४-२५ के आक्रमण के समय मारवाड़ का मार्ग छोड़कर सिंध के मार्गों से इस कारण जाना पड़ा कि अजमेर के राजा ने गुजरात के राजा भीम के साथ एक बहुत बड़ी सेना लेकर उसका मार्गावरोध किया था। किन्तु वह अन्यत्र कहता है (ब्रिग्स्, जिल्द १, पृष्ठ ६९ और आगे) कि अजमेर का राजा उसके भय से अपनी राजधानी छोड़कर भाग गया। फिरिश्ता के साक्ष्यों की ग्रहणीयता के सम्बन्ध में पीछे हम कई बार

---

१. पृथ्वीराजविजय, पंचम, ५२-५३।

२. दशरथ शर्मा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३१, पादटिप्पणी ४।

३. मुनिजिनविजय, प्राचीन लेखसंग्रह, पृ० १७५ और आगे।

४. एइ०, जिल्द १२, पृ० ५६ और आगे।

५. पृथ्वीराजविजय, पंचम, ५७।

उसके प्रशासन की घटना थी। जयानकभट्ट अपने **पृथ्वीराजविजय**[1] में तथा चन्द्रशेखर **सुर्जनचरित** (षष्ठ, ३-१४) में बताते हैं कि विग्रहराज ने आक्रमणकारी के रूप में मूलराज को दबाते हुए कंथादुर्ग में शरण लेने को विवश किया और उसके राज्य के मध्य से होकर भृगुकच्छ नामक तीर्थ तक पहुँचकर वहाँ आशापुरी का मन्दिर बनवाया। विग्रहराज के चौलुक्य क्षेत्रों पर आक्रमण का प्रमाणीकरण स्वयं चौलुक्य राजाओं के समर्थक और पक्षपाती ग्रंथ **प्रबन्धचिन्तामणि**[2] से होता है। उसके उल्लेखों की तुलना यदि चाहमान साक्ष्यों से की जाय तो दोनों में कुछ बातें एकदम समान रूप से उपस्थित मिलती हैं। दोनों साक्ष्यों से यह प्रमाणित है कि चाहमान आक्रमण से त्रस्त होकर मूलराज को अपनी रक्षा के लिए कन्थादुर्ग में शरण लेनी पड़ी, जहाँ गुजरात के राजे विशेष विपत्तियों के समय ही भागकर छिपते थे।[3] **प्रबन्धचिन्तामणि** विग्रहराज का गुजरात पर आक्रमण उस समय हुआ बताता है जब तिलंगदेश के तैलिप (कल्याणी के चालुक्यवंश के संस्थापक द्वितीय तैलप) की सेनाओं ने भी बारप के नेतृत्त्व में उस पर दूसरी दिशा से आक्रमण किया था। यह विग्रहराज की राजनीतिक और सैनिक सूझ-बूझ एवं कुशल मोर्चेबन्दी का परिचायक है। मेरुतुंग का कथन है कि बारी-बारी से बारप और सपादलक्ष के राजा (विग्रहराज) से निपट लेने की चौलुक्यराज की योजना सफल नहीं हुई और उसे चाहमानराज के सम्मुख संधि का प्रस्ताव लेकर उपस्थित होना पड़ा। सम्बद्ध विवरणों से यह भी स्पष्ट है कि मूलराज के विरुद्ध चाहमानों को युद्ध में सफलता मिली[4] और उसने विग्रहराज के सामने जो संधि का प्रस्ताव रखा, वह हारे हुए[5] राजा जैसा था। किन्तु यदि विग्रहराज चौलुक्य राज्यक्षेत्रों को चीरता हुआ नर्मदा

---

१. त्यक्तं तपस्विना स्वच्छं यज्ञोंशुकमितीव यः।
गुर्जरं मूलराजाख्यं कंथादुर्गमवीविशत्॥ पंचम, ५१
व्यधादाशापुरीदेव्या भृगुकच्छे स धामतत्।
यद्रेवास्पृष्टसोपानं चन्द्रश्चुम्बति मूर्धनि॥ पंचम, ५३।

२. प्रचिद्वि, पृष्ठ २१-२२।

३. महमूद गजनवी के अण्हिलवाड़ के आक्रमण के समय भी भीम ने कन्थादुर्ग में शरण ली थी। देखिए, मु० नाजिम, लाइफ ऐण्ड टाइम्स् ऑफ् सुल्तान महमूद ऑफ् गजना, पृ० ११६। इस सम्बन्ध में और देखिए, इऐ०, जिल्द ६, पृष्ठ १८३-१८४। कन्थादुर्ग की पहचान कच्छ के वागड़ क्षेत्र में स्थित कन्थाकोट से की गयी है।

४. इस मत (रामवृक्षसिंह, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १२०) का कोई आधार नहीं है कि मूलराज ने अपनी कुछ भूमि विग्रहराज के अधिकार में दे दी।

५. देखिए, भगवान लाल इन्द्रजी, बम्बई गजेटियर, जिल्द १, भाग १, पृष्ठ १५९।

अभिलेख से प्राप्त होती है। राजशेखर अपने **प्रबन्धकोश** (पृ० १३३) में उसे 'सुल्तान का वध करने वाला' कहता है, जिसकी ओर **हम्मीरमहाकाव्य** और **सुर्जनचरित** भी यह कहते हुए निर्देश करते हैं कि उसने हेजिमुद्दीन नामक मुसलमान को पराजित कर मार[१] डाला। किन्तु इन सूचनाओं के विपरीत **पृथ्वीराजविजय**[२] से यह ज्ञात होता है कि चामुण्डराज के पुत्र द्वितीय दुर्लभराज को मातंगों के विरुद्ध युद्ध में अपनी जान से हाथ धोना पड़ा। इस सूचनाओं से यह स्पष्ट है कि आगे चिरकाल तक चलने वाले तुर्कों से चाहमानों के संघर्ष का प्रारम्भ इसी समय हुआ। महमूद गजनवी के बाद मसूद के नेतृत्त्व में तुर्क पंजाब (लाहौर) में जम गये और वहाँ से राजस्थान और पंजाब पर प्रायः धावे मारने लगे। भौगोलिक दृष्टि से पंजाब से सटे हुए होने के कारण चाहमान क्षेत्र उनके धावों के पहले धक्कों को सहने के लिए विवश थे, जिनमें उनकी सफलताएँ अथवा असफलताएँ विभिन्न राजाओं की व्यक्तिगत योग्यता और वीरता पर निर्भर थीं। डॉ० दशरथ शर्मा के मत (पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ३६) में तृतीय दुर्लभराज का अन्तक गजनी शासक (सुल्तान) इब्राहीम था, जिसने १०७९ ई० में पश्चिमी भारत पर एक जबरदस्त सैनिक अभियान[३] किया था।

किन्तु इसके पूर्व पश्चिमी दिशा में गुजरात के चौलुक्य राजा कर्णदेव (१०६४–१०९४ ई०) के विरुद्ध दुर्लभराज को कुछ सफलता मिल चुकी थी। **प्रबन्धकोश** (पृ० १३३) की प्रशंसोक्ति है कि दुर्लभराज ने चौलुक्यनरेश को हराया, उसे बाँधकर अपनी राजधानी लाया और अजमेर में मट्ठा बेचने के लिए लगा दिया। तथापि **हम्मीरमहाकाव्य** की यह सूचना स्वीकार नहीं की जा सकती कि कर्ण उसके हाथों मारा गया। **पृथ्वीराजविजय** (पञ्चम, ७८) से ज्ञात है कि कर्ण दुर्लभराज के उत्तराधिकारी तृतीय विग्रहराज के समय भी जीवित था। यह अवश्य है कि एक दूसरे की सीमाओं के सटे होने के कारण चाहमानों और चौलुक्यों में छिट-फुट युद्ध होते रहते थे, जिनका सिलसिला मूलराज और द्वितीय विग्रहराज के दिनों से ही चला आ रहा था।

---

१. देखिए, रामवृक्ष सिंह, पूर्वनर्दिष्ट, पृष्ठ ११५।

२. मातंगसागरे यस्मिन्वीरसिंहेस्तमागते (पंचम, ७०)। जयानक मातंग शब्द का प्रयोग मुसलमान (तुर्क) आक्रामकों के अर्थ में करता है। उसके टीकाकार (पंचम, ७०) जोनराज ने मातंग का अर्थ म्लेच्छ किया है, जो अन्यत्र कई साक्ष्यों में अरब, तुर्क और अफगान आक्रान्ताओं के रूढ़ार्थ रूप में प्रयुक्त हुआ है। देखिए, मिहिरभोज की ग्वालियर प्रशस्ति, एइ०, जिल्द १८, पृ० ९९ और आगे; चतुर्थ विग्रहराज का दिल्ली शिवालिक अभिलेख, इऐ०, जिल्द १९, पृष्ठ ११८।

३. तारीखे-फिरिश्ता, जिल्द १, पृष्ठ १३९।

सन्देह व्यक्त कर चुके हैं। एक तो अजमेर उस समय तक स्थापित नहीं हुआ था और दूसरे गोविन्दराज इतना शक्तिशाली नहीं प्रतीत होता कि उसके भय से महमूद अपना मार्ग परिवर्तन करने को विवश हुआ हो। गोविन्दराज की महमूद अथवा अन्य म्लेच्छ सेनाओं से किसी भिड़न्त की कोई चर्चा **पृथ्वीराजविजय** अथवा पहले के अन्य किसी अभिलेखीय या साहित्यिक साक्ष्य में नहीं मिलती[१]। अतः गोविन्दराज के हाथों महमूद की पराजय का उल्लेख सही नहीं जान पड़ता।

गोविन्दराज का पुत्र द्वितीय वाक्पतिराज अगला राजा हुआ। आधाट के गुहिल शासक अम्बाप्रसाद[२] पर उसकी विजय और उसके हाथों ही उसकी (अम्बाप्रसाद) की मृत्यु का उल्लेख **पृथ्वीराजविजय** करता[३] है। बाद में लिखे गये अनेक साहित्यिक साक्ष्यों में उसे परमार राजा भोज (१०१०-१०५५ ई०) और चेदि देश के राजा (गांगेयदेव अथवा कर्ण) का भी विजेता बताया गया है। किन्तु उन साक्ष्यों की स्वीकार्यता के सम्बन्ध में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। इन दोनों प्रदेशों के राजा इतने शक्तिशाली थे कि उनके विरुद्ध वाक्पतिराज को कोई सैनिक सफलता प्राप्त हुई हो, यह संभव नहीं प्रतीत होता। प्रत्युत्, वाक्पतिराज के उत्तराधिकारी वीर्याराम[४] को भोज के हाथों ही अपनी जान गँवानी पड़ी (**पृथ्वीराजविजय**, पंचम, ६७), जो इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि परमारों के दबाव से चाहमान त्रस्त थे और वे अपनी प्रतरिक्षा के लिए चिन्तित रहे होंगे। डॉ० दशरथ शर्मा का मत है (पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ३४ और ३५, टिप्पणी १६) कि वीर्याराम को मारकर भोज की सेनाओं ने कुछ दिनों के लिए चाहमान राजधानी शाकम्भरी पर अधिकार भी कर लिया था। किन्तु वीर्याराम के भाई और उत्तराधिकारी चामुण्डराज ने नाडोल के चाहमान शासक अण्हिल की सहायता से परमार आक्रमण को पीछे ढकेल दिया। इस हेतु लड़े गये युद्ध में अण्हिल ने भोज के साढ़ नामक सेनापति को मार डाला। इन घटनाओं की चर्चा चाचिगदेव के सुन्धा पहाड़ी

---

१. देखिए, हेमचन्द्रराय, डाहिनाइ, जिल्द २, पृष्ठ १०६९; दशरथ शर्मा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३४।

२. अम्बाप्रसाद शक्तिकुमार के बाद शासक हुआ और गुहिल अभिलेखों में उसे आम्र प्रसाद कहा गया है। देखिए, गौ० ही० ओझा, राजपूताना का इतिहास, जिल्द २, पृष्ठ ४४०।

३. अम्बाप्रसादमाघाटपतिं यः सेनयान्वितम्। व्यसृजन्यशसः पश्चात्पार्श्वदक्षिण-दिग्पतेः ।। भिन्नम्बाप्रसादस्य येनच्छुरिकयामुखम्। प्रतापजीवितासृग्भिः सममेव व्यमुच्यत ।। पंचम, ५९-६०।

४. पृथ्वीराजविजय (पञ्चम, ६५) में वीर्याराम वाक्पतिराज का पुत्र कहा गया है, किन्तु सोमेश्वर का बिजोलिया अभिलेख उसे उसका भाई बताता है।

ई०) और जयसिंह **सिद्धराज** (१०९४-११४२ ई०) का समकालिक था और यह सम्भव है कि उन दोनों में किसी की कोई सैनिक टुकड़ी या तो रास्ता भूलकर अथवा किसी दुस्साहसी धावे में चाहमान क्षेत्रों में आ गयी हो और पृथ्वीराज के हाथों दण्डित हुई हो। १२वीं शती में लिखे गये कुछ जैनग्रन्थों में कहा गया है कि उसने रणथम्भौर के जैन मन्दिरों के ऊपर 'कनक कलशों' की स्थापना[१] की। **पृथ्वीराजविजय** बताता है कि सोमनाथ के मन्दिर के मार्ग में उसने अन्नसत्र स्थापित किया। इससे दो बातें पुष्ट होती हैं। प्रथमत:, यह कि रणथम्भौर पर उसका अधिकार था और दूसरे, यह कि स्वयं शैव होते हुए भी वह जैन आदि अन्य सभी धर्मों का संरक्षक और आश्रयदाता था। राजशेखर[२] पूर्व के अनेक चाहमान राजाओं की तरह पृथ्वीराज को भी मुसलमानों के विरुद्ध युद्ध में सफलता का श्रेय देते हुए कहता है कि उसने बगुली शाह नामक किसी तुर्क आक्रामणकारी को पीछे ढकेल दिया। मुसलमान इतिहासकारों से इस बात की जानकारी होती है कि गजनी के सुलतान (हम्मीर) अलाउद्दीन तृतीय मसूद (१०९९-१११५ ई०) ने हाजी तुगतिगीन नामक अपने सेनापति को भारत पर आक्रमण के लिए भेजा, जो गंगा पारकर दोआब में इतनी दूर तक लूटता हुआ चला गया जितनी दूर सुल्तान महमूद के बाद का कोई तुर्क विजेता नहीं पहुँच सका था। सम्भव है कि बगुली शाह उसी का कोई नायक रहा हो, जो चाहमान क्षेत्रों में पृथ्वीराज के हाथों परास्त हुआ हो।

अजयराज (लगभग ११०५-११३० ई०) : मालवराजविजय

पृथ्वीराज का पुत्र अजयराज वि० सं० ११६२[३] के बाद ही कभी राजगद्दी पर बैठा। विभिन्न ग्रन्थों में उसे अजयदेव, सल्हण अथवा अल्हण भी कहा गया है। सोमेश्वर के बिजोलिया अभिलेख की सूचना है कि परमार-चाहमान सीमाओं पर अवन्तिराज नरवर्मा (१०९४-११३३) की सेनाओं से उसकी जमकर लड़ाई हुई, जिनमें विजयश्री उसी के हाथों रहीं। यहीं नहीं, उस युद्ध में चच्चिग, सिंधुल और यशोराज नामक तीन मालव वीरों (नायकों) को मारकर उसने नरवर्मा के सोल्हण नामक दण्डनायक अर्थात् सेनापति को जीवित पकड़ लिया[४]। **पृथ्वीराजविजय** (पंचम, ८५) सोल्हण अथवा

---

१. देखिए, दशरथशर्मा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ३८, नोट ३७।

२. वगुलीसाहसुरत्राणभुजमर्दी, प्रबन्धकोश, सिंधी जैन ग्रन्थमाला, पृष्ठ १३३।

३. उस वर्ष पृथ्वीराज ने जीर्णमाता मंदिर अभिलेख प्रकाशित किया था। उसके बाद कितने समय तक उसने शासन किया, इसकी जानकारी नहीं है।

४. हत्वा चच्चिगसिंधुलाभिधयशोराजादि वीरत्रयं।
क्षिप्रं क्रूरकृतान्तकुहरने श्रीमार्ग्गदुर्द्दान्वितम्॥

चाहमान-चौलुक्य तनाव तृतीय दुर्लभराज के भाई और उत्तराधिकारी तृतीय विग्रहराज (**वीसल** अथवा **विश्वल**) के समय भी जारी रहा। चौलुक्य परमारों के भी शत्रु थे। ऐसी दशा में उदयादित्य के कमजोर शासनकाल में परमारों ने चाहमानों से मित्रता कर लेना कूटनीतिक बुद्धिमानी मानी और उसने विग्रहराज से राजमती अथवा राजदेवी नामक अपने परिवार की एक राजकुमारी का विवाह कर दिया[१]। दोनों वंशों की मित्रता की परिचायक एक सूचना **पृथ्वीराजविजय** (पंचय, ७६-७८) और **सुर्जन-चरित** (षष्टम, ४७) से मिलती है, जिसमें कहा गया है कि विग्रहराज से प्राप्त सारंग नामक घोड़े और सेना की सहायता से उदयादित्य ने कर्णदेव[२] को हराया।

तृतीय विग्रहराज के बाद उसका पुत्र प्रथम पृथ्वीराज चाहमानों का राजा हुआ। उसके समय का (वि० सं० ११६२=११०५ ई०) का एक अभिलेख शेखावाटी के रेवासा नामक स्थान के निकट स्थित जीणमाता नामक देवी के एक मन्दिर से प्राप्त हुआ है, जो उसे **परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर** की विरुदावली[३] प्रदान करता है। इससे स्पष्ट है कि वह अपने निकट के पूर्वज राजाओं की अपेक्षा राजनैतिक और सैनिक दृष्टि से अधिक सफल था। यह निष्कर्ष साहित्यिक साक्ष्यों से भी प्रमाणित होता है। **पृथ्वीराजविजय** (पंचम, ८१) से ज्ञात है कि पुष्करतीर्थ में ब्राह्मणों को लूटने वाले सात सौ चौलुक्यों का उसने वध किया। प्रथम पृथ्वीराज कर्णदेव (१०६४-१०९४

---

१. बिजोलिया अभिलेख, जएसो०, बेंगाल, जिल्द ५५, पृष्ठ ४१, श्लोक १४; बीसल देवरासो (काशी नागरी प्रचारिणी सभा सं०, प्रथम, २०-७१) इस राजकुमारी को भोज की पुत्री बताता है।

२. उदयादित्य के कर्ण नामक दो शत्रु थे और बारी-बारी से उनके आक्रमणों ने मालवा के परमारों की तत्कालीन स्थिति अत्यन्त संकटमय कर रखी थी। नागपुर प्रशस्ति (एइ०, जिल्द २, पृष्ठ १८१) से ज्ञात होता है कि कर्णाट के राजा तथा कर्ण आदि अनेक शत्रुओं ने उसपर आक्रमण किया था। इस प्रशस्ति के सम्पादक डॉ० कीलहार्न के मत में यह कर्ण कलचुरिराज लक्ष्मीकर्ण (१०४२-१०७२ ई०) था। यह घटना १०६८ ई० के पूर्व की थीं, जब विग्रहराज चाहमान गद्दी पर नहीं बैठा था। अतः विग्रहराज ने जिस कर्ण के विरुद्ध उदयादित्य की सहायता की, वह गुजरात का राजा कर्णदेव (१०६४-१०९५) था। देखिए, धी० चं० गांगुली (हिस्ट्री ऑफ् दि परमार डाइनेस्टी, पृ० १३०); डॉ० अ० कु० मजुमदार दि चौलुक्यज् ऑफ् गुजरात पृ० ५७) और प्रतिपाल भाटिया, दि परमारज्, पृष्ठ १०३-१०४।

३. कैटेलाग ऑफ् दि मैनस्कृप्ट्स् इन दि पत्तन भण्डार्स्, पृ० ३१२।

कथन है कि अजयराज ने 'गजन मातगों' को हराया। यहाँ 'गजन' गजनी के लिए और 'मातंग' मुसलमान आक्रान्ताओं के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिन्हें कभी-कभी म्लेच्छ भी कहा जाता था। किन्तु **तबकाते-नासिरी** का कथन है कि गजनी के सुल्तान बहराम शाह (१११७-११५७ ई०) ने कई बार हिन्दुस्तान पर चढ़ाइयाँ कीं। बाद में उसने बहलीम[१] को हिन्दुस्तान का राज्यपाल नियुक्त किया। किन्तु उसने विद्रोह कर दिया और नागौर को जीतकर अपने एक सुदृढ़ गढ़ के रूप में परिवर्तित कर[२] चारों ओर धावे मारना प्रारम्भ कर दिया। उसके विद्रोह को दबाने के लिए बहराम शाह को स्वयं नागौर की दिशा में जाना पड़ा। मुल्तान में दोनों की मुठभेड़ हुई और बहलीम दलदल में फंसकर मर गया और बहराम वहीं से लौट गया। अजयराज उनका समकालिक था और उसे ही बहलीम के आक्रमणों का सर्वाधिक घात सहना पड़ा होगा। नागौर चाहमानों के राज्य का ही क्षेत्र था और उस पर मुसलमानों का अधिकार इस बात का द्योतक है कि अजयराज को अपने कुछ क्षेत्रों से हाथ धोना पड़ा। किन्तु मुसलमानों पर उसकी विजय सम्बन्धी **पृथ्वीराज-विजय** के साक्ष्य को प्रशंसा मात्र समझकर अविश्वास्य नहीं माना जा सकता। मिनहा-जुसिराज के उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि बहलीम के नागौर में अधिकृत होने के पूर्व बहराम शाह कई बार हिन्दुस्तान पर आक्रमण कर चुका था। चूंकि इन धावों में उसकी किसी विशेष विजय का उल्लेख नहीं है, यह मानना सही होगा कि इन धावों के सिलसिले में ही कभी उसे अजयराज से पराजित होना पड़ा। जयानक 'गजनान् मातंगान्' के प्रयोग से उसी की ओर निर्देश करता है, न कि उसके राज्यपाल बहलीम की ओर। तथापि बाद में बहलीम का नागौर पर अधिकार यह प्रकट करता है कि अजयराज की राज्यसीमाओं पर तुर्कों का दबाव कुछ समय के लिए बड़ा प्रचण्ड हो गया था। किन्तु यह जानने का कोई साधन नहीं है कि बहलीम की मृत्यु के बाद चाहमान पुनः नागौर पर अधिकृत हो गये अथवा नहीं।

युद्धजेता अजयराज निर्माण कार्यों में भी आगे थे। **पृथ्वीराजविजय** की सूचना (पञ्चम, ११८ और आगे) है कि उसने अपने नाम पर अजमेर (अजयमेरु) नगर बसा कर उसे अपनी नयी राजधानी बनायी, जो अनेक मंदिरों के कारण देवताओं का वासस्थल बन गयी। जयानक उसकी प्रशंसा करते थकता नहीं और कहता है कि वह काव्य धन्य नहीं है जिसमें उस नगर का वर्णन न हो। 'समुद्र के पार राम के द्वारा जीती हुई लंका और

---

१. प्रबन्धकोश (पृ० १३३) में कहा गया है कि आल्हणदेव (अजयदेव) ने सहाबदीन सुल्तान को हराया (सहाबदीन सुरत्राणजितः)। राजशेखर या तो बहराम शाह अथवा बहलीम को सहाबदीन सुल्तान कहता है।

२. तबकाते-नासिरी, इलियट् ऐण्ड डाउसन्, जिल्द २, पृ० २७९।

सुल्हण को मालवा का राजा बताता है। किन्तु इसे हम जयानक की भूल ही मानेंगे, क्योंकि परमारों के इतिहास से यह ज्ञात है कि उस समय धारा का राजा नरवर्मा[१] (१०९४-११३३ ई०) था। सम्बद्ध साक्ष्य के 'श्रीमार्ग्गदुर्द्दान्वितम्' का वास्तविक तात्पर्य क्या है, इस पर मतैक्य नहीं है। कुछ विद्वान्[२] श्रीमार्ग को श्रीपथ (भरतपुर के पास स्थित बयाना) से तथा दुर्द्द को बुन्देलखण्ड के दुधई से मिलाते हुए उन स्थानों पर भी अजयराज की विजय स्वीकार करते हैं। किन्तु डॉ० दशरथ शर्मा[३] के मत में दुर्द्द को दुर्ग्ग पढ़ना चाहिए और तदनुसार, उसे मालव सीमा का ही कोई किला मानना चाहिए, जिसमें चच्चिग आदि वीरों ने मोर्चेबन्दी कर रखी थी। यह सम्भव नहीं प्रतीत होता कि चन्देलों के राज्य में काफी दूर तक पहुंचकर दुधई पर अजयराज अधिकार कर सका हो। किन्तु बयाना पर अजयराज का अधिकार हो जाना असम्भव नहीं था। उसने अपनी राजधानी अजमेर में स्थित कर ली थी, जहाँ से भरतपुर के क्षेत्र काफी नजदीक पड़ते थे। मथुरा और उसके पार्श्ववर्ती क्षेत्रों से मिले हुए उसके चाँदी और ताँबे के सिक्के[४] निर्देश करते हैं कि वह उन प्रदेशों पर अधिकृत था।

तुर्कों से संघर्ष

अजयराज को तुर्क आक्रमणकारियों से अनवरत युद्ध करना पड़ा। किन्तु इस संघर्ष में उसकी सफलता को सही-सही निरूपित कर सकना इस कारण बहुत कठिन है कि दोनों पक्षों के साक्ष्य अपनी-अपनी विजय का दावा करते हैं। **पृथ्वीराजविजय**[५] का

श्रीमत्सोल्लणदण्डनायकवरसंग्रामरंणांगणे।
जीवन्तेव नियंत्रितः करभके—।। जएसो०, बेंगाल, जिल्द ५५, पृष्ठ ४१, श्लोक १५। अजमेर से प्राप्त एक अभिलेख (जराएसो०, १९१३, पृष्ठ २७२, पादटिप्पणी ५) से भी अजयराज की मालवविजय ज्ञात होती है।

१. एक प्रशस्ति में मालवा के विजित राजा का नाम स्पष्टरूप से नरवर्मा दिया गया (अवन्तिपर्यन्तेविजित नरवर्म्म) है। देखिए, दशरथ शर्मा, पूर्वनिर्दिष्ट, परिशिष्ठ जी (२), पृष्ठ १८०। अतः अब हेमचन्द्रराय (डाहिनाइ०, जिल्द २, पृष्ठ १०७१) की यह पहचान मान्य नहीं हो सकती कि सुल्हण यशोवर्मा (१०३४-१०४२) का सेनापति था।

२. इऐ०, जिल्द १५, पृष्ठ २३९; जएसो०, बेंगाल, जिल्द ५५, भाग १, पृष्ठ ४१ और आगे।

३. पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ३९, पादटिप्पणी ४६।

४. इऐ०, १९१२, पृष्ठ २०९।

५. यः सदन्तायुधकरान् परिहर्तव्यपंधतीन्, अत्यन्तगजनान् मत्तान् मातंगानजयद्रणे ।। पंचम, १४२

अर्णोराज (लगभग ११३०-११५० ई०)

अजयराज के बाद सोमल्लदेवी से उत्पन्न उसका पुत्र अर्णोराज चाहमान राज्य का उत्तराधिकारी हुआ । उसके नाम के कई रूप मिलते हैं, यथा—आणा, आनाक, अन्ना, अनलदेव अथवा आनलदेव । **पृथ्वीराजविजय** से ज्ञात होता है कि अजयदेव ने स्वयं उसे राजगद्दी पर बिठाया और स्वर्ग प्राप्त करने की इच्छा से सांसारिक जीवन छोड़ दिया[१] । इस उल्लेख का समर्थन अजमेर संग्रहालय में पायी जाने वाली एक प्रशस्ति से भी होता[२] है, जिसमें कहा गया है कि अजयराज ने अपने अन्तिम दिन पुष्करतीर्थ के जंगलों में तपस्या हेतु बिताये । अर्णोराज के राज्यारोहण की तिथि १०३० ई० के आसपास स्वीकार की जाती है । साथ ही, अनेक साक्ष्यों के आधार पर यह निश्चय किया गया[३] है कि उसने लगभग ११५० ई० तक शासन किया । अर्णोराज ने एक शक्तिशाली और विजेता राजा के रूप में अपनी समकालिक राजनीति में भाग लिया और प्रभूत सफलताएँ पायीं । वास्तव में चतुर्थ विग्रहराज **वीसलदेव** और तृतीय पृथ्वीराज के दिनों में चाहमान सत्ता और गौरव का जो चतुर्दिक् प्रस्फुटन हुआ, उसका बीजारोपण अर्णोराज ने ही किया था । शेखावाटी क्षेत्र के रेवासा नामक स्थान के निकट जीणमाता मन्दिर के सभामण्डप से प्राप्त[४] वि० सं० ११९६=११३९ ई० के उसके दो अभिलेख उसे **महाराजाधिराज परमेश्वरपरमभट्टारक** की उपाधियां देते हैं, जो उसके गौरव की सूचक हैं ।

तुर्क विजय

अर्णोराज की सर्वमुख्य उपलब्धि तुर्क-विजय थी । उसके समय भी गजनी और लाहौर के यमीनी शासकों का राजपूताना पर दबाव बना रहा । सम्भवतः लाहौर की ओर से वे दक्षिण की ओर बढ़ने का प्रयत्न कर रहे थे और अजमेर तथा पुष्करतीर्थ उनके आक्रमणों का लक्ष्य था । जयानक अर्णोराज की शिव से तुलना करता हुआ 'उन्मत्त मातंगराजाओं' के आक्रमण[५] का जो काव्यात्मक विवरण देता है उससे अनेक ऐतिहासिक

---

१. एवंविद्याजयमेरुगिरेः प्रतिष्ठा कृत्वा सकौतुक इवाजयराजदेवः ।
दौर्वीयसंहतनयं तनयं विधाय सिंहासने त्रिदिवमीक्षितुमुच्चचाल ।। पंचम्, १८४ ।

२. दशरथ शर्मा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ४२ तथा परिशिष्ट १ ।

३. वहीं, पृष्ठ ४३-४४ तथा नोट ७ (पृ० ४४) ।

४. आसरि०, पश्चिमी चक्र, १९०९-१०, पृष्ठ ५२ ।

५. सर्वोर्वीप्रकटविघटनोन्मत्तमातंगराज त्रासायासवतार व्यवसितमकरोत् पुष्करक्षेत्र-मेकम् । पंचम्, १८५ ।

समुद्र के मध्य कृष्ण की बसायी हुई द्वारका नामक नगरीद्वय अजमेर नगरी की दासी भी होने के लायक नहीं है' । वास्तव में जयानक द्वारा अजमेर की विशद प्रशंसा अपने नगर और अपने आश्रयदाता (तृतीय पृथ्वीराज) की राजधानी की प्रशंसा थी, जो वह अजयराज पर प्रतिष्ठापित कर देता है । इसमें सन्देह नहीं है कि अजमेर का भौगोलिक वैशिष्ठय और सामरिक महत्त्व अजयदेव ने भलीभाँति आँका होगा । डॉ० दशरथ शर्मा के मत (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ४०) में यह नगर मुसलमानी आक्रमणों के मुकाबले के लिए पहाड़ी पर स्थित होने के कारण मैदानी शाकम्भरी की अपेक्षा अधिक उपयोगी जान पड़ा होगा । साथ ही शिथिलित परमार राज्य पर आक्रमणों में भी यहाँ से सुविधा रही होगी । वि० सं० ११७०=१११३ ई० में जिनरक्षित ने पल्ह की **पट्टावली** की एक प्रतिलिपि धारानगरी में तैयार की थी, जिसमें अजमेर का उल्लेख है । अत: उसके पूर्व इसकी प्रतिस्थापना हो चुकी होगी ।

जयानक की दूसरी सूचना है कि 'अजयदेव ने 'चाँदी (दुर्वर्ण) के रूपयों अर्थात् सिक्कों से पृथ्वी भर दी' और 'उस पृथ्वी को कवियों ने अपने सुवर्णों=अच्छे अक्षरों=सत्काव्यों से भर दिया'[१] । कुछ सिक्के उसने अपनी रानी सोमलेखा अथवा सोमल्लदेवी[२] के नाम से भी चलाये, जिसके बारे में यह कहा गया है कि वह नित्यप्रति नये रूपयों (सिक्कों) को चलाकर (दान देकर) अपने हाथ पवित्र किया करती थी[३] । इन उक्तियों का समर्थन वर्तमान समय में पाये गये अजयराज के सिक्कों के उन अनेक ढेरों से होता है, जो चाँदी और ताँबे दोनों ही धातुओं से निर्मित हैं । उनमें ऊपरी ओर बैठी हुई देवी की एक मूर्ति अंकित है और नीचे की ओर **श्री अजयदेव** लिखा हुआ है । उसकी रानी के सिक्कों पर ऊपर या तो घुड़सवार या राजा का सिर बना है और नीचे नागरी अक्षरों में **श्री सोमल्लदेवी** लिखा मिलता है । सोमेश्वर के समय के कम-से-कम दो अभिलेख मिलते हैं, जो इस बात का प्रमाण उपस्थित करते हैं कि अजयदेव की मुद्राएँ चाहमान राज्य में आगे भी चलती रहीं[४] ।

---

१. स दुर्वर्णमयैर्भूमीरूॅपकै: पर्यपूरयत् । तां सुवर्णमयैस्तत्र कविवर्गस्त्वपूरयत् ।। पञ्चम, ८८ ।

२. पृथ्वीराजविजय रानी का नाम सोमलेखा देता है, किन्तु वही नाम बिजोलिया अभिलेख में सोमल्लदेवी मिलता है ।

३. पृथ्वीराजविजय, पंचम, ९० ।

४. दशरथ शर्मा, नागरीप्रचारिणी पत्रिका, जिल्द ४५, पृष्ठ ३५७ और आगे; गौ० ही० ओझा, इऐ०, १९१८, पृ० २०९-२११; राजपूताना म्यूजियम् रिपोर्ट, १९२३, पृष्ठ २ पर इन सिक्कों के सम्बन्ध का लेख है—तत्काल वर्तमान रूप्यमय श्री अजयदेव मुद्रांकित द्रम्म षोडश ।

था। अजयराज और अर्णोराज ने नरवर्मा को पराजित किया, जिसकी चर्चा बिजोलिया अभिलेख के एक श्लेषालंकृत श्लोक में की गयी[१] है। वहाँ हारे हुए राजा का नाम निर्वाणनारायण दिया हुआ है जो नरवर्मा का विरुद[२] था। अजमेर संग्रहालय की प्रस्तर प्रशस्ति में वह नाम स्पष्ट रूप में नरवर्म्म[३] दिया गया है। इस युद्ध के ब्यौरे के बारे में केवल इतना ही ज्ञात होता है कि अर्णोराज के सैनिकों ने हारे हुए मालवेश की सेना के हाथियों पर बलात् अधिकार कर लिया[४]। चूँकि नरवर्मा का उत्तराधिकारी यशोवर्मा ११३४ ई० के आसपास राज्यासीन हो चुका था, यह निश्चित है कि उसके पूर्व अर्णोराज का मालवा पर आक्रमण हो चुका था। ऐसी स्थिति में इसे अर्णोराज की राज्यप्राप्ति (लगभग ११३० ई०) के तुरन्त अथवा थोड़े ही दिनों के बाद की घटना मानना होगा।

अर्णोराज की अन्य विजयें

उपर्युक्त चौहान प्रशस्ति से अर्णोराज के कुछ अन्य सैनिक अभियानों का भी ज्ञान प्राप्त होता है। इस प्रशस्ति और हेमचन्द्रसूरि के कुछ उल्लेखों के आधार पर डॉ० दशरथ शर्मा का अनुमान (पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ४५) है कि अर्णोराज ने पूर्वी पंजाब में मद्र और बाहीक देश (सिन्ध) की विजयें कीं। उस सिलसिले में यह कहा गया है कि अर्णोराज के सैनिकों ने यमुना नदी का पानी गंदला कर दिया और हरितानक देश की स्त्रियों के आँसू बहाये। इस उल्लेख से स्पष्ट है कि चाहमान सेनाओं ने तोमरों[५] के राज्यक्षेत्र हरितानक अर्थात् हरियाणा पर आक्रमणकर कुछ सफलता पायी। असम्भव नहीं है कि बिजोलिया अभिलेख में अर्णोराज द्वारा कुशवारण[६] देश की विजय की जो चर्चा आती है

यह सही नहीं जान पड़ता। इस सम्बन्ध में देखिए, प्रतिपाल भाटिया, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ११७।

१. तं चित्र प्रतिभासते सुकृतिना निर्व्वाणनारायण—न्यक्काराचरणेन भंगकरणं श्रीदेवराजं प्रति ।। एइ०, जिल्द २६, पृ० १०४, श्लोक १७।

२. आसरि० पश्चिमी चक्र, १९१३–१४, पृष्ठ ५९।

३. जयश्रियं श्री नरवर्म्म च (?) रैः कुमार। चौहानप्रशस्ति, १४वीं पंक्ति।

४. वहीं; दशरथ शर्मा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १८१।

५. दिल्ली पर उस समय तोमरों के अधिकार की पुष्टि अनेक अभिलेखों से होती है। देखिए, दे० रा० भण्डारकर, इन्स्क्रृप्शन्स् ऑफ् नार्द्रर्न इण्डिया, संख्या ५९८ और ६०३; एइ०, जिल्द १, पृष्ठ ९८ और आगे।

६. बिजोलिया अभिलेख एइ०, जिल्द २६, पृष्ठ १०४, श्लोक १७। इस अभिलेख के सम्पादक अक्षयकीर्त्ति व्यास ने समझा (पृष्ठ ९४) कि कुश और वारण दो देश थे, जिसमें कुश का तात्पर्य कुशस्थल अर्थात् कन्नौज से था। किन्तु कन्नौज पर उस

तथ्यों की जानकारी होती है। तदनुसार[१], 'अर्णोराज, अजमेर से निकलकर तुर्क सेनारूपी समुद्र के लिए बडवाग्नि रूप बन गया।' उसकी भागती हुई सेना या तो अजमेर के सैनिकों के लोहघात से प्रताड़ित होकर मरने लगी अथवा स्वयं धारण किये हुए कवचों के बोझ में दबने लगी। भागते हुए आक्रमणकारी प्यास के मारे अपने ही शस्त्रों से अपने घोड़ों की गर्दनों पर प्रहारकर उनका खून पीने को विवश हुए। न जाने कितने तो मरकर मरुबालुकाओं की ढेरों में दब गये तथा राजमार्गों पर पड़े हुए शवों से निकलती हुई असह्य दुर्गन्ध से बचने के लिए बहुतों को ग्रामीणों ने जला दिया। म्लेच्छों के रक्त से पृथ्वी अपवित्र और चिरकाल के लिए वीभत्स हो गयी तथा जिस स्थान पर चाण्डाल सेना मारी गयी, वह स्थल शवाहारी जीवों के कोलाहल से रौद्र रूप धारण करने लगा। अत: उस म्लेच्छ–मारणस्थान की विशुद्धि के लिए राजा ने एक तटाक अर्थात् झील का निर्माण किया'। उस झील को भरने के लिए चन्द्रा नदी (कदाचित् आधुनिक लूनी) उसमें गिरायी गयी। अजमेर संग्रहालय से प्राप्त होने वाली चौहानों की एक खण्डित प्रशस्ति में कहा गया है कि 'मारे हुए तुर्कों के रक्त से लाल हो जाने वाली अजमेर की भूमि ने अपने स्वामी का विजयोत्सव मनाने के लिए मानों कसुम्भरक्त (रक्त लाल) रंग के कपड़े पहन लिया।'[२]

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि मुसलमान इतिहासकार अजमेर में तुर्क आक्रमकों की इस पराजय का कोई उल्लेख नहीं करते। उनकी यह चुप्पी समकालिक भारतीय साहित्यिकों, जीवनवृत्तलेखकों और प्रशस्तिकारों के समान ही है जिनमें अपने स्वामियों की हार का उल्लेख न करने की आदत सी बन गयी थी। ऐसी स्थिति में यह ज्ञात नहीं है कि अजमेर–पुष्कर पर इस तुर्क आक्रमण का कौन नेता था अथवा उनका क्या समय था।

नरवर्मा पर विजय

परमारों की गिरी हुई अवस्था महत्त्वाकांक्षी विजेताओं को अवन्ति पर आक्रमण के लिए मानों खुला निमंत्रण दे रही थी। इस स्थिति में वह अर्णोराज के नेतृत्त्व में चाहमानों और जयसिंह **सिद्धराज** के नेतृत्त्व में चौलुक्यों का चारागाह सा बन गया। इन दोनों का उसपर बराबर दबाव कदाचित् एक दूसरे की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने की दृष्टि से प्रेरित[३]

---

१. यह विवरण अत्यन्त संक्षिप्त रूप में पृथ्वीराजविजय (षष्ठ, १–२०) का प्राय: शाब्दिक अनुवाद है।

२. तुरुष्करक्तैविराजित स्माजयमूरुभूमि: । जयोत्सवे जीवितवल्लमस्य वासो वसानेव कुसुम्भरक्ताभ। दशरथ शर्मा द्वारा (पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १८१ पर) उद्धृत।

३. अ० कु० मजुमदार की मान्यता है (चौलुक्यज् ऑफ् गुजरात, पृष्ठ ७१–७४) कि अर्णोराज ने जयसिंह की सहायता के लिए मालवा पर आक्रमण किया। किन्तु

से उसने चाहमान शासक को शान्त रखने के लिए वैसा किया[१] हो। यह भी सम्भव है कि अर्णोराज ने चाहमान क्षेत्रों से चौलुक्य अधिकार समाप्त करने के लिए जो युद्ध छेड़ा हो उसका दबाव जयसिंह **सिद्धराज** सतत रोक न सका हो। जयसिंह की पुत्री अर्णोराज को ब्याही थी, इसका समर्थन **पृथ्वीराजविजय**[२] से होता है। वहाँ उसका नाम कांचनदेवी दिया हुआ है। उपर्युक्त वैवाहिक सम्बन्ध से कुछ दिनों के लिए चाहमान-चौलुक्य सम्बन्ध अपेक्षाकृत सुधर गये। किन्तु उनमें न तो मधुरता[३] आयी और न वे सुधरे हुए सम्बन्ध बहुत दिनों तक चल सके। जयसिंह **सिद्धराज** की मृत्यु (११४२ ई०) होते ही उसके उत्तराधिकारी कुमारपाल से अर्णोराज का संघर्ष पुनः प्रारम्भ हो गया।

कुमारपाल के अण्डिलवाड़ की गद्दी पर बैठने के थोड़े दिनों के भीतर ही अर्णोराज ने उसके राज्य पर चढ़ाई कर दी। इसकी सबसे पहली सूचना हेमचन्द्र अपने **द्वयाश्रय-काव्य**[४] में देता है। उसका टीकाकार अभयतिलकगणि सम्बद्ध स्थलों की व्याख्या करते हुए बताता है कि अर्णोराज ने कुमारपाल को कमजोर समझकर गुजरात पर आक्रमण कर दिया। **प्रबन्धचिन्तामणि**[५] के अनुसार चाहड नामक जयसिंह **सिद्धराज** के प्रतिपन्न (गोद लिये हुए) पुत्र ने स्वयं को अपमानित समझकर पहले तो कुमारपाल के सामन्तों और राज्याधिकारियों को घूस आदि देकर अपनी ओर मिलाया और पुनः अर्णोराज से मिलकर उसके साथ गुजरात की सीमाओं पर चढ़ाई कर दी। किन्तु आबू के पास लड़े गये युद्ध में दोनों ही हारे। जैन ग्रन्थ इस सम्बन्ध में यह भी बताते हैं कि अर्णोराज ने इस अवसर पर कुमारपाल के विरुद्ध अनेक राजाओं का एक सैनिक संघ तैयार कर रखा

---

१. दशरथ शर्मा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ४७।

२. पंचम, २९। डॉ० शर्मा (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ४७, पादटिप्पणी २३) इस श्लोक की संख्या ३४ देते हैं। किन्तु डॉ० ब्यूलर की प्रति के अनुसार यह सं० २९ होनी चाहिए। जोनराज ने अर्णोराज की दो रानियाँ बतायी हैं। पहली और जेठी रानी थी सुधवा, जो मरुभाग (मारवाड़) की राजकुमारी थी। दूसरी थी गुर्जरराज जयसिंह की पुत्री कांचनदेवी (गूजरेन्द्री जयसिंहस्तस्मै यां दत्तवान् साकांचनदेवी), जिससे सोमेश्वर उत्पन्न हुआ था।

३. अ० कु० मजुमदार (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ७१) की इस मान्यता का कोई आधार नहीं है कि इस मित्रता के फलस्वरूप अर्णोराज ने जयसिंह सिद्धराज की मालवनरेश नरवर्मा के विरुद्ध सहायता की।

४. १६वाँ, ७, १४।

५. प्रचिद्वि०, पृष्ठ ९४-९६।

वह हरियाणा पर किये गये अभियान के प्रत्यावर्त्तन के समय की उपलब्धि हो। कुश-वारण वरन अथवा बुलन्दशहर था, जहाँ गाहडवालों की छत्रछाया में द्रोण राजपूतों की कोई स्थानीय सत्ता स्थापित थी। किन्तु इन अभियानों से अर्णोराज की राज्यसीमाओं में कोई वृद्धि नहीं हुई। दिल्ली-हरियाणा अब भी तोमरों के अधिकार में बना रहा और उस पर अधिकार के लिए अर्णोराज के पुत्र चतुर्थ विग्रहराज के समय तक चाहमानों को संघर्ष करना पड़ा।

चौलुक्यों से संघर्ष

अर्णोराज को जितनी सफलता आक्रामक तुर्कों और मालवा के विरुद्ध मिली, उतनी गुजरात के चौलुक्य शासकों के मुकाबले नहीं प्राप्त हुई। इस सम्बन्ध के प्रायः सभी साक्ष्य चौलुक्य पक्ष प्रस्तुत करनेवाले जैन लेखकों के ग्रन्थ ही हैं, जिनमें जयसिंह और कुमारपाल की सफलताओं को बढ़ाचढ़ाकर दिखाया गया है। अजयराज के समय गजनी के शासक बहरामशाह और बहलीम नामक उसके राज्यपाल के नागौर पर अल्प-कालिक अधिकार की चर्चा की जा चुकी है। उनके उपद्रवों के शान्त होने के बाद थोड़े समय के लिए जयसिंह **सिद्धराज** ने नागौर[१] के साथ सांभर भी अधिकृत कर लिया था[२]। सम्भवतः इन प्रदेशों की वापसी के लिए ही अर्णोराज ने जयसिंह से युद्ध[३] छेड़ा। जैन ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि यद्यपि उस युद्ध में सैनिक सफलता चौलुक्यराज को ही मिली और चाहमान नरेश को उसकी सत्ता का गौरव स्वीकार करना पड़ा, अन्ततः जयसिंह ने अर्णोराज से अपनी पुत्री का विवाहकर उससे मित्रता का सम्बन्ध स्थापित कर लेना ही राजनीतिक दृष्टि से बुद्धिमानी मानी। ऐसा उसने क्यों किया, इसका सही-सही उद्घाटन तो किसी साक्ष्य से नहीं होता, किन्तु ऐसी सम्भावना हो सकती है कि तत्कालीन मालवा के कमजोर शासक यशोवर्मा (११३४-११४३ ई०) के क्षेत्रों को हस्तगत कर लेने की दृष्टि

समय गाहडवाल वंश का सबसे शक्तिशाली राजा गोविन्दचन्द्र शासन करता था। उस पर अर्णोराज के आक्रमण और विजय की कोई सम्भावना नहीं दिखायी देती।

१. प्रभावकचरित के देवसूरिचरित (श्लोक ७०-८०) में जयसिंह के वि० सं० ११७८ में नागौर पर अधिकार का उल्लेख है।

२. इऐ०; १९२९, पृष्ठ २२३-२२६।

३. हेमचन्द्रकृत द्वयाश्रयकाव्य, १६वाँ, १९-२१ और १८वाँ, ८४; सोमेश्वरकृत सुरथोत्सव १५वाँ, २२वाँ तथा कीर्त्तिकौमुदी, द्वितीय २७-२८; मेरुतुंग, प्रबन्धचिन्तामणि, सिंधी जैन ग्रन्थमाला, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ९१।

कि देवल्लदेवी नामक न तो कोई कुमारपाल की बहिन थी और न अर्णोराज की रानी ही। तथाकथित देवल्लदेवी और उसके सम्बन्ध की घटना यदि सही होती तो हेमचन्द्र जैसे पहले के लेखक उसकी चर्चा अवश्य करते। बाद के लेखक उसकी चर्चा निश्चय ही किसी गैरजानकारी और भ्रम के कारण करते हैं, जो ऐतिहासिक तथ्यों पर आधृत नहीं है। उनकी दृष्टि में परवर्त्ती कथा के विवरण में शैव अर्णोराज के विरुद्ध जैनियों की धार्मिक प्रतिद्वन्द्विता के भी तत्त्व हो सकते हैं।

डॉ० दशरथ शर्मा ने अर्णोराज और कुमारपाल के दोनों युद्धों के ब्योरों का जो स्वरूप खींचा है (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ५४–५५), वह व्यक्तिगत निर्णयों के आधार पर स्वीकार अथवा अस्वीकार किया जा सकता[१] है। वास्तव में सम्बद्ध जैन ग्रन्थों के विवरण इस प्रकार एकत्रित कर दिये गये हैं कि कोई भी सर्वसम्मत चित्र नहीं खीचा जा सकता। किन्तु दोनों पक्षों के बीच युद्ध दीर्घकालिक था, यह **प्रभावकचरित** से स्पष्ट है। वहाँ यह कथित है कि युद्ध बारह वर्षों तक चलता[२] रहा। जो भी हो, उस संघर्ष के अन्तिम परिणाम में कुमारपाल का पल्ला भारी पड़ा और अर्णोराज को उससे अपनी पुत्री जल्हणादेवी का विवाहकर शान्ति मोल लेनी[३] पड़ी।

कुमारपाल के विरुद्ध युद्धों में हारने के बावजूद अर्णोराज ने अपनी प्रतिष्ठा नहीं खोयी। उसे न तो अपने राज्य की कोई भूमि छोड़ने को विवश होना पड़ा और न अजमेर पर चौलुक्यों का कभी अधिकार ही हुआ। उसकी जितनी चर्चाएँ जैन साहित्य में आती हैं, उतनी किसी और चाहमान राजा की नहीं आतीं। यह इस बात का प्रमाण है कि उसकी सत्ता और शक्ति का लोहा शत्रुदल भी मानता था। पुष्कर और अजमेर पर आक्रमण करने वाले तुर्कों को बुरी तरह हराकर उसने केवल सपादलक्ष देश को ही नहीं बचाया, अपितु एक दीवार की तरह खड़े होकर गुजरात आदि दक्षिण के देशों को भी मुसलमानी अभियानों से लगभग बीस वर्षों के लिए सुरक्षित कर दिया, जो उसकी सबसे

---

१. अ० कु० मजुमदार दोनों युद्धों का क्रम कुछ और ही प्रकार से देते हैं। पूर्वनिर्दिष्ट पृष्ठ १०६–१०९।

२. २२वाँ, ४१९–४२२। प्रभावकचरित के विवरणों का प्रमुख उद्देश्य प्रतीत होता है जैन धर्म की महिमा बढ़ाना। कहा गया है कि ग्यारह बार अजमेर पर आक्रमण करने के बाद जब कुमारपाल को सफलता नहीं मिली तो अपने मंत्री वाग्भट की राय मानकर उसने अजितनाथ की पूजा की और १२वीं बार वह विजय प्राप्त करने में सफल रहा।

३. द्वयाश्रयकाव्य ११९वाँ, २१–२४। इस सम्बन्ध में और विवरणों के लिए देखिए, अ० कु० मजुमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १०६–१०७।

था, जिनमें मुख्य था मालवराज बल्लाल। उन दोनों ने उत्तर और दक्षिण की दिशाओं से गुजरात पर एक साथ आक्रमण करने की योजना बनायी[१] थी। ऐसा असम्भव नहीं है कि कुमारपाल के अनेक शत्रु एक साथ मिल गये हों। किन्तु इस सम्बन्ध में वर्णित अधिकांश राजाओं के नाम कल्पित प्रतीत होते हैं और उनकी पहचान नहीं की जा सकती। उपर्युक्त विवरणों से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि इस युद्ध में पहल अर्णोराज ने ही की थी और वही आक्रामक था। गुजराती[२] ग्रन्थों से यह ज्ञात है कि कुमारपाल का राज्याधिकार अप्रतिबद्ध और निर्विवादरूप से मान्य नहीं था। जयसिंह चाहड को अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता था। अत: चाहड का गुजरात से भागकर सपादलक्ष पहुँचना अर्णोराज ने एक अच्छा अवसर माना होगा। उसके मन में यह भावना रही होगी कि गुजरात की राजगद्दी पर यदि वह चाहड को बिठा दे तो उस दिशा से भयरहित हो जायगा।

अर्णोराज को यह[३] पराजय करोंदती रही और कदाचित् पाँच-छह वर्षों के भीतर ही (वि० सं० १२०७ में) उसने कुमारपाल पर दूसरा अभियान कर दिया। किन्तु इस अभियान का कारण क्या था, इस पर विद्वानों में मतैक्य नहीं है। वि० सं० १४०५ में लिखे गये राजशेखर के **प्रबन्धकोश** और उसके बाद वाले अनेक जैन[४] ग्रन्थों में दोनों राजाओं के बीच होने वाले युद्ध का कारण यह बताया गया है कि अर्णोराज ने शतरंज खेलते समय एक चाल पर कहासुनी के बाद अपनी रानी देवलदेवी को अनादरपूर्वक लात से मार दिया। अप्रसन्न होकर अपने भाई कुमारपाल के पास जाकर उसने उसे अर्णोराज से बदला लेने को प्रेरित किया और युद्ध छिड़ गया। दीवान बहादुर हरविलास शारदा[५] ने अर्णोराज और कुमारपाल के बीच युद्ध की यह पृष्ठभूमि स्वीकार करते हुए माना कि प्रथम युद्ध के बाद कुमारपाल ने अपनी बहिन देवल्लदेवी को अर्णोराज से ब्याह दिया था। किन्तु डॉ० दशरथ[६] शर्मा यह साबित करने के लिए अनेक पुष्ट प्रमाण देते हैं

---

१. देखिए, अ० कु० मजुमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १०४; दशरथ शर्मा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ५२-५३।

२. प्रचिद्वि, पृ० ९३-९४; अ० कु० मजुमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ९१-१०१।

३. अर्णोराज की पराजय का उल्लेख कुमारपाल की वाडनगर और वेरावल की प्रशस्तियों मे भी है। अ० कु० मजुमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १०६।

४. प्रबन्धकोश, सिंधी जैन ग्रन्थमाला, पृष्ठ ५९; जयसिंह, कुमारपालभूपालचरित (जामनगर प्रकाशन) पृष्ठ १९९; जिनमण्डलकृत कुमारपाल प्रतिबोध, पृष्ठ ४० अ और ४० ब।

५. स्पीचेज् ऐण्ड राइटिंग्स्, पृष्ठ २८४-२८६।

६. पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ५०-५१।

चौलुक्य क्षेत्रों की विजय

अपने पिता अर्णोराज की चौलुक्य राजाओं के हाथ हुई पराजय का बदला लेना विग्रहराज के मन में कदाचित् सर्वप्रमुख भाव था । कुमारपाल ने अर्णोराज को पराजित कर चुकने के बाद एक-एक कर उसके सभी मित्रों को भी दण्डित कर सपादलक्ष से मिलने वाली अपनी सीमाओं पर योग्य राज्यपालों को नियुक्त किया था । पुनः, उसने अनेक मध्यस्थ और करद सामन्तराज्यों में अपने मनोनुकूल शासकों की नियुक्ति की । उसका एक अधिकारी (दण्डाधीश) चित्तौड़ में नियुक्त था । नाडोल के चाहमान सामन्तों को शाकम्भरी के अपने ही वंश के विरुद्ध जयसिंह और कुमारपाल की आज्ञाएँ शिरोधार्य करनी पड़ीं । कुमारपाल ने अर्णोराज से युद्ध के दौरान वहाँ क्रमशः सहजपाल, आल्हण दण्डाधीश बैजल्लदेव और कुन्तलपाल को शासनस्थ किया था[१] । विग्रहराज सबसे पहले सज्जन के विरुद्ध चढ़ा, जिसे बिजोलिया अभिलेख[२] 'पृथ्वी पर सबसे बड़ा असज्जन' कहता है । तत्सम्बन्धी सूचना है कि सज्जन उसके हाथों मारा गया । प्रश्न यह उठता है कि यह सज्जन कौन था ? अभिलेख के सम्पादक श्री अक्षयकीर्ति व्यास ने उसकी समता सुराष्ट्र स्थित जयसिंह सिद्धराज के उस **दण्डाधिपति** से की, जिसका वि० सं० ११७६ का एक अभिलेख गिरनार से प्राप्त[३] है । इसी आधार पर उन्होंने यह निर्णय किया कि चौलुक्य राज्य के बीच से होता हुआ विग्रहराज सौराष्ट्र तक पहुँच गया । किन्तु इस विषय पर लिखने वाले अनेक विद्वान् इस समता को नहीं स्वीकार करते । डॉ० अ० कु० मजुमदार (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १०९) यह स्वीकार करते हैं कि सज्जन को कदाचित् सुराष्ट्र के राज्यपाल पद से हटाकर कुमारपाल ने चित्तौड़ (चित्रकूट) में **दण्डाधीश** अथवा सामन्त नियुक्त कर दिया था, जो वहाँ विग्रहराज के अभियान का शिकार होकर मारा गया । डॉ० दशरथ शर्मा (पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ५७) इस निष्कर्ष से तो सहमत हैं कि सज्जन चित्तौड़ में नियुक्त था, किन्तु सुराष्ट्र के भूतपूर्व राज्यपाल से उसकी समता नहीं स्वीकार करते । उनके मत में यह सज्जन नामक वह कुम्भकार था, जिसकी सेवाओं से प्रसन्न होकर कुमारपाल ने उसे चित्तौड़ का **दण्डनायक** नियुक्त कर रखा[४] था तथा जिसका उल्लेख कुमारपाल के वि० सं० १२०७ के चित्तौड़ अभिलेख[५] में हुआ है ।

---

१. दशरथ शर्मा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ५७-५८ तथा पृष्ठ १३३-१३४ ।

२. एइ०, जिल्द २६, पृष्ठ १०५, श्लोक २० ।

३. वहीं, पृष्ठ ९५ ।

४. यह प्रसंग जयसिंह सूरि ने कुमारपालभूपालचरित (पृ० १६५) में दिया है । और देखिए, दशरथशर्मा, भारतीय विद्या (अंग्रेजी) १९५३, पृष्ठ २२१ और आगे ।

५. एइ०, जिल्द २, पृष्ठ ४२१ और आगे ।

बड़ी उपलब्धि थी। शैव होते हुए भी वह अन्य धर्मों का आदर करता था। उसने खरतरगच्छ के अनुयायियों को एक मन्दिर बनवाने के लिए अजमेर में विस्तृत भूमि दी और स्वयं पुष्कर में वराह का मन्दिर बनवाया। किन्तु उसका अन्त बड़ा दुःखद रहा। सुधवादेवी से उत्पन्न उसके बड़े पुत्र जगद्देव ने उसका वध[१] कर दिया, जिसके परिणाम-स्वरूप चाहमान राज्य कुछ समय के लिए गृहकलहों में फँस गया।

चतुर्थ विग्रहराज, बीसलराज (लगभग ११५०-११६४ ई०) : चाहमान सत्ता का चरमोत्कर्ष

अर्णोराज के कुल चार पुत्र थे। बड़ी रानी सुधवादेवी से जगद्देव, विग्रहराज और देवदत्त उत्पन्न हुए थे तथा छोटी रानी कांचनदेवी से सोमेश्वर जन्मा था। जगद्देव जेठा होते हुए भी पितृघाती होने के कारण अप्रिय और बदनाम हो गया तथा विग्रहराज ने शीघ्र ही उसे मारकर अजमेर की गद्दी स्वयं ले ली। इस प्रकार जगद्देव अपने अत्यल्प शासन में केवल अपना बदनाम ही छोड़ गया।[२] विग्रहराज गद्दी धारण करते ही चाहमान सत्ता की गौरववृद्धि में जुट गया। उसका सबसे पहला अभिलेख वि० सं० १२१०=११५३ ई० का उसकी राजधानी के सबसे भव्य स्थान सरस्वती मन्दिर (आजकल का अढ़ाई दिन का झोपड़ा नामक मस्जिद) नामक विद्यालय के भवन से मिला है। चूँकि उस सुन्दर और विशाल वास्तु को पहाड़ से काटकर निर्मित्त कराने में वर्षों लगे होंगे, यह सही रूप से अनुमान किया गया है कि उसकी राज्यारोहण की तिथि ११५० ई० के आसपास रही होगी। उसके कुल ११ अभिलेख अब तक ज्ञात हुए हैं। उनसे ज्ञात ऐतिहासिक तथ्यों में यदि सोमेश्वर के बिजोलिया अभिलेख की बातें जोड़ दी जाँय तो विग्रहराज केवल चाहमान वंश के ही नहीं, अपितु सभी राजपूत वंशों के महत्तम शासकों की पंक्ति में बैठने का सहज ही अधिकारी प्रतीत होगा।

---

१. प्रथमस्त्युधवासुतस्तदानीं परिचर्या जनकस्य तामकार्षीत्।
प्रतिपाद्य जलांजलि घृणायै विदधे यां भुगुनन्दनो जनन्याः। पृथ्वीराजविजय, सप्तम, १०। सुधवादेवी को पृथ्वीराजविजय (पंचम, २९) के आधार पर डॉ० हेमचन्द्रराय और दे० रा० भण्डारकर अवीचि की राजकुमारी मानते हैं। किन्तु दशरथ शर्मा का मत है (पूर्वनिर्दिष्ट पृष्ठ ५६ नोट १) कि वह मरुकोट की राजकुमारी थी। वास्तव में अवीचि का अर्थ नरक होता है जो प्रस्तुत अर्थ में मान्य नहीं हो सकता।

२. पृथ्वीराजविजय, सप्तम ११।

यहाँ ढिल्लिका दिल्ली के लिए और असिका हाँसी के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसके पूर्व दिल्ली पर तोमर राजाओं का अधिकार[1] था, जिनके विरुद्ध चाहमान राजे चन्दनराज के समय से ही संघर्ष करते चले आ रहे थे। किन्तु चतुर्थ विग्रहराज के पूर्व कई युद्धों में विजय प्राप्त करते हुए भी उत्तर की ओर बढ़कर तोमर क्षेत्रों को हस्तगत करने में चाहमानों को कोई सफलता नहीं मिल सकी थी। दिल्ली पर विग्रहराज के अधिकार का सूचक उसका दिल्ली-शिवालिक स्तम्भ अभिलेख (वि० सं० १२२०=११६४ ई०) है, जो फीरोजशाह की लाट नामक अशोकस्तम्भ पर खुदा हुआ है। किन्तु वह स्तम्भ मूलत: दिल्ली में स्थापित न होकर खिज्राबाद के पास स्थित तोपरा नामक गाँव में लगा था और उसे फीरोज तुगलक (१३५१-१३८८ ई०) वहाँ से दिल्ली ले गया था। इस आधार पर पूर्वी पंजाब और पश्चिमी-उत्तरी उत्तर प्रदेश के भी कुछ क्षेत्रों के विग्रहराज के अधिकार में होने की सम्भावना हो सकती है। चाहमान-तोमर युद्ध और **वीसलदेव** (चतुर्थ विग्रहराज) द्वारा दिल्ली पर अधिकार की पुष्टि डॉ० दशरथ शर्मा (पूर्वनिर्दिष्ट पृ० ६०) के निंजी अधिकार में पड़ी हुई एक पुरानी बही से भी होती है। उसमें पराजित तोमरराज तंवर कहा गया है और युद्ध का समय वि० सं० १२०९=११५२ ई० दिया हुआ है, जो सही जान पड़ता है। किन्तु यह निश्चय नहीं है कि विग्रहराज के हाथों पराजित होने के पूर्व तोमर पूर्णत: स्वतंत्र थे अथवा कन्नौज के गाहडवालों की अधिसत्ता स्वीकार करते थे। बहुत सम्भव है कि दूसरा विकल्प ही सही हो, और गोविन्दचन्द्र के अन्तिम दिनों में अथवा उसके उत्तराधिकारी विजयचन्द्र के दिनों में चाहमानों ने अपनी सत्ता के उत्तरोत्तर विकास में उस स्थिति को अपने विपरीत मानकर तोमरों पर चढ़ाई कर दी[2] हो। जो भी हो विग्रहराज से पराजित होने पर भी तोमर राज्य पूर्णत: समाप्त नहीं हो गया। चाहमानों की अधिसत्ता स्वीकार करते हुए एक स्थानीय राज्य के रूप में वह बना रहा, जिसके अनंगपाल और मदनपाल नामक राजाओं ने अपने सिक्कों का प्रकाशन किया[3]।

---

१. देखिए एइ०, जिल्द १, पृष्ठ ९८ और आगे।

२. देखिए, त्रिपाठी, हिस्ट्री ऑफ् कनौज, पृष्ठ ३१०-३२०; पीछे तेरहवाँ अध्याय, पृष्ठ ३६२-३६४।

३. ठक्कुरफेरु उन सिक्कों को 'अनंगपालहे' और 'मदनपालहे' कहता है और यह बताता है कि उनमें कितनीं चाँदी थी। सोमदेवकृत ललितविग्रहराज नाटक में विग्रहराज की प्रिया और इन्द्रपुर के राजा वसन्तपाल की पुत्री देसलदेवी के आपसी संदेशों का एक प्रकरण है। अनेक विद्वान् इन्द्रपुर की पहचान इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) से और वसंतपाल की पहचान अनंगपाल से करते है। यह सम्भव है कि तोमर राजा अनंगपाल ने विग्रहपाल से अपनी पुत्री ब्याह दी हो और चाहमान सम्राट् ने

बिजोलिया अभिलेख पुनः कहता है कि विग्रहराज ने 'अप्रसन्न होकर जावालिपुर को ज्वालापुर बना दिया (जला दिया); पल्लिका अथवा पाली को एक तुच्छ गाँव बना दिया और नड्डुल को नड्वलतुल्य अर्थात् बेंत की तरह झुका दिया'[१] । इन सभी स्थानों के शासक चौलुक्यों के सामन्त थे और उनका मानमर्दन कर विग्रहराज ने कुमारपाल से अपने पिता अर्णोराज की पराजय का कई गुना बदला लिया। उपर्युक्त स्थानों में जावालिपुर जालोर[२] था और नड्डुल चौलुक्य अधिसत्ता स्वीकार करने वाले चाहमानों की एक सामन्त शाखा की राजधानी थी । पाली का क्षेत्र भी नाडौल के चाहमानों के अधीन था । चौलुक्य अधीनता स्वीकार करने वाले इन क्षेत्रों के अतिरिक्त चाहमान शासक ने कुन्तपाल नामक एक शासक पर धावा बोला, जिसकी ठीक-ठीक पहचान कर सकना कठिन है । सम्भवतः वह नाडोल के सामन्त चाहमान कुल का ही था, जो कुमारपाल की ओर से कहीं का राज्यपाल नियुक्त किया गया था[३] । इन विजयों से विग्रहराज ने चाहमानों की सैनिक प्रतिष्ठा का ध्वज तो फहराया ही, मेवाड़ और मारवाड़ वाले अनेक चौलुक्य क्षेत्रों को भी अपने अधीन कर लिया । नाडोल, चित्तौड़ और जालौर में उसका प्रशासन स्थापित हो गया । इन क्षेत्रों के बिजोलिया, मण्डलगढ़ और जहाजपुर नामक स्थानों से उसके और उसके उत्तराधिकारियों के अनेक अभिलेख मिले हैं, जो उनपर चाहमान सत्ता की स्थापना के पक्के प्रमाण हैं । अजमेर संग्रहालय वाली चौहान[४] प्रशस्ति में कुमारपाल के नाम का 'करवलपाल' के रूप में विरूपक यह इङ्गित करता है कि विग्रहराज के मुकाबले चौलुक्यराज हीन समझा जाने लगा था ।

विग्रहराज की अन्य विजयें

उत्तर दिशा में दिल्ली के तोमरों की स्वतन्त्र सत्ता को समाप्त कर उन्हें चाहमान अधिसत्ता के भीतर लाना विग्रहराज की विशेष उपलब्धि थी । बिजोलिया अभिलेख[५] में उसकी प्रशंसा में कहा गया है कि उसने ढिल्लिका और असिका पर अधिकार जमाया ।

---

१. जवालिपुरं ज्वालापुरं कृतापल्लिकापि पल्ली इव नड्वलतुल्यं रोषान्नड्डुलं येन शौर्येण । एइ०, जिल्द २८, पृष्ठ १०५, श्लोक २१ ।

२. जयसिंह सूरि की सूचना है (कुमारपालभूपालचरित, पृ० १७५) कि विग्रहराज ने गुजरात पर आक्रमण करते समय सबसे पहले जालोर को ही जीता ।

३. दशरथ शर्मा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ५७-५८ ।

४. कुमारपालः करवलपालः । दशरथ शर्मा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १८१ पर उद्घृत ।

५. प्रतोल्यां व वलभ्यां च येन विश्रामितं यशः । ढिल्लीकाग्रहण श्रांतमासिका लाभ-लम्भितम् । एइ०, जिल्द २६, पृ० १०५, श्लोक २२

मुख्य समस्या चाहमान क्षेत्रों की रक्षा की थी। उपर्युक्त नाटक में इतनी मात्र सूचना मिलती है कि उसने, अपने मंत्री श्रीधर के परामर्श के विपरीत, हम्मीर से कोई अपमानजनक संधि कर लेना ठीक नहीं समझा और युद्ध करते हुए अपनी और अपने मित्रों की रक्षा करना ही वीरोचित् माना। किन्तु यह नहीं ज्ञात है कि उसके इस निश्चय का क्या परिणाम हुआ। तथापि दिल्ली-शिवालिक अभिलेख से स्पष्ट है कि विग्रहराज को सफलता प्राप्त हुई। तुर्क आक्रमणकारी (हम्मीर) बघेरा[१] तक चढ़ आये थे किन्तु उन्हें लौटना पड़ा। इस आक्रमण का नेता लाहौर का यमीनी सुल्तान खुसरू शाह (११५३-११६० ई०) माना जाता है। भारतीय राज्यों के सौभाग्य से वह और उसका उत्तराधिकारी खुसरू मलिक (११६०-११८६ ई०) सैनिक और राजनीतिक दृष्टि से शिथिल और कमजोर थे। स्वयं गजनी पर भी गोरों के आक्रमण हो रहे थे[२]। ऐसी स्थिति में विग्रहराज को लाहौर के गजनवी शासकों के कुछ क्षेत्र जीतकर अपने राज्य में मिला लेने का भी मौका मिल गया। बिजोलिया अभिलेख में उल्लिखित असिका अर्थात् हाँसी ऐसे ही क्षेत्रों में एक था, जिसे चाहमानों ने तुर्कों से छीना[३]। **प्रबन्धकोश** (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १३३) में भी **वीसलदेव** को 'तुरुष्कजित' कहा गया है। **ललितविग्रहराज** का साक्ष्य है कि विग्रहराज अपने मित्र राजाओं, ब्राह्मणों, देवस्थानों और तीर्थों की तुर्कों से रक्षा करना अपना विशेष कर्त्तव्य मानता था और उसने अपने उत्तराधिकारियों से भी यह उत्तरदायित्त्व निभाने की अनुशंसा की।

दिल्ली-शिवालिक अभिलेख में कहा गया है कि **वीसलदेव** ने हिमालय से लेकर विंध्याचल के बीच के सभी क्षेत्रों को अपना करद बना लिया।[४] इस प्रशंसा में अतिरंजन

---

१. बघेरा की पहचान के बारे में मतैक्य नहीं है। कीलहॉर्न उसे उस बघेरा से मिलाते हैं, जो अजमेर से ४७ मील दक्षिण-पश्चिम में स्थित है। डॉ० भण्डारकर के मत में वह स्थान राजस्थान के भूतपूर्व किशनगढ़ राज्य का रूपनगर है। किन्तु डॉ० दशरथ शर्मा ने उसे खेतड़ी से छह मील दूर स्थित उसी नाम के एक गाँव से मिलाया है। देखिए, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ६१ और नोट ३१।

२. देखिए, तबकाते-नासिरी, अंग्रेजी अनुवाद, जिल्द १, पृष्ठ १११-११५; तारीखे-फिरिश्ता, ब्रिग्स्, जिल्द १, पृष्ठ १५५-१५९; कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, जिल्द ३, पृष्ठ ३७ और आगे।

३. फिरिश्ता (ब्रिग्स् जिल्द १, पृष्ठ १०६) से ज्ञात होता है कि १०३८ ई० में मसूद ने हाँसी जीत लिया था। किन्तु बाद में उसे महीपाल ने जीत लिया। यह महीपाल विग्रहराज का ही सेवक हो सकता है।

४. इऐ०, जिल्द १९, पृष्ठ २१६ और २१९।

बिजोलिया अभिलेख के १६वें श्लोक की एक श्लेषात्मक उक्ति के आधार पर डॉ० दशरथ शर्मा (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ५९) ने यह निर्णय निकाला है कि विग्रहराज ने भाडानक राज्य पर भी विजय प्राप्त की । राजशेखरकृत **काव्यमीमाँसा** के साक्ष्य से उन्होंने यह निश्चय किया कि भाडानक राज्य अहीरों का था और शेखावाटी एवं अहीर-वाटी के बीच में स्थित था । **पृथ्वीराजविजय** की सूचना (अष्टम, ६४) है कि विग्रहराज ने अनेक पर्वत दुर्गों को जीता । किन्तु साक्ष्यों के अभाव में इस सम्बन्ध में कोई निश्चयात्मक बात नहीं कही जा सकती । इसी प्रकार रविप्रभाचार्य अपने **धर्मघोष-सूरिस्तुति** में कहता[१] है कि मालवा के किसी राजा ने अजमेर स्थित एक जैन मन्दिर का ध्वजस्तम्भ लगाते समय विग्रहराज की सहायता की थी । मालवा की राजनैतिक सत्ता उस समय एकदम क्षीण थी और यह असम्भव नहीं है कि वहाँ के किसी राजा ने चाह-मान सत्ता का गौरव स्वीकार किया हो ।

तुर्कों की रोक

दिल्ली और उसके पूर्व हिमालय की तलहटियों तक के क्षेत्रों पर अधिकार कर लेने के परिणामस्वरूप विग्रहराज का लाहौर के यमीनी शासकों के अधीनस्थ क्षेत्रों से सीधा सामना होने लगा । परिणामतः, दक्षिण और पूर्व में उनके बढ़ाव को रोकने का उत्तरादायित्त्व भी उसके कंधों पर आ गया । उसका दिल्ली से प्राप्त होने वाला अभिलेख यह प्रकट करता है कि उस उत्तरदायित्त्व को वह भलीभाँति समझता था । उसमें कहा गया[२] है कि विग्रहराज ने म्लेच्छों अर्थात् मुसलमानों का समूलोच्छेद कर 'आर्यवर्त्तदेश' नाम को उसका वास्तविक अर्थ प्रदान किया । सोमदेवकृत **ललितविग्रहराज**[३] नाटक भी उसके तुर्कों से होने वाले संघर्षों का उल्लेख करता है । दुर्भाग्यवश नाटक के कुछ अंश मात्र ही अजमेर के सरस्वती मन्दिर (अढ़ाई दिन का झोपड़ा) में उत्खचित् मिलते हैं और उनसे पूरे तथ्यों की जानकारी नहीं होती । किन्तु जो भी ज्ञात होता है उससे इतना निश्चित है कि विग्रहराज तुर्क दबावों को रोकने के लिए सर्वदा तत्पर था । उसके सामने

दिल्ली पर तो अधिकार कर लिया हो, किन्तु तोमरों को सामन्त रूप में छोड़ दिया हो । देखिए, इऐ०, जिल्द २०, पृष्ठ २०१—२०२; शारदा, स्पीचेज् ऐण्ड राइटिंग्स्, पृष्ठ २६२-२६५ । चाहमानों के दिल्ली पर अधिकार के प्रमाणक अन्य साक्ष्यों के लिए देखिए, जएसो०, बेंगाल, जिल्द ४३, पृ० १०४-११०; कनिंघम्, आसरि०, १८६२-३, जिल्द १, पृष्ठ १५६; एइ०, जिल्द १, पृष्ठ १७-२७ ।

१. मैनस्क्रूप्ट्स् इन दि जैन भण्डार्स् ऑफ् पाटन, गायकवाड़ ओ० सीरिज, पृष्ठ ३७० ।

२. इऐ०, जिल्द १९, पृष्ठ २१६-२१९ ।

३. देखिए इऐ०, जिल्द २०, पृष्ठ २०१-२०२ ।

है[१] । उसकी दीवारों पर लिखी हुई **चौहानप्रशस्ति**, सोमदेवकृत **ललितविग्रहराज** और **हरिकेलिनाटक** के अंश उस समय के काव्य-गौरव की गाथा गाते हैं । उसे देखिए तो ऐसा लगता है कि विग्रहराज का शरीर राजप्रसादों, युद्ध-क्षेत्रों अथवा राजदरबार में भले रहता हो, उसका हृदय और मन उस विद्यालय की चहारदीवारी का कैदी हो चुका था । उसके अन्य वास्तुओं में अजमेर के पास लगभग ढाई मील के आयत्त में बना हुआ वीसलसागर (बीसलियासार अथवा वीसल्यासार) तथा वीसलपुर नामक नगर प्रमुख थे । अपने धार्मिक विश्वासों में शैव होते हुए भी वह हिन्दुओं के अन्य सम्प्रदायों का ही नहीं, अपितु जैनों का भी आदर करता और उन्हें सहायता प्रदान करता था । उसकी धर्मसहिष्णुता का एक प्रमाण यह है कि धर्मघोषसूरि नामक एक जैन आचार्य के कहने से उसने एकादशी को सारी जीवहिंसा बन्द करा[२] दी ।

अपंरगांगेय और द्वितीय पृथ्वीराज (लगभग ११६४-११६९ ई०)

चतुर्थ विग्रहराज का पुत्र और उत्तराधिकारी अपरगांगेय अथवा अमरगांगेय लगभग १०६४ ई० में राजगद्दी पर बैठा । उस समय वह कदाचित् अल्पवस्यक और अविवाहित था और कुछ ही महीनों के भीतर पृथ्वीराज ने उसे मारकर गद्दी हथिया ली । पृथ्वीराज (द्वितीय) अथवा पृथ्वीभट पितृघाती जगद्देव का पुत्र था । उसके वि० सं० १२२५ के धोड अभिलेख[३] से ज्ञात होता है कि उसने शाकम्भरी के राजा को पराजित किया । चूँकि शाकम्भरी चाहमान राज्य का ही अंग था, यह उल्लेख कुछ विचित्र सा लगता है और यह निर्णय किया गया है कि यह कथन अप्रत्यक्ष रूप से अपरगांगेय को गद्दी से हटाने और मारने की और ही निर्दिष्ट है । अपरगांगेय के मारे जाने का उल्लेख **पृथ्वीराजविजय** (अष्टम, ५४) में भी आता है । पृथ्वीराज ने तुर्कों से अपने राज्य की रक्षा की सतत चिन्ता की और उस हेतु अपने मामा किल्हण को हाँसी के दुर्ग का दुर्गपाल नियुक्त किया[४] । हाँसी अभिलेख में इस गुहिलोतवंशी किल्हण की प्रशंसा में कहा गया है

---

१. टॉड, ऐरा०, जिल्द १, पृष्ठ ६०९ । इस सम्बन्ध में और देखिए, आसरि०, जिल्द ४०, पृष्ठ २६३; हरविलास शारदा, अजमेर, पृष्ठ ६८ ।

२. दशरथ शर्मा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ६४—६५ ।

३. जराएसो०, १९१३, पृष्ठ २७६; गौ० ही० ओझा, उदयपुर का इतिहास, जिल्द १, पृष्ठ ५७ और ६०-६१ ।

४. हाँसी अभिलेख, इऐ०, जिल्द ४१, पृष्ठ १९, श्लोक ४-६ । तुर्कों के दबाव का जोर अधिक था, जो इस कथन से स्पष्ट है कि हम्मीर लोगों की बहुत बड़ी चिन्ता का कारण बन गया था ।

हो सकता है । किन्तु हम यह देख चुके है कि उसने हिमालय की पहाड़ियों तक के क्षेत्र अपने अधिकार में किये । वास्तव में अपनी विजयों से उसने चाहमानों को अपने समय के उत्तरी भारत की सर्वप्रमुख सत्ता बना दिया, जिसे साम्राज्यसत्ता कहने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए । **परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर श्रीमद्विग्रहराजदेव** अपनी **वीसल, विश्वल** अथवा **वीसलदेव** की उपाधि से अधिक विश्रुत हुआ । महान् युद्धों का वह विजेता तलवार के प्रयोग में जितना दक्ष था, उतनी ही लेखनी चलाने में भी कुशल था । उसके रहते उसकी प्रजा को भर्तृहरि, हर्ष और भोज जैसे भारतीय परम्परा में अमर राजकवियों की स्मृति सहज ही आ जाती होगी । साहित्य और साहित्यकारों के उस संरक्षक को जयानकभट्ट **कविबान्धव** की उपाधि देता है और कहता है कि 'उसकी मृत्यु के बाद कोई ऐसा नहीं बचा जिसके लिए वह शब्द सही-सही अर्थ में प्रयुक्त किया जा सके'[१] । मेरुतुंग भी उसके इस विरुद का उल्लेख[२] करता है । उसका राजदरबारी कवि और **ललितविग्रहराज** नाटक का कर्त्ता सोमदेव बताता है कि वह 'अपने समय के वीरों में तो सर्वश्रेष्ठ था ही, विपश्चितों में भी वह सर्वप्रथम[३] था' । स्वयं उसने **हरिकेलि-नाटक** की रचना की । उसके काव्यसौष्ठव की प्रशंसा करते हुए कीलहॉर्न कहते हैं कि 'उससे इस बात का पक्का प्रमाण मिलता है कि प्राचीन युग के हिन्दू राजे काव्ययश में भवभूति और कालिदास की प्रतिद्वन्द्विता करने को लालायित रहते थे'[४] । वह स्वयं तो कवि था ही, कवियों और विद्वानों की परम्परा को सतत चालू रखने के लिए अपनी राजधानी अजमेर में उसने सरस्वती मंदिर नामक एक विद्यालय की स्थापना भी की । दुर्भाग्यवश चौहानों के पतन के बाद वह विद्यालय आक्रामक तुर्क तलवार का शिकार हुआ और मस्जिद के रूप में परिवर्तित कर दिया गया । वह आज भी 'अढ़ाई दिन का झोपड़ा' के रूप में उत्तरी भारत के उन अनेक हिन्दू मन्दिरों और भवनों का प्रतीक है, जो वर्षों तक कुशल कारीगरों द्वारा प्रभूत धनराशि से निर्मित किये गये, किन्तु जिन्हें अर्ध-सभ्य आक्रामकों ने आधा अथवा पूरा तोड़कर जल्दी-जल्दी बनायी गयी अपनी मस्जिदों में परिवर्तित कर दिया । पहाड़ियों को काटकर बनाये हुए उस वास्तु के चित्रालंकरण और स्तम्भों की अवली वाला पिछला भाग आज भी पूर्णतः हिन्दू रूप में अवशिष्ट है और देश के प्राचीन वास्तुओं में बनावट की पूर्णता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान रखता

---

१. पृथ्वीराजविजय, अष्टम, ५५ ।

२. प्रचिद्वि०, पृष्ठ १०९ ।

३. वीराणां च विपश्चितानामाद्यस्त्वमेवाधुना । ललितविग्रहराज ।

४. इऐ०, जिल्द २०, पृष्ठ २०१ ।

वह अपने उस छोटे पुत्र को लेकर अपने पिता जयसिंह **सिद्धराज** की राजधानी अण्हिलपुर चली गयी। सोमेश्वर का वहीं लालन-पालन और प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा हुई, जिसमें उसे अपने नाना का स्नेहसंबल तो मिला ही, कुमारपाल का भी प्रेम प्राप्त हुआ। कहा गया है कि कुमारपाल ने उस कुमार (सोमेश्वर) की रक्षा कर अपने नाम (कुमारपाल) को सार्थक कर दिया[१]। सोमेश्वर की प्रशिक्षा इतनी अच्छी थी कि उसने जल्दी ही अपने सैनिक कौशल की धाक चौलुक्यराज पर जमा ली और सम्भवतः उसकी सेना में किसी उच्च पद पर नियुक्त हो गया। उसी रूप में वह कोंकण पर आक्रमण करने वाली उस चौलुक्य सेना के साथ युद्ध में गया, जिसका सेनापति आबंड था। **पृथ्वीराज-विजय**[२] की सूचना है कि युद्ध में उसने 'हनुमान जैसी वीरता दिखाते हुए एक हाथी से कूदकर दूसरे हाथी के मस्तक पर जाकर कोंकणेन्द्र (कुंजरेन्द्र ?) के हाथों से ही तलवार छीनकर उसका वध कर डाला'। कोंकण का वह मारा जाने वाला राजा शिलाहारवंशी मल्लिकार्जुन था जिसे **राजपितामह** का विरुद भी प्राप्त था[३]। यद्यपि जैन साहित्य में मल्लिकार्जुन पर विजय का सारा श्रेय जैन सेनापति आबंड को दिया गया है, जयानकभट्ट सोमेश्वर का उचित यश उसे प्रदान करता है। अण्हिलपत्तन में रहते हुए ही सोमेश्वर का त्रिपुरी के राजा की पुत्री कर्पूरदेवी से विवाह हुआ[४] और वहीं पृथ्वीराज और हरिराज नामक उसके दोनों पुत्र पैदा हुए। कदाचित् उसके बहुत दिनों बाद तक उसे ननि-हाल की शरण में नहीं रहना पड़ा। द्वितीय पृथ्वीराज के अपुत्रक होने की स्थिति में मरने के बाद जब अर्णोराज और सुधवा के सम्बन्ध का कोई प्रतिनिधि नहीं रहा तो अजमेर राज्य के मंत्री आदि मुख्य लोगों ने सोमेश्वर को चाहमान सत्ता की बागडोर अपने हाथ में लेने के लिए आमन्त्रित किया[५]। लगभग ११६९ ई० में गद्दी धारण करते समय वह जीवन के अनुभवों में तो पूर्ण वयस्क हो ही गया था, आयु से भी अर्धवृद्ध हो चला था।

द्वितीय पृथ्वीराज का अन्तिम अभिलेख वि० सं० १२२६ का है और सोमेश्वर का

---

१. पृथ्वीराजविजय, सप्तम, ११।

२. हनुमानिव शैलतः सशैल द्विरदेन्द्राद् द्विरदेन्द्रमुत्पतिष्णुः।
छुरिकामहृत्य कुञ्जरेन्द्रं गमयामास कबन्धता तथैव।। सप्तम, १५।

३. प्रचिद्वि, पृष्ठ ९७-९८; प्रभावकचरित (निर्णयसागर प्रेस), पृष्ठ ३३९।

४. दशरथ शर्मा इस संदर्भ को पृथ्वीराजविजय का अष्टम, १८ बताते (पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ५९, नोट ९) हैं। किन्तु वह वास्तव में वहाँ का सप्तम १६ होना चाहिए, जो सोमेश्वर द्वारा कोंकणेन्द्र के मारे जाने की सूचना देने वाले श्लोक (सप्तम, १५) के तुरन्त बाद आता है।

५. पृथ्वीराजविजय, अष्टम, ५७-६०।

कि उसने पंचपुर को जलाकर वहाँ के राजा को हराया । पंचपुर की पहचान कालका के पास पंजौर नामक स्थान से की गयी[1] है । थोड़े ही दिनों के शासन के बाद ११६९ ई० में द्वितीय पृथ्वीराज की मृत्यु हो गयी और उसका कोई पुत्र न होने के कारण मंत्रियों ने उसके चचा (अर्णोराज के पुत्र) सोमेश्वर को राजा होने के लिए आमन्त्रित किया[2] ।

सोमेश्वर (लगभग ११६९-११७७ ई०)

सोमेश्वर के बचपन की अनेक बातों की जानकारी **पृथ्वीराजविजय** से होती है[3] । अर्णोराज के अन्तिम दिनों में अजमेर का राजदरबार आन्तरिक कलहों और षडयन्त्रों का शिकार होने लगा था और उसे स्वयं अपने पुत्र जगद्देव की तलवार के घाट उतरना पड़ा । जगद्देव भी अपने छोटे भाई चतुर्थ विग्रहराज के हाथों मारा गया । स्पष्ट है कि अर्णोराज की बड़ी रानी सुधवादेवी के अपने ही पुत्रों में प्रेम और सौहार्द का अभाव था और उनकी पारस्परिक महत्त्वाकांक्षाएँ आपस में टकरा रही थीं । अविश्वास और षडयन्त्र की यह स्थिति विग्रहराज के बाद भी बनी रही जो अपरगांगेय और द्वितीय पृथ्वीराज के बीच राजगद्दी के लिए होने वाली लड़ाई और आपरगांगेय की हत्या में परिणत हुई । राजदरबार और चाहमानवंश के अन्य हितैषी इस परिस्थिति से ऊब चुके थे और पृथ्वीराज की मृत्यु के बाद उन्होंने इस बात से सन्तोष किया कि सुधवा से उत्पन्न परस्पर लड़ने वाली वंश परम्परा का अन्त हो गया । जयानक के अनेक श्लोकों और उनपर जोनराज की टीकाओं से इस सन्तोष का भली भाँति परिचय मिलता है ।

गृहयुद्ध की परिस्थितियों में अर्णोराज की छोटी रानी कांचनदेवी अपने और अपने पुत्र सोमेश्वर को अजमेर के राजदरबार में कदाचित् सुरक्षित न समझती होगी[4] । अत:

---

१. दशरथ शर्मा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ६५ । डॉ० भण्डारकर ने इस पंचपुर को सतलज के किनारे बसे पाँचपत्तन से मिलाया । देखिए, इऐ०, जिल्द ४१, पृष्ठ १८ । इस पहचान के आधार पर डॉ० हेमचन्द्र राय (डाहिनाइ० जिल्द २, पृष्ठ १०८०) का विश्वास है कि पृथ्वीराज ने लाहौर के यमीनी सुल्तान खुशरूमलिक ताजुद्दौला को हराया, जो अत्यन्त मधुर, उदार और आनन्दप्रिय था ।

२. सपादलक्षमानिन्ये महामात्यैर्महीपतिः । पृथ्वीराजविजय, अष्टम, ५७ ।

३. षष्टम, २७ और आगे ।

४. जयानक का यह कथन है (षष्टम, २८) कि जयसिंह ने यह भविष्यवाणी सुनकर कि कांचनदेवी का राम जैसा पुत्र किसी विशेष कार्य के लिए उत्पन्न होगा, उसे 'स्वपुर' अर्थात् अपनी राजधानी में बुला लिया । अगले श्लोकों से यह स्पष्ट है कि जयसिंह को सोमेश्वर से बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं और उसने उसे ऐसी शिक्षा-दीक्षा दी—जो राजकार्यों में उसकी सफलता का सिद्धक हो ।

माता कर्पूरदेवी की संरक्षकता में रहना पड़ा। **पृथ्वीराजविजय** में उस सम्बन्ध की जो चर्चाएँ (नवाँ, ३-३३) हैं, उनसे यह स्पष्ट है कि अपने पुत्र की अल्पवयस्कता में उस राजमाता ने शासन की बागडोर योग्यतापूर्वक संभाली। किन्तु इसका आधा श्रेय पृथ्वीराज के मुख्य मंत्री **महामण्डलेश्वर** कदम्बवास (कैमास अथवा कैम्बास) को भी मिलना चाहिए, जिसके सत्परामर्शों से ही कर्पूरदेवी सफल[1] हुई। कदम्बवास के अतिरिक्त कर्पूरदेवी के पिता अचलराज का भाई **भुवनैकमल्ल** भी उस समय एक सहायक और सलाहकार था। सम्बद्ध साक्ष्यों में इन दोनों को पृथ्वीराज के प्रारम्भिक युद्धों में उसे सफलता दिलाने का अधिकांश श्रेय दिया गया है[2] और कहा गया है कि उन्होंने पृथ्वीराज की वैसी ही सेवा की जैसे हनुमान और गरुड़ ने राम की थी।

पृथ्वीराज की प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा बड़ी देखभाल से हुई थी। उसने जहाँ एक ओर अनेक भाषाएँ सीखीं, वहीं अनेक शास्त्रों के साथ शस्त्रों के प्रयोग में उस समय उसकी तुलना का कोई वीर नहीं था। इन विषयों तथा इसके अतिरिक्त अन्यान्य शास्त्रों में उसकी योग्यताओं के प्रशंसात्मक, किन्तु बहुत ही अतिरंजनात्मक, विवरण **हम्मीरमहाकाव्य** (द्वितीय, ७५-९०) एवं **पृथ्वीराजरासो** में प्राप्त होते हैं। तथापि इतना निश्चित है कि अपने व्यक्तिगत शौर्य और रणप्रियता से उसने शीघ्र ही बड़ा नाम कमा लिया।

नागार्जुन के विद्रोह का कठोर दमन

लगभग ११८० ई० में वयस्क होने पर पृथ्वीराज ने शासन की बागडोर स्वतंत्र रूप से संभाल ली। जयानक सूचित करता है कि उसके उत्तराधिकार को नागार्जुन नामक किसी महत्त्वाकांक्षी ने चुनौती दी। ऐसा मत प्रकट किया गया[3] है कि यह नागार्जुन चतुर्थ विग्रहराज **बीसलदेव** का पुत्र और अमरगांगेय का छोटा भाई था, जो पृथ्वीराज की नववयस्कता का लाभ उठाकर राजगद्दी हड़पना चाहता था। बाद के कुछ साक्ष्यों में तो यहाँ तक कहा[4] गया है कि वह अजमेर का राजा था। किन्तु इस सम्बन्ध में पृथ्वीराज के राजदरबारी कवि और ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत ही विश्वास्य जयानक की सूचना है कि नागार्जुन ने गुडपुर नामक नगर पर अधिकार कर लिया। किन्तु वहाँ वह पृथ्वीराज के

---

१. पृथ्वीराजविजय, नवाँ ३५-४३; खरतरगच्छपट्टावली (दशरथशर्मा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ७२ पर उद्घृत)।
२. पृथ्वीराजविजय, नवाँ, ३५-४३ तथा ६७-८६।
३. दशरथ शर्मा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ७३।
४. चौहानवंश का इतिहास देने वाली डॉ० दशरथ शर्मा के व्यक्तिगत पुस्तकालय वाली बहीं, पृष्ठ ५४वाँ; आइने-अकबरी, पृष्ठ २९८।

प्रथम अभिलेख (बिजोलिया) भी उसी वर्ष का प्राप्त है। अत: वि० सं० १२२६ अर्थात् ११६९ ई० उसके राज्यारोहण की तिथि होनी चाहिए। गुजरात से अजमेर जाते समय सोमेश्वर स्कन्द और सोढ़ नामक दो गुजराती ब्राह्मणों को लाया था, जो उसके मंत्री हुए। किन्तु कुछ दिनों बाद उनका स्थान कदम्बवास ने ले लिया, जिसने उसके पुत्र तृतीय पृथ्वीराज की अल्पवयस्कता के समय उसकी माता और संरक्षिका कर्पूरदेवी के साथ राज्यशासन चलाया। यद्यपि सोमेश्वर को किसी विशेष राजनीतिक कार्य का ज्ञान नहीं है, बिजोलिया अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने **प्रतापलंकेश्यर** की उपाधि धारण की। उसके अभिलेख तथा **पृथ्वीराजविजय** उसे अनेक मंदिरों तथा अपने पिता के नाम पर एक नगर के निर्माण का श्रेय देते हैं। साथ ही यह भी सूचना मिलती है कि उसने घोड़े पर चढ़े हुए अपने पिता की एक मूर्ति तथा घोड़े के सामने अपने खड़े हुए स्वरूप की दूसरी मूर्ति का भी निर्माण कराया[१]। इन निर्माणकार्यों में उसके शान्तिपूर्वक व्यस्त रहते हुए तीन वर्ष भी नहीं बीते थे कि अण्हिलवाड़ की राजगद्दी अजयपाल को मिली (११७२ ई०), जिसने शासन की बागडोर सँभालते ही कुमारपाल और सोमेश्वर के मधुर और मित्रतापूर्ण सम्बन्धों को उलटकर चाहमान-चौलुक्य शत्रुता की पुरानी परम्परा पुन: प्रत्यावर्तित कर दी। अनेक चौलुक्य अभिलेखों से मालूम[२] पड़ता है कि उसने सपादलक्ष से भेंट वसूल की। सोमेश्वरकृत **कीर्त्तिकौमुदी** (द्वितीय, ५३) जैसे अनेक जैन ग्रन्थों से भी ज्ञात होता[३] है कि अजयपाल ने जांगलदेश के राजा से एक स्वर्णमण्डपिका और मदस्रावी हाथियों को बलपूर्वक छीना। चूँकि जांगलदेश अथवा सपादलक्ष का उसका समकालिक राजा सोमेश्वर ही था, यह निष्कर्ष निकलता है कि उसे अजयपाल के किसी आक्रमण में पराजय सहनी पड़ी। इस सम्बन्ध में चन्दबरदायी यह कहता[४] है कि द्वितीय भीम ने सोमेश्वर को मार डाला, जो उसके अन्य अनेक कथनों की तरह ऐतिहासिक तथ्य के रूप में स्वीकार नहीं हो सकता।

तृतीय पृथ्वीराज (लगभग ११७८-११९२ ई०)

सोमेश्वर और कर्पूरदेवी के पुत्र पृथ्वीराज का जन्म अण्हिलवाड़ में सम्भवत: ११६६ ई० में हुआ था। उसकी अल्पायु में ही (वि० सं० १२३४=११७७ ई०) में सोमेश्वर की मृत्यु हो गयी। अत: राजपद प्राप्त करने पर भी उसे कुछ दिनों तक अपनी

---

१. वहीं, अष्टम ६२-७०।

२. करदीकृतसपादलक्ष श्री अजयपालदेव:। इऐ०, जिल्द ११, पृष्ठ ७१ और आगे, जिल्द ६, पृष्ठ १९४, पादटिप्पणी; जिल्द १८, १०।

३. देखिए, अ० कु० मजुमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १२७।

४. पृथ्वीराजरासो, नागरीप्रचारिणी सभा का प्रकाशन, ३९वाँ समय।

कथित है कि आल्हा और ऊदल नामक बनाफर सरदारों के साथ गाहडवाल राजा जयच्चन्द्र की एक सैनिक टुकड़ी ने महोबा के युद्ध में चन्देलों की सहायता की थी। **आल्हाखण्ड** में वर्णित इस चन्देल-चाहमान संघर्ष के मूल कारण, उसकी अनेक लड़ाइयों के विवरण तथा परमाल (परमर्दिन्) के पकड़े जाने और पृथ्वीराज के सामने कैदी रूप में लाये जाने तथा पुनः कैद से भागकर लज्जावश आत्महत्या कर लेने जैसे उल्लेखों में अनेक काव्यात्मक और अनैतिहासिक कल्पनाएँ प्रतीत होती हैं। किन्तु अनेक अभिलेखीय प्रमाणों से यह प्रकट है कि उनका आधार स्पष्टतः ऐतिहासिक है। चाहमानों की गाहडवालों से शत्रुता के बीज चतुर्थ विग्रहराज **वीसलदेव** के समय रोपित हो चुके थे, जब उसने चन्देलराज्य के उत्तर-पश्चिम में स्थित गाहड़वालों के तोमर सामन्तों को अपनी अधिसत्ता के भीतर लाने का सफल उपक्रम किया[१] था। विजयचन्द्र का पुत्र और उत्तराधिकारी जयच्चन्द्र उससे बहुत अधिक कर्मठ और महत्त्वाकांक्षी था और पृथ्वीराज की शक्ति बढ़ते देखना उसे सह्य न रहा होगा। इसके अलावा मदनवर्मा के समय में चन्देलों की गाहडवालों से मित्रता रह चुकी थी[२]। स्वयं परमर्दिदेव के काशी के मणिकर्णिका घाट पर वि० सं० १२४७ में दान का उल्लेख मिलता[३] है, जो उसके तीर्थाटन के साथ-साथ जयचन्द्र से मित्रता का भी द्योतक हो सकता है। ऐसी अवस्था में यह बिल्कुल ही असम्भव नहीं है कि जयचन्द्र ने चाहमान आक्रमण के समय परमर्दिन् की सहायता की हो। उस आक्रमण और महोबा पर चाहमान अधिकार की ऐतिहासिकता का प्रमाण पृथ्वीराज के वि० सं० १२३९=११८२ ई० के मदनपुर से प्राप्त होने वाले अभिलेखों[४] से मिलता है, जिनमें पृथ्वीराज के जेजाकभुक्ति को लूटने और वीरान बना देने का उल्लेख है। पृथ्वीराज के हाथों परमर्दिन् की पराजय का वर्णन **सारंगधरपद्धति** (श्लोक १२५४) और **प्रबन्धचिन्तामणि** (पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १४३) में भी आता है। उनमें कहा गया है कि परमर्दिन् ने अपने दाँतों में तृण दबाते हुए आत्मसमर्पण कर अपने को बचाया।

किन्तु जेजाकभुक्ति पर पृथ्वीराज के आक्रमण का कोई स्थायी परिणाम नहीं हुआ। उसके मदनपुर के अभिलेखों से बेतवा नदी के पार महोबा के आस-पास के क्षेत्रों पर उसके अधिकार की जो तिथि (११८२-३ ई०) ज्ञात होती है, वही तिथि **परमाल-रासो** में उसके आक्रमण की भी दी हुई है। किन्तु उस तिथि के एक दो वर्षों के भीतर ही

---

१. देखिए, पीछे पृष्ठ ३६३-३६४।

२. देखिए, मदनवर्मा का महू अभिलेख, एइ०, जिल्द १, पृष्ठ १९८-२०४।

३. एइ०, जिल्द ३१।

४. आसरि०, जिल्द १०, पृष्ठ ९८; जिल्द २२; पृष्ठ १७३ और आगे।

घेरेबन्दी का शिकार हुआ। कुछ समय घिरे रहने के पश्चात् अपनी जान बचाकर वह तो किसी प्रकार भाग निकला[१]; किन्तु उसके सभी सगे-सम्बन्धी पकड़े गये। उसके बाद भी नागार्जुन के देवभट नामक किसी अधिकारी और सैनिकों ने युद्ध जारी रखा। किन्तु वे सभी एक--एक कर पकड़ कर मार डाले गये और उनके सिर अजमेर के किले के दरवाजे के बाहर टाँग दिये गये[२]। अपने शत्रुओं के शवों के प्रति इस प्रकार के प्रदर्शन मुसलमानों में तो बहुत व्यापक थे, किन्तु वे हिन्दू राजाओं की युद्धसंहिता के बाहर थे। ऐसा लगता है कि पृथ्वीराज वैसा कर सबके सामने यह उदाहरण उपस्थित करना चाहता था कि सभी विद्रोहियों की उनकी जैसी ही नौबत होगी। इस युग में हिन्दू इतिहास में कुछ ऐसे नृशंस उदाहरण और भी मिलते[३] हैं, किन्तु असम्भव नहीं है कि वे आक्रामक तुर्क प्रभाव के परिणाम हों।

चन्देलराज्य पर आक्रमण

जिनपालकृत **खरतरगच्छपट्टावली** की यह सूचना है कि वि० सं० १२३९= ११८२ ई० में पृथ्वीराज दिग्विजय में लगा हुआ था। सच्चे प्राचीन भारतीय राजनीतिक अर्थ में उसने कोई दिग्विजय की अथवा नहीं, इसका तो पक्का प्रमाण नहीं मिलता, किन्तु अनेक समकालीन साक्ष्यों और कुछ परवर्त्ती ग्रन्थों से यह ज्ञात होता है कि आसपास की सभी प्रमुख राजनीतिक सत्ताओं से उसकी प्रतिद्वन्द्विताएँ थीं, जो प्रायः छोटे बड़े युद्धों में अभिव्यक्त हुईं। उन शत्रु सत्ताओं में चन्देल भी एक थे। जिनसे उसका स्वतन्त्ररूप से शासन सूत्र संभालने के थोड़े समय के भीतर ही संघर्ष हुआ। इस सम्बन्ध में पीछे हम चन्देलराज परमर्दिदेव का इतिहास लिखते समय **पृथ्वीराजरासो (महोबायुद्ध समय)** के साक्ष्य का विवेचन कर चुके[४] हैं और उसे पुनः यहाँ दुहराने की कोई आवश्यकता नहीं है। संक्षेप में **आल्हाखंड** की इस सूचना मात्र की ओर निर्देश किया जा सकता है कि पृथ्वीराज चन्देल क्षेत्रों को चीरता हुआ केवल सिरसागढ़ और महोबा तक ही नहीं चढ़ गया, अपितु उसकी सेनाओं ने कालंजर के प्रसिद्ध दुर्ग को घेरकर परमर्दिन (परमाल) को भी पकड़ लिया और उसे बन्दीरूप में पृथ्वीराज के सामने प्रस्तुत किया। वहाँ यह भी

---

१. पृथ्वीराजविजय, दसवाँ, ३०–३२।

२. वहीं १०वाँ, ६–७ और १२वाँ, ८–३८।

३. तैलप ने मुञ्जराज को पकड़कर पहले तो दर–दर भिक्षा मंगवायी, पुनः उसे पेड़ से लटकाकर मरवा डाला तथा उसके सिर को सूली में पिरोकर अपने आँगन में टंगवाया और उसमें रोज दही लगवा–लगवाकर (ताकि कौवे उसे खाँय) अपने अमर्ष का पोषण किया। प्रचिद्वि०, पृष्ठ ३१–३२।

४. देखिए, पीछे १४वाँ अध्याय, परमर्दिदेव प्रकरण।

के मारे जाने से अप्रसन्न होकर भीम चौलुक्य ने चाहमान राज्य पर चढ़ाई कर दी और युद्ध में सोमेश्वर को मार डाला। साथ ही उसने नागौर के दुर्ग पर अधिकार कर लिया। किन्तु बाद में पृथ्वीराज ने उसे परास्त कर मारा डाला तथा नागौर पर पुनः अधिकृत हो गया। इस विवरण में अनेक गलतियाँ हैं। प्रथमतः, न तो सोमेश्वर की मृत्यु के पूर्व भीम अण्हिलवाड़ का राजा हुआ था और दूसरे, न ही सोमेश्वर उसके हाथों मारा गया। चौलुक्य इतिहास से हमें यह भलीभाँति ज्ञात है कि चाहमान-चौलुक्य संघर्ष की अत्यन्त संभावित तिथि वि० सं० १२४१=११८४ ई० के बाद भी लगभग आधी शती तक भीम गुजरात का शासक बना रहा। अतः पृथ्वीराज के हाथों उसके मारे जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। पृथ्वीराजरासो के इस सम्बन्ध के विवरणों के बारे में केवल इतना कहा जा सकता है कि चन्दबरदायी को उभयपक्षीय संघर्ष की मूल ऐतिहासिक जनश्रुति मात्र ज्ञात थी, जिसके ब्यौरों को अपने मन से उसने भर दिया।

जिनपालकृत **खरतरगच्छपट्टावली** से विदित[१] है कि पृथ्वीराज का गुजरात से संघर्ष वि० सं० १२४४ के पूर्व कभी हो चुका था। वेरावल प्रशस्ति उसकी ओर इङ्गित करते हुए कहती है कि भीमदेव का जगद्देव[२] प्रतीहार नामक मंत्री 'पृथ्वीराज की कमलरूपी रानियों के लिए चन्द्रमा के समान था'। प्रहलादनदेवकृत **पार्थपराक्रम-व्यायोग** नामक नाटक[३] में कथित है कि जांगल देश के राजा ने आबू के परमार सामन्त धारावर्ष पर एक बार रात्रि में धावा बोला था, किन्तु उसे कोई सफलता नहीं मिली। यहाँ जांगलदेश के राजा से तात्पर्य पृथ्वीराज से ही है। चूँकि प्रहलादन धारावर्ष का ही छोटा भाई था, उसके कथन पर सन्देह नहीं किया जा सकता। आबू के परमार चौलुक्यों की अधिसत्ता स्वीकार करते थे और उन पर चाहमान धावा पृथ्वीराज और द्वितीय भीम के बीच होने वाले संघर्षों का ही अंग था। किन्तु दोनों पक्षों में कोई निर्णायक युद्ध नहीं हुआ और अन्त में परस्पर संधि हो गयी, जिसके फलस्वरूप व्यापार के लिए सपादलक्ष के साथ गुजरात तक निर्बाध जाने लगे[४]। सम्बद्ध स्थलों से यह स्पष्ट है कि भीम का मन्त्री जगद्देव प्रतीहार सन्धि की शर्तों के पालन के लिए कटिबद्ध था।

---

१. दशरथ शर्मा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ७५; इहिक्वा०, जिल्द २६, पृ० २२३ और आगे।

२. प्रचिद्रि० (पृष्ठ १४१-१४५) में जगद्देव को जयसिंह सिद्धराज के दरबार का वीर बताया गया है। किन्तु साथ ही पृथ्वीराज और परमर्दिन् से भी उसकी समकालिकता बतायी गयी है।

३. गायकवाड़ ओरियण्टल सीरिज़्, पृष्ठ ३।

४. इहिक्वा, जिल्द २८, पृष्ठ २२६।

कालंजर और महोबा दोनों ही स्थानों पर परमर्दिदेव के अधिकार के सूचक अभिलेख प्राप्त होते हैं[1]। अतः यह निश्चित है कि थोड़े से चन्देल क्षेत्रों पर जो चाहमान सत्ता स्थापित हो गयी थी, वह शीघ्र ही समाप्त भी हो गयी।

भाडानक विजय

चाहमान राज्य की उत्तर दिशा में स्थित भाडानक क्षेत्रों पर पृथ्वीराज का अभियान अधिक परिणामकारी सिद्ध हुआ। डॉ० दशरथशर्मा पद्मप्रभसूरि और जिनपतिसूरि नामक दो जैन आचार्यों के पारस्परिक शास्त्रार्थ की चर्चा करते हुए जिनपतिसूरि के दो श्लोकों का हवाला[2] देते हैं जो पृथ्वीराज की भाडानकों पर विजय की प्रशंसा में ११८२ ई० में रचे गये थे। अतः वह विजय उस तिथि के पूर्व सम्पन्न हो चुकी होगी। भाडानक प्रदेश आधुनिक हरियाणा की रेवाड़ी, गुडगाँव तथा भिवानी तहसीलों तथा राजस्थान के अलवर क्षेत्रों के बीच का प्रदेश था[3]। पृथ्वीराज द्वारा पराजित भाडानकों का उस समय का शासक साहणपाल था, जिसका आघाटपुर से एक अभिलेख मिला[4] है।

चौलुक्यों से संघर्ष

जैन साहित्य और चन्दबरदायीकृत **पृथ्वीराजरासो** में पृथ्वीराज और अण्हिलवाड़ के राजा द्वितीय भीम के संघर्ष के छिटपुट उल्लेख कई स्थानों पर प्राप्त होते हैं। किन्तु सबकी समीक्षा करने के बाद भी इस सम्बन्ध के वास्तविक तथ्यों को निश्चित तैथिक क्रम से बता सकना बड़ा कठिन है। **पृथ्वीराजरासो** दोनों पक्षों के बीच होने वाले संघर्षों की तिथि, उनके ब्यौरों और उनके अन्तिम परिणाम के बारे में एक विचित्र ढंग का अनैतिहासिक घपला उपस्थित करता है। तदनुसार[5], चाहमान दरबार में अपने कुछ स्वजनों

---

१. देखिए, एइ०, जिल्द ५, परिशिष्ट, पृष्ठ २६; आसरि, जिल्द २१, पृष्ठ ७२।

२. पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ७४, पादटिप्पणी १३; और देखिए, इहिक्वा० १९३५, पृष्ठ ७८०; राजस्थान थ्रू दि एजेज्, जिल्द १, पृ० २०-२४।

३. पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ९१-९२; इण्डियन् कल्चर, जिल्द १०, पृष्ठ १२३-१२४।

४. दशरथ शर्मा, राजस्थान थ्रू दि एजेज्, जिल्द १, पृष्ठ २३।

५. पृथ्वीराजरासो १२वाँ, ३९वाँ और ४४ वाँ समय। किन्तु पृथ्वीराजरासो में ही एक अन्य स्थान (१४वाँ समय) पर पृथ्वीराज और भीम के युद्ध का कारण यह बताया गया है कि आबू के परमार राजा सलख की पुत्री से भीम और पृथ्वीराज दोनों ही विवाह करना चाहते थे। किन्तु पृथ्वीराज के उसे प्राप्त कर लेने में सफल हो जाने पर भीम ने उस पर चढ़ाई कर दी। इस सम्बन्ध की अनैतिहासिक बातों के लिए देखिए, गौ० ही० ओझा, नागरीप्रचारिणी पत्रिका (नवसंस्करण), जिल्द १, पृष्ठ ३७६-४५४।

पृथ्वीराज की मूर्त्ति स्वयंवर मण्डप के द्वार पर लगवा दी। पृथ्वीराज को अपने गुप्तचरों द्वारा यह सारा वृत्तान्त ज्ञात हो गया और वह छिपे रूप में अपने सैनिकों के साथ वहाँ उपस्थित हुआ। कहते हैं कि संयोगिता ने उसकी मूर्त्ति के गले में ही माला डाल दी और पृथ्वीराज अत्यन्त तेजी से अपने घुड़सवारों के साथ लड़ता हुआ उसे लेकर चलता हुआ। गाहडवाल राजा जयच्चन्द्र ने इसे अपनी सैनिक और पारिवारिक प्रतिष्ठा पर कठोर आघात समझा और पृथ्वीराज से उसकी दरार पूर्णतः अपट हो गयी।

पृथ्वीराजरासो के उपर्युक्त विवरण में कितनी काल्पनिकता भरी है, यह बताना कठिन है। साधारणतया इस युग में स्वयंवरों की प्रथा के बहुत उदाहरण नहीं मिलते। किन्तु यह असम्भव नहीं है कि जयच्चन्द्र का ध्यान किसी धार्मिक-सामाजिक कृत्य में लगे रहने के बीच पृथ्वीराज तेजी से उसपर झपट पड़ा हो और उसकी सेनाओं को बुरी तरह परास्त कर प्रेमातुर संयोगिता को भगा ले गया हो[१]। इस युग में चुपके से शत्रु-राजधानियों तक सैनिक टुकड़ियों के चढ़ जाने के अनेक उदाहरण मिलते हैं। जो भी हो, जयच्चन्द्र उत्तर भारत की सर्वप्रमुख सत्ता बनने के लिए उतना ही उत्सुक और प्रयत्नशील था, जितना पृथ्वीराज। दोनों के राज्यों की आपसी सीमाएँ मिलती थीं और गाहडवाल राज्य पर चाहमान सत्ता के दबाव की समस्या जयच्चन्द्र के सामने सर्वदा बनी रही होगी। हसन निजामी कहता है[२] है कि पृथ्वीराज के मन में 'विश्वविजय जैसी कोई इच्छा भूत की तरह घर कर गयी थी'। इस स्थिति को चुपचाप बर्दाश्त कर लेना जयच्चन्द्र जैसे शक्तिशाली और महत्त्वाकांक्षी के लिए असम्भव था और संयोगिता का जबरदस्ती भगा लिया जाना उसके लिए जले पर नमक के समान साबित हुआ होगा। परिणाम केवल उन्हीं दोनों के लिए सांघातिक नहीं हुआ अपितु, जैसा हम आगे देखेंगे, देश के लिए भी आपातिक सिद्ध हुआ।

मुहम्मद गोरी से युद्ध और चाहमान सत्ता का पतन

चाहमानों का सारा इतिहास तुर्कों से संघर्ष का इतिहास है। चतुर्थ विग्रहराज को अभिलेखों में 'आर्यवर्त्त की तुर्क म्लेच्छों से रक्षाकर उसे सचमुच आर्यभूमि बनाने' का

---

१. डॉ० दशरथ शर्मा (पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ७९) राष्ट्रकूट इन्द्र का उदाहरण (एइ०, जिल्द १८, पृष्ठ २४३) उपस्थित करते हैं। वह अपने ही चौलुक्य अधिराज की राजकुमारी भवनागा को उसके विवाहमण्डप से भगा लाया और उससे विवाह कर लिया। और देखिए, बीकानेर से प्राप्त पृथ्वीराजरासो की अप्रकाशित प्रति की भूमिका।

२. ताजुल-मसीर, इलिएट् एण्ड डाउसन्; पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द २, पृष्ठ २१४।

चाहमान-गाहडवाल सम्बन्ध

जनश्रुतियों में पृथ्वीराज की इन विजयों की अपेक्षा कन्नौज के गाहडवाल राजा जयच्चन्द्र से उसके सम्बन्धों तथा मुहम्मद गोरी से उसके युद्धों की ही अधिक चर्चाएँ मिलती हैं। पहले हम उसके जयच्चन्द्र से सम्बन्धों की ही चर्चा करेंगे। यह तो निश्चित है कि उन दोनों के पारस्परिक राजनीतिक व्यवहार एक दूसरे के प्रतिस्पर्द्धी थे। किन्तु **पृथ्वीराजरासो** (४५-५०वाँ समय) की संयोगिता के स्वयंवर वाली कथा में कितनी ऐतिहासिकता है, इस पर विद्वानों में मतैक्य[१] नहीं है। यह वृत्तान्त **पृथ्वीराजविजय, हम्मीरमहाकाव्य** और **प्रबन्धचिन्तामणि** जैसे ग्रन्थों में तो नहीं मिलता, किन्तु **सुर्जनचरित** (१०वाँ, १३-१२८) और **आइने-अकबरी** (द्वितीय, पृ० ३००) में उपलब्ध है। पीछे अनेक अवसरों पर हम देख चुके हैं कि **पृथ्वीराजरासो** के विभिन्न विवरणों के अन्तस्थलों में ठोस ऐतिहासिक तथ्य छिपे हैं और यह असंभव नहीं है कि जयच्चन्द्र की संयोगिता[२] नामक कोई पुत्री रही हो, जिसके हृदय में पृथ्वीराज की वीरताओं का समाचार मात्र सुनकर प्रेम-भावनाएँ उत्पन्न हो गयी हों। पृथ्वीराज स्वयं भी उसकी प्रेम-भावना का समाचार सुनकर उसके प्रति आसक्त हो गया। **रासो** में कहा गया है कि जयच्चन्द्र ने संयोगिता के लिए उचित वर प्राप्त करने के लिए एक स्वयंवर[३] का आयोजन तो किया, किन्तु स्वयंवर के इस नियम के विपरीत कि सभी इच्छुक राजा उसमें बुलाये जॉय, उसने पृथ्वीराज को कोई बुलावा नहीं भेजा। यही नहीं, उसने अनादरपूर्वक

---

१. त्रिपाठी (हिस्ट्री ऑफ् कनौज, पृष्ठ ३२५-२६) के अनुसार इस युग में स्वयंवरों का प्रचलन बन्द हो गया था। किन्तु अनेक ग्रन्थों द्वारा उनके प्रयोग के उदाहरण दिये गये हैं। देखिए, हेमचन्द्रराय, डाहिनाइ०, जिल्द २, पृष्ठ ९४५-९४६; राम-वृक्षसिंह, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १७६-१७७।

२. पृथ्वीराजविजय में राजकुमारी के रूप में अवतरित तिलोत्तमा (१२वाँ, ३८) नामक पूर्वजन्म की अप्सरा का उल्लेख है, जिसकी प्राप्ति पृथ्वीराज के जीवन का लक्ष्य बताया गया है। ठीक उसी प्रकार पृथ्वीराजरासो (४५वाँ समय) में संयोगिता भी अप्सरारूप बतायी गयी है। दोनों ही स्थानों पर यह निर्देश है कि तिलोत्तमा और संयोगिता पृथ्वीराज को बिना देखे भी उससे प्रेम करती थीं। डॉ० दशरथ शर्मा के मत (पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ७८) में यह सादृश्य संयोगिता की ऐतिहासिकता प्रमाणित करता है।

३. संयोगिता-स्वयंवर जयच्चन्द्र के राजसूय यज्ञ का एक अंग था। राजसूय अनुलंघित सत्ता का द्योतक है। इस समय राजसूयों का प्रचलन बन्द हो गया था। हो सकता है, कोई अन्य विधि ही यहाँ राजसूय के नाम से वर्णित हो।

नहीं हुआ और धीरे-धीरे मुल्तान (११७५ ई०) तथा सारे सिन्ध और पंजाब (११८६ ई०) पर अधिकृत होने की योजनाएँ सफलतापूर्वक कार्यान्वित करता रहा । किन्तु उस समय उसकी सीमाओं पर स्थित सबसे नजदीकी शत्रु पृथ्वीराज चन्देलों, गाहडवालों और चौलुक्यों से ऐसे अनावश्यक युद्ध लड़ता रहा, जिनसे न तो उसकी राज्य-सीमाओं में कोई वृद्धि हुई और न अन्य कोई आर्थिक अथवा सैनिक लाभ ही हुआ । गोरी ने गुजरात पर आक्रमण के पूर्व पृथ्वीराज के पास अपना एक दूत इस संदेश के साथ भेजा[1] कि वह उसकी अधीनता मान ले । किन्तु गोरी की प्रतिष्ठा धूल में मिला देने की प्रतिज्ञा करते हुए भी उसने शायद स्थिति की गम्भीरता नहीं समझी । ११९१ और ११९२ ई० की प्रसिद्ध लड़ाइयों के पूर्व पृथ्वीराज और मुहम्मद गोरी की सेनाओं में कई मुठभेड़ें हो चुकी थीं । ऐसा प्रतीत होता है कि लाहौर और पंजाब पर गोरी शासन स्थापित हो जाने (११८६ ई०) के बाद आक्रान्ताओं ने चाहमान सीमाओं पर धावे मारना प्रारम्भ कर दिया था, किन्तु चाहमान सेनाओं ने उन्हें आगे बढ़ने से हर बार रोका । **हम्मीरमहाकाव्य** और **पुरातनप्रबन्धसंग्रह** में आने वाला **पृथ्वीराजप्रबन्ध** पृथ्वीराज को यह श्रेय देता है कि उसने कम से कम सात बार गोरी के विरुद्ध विजयें प्राप्त[2] कीं । **प्रबन्धचिन्तामणि** और **पृथ्वीराजरासो** जैसे अन्य ग्रन्थों में इन विजयों की संख्या इक्कीस बतायी गयी है, जिसमें अतिरंजन की सम्भावना हो सकती है । किन्तु मुसलमान इतिहासकार इन संघर्षों की चर्चा बिल्कुल नहीं करते । ऐसा कदाचित् या तो इस कारण है कि इन युद्धों का स्वरूप बहुत विस्तृत नहीं था और वे साधारण मुठभेड़ें मात्र थीं अथवा इस कारण कि वे मुसलमानी हारों को छिपाना चाहते थे ।

तराइन का प्रथम युद्ध, ११९१ ई०

मुहम्मद गोरी का पृथ्वीराज पर पहला बड़ा आक्रमण ११९०-११९१ ई० में हुआ । मिनहाजुद्दीन[3] कहता है कि सुल्तान ने 'इस्लाम की सेनाओं का संगठन कर तबरहिन्दाह

---

१. पृथ्वीराजविजय, १०वाँ, ४२ ।

२. हम्मीरमहाकाव्य (तृतीय, १-४९) की सूचना है कि पश्चिमी भारत के राजाओं ने शिहाबुद्दीन गोरी से त्रस्त होकर चन्दनराज के नेतृत्त्व में पृथ्वीराज के सम्मुख उपस्थित होकर उसे दण्डित करने की प्रार्थना की । ये सभी पृथ्वीराज के छोटे छोटे सामन्त रहे होंगे । पृथ्वीराज ने उनका नेतृत्त्व करते हुए मुल्तान पर आक्रमण कर ग़ोरी को अपने सम्मुख झुकने को विवश किया । गोरी अपनी पराजयों का बदला लेने के लिए पहले की अपेक्षा हर बार बड़ी तैयारियों के साथ कम से कम सात बार उससे लड़ा, किन्तु प्रत्येक बार उसे मुँह की खानी पड़ी । देखिए, इए०, जिल्द ८, पृष्ठ ६०, पुरातनप्रबन्धसंग्रह, सिंधी जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित, जिल्द २, पृष्ठ ८७ ।

३. तबकाते-नासिरी, रैवर्टी का अंग्रेजी अनुवाद, जिल्द १, पृष्ठ ४५७-४६९ ।

श्रेय दिया गया है और जयानकभट्ट 'गोमांसभक्षी म्लेच्छ के रूप में कलियुग की प्रत्यक्ष मूर्ति' मुहम्मद शिहाबुद्दीन गोरी का अन्त करना तृतीय पृथ्वीराज के जीवन का लक्ष्य बताता है। किन्तु तत्कालीन भारतीय समाज और संस्कृति की रक्षा का बीड़ा उठाने वाले उस चाहमान शासक में जितनी वीरता, उत्साह और अपनी आन पर मर मिटने की सतत् तत्परता थी, उतनी राजनीतिक बुद्धिमानी नहीं थी। यद्यपि उस समय के प्रमुख भारतीय राजाओं में वह इस दोष का अकेला दोषी नहीं था, सीमान्तों पर स्थित होने के कारण कदाचित् वह सर्वाधिक उत्तरदायी माना जायगा। ११७३ ई० में शिहाबुद्दीन गोरी ने गज़नी पर अधिकार कर लिया और उसके दो वर्षों के भीतर ही भारत पर भी अपनी गृद्ध दृष्टि डालने लगा। मुल्तान और उच्छ पर अधिकृत हो जाने (११७५ ई०) के बाद उसका सबसे पहला मुख्य आक्रमण ११७५ ई० में गुजरात पर हुआ[१]। मार्ग में उसने किरादू और नाडोल भी लूटा, किन्तु नौजवान भीम ने काशह्रद के मैदान में उसे करारी मात[२] दी। युद्ध के पूर्व चौलुक्यों ने कदाचित् चाहमानों से सहायता मांगी थी, किन्तु अपने मंत्री कदम्बवास का परामर्श[३] विपरीत होने के कारण पृथ्वीराज ने न तो नाडोल के चाहमानों की कोई सहायता की और न चौलुक्यों की ही। यह उदाहरण उस समय के मंत्रियों में दूरदृष्टि के अभाव का परिचायक है। किन्तु राजा होने के नाते पृथ्वीराज का उत्तरदायित्त्व इस सम्बन्ध में और भी अधिक था। कदाचित् उसकी नववयस्कता और राजनीतिक अपरिपक्वता इस अल्पदृष्टि का एक कारण थी। इसका सबसे प्रमुख कारण चाहमानों से चौलुक्यों की पारस्परिक शत्रुता रही होगी, जो पीछे उनमें होने वाले कई संघर्षों का मूल थी। आपस में ही लड़ते रहने वाले उस समय के भारतीय राजाओं की सम्भवत: यही धारणा थी कि शत्रु की पराजय चाहे जिससे अथवा जैसे भी हो, अच्छा ही है। इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि वे मुहम्मद गोरी की भारत पर साम्राज्य स्थापित करने की योजनाओं से परिचित थे। काशह्रद की लड़ाई में हारकर भी गोरी अपने उद्देश्यों से विरत

---

१. रैवर्टी, तबकाते-नासिरी, जिल्द १, पृष्ठ ४४९-४५३।

२. वहीं, पृ० ४५१-४५२, तबकाते-अकबरी, अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ ३६; पृथ्वीराज-विजय, ११वाँ, ९-१२।

३. पृथ्वीराजविजय, ११वाँ २-४। कदम्बवास ने पृथ्वीराज से कहा था :—हे लक्ष्मी के आस्पद, यह आपके लिए क्रोध का अवसर नहीं है। क्या गरुड़ उन सर्पों से क्रुद्ध होता है, जिन्हे ऊँट घोंट सकते हैं ? जैसे सुन्दरी तिलोत्तमा को प्राप्त करने के लिए अति आतुर सुन्द और उपसुन्द मर गये, उसी प्रकार ये दोनों (चौलुक्य तथा गोरी) इस सुन्दर देश को पाने के लिए (आपस में ही) मर जॉयगे। वहीं ग्यारहवाँ, ६-७।

राज्य पर आ टूटने का पूरा मौका देकर बड़ी भूल की[१]। कदाचित् भागी हुई सेना का पीछा कर उसे तहस-नहस करना और घायल शत्रु को पकड़कर उसका काम तमाम कर देना भारतीय युद्धसंहिता के विपरीत और राजपुती आन के विरुद्ध समझकर उसने वैसा नहीं किया। किन्तु वह यह नहीं जानता था कि शत्रु पक्ष की दृष्टि में उस प्रकार की युद्धनीति का कोई मोल नहीं था। पृथ्वीराज ने मुहम्मद गोरी को तराइन के मैदान में पछाड़कर अपने राज्य और देश की समस्याओं का अन्त मान लिया और निजी भोग-विलास में रत हो गया। यदि **पृथ्वीराजरासो** का विश्वास किया जाय (६४वाँ-६५वाँ समय) तो यह मालूम होगा कि वह कदाचित् इसी बीच संयोगिता का अपहरण कर अजमेर के दुर्ग में उसकी बाहों का कैदी बनकर उसके साथ अपना सारा समय बिताने लगा। उसका रनिवास से बाहर निकलना बहुत कम हो गया और राजकर्त्तव्यों की अवहेलना होने लगी। कुछ साक्ष्यों से तो यहाँ तक ज्ञात होता है कि गोरी से होने वाली अगली लड़ाई के पूर्व वह नींद का इतना बड़ा शिकार होने लगा था कि उसकी बुद्धि मन्द हो गयी और यदि कोई उसे आवश्यकतावश जगा भी देता तो वह उस पर अत्यन्त क्रुद्ध हो जाता था[२]।

तराइन का द्वितीय युद्ध ११९२ ई०

दूसरी ओर मुहम्मद गोरी अपनी पराजय का बदला लेने की हर प्रकार की तैयारियाँ कर रहा था। ग़ज़नी में पहुँचकर, उसने नींद और आराम हराम मान लिया[३]। शीघ्र ही एक लाख बीस हजार चुने हुए अफगान, ताजिक और तुर्क घुड़सवारों के अतिरिक्त—सभी शस्त्र-अस्त्रों से सज्ज होकर वह भारत की ओर चल पड़ा और दूसरी बार तराइन के

---

१. मिनहाजुद्दीन स्पष्ट कहता है (वहीं, ४६४) कि चाहमानों ने गोरी की सेनाओं को युद्ध हार जाने के बाद परेशान नहीं किया और वे बिना किसी कष्ट के भली प्रकार अपने देश लौट गयीं। भारतीय जनश्रुति यह बताती है कि पृथ्वीराज ने मुहम्मद गोरी को कई बार पराजित कर पकड़ा था, किन्तु प्रत्येक बार राजपूती उदारता के कारण उसे छोड़ दिया था। किन्तु मुसलमान साक्ष्यों से उसके पकड़े जाने की बात प्रमाणित नहीं होती। यह अवश्य ज्ञात होता है (वहीं पृ० ४६४) कि मुहम्मद गोरी के लौट जाने के बाद उसने तबरहिन्दाह को घेरा और वहाँ के मुसलमान गवर्नर को आत्मसमर्पण के लिए विवश कर दिया।

२. लक्ष्मीधरकृत विरुद्धविधिविध्वंस, इहिक्वा० १९४०, पृ० ५७१, श्लोक २३; पुरातन प्रबन्धसंग्रह, सिंधी जैन ग्रन्थमाला, जिल्द २, पृ० ८७-८८।

३. तबकाते-नासिरी, रैवर्टी, जिल्द १, पृष्ठ ४६४, पादटिप्पणी ७।

के किले पर आक्रमण कर दिया तथा उसे जीतकर मालिक जियाउद्दीन की निगरानी में रख दिया' । यह दुर्ग पृथ्वीराज के राज्य का ही कोई दुर्ग था, किन्तु इसकी पहचान के बारे में दो मत है । **तारीखे-फिरिश्ता** तथा कुछ अन्य मुसलमानी ग्रन्थों के आधार पर उसकी प्रथम पहचान भटिण्डा से की गयी[१] । किन्तु डॉ० दशरथ शर्मा का मत है कि भौगोलिक दृष्टि से वह सरहिन्द होना चाहिए[२] । शिहाबुद्दीन ने जियाउद्दीन को वहाँ का शासक नियुक्त कर उसे १२००० चुने हुए घुड़सवारों सहित अपनी सेना का बहुत बड़ा भाग देकर आठ महीने तक अपने लौटने की प्रतीक्षा करने की आज्ञा दी । स्वयं उसकी योजना गजनी से एक बड़ी सेना के साथ वापस आकर चाहमानों पर आक्रमण की थी । किन्तु इसी बीच उसे सूचना मिली कि पृथ्वीराज दिल्ली के राजा गोविन्दराज के साथ एक बड़ी सेना लेकर तबरहिन्दाह की ओर चढ़ा आ रहा है । यह सुनकर वह घबड़ा उठा और दिल्ली के पास कर्नाल जिले में स्थित तराइन (तरावड़ी) के क्षेत्र में चाहमान सेनाओं से मुठभेड़ लेने को विवश हो गया । फिरिश्ता पृथ्वीराज की सेना की संख्या २ लाख पैदल और तीन हजार हाथी बताता है । इस विवरण से यह स्पष्ट है कि पृथ्वीराज ने मुहम्मद गोरी को अपनी तैयारियों को भलीभाँति पूरा कर अजमेर पर आक्रमण करने का मौका न देने का बुद्धिमानीपूर्ण निश्चय किया था । अत: सभी ओर से आक्रामक सेना पर उसने इतनी तेजी से चोटें कीं कि शीघ्र ही वह तितर-बितर होकर भाग गयी । गोरी ने फिर भी हिम्मत नहीं हारी और गोविन्दराज पर भाले से ऐसा प्रहार किया कि उसके मुँह के दो दाँत बाहर गिर गये । किन्तु वह स्वयं भी गोविन्दराज के बरछे से बुरी तरह घायल होकर मैदान छोड़ने को विवश हुआ । यदि एक खलजी सरदार उसके घोड़े पर कूदकर उसे अपनी बाँहों में छिपाकर संभालता नहीं तो वह गिरकर अपने ही सैनिकों से कुचल जाता[३] । परिणामत:, मुसलमानी सेना में पूरी भगदड़ मच गयी और वह तब तक कहीं नहीं रुकी, जब तक अपने क्षेत्रों में सुरक्षित नहीं पहुँच गयी । पृथ्वीराज की सैनिक मोर्चेबन्दी, कुशल युद्धनेतृत्त्व और बलवती सेना का इससे बड़ा कोई दूसरा प्रमाण नहीं हो सकता ।

किन्तु पृथ्वीराज तराइन की पहली लड़ाई जीतते हुए भी अन्तिम संघर्ष हार गया । उसने भागती हुई मुसलमान सेना का पीछा न कर उसे पुन: एकत्र होकर दुबारा अपने

---

१. रैवर्टी, पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द १, पृष्ठ ४५७-४५८, पादटिप्पणी ३; हेमचन्द्रराय, डाहि-नाइ, जिल्द २, पृष्ठ १०८७ ।

२. इण्डियन् कल्चर, १९४४, पृ० ७५; अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० ८२, पाद-टिप्पणी २२ ।

३. रैवर्टी, तबकाते-नासिरी, जिल्द १, पृ० ४६० ।

वीरगति को प्राप्त हुआ। मुहम्मद गोरी ने आगे बढ़कर अजमेर लूटा तथा जो बचा उसे नष्ट किया और मन्दिरों को गिराया। वहाँ भी हजारों चाहमान सैनिक मारे गये[१]। अफगान सेनाएँ वहाँ से चारों ओर बढ़कर चाहमान राज्य के बड़े-बड़े नगरों पर अधिकृत हो गयीं। अजमेर के किले के चित्रकक्ष में सुअरों द्वारा मारे जाते हुए मुसलमानों के चित्रों को देखकर मुहम्मद गोरी अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और पृथ्वीराज मार डाला गया[२]। किन्तु ऐसा विश्वास किया जाता है कि उसके पूर्व पृथ्वीराज ने विवश होकर कदाचित् उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी। उसके प्रमाणस्वरूप दिल्ली से टंकित मुहम्मद-बिन-साम के उस सिक्के का साक्ष्य प्रस्तुत किया जाता है, जिसमें पृथ्वीराज का भी नाम[३] है।

इतिहास के पृष्ठों पर ऐसे अनेक राज्यों अथवा साम्राज्यों के इतिवृत्त भरे पड़े हैं, जिनके पतन में विदेशी आक्रमणों का बड़ा हाथ था। किन्तु किसी विरले ही ऐसे राज्य का उदाहरण मिलता है जो अपने सर्वोपरि चरमोत्कर्ष के दिनों में ही विदेशी आक्रमण से चकनाचूर हो गया हो। पृथ्वीराज के अधीन चाहमान राज्य उत्तर भारत की सर्वप्रमुख और अविजित सत्ता के रूप में कवियों, लेखकों, चारणों और वीरों की जमघट का केन्द्र बन गया था। किन्तु अपने यौवन के बीच में ही वह शत्रु की तलवार का शिकार हो गया और उसके गिरते ही चाहमान सत्ता ढह गयी। पृथ्वीराज का भाई हरिराज ११९८ ई० तक जीवित था और इस बीच उसने अजमेर मुसलमानों से छीन लिया था। किन्तु आक्रामकों के विरुद्ध उसका प्रतिरोध सशक्त और स्थायी नहीं हो सका। अन्त में जब उसने सफलता की सारी आशाएँ छोड़ दी तो स्वयं अग्नि में अपनी प्राणाहुति देकर समाप्त हो गया[४]। कई युद्धों में मुसलमान आक्रान्ताओं को बुरी तरह हराकर भी केवल एक युद्ध हार जाने से चाहमान जैसी एक बड़ी सत्ता ढह गयी, यह आश्चर्यजनक तो है, किन्तु इतिहास की बहुत

---

१. इलियट् ऐण्ड डाउसन्, पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द २, पृ० २१५।

२. प्रचिद्वि०, पृष्ठ १४५; मुसलमान साक्ष्य मुसलमानों के प्रति पृथ्वीराज के मन की घृणा एवं कैदी हो जाने के बाद भी उसके षडयन्त्र की चर्चा करते हैं, जिनके कारण वह मार डाला गया। इलियट् ऐण्ड डाउसन् पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द २, पृ० २१५; ब्रिग्स्, जिल्द १, पृ० १७७।

३. टॉमस्, क्रानिकिल ऑफ् दि पठान किंग्स् ऑफ् डेल्ही, पृ० १७-१८।

४. हम्मीर महाकाव्य, तृतीय, ७३ और ८२; चतुर्थ १, १९; ऐनुअल् रिपोर्ट ऑफ् राजपूताना म्यूजियम्, १९११-१२, पृ० २; इलियट् ऐण्ड डाउसन्, पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द २, पृ० २२५-२२६; रैवर्टी, तबकाते-नासिरी, जिल्द १, पृ० ५१६-५१८।

मैदान में आ डटा[१] । पृथ्वीराज भी ३ लाख घोड़ों और तीन हजार हाथियों के अतिरिक्त काफी पदातियों से सज्ज होकर वहाँ पहुँच गया[२] । उसके साथ लगभग १५० सामन्त थे, जो गंगाजल की शपथ लेकर जीतने अथवा मर मिटने के लिए कृतसंकल्प थे । किन्तु उसका सबसे बड़ा प्रतिद्वन्द्वी जयच्चन्द्र अपने अपमान का घाव धोता रहा तथा उसी प्रकार युद्ध से अलग रहा, जैसे ११७८ ई० में पृथ्वीराज गुजरातियों की सहायता करने से विरत रहा था । तथापि पृथ्वीराज भयभीत नहीं था । उसने मुहम्मद गोरी को पत्र लिखा कि यदि वह गजनी लौट जाय तो चाहमान सेनाएँ उसकी कोई हानि नहीं करेंगी । किन्तु मुहम्मद गोरी उससे अधिक चालाक निकला । उसने वह प्रस्ताव अपने भाई के पास गजनी भेजने का बहाना बनाकर पृथ्वीराज को धोखे में डाल दिया । वह शिथिल पड़ गया और हिन्दू सेनाएँ युद्ध-विराम की स्थिति का पालन करती हुई निश्चिन्त हो गयीं । उधर गोरी ने अपनी सामने की सेना को तो नहीं हटाया, किन्तु पीछे वाली पंक्तियों को नये सिरे से युद्ध के लिए अधिक सुविधाजनक स्थान पर कहीं अन्यत्र हटाने लगा । उनकी मदद से हिन्दू खेमे पर धोखे से चारों ओर से वह एक दिन ऐसे समय टूटा, जब सूर्य भी नहीं उगा था और सभी हिन्दू सैनिक अपनी नित्य-क्रियाओं में लगे हुए थे । उस समय पृथ्वीराज तो सोया ही था[३] । इस प्रकार युद्ध के लिए एकदम तैयार न रहने की स्थिति में आक्रामकों के प्रहार से सारी हिन्दू सेना तितर-बितर हो गयी । अपराह्न में लगभग ३ बजे मुहम्मद गोरी ने अपना अन्तिम और कठोरतम प्रहार किया । हिन्दुओं में भगदड़ मच गयी और उनके १ लाख सिपाही मारे गये । पृथ्वीराज स्वयं भागते हुए सरस्वती के किनारे पकड़ा गया और उसका सर्वप्रमुख सहायक गोविन्दराज लड़ता हुआ

---

१. मुहम्मद गोरी ने कुछ भारतीय (हिन्दू) राजाओं को भी अपनी ओर मिला लिया । ऐसे राजाओं में जमून का राजा विजयदेव था (रैवर्टी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ४६६-६७, नोट १) जिसने अपने पुत्र नरसिंहदेव को गोरी की ओर से युद्ध के लिए भेजा । हम्मीरमहाकाव्य (इऐ०, जिल्द ८, पृष्ठ ६०) से ज्ञात होता है कि घतैक के राजा ने भी उसकी सहायता की । किन्तु पृथ्वीराजरासो की यह सूचना सही नहीं प्रतीत होती कि गाहडवाल राजा जयच्चन्द्र भी छिपे-छिपे गोरी से पत्र-व्यवहार कर रहा था ।

२. ब्रिग्स्, तारीखे-फिरिश्ता, जिल्द १, पृष्ठ १७५ । किन्तु भारतीय साक्ष्य उसकी सेना की संख्या बहुत कम बताते हैं, क्योंकि पृथ्वीराज एक ही साथ कई मोर्चों पर लड़ रहा था । देखिए, रासोसार, पृ० ४१५ ।

३. ब्रिग्स्, जिल्द १, पृष्ठ १७६; इलियट् ऐण्ड डाउसन्, पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द २, पृष्ठ २००; तबकाते-नासिरी, रैवर्टी, जिल्द १, पृष्ठ ४६८; प्रचिद्वि०, पृष्ठ १४४ ।

जिससे भ्रमित होकर वह क्षणिक शैथिल्य, आनन्द और आमोद में डूब गया । युद्ध के परिणाम को देखते यह अक्षम्य अवश्य था, किन्तु उस जैसे व्यक्तियों का कई बार यह सामान्य दोष रहा है । धनुषबाण के प्रयोग में वह अपने समय का अनुपम योद्धा था तथा अपने हृष्टपुष्ट और सुन्दर शरीर एवं अदम्य साहस से किसी को भी अनायास मोहित कर सकता था । अत: यह कोई आश्चर्य नहीं था कि उसके सौन्दर्य और वीरता को सुनकर बिना देखे भी संयोगिता अथवा तिलोत्तमा उससे प्रेम करने लगी । पृथ्वीराज का व्यक्तित्त्व कई अन्य दृष्टियों से भी आकर्षक था । जयानकभट्ट नामक ब्राह्मण कश्मीर से चलकर उसके राजदरबार में टिक गया और वहीं उसने तराइन की दोनों लड़ाइयों के बीच कभी (११९२ ई०) **पृथ्वीराजविजय** की रचना[१] की । उसके अन्य राजदरबारी कवियों में विद्यापतिगौड, चारण पृथ्वीभट, वागीश्वर, जनार्दन और विश्वरूप थे, जिनकी चर्चाएँ समसामयिक साहित्य में आती हैं[२] । यह भी जनश्रुति है कि **पृथ्वीराजरासो** का रचयिता चन्द्रबरदायी भी उसके राजदरबार का एक चारण कवि था[३] । उसकी पहचान कभी-कभी पृथ्वीभट से की जाती है । उसके राजदरबार में विभिन्न सम्प्रदायों के आचार्य परस्पर शास्त्रार्थ के लिए जुटते थे, जिनकी व्यवस्था के लिए पद्मनाभ नामक मंत्री नियुक्त था ।[४] उसका मंत्री कदम्बवास **सभाव्यास** कहलाता था, जो उसकी परिपक्व पण्डिताई का द्योतक है । उसका पाण्डित्य इस बात से भी स्पष्ट है कि उसने पद्मप्रभसूरि और जिनपतसूरि नामक दो जैन आचार्यों के चाहमान दरबार में आयोजित आपसी शास्त्रार्थ-द्वन्द्व में अध्यक्षता की थी । विजयी पद्मप्रभाचार्य पृथ्वीराज के हाथों जयपत्र प्राप्त कर बहुत पुरस्कृत हुआ ।

❁❁❁

---

१. पृथ्वीराजविजय, प्रथम, ३१; १२वाँ, ५५ और आगे; वि० श० पाठक, ऐंश्येण्ट हिस्टॉरियन्स् ऑफ् इण्डिया, पृष्ठ ९८ ।

२. दशरथ शर्मा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ८८ और पादटिप्पणियाँ, ८५-८९ ।

३. चन्दबलिद्दय नामक पृथ्वीराज के द्वारभट की भी चर्चा आती है । चन्दबरदायी और चन्दबलिद्दय में ध्वनिसाम्य अत्यधिक है, पर उनकी एकता निर्विवाद नहीं है । देखिए, वि० श० पाठक, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १०४ ।

४. पृथ्वीराजविजय, १२वाँ, ५८ ।

बड़ी गुत्थी नहीं है । इसके कारण बड़े स्पष्ट हैं । कुछ की चर्चा पिछले अनुच्छेदों में हम कर चुके हैं । यहाँ केवल एक मुख्य बात की ओर निर्देश किया जायगा । उस समय का भारतीय राजनीतिक चिन्तन और व्यवहार विशृंखलित राजनीति को ही वास्तविक राजनीति मानने लगा था और क्षेत्रवाद से ऊपर उठने को कोई तैयार न था । **पृथ्वी-राजविजय** से स्पष्ट है कि 'गोमाँसभक्षी म्लेच्छ' की समस्या केवल चाहमानों के सामने ही नहीं अपितु सारे उत्तरी भारत के सामने थी, परन्तु किसी ने उससे स्थायी त्राण का कोई तरीका नहीं सोचा । स्वयं चाहमान राज्य बहुत दिनों से उससे त्रस्त था और मुहम्मद गोरी के समय जब मुसलमान आक्रमणों में नये सिरे से तेजी आयी तब भी पृथ्वीराज चेता नहीं । कहते हैं कि तराइन की दूसरी लड़ाई में उसके हारने और मारे जाने के बाद जयच्चन्द्र इतना प्रसन्न हुआ कि उसने अपनी राजधानी में दिये जलाये[१] । यह उसकी व्यक्तिगत शत्रुता और पृथ्वीराज द्वारा अपमानित किये जाने के कारण क्रोध का एक अपवादात्मक परिचयमात्र हो सकता है । किन्तु यह ज्ञात नहीं है कि तत्कालीन अन्य राजाओं के मन में चाहमान राजा के पराजित हो जाने पर कैसी भावनाएँ उठीं । एक बात स्पष्ट है कि भारतीय धर्म और संस्कृति के मूर्त्त शत्रु गोरी के विरुद्ध समवेत होकर भारतीय राजाओं ने कुछ नहीं किया और वे सभी बारी-बारी से उसकी चक्की में पिस गये । उनमें से कइयों ने अकेले भी कई बार उसको बुरी तरह हराने में सफलता पायी थी । समवेत होकर वे ऐसी दीवार खड़ी कर सकते थे, जो अभेद्य होती । यदि वे ऐसा कर सके होते तो भारत का इतिहास कुछ दूसरा ही होता । पृथ्वीराज के साथ शिहाबुद्दीन के विरुद्ध जो भी राजे लड़े थे, वे उसके सामन्त मात्र थे, जिनका उसके लिए युद्ध करना राजनीतिक कर्त्तव्य था । उसे अपने पड़ोसी हिन्दू राज्यों के प्रति प्रारम्भ से ही मित्रता का व्यवहार अपनाकर आवश्यक एकता का वातावरण तैयार करना चाहिए था और अपनी सीमाओं के पार बैठी विपत्ति का पूरा अनुमान लगाना चाहिए था । किन्तु उसने, अपने और देश के दुर्भाग्य से, ऐसा नहीं किया । गुर्जरप्रतीहारों ने इस प्रकार की चिन्ता[२] की थी और अरब कभी भी सिन्ध के आगे नहीं बढ़ पाये । किन्तु चौहानों ने वैसा नहीं किया और अफगान सारे उत्तरी भारत पर छा गये ।

पृथ्वीराज के जीवन का अन्त दुःखद होते हुए भी उसमें अनेक महानताएँ थीं । तराइन के द्वितीय युद्ध के पूर्व वह कभी हारा नहीं था । उस युद्ध में भी उसकी हार का कारण वीरता और शौर्य की कमी नहीं थी, अपितु शत्रु का भुलावा और धोखा था,

---

१. देखिए, पुरातनप्रबन्धसंग्रह का पृथ्वीराजप्रबन्ध ।

२. देखिए, पीछे पृ० १८५-१८६ ।

मानते हुए हम यह देख चुके हैं कि इसके आधार पर स्थिर किये जाने वाले टॉड, क्रुक, जैक्सन्, कैम्पबेल और स्मिथ आदि के वे विचार ग्राह्य नहीं हैं कि ये तथाकथित अग्निकुलीय वंश उन हूण और गूजर जैसे विदेशी आक्रामकों की सन्तान थे, जो यहाँ आकर भारतीय समाज में अग्नि द्वारा शुद्ध कर अथवा वैसी ही अन्य पद्धतियों द्वारा समाहित कर लिये गये। स्वयं चौलुक्य अभिलेखों अथवा समसामयिक साहित्य में उनकी अग्निवंशी उत्पत्ति की कोई चर्चा नहीं है।

'भारतीय जनसमुदाय में विदेशी तत्त्व' नामक अपने अत्यधिक प्रसिद्ध और प्रायः उद्धृत एवं चर्चित शोधलेख[१] में डॉ० दे० रा० भण्डारकर गुर्जर प्रतीहारों की भाँति चौलुक्यों को भी विदेशी खजरों अथवा गूजरों से जोड़ते हैं। उनके मत में चौलुक्यों के शासन के पूर्व गुजरात नाम प्रचलित नहीं था और सबसे पहले उन्होंने ही अपने नाम (गूर्जर) पर लाट क्षेत्र को यह संज्ञा दी। उसके पूर्व गुर्जरों का सम्बन्ध कन्नौज से था, जिसकी चर्चा मेरुतुंगकृत **प्रबन्धचिन्तामणि**[२] में आती है। तदनुसार, मूलराज का पिता राजि कल्याणकटक[३] अर्थात् कन्नौज का राजकुमार था। किन्तु पाँचवें अध्याय में हम यह देख चुके हैं कि गुजरात का बहुत बड़ा भाग ९वीं-१०वीं शताब्दियों में कन्नौज के गुर्जर प्रतीहार साम्राज्य का अंग रह चुका था और यह निश्चित नहीं है कि चौलुक्यों का अधिकार स्थापित हो जाने के बाद ही उन क्षेत्रों को गुर्जर अथवा गुजरात कहा जाने लगा। असम्भव नहीं है कि उसके पूर्व भी गुर्जरभूमि अथवा गूर्जरभूमि जैसे शब्दों का प्रचलन रहा हो। पद्मगुप्त **परिमल गूर्जरपति** और **गूर्जरभूमिपाल**—महिषी जैसे शब्दों का प्रयोग करता है[४]। इनका निर्देश गुजरात की ओर है, न कि गुर्जरत्रा की ओर। डॉ० अ०

---

१. इऐ०, जिल्द ४०, पृ० ७-३९; जराएसो०, बम्बई शाखा, जिल्द २१, पृष्ठ ४१३-४३३।

२. प्रचिद्वि, पृ० १५-१८।

३. डॉ० भण्डारकर के मत (ऊपर निर्दिष्ट) में कल्याण का अर्थ महोदय और महोदय का तात्पर्य कन्नौज से है। कटक का अर्थ होता है स्कन्धावार। गुर्जर प्रतीहारों के अनेक अभिलेख कान्यकुब्ज स्कन्धावार से प्रकाशित हुए थे। अतः वे कल्याण-कटक की पहचान कन्नौज से करते हैं। चूँकि गुर्जर प्रतीहारों ने कन्नौज में साम्राज्य स्थापित किया और वे हूणों की खजर अथवा गुर्जर नामक एक शाखा के थे तथा मूलराज का पिता वहीं का राजकुमार था, अतः उनके मत में चौलुक्य भी गुर्जर हुए। मूलराज तथा उसके वंशजों ने पश्चिमी समुद्र के किनारे वाले प्रदेशों में अपने मूल तत्त्व का निर्देश करने वाले नाम (गुर्जर अथवा गूर्जर) का प्रतिरोपण कर उसे गुजरात नाम दिया।

४. जराएसो०, बम्बई शाखा, जिल्द १६, पृ० १७४।

१६

गुजरात के चौलुक्य

उत्पत्ति

चौलुक्यों की उत्पत्ति का कोई भी स्पष्ट और ब्योरेवार उल्लेख कहीं नहीं मिलता। बादामी, कल्याणी और वेंगी के चालुक्यों से गुजरात के चौलुक्यों का कोई सम्बन्ध था या नहीं यह बताने का कोई पक्का प्रमाण नहीं है। उनकी उपाधियों में एक भेद है। बादामी, कल्याणी और वेंगी के वंश अभिलेखों में चालुक्य नाम से अभिहित है तथा पूर्वी और पश्चिमी चालुक्यवंश स्पष्टतः बादामी के मूल चालुक्यवंश से सम्बन्धित बताये गये हैं। किन्तु गुजरात का वंश अपने को चौलुक्य[१] नाम से पुकारता है और कहीं भी अपने को चालुक्यों से नहीं जोड़ता।

पीछे गुर्जर प्रतीहारों और चाहमानों की उत्पत्ति की चर्चा करते समय हम **पृथ्वी-राजरासो** की उस कथा का उल्लेख कर चुके[२] हैं, जिसमें उनके अतिरिक्त चाहमानों, परमारों और चौलुक्यों की उत्पत्ति आबू स्थित वसिष्ठ के यज्ञकुण्ड से बतायी गयी है। किन्तु इस कथा की ऐतिहासिक निःसारता इस बात से स्पष्ट है कि रासो की प्राचीनतम हस्तलिपियों[३] में इसका कोई उल्लेख नहीं है। अतः इसे बाद के चारणों द्वारा प्रक्षेपित

---

१. अभिलेखों में चौलुक्य नाम के अतिरिक्त उन्हें अन्य नाम भी दिये गये हैं। यथा—शौल्किक (भारतीय विद्या, हिन्दी, जिल्द १, पृष्ठ ७३) चौलुकिक (इऐ० जिल्द, ६, पृष्ठ १९१), चौलक्य अथवा चौल्लक्य (इऐ०, जिल्द ५८, पृष्ठ २३४; एइ०, जिल्द ११, पृष्ठ ५४)। आगे चलकर यह वंश सोलंकी नाम से प्रसिद्ध हो गया। चौलुक्य नाम के अन्य रूपों के लिए देखिए, बम्बई गजेटियर, जिल्द १, भाग १, पृष्ठ १५६।

२. पीछे देखिए, पृष्ठ १२५-१२६।

३. दशरथ शर्मा, इहिक्वा०, जिल्द १६, पृष्ठ ७३८-७४६; चि० वि० वैद्य, हिमेहिइ० जिल्द २, पृष्ट १८। पृथ्वीरासो में उपलब्ध होने वाले भ्रमित ऐतिहासिक तथ्यों के बारे में देखिए, जएसो०, बेंगाल, जिल्द ५५, पृष्ठ ५-६५; जराएसो०, बम्बई शाखा, १९२०, पृष्ठ २०३-२११।

हैं। ११वीं-१२वीं सदी में कल्याणी के चालुक्य दरबार में रहने वाला बिल्हण **विक्रमांकदेवचरित** में कहता है कि इन्द्र की प्रार्थना पर संध्या करते समय ब्रह्मा ने अपने चुलुक के जल से एक वीर की उत्पत्ति की, जिससे एक राजवंश चला। उसी में सबसे पहले हारीत और मानव्य हुए[१]। किन्तु इन सभी उल्लेखों में इतने अधिक अतिमानवीय और दैवी तत्त्व विद्यमान हैं कि उन्हें मानव धरातल से सम्बद्ध तथ्यपरक ऐतिहासिकता के मेल में नहीं स्वीकार किया जा सकता। कमण्डलु-जल से किसी मनुष्य की उत्पत्ति हो सकती है, यह कोरे अंधविश्वास के अतिरिक्त और कुछ नहीं माना जा सकता। यह सारा विवरण चौलुक्य नाम की व्याख्या मात्र देने के उद्देश्य से प्रेरित प्रतीत होता है।

किन्तु कुछ अन्य ग्रन्थों में चौलुक्यों की मानवीय उत्पत्ति के उल्लेख मिलते हैं, जिन्हें स्वीकार करने के पक्ष में कुछ ऐतिहासिक प्रमाण भी दिये जा सकते हैं। **कुमारपालचरित** का लेखक जयसिंहसूरि इस वंश के मूलपुरुष का नाम चुलुक्य बताता है, जिसे मधुपद्म का राजा और अनेक शत्रुओं का विजेता कहा गया है। उसी के नाम से चौलुक्यवंश का नाम पड़ा। किन्तु इस विवरण में मूलराज चौलुक्य के पूर्व भी ऐसे अनेक राजाओं के नाम और कार्य बताये गये हैं, जिनकी ऐतिहासिकता का समर्थक कोई ऐतिहासिक प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं है। १३वीं शताब्दी के मध्य में कृष्णजी द्वारा लिखे गये **रत्नमाला** नामक ग्रन्थ में कहा गया[२] है कि कान्यकुब्ज के कल्याणकटक नामक स्थान में भूयड नामक राजा राज्य करता था। उसने गुजरात पर आक्रमण कर वहाँ के चावोत्कट राजा जयशेखर को मार डाला। मृत राजा की विधवा रानी रूपसुन्दरी जंगल में भाग गयी और उससे वनराज जन्मा, जो अण्हिलपाटण के चापोत्कट वंश का संस्थापक हुआ। आक्रमणकारी भूयड की वंशपरम्परा में क्रमशः पिता-पुत्र के क्रम से कर्णादित्य, चन्द्रादित्य, सोमादित्य, भुवनादित्य और राजि हुए। राजि ने अण्हिलवाड़ आकर वहाँ के अन्तिम चापोत्कट शासक सामन्तसिंह की बहिन से विवाह कर लिया और मूलराज को जन्म दिया। किन्तु वहाँ इस बात की कोई चर्चा नहीं है कि मूलराज ने किस प्रकार अण्हिलवाड़ का शासन अपने हाथों में किया।

प्रबन्धचिन्तामणि में भी मूलराज के पिता (राजि) का सम्बन्ध कान्यकुब्ज स्थित कल्याणकटक से जोड़ा गया है। तदनुसार, वह वहाँ के राजा भूयराज[३] का पौत्र था। डॉ० अ० कु० मजुमदार (पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १९) **प्रबन्धचिन्तामणि** के भूयराज और **रत्नमाला** के भूयड को एक ही व्यक्ति मानते हैं। उनका यह मत भी सही है कि

---

१. विक्रमांकदेवचरित, प्रथम, १०।

२. रत्नमाला का अंग्रेजी अनुवाद, जराएसो०, बम्बई शाखा, जिल्द ९, पृष्ठ ३२-३५।

३. हेमचन्द्र राय (डाहिनाइ०, जिल्द २, पृ० ९३५) भूयराज को भुवनादित्य कहते है।

कु० मजुमदार ने भोज और दण्डिन् के कुछ श्लोकों के आधार पर यह प्रतिपादित किया (चौलुक्यज् ऑफ् गुजरात, पृ० १३) है कि मूलराज चौलुक्य के राज्यकाल के पूर्व भी 'गूर्जरा:' और 'घूर्ज्जरभाषा' जैसे शब्दों से आधुनिक गुजरात का निर्देश होता था। साथ ही इस निश्चय के भी प्रमाण हैं कि गूजर अथवा गूर्जर शब्द के तत्कालीन प्रयोग जाति अथवा कबीले के अर्थ में नहीं अपितु देश के अर्थ में किये गये हैं। पीछे गुर्जर प्रतीहारों के मूल की चर्चा करते हुए हम यह देख चुके हैं कि खजर अथवा गूर्जर नामक किसी विदेशी आक्रामक जाति का भारत में आने का कोई प्रमाण नहीं है और न तो यही निष्कर्ष निकालने का कोई पर्याप्त साक्ष्य है कि वे मूलत: विदेशी थे। अत: डॉ० भण्डारकर का यह निष्कर्ष मान्य नहीं है कि गुजरात के चौलुक्य, अपने सम्बन्धी गुर्जर प्रतीहारों की तरह, आक्रामक हूणों की किसी शाखा से उद्भूत थे।

डॉ० अ० कु० मजुमदार डॉ० भण्डारकर की निष्पत्तियाँ अस्वीकार तो करते हैं, किन्तु स्वयं चौलुक्यों के मध्य एशिया के सुग्द (सोग्द अथवा सोग्दियाना क्षेत्र) के शककुषाणों का वंशज होने की सम्भावना प्रकट करते[1] हैं। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शुलिक और सुदिक क्रमश: पूर्व और पश्चिम में एक ही शब्द के उच्चारण थे, जो बीच में व्यवहृत होने वाली पह्लवी भाषा में सोद और सुलिक के रूप में प्राप्त होते हैं। इस आधार पर शुलिक अथवा चुलिक सुग्द अथवा सोग्दिया से सम्बन्धित ठहरते हैं। किन्तु सुग्द लोगों के भारत से सम्बन्ध कब और कैसे स्थापित हुए, इस पर वे कोई निश्चित मत नहीं स्थापित कर सके हैं।

अत: चौलुक्यों के मूल के बारे में भारतीय साहित्य में उपलब्ध होने वाली यत्किंचित् चर्चाओं मात्र से हमें सन्तोष करना होगा। कुमारपाल की वाडनगर प्रशस्ति में उन्हें ब्रह्मा के चुलुक अथवा कमण्डलु से उद्भूत कहा गया है। विवरण यह है कि देवताओं ने दैत्यों द्वारा अत्यधिक सताये जाने पर उनसे मुक्ति पाने के लिए विधाता से प्रार्थना की। ब्रह्मा ने अपने संध्यावंदन के लिए एकत्रित गंगाजल (चुलुक) से एक वीर की उत्पत्ति की, जिसने अपने यश:समुद्र से तीनों लोकों को आप्लावित और पवित्र कर दिया। उससे जो वंश चला वह चौलुक्य कहलाया[2]। हेमचन्द्रकृत **द्व्याश्रयकाव्य** के टीकाकार अभयतिलकगणि, **प्रबन्धचिन्तामणि** के लेखक मेरुतुंग तथा **वसन्तविला-सकार** बालचन्द्र सूरि भी चौलुक्यों की उत्पत्ति सम्बन्धी इस विश्वास का उल्लेख करते[3]

---

१. चौलुक्यज् ऑफ् गुजरात, पृ० १४-१६।

२. एइ०, जिल्द १, पृ० २९४ और ३०१।

३. द्व्याश्रयकाव्य, प्रथम, श्लोक २ की टीका; प्रचिद्वि०, पृ० १९; वसन्तविलास, तृतीय, श्लोक १-२।

बनाया'[१] । उसके कादि अभिलेख[२] में कहा गया है कि उसने 'सारस्वत क्षेत्र अपनी बाहुओं की शक्ति से जीता' । इन साक्ष्यों का सूक्ष्म अध्ययन करने पर यह प्रतीत होता है कि अपने मामा (सामन्तसिंह) को छद्मपूर्वक मारकर उसकी राजगद्दी पर बैठ जाने के बाद मूलराज ने करों में कमी की तथा ब्राह्मणों, चारणों और भृत्यों को पुरस्कृत किया । यह सब प्रजाओं को अपनी ओर मिलाने के लिए ही किया गया होगा । राजा होकर उसने सोल नामक एक नये पुरोहित की नियुक्ति की[३] ।

लाटराज बारप पर विजय

मूलराज अपने समय का अकेला महत्त्वाकांक्षी और विजेता नहीं था । मूलराज की सीमाएँ पूर्व में मुञ्ज परमार की सीमाओं से सटी हुई थीं । इस कारण उनके पारस्परिक स्वार्थ टकराते होंगे । किन्तु उनके पारस्परिक संघर्षों का मुख्य क्षेत्र लाट था । लाट उस समय कल्याणी के चौलुक्य राजा द्वितीय तैलप के अधीन था और उसके सामन्तों के रूप में चालुक्यवंशी बारप[४] और उसका पुत्र गोग्गिराज लाट पर शासन करते थे । लाट क्षेत्र पर मुञ्ज और मूलराज की गृद्धदृष्टि लगने के कारण वहाँ चालुक्यों, परमारों और चौलुक्यों में तितरफा संघर्ष की स्थिति रही होगी । बारप स्वयं भी शाकम्भरी के चाह-मान राजा द्वितीय विग्रहराज से मिलकर मूलराज के सारस्वतमण्डल वाले क्षेत्रों पर दोतरफा आक्रमण की योजना कार्यान्वित करने में लगा हुआ था ।[५] उन दोनों के आक्रमणों की इस विषम स्थिति में मूलराज को अपनी राजधानी छोड़कर कन्थादुर्ग में शरण लेने को विवश होना पड़ा तथा बारप से स्वतन्त्र रूप से निपटने के लिए अनुकूल

---

१. एइ०, जिल्द १, पृष्ठ १०, श्लोक ५-३४ ।

२. इऐ०, जिल्द ६, पृष्ठ १९१ । सारस्वतमण्डल में आधुनिक मेहसाना, राधनपुर और पालनपुर के क्षेत्र आते थे ।

३. सोमेश्वर, सुरथोत्सव, १५वाँ, ५-८ ।

४. त्रिलोचनपाल के शक सं० ९७२ के सूरत अभिलेख (इऐ०, जिल्द १२, पृष्ठ १९६-२०५) से ज्ञात होता है कि वारप उससे पाँच पीढ़ी पहले हुआ था । उसका एक वंशज कीर्त्तिराज महामण्डलेश्वर कहा गया है। देखिए, उसका सूरत अभिलेख, पाठक कमेमोरेशन् वाल्यूम, पृष्ठ २९; अरिसिंहकृत सुकृतसंकीर्तन् (द्वितीय, ४) में बारप को कन्नौज के राजा का सेनापति बताया गया है, जो गलत है । वास्तव में उसकी ननिहाल कान्यकुब्ज के राष्ट्रकुट वंश में थी । मेरुतुंगकृत प्रबन्धचिन्तामणि यह स्पष्ट रूप से बताता है (पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २०) कि वह तिलंगदेश के राजा द्वितीय तैलप का सेनायक (सामन्त) था ।

५. प्रचिद्वि०, पृष्ठ २१ ।

दोनों वृत्तों का स्रोत एक ही है। किन्तु मेरुतुँग पूरे वृत्तान्त को न बताकर उसका अन्तिम अंश ही उपस्थित करता है[१]। उससे मूलराज के जन्म और वंश से सम्बद्ध कई बातों पर प्रकाश पड़ता है। मुख्य बात यह है कि उसका पिता राजि कान्यकुब्ज देश के कल्याण-कटक का क्षत्रिय राजकुमार था और उसकी माता गुजरात के अण्हिलपुर के चापोत्कट वंश की राजकुमारी थी। चौलुक्यवंश की स्थापना से १०० वर्षों पूर्व से ही गुजरात पर कन्नौज के गुर्जर प्रतीहार सम्राटों की अधिसत्ता व्याप्त थी[२] और चालुक्य एवं चापोत्कट[३] नामक दोनों ही वंश उनके सामन्त थे। किन्तु इससे मूलराज के पिता राजि का गूर्जर प्रतीहारों से सम्बद्ध होना प्रमाणित नहीं होता। यह भी निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है कि कल्याणकटक की वास्तविक स्थिति कहाँ थी।

चौलुक्य राज्य की स्थापना और प्रारम्भिक विकास : प्रथम मूलराज (लगभग ९४१-९९६ ई०)

मूलराज के पिता राज अथवा राजि को **महाराजाधिराज** (इए०, जिल्द ६, पृ० १९१) कहा गया है, जो कोरी प्रशंसा है। किन्तु इस बात का परिचय अवश्य मिलता है कि छोटे-छोटे सामन्त राजा भी कन्नौज के गुर्जर प्रतीहारों की गिरती अवस्था से उत्पन्न तत्कालीन अव्यवस्था में महत्त्वाकांक्षी होकर बड़े-बड़े विरुद धारण करने में कोई संकोच नहीं करते थे। यह कदाचित् इसलिए भी है कि मूलराज के पिता की महत्ता बताकर मूलराज की प्रशंसा की जाय। गुजराती अनुश्रुतियों से ज्ञात होता है कि मूलराज ने पंचाशर के चापोत्कट राजा सामन्तसिंह को मारकर अण्हिडवाड़ की राजगद्दी हथिया ली। इसका समर्थन कुमारपाल की वाडनगर प्रशस्ति से भी होता है, जिसमें यह कहा गया है कि मूलराज करों में कमी करके प्रजा में प्रिय हो गया और 'चापोत्कट राजाओं की राजलक्ष्मी को कैद कर उसे अपने सम्बन्धियों, ब्राह्मणों, चारणों और भृत्यों के कौतुक का विषय

---

१. प्रचिद्वि, पृष्ठ १९-२०। यह वृत्त कुमारपालचरित (निर्णयसागर प्रेस, प्रथम, १५वाँ और आगे) तथा आइने-अकबरी (अंग्रेजी अनुवाद, जिल्द २, पृष्ठ २६२) में भी मिलता है।

२. देखिए, पीछे, पृष्ठ १४९, १५३ और १६६; चापवंशी धरणिवराह का हड्डाला अभिलेख, इऐ०, जिल्द ११, पृष्ठ १९०; चालुक्य अवनिवर्मन् का ऊणा अभिलेख, एइ०, जिल्द ९, पृष्ठ ६।

३. गुजरात में प्रथम महेन्द्रपाल और प्रथम महीपाल के चालुक्य सामन्त अवनिवर्मा (९१४ ई०) के बहुत पहले से ही चापों अथवा चावडों की स्थिति की जानकारी मिलती है। देखिए चालुक्य पुलकेशिन् अवनिजनाश्रय का ७६९ ई० का नवसारि अभिलेख, बम्बई गजेटियर, जिल्द १, भाग २, पृष्ठ १८७-८८ और ३७५।

अभिलेख के सामूहिक साक्ष्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला[1] है कि मूलराज वाक्पति से कहीं मेवाड़-मारवाड़ में पराजित हुआ। पद्मगुप्त पराजित राजा को गुर्जरराज कहता है और उसकी तथा उसकी रानी की कारुणिक अवस्था का वर्णन करते हुए बताता है कि युद्ध में हार जाने के बाद मारवाड़ की धूल छानते हुए वे मालवराज की चरणधूलि के प्रसाद के लिए मानों तपस्या कर रहे थे।[2] धवल के बीजापुर अभिलेख का साक्ष्य है कि वाक्पति ने आघाटनगर (मेवाड़ का गर्व) लूटा और नष्ट कर दिया तथा गुहिलराज और गुजरेश की सेनाओं को वहाँ से भगाकर धवल के यहाँ शरण लेने को विवश किया।[3] पराजित होकर गुजरेश हरिण की तरह भयभीत होकर भागा। वाक्पति से पराजित होकर अपनी राजधानी आघाट (आहाड़) छोड़ने वाले उस शरणार्थी राजा की पहचान प्रायः सर्वसम्मत रूप में गुहिलवंशी शक्तिकुमार से की गयी है। किन्तु उसकी सहायता में आया हुआ और उसके साथ पराजित होकर मारवाड़ की धूल फाँकने वाला तथा हस्तिकुण्डी के राष्ट्रकूट शासक धवल के यहाँ शरण लेने को अपनी सेनाएँ भेजने वाला गुजरेश मूलराज चौलुक्य ही था, यह सर्वमान्य नहीं है। असम्भव नहीं है कि वह गुजरेश कन्नौज के प्रतीहारवंश का कोई शासक हो,[4] जिसके राजाओं के लिए उस समय के अभिलेख और साहित्यिक ग्रंथ प्रायः गूर्जर घूर्जर, गुजरेश अथवा गूर्ज्जरराज की संज्ञाएं प्रयुक्त करते हैं। किन्तु धवल के बीजापुर अभिलेख की आगे की सूचना से स्पष्ट है[5] कि आबू के परमार शासक धरणिवराह को मूलराज ने युद्ध में बुरी तरह परास्त कर (समूल उन्मूलित कर) अपनी राजधानी से भागने और धवल के यहाँ हस्तिकुण्डी (आधुनिक हथुण्डी) में शरण लेने को बाध्य किया। किन्तु इससे मूलराज का आबू पर स्थायी रूप से अधिकार नहीं हुआ।

---

१. अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृष्ठ १२२-१२३।

२. जराएसो०, बम्बई शाखा, जिल्द १६, पृष्ठ १७३-१७४।

३. एइ०, जिल्द १०, पृष्ठ २०, श्लोक १०। सम्बद्ध श्लोक है 'हरिण इव भिया गुर्जरेशे विनष्टे'। डॉ० अ० कु० मजुमदार इसका अर्थ यह करते हैं (पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ३०- ३१) कि गुजरेश मार डाला गया। इस अर्थ के आधार पर उसकी पहचान मूलराज से नहीं की जा सकती, क्योंकि वह वाक्पति की मृत्यु के बाद भी जीवित था।

४. देखिए, प्रतिपाल भाटिया, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ४८-४९; अ० कु० मजुमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ३०-३१।

५. यःमूलादुन्मूलयद-गुरुबलः श्रीमूलराजोनृपोदर्पान्धो धरणिवराहनृपति............।
एइ०, जिल्द १०, पृष्ठ २१।

अवसर पाने हेतु विग्रहराज से हीन संधि[१] करनी पड़ी। इस प्रकार उत्तर में चाहमानों से मुक्त होकर मूलराज ने बारप से बदला लेने की सोची। हेमचन्द्र की सूचना है कि बारप के व्यवहारों से अप्रसन्न होकर मूलराज के पुत्र चामुण्डराज ने श्वभ्रवती नदी पारकर आक्रमण कर दिया और उसे पराजित कर उसके हाथियों को छीन लिया[२]। किन्तु सोमेश्वरकृत **कीर्त्तिकौमुदी** (द्वितीय, २) में बारप को मारने का श्रेय मूल-राज को दिया गया है। बारप चाहे केवल पराजित हुआ हो अथवा पराजित होने पर मार दिया गया हो, यह निश्चित जान पड़ता है कि मूलराज थोड़े समय के लिए लाट पर अधिकार कर लेने में सफल हो गया। यह निष्कर्ष इस बात से प्रमाणित होता है कि बारप के पुत्र गोग्गिराज को अपना देश शत्रुओं के हाथों से मुक्त कराने का श्रेय दिया गया[३] है।

डॉ० अ० कु० मजुमदार के मत में[४] मूलराज की लाट-विजय के परिणामस्वरूप द्वितीय वाक्पति (मुंजराज) से चौलुक्यों का संघर्ष प्रारम्भ हो गया। प्रमाणस्वरूप वे उदयपुर प्रशस्ति[५] का वाक्पति की लाट पर विजय-उल्लेख उपस्थित करते हैं। किन्तु लाट, कर्णाट, केरल और चोल पर वाक्पति की विजय का उदयपुर प्रशस्ति वाला उल्लेख तथ्यपरक ऐतिहासिकता और कोरी प्रशस्ति की एक ऐसी खिचड़ी है, जिससे वास्तविक तथ्यों को निकाल सकना बड़ा कठिन है। यद्यपि चालुक्यराज (कर्णाट) और उसका सामन्त-क्षेत्र लाट मुञ्ज की सीमाओं से सटे होने के कारण उसके आक्रमण के बराबर लक्ष्य हो सकते थे, यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है कि लाट पर आक्रमणकर मुंज ने बारप[६] को हराया अथवा मूलराज चौलुक्य को वहाँ से अनधिकृत किया।

डॉ० हेमचन्द्रराय (पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द २, पृष्ठ ९४०), डॉ० धी० चं० गांगुली और डॉ० दशरथ शर्मा ने सिन्धुराज के राजदरबारी कवि पद्मगुप्त के कुछ वाक्पतिप्रशंसक श्लोकों तथा हस्तिकुण्डी के राष्ट्रकूट शासक धवल (९६०-९८० ई०) के बीजापुर

---

१. वहीं; विस्तृत विवरण के लिए देखिए, पीछे द्वितीय विग्रहराज (चाहमान) प्रकरण।

२. द्वयाश्रयकाव्य, षष्ठ १-९६।

३. अ० कु० मजुमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २९; इऐ० जिल्द १२, पृष्ठ २०३, श्लोक १०-११।

४. वहीं०, पृष्ठ ३०।

५. कर्णाटलाटकेरलचोलशिरोरत्नरागिपदकमलः। श्लोक १४, एइ०, जिल्द १, पृष्ठ २३५।

६. प्रतिपाल भाटिया (दि परमारज्, पृष्ठ ५४) का मत है कि वाक्पति ने बारप को हराया।

ओर मिला लिया। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि वास्तव में ग्राहरिपु की बढ़ती हुई सैनिक शक्ति और उसके साथ लक्ष जैसे अन्य शक्तिशाली राजाओं के मिल जाने से मूलराज चिन्तित हो उठा। भविष्य में कहीं वह चौलुक्य सत्ता के लिए आतंक न बन जाय, इस भय से मूलराज ने उसपर आक्रमण कर उसे समाप्त कर देना ही बुद्धिमानी समझी। प्रभास-तीर्थ के यात्रियों के लूटे जाने आदि के दोषारोपण कदाचित् उस आक्रमण के बहाने मात्र थे। **द्वयाश्रयकाव्य** का यह विवरण उपर्युक्त स्थिति को एक दैवी स्वरूप देने मात्र का प्रयत्न है कि महादेव ने मूलराज को स्वप्न द्वारा ग्राहरिपु को समाप्त कर देने की आज्ञा दी थी। मूलराज के विरुद्ध ग्राहरिपु की ओर से लड़ने वाले कच्छ के शासक लक्ष, सिन्धुराज, भीलों और म्लेच्छों की गिनती बड़ी महत्त्वपूर्ण है। **द्वयाश्रयकाव्य** का टीकाकार म्लेच्छ का अर्थ तुरुष्क[१] करता है। वहाँ सिन्धुराज[२] और तुरुष्क कदाचित् एक ही अर्थ में प्रयुक्त हैं और उनका तात्पर्य सिन्ध के मुसलमानों से प्रतीत होता है। ऐसी अवस्था में यह युद्ध एक ओर सारस्वतमण्डल की ब्राह्मणसंस्कृति और दूसरी ओर मेड़ों, भीलों, म्लेच्छ एवं आभीरों की अर्धसभ्य जातियों के बीच हुआ जान पड़ता[३] है। ग्राहरिपु के गोमांसभक्षण आदि के सारे दोष इसी निर्णय की ओर निर्देश करते हैं। इस युद्ध के विवरणों में जाने की आवश्यकता नहीं है। अन्त में यह ज्ञात होता है कि ग्राहरिपु पकड़ा गया और लाखा अथवा लक्ष मारा गया। सौराष्ट्र के लोगों के आत्मसमर्पण कर देने पर मूलराज ने कैदियों को मुक्त कर दिया तथा स्वयं प्रभासतीर्थं दर्शन हेतु चला गया।

'कच्छ भूपाल' लक्ष की पराजय का उल्लेख **कीत्तिकौमुदी**, **वसन्तविलास** और **सुकृतसंकीर्तन** जैसे ग्रन्थों में भी मिलता है। किन्तु इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा **प्रबन्धचिन्तामणि**[४] में आती है। तदनुसार, फूलड़ के पुत्र लक्ष अथवा लाखा ने ग्यारह बार मूलराज को हराया, लेकिन १२वीं बार मूलराज ने कपिलकोट में उस पर आक्रमण कर उसे द्वन्द्वयुद्ध में मार डाला। चूँकि आगे चलकर सौराष्ट्र स्थित सोमनाथ का शिव-मन्दिर चौलुक्य राज्य का प्रसिद्ध तीर्थ बन गया, यह असम्भव नहीं है कि मूलराज की

---

१. द्वयाश्रयकाव्य, पंचम ४९।

२. अ० कु० मजुमदार अभयतिलकगणि के आधार पर 'सिन्धुराज' को सिन्धुदेश का राजा न मानकर किसी राजा का नाम मानते हैं। देखिए पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २६-२७ तथा पृष्ठ ४२८, नोट ६।

३. सिन्ध पर मुहम्मद-बिन्-कासिम के आक्रमण के समय भीलों ने दाहिर के विरुद्ध उसकी सहायता की थी। देखिए, पीछे पृष्ठ २०७-२०९।

४. प्रचिद्वि०, पृष्ठ २३-२४।

गुजरात पर चाहमान आक्रमण

पिछले अध्याय में चाहमानों का इतिहास देते हुए हम यह देख चुके हैं कि द्वितीय विग्रहराज ने चौलुक्य राज्य पर आक्रमण कर मूलराज को पराजित किया। चन्द्रशेखर-कृत **सुर्जनचरित** (पृष्ठ, ३-१४) और **पृथ्वीराजविजय** (पंचम, ५०) की सूचनाएँ हैं कि चाहमान आक्रमण से त्रस्त होकर मूलराज कन्थादुर्ग में शरण लेने को विवश हुआ। उनकी सूचनाओं में यह भी सम्मिलित है कि विग्रहराज ने चौलुक्य राज्य के बीचोबीच होते हुए भृगुकच्छ जाकर आशादेवी का मन्दिर बनवाया। इस सम्बन्ध में **हम्मीरमहाकाव्य** का यह कथन (द्वितीय, ९) स्वीकार्य नहीं हैं कि मूलराज चाहमान राजा के हाथों मारा गया। यह स्पष्ट रूप से ज्ञात है कि द्वितीय विग्रहराज की शासनावधि के बाद भी मूलराज ९९६ ई० तक जीवित रहा। तथापि मूलराज की पराजय का समर्थन **प्रबन्धचिन्तामणि**[१] से भी होता है, जिसे चाहमानों की प्रशंसा में कोई अतिरंजित बात कहने का दोषी नहीं ठहराया जा सकता। तदनुसार, लाटशासक बारप और द्वितीय विग्रहराज ने चौलुक्य क्षेत्रों पर क्रमशः दक्षिण और उत्तर से एक साथ आक्रमण कर देने की योजना कार्यान्वित की। चाहमान सेनाओं का आक्रमण इतना तेज हुआ कि मूलराज को कन्थादुर्ग में भागकर छिपना पड़ा और अन्त में उस आक्रमण से मुक्ति पाने के लिए विवश होकर विग्रहराज के शिविर में जाकर संधि-याचना करनी पड़ी। स्पष्ट है कि मूलराज चाहमान आक्रमण का सफलतापूर्वक मुकाबला न कर सका और विग्रहराज से उसकी संधि से पूर्व उसके क्षेत्रों को चाहमान सेनाओं ने कई महीनों तक आक्रान्त किये रखा।

सुराष्ट्र और कच्छ-विजय

किन्तु सारस्वतमण्डल के दक्षिण और पश्चिम में समुद्र के किनारे स्थित सौराष्ट्र और कच्छ की विजय कर मूलराज ने अपने राज्य की सीमाएँ विस्तृत कीं। हेमचन्द्रकृत **द्वयाश्रयकाव्य**[२] और उसके टीकाकार अभयतिलकगणि से ज्ञात होता है कि सौराष्ट्र का राजा ग्राहरिपु अथवा ग्राहरि आभीर जाति का था और मूलराज ने स्वयं उसे वहाँ का शासक नियुक्त किया था। किन्तु उसने उज्जयन्त में चमरी मृगों को मारने, प्रभासतीर्थ के तीर्थयात्रियों को लूटने, गोमांसभक्षण, परस्त्रीगमन और मदिरासेवन की अपनी आदतों के कारण मूलराज को अप्रसन्न कर दिया। यही नहीं, सिन्धु देश के राजा के अतिरिक्त अन्यान्य राजाओं को हराकर तथा उन्हें अपने खेमे में लाकर वह अपनी शक्तिवृद्धि भी करने लगा। उसने मेड़ों, भीलों और कच्छ के शासक लक्ष अथवा लाखा को भी अपनी

---

१. प्रचिद्वि, पृष्ठ २१-२२।

२. द्वितीय।

चामुण्डराज से युद्ध में उसके पराजित होकर कायर की तरह भाग जाने की सूचना कुमार-पाल की वाडनगर प्रशस्ति से भी प्राप्त होती है[१]। इन सूचनाओं से यह स्पष्ट है कि परमारों और चौलुक्यों के संघर्षों के जो दौर पहले मुञ्जराज और मूलराज के समय में प्रारम्भ हुए थे, वे इस समय भी चल रहे थे। किन्तु चामुण्डराज के समय लाट से चौलुक्य सत्ता समाप्त हो गयी और बारप के पुत्र गोग्गिराज ने अपने पश्चिमी चालुक्य अधिराज सत्या-श्रय की सहायता से उस पर पुनः अधिकार कर लिया[२]।

वल्लभराज (१००९ ई०)

चामुण्डराज के बाद उसके पुत्र वल्लभराज को राजगद्दी मिली, जिसका शासन कुछ महीनों से अधिक का नहीं था। कदाचित् इसी कारण कुछ चौलुक्य अभिलेखों और वंश से सम्बन्धित ग्रन्थों में उसका राजा के रूप में नाम तक नहीं मिलता। मेरुतुंग उसके शासन की अवधि केवल छह मास बताता है। चेचक की बीमारी से अकाल में ही उसके जीवन का अन्त हो जाने के कारण उसकी कोई विशेष उपलब्धि नहीं रही।

दुर्लभराज (लगभग १००९-१०२४ ई०)

वल्लभराज की मृत्यु के बाद उसका छोटा भाई दुर्लभराज लगभग १००९ ई० में अण्हिलणवाड़ की गद्दी पर बैठा। उसकी प्रमुख उपलब्धि लाट की पुनर्विजय थी, जिसका उल्लेख अनेक जैन लेखकों और अभिलेखों में हुआ[३] है। लाट का तत्कालीन शासक कीर्त्तिपाल था, जिसके बारे में त्रिलोचनपाल के सूरत अभिलेख (इए०, जिल्द १२, पृष्ठ २०१) से ज्ञात होता है कि उसे अपने राज्य से हाथ धोना पड़ा। उसका चालुक्य अधिराज जयसिंह **जगदेकमल्ल** दक्षिण में चोल शासक के विरुद्ध युद्ध में फँसे होने के कारण उसकी कोई सहायता नहीं कर सका और परिणामस्वरूप कीर्त्तिपाल अकेले हो जाने से दुर्लभराज के आक्रमण को प्रतिवारित न कर सका। चूँकि १०१८ ई० तक कीर्त्तिपाल के वहाँ शासन करने का अभिलेखीय प्रमाण मिलता[४] है, लाट पर इस चौलुक्य आक्रमण का समय १०१९ ई० के बाद और दुर्लभराज के शासन के अन्तिम वर्ष (१०२४ ई०) के बीच कभी रहा होगा।

---

१. एइ० जिल्द १, पृष्ठ ३०८, श्लोक ६।

२. बाम्बे-कर्नाटक इन्सकृप्शन्स्, भाग १, संख्या ५० और ५२, त्रिलोचनपाल का सूरत अभिलेख, इऐ०, जिल्द १२, पृष्ठ २१०, श्लोक ११।

३. वाडनगर प्रशस्ति, इऐ०, जिल्द १, पृष्ठ ३०२; जयसिंह सूरि, कुमारपालभूपाल-चरित, प्रथम ३५।

४. अ० कु० मजुमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ३९, हेमचन्द्रराय, डाहिनाइ०, जिल्द २, पृष्ठ ९३८।

ग्राहरिपु पर विजय के साथ ही सौराष्ट्र पर चौलुक्यों के अधिकार का प्रारम्भ हुआ हो। चाहमान आक्रमण के समय मूलराज का कन्थादुर्ग[१] में शरण लेना कच्छ पर उसके अधिकार का द्योतक है।

परमारों और चाहमानों की उठती हुई समकालिक सत्ताओं से मूलराज के संघर्षों की जो चर्चा पीछे की जा चुकी है, उससे स्पष्ट है कि राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं में वह किसी से कम नहीं था। चापोत्कट वंश का अन्तकर अण्हिलपाटण की चौलुक्य सत्ता स्थापित करते हुए उसने एक ऐसे राज्य की नींव डाली, जो आगे चलकर साम्राज्यरूप में विकसित हो गया और शिक्षा-साहित्य तथा धर्म-संस्कृति का बहुत बड़ा उन्नायक और पोषक सिद्ध हुआ।

चामुण्डाराज (लगभग ९९७ से १००९ ई० तक)

मूलराज ने अपने पुत्र चामुण्डराज को युवराज नियुक्त कर प्रशासन का उत्तर-दायित्त्व सौंप रखा था। हेमचन्द्र तथा मेरुतुंग की सूचनाएँ[२] हैं कि उसने अपने जीवन की संध्या-वेला में चामुण्डराज को राजसिंहासन पर बिठाकर स्वयं संन्यास ले लिया और सरस्वती नदी के किनारे श्रीस्थलतीर्थ में तपस्या करने चला गया। चामुण्डराज के बारे में कुछ गतानुगतिक प्रशंसाएँ मात्र मिलती हैं, जिनसे राजनीतिक महत्त्व की सूचनाएँ नहीं प्राप्त होतीं। जयसिंहसूरि **कुमारपालभूपालचरित** (प्रथम, ३१) में बताता है कि एक चौलुक्य ने सिन्धुराज को युद्ध में मार डाला। इस चौलुक्य को चामुण्डराज से और सिन्धुराज को मालवा के उस नाम के राजा (९९५-१०१० ई०) से मिलाते हुए यह अनुमान किया गया[३] है कि दोनों का लाट क्षेत्र के अधिकार के लिए युद्ध हुआ होगा। किन्तु स्पष्ट साक्ष्यों के अभाव में इस अनुमान की पुष्टि नहीं की जा सकती। जयसिंहसूरि की यह सूचना स्वीकार्य नहीं प्रतीत होती कि सिन्धुराज युद्ध में मार डाला गया।[४] किन्तु

---

१. कन्थादुर्ग की पहचान कच्छ के कन्थकोट से की गयी है। आर्केलॉजिकल् सर्वे ऑफ् वेस्टर्न इण्डिया, जिल्द २, पृष्ठ २१५।

२. द्वयाश्रयकाव्य, षष्ठ, १००-१०७; प्रचिद्वि, पृष्ठ २४।

३. अ० कु० मजुमदार, पूर्वनिर्दिष्ट पृष्ठ ३४। किन्तु हेमचन्द्रराय के मत में (डाहि-नाइ०, जिल्द २, पृष्ठ ९४२ और ९४६) इस सिन्धुराज की पहचान सिन्ध पर शासन करने वाले किसी मुसलमान शासक से होनी चाहिए, जो मन्सूरा के हब्बा-सियों के बाद हुआ था।

४. डॉ० गौ० ही० ओझा जयसिंहसूरि के इस कथन की सत्यता पर विश्वास करते हैं। देखिए, ओझा निबंध संग्रह, पृ० १७५।

रक्षा के लिए शीघ्रता से भागकर एक दुर्ग में युद्ध की तैयारी के लिए जा छिपा। महमूद सोमनाथ की ओर बढ़ गया[१]।" किन्तु फिरिश्ता यह कहता है कि महमूद मुल्तान से चलकर पहले अजमेर पहुँचा, जहाँ के राजा और निवासियों ने नगर खाली कर दिया। तथापि यह सोचकर कि अजमेर का किला जीतने में बड़ा समय लगेगा, महमूद उसे छोड़कर अण्हिलवाड़ की ओर बढ़ गया[२]। डॉ० हेमचन्द्रराय फिरिश्ता के इस कथन के सही होने का विश्वास नहीं करते। उनके मत में (पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ९५७) महमूद के लिए यह बुद्धिमानी की बात न होती कि अजमेर के शक्तिशाली चाहमान शासक को छेड़कर वह सोमनाथ की लूट के पूर्व रास्ते में ही अपनी शक्ति अनावश्यक रूप से गवाँता। वे **तारीखे-अल्फी** का यह उल्लेख[३] सत्यता के अधिक नजदीक मानते हैं कि महमूद जैसलमेर के रास्तों से अण्हिलवाड़ पहुँचा। उनके मत[४] में महमूद ने मुल्तान और बहावलपुर होते हुए हक्रा नदी की सूखी घाटी पारकर जैसलमेर और मुल्तान के रास्तों से अचानक चौलुक्य राजधानी अण्हिलवाड़ पहुँच जाने की योजना कार्यान्वित की, ताकि बीच में उसे किसी बड़ी विरोधी सत्ता का मुकाबला न करना पड़े[५]। इसे स्वीकार करने पर ही मुसलमान इतिहासकारों की यह सूचना भलीभाँति समझी जा सकती है कि महमूद अपेक्षाकृत अपरिचित और अप्रत्यक्ष रेगिस्तानी मार्गों को पार करने के लिए ३०००० (खोन्द अमीर के अनुसार २००००) ऊँटों पर पानी और अन्न लादकर भी संतुष्ट नहीं हुआ और उसने अपने सभी सैनिकों को अपनी शक्तिभर पानी और अन्न ले लेने की आज्ञा दी।

इन दुर्गम और अप्रयुक्त मरुस्थल मार्गों से होकर आगे बढ़ने के महमूद के निश्चय का मुख्य उद्देश्य यह था कि वह भीम को युद्ध की तैयारी का कोई मौका न देकर चौलुक्यों की राजधानी में एकाएक घुस जाय। वह इस उद्देश्य में पूर्ण सफल भी रहा। प्राय: सभी मुसलमान इतिहासकार कहते हैं कि वहाँ महमूद से चौलुक्य सेना की कोई

---

१. इलियट् ऐण्ड डाउसन्, पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द २, पृष्ठ २४९; कामिल्, जिल्द ९, पृष्ठ २४० और आगे।

२. ब्रिग्स्, जिल्द १, पृष्ठ ६९।

३. इऐ० १८७९, जिल्द २५, पृष्ठ १६४ और आगे।

४. डाहिनाइ०, जिल्द २, पृष्ठ ९५७।

५. फरूखी के एक कसीदे से ज्ञात होता है कि महमूद मुल्तान से जैसलमेर क्षेत्र के लोद्रवा होते हुए अण्हिलवाड़ पहुँचा। दे०, नाजिम, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २१७।

प्रथम भीम (लगभग १०२५ से १०६४ ई०)

दुर्लभराज को सम्भवत: कोई पुत्र नहीं था। साहित्यिक अनुश्रुतियाँ बताती हैं कि वह अपने छोटे भाई नागराज के पुत्र भीम को बहुत अधिक प्यार करता था और अपने जीते जी उसे अण्हिलवाड़ की राजगद्दी पर अभिषिक्त कर दिया। भीम को अपने राजकीय जीवन के प्रारंभ में ही महमूद गजनवी के आक्रमण के अतिरिक्त परमार राजा भोज का आक्रमण भी सहना पड़ा। किन्तु इन प्रारम्भिक झोकों को सह लेने के बाद वह अपने समय के भारतीय राजनीतिक रंगमंच का प्रमुख खिलाड़ी हो गया और समकालिक अन्तरराज्यीय राजनीति में बारी-बारी से अपने सभी शत्रुओं को अपनी कूटनीति से साधकर चौलुक्य सत्ता को प्रमुख स्थान दिलाने में सफल हुआ।

महमूद का आक्रमण : १०२५ ई०

भीम के राज्यासीन होने के एक-दो वर्षों के भीतर ही सुल्तान महमूद गजनवी ने गुजरात पर आक्रमण किया, जो भारत पर किये गये उसके आक्रमणों में सर्वाधिक चर्चित है। किन्तु दुर्भाग्यवश इसकी चर्चा न तो चौलुक्य अभिलेखों में मिलती है और न चौलुक्य इतिहास का छोटे से छोटा ब्यौरा उपस्थित करने वाले गुजराती लेखक ही इसकी कोई जानकारी देते हैं। अत: हमें केवल मुसलमान साक्ष्यों पर निर्भर रहना पड़ता है, जो प्राय: महमूद के पक्ष में एकतरफा बातें कहते हैं। मुसलमान लेखकों के भी साक्ष्य प्राय: एक दूसरे से कई मुद्दों पर भिन्न हैं। इसकी सबसे पहली चर्चा अल्गर्दीजी ने १०४८ ई० के आसपास अपने **कितब-जैनुल-अखबार** में की[१]। समुद्र के किनारे स्थित सोमनाथ के मंदिर की चर्चा करता हुआ वह कहता है कि वहाँ तक पहुँचने का मार्ग अत्यन्त दुर्गम, कष्टसाध्य और आपत्तिमूलक था। किन्तु वह न तो यह बताता है कि किधर से होकर महमूद सोमनाथ पहुँचा और न उसके अण्हिलवाड़ पहुँचने का ही कोई उल्लेख करता है। इब्न्-उल्-अतहर १२३० ई० में लिखी हुई अपनी पुस्तक **तारीखे-उल्-कामिल** में कहता है कि महमूद ने अपनी सारी तैयारियाँ मुल्तान में कीं और वहीं से "३० हजार घोड़ों के साथ हिजरी ४१६=१०२५ ई० में चला। ३०००० उँटों पर उसने पानी और भोजन की सामग्री रखवायी, क्योंकि मुलतान से भारत का मार्ग ऐसे मरुस्थलों से होकर जाता था, जिनमें न तो पानी सुलभ था और न भोजन। मरुस्थल पारकर उसने एक ऐसे दुर्ग को जीता, जहाँ घनी बस्ती थी और कुएँ भी उपलब्ध थे तथा 'जूलक्रदा' प्रारम्भ होते-होते अण्हिलवाड़ पहुँच गया। अण्हिलवाड़ का राजा नगर छोड़कर अपनी

१. सोमनाथ पर महमूद के आक्रमण से सम्बद्ध स्थलों का अनुवाद डॉ० हेमचन्द्र राय ने अपनी पुस्तक (डाहिनाइ०, ३ जिल्द २, पृष्ठ ९५३-९५४) में किया है।

हैं कि भीम ने महमूद का कोई मुकाबला नहीं किया। यह तथ्यपरक नहीं जान पड़ता। वास्तव में महमूद अण्हिलवाड़ इतने अचानक और अज्ञातरूप में पहुँचा कि चौलुक्य-प्रतिरोध के संगठन का कोई मौका नहीं मिला। अतः भीम ने अपने असंयोजित सैन्य को व्यर्थ कटाने की अपेक्षा बुद्धिमानीपूर्वक वहाँ से हटकर रक्षा की एक दूसरी दीवार खड़ी करने का निश्चय किया। **तारीखे-उल्-कामिल्** की स्पष्ट सूचना है कि भीम अण्हिलवाड़ छोड़कर एक दुर्ग में इसलिए चला गया कि वह युद्ध की तैयारी कर सके।[२] तदनुसार, सोमनाथ से लौटते हुए महमूद से कन्धात के किले के सामने उसका मुकाबला हुआ। किन्तु निजामुद्दीन की सूचना[३] है कि सोमनाथ की लूट के बाद महमूद ने, यह जानकर कि रास्ते में भीम उसे रोकने के लिए कहीं शस्त्रसज्ज हो गया है, सीधा रास्ता छोड़ दिया और सिन्ध के रास्ते मंसूरा और मुल्तान जाने का निश्चय किया। परिणामतः उस बीहड़ रास्ते में उसके अधिकांश सैनिक और पशु भूख और प्यास से मर गये और वह असह्य कष्टों के बीच १०२६ ई० में गजनी लौटा। फिरिश्ता बताता है कि सोमनाथ का मंदिर एक दुर्ग के भीतर था और उसके घेरे जाने पर जब हिन्दुओं ने उसके द्वार बन्द कर दिये तो महमूद के सैनिकों के सामने उसकी दीवारों पर चढ़कर उसके भीतर उतरने के सिवा और कोई रास्ता नहीं रहा। किन्तु एक तरफ वे उसपर चढ़ते थे और दूसरी ओर मंदिर के भीतर वाले हिन्दू अपने तीरों से उन्हें नीचे बिछा देते थे। दो दिनों तक इस क्रम के चलते रहने के बाद मंदिर के रक्षकों की सहायता के लिए बाहर से भी एक सेना पहुँच गयी और महमूद गजनवी के खेमे के सामने युद्ध के लिये डट गयी। उससे जूझने का कार्य महमूद ने स्वयं अपने हाथों में ले लिया। भयानक युद्ध प्रारम्भ हो गया और यह निश्चित नहीं था कि विजय किसे मिलेगी। इस बीच ब्रह्मदेव और दविश्लीम नामक दो

---

१. अण्हिलवाड़ में इस समय शासन करने वाले और सोमनाथ से लौटते हुए महमूद के मुकाबले के लिए सन्नद्ध राजा का नाम भिन्न-भिन्न साक्ष्यों में भिन्न-भिन्न रूप में दिया गया है। आइने-अकबरी में वह गलत रूप में चामुण्ड मिलता है। किताब-जैनुल-अखबार; तारीखे फिरिश्ता (मूल) और तबकाते-अकबरी में उसे परमेदव कहा गया है। तारीखे-फिरिश्ता के अनूदक ब्रिग्स् ने (जिल्द १, पृष्ठ ७४) उसे ब्रह्मदेव कहा है। किन्तु सही नाम 'भीम' केवल इब्नुल्-अतहर के तारीख-उल्-कामिल् में ही मिलता है। इसी भीम अथवा भीमदेव को बाद के लेखकों ने ब्रह्मदेव अथवा परमदेव में भ्रष्टरूपित कर दिया।

२. निजामुद्दीन की सूचना के आधार पर हेमचन्द्र राय (डाहिनाइ०, जिल्द २, पृष्ठ ९६१) यह नहीं मानते कि कन्धात में महमूद से लड़ने वाला राजा भीम ही था। अ० कु० मजुमदार का भी यही मत (पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ४६) है।

३. तबकाते-अकबरी, दे का अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ १५-१६।

भिडन्त नहीं हुई और लड़ाई की तैयारी के लिए भीम किसी दुर्ग में जाकर छिप गया[१]। इस प्रकार अपनी सेनाओं को किसी भी प्रकार की हानि से बचाते हुए महमूद सोमनाथ पहुँच गया। सोमनाथ नगर के बाहर ही या तो एक दो दिनों तक वहाँ के निवासियों ने जमकर लड़ाइयाँ कीं अथवा मंदिर के भीतर पण्डित और पुजारी देवता की प्रार्थनाकर बहादुरी से लड़ते हुए मार डाले गये तथा जो बचे, वे पकड़कर गुलाम और मुसलमान बना डाले गये[२]। एक सूचना यह भी है कि वहाँ की रक्षा करने वाला स्थानीय सेनापति बिना युद्ध किये ही भाग खड़ा हुआ और अपने को बचाने के लिए समुद्र के रास्ते एक टापू में चला गया। अन्ततः, सोमनाथ की देवमूर्ति तोड़ डाली गयी और उसका एक भाग गजनी ले जाकर वहाँ की जामी मस्जिद की सीढ़ियों पर चुन दिया गया ताकि नमाज के लिए जाते हुए मुसलमानों के पैरौं के नीचे वह पड़े। मंदिर को लूटकर महमूद अपार धनराशि ले गया। **तारीखे-अल्फी** और **तारीखे-फिरिश्ता** के ये कथन अब स्वीकृत नहीं किये जाते कि ब्राह्मणों और पुजारियों ने महमूद को यह कहा कि यदि वह मूर्ति को न तोड़े तो वह जितना धन चाहे, वे देंगे। यह भी असम्भव[३] माना गया है कि मूर्ति खोखली थी और उसके भीतर हीरे, मोती तथा अन्य रत्न भरे पड़े थे, जिसे तलवार के एक ही झटके में महमूद ने तोड़कर बटोर लिया।

महमूद के अप्रतिरूद्ध रूप में सोमनाथ पहुँच जाने अथवा वहाँ के स्थानीय नायक के समुद्र के रास्ते भाग जाने के उल्लेख के कारण कुछ आधुनिक लेखक यह मान लेते

---

१. इब्नुल-अतहर, कामिल, जिल्द ९, पृष्ठ २४० और आगे; तबकाते-अकबरी, अंग्रेजी अनुवाद, पृ० १५; खोन्द अमीर, इलियट् ऐण्ड डाउसन्, पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द ४, पृष्ठ १८०-१८१। अण्हिलवाड़ से १८ मील दक्षिण मोढ़ेरा में हिन्दुओं ने महमूद का कड़ा मुकाबला किया। महमूद के बढ़ाव को रोकने के लिए वहाँ २०००० प्रतिरक्षकों ने उससे लोहा लिया, किन्तु संख्या की कमी के कारण वे असफल रहे। वे भीम की सेना की ही एक टुकड़ी प्रतीत होते हैं। इस प्रतिरोध की स्मृति में वहाँ एक मन्दिर बना, जिस पर १०२५-२६ ई० का एक अभिलेख खुदा हुआ है। देखिए, बर्जेस्, आसरि० पश्चिमी चक्र, जिल्द ९, पृष्ठ ८१, सांकलिया, आर्केलॉजी ऑफ् गुजरात, पृष्ठ ८१।

२. इब्नुल्-अतहर, (पूर्वनिर्दिष्ट) कहता है कि वहाँ पचास हजार व्यक्ति मारे गये। गर्दीजी भी (इलियट् ऐण्ड डाउसन्, पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द ४, पृ० १३२) वहाँ मारे जाने वालों की संख्या यही बताता है।

३. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, जिल्द ३, पृष्ठ २५; मुहम्मद हबीब, सुल्तान महमूद ऑफ् गजना, पृ० ५३ और पादटिप्पणी ३७।

विवश होकर चौलुक्यराज की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी । डॉ० अ० कु० मजुमदार का अनुमान (पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ४९) है कि हम्मुक कोई सैन्धव राजा था ।

अर्बुदमण्डल की विजय

आबू पर चौलुक्यों का पुनः अधिकार स्थापित करना भीम की दूसरी उपलब्धि[१] थी । वहाँ परमारों की एक छोटी सी शाखा का शासन था और उस पर अधिकार के लिए महमूद के समय से ही चौलुक्य प्रयत्न कर रहे थे । धरणिवराह का पौत्र धन्धूक (१०१०–१०४० ई०) मूलराज के पौत्र दुर्लभराज का सामन्त था[२] । किन्तु धन्धूक ने भीम के दिनों में विद्रोहकर अपने ऊपर उसका आक्रमण आमंत्रित कर लिया । भीम ने उसे अपदस्थकर विमल को वहाँ का **दण्डपति** नियुक्त किया, जिसने आबू में एक बहुत प्रसिद्ध मन्दिर बनवाया । किन्तु धन्धूक ने पुनः भीम को प्रसन्न कर अपना पद प्राप्त कर लिया ।

नाडोल के चाहमानों से असफल संघर्ष

नाडोल के चाहमान प्रारम्भिक चौलुक्यों के मित्र थे । किन्तु, समय की प्रवृत्ति के अनुरूप, भीम के मन में राजनीतिक महत्त्वाकाक्षांएँ उठने लगीं । चाचिगदेव के सुन्धा पहाड़ी अभिलेख से ज्ञात होता है कि महेन्द्र के पौत्र अण्हिल्ल ने भीम को युद्ध में हराया,[३] जिस सफलता की पुनरावृत्ति उसके चचा अण्हिल्ल ने भीम को प्रतिष्ठान में हराकर[४] की । ये युद्ध भीम के नाडोल पर आक्रमण के कारण चाहमानों के ऊपर थोपे गये थे और उनके लिए प्रतिरक्षात्मक ही थे । अण्हिल्ल के पुत्र बालप्रसाद के समय में कुछ समय के लिए शान्ति रही । किन्तु उसके भाई जिन्दुराज को पुनः अपने देश की रक्षा करने के लिए भीम से लड़ना पड़ा और इस दौर में भी भीम को मात खानी पड़ी । स्पष्ट है कि अनेक प्रयत्नों के बावजूद भी चाहमानों की वीरता के कारण भीम नाडोल जीत नहीं सका ।

भीम और मालवा

भीम की समकालिक सत्ताओं में परमारराज भोज और चेदिराज कर्ण (लक्ष्मी-कर्ण) अत्यन्त शक्तिशाली थे । परिणाम यह हुआ कि इन तीनों की राजनीतिक महत्त्वा-

---

१. देखिए, अ० कु० मजुमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ४९–५०; प्रतिपाल भाटिया, पूर्वनिर्दिष्ट पृ० १६७–१६८; एइ०, जिल्द ९, पृष्ठ १४८ ।

२. इऐ०, जिल्द ६१, पृष्ठ १३६ ।

३. गुर्जराधिपतिभीमभूभुजः सैन्यपूरजयद् रणेषु यः । श्लोक १३ ।

४. रत्नपाल का सेवाड़ी अभिलेख, श्लोक ८ तथा कीर्त्तिपाल का नाडोल अभिलेख, एइ०, जिल्द ९, पृष्ठ ६३–७० ।

भारतीय राजा भी हिन्दुओं की मदद के लिए जा पहुँचे। किन्तु इस समय महमूद के कुशल सेनापतित्त्व और उत्साहवर्धन के कारण आक्रामकों का हौसला बहुत बढ़ गया और वे विजयी हुए। यह देखकर सोमनाथ के भीतर वाले सैनिकों की हिम्मत छूट गयी और वे अपनी रक्षा के लिए समुद्र के रास्ते निकल गये। किन्तु फिरिश्ता यह सूचित करता है कि 'नाहरवाला के राजा परम (भीम) देव ने ३०.०० मुसलमानों को काट डाला था'।

ऊपर के विवरणों में आपस की इतनी भिन्नताएँ है कि कोई निश्चित निष्कर्ष निकाल सकना बड़ा कठिन है। केवल फिरिश्ता यह बताता है कि सोमनाथ के द्वार पर महमूद की भीम से लड़ाई हुई थी[1]। अन्य साक्ष्यों में इसका कोई उल्लेख नहीं है। डॉ० राय के मत (पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ६९२) में यह उल्लेख ही सर्वाधिक ग्राह्य प्रतीत होता है कि विजय को पराजय में परिवर्तित हो जाने की सम्भावना को बचाते[2] हुए महमूद सोमनाथ से लौटते हुए सीधे मार्गों को छोड़कर बीहड़ रेगिस्तानी मार्गों से होता हुआ कच्छ और सिन्ध के रास्ते मंसूरा और मुल्तान लौटा।

भीम की सिन्ध-विजय

महमूद के आक्रमण का भीम के शासन पर कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा। उसके बाद भी उसने लगभग ४० वर्षों तक भारत की एक प्रमुख सत्ता के रूप में शासन किया। हेमचन्द्रकृत **द्व्याश्रयकाव्य**[3] के अतिरिक्त कुछ अन्य ग्रंथों से ज्ञात होता है कि उसने सिन्धुनदी को पुल बाँधकर पार किया और युद्ध में हम्मुक को पराजित किया। उसे

---

१. ब्रिग्स् जिल्द १, पृष्ठ ७०-७१। सोमनाथ में एक दुर्ग की स्थिति का ज्ञान अल्-बीरुनी (सखाऊ, जिल्द २, पृष्ठ १६५) से भी होता है।

२. गर्दीजी कहता है (इहिक्वा०, जिल्द ९, पृष्ठ ९४१-४२) कि 'हिन्दुओं के बादशाह परमदेव के द्वारा रास्ता रोके जाने' की स्थित में महमूद यह भय खाने लगा कि 'कहीं उसकी महान् विजय के फल गिर न जाँय' और वह मन्सुरा के रास्ते मुल्तान गया।

३. द्व्याश्रयकाव्य, ९वाँ, १-४; प्रचिद्वि०, पृष्ठ ४१। सिद्धहेमचन्द्र की भूमिका का एक श्लोक (पृष्ठ ७५) है—

कर्णं च सिन्धुराजं च निर्जितयुधि दुर्जजयम्।
श्रीभीमेनाधुनाचक्रे महाभारतमन्यथा।

इसमें श्लोक द्वारा यह कहा गया है कि महाभारत युद्ध में कर्ण और सिन्धुराज (जयद्रथ) को अर्जुन ने मारा किन्तु इस समय उन्हें भीम ने मारकर नये महाभारत की रचना की।

तैलप[१] (द्वितीय) का दृश्य आने पर दामर ने बड़ी बुद्धिमानी से भोज का ध्यान उस इतिहास की ओर दिलाया जिसमें मुञ्ज को मारकर तैलप ने अपनी राजधानी में सूली पर लटका दिया था। इस माध्यम से उसने भोज के आक्रमण की दिशा चौलुक्य क्षेत्रों से मोड़कर कल्याणी के चालुक्य क्षेत्र की ओर कर दी। किन्तु भोज को यह जान कर बड़ी व्याकुलता हुई कि कल्याणी का चालुक्यराज भी एक बड़ी सेना लिये हुए उसकी ओर बढ़ा आ रहा है। इसी समय दामर ने उसे भीम का एक जाली आलेख्य दिखाकर भयभीत कर दिया कि भीम भी उसके विरुद्ध सीमाओं पर आ डटा है। भोज ने भीम को प्रसन्न करने के लिए दो हाथियों की भेंट दी। इस विवरण में कितनी ऐतिहासिकता है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। किन्तु यह ज्ञात है कि भोज और चालुक्यराज द्वितीय जयसिंह (१०१५-१०४२ ई०) के बीच कई चक्र युद्ध हुए[२] थे। अत: यह जान पड़ता है कि भीम के शासन के प्रारम्भिक दिनों में भोज को उस पर आक्रमण का मौका नहीं मिला।

किन्तु दक्षिण के युद्धों से मुक्ति पाकर भोज ने भीम की शक्ति कम करने का निश्चय किया और अपने दिगम्बर जैन सेनापति कुलचन्द्र को ऐसे समय गुजरात पर आक्रमण के लिए भेजा, जब भीम स्वयं अपनी राजधानी छोड़कर सिन्ध पर आक्रमण के लिए गया हुआ था। कुलचन्द्र ने अण्हिलवाड़ लूटकर जयपत्र प्राप्त कर लिया[३]। किन्तु मेरुतुंग के इस सन्दर्भ के अन्य उल्लेख विश्वासयोग्य नहीं प्रतीत होते। इतना अवश्य है कि भीम सिन्ध-विजय से लौटकर भोज के इस धावे से अप्रसन्न और चिन्तित तो हुआ, किन्तु उसने उससे अपना राजनयिक सम्बन्ध भंग नहीं किया और दामर कई अन्य दूतों के साथ दुबारा भोज के दरबार में भेजा गया[४]। उदयपुर प्रशस्ति[५] से ज्ञात होता है कि भोज ने चालुक्यों पर विजय पायी। उसकी सहायता में वागड का परमार सामन्त सत्यराज भी लड़ा[६] था।

---

१. भोज का चालुक्य समकालिक तैलप (द्वितीय) नहीं था, अपितु द्वितीय जयसिंह (१०१५-१०४२ ई०) था। तैलप की मृत्यु लगभग ९९७ ई० में, भोज के राज-गद्दी पर आने के बहुत पूर्व, हो चुकी थी। अत: तैलप को भोज का समकालिक बताना मेरुतुंग का भ्रम है।

२. देखिए, १०१९ ई० का जयसिंह का कदम्ब अभिलेख, इऐ०, जिल्द ५, पृ० १७; १०२८ ई० का कुलेनूर अभिलेख, एइ०, जिल्द १५, पृ० ३३०-३३६; मीरज अभिलेख, एइ०, जिल्द १२, पृ० ३०३; एइ० जिल्द १६, पृ० ७५ और आगे।

३. प्रचिद्वि०, पृ० ४१ ।

४. वहीं, पृष्ठ ५६-५८।

५. एइ०, जिल्द १, पृ० २३५, श्लोक १९।

६. पन्हेरा अभिलेख, एइ०, जिल्द २१, पृ० ४६-५०। प्रतिपाल भाटिया का मत

कांक्षाएँ आपस में टकराने लगीं और वे बारी-बारी से एक दूसरे के लिए त्रासदायक सिद्ध हुए। समय की दृष्टि से भोज इन सबमें वरिष्ठ (१०१०-१०५५ ई०) था तथा भीम (१०२४-१०६४ ई०) और कर्ण (१०४१-१०७२ ई०) उसके जीवन के उत्तरार्ध के पूर्व उसकी प्रतिद्वन्द्विता में नहीं खड़े हुए थे। कल्याणी के चालुक्य भी परमारवंश के परम्परागत शत्रु थे। ऐसी परिस्थिति में इन चारों वंशों तथा उनके सामन्त अथवा मित्रकुलों के आपसी संघर्षों का एक ताँता-सा लग गया, जिनके तैथिक क्रमों की एक साधारण रूपरेखा ही खींची जा सकती है। इस सम्बन्ध की सारी घटनाओं को देखने से यह प्रतीत होता है कि पहले भोजराज ने भीमदेव को दबाने का प्रयत्न किया और उसमें अपेक्षाकृत सफल भी रहा। किन्तु बाद में भीम ने उसके सभी शत्रुओं का एक संघ सा तैयार कर लिया और मालवा पर आक्रमण कर उसकी शक्ति को सीमित करने में सफलता पायी। इस कार्य में भीम का सबसे बड़ा मित्र कलचुरिराज कर्ण था। किन्तु वह भी बहुत शक्तिशाली हो गया और भीम को उसके विरुद्ध भी एक दूसरे सैनिक संघ का निर्माण करना पड़ा। ऐसा प्रतीत होता है कि अबकी बार भीम का सहायक भोज परमार का उत्तराधिकारी द्वितीय जयसिंह भी था। उस समय की अन्तरराज्यीय राजनीति के इस चक्र से यह सहज निर्णय निकलता है कि भीम ने अपने प्रबल शत्रुओं से गुजरात के चौलुक्य राज्य की रक्षा ही नहीं की, अपितु बारी-बारी से सबको साधा और स्वयं अपने समय की कूटनीतिक राजनीति का सिरमौर बन गया।

भोज और भीम के आपसी सम्बन्धों का विस्तृत उल्लेख **प्रबन्धचिन्तामणि**[१] में प्राप्त होता है। किन्तु उसके विवरणों में काल्पनिक अन्तरकथाओं की इतनी भरमार है कि वास्तविक तथ्यों को बहुत सावधानी से ही अलग किया जा सकता है। संक्षेपतः, कहा जा सकता है कि प्रारम्भ में भोज और भीम की मित्रता थी और दोनों में राज-नयिक सम्बन्ध थे। किन्तु भोज ने मित्रता की संधि का अन्तकर गुजरात पर ऐसे समय आक्रमण की तैयारी प्रारम्भ कर दी जब वहाँ दुर्भिक्ष पड़ा था। अपने मित्र की कमजोरी का लाभ उठाने की भोज की यह योजना उसकी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करती है। किन्तु भीम ने अपने गुप्तचरों द्वारा यह योजना जान ली और अपने दामर नामक **सांधिविग्रहिक** (राजनयिक दूत) को धारा इस उद्देश्य से भेजा कि वह भोज के प्रस्तावित आक्रमण को अपवारित करने का प्रयत्न करे। वह इस बात के लिए तैयार था कि यदि धन देकर भी भोज को उस वर्ष आक्रमण से विरत किया जा सके तो वैसा किया जाय। दामर भोज की राजधानी में 'राजाओं की दुर्दशा दिखाने वाले नाटक का अभिनय' देखने को आमंत्रित किया गया। उसमें तिलंग देश के राजा

---

१. प्रचिद्वि० पृष्ठ ३७ और आगे।

उसे सूचित किया कि वह शत्रुसेना से घिर गया है। मन्दिर-दर्शन से लौटने पर उसने सचमुच अपने को गुर्जर सैन्य से घिरा हुआ पाया। 'वेगवान घोड़े पर चढ़कर तेजी से जाता हुआ वह धार नगरी के फाटक पर पहुँचा तो उस समय आलूया और कोलूया नाम के दो गुजराती सवारों ने उसके कंठ में धनुष्य फेंके और यह कहकर उसे छोड़ दिया कि तुम इतने ही से मार डाले जाते।' यह निश्चय करना बड़ा कठिन है कि यह सचमुच धारा पर भीम के किसी ऐसे आक्रमण[1] का द्योतक है या नहीं, जिसमें भोज स्वयं मारे जाने से बाल-बाल बचा था।

भीम और कर्ण

प्रबन्धचिन्तामणि की सूचना है (द्विवेदी, पृ० ६३) कि भोज की मृत्यु के बाद उसके राज्य और मालवा की लूट की सम्पत्ति के प्रश्न को लेकर भीम का कर्ण से वैर हो गया। सम्बद्ध स्थलों से ज्ञात होता है कि मालवा पहुँचने के रास्तों की कर्ण ने ऐसी नाकेबन्दी कर रखी थी कि भीम को मालव युद्धक्षेत्र की बहुत खबर ही नहीं मिली। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भोज के विरुद्ध एक साथ मिल जाने पर भी वे दोनों परस्पर एक दूसरे की काट में लगे हुए थे। किन्तु **प्रबन्धचिन्तामणि** का यह कथन मान्य नहीं है कि भीम द्वारा आज्ञापित होने पर दामर अपने ३२ सिपाहियों के साथ कर्ण को ऐसे समय पकड़ लेने में समर्थ हो गया, जब वह दोपहर का भोजन कर सो रहा था। **द्वयाश्रयकाव्य** (९वाँ, १ और आगे) में दूत का नाम दामर की जगह दामोदर दिया गया है। कथित है कि उससे भीम की प्रभूत प्रशंसा सुनकर कर्ण इतना भयभीत हो गया कि उसने सोने की वह पालकी भीम को सौंप दी, जो स्वयं उसने भोज से जीती थी। किन्तु ये विवरण ऐतिहासिक नहीं प्रतीत होते। कर्ण उस समय अपनी प्रभुता की चोटी पर था। भीम के दूत द्वारा अपने ही घर में पकड़े जाने के विपरीत गुजरात पर उसके एक आक्रमण के उल्लेख रीवाँ से प्राप्त होनेवाले एक अभिलेख और एक पिंगल[2] में मिलते हैं। इससे स्पष्ट है कि दोनों पक्षों में कोई युद्ध हुआ था। इस युद्ध का समय मालवा पर कर्ण की विजय (१०५४-१०५५ ई०) के तुरन्त बाद का होगा क्योंकि दोनों के राज्यों के बीच में मालवा का बहुत बड़ा क्षेत्र पड़ता था, जो भोज की मृत्यु और जयसिंह की सोमेश्वर चालुक्य की

---

१. बाद के गुजराती लेखक धारा पर भीम के आक्रमण की अनुश्रुति से परिचित थे। देखिए, वाडनगर प्रशस्ति, श्लोक ९, एइ०, जिल्द १, पृ० २९७; सोमेश्वर, कीर्त्ति-कौमुदी, द्वितीय, १७-१८; जयसिंहसूरि, कुमारपालभूपालचरित, प्रथम, ३४।

२. एइ०, जिल्द २४, पृ० १०७, प्राकृतपिंगलम्, बिब्लियोथिका इण्डिका, १९०२, सं० २९६।

भोज के इन दबावों से भीम तंग आ गया था एवं अवसर और मित्रों की ताक में था। उन्हें मिलते उसे देर न लगी। भोज के अन्य शत्रु भी वैसा ही सोचते थे और यह स्वाभाविक था कि वे आपस में उसके विरुद्ध संघबद्ध हो जाँय। इस संघ का नेतृत्त्व भीम के अतिरिक्त कलचुरिशासक कर्ण के हाथों में भी था, जिसके पिता गांगेयदेव **विक्रमादित्य** को भोज ने पराजितकर मानमर्दित किया था[१]। इस संघ में कल्याणी का चालुक्य शासक सोमेश्वर सम्मिलित था या नहीं, यह तो ठीक-ठीक नहीं ज्ञात है, किन्तु इस बात की जानकारी है कि उसने १०४७ ई० के आसपास मालवा पर आक्रमणकर धारा लूटा। भोज 'अपने ही नगर में उसके सामने झुकने को बाध्य[२] हुआ'। सम्बन्धित चालुक्य अभिलेखों से ज्ञात होता है कि माण्डू कर्णाट सेनाओं ने जीत लिया। बिल्हण **विक्रमाँकदेवचरित** (प्रथम, ९०-९४) में कहता है कि भोज को अपनी राजधानी धारा छोड़कर भागना पड़ा। इस घटना से भोज की अजेयता का मिथक समाप्त हो गया। गुजरात पर भोज के पुराने आक्रमणों का बदला लेने का भीम ने इसे एक अच्छा अवसर समझा होगा। मेरुतुंग (प्रचिद्वि०, पृ० ६०-६३) सूचित करता है कि चेदिराज कर्ण (१०४१-१०७२ ई०) से भी भोज की प्रतियोगिताएँ प्रारम्भ हो गयी थीं और दोनों अपना बड़प्पन प्रमाणित करने के लिए बाजियाँ लगा रहे थे। प्रमुख बाजी यह थी कि वे दोनों काशी और धारा में एक-एक शिवमन्दिर का निर्माण प्रारम्भ करें और जिसका निर्माण पहले हो जाय, वह विजयी मान लिया जाय। कर्ण बाजी मार ले गया, किन्तु भोज ने उसकी वरीयता नहीं मानी। परिणामतः, कर्ण भीम से मिल गया। उन दोनों ने मिलकर मालवा पर दोतरफा आक्रमण कर दिया। उन्होंने आपस में यह तय कर रखा था कि विजयी होकर वे भोज का राज्या आधा-आधा बाँट लेंगे। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भोज की शक्ति को पूरी तरह कुचल देने का उन दोनों को पूरा विश्वास था। भोज अब वृद्ध हो चला था और उनके आक्रमण के फलस्वरूप उसका सारा गर्व धूल में मिल गया। वह दुःखी होकर बीमार पड़ा एवं मर गया। उसकी मृत्यु का समाचार सुनकर कर्ण ने उसकी राजधानी लूटी और उसका सारा धन ढो ले गया। यह घटना १०५५ ई० के आसपास घटित मानी जानी चाहिए।

मेरुतुंग अन्यत्र (प्रचिद्वि०, पृ० ५९) कहता है कि एक बार भोज की कुलदेवी ने

है (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ८९-९०) कि भोज ने ही चन्द्रावती के परमार धन्धूक को भीम के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए भड़काया था।

१. एइ०, जिल्द १, पृ० २३५, श्लोक १९; एइ०, जिल्द १९, पृ० ६९-७५।

२. याजदानी, दि० अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन, पृ० ३३०, पादटिप्पणी ६, हैदराबाद ओर्कलॉजिकल् सीरिज, सं० ८, पृ० १३, श्लोक ४७।

मन्दिरों का निर्माण कराया। उसकी रानी उदयमति ने एक बड़ी वापी बनवायी जो सहस्रलिंह सरोवर से भी अधिक आकर्षक थी।[१]

कर्ण (लगभग १०६५-१०९३ ई०) : परमारों से संघर्ष

यह देखा जा चुका है कि उदयमती से उत्पन्न भीमदेव का पुत्र कर्णदेव उसका उत्तराधिकारी बना। वह १०६५ ई० में चौलुक्य राजगद्दी पर बैठा। **द्व्याश्रयकाव्य** और **प्रबन्धचिन्तामणि** जैसे ग्रन्थों में उसकी विशेष चर्चाएँ नहीं मिलतीं। किन्तु इस बात के प्रमाण हैं कि उसने अपने पिता की विरासत केवल अक्षुण्ण ही नहीं रखी, अपितु उसी की तरह समकालिक राजनीति में रुचि और भाग भी लिया। मालवा के परमार राज्य की आन्तरिक कमजोरी और गृहयुद्ध की स्थिति में उसके लिए उसे एक अच्छा अवसर मिल गया। भोज की मृत्यु के बाद कल्याणी के चालुक्य शासक प्रथम सोमेश्वर की सहायता से जयसिंह ने अवन्ति का राजपद प्राप्त कर लिया।[२] किन्तु उदयादित्य[३] नामक भोज का कोई भाई (भ्राता) उसका प्रतिद्वन्द्वी था, जो राजगद्दी के लिए संघर्ष करने लगा। यह असम्भव नहीं है कि उनके झगड़ों में चौलुक्यराज कर्ण ने भी रुचि ली हो। परमार अभिलेखों[४] से ज्ञात होता है कि राजगद्दी प्राप्त करने के पूर्व उदयादित्य ने कर्ण के अतिरिक्त दो अन्य राजाओं को परास्त किया[५] था। कुमारपाल के समय के एक अभिलेख और कुछ ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि कर्ण ने सूदकूप के पास मालवराज को हराया।[६] किन्तु कुछ अन्य साक्ष्यों से ज्ञात[७] होता है कि उसे मालवराज ने हराया। हो सकता है कि मालव और चौलुक्य सेनाओं में दो चक्र युद्ध हुए हों, जिनमें पहली बार तो विजय चौलुक्य सेना की रही हो, किन्तु दूसरी बार मालव सेना सफल हुई हो। इस युद्ध में उदयादित्य का एक शक्तिशाली मित्र था शाकम्भरी का चाहमान राजा तृतीय विग्रहराज। पीछे उसका इतिहास लिखते समय हम यह देख चुके

---

१. प्रचिद्वि०, पृष्ठ ६५।

२. विक्रमांकदेवचरित, तृतीय, ६७।

३. इहिक्वा०, जिल्द १८, पृष्ठ २६६-२६८।

४. एइ०, जिल्द २, पृ० १८५; जिल्द २६, पृष्ठ १७९।

५. मिराशी ने इन तीन राजाओं को कलचुरि कर्ण, चालुक्य द्वितीय सोमेश्वर और पश्चिमी गंगराज उदयादित्य से मिलाया है। प्रोसीडिंग्स्, इण्डियन् हिस्ट्री कांग्रेस्, जिल्द ५, पृष्ठ २५७; एइ०, जिल्द २४, पृष्ठ १०७, नोट १।

६. भण्डारकर्स् लिस्ट, स० १५२२; सुकृतसंकीर्त्तन, द्वितीय, २३।

७. सुरथोत्सव, १५वाँ, २०; पृथ्वीराजविजय, पाँचवाँ, ७६-७८।

सहायता से मालवा की गद्दी प्राप्त करने के बीच की थोड़ी अवधि में ही कर्ण के अधिकार में था।

आगे यदि भीम को कर्ण के विरुद्ध कोई सफलता मिली तो वह कदाचित् अन्य कई राजाओं के सहयोग से ही प्राप्त हुई थी। जैसे भोज की बढ़ती हुई शक्ति के कारण परमारों के अनेक शत्रु पैदा हो गये थे, वैसी ही दशा कर्ण की भी हुई। खजुराहो के चन्देल राजा देववर्मा अथवा विजयपाल को उसने मार डाला था;[१] मालवा पर आक्रमण कर भोज का अन्त कर डाला था; तथा भीम से शत्रुता मोल ले रखी थी। साथ ही, वह कल्याणी के चौलुक्यों की महत्त्वाकांक्षा की सिद्धि में भी सबसे बड़ा बाधक सिद्ध हो रहा[२] था। कदाचित् ये सभी उसके विरुद्ध एक साथ मिल गये थे, जो उस समय की उत्तर भारतीय राजनीति में पाँच-दस वर्षों के भीतर दूसरी महत्त्वपूर्ण क्रान्ति थी। कर्ण की पराजय इन सबके मेल का परिणाम थी और सम्भवत: १०६०-१०६५ ई० के बीच की घटना थी।

पीछे के विवरणों से स्पष्ट है कि भीम कूटनीति के प्रयोग में अत्यन्त कुशल था तथा राजनीतिक क्षेत्र में उसने बड़ी से बड़ी सत्ताओं से सफलतापूर्वक लोहा लिया। उसकी कम से कम दो रानियाँ थीं, उदयमती और चकुलादेवी अथवा बकुलादेवी। बकुलादेवी का प्रारम्भिक जीवन वेश्या का था, किन्तु वह उसमें बड़ी अनुरक्त थी। भीम के कम से कम तीन पुत्र थे। सबसे जेठा मूलराज था, जो उसके सामने ही मर गया। दूसरा था बकुलादेवी से उत्पन्न क्षेमराज अथवा हरिपाल। भीम ने अपने जीते ही जी उसे राजा बनाना चाहा,[३] किन्तु उसने राजा बनना अस्वीकार कर दिया और कर्ण राजा बनाया गया। क्षेमराज कर्ण से जेठा होते हुए भी राजगद्दी लेने को क्यों नहीं तैयार[४] हुआ, यह निश्चयपूर्वक नहीं बताया जा सकता। आबू का दिलबाड़ा मन्दिर भीमदेव के समय की वास्तु सम्बन्धी सबसे बड़ी कीर्त्ति है, जिसे उसके सामन्त विमल ने ऋषभनाथ की स्मृति में १०३१ ई० में बनवाया था। पत्तन में उसने स्वयं भीमेश्वरदेव और भट्टारिका नामक

---

१. देखिए, पीछे कीर्त्तिवर्मा चन्देल का प्रकरण।

२. विक्रमांकदेवचरित (प्रथम, १०२-१०३) से ज्ञात होता है कि प्रथम सोमेश्वर ने कर्ण को पराजित किया।

३. इस सम्बन्ध के उल्लेख द्व्याश्रयकाव्य (९वाँ, ७३-७७) तथा प्रबन्धचिन्तामणि (द्विवेदी, पृष्ठ ६४-६५ तथा ९३) में मिलते हैं।

४. हेमचन्द्रराय का मत है (डाहिनाइ०, जिल्द २, पृ० ९६३) कि यह कदाचित् कर्ण के अशान्त उत्तराधिकार का द्योतक है। हो सकता है कि राजगद्दी के लिए युद्ध हुआ हो, जिसकी चर्चा जैन लेखक न करना चाहते हों।

नामक किसी अन्य शासक ने लाट से अपना अभिलेख प्रकाशित किया[१], जिससे यह प्रतीत होता है कि उस पर कर्ण चौलुक्य का अधिकार स्थायी नहीं हुआ।

कर्ण के राजनीतिक कार्यों की अपेक्षा उसके वास्तु निर्माण[२] अधिक प्रसिद्ध हैं। **प्रबन्धचिन्तामणि** की सूचना है कि उसने आशापल्ली के भिल्ल शासक आशा को हराकर वहाँ कोछरब्बा देवी का एक मंदिर बनवाया। कर्णावती नामक नगर और उसमें कर्णेश्वर नामक मन्दिर तथा कर्णसागर नामक झील उसके अन्य प्रमुख वास्तु थे। कर्णसागर को भरने के लिए रन की खाड़ी में गिरने वाली रुपिन नदी की धारा बीच में ही रोक दी गयी। उसका कदाचित् सबसे प्रसिद्ध वास्तु अण्हिलवाड़ का कर्णमेरु नामक मन्दिर था।

जयसिंह सिद्धराज (लगभग १०९४ से ११४२ ई०) : चौलुक्य साम्राज्य की स्थापना

जयसिंह कर्ण का उसकी रानी मयणल्लादेवी से उत्पन्न पुत्र था। उसका जन्म कदाचित् कर्ण की वृद्धावस्था में हुआ था और १०९४ ई० में राजगद्दी पर बैठते समय वह अल्पवयस्क ही था। हेमचन्द्र[३] कहता है कि कर्ण के बहुत दिनों तक कठोर तपस्या करने पर जयसिंह की उत्पत्ति हुई और मेरुतुंग (प्रचिद्वि०, पृ० ६६) कहता है कि कर्ण ने जयसिंह को उसकी तीन वर्ष की अवस्था में ही राज्याभिषिक्त कर दिया। कर्ण कदाचित् उसके बाद भी कुछ दिनों तक जीवित रहा, किन्तु उसकी मृत्यु के बाद देवप्रसाद का उसी के साथ भस्म हो जाना (**द्वयाश्रयकाव्य**, इऐ०, जिल्द ४, पृ० २३५) कुछ सन्देहजनक परिस्थितियों की ओर निर्देश करता है। सम्भवतः हेमचन्द्र कुमारपाल का राजदरबारी होने के नाते उसके पितामह (देवप्रसाद) की मृत्यु का असली रहस्य नहीं बताना चाहता था और देवप्रसाद की कर्ण में भक्ति तथा जयसिंह के त्रिभुवनपाल के प्रति सच्चे स्नेह को दिखाते हुए उसने सत्य बातें नहीं कहीं। विद्वानों को इस बात की शंका[४] है कि जयसिंह की गद्दी के कुछ अन्य दावेदार भी थे और उसी वातावरण में देवप्रसाद को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा; उसका पुत्र त्रिलोचनपाल राजदरबार की कठोर निगरानी में रख छोड़ा गया और मदनपाल मार डाला[५] गया। देवप्रसाद भीम की छोटी रानी बकुलादेवी की

---

१. अ० पाण्डेयकृत, न्यू डाइनेस्टीज ऑफ् गुजरात, पृष्ठ १४।

२. प्रचिद्वि०, पृष्ठ ६६।

३. द्वयाश्रयकाव्य, १०वाँ, १-९०।

४. हेमचन्द्र राय, डाहिनिइ०, जिल्द २, पृष्ठ ९६८; अ० कु० मजुमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ६८।

५. मेरुतुंग (प्रचिद्वि०, पृष्ठ ६६-६७) मदनपाल को उदयमती का भाई बताता है और कहता है कि कर्ण के मरने के बाद वह 'असमंजस भाव से वर्तने लगा' तथा मंत्री सांतू ने 'कालकी नाईं अन्यायी उस मदनपाल को' मरवा डाला।

है[1] कि उसने उदयादित्य को सारंग नाम का एक बढ़िया घोड़ा दिया, जिससे उसने गुर्जर कर्ण के विरुद्ध युद्ध जीत लिया। आबू के निकट कर्ण की पराजय का उल्लेख उदयादित्य के पुत्र जगद्देव के एक अभिलेख में भी हुआ है।[2]

नाडोली चाहमानों का गुजरात पर धावा

सम्भवतः मालवा के युद्ध में फँसे रहने के कारण नाडोल के चाहमानों ने कर्ण के क्षेत्रों पर धावा बोल दिया। जिन्दुराज के पुत्र पृथ्वीपाल ने कर्ण की सेना को हराया और उसके भाई तथा उत्तराधिकारी जोजलदेव ने एक बार अण्हिलवाड़ पर भी अधिकार कर लिया।[3] किन्तु यह सब कुछ कर्ण के अपनी राजधानी में न रहने के समय ही हुआ होगा और इसे चाहमानों के एक सफल सैनिक धावे के अतिरिक्त और कुछ नहीं माना जा सकता।

लाट पर अस्थायी अधिकार

अपनी सत्ता के चरमोत्कर्ष के दिनों में भोज ने लाट पर अधिकार कर लिया था।[4] किन्तु भोज के अन्तिम दिनों में कलचुरि कर्ण के सेनापति वप्पुलक ने त्रिलोचन सहित एक अन्य राजा को हराकर लाट पर अधिकार कर लिया[5]। लाट पर कलचुरियों के इस अधिकार को कर्ण बर्दाश्त करने को तैयार नहीं था। सोमेश्वर **कीर्त्तिकौमुदी**[6] में कहता है कि 'प्राचीन अर्जुन और कर्ण की शत्रुता को मानो याद करते हुए कर्ण ने अर्जुन (सहस्रार्जुन कार्त्तवीर्य) के वंश के यशः को किसी अन्य देश में जाने को विवश किया'। श्लेष के प्रयोग से इस संदर्भ में कलचुरि कर्णं के पुत्र और उत्तराधिकारी यशः कर्ण पर चौलुक्य कर्णं की विजय बतायी गयी है। इस विजय की ऐतिहासिकता इस बात से प्रमाणित है कि कर्ण ने एक दानपत्र १०७४ ई० में लाट के नौसारि नामक स्थान से प्रकाशित किया। किन्तु कर्ण के दानपत्र के प्रकाशन के तीन वर्षों बाद ही त्रिविक्रिमपाल

---

१. देखिए, पीछे तृतीय पृथ्वीराज का प्रकरण; पृथ्वीराजविजय, पाँचवाँ, ७६–७८।

२. एइ०, जिल्द २२, पृष्ठ ५४–६३।

३. देखिए, चाचिगदेव का सुन्धा पहाड़ी अभिलेख, एइ०, जिल्द ९, पृष्ठ ७६। वहाँ कहा गया है:—

पृथ्वीपाल इतिध्रुवं क्षितिपतिस्-तस्यांगजन्माभवत्।
प्रत्यक्षोरुनिधिः सगुर्जरपतेः कर्णस्य सैन्यापहः।।

४. एइ०, जिल्द १, पृष्ठ २३५; एइ०, जिल्द १९, पृष्ठ ७१–७२।

५. मेम्वायर्स्, आसारि०, संख्या २३, पृष्ठ १३०–१३३।

६. तत्कर्णार्जुनयोर्वैरं पूर्वकर्ण स्मरन्निव। अर्जुन गमयामास यशो देशान्तराणि यः।। द्वितीय, २२।

में कहीं न कहीं अवश्य होती । अतः मेरुतुंग की कथा इस हेतु प्रेरित प्रतीत होती है कि मालवराज को प्रथम आक्रान्ता बताकर जयसिंह के आक्रमण का बहाना उपस्थित किया जाय । वास्तव में जयसिंह जैसे शक्तिशाली और महत्त्वाकांक्षी विजेता को किसी बहाने की आवश्यकता नहीं थी । मालवा उस समय अत्यन्त कमजोर स्थिति में था और उस पर आक्रमण राजनीतिक लाभ के लिए ही प्रेरित रहा होगा । युद्ध के बारह वर्षों तक चलते रहने का मेरुतुंग का उल्लेख इस बात का द्योतक है कि संघर्ष लम्बा था ।

सोमेश्वर कहता[१] है कि जयसिंह ने मालवों को युद्ध में हराकर वहाँ की राजलक्ष्मी अपहृत कर ली और वहाँ के राजा नरवर्मा को सुग्गे की तरह कठघरे में बन्दी बना लिया । मालवविजय और मालवराज के बन्दी बनाये जाने के उल्लेख अन्यत्र भी प्राप्त होते[२] हैं । किन्तु ये सभी उल्लेख जयसिंह द्वारा यशोवर्मा के समय (११३२-११४२ ई०) मालवा पर किये गये आक्रमण के सम्बन्ध में ही प्रतीत होते हैं, जब वह पकड़कर बन्दी बनाया गया और पाटन में बलात् रोक लिया गया । जयसिंहसूरि, जिनमण्डन तथा राजशेखर यह कहते[३] हैं कि जयसिंह ने नरवर्मा को मारकर उसकी खाल से अपनी तलवार की खोल बनाने की प्रतिज्ञा की थी । किन्तु बारह वर्षों के युद्ध के बाद जब वह पकड़कर लाया गया तो मन्त्रियों ने जयसिंह को अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने से यह कहकर रोका कि कैदी राजा का वध नहीं करना चाहिए । इन सभी उद्धरणों को एक साथ मिलाकर देखने से यह निष्कर्ष निकलता है कि जयसिंह के मालवा पर एक नहीं अपितु अनेक आक्रमण हुए थे, जिनका ताँता नरवर्मा से लेकर यशोवर्मा के समय तक चलता रहा ।

जयसिंह की मालव विजय खोखली नहीं थी । उसने परमार राज्य के बहुत बड़े क्षेत्र पर अधिकार कर लिया । ११३६-११३७ ई० का गला अभिलेख उसे **अवन्तिनाथ** कहता है । यह विरुद उसके बाद के उसके सभी अभिलेखों में मिलता है । यशोवर्मा उसका अधीनस्थ सामन्त हो गया, जो उसके **महाराज** मात्र कहे जाने से प्रकट होता[४] है ।

---

१. कीर्तिकौमुदी, द्वितीय, ३०-३२; सुरथोत्सव, १५वाँ, २२ ।

२. द्वयाश्रयकाव्य, १४वाँ; वाडनगर प्राशस्ति, एइ०, जिल्द १, पृष्ठ २९६, श्लोक ११; बालचन्द्रकृत वसन्तविलास, तृतीय, २१-२२; रासमाला, पृष्ठ १११-११२; दोहद अभिलेख, इऐ०, जिल्द १०, पृष्ठ १५९, श्लोक १ ।

३. कुमारपालभूपालचरित, प्रथम, ४१; कुमारपालप्रबन्ध, ७; प्रबन्धकोश, सिंधी जैन ग्रन्थमाला, पृष्ठ ९१ ।

४. झालरपाटन (वि० सं० ११९९, अभिलेख, आसरि०, पश्चिमी चक्र, १९०५-७, पृष्ठ ५६ ।

वंशपरम्परा में था, जो कर्ण के समय राज्य छोड़कर बाहर चला गया था । जयसिंह की इन प्रारम्भिक कठिनाइयों के समय उसकी संरक्षिका माता मयणल्लादेवी और मंत्री सांतू ने बड़ी बुद्धिमानीपूर्वक उसका मार्ग शत्रुओं से निरापद किया । अपनी माँ के कहने से जयसिंह ने सोमनाथ के दर्शन हेतु जाने वाले तीर्थयात्रियों पर बाहुलोड़नगर में लगनेवाला कर समाप्त कर दिया[१] । इस कर से राज्यकोष को प्रतिवर्ष ७२ लाख प्राप्त हुआ करता था ।

मालव विजय

अनेक नये क्षेत्रों की विजयों और चौलुक्यवंश के परम्परागत शत्रुओं के मुकाबले अपनी सत्ता की वर्चस्वता साबित कर जयसिंह तत्कालीन राजनीतिक गगन का एक दैदीप्यमान नक्षत्र बन गया । उसकी विजयों में कदाचित् सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मालव विजय थी । किन्तु उससे सम्बद्ध तिथियों और घटनाओं का गुजराती लेखकों ने अजीब घालमेल कर रखा है । जयसिंह की परमार विजय का विस्तृत उल्लेख **प्रबन्धचिन्तामणि** में प्राप्त होता (द्विवेदी, पृष्ठ ६९-७०) है । किन्तु उसमें भी सम्बद्ध तिथियों का गड़बड़घोटाला स्पष्ट है । तदनुसार, जयसिंह जब अपने शासन के प्रारम्भ में ही अपनी माता मयणल्लादेवी के साथ बाहुलोड़नगर होते हुए सोमनाथ तीर्थ गया था, मालवराज यशोवर्मा ने अण्हिलवाड़ पर आक्रमण कर उसके मंत्री सांतू को इस बात के लिए विवश कर दिया कि वह अपने स्वामी की सोमनाथ की यात्रा का पुण्य उसे दान कर दे । जयसिंह लौटने पर यह जानकर बड़ा क्रुद्ध हुआ और मालवा पर चढ़ गया । 'वहाँ जयजयकार के साथ बारह वर्षों तक युद्ध होता रहा' । अन्त में अपने यश:पटह नामक मतवाले हाथी की मार से धारा नगरी के दुर्ग के दक्षिणी दरवाजे को तोड़कर उसने यशोवर्मा को कैदी बनाया और अण्हिलवाड़ लाया[२] ।

इस वृत्तान्त में अनेक भ्रान्तियाँ हैं । जयसिंह १०९४ ई० में राजगद्दी पर बैठा । मेरुतुंग के कथन के अनुसार उसके थोड़े ही दिनों बाद वह सोमनाथ दर्शन के लिए गया । यदि मालवा की सेनाओं का उस समय अण्हिलवाड़ पर आक्रमण हुआ और जयसिंह ने प्रत्याक्रमण किया, तो उस समय का मालवराज यशोवर्मा न होकर नरवर्मा (१०९४-११३३ ई०) होना चाहिए । इसके अतिरिक्त यदि नरवर्मा अथवा यशोवर्मा ने गुजरात पर कोई आक्रमण किया होता तो उसकी चर्चा परमारों से सम्बद्ध साहित्य अथवा अभिलेखों

---

१. वहीं, पृष्ठ ६८-६९ ।

२. राजशेखर प्रबन्धकोश (सिंन्धी जैन ग्रन्थमाला, पृ० ९०) में कहता है कि यश:-पटह नामक अपने कुंजर से जयसिंह ने धारा दुर्ग की लौह अर्गला तुड़वाकर सोम-नाथ में लगवायी, जो राजशेखर के समय भी लगी हुई थी ।

उसके हाथों मारा गया। खंगार को मारकर जयसिंह ने जाम्ब के वंशज **दण्डाधिपति** सज्जन को सुराष्ट्रदेश का प्रबन्धक नियुक्त किया[1]।

बर्बरक विजय

जयसिंह ने बर्बरक नामक किसी राक्षस राजा पर विजय प्राप्त कर **बरबरकजिष्णु** की उपाधि ग्रहण की। सम्बन्धित साक्ष्यों से इस बात पर कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता कि यह बर्बरक कौन था। हेमचन्द्र उसे एक राक्षस बताता[2] है, जो सरस्वती नदी के किनारे स्थित श्रीस्थलतीर्थ के ब्राह्मणों और ऋषियों को अपनी लूट आदि से तंग किया करता था। उन ऋषियों की प्रार्थना पर ही जयसिंह **सिद्धराज** ने उस पर आक्रमण किया। कहा गया है कि जयसिंह ने द्वन्द्वयुद्ध में बर्बरक को जीतकर एक रस्सी में बाँध दिया, किन्तु उसकी स्त्री पिंगलिका की प्रार्थना पर उसकी जान नहीं ली और बर्बरक ने अनेक प्रकार के उपहार देकर चौलुक्यराज की अधीनता मान ली। जैन लेखक भूत-पिशाचों की शक्ति वाले बर्बरक की विजय से जयसिंह की उपाधि **सिद्धराज** को जोड़ते हैं। किन्तु इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। अ० कु० मजुमदार (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ८१-८२) ने यह निर्देश किया है कि जयसिंह की **बर्बरकजिष्णु** उपाधि सबसे पहले ११३९ ई० के उज्जैन अभिलेख में प्रयुक्त है, जबकि उसके कई वर्षों पूर्व के अभिलेखों[3] में उसे **सिद्धश्चक्रवर्ती** कहा जा चुका था।

जयसिंह और चाहमान

नाडोल और शाकम्भरी के चाहमानों से चौलुक्य कशमकश और अनेक प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष युद्धों का ताँता पींछे हम देख चुके हैं। जयसिंह के शासन के प्रारम्भिक

---

१. प्रचिद्वि०, पृ० ७७, कीर्त्तिकौमुदी, द्वितीय २५; बम्बई गजेटियर, जिल्द १, भाग १, पृ० १७७; न्यू इण्डियन् ऐण्टीक्वेरी, जिल्द १, पृ० ५७९।

२. द्वयाश्रयकाव्य, १२वाँ। अरिसिंह (सुकृतसंकीर्त्तन, द्वितीय, ३३) बर्बरक को भूत-बेतालों से जोड़ता है और यह बताता है कि वह हवा में चल सकता था। सोमेश्वर और जयसिंह सूरि भी कहते हैं कि उसमें भूत-पिशाचों की शक्ति थी और उसे श्मशान में मारने के कारण जयसिंह सिद्धराज कहलाया। देखिए, कीर्त्ति-कौमुदी, द्वितीय, ३८। कुमारपालभूपालचरित, प्रथम, ५२।

३. अ० कु० मजुमदार (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ८१) जयसिंह की उपाधि सिद्धराज का सर्वप्रथम प्रयोग वि० सं० ११९३ के गला अभिलेख (जराएसो०, बम्बई शाखा, जिल्द २५, पृ० ३२२-३२४) में बताते हैं। किन्तु उससे भी पूर्व वि० सं० ११८६ के भीनमाल अभिलेख में इस विरुद का प्रयोग प्राप्त होता है। देखिए, आसरि०, पश्चिमी चक्र, १९०७-८, पृ० ३८।

यह हम देख चुके हैं कि वह अपनी पराजय के परिणामस्वरूप बन्दी बनाकर अण्हिल्ल-वाड़ ले जाया गया। साक्ष्यों के अभाव में यह कहना कठिन है कि वह चौलुक्यों की अधीनता मानने की शर्त पर मुक्त कर दिया गया अथवा किसी प्रकार स्वयं मुक्त हो गया। जो भी हो, अवन्तिमण्डल पर जयसिंह ने जमकर अधिकार कर लिया और महादेव नामक एक नागर ब्राह्मण को अपनी ओर से ११३८ ई० में वहाँ का शासक नियुक्त किया।[१] पंचमहाल और दोहद (दधिपद्र) पर जयसिंह के अधिकार कर लेने का कारण यह बताया गया है कि वह गुजरात से मालवा में धारा और मांडू तक जाने वाले मार्ग के राजनीतिक और आर्थिक महत्त्व को भली-भाँति समझता था और उसे त्यागने को तैयार नहीं था। इसी हेतु उसने वहाँ अपने **वाहिनीपति** केशव को सेनापति के रूप में नियुक्त किया। उसका यह अधिकार उसके जीवनपर्यन्त (११४२ ई०) बना रहा और वह सही रूप में पश्चिमी भारत का **सार्वभौम**[२] हो गया।

खंगार विजय

जयसिंह सिद्धराज की दूसरी प्रमुख विजय सौराष्ट्र-गिरनार के आभीर राजा (राणक) खंगार पर हुई। जैन ग्रन्थों में खंगार को नवधन भी कहा गया है। मेरुतुंग (प्रचिद्वि०, पृष्ठ ७६-७७) खंगार के बारे में कहता है कि उसका निग्रह करने में जयसिंह ग्यारह बार असमर्थ हो चुका था। बारहवीं बार उसने स्वयं उसके विरुद्ध अभियान किया और उसे मारा। ऐसा प्रतीत होता हैं कि खंगार सौराष्ट्र के प्रदेशों में चौलुक्य सत्ता के लिए किसी कारणवश कण्टक सिद्ध हो रहा था तथा उसकी विद्रोही एवं उपद्रवी प्रवृत्तियों के कारण जयसिंह को उसके विरुद्ध स्वयं अभियान करना पड़ा। किन्तु उसके पूर्व ग्यारह बार उसकी सेनाओं को असफलताएँ ही हाथ लगीं थी, यह विश्वसनीय नहीं है। तथापि **प्रभावकचरित**[३] जैसे ग्रन्थों से यह जान पड़ता है कि स्वयं मैदान लेने के पूर्व जयसिंह कीर्त्तिपाल और मंत्री उदयन को नवधन के विरुद्ध भेज चुका था और युद्ध के पहले चक्र में नवधन ही विजयी हुआ। दूसरे चक्र में चौलुक्य सेनाओं को सफलता मिली, किन्तु उदयन मारा गया। इसके बाद कदाचित् जयसिंह स्वयं युद्धभूमि में उतरा और खंगार

---

१. उज्जैन अभिलेख, इऐ०, ज़िल्द ४२, पृष्ठ २५८।

२. मालवा की विजय के बाद जयसिंह ने अनेक नये विरुद धारण किये, यथा- त्रिभुवनगण्ड, त्रैलोक्यमल्ल, सिद्धश्चक्रवर्ती और अवन्तिनाथ। आसरि, पश्चिमी चक्र, सं० २, पृ० १३वाँ, तथा १९२१, पृ० ५४-५५; जराएसो०, बम्बई शाखा, जिल्द २५, पृ० ३२२-३२४।

३. अ० कु० मजुमदार द्वारा उद्धृत, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ६९

अपना अधिकार उठा लिया। ऐसा लगता है कि मालवा की आन्तरिक स्थिति खराब होने तथा उसके शासकों के कमजोर होने का पूर्ण लाभ उठाना जयसिंह ने अधिक लाभकारी माना। उस ओर अपना ध्यान स्वतंत्र और निर्बाधरूप में लगाने के लिए उसने अर्णोराज जैसे शक्तिशाली शासक[१] को मित्र बना लेना ही बुद्धिमानी समझी। जयसिंह ने अर्णोराज से अपनी मित्रता जीवन भर निभायी, जो जयानकभट्ट की इस सूचना से प्रमाणित होता है कि अजमेर के दरबार में जब आपसी विद्वेष फैलने लगा तो कांचनदेवी अण्हिलवाड़ चली गयी और उसका पुत्र सोमेश्वर वहीं पला।[२]

सिन्ध विजय

जयसिंह ने सिन्ध की भी विजय की। सोमेश्वर **कीर्त्तिकौमुदी** और **सुरथोत्सव** में सिन्धुराज पर जयसिंह **सिद्धराज** की विजय का उल्लेख[३] करता है। इसका समर्थन दोहद अभिलेख से भी होता[४] है। सिन्ध का यह पराजित शासक सुम्रा जाति का कोई मुसलमान सरदार रहा प्रतीत होता है।

जयसिंह का अन्य राज्यों से सम्बन्ध

बारहवीं शती के प्रथमार्ध में उत्तर भारतीय राजनीति की अनेक गतिविधियाँ परमार राज्य की कमजोरी से प्रभावित थीं। जयसिंह का प्रशासकीय अधिकार जब सम्पूर्ण दोहद प्रदेश (पंचमहाल) पर हो गया तथा अवन्ति की राजधानी धारा-उज्जैन पर भी उसका झण्डा फहराने लगा तो अवन्ति के उत्तर-पूर्व में गाहडवालों, पूर्व में चन्देलों, दक्षिण-पूर्व में कलचुरियों और दक्षिण में चालुक्यों से उसका सामना होने लगा। मालवा पर इन सबकी दृष्टियाँ लगी हुई थीं और जयसिंह **सिद्धराज** के उस पर अधिकार के कारण उससे उनके संघर्षों की सम्भावनाएँ उत्पन्न हो गयीं।

जैन लेखकों की रचनाओं से यह प्रतीत होता[५] है कि जयसिंह ने चन्देल राजा मदनवर्मा (११२९-११६३ ई०) को हराया और उससे कुछ धन वसूल किया।

---

१. अ० कु० मजुमदार (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ७१) का विश्वास है कि अर्णोराज जयसिंह से सम्बन्धित हो जाने पर जयसिंह की ओर से मालवराज नरवर्मा से लड़ा। किन्तु इसका समर्थक कोई स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

२. देखिए, पीछे अर्णोराज और सोमश्वर से सम्बद्ध प्रकरण।

३. कीर्त्तिकौमुदी, द्वितीय, २०।

४. इऐ०, जिल्द २०, पृष्ठ १५८-१६०।

५. कीर्त्तिकौमुदी, द्वितीय, ३३; कुमारपालभूपालचरित, प्रथम ४२; कुमारपालप्रबन्ध ७-८; प्रबन्धकोश, सिंधी जैन ग्रन्थमाला, पृष्ठ ९१।

वर्षों में भी वे अपनी पुरानी शत्रुता की परम्परा त्यागने को तैयार न थे। ऐसा प्रतीत होता है कि जयसिंह के मुकाबले अपनी कमजोरी का अनुमान लगाकर नाडोल के चाहमानों ने चुप्पी साध ली तथा आशाराज ने उसकी सेवा ग्रहण कर ली[१]। किन्तु शाकम्भरी का चाहमान शासक अर्णोराज अपने को जयसिंह से कम नहीं मानता था। उसने पहले तो उससे युद्ध किया किन्तु बाद में बराबरी की मित्रता कर ली।

जयसिंह और शाकम्भरी के चाहमान शासक अर्णोराज (११३०-११५० ई०) के सम्बन्धों का उल्लेख जैन लेखकों और जयानकभट्ट ने किया है। चाहमानों का अजयराज के समय से ही तुर्कों से कठोर मुकाबला रहा। अर्णोराज के समय तुर्कों ने नागौर पर थोड़े दिनों के लिए अधिकार कर लिया था। उनके वहाँ से हटने के बाद जयसिंह उस पर हावी हो गया[२]। अर्णोराज इस स्थिति को स्वीकार करने के लिए तैयार न रहा होगा और ऐसा जान पड़ता है कि इस स्थिति का अन्त करने के लिए उसने पहल की। जयसिंह भी युद्ध के लिए पूर्णतः तैयार रहा प्रतीत होता है। हेमचन्द्र कहता है कि अर्णोराज को जयसिंह के सामने नतमस्तक होना पड़ा। इसका समर्थन सोमेश्वर और मेरुतुंग भी करते हैं।[३] किन्तु विजय के बावजूद भी जयसिंह ने अर्णोराज को अपना मित्र बना लेने का निश्चय किया। **कीर्तिकौमुदी** से ज्ञात होता है कि उसने चाहमान राजा से अपनी पुत्री ब्याह[४] दी। **पृथ्वीराजविजय** पर जोनराजकृत टीका से भी ज्ञात होता है (पंचम, २९) कि अर्णोराज की दो रानियों में एक का नाम कांचनदेवी था, जो जयसिंह की पुत्री थी। **प्रबन्धचिन्तामणि** से यह भी ज्ञात होता[५] हैं कि जयसिंह ने अर्णोराज को सपादलक्ष के साथ 'अनेक लाख' भी दिये। 'अनेक लाख' का दान पुत्री के दहेज में दिया गया हो सकता है और सपादलक्ष दे देने का मतलब यह हो सकता है कि जयसिंह ने सांभर से

---

१. एइ०, जिल्द ११, पृ० ३२ तथा पृ० ३९। आशाराज ने जयसिंह की ओर से परमार शासक नरवर्मा के विरुद्ध युद्ध में भाग लिया। देखिए, एइ०, जिल्द ९, पृ० ७६, श्लोक २६-३०।

२. इऐ०, १९२९, पृ० २३४-२३६। प्रभावकचरित (देवसूरिचरित, श्लोक ७०-८०) से ज्ञात होता है कि जयसिंह वि० सं० ११७८ में नागौर पर अधिकृत था।

३. द्वयाश्रयकाव्य, १८वाँ, ८४-८६; सुरथोत्सव, १५वाँ, २२; प्रचिद्वि०, पृ० ९१।

४. कीर्त्तिकौमुदी, द्वितीय, २८।

५. 'हे सिद्धराज, नत हो जाने पर तो तुमने आणाक भूप को अनेक लाखों के साथ सपादलक्ष जैसा देश भी दे दिया और दृप्त ऐसे यशोवर्मा के पास मालव (मालव देश; श्लेषार्थ मा=लक्ष्मी का लव=लेशमात्र) का होना भी तुमने सहन नहीं किया। प्रचिद्वि, पृ० ९१।

वह गोविन्द्रचन्द्र (१११४-११५४ ई०) होना चाहिए। तथापि यह उल्लेख इस बात का सूचक है कि उस समय के इन दो सर्वप्रमुख भारतीय नरेशों के बीच काफी अच्छे राजनयिक सम्बन्ध थे।

यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है कि जयसिंह का कल्याणी के चालुक्यों से कैसा सम्बन्ध था। दोनों वंशों के अभिलेख एक दूसरे पर अपनी-अपनी विजय का दावा करते हैं। जयसिंह का तालवाड़ा अभिलेख कहता है कि उसने 'परमर्दि को चूर किया'[1]। इस परमर्दि की पहचान कल्याणी के चालुक्य शासक षष्ठ विक्रमादित्य से प्रायः की जाती है, जिसकी एक उपाधि **परमर्दिदेव** भी थी। किन्तु विक्रमादित्य का ११०५ ई० का अभिलेख उसके एक नायक की चोल, मालव और गुर्जरों पर विजय का दावा करता है तथा उसके दूसरे अभिलेख की सूचना है कि अनन्तपाल नामक चौलुक्य सेनापति ने गुर्जर के बल को छिन्न-भिन्न कर दिया[2]। लाट और गुर्जर पर विक्रमादित्य के अधिकार का यह दावा अन्य भी कई अभिलेखों में मिलता है। किन्तु उनमें कहीं भी यह स्पष्ट रूप से नहीं उल्लिखित है कि उसने जयसिंह **सिद्धराज** को हराया। यदि ऐसा होता तो उसे एक महत्त्वपूर्ण शत्रु की पराजय के रूप में वह अवश्य अंकित करवाता। सम्भव है कि सीमा पर दोनों के आपसी धावों और प्रतिधावों के कारण कुछ संघर्ष हुए हों और विक्रमादित्य कभी-कभी नर्मदा को पारकर लाट के क्षेत्रों में चढ़ गया हो। किन्तु इसका कोई स्थायी परिणाम हुआ, यह नहीं जान पड़ता।

साम्राज्य विस्तार और संस्कृति-संरक्षण

जयसिंह **सिद्धराज** अपने समय के महान् विजेताओं में अग्रणी था। वह पहला चौलुक्य शासक था, जिसने अपने राज्य की सीमाओं को गुजरात तथा कच्छ-कठिया-वाड़ से बाहर अवन्ति[3] और राजपूताना[4] के प्रदेशों तक विस्तृत किया। इन नवविजित प्रदेशों को उसने स्थायी रूप से अपने प्रशासन के भीतर किया और उन पर अपने

---

१. राजस्थान म्यूजियम् रिपोर्ट, १९१५, पृ० २।

२. एपिग्राफिया कर्नाटिका, जिल्द ७, १३७ (संस्कृत)।

३. देखिए, पीछे पृष्ठ ५१६-५२०।

४. दक्षिणी राजपूताना पर उसके अधिकार के प्रमाणस्वरूप उसके अनेक अभिलेख प्राप्त हैं, यथा—वि० स० ११८६ का भीनमाल (जोधपुर) अभिलेख, आसरि०, पश्चिमीं चक्र, १९०७-८, पृ० ३८; अतैथिक तालवाड़ा (बाँसवाड़ा क्षेत्र) अभिलेख, राजस्थान म्यूजियम् रिपोर्ट, १९१५, पृष्ठ २; वि० सं० १२०० का बाली (जोधपुर) अभिलेख, एइ०, जिल्द ११, पृष्ठ ३२-३३; सांभर अभिलेख, इऐ०, १९२९, पृष्ठ २३४-२३६।

प्रबन्धकोश के अनुसार महोबा के राजा को आनन्दरत[१] जानकर जयसिंह उसकी सीमाओं पर चढ़ गया और उसे आत्मसर्मपण के लिए संदेश भेजा। मदनवर्मा ने बिना[२] भयभीत हुए अपने मंत्रियों से कहा कि धन के लोभी उस आक्रमणकारी को वे कुछ धन दे दें और वह लौट जायगा। मदनवर्मा के मंत्रियों ने धन दे दिया। किन्तु उसकी यह प्रतिक्रिया जानकर जयसिंह आश्चर्यचकित रह गया और उससे मिलने हेतु उसने खबर भेजी। मदनवर्मा ने उसे राजमहल में बुलाया तथा उसका आतिथ्य-सत्कार किया। जयसिंह के पक्षपाती जैन लेखकों का यह सारा विवरण किसी सैनिक आक्रमण, युद्ध और संधि के तत्त्वों का प्रतिबिंबन करने की अपेक्षा बच्चों के खेल की तरह लगता है। इससे यह नहीं साबित होता कि जयसिंह ने मदनवर्मा को जीता। किन्तु चन्देल साक्ष्य कुछ और ही हैं। कालंजर के किले से प्राप्त एक चन्देल अभिलेख यह कहता है कि 'मदनवर्मा ने गुर्जर के राजा को एक क्षण में वैसे ही पराजित कर दिया जैसे कृष्ण ने कंस को किया था[३]।' मदनवर्मा की जयसिंह पर विजय की अनुश्रुति **पृथ्वीराजरासो** में भी प्राप्त होती है।[४] अतः उपर्युक्त परस्पर विरोधी साक्ष्यों से केवल इतना मात्र निर्णय किया जा सकता है कि दोनों पक्षों में सीमाओं पर कोई युद्ध हुआ तो अवश्य, किन्तु अन्ततः उनमें संधि हो गयी।

प्रबन्धकोश (पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ९९) कहता है कि जयसिंह ने 'दक्षिणापथ में महाराष्ट्र, तिलंग, कर्णाट, पाण्ड्य आदि राष्ट्रों को साधा'। इस उल्लेख का विश्वास नहीं किया जा सकता। तथ्य यह प्रतीत होता है कि सौराष्ट्र, कच्छ और गुजरात का निष्कण्टक स्वामी होने के बाद वह मालव-विजय की अपनी प्रमुख उपलब्धि को व्यर्थ के संघर्षों में पड़कर खोने को तैयार नहीं था। मेरुतुंग (प्रचिद्वि०, पृ० ७६) की यह सूचना सत्य के अधिक निकट प्रतीत होती है कि डाहल के राजा (यशःकर्ण, १०७३-११२३ ई०) ने **सिद्धराज** के यहाँ एक 'यमलपत्र' (मित्रता का प्रस्ताव) भेजा। प्रायः इसी प्रकार का मित्रसम्बन्ध जयसिंह ने गाहड़वालों से भी स्थापित किया। मेरुतुंग सूचित करता (प्रचिद्वि०, पृ० ८८) है कि जयसिंह का एक 'वाचाल **सांधिविग्रहिक**' काशी के राजा जयच्चन्द्र के दरबार में रहता था। किन्तु मेरुतुंग इस कथन में यह भूल करता है कि जयसिंह का समकालिक काशिराज जयच्चन्द्र (११७०-११९४ ई०) था। वास्तव में

---

१. इदं तु श्रुतम्—स नारीकुंजरः सभायां कदाषि नोपविशति। केवलं हसितललितानि तनोति। प्रत्यक्ष इन्द्रः ।। प्रबन्धकोश; सिंधी जैन ग्रन्थमाला, पृष्ठ ९१।

२. इस सन्दर्भ के प्रबन्धकोश के कुछ उद्धरणों के लिए पीछे देखिए, मदनवर्मा प्रकरण।

३. आसरि०, पश्चिमी चक्र, जिल्द २२, पृष्ठ ८६; जराएसो०, बेंगाल, जिल्द १७, पृष्ठ ३८१।

४. इऐ०, जिल्द ३७, पृष्ठ १४४।

जीवनपर्यन्त बना रहा। प्रजाजनों के साथ उदार और बराबरी के उसके व्यवहार के भी नमूने मिलते हैं। एक बार रंगशाला में नाटक देखते समय चना बेंचने वाला एक गरीब बनिया उसके कंधों पर हाथ रखे हुए निश्चिन्त भाव से नाटक देखने लगा। यहीं नहीं कि जयसिंह उससे अप्रसन्न नहीं हुआ, बल्कि पूर्ण प्रसन्न मुद्रा में अभिनय के बीच उसके हाथों से पान के बीड़े भी लेता रहा[१]। उसके बारे में लक्षाधिपतियों को क्रीडपति बना देने तथा सिंहपुर के ब्राह्मणों की करमुक्ति के उल्लेख[२] भोजपरमार की उदारताओं की किंवदन्तियों की ओर बरबस ध्यान दिलाते हैं।

जयसिंह **सिद्धराज** (जेसल) आजीवन शैव रहा। जैन ग्रन्थों से यह ज्ञात होता है कि शिव में अपनी अगाध भक्ति का परिचय देते हुए सिद्धपुर में उसने एक रुद्र महालय का निर्माण कराया; उसमें **अश्वपति, नरपति** और **गजपति** प्रभृति बड़े-बड़े राजाओं की मूर्तियाँ बनवाकर रखीं और उसके सामने हाथ जोड़ी हुई अपनी भी मूर्ति बनवायी। जैन लेखक कहते हैं कि उस मन्दिर पर ध्वजारोपण करते समय जैन प्रासादों की पताकाएँ उतरवा दी गयीं। ये उल्लेख यदि सही भी हों तो उनके अगले विवरणों से यह प्रमाणित[३] है कि शीघ्र ही हेमचन्द्र आदि के उपदेश से सभी धर्मों के प्रासादों और पताकाओं को समान रूप से देखते हुए वह सभी धर्मों के प्रति समान दृष्टि रखने लगा। ऐसा प्रतीत होता है कि श्वेताम्बर जैनाचार्य अपने उपदेशों और तीर्थंकरों की महत्ता को दिखाने के लिए अधिक आतुर थे और उस कारण ही वे शैव धर्मावलम्बी जयसिंह को कुछ पक्षपाती सिद्ध करना चाहते थे। किन्तु उसकी पक्षपातरहितता इस बात से प्रमाणित है कि श्वेताम्बर देवसूरि और दिगम्बर कुमुदचन्द्र के आपसी शास्त्रार्थ में वही निर्णायक माना गया और देवसूरि के विजयी हो जाने पर उसने स्वयं उसकी खूब ख्याति[४] बढ़ायी।

हेमचन्द्रकृत **द्वयाश्रयकाव्य** से ज्ञात होता (१५वाँ, ४२-४३) है कि जयसिंह सोमनाथ के दर्शन के साथ ही साथ नेमिनाथ के चैत्य का भी दर्शन करने गया था। उसकी धर्मनिरपेक्षनीति और सर्वधर्मसमानत्त्व का सबसे बड़ा उदाहरण मुहम्मद औफी देता[५] है। तदनुसार, कुछ हिन्दुओं (अग्निपूजकों) ने खम्भात में स्थित एक मस्जिद को

---

१. प्रचिद्वि०, पृष्ठ ८४।

२. वहीं, पृष्ठ ८४।

३. वहीं, पृ० ७२-७४, ८३-८४। हेमचन्द्र द्वयाश्रयकाव्य (१५वाँ, १५-१७) में कहता है कि रुद्रमहालय के अतिरिक्त जयसिंह ने एक चैत्य बनवाया तथा जैन भिक्षु-भिक्षुणियों के भोजन-वस्त्रों की व्यवस्था की।

४. प्रचिद्वि०, पृ० ७८-८२।

५. इलियट् ऐण्ड डाउसन्, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १६३-१६४।

प्रशासकों की नियुक्ति की। वंश के संस्थापक मूलराज ने सारस्वतमण्डल से आगे बढ़कर दक्षिण में सौराष्ट्र-कठियावाड़[१] के प्रदेशों को अपने अधिकार में करने का प्रयत्न किया था, किन्तु उसे पूरी सफलता नहीं मिली थी। यह कार्य जयसिंह ने बर्बरक और खंगार को जीतकर पूरा किया। लाट चौलुक्यों के अधिकार में कई बार आकर भी उनके हाथों से निकल गया था। जयसिंह **सिद्धराज** ने उसे भी अपने अधीन किया, जो दो संस्कृत ग्रन्थों की प्राचीन हस्तलिपियों से प्रमाणित[२] है। उनमें से एक के अंत में परिचयात्मक रूप में कथित है कि वह **महाराजाधिराज** श्रीजयसिंहदेव के शासन काल में सान्तुक के लाटदेश में शासन करते समय लिखी गयी तथा दूसरी में कहा गया है कि वह वि० सं० ११९८ में **महाराजाधिराज** श्रीजयसिंह के शासन के समय लिखी गयी।

जयसिंह एक दक्ष सेनानायक के साथ ही महान् प्रजाहितचिन्तक, कुशल प्रशासक एवं उदार संस्कृति-संरक्षक भी था। **महाराजाधिराज, परमभट्टारक, परमेश्वर** की उपाधियों के अतिरिक्त वह अपने को **अवन्तिनाथ, महासिद्धश्चक्रवर्ती, बर्बरकजिष्णु, त्रैलोक्यमल्ल** और **सिद्धराज** कहने में गर्व का अनुभव करता था। सिद्ध संवत् नामक एक नया संवत् चलाकर उसने यह बताया कि चौलुक्य इतिहास में वह अपने को युगनिर्माता मानता था। इसका प्रवर्त्तन वर्ष १११३-१११४ ई० में हुआ था। उसका एक अभिलेख (अत्रु अभिलेख, सिंद्ध सं० १४, आसरि०, पश्चिमी चक्र, १९०५-६, पृष्ठ ५६-५७) इस सम्वत् में मिलता है। आगे कुमारपाल ने भी अपने कई अभिलेखों में इसका उपयोग किया।

सोमनाथ के दर्शन के लिए जाने वाले तीर्थयात्रियों पर बाहुलोड़नगर में लगनेवाले तीर्थयात्रीकर की समाप्ति जयसिंह के प्रशासनिक कार्यों में कदाचित् सर्वप्रथम था। मयणल्लादेवी की सोमनाथ यात्रा के विवरण के माध्यम से मेरुतुंग इसका जो विवरण[३] देता है, उससे यह ज्ञात होता है कि राज्य के पंचकुल (कर वसूल करने वाले राजपुरुष) बड़ी कड़ाई से इसे वसूल करते थे। और अनेक गरीब तीर्थयात्री इसे न दे सकने के कारण बिना दर्शन के वापस लौटने को विवश हो जाते थे। यद्यपि इस कर से राजकोष को प्रतिवर्ष ७२ लाख की आय थी, जयसिंह ने यात्रियों की दिक्कतों का ध्यानकर इसकी वसूली रोक दी। सोमनाथ के प्रति सच्ची भक्ति और प्रजावत्सलता का यह भाव उसमें

---

१. वि० सं० ११९३ के उसके दो अभिलेख गला (उत्तर पूर्वी काठियावाड़ का ध्रांग्ध्रा का क्षेत्र) से मिले हैं। देखिए, जराएसो०, बम्बई शाखा, जिल्द २५, पृष्ठ ३२२-३२४ और एइ०, जिल्द १९, सं० २३७ (परिशिष्ट)।

२. अ० कु० मजुमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ८२-८३ तथा नोट ९१-९२।

३. प्रचिद्वि०, पृष्ठ, ६८-६९।

आपसी झगड़ों के बाद गिरा दिया और कुछ मुसलमानों को मार डाला। खुतबा पढ़ने वाले खतीब अली ने जयसिंह से इसकी शिकायत की। उसने गुप्तरूप से स्वयं जाकर शिकायत को सही पाया तथा दोषियों को दण्डित करने के साथ ही मस्जिद बनवाने के लिए एक लाख 'बालोत्र' अपने खजाने से दिया। औफी कहता है कि उसने ऐसा वृत्तान्त पहले कभी नहीं सुना था।

जयसिंह **सिद्धराज** विद्या और संस्कृति का महान् उन्नायक था। इस सम्बन्ध में एक अत्यन्त रोचक उल्लेख यह मिलता[1] है कि जब वह मालवा की विजय में सफल हुआ तो वहाँ से गुजरात लौटते समय भोज परमार की अनेक पुस्तकों की हस्तलिपियाँ लाया। अपने दरबार में उन ग्रन्थों का प्रदर्शन करते हुए उसकी यह जानने की उत्कट इच्छा हुई कि क्या गुजरात का भी कोई लेखक **सरस्वतीकण्ठाभरण** जैसा विशिष्ट व्याकरण ग्रन्थ लिख सकता है ? हेमचन्द्र ने वह गुरुत्तर कार्य अपने ऊपर लिया। उसके कहने पर उसने कश्मीर से वे आठ व्याकरण ग्रन्थ भी मंगाये जो पूर्णरूप में केवल वहीं मिलते थे। हेमचन्द्र ने उन सबसे बढ़िया एक व्याकरण तैयार किया तथा अपने नाम के साथ राजा का नाम (पहले) देते हुए उसे **सिद्धहेम** कहा। जयसिंह ने स्वयं उसकी उत्कृष्टता स्वीकार करते हुए उसकी पूजा की। **सिद्धहेम** की विशेषताओं से वह इतना प्रभावित हुआ कि एक विशाल हाथी पर अण्हिलवाड़ में हेमचन्द्र की सवारी निकाली गयी और सारे देश में उस ग्रन्थ की प्रतियाँ बाँटी गयीं। हेमचन्द्र की प्रतिष्ठा दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ने लगी और उसने राजा के प्रति अपनी कृतज्ञता अर्पित करने के लिए उसके और उसके वंश के प्रशंसक और उसके इतिहास की जानकारी देने वाला **द्वयाश्रयकाव्य** नामक एक अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा। हेमचन्द्र के अतिरिक्त जयसिंह के दरबार में कुमारपाल की वाडनगरप्रशस्ति का रचयिता श्रीपाल रहता था, जिसे **सिद्धराज** अपना भाई और **कविचक्रवर्ती** अथवा **कवीन्द्र** कहता था। **वैरोचनपराजय** उसकी दूसरी रचना है। हेमचन्द्र का शिष्य रामचन्द्र उस समय का एक अन्य प्रसिद्ध विद्वान था, जिसने अनेक नाटकों और काव्यों की रचना की। **कविशिखा** का लेखक आचार्य जयमंगल, **मुद्रितकुमुदचन्द्र** नाटक का रचयिता यशश्चन्द्र और प्रसिद्ध श्वेताम्बर विद्वान् देवसूरि भी जयसिंह के समकालिक थे। इन विद्वानों ने जैन धर्म और जैन दर्शन को पश्चिमी भारत में उस समय अग्रणी बना दिया।

---

१. प्रभावकचरित, २२वाँ, ७४-११५। प्रबन्धचिन्तामणि (द्विवेदी, पृष्ठ ७१-७२) में सिद्धहेम की रचना के मूल में जैनों का यह आत्मविश्वास गर्व के साथ दिखाया गया है कि जैन विद्वान् ब्राह्मणों से दर्शन, साहित्य एवं व्याकरण के ज्ञान और उनकी रचना में आगे थे। ब्यूलर ने उसकी रचना की तिथि वि० सं० ११९७ निश्चित की है। देखिए, लाइफ् ऑफ् हेमचन्द्र, पृ० १८।

जयसिंह **सिद्धराज** एक महान् वास्तुनिर्माता भी था। सिद्धपुर में रुद्रमहालय नामक विशाल शिवप्रासाद के निर्माण की चर्चा पीछे की जा चुकी है। उसका सर्वप्रमुख वास्तु सहस्रलिंग सरोवर था, जिसके चारों ओर शिवलिंगों से युक्त १००८ मंदिर थे। उसके सामने अपनी विजयों और अन्य उपलब्धियों का द्योतक एक कीर्त्तिस्तम्भ भी उसने निर्मित कराया[१]। सरस्वती नदी के किनारे दशावतारनारायण के मन्दिर तथा छात्रावासों के निर्माण उसकी अन्य प्रमुख कृतियों में थे।

कुमारपाल (लगभग ११४३-११७२ ई०) : चौलुक्य सत्ता का चरमोत्कर्ष

राज्यारोहण के पूर्व का जीवन

जयसिंह सिद्धराज को कोई पुत्र नहीं था। जैन ग्रन्थों में प्रायः कहा गया है कि वह और उसकी प्रजा इस स्थिति में बहुत दुःखी थी तथा सभी देवताओं और तीर्थक्षेत्रों में पुत्रलाभ के लिए वह पूजा तो किया ही करता था, एक बार हेमचन्द्र ने भी तदर्थ सोमनाथ की पूजा की। कहा गया है कि कुमारपाल के शरीरांगों को देखकर वह यह समझ गया था कि वह (कुमारपाल) चक्रवर्ती राजा होगा। ज्योतिषियों ने भी वैसा ही कहा[२] था। किन्तु कुमारपाल की हीनोत्पत्ति[३] के कारण यह सम्भावना जयसिंह को सह्य नहीं थी। भविष्य की इस शंका से शंकित होकर उसने कुमारपाल के पिता त्रिभुवनपाल का वध कर डाला और कुमारपाल को भी मार डालने की इच्छा से पकड़ने की आज्ञा दे दी। कुमारपाल अपना प्राण बचाकर भागा और गुजरात के विभिन्न नगरों, गाँवों और जैन विहारों में शरण लेने के लिए छिपता रहा। हेमचन्द्र जैसे प्रसिद्ध जैनियों, कान्हदेव जैसे सेनापति और उदयन जैसे राज्यमंत्री ने तो छिपने में उसकी सहायता की ही, साधारण ग्राम और नगरवासियों ने भी गाढ़े अवसरों पर उसकी मदद की। तथापि राजपुरुषों द्वारा पीछा किये जाने से जब उसका चौलुक्य राज्य में छिपे रहना दूभर हो गया तो वह अवन्ति, कांची, चित्रकूट और कोल्हापुर गया। किन्तु अन्त में पुनः अवन्ति आकर टिक गया। सात वर्षों तक अपने प्राण बचाने के लिए निरन्तर भागते रहने के बाद वह चुपके से

---

१. द्वयाश्रयकाव्य, १५वाँ, ११४-११५; ऐन्युअल् रिपोर्ट ऑफ् दि, आर्केलॉजिकल् डिपार्टमेण्ट, बड़ौदा स्टेट, १९३४-३५, पृष्ठ ८; प्रचिद्वि०, पृष्ठ ७३-७४।

२. इऐ०, जिल्द ४, पृष्ठ २६७; कुमारपालभूपालचरित, तृतीय १-५०।

३. भीम प्रथम की दो रानियाँ थीं। एक थी उदयमति, जिसका पुत्र कर्ण और पौत्र जयसिंह था। दूसरी बकुलादेवी थी, जो कभी वेश्या रह चुकी थी। उसकी वंश-परम्परा में पिता-पुत्र के क्रम से क्रमशः क्षेमराज देवप्रसाद, त्रिभुवनपाल और कुमारपाल हुए। कहीं-कहीं इन नामों में भिन्नताएँ भी मिलती हैं। देखिए, हेमचन्द्रराय, डाहिनाइ०, जिल्द २, पृष्ठ ९७५ और पादटिप्पणी १।

अण्हिलवाड़ पहुँचा, जहाँ उसे सूचना मिली कि जयसिंह अकस्मात् ही मर गया है। तत्पश्चात् उसने मन्त्री उदयन और कान्हड़देव नामक अपने बहनोई सेनापति की सहायता से चौलुक्य राजगद्दी प्राप्त कर ली[१]।

किन्तु कुमारपाल के राजकीय जीवन और उसकी दिनचर्याओं की पूरी सूचना देने वाला हेमचन्द्र उसके प्रारम्भिक जीवन और जयसिंह के भय से भागने, छिपने और सतत् यात्रा करते रहने का कोई उल्लेख नहीं करता। आखिर हेमचन्द्र ने यह चुप्पी क्यों साध ली? इस सम्बन्ध में यह दलील दी गयी है कि चूँकि हेमचन्द्र स्वयं कुमारपाल के प्रारम्भिक जीवन का प्रमुख निर्माता था और उसके इतिहास में उसका (हेमचन्द्र का) कदाचित् सर्वप्रमुख योग था, वह उसकी चर्चा नहीं करना चाहता था। कदाचित् कुमारपाल की हीनकुलोत्पन्नता का स्मरण कराना हेमचन्द्र के लिए सम्भव नहीं था। जो भी हो, बाद के लेखकों के विवरण वास्तविक इतिहास के आधार पर खड़े होते हुए भी पूर्णतः सन्देहरहित दृष्टि से नहीं देखे जा सकते। वास्तव में भीम के शासन के अन्तिम दिनों से ही राजदरबार में सत्ता के लिए कुछ आपसी प्रतिस्पर्द्धा सी प्रारम्भ हो गयी प्रतीत होती है। भीम की दोनों रानियों में बकुलादेवी जेठी थी और उसका पुत्र क्षेमराज भी जेठा था। ऐसी स्थिति में उसका त्याग और कर्ण का राजा होना कुछ अस्वाभाविक सा था[२]। इस दृष्टि से देखने पर क्षेमराज के प्रपौत्र कुमारपाल का चौलुक्य राजगद्दी का अधिकार जयसिंह से कहीं अधिक जोरदार था।

ऐसा प्रतीत होता है कि जयसिंह और कुमारपाल का पारस्परिक अविश्वास एवं जयसिंह के पुत्र न होने की स्थिति ही जैन लेखकों के विवरणों के मूल में थी। किन्तु जयसिंह द्वारा उदयन के पुत्र बाहड़ को गोद[३] लेना तथा कुमारपाल के पिता त्रिभुवनपाल का वध जनता को प्रिय न था। कुमारपाल के राजगद्दी के दावे को उदयन (मंत्री) और सेनापति कान्हड़देव (कृष्णदेव) सहित राज्याधिकारियों का एक शक्तिशाली वर्ग तो स्वीकार करता ही था, हेमचन्द्र के नेतृत्त्व में प्रभावशाली जैन वर्ग का भी समर्थन उसे प्राप्त था।

कुमारपाल के राजगद्दी पर अधिकार करते समय की घटनाओं का जो विवरण जैन

---

१. विभिन्न जैन ग्रन्थों में कुमारपाल के राजा होने के पूर्व के जीवन के बारे में थोड़े-बहुत अन्तर अवश्य हैं, किन्तु मूलतः सभी वर्णनों का स्वरूप एक ही है। देखिए, प्रचिद्वि०, पृष्ठ ९३-९५; प्रभावकचरित, २२वाँ, ३५६-४१७; कुमारपालभूपाल-चरित, तृतीय, २३-४७५।

२. देखिए, पीछे पृष्ठ ५१५-५१६।

३. प्रचिद्वि०, पृष्ठ ९२, ९५।

ग्रन्थ देते हैं, वह पूर्णत: विश्वास्य नहीं प्रतीत होता । हेमचन्द्र की यह भविष्यवाणी सत्य नहीं थी कि कुमारपाल वि० सं० ११९९ में राज्याभिषिक्त होगा । जयसिंह के वि० सं० १२०० के बाली अभिलेख से यह प्रमाणित है कि उस वर्ष तक वह जीवित था । कुमारपाल के एक गुहिलोत सामन्त के मंगरोल से प्राप्त होने वाले वि० सं० १२०२ के एक अभिलेख तथा वेरावल प्रशस्ति से यह भी आभासित होता है कि उसका राज्यारोहण शान्त रूप से नहीं हुआ । उन दोनों में राजसिंहासन के लिए उसके जल्दी करने का उल्लेख (आचक्राम झटिति तद्राज्यसिंहासनं) है । इनसे यह निष्कर्ष निकाला गया[1] है कि जयसिंह की मृत्यु सहसा ही हुई और उसके बाद राज्याधिकार के लिए कुमारपाल ने बलप्रयोग किया । उस समय उसकी अवस्था लगभग ५० वर्ष की थी ।

राज्याभिषिक्त हो जाने के बाद भी कुमारपाल चौलुक्य गद्दी के अन्य दावेदारों से पूरी तरह निश्चिन्त नहीं हुआ । मेरुतुंग बताता है[2] है कि उसके अधिकार से अप्रसन्न कुछ राजभृत्यों (राजवृद्धों) ने उसे मार डालने की योजना बनायी । किन्तु अपने गुप्तचरों द्वारा उसे जानकर उसने षडन्यत्रकारी मंत्रियों को ही मरवा डाला । कान्हड़देव भी उसके क्रोध का शिकार हुआ और पहलवानों द्वारा उसके अंगों को शून्य कराकर एवं अन्धाकर उसे अपने घर भेज दिया गया । कुमारपाल को यह बात बहुत अच्छी नहीं लगती थी कि उसकी पुरानी विपन्न अवस्थाओं को जाननेवाला कान्हड़देव उस पर अपना प्रभाव स्थापित करने के लिए अपनी पुरानी सहायताओं को उसे याद दिलाया करे । किन्तु अपने उस सगे बहनोई और राज्याधिकार के संघर्ष के समय के अपने प्रमुख सहायक को अपमानित कर दु:खद शारीरिक स्थिति में डालना कुमारपाल की कृतघ्नता का द्योतक है । किन्तु राज्यों पर बलात् अधिकार करने वालों का प्राय: यह नियम सा होता है कि वे अपने पद, प्रतिष्ठा और शक्ति में किसी प्रकार की कमी करने वाला कोई भी तत्त्व बर्दाश्त नहीं करते । कान्हड़देव के प्रति यह व्यवहार अन्यों के लिए उदाहरण बन गया और प्रशासन के समस्त वर्ग भयभीत होकर कुमारपाल की सेवा में लग गये । इन सारी घटनाओं के बीच उदयन उसका विश्वास प्राप्त किये रहा तथा मुख्य मंत्री बनाया गया । उसके तीन राजभक्त पुत्रों को भी कुमारपाल ने उँचे पद दिये । भोपल्लदेवी पट्टरानी घोषित की गयी और कुमारपाल विजेता के पथ पर अग्रसर हुआ ।

अर्णोराज का आक्रमण और कुमारपाल का प्रत्याक्रमण

राज्यासन ग्रहण करने के बाद कुमारपाल का प्रथम युद्ध उसके उत्तराधिकार के संघर्ष से ही सम्बद्ध था । उदयन (मंत्री) के एक पुत्र चाहड़ को जयसिंह ने गोद

---

१. अ० कु० मजुमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ९९ ।

२. प्रचिद्वि०, पृष्ठ ९५ ।

(प्रतिपन्नपुत्र) ले रखा था[१] । चाहड़ घूस आदि से कुछ चौलुक्य सेना एवं सामन्तों को अपने साथकर शाकम्भरी के चाहमान शासक अर्णोराज को भी अपनी ओर मिला लेने में सफल हो गया और दोनों ने चौलुक्य सीमाओं पर आक्रमण कर दिया । किन्तु चाहमान-चौलुक्य युद्ध के ब्यौरों के सम्बन्ध में अलग-अलग जैन लेखक अलग-अलग बातें कहते हैं । यदि हेमचन्द्र का विश्वास किया जाय तो यह प्रतीत होगा कि अर्णोराज ने गुजरात पर आक्रमण करने के पूर्व चौलुक्य क्षेत्रों के दक्षिण के राजाओं को उस पर चढ़ाई कर देने के लिए तैयार कर रखा था तथा पूर्व (मालवा) की ओर से बल्लाल नामक राजा ने भी उसके साथ आक्रमण किया था । किन्तु इस सम्बन्ध में हेमचन्द्र की अधिकांश सूचनाएँ कल्पित प्रतीत होती हैं । इतना सत्य जान पड़ता है कि चाहड़ और अर्णोराज गुजरात की सीमाओं पर कहीं आबू के पास युद्ध के लिए डटे । किन्तु कुमारपाल की सैनिक दक्षता के कारण वे पराजित हुए । प्रभाचन्द्र की सूचना है कि कुमारपाल इतने ही से संतुष्ट नहीं हुआ और अर्णोराज का पीछा करते हुए उसने उसकी राजधानी अजमेर तक ग्यारह बार असफल धावे किये । बारहवीं बार चारुभट भी उसकी ओर मिल गया और वह अर्णोराज को हराने में सफल हुआ[२] । विद्वानों की मान्यता है कि प्रथम युद्ध के छह-सात वर्षों बाद (वि० सं० १२०७ में) युद्ध का एक दौर और चला । हेमचन्द्र और मेरुतुंग के बाद के जैन लेखक[३] इसके कारणों के बारे में यह बताते हैं कि एक समय शतरंज का खेल खेलते अर्णोराज ने अप्रसन्न होकर अपनी रानी देवल्लदेवी को लात मारते हुए ढकेल दिया । वह भाई कुमारपाल के यहाँ जाकर अर्णोराज से बदला लेने को उसे प्रेरित करने लगी । दीवान बहादुर हरविलास शारदा का मत[४] है कि पहले युद्ध में कदाचित् हार जाने के बाद कुमारपाल ने अपनी बहिन देवल्लदेवी को अर्णोराज से ब्याह दिया था । यह मत अनेक विद्वानों को मान्य नहीं है । डॉ० दशरथ शर्मा अनेक प्रमाणों द्वारा यह साबित[५] करते हैं कि न तो कुमारपाल को देवल्लदेवी नामक कोई बहिन थी और न उस नाम की अर्णोराज की कोई रानी ही थी । उनके मत में देवल्लदेवी के तिरस्कार वाली कहानी बाद के लेखकों ने अपने मन से भ्रमवश गढ़ ली और वह यदि सही होती तो हेमचन्द्र उसका उल्लेख अवश्य करता । लगता है

---

१. प्रचिद्वि०, पृष्ठ ९५-९६ ।

२. प्रभावकचरित, २२वाँ, ४१७ और आगे ।

३. देखिए, कुमारपालभूपालचरित, चतुर्थ, १७२-२१२; राजशेखर, कुमारपालप्रबन्ध (प्रबन्धकोश, पृष्ठ ५२) ।

४. स्पीचेज् ऐण्ड राइटिंग्स्, पृष्ठ २८५-२८६ ।

५. अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृष्ठ ५०-५१ ।

कि कुमारपाल राजगद्दी पर बैठते समय गुजरात के संघर्षों में अर्णोराज का हस्तक्षेप भूलने को तैयार नहीं था और वह भी मौके की तलाश में उसी तरह था जैसे अर्णोराज। इस सम्बन्ध की सारी चर्चाएँ केवल जैन लेखकों से ही प्राप्त होती हैं, जो कुमारपाल के पक्षपाती थे। वे स्वभावत: बहुत बढ़ा-चढ़ाकर उसकी सफलताओं का उल्लेख करते हैं। चाहमान साक्ष्यों में इन युद्धों का कोई उल्लेख नहीं है, जिससे तथ्यनिर्धारण की कठिनाई बहुत बढ़ जाती है। यह भी जान पड़ता है कि जैन ग्रन्थों ने उपर्युक्त दोनों युद्धों के ब्यौरों को एक साथ मिला दिया है। परिणामत:, तत्सम्बन्धी भ्रम बहुत बढ़ गये हैं। इन कठिनाइयों के कारण इन युद्धों के ब्यौरों का स्वरूप ठीक-ठीक निश्चित नहीं किया जा सकता। जैन ग्रन्थों का यह कथन कि संघर्ष १२ वर्षों तक चलता रहा, इस बात की ओर निर्देश करता है कि संघर्ष लम्बा था। कदाचित् कुमारपाल और अर्णोराज में द्वन्द्व-युद्ध भी हुआ था। किन्तु अन्त में कुमारपाल को ही सफलता मिली और अर्णोराज को अपनी पुत्री जल्हणादेवी का विवाह कुमारपाल से कर सन्धि मोल लेनी पड़ी। कुमार-पाल की इन विजयों का उल्लेख उसके अभिलेखों एवं अन्य ग्रन्थों में भी हुआ[१] है। वह **निजभुजरणांगणविनिर्जित शाकम्भरीभूपाल** का विरुद नियमत: धारण करता था[२]।

चतुर्थ विग्रहराज का आक्रमण

आगे भी कुमारपाल की सबसे प्रमुख भिड़न्तें चाहमानों से ही हुईं। आबू के परमारों और नड्डुल के चाहमानों के प्रति उसकी नीति तथा उसके आन्तरिक मामलों में उसके हस्तक्षेप भी शांकभरी के चाहमानों से होने वाले उसके संघर्षों से ही प्रेरित थे। ऊपर हम देख चुके हैं कि उसके शासन के प्रारम्भिक दशक में अर्णोराज से उसके जो संघर्ष हुए, उनमें उसी का पल्ला भारी रहा। किन्तु चतुर्थ विग्रहराज के अजमेर की राज-गद्दी पर आने (११५० ई०) के साथ दोनों वंशों के बीच की शक्ति का लोलदण्ड चाह-मानों की ओर झुक गया। अर्णोराज को हराकर कुमारपाल ने आबू और नड्डुल में अपने मनोनुकूल सामन्तों की नियुक्ति की थी। नड्डुल में क्रमश: सहजपाल, अल्हण, **दण्डाधीश** वैजल्लदेव और कुन्तपाल ने चौलुक्यों की ओर से दण्डनायकों के रूप में शासन

---

१. वाडनगर प्रशस्ति, एइ०, जिल्द १, पृ० २९३-३०५; वेरावल प्रशस्ति, जराएसो०, बम्बई शाखा, जिल्द ८, पृ० ५९ और आगे; चित्तौड़गढ़ अभिलेख, एइ०, जिल्द २ पृ० ४२१-४२४; वसन्तविलास, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरिज, तृतीय २९; वस्तुपालतेज:पालप्रशस्ति, पंचम २५; सुकृतकल्लोलिनी, पंचम, ६१।

२. अ० कु० मजुमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १०८-१०९।

किया[१] । चित्तौड़गढ़ पर सज्जन नामक उसका दूसरा सामन्त नियुक्त था । वि० सं० १२०७ के चित्तौड़ से प्राप्त होने वाले उसके अभिलेखों में कहा गया है कि सपादलक्ष को लूटकर कुमारपाल ने चित्तौड़ के पास शालिपुर में अपना खेमा डाला[२] । सम्भवतः इसी के बाद उसने वहाँ सज्जन[३] की नियुक्ति की । किन्तु चाहमान शासक चतुर्थ विग्रहराज (११५०-११६४ ई०) को यह स्थिति सह्य नहीं थी और उन क्षेत्रों से चौलुक्य सत्ता हटाने के लिए उसने युद्ध छेड़ दिया । उसने सज्जन पर आक्रमण कर उसे मार डाला[४] । सोमेश्वर का बिजोलिया अभिलेख सज्जन को 'पृथ्वी पर सबसे बड़ा असज्जन' कहता है । आगे उसी अभिलेख[५] में कहा गया है कि विग्रहराज ने शौर्यपूर्वक 'प्रसन्न होकर जावालिपुर को ज्वालापुर बना दिया (जला दिया), पल्लिका (पाली) को एक तुच्छ ग्राम बना दिया और नड्डुल को नड्वलतुल्य (बेंत की तरह) झुका दिया' । ये सारे क्षेत्र कुमारपाल की या तो अधिसत्ता स्वीकार करते थे अथवा प्रत्यक्ष प्रशासन में रह चुके थे । अतः चतुर्थ विग्रहराज का दबाव उसी के विरुद्ध प्रेरित था । जयसिंह सूरि कहता[६] है कि विग्रहराज ने गुजरात पर आक्रमण करते समय सबसे पहले जालोर (जावालिपुर) जीता । डॉ० दशरथ शर्मा का विश्वास (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ०५७-५८) है कि उसने कुन्तपाल नामक किसी अन्य चौलुक्य सामन्त को भी जीता, जो नाडोल के चाहमान कुल का ही

---

१. दशरथ शर्मा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ५७-५८ तथा १३३-१३४, हेमचन्द्र राय, डाहिनाइ०, जिल्द २, पृ० ९८८ ।

२. एइ० जिल्द २, पृष्ठ ४२१-४२४ ।

३. अ० कु० मजुमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १०९; दशरथ शर्मा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ५७-५८ ।

४. बिजोलिया अभिलेख के सम्पादक श्री अक्षयकीर्त्ति व्यास ने इस सज्जन की पहचान (एइ०, जिल्द २६, पृ० १०५, श्लोक २०) सुराष्ट्र के उस दण्डाधिप (वि० सं० ११७६) से की, जिसे जयसिंह सिद्धराज ने खंगार की विजय के बाद सुराष्ट्र (गिरनार) का गवर्नर नियुक्त किया था । इस आधार पर वे विग्रहराज की विजय सौराष्ट्र तक मानते हैं । अ० कु० मजुमदार (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १०९) यह कहते हैं कि सज्जन सुराष्ट्र से चित्रकूट में कुमारपाल द्वारा स्थानान्तरित कर दिया गया था । किन्तु दशरथ शर्मा (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ५७) ने उसकी पहचान उस कुम्भकार से की है, जिसकी सेवाओं से प्रसन्न होकर कुमारपाल ने उसे चित्रकूट का दण्डनायक नियुक्त कर दिया था ।

५. जावालिपुरं ज्वालापुरं कृता पालिकापि पल्ली इव नड्वलतुल्यंरोषान्नद्दूलं येन-शौर्यण । एइ०, जिल्द २६, पृ० १०५, श्लोक २१ ।

६. कुमारपालभूपालचारित (उद्धृत, दशरथशर्मा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ५७, नोट) ।

कोई प्रतिनिधि था। इन विजयों द्वारा विग्रहराज ने कुछ दिनों के लिए मेवाड़-मारवाड़ में पड़ने वाले चाहमान-चौलुक्य सीमा के उन क्षेत्रों को अपने अधिकार में अवश्य कर लिया होगा। उन क्षेत्रों के बिजोलिया, मण्डलगढ़ और जहाजपुर से अनेक चाहमान अभिलेख प्राप्त हुए हैं। साथ ही, अजमेर संग्रहालय में रखी हुई अजमेर प्रशस्ति[१] भी इस बात का समर्थन करती है कि विग्रहराज ने कुमारपाल को हराया। उसमें कहा गया है कि 'कुमारपाल को उसने करवलपाल' बना दिया, जो हीनता का सूचक प्रतीत होता है। इन प्रमाणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि अर्णोराज को हराकर कुमारपाल ने अपने शासन के प्रारम्भिक वर्षों में जो प्रतिष्ठा बनायी थी, उसे विग्रहराज ने समाप्त कर दिया। किन्तु यदि मेरुतुंग का साक्ष्य[२] देखा जाय तो यह प्रतीत होगा कि आगे कुमारपाल और चतुर्थ विग्रहराज के बीच एक प्रकार का समझौता सा हो गया, जिसके अनुसार एक चाहमान **सांधिविग्रहिक** चौलुक्य राजदरबार में रहने लगा। ऐसा लगता है कि नाडोल और जालोर के आसपास के जिन क्षेत्रों को विग्रहराज ने ले लिया, उन्हें छीनने का प्रयत्न कुमारपाल ने नहीं किया। किन्तु मेवाड़-मारवाड़ में जो अन्य क्षेत्र उसके अधिकार में थे, उन पर विग्रहराज ने अपनी आँख नहीं उठायी और उस दिशा से मुख फेरकर उत्तर की ओर विजयोन्मुख हो गया।

बल्लाल पर आक्रमण और उसका वध

कुमारपाल चौलुक्य की मालवराज बल्लाल से संघर्षों की अनेक चर्चाएँ साहित्यिक ग्रन्थों और अभिलेखों में आती हैं। हेमचन्द्र के **द्वयाश्रयकाव्य**[३] से ज्ञात होता है कि कुमारपाल के विरुद्ध अर्णोराज ने जिन अनेक राजाओं को आक्रमण के लिए आमन्त्रित किया था, उनमें बल्लाल भी शामिल था। किन्तु वास्तविक युद्ध में उसे सम्मिलित हुआ नहीं बताया गया है। अर्णोराज को हराकर कुमारपाल बल्लाल के विरुद्ध चला। बल्लाल पर उसके आक्रमण के कई कारण थे। एक तो वह बल्लाल का अर्णोराज से मित्र-सम्बन्ध बर्दाश्त करने को तैयार नहीं था और दूसरे जयसिंह **सिद्धराज** द्वारा जीते जाने के कारण मालवा पर उसने अपना अधिकार समझते हुए बल्लाल को वहाँ से हटाने का निश्चय कर लिया था। उस पर आक्रमण का तात्कालिक कारण यह था कि उसके विरुद्ध प्रतिरक्षात्मक रूप में नियुक्त किये गये कुमारपाल के विजय और कृष्ण नामक सेनापति भी उससे मिल गये[४]। कुमारपाल ने अपने ब्राह्मण सेनापति कक, आबू

---

१. 'कुमारपालः करवलपालः'। दशरश शर्मा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १८१ पर उद्धृत।

२. प्रचिद्वि०, पृ० १०९।

३. द्वयाश्रयकाव्य, सोलहवाँ, १४ और उन्नीसवाँ, १३।

४. वहीं, १९वाँ ९८ और उसकी टीका।

के परमार सामंत यशोधवल औद नड्डुल के चाहमान सामन्त आल्हण को उसके विरुद्ध युद्ध के लिए भेजा। यशोधवल[१] और आल्हण[२] दोनों ही कुमारपाल की ओर से बल्लाल को मार डालने का दावा करते हैं। वि० सं० १२०८ की वाडनगर[३] की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि 'मालवराज का सिर कुमारपाल के महल के दरवाजे पर टाँग दिया गया'। ऐसा अनुमान किया गया है कि बल्लाल के युद्ध में पराजित होकर मारे जाने की तिथि ११५०-११५१ ई० रही होगी। उसके फलस्वरूप मालवा पुनः एक बार चौलुक्य अधिकार में आ गया। उसके पूर्वी भागों पर कुमारपाल के महासाधनिक और लुण-वसक नामक दो राज्यपालों की जानकारी उदयपुर से प्राप्त उसके दो अभिलेखों से होती है[४]।

किन्तु प्रश्न यह उठता है कि बल्लाल था कौन? धारा की परमार-वंशावली में उसका नाम न मिलने के कारण विद्वानों में उसकी पहचान को लेकर बड़ा मतभेद है। गुजरात के इतिहास से सम्बद्ध अभिलेख और जैन ग्रन्थ उसे स्पष्ट रूप से मालवा अथवा धारा का शासक कहते हैं। कुछ के मत में वह कोई स्थानीय सरदार था, जिसने तत्कालीन मालवा की अशान्त परिस्थितियों में उसपर अधिकार कर लिया[५]। नवीनतम[६] अनुमान यह है कि उसका बल्लाल नाम होयसलों से उसका सम्बन्ध प्रदर्शित करना है, तथा वह जयवर्मन् के समय (११४२-११४३ ई०) मालवा पर आक्रमण करने वाली सेना के साथ आया था और वहीं शासक बनकर रह गया।

आबू और किरादू के परमारों की अधीनता

परमारों की एक छोटी सी शाखा आबू पर शासन करती थी। चौलुक्य साक्ष्यों[७] से ज्ञात होता है कि अर्णोराज के विरुद्ध अभियान करते समय कुमारपाल आबू में रुका था,

---

१. एइ०, जिल्द ८, पृ० २१।

२. दशरथ शर्मा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १८६।

३. एइ०, जिल्द १, पृ० २९, श्लोक १५; वसन्तविलास (तृतीय, २९) और कीर्त्ति-कौमुदी भी बल्लाल पर कुमारपाल की विजय और उसके वध का उल्लेख करते हैं।

४. इऐ०, जिल्द १८, पृ० ३४१-३८३।

५. अ० कु० मजुमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ४५४-४५५; लूडर्स् लिस्ट, एइ०, जिल्द ७, पृष्ठ २०१-२०२।

६. प्रतिपाल भाटिया, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १२५।

७. कुमारपालभूपालचरित, चतुर्थ, २१३-२६२ और ४३५-४५३; प्रबन्धकोश, पृ० ५२।

किन्तु उसके शासक विक्रमसिंह ने अपने व्यवहार से उसे सशंकित कर दिया । अतः चाहमान युद्ध से लौटकर लगभग ११४५ ई० में उसने विक्रमसिंह को अपदस्थकर दिया और उसके भतीजे यशोधबल को उसके स्थान पर वहाँ का शासक नियुक्त किया । यशोधबल और उसके पुत्र धारावर्ष ने कुमारपाल के प्रति अनुरक्त रहते हुए उसके कई युद्धों में भाग लिया[१] ।

किरादू में सोमेश्वर नामक एक दूसरा परमार ११४८ ई० में कुमारपाल की अधीनता स्वीकार करता था । कुमारपाल की ओर से लड़ते हुए ११६१ ई० में उसने जज्जक से दो दुर्ग छीन लिये थे ।

कोंकण विजय

जैन ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि कुमारपाल की सेनाओं ने कोंकण के शिलाहार राजा मल्लिकार्जुन को युद्ध में पराजित किया । उस समय युद्ध प्रायः शक्ति-विस्तार के लिए ही होते थे और गुजरात की दक्षिणी सीमाओं से कोंकण के मिले होने के कारण उस दिशा में आगे बढ़कर अपनी सत्ता विस्तृत करना कुमारपाल का इष्ट रहा होगा[२] । हेमचन्द्र[३] से ज्ञात होता है कि युद्ध के प्रारम्भ में मल्लिकार्जुन की सेना उसके नेतृत्त्व में इतनी बहादुरी से लड़ी कि चौलुक्यों के पाँव उखड़ गये । किन्तु मल्लिकार्जुन एकाएक हाथी से गिर गया और गुजराती सैनिकों द्वारा मार डाला गया । अन्य स्रोतों से[४] ज्ञात होता है कि कुमारपाल की सेनाओं को उसके विरुद्ध दो अभियान करने पड़े, जिनका सेनापति आंबड (उदयन का पुत्र आम्रभट) था । अगाध जल से फूली हुई कलविणी नदी पार करते ही उसकी सेना पर मल्लिकार्जुन टूट पड़ा और वह बुरी तरह परास्त होकर पीछे लौटने को विवश हुआ । कुमारपाल ने दुबारा उसे कोंकण के विरुद्ध भेजा और अबकी बार उसे जबरदस्त सफलता मिली । कोंकणी सेनाएँ पराजित हुईं और मल्लिकार्जुन पकड़कर मार डाला गया । आंबड लौटकर आदृत हुआ और कुमारपाल ने प्रसन्न होकर उसे **राजपितामह** का विरुद दिया । अधिकांश गुजराती लेखक[५] मल्लिकार्जुन को मारने का श्रेय आंबड को ही

---

१. एइ०, जिल्द ८, पृष्ठ २११ ।

२. प्रचिद्वि०, पृष्ठ ९७-९८ उस युद्ध का कारण मल्लिकार्जुन के प्रति कुमारपाल की ईर्ष्या बताता है ।

३. द्वयाश्रयकाव्य (प्राकृत), छठाँ, ४०-७२ ।

४. प्रचिद्वि०, पृष्ठ ९७-९८ ।

५. अरिसिंह, सुकृतसंकीर्तन, प्रथम ४३; बालचन्द्र, वंसतविलास, पंचम ४३; मेरुतुंग, प्रचिद्वि०, पृष्ठ ९७-९८; जयसिंह सूरि, कुमारपालभूपालचरित, चतुर्थ, ४५५-५२९ ।

देते हैं। किन्तु तेज:पाल की आबू प्रशस्ति (एइ० जिल्द ८, पृष्ठ २११) से ज्ञात होता है कि आबू के परमार सामन्त यशोधवल के पुत्र धारावर्ष ने इस युद्ध में भाग लेकर बहुत वीरता प्रदर्शित की थी। इस सम्बन्ध का एक अन्य महत्त्वपूर्ण साक्ष्य जयानकभट्ट का **पृथ्वीराजविजय**[१] है, जो मल्लिकार्जुन को मारने का श्रेय चाहमान राजकुमार सोमेश्वर को देता है। इस युद्ध में सोमेश्वर की अद्‌भुत वीरता का वहाँ वर्णन है। कुमारपाल का उस पर बहुत अधिक स्नेह था और उसका इस युद्ध में भाग लेना अत्यन्त सम्भव है। मेरुतुंग मल्लिकार्जुन के विरुद्ध द्वितीय युद्ध में आंबड के साथ अन्यान्य बलवान् सामन्तों के जाने की बात करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मल्लिकार्जुन को वास्तव में सोमेश्वर ने ही मारा किन्तु सेनापतित्त्व आंबड के हाथ में होने के कारण जैन लेखकों ने उसे ही सारा श्रेय दे दिया।

सौराष्ट्र युद्ध

कुछ जैन ग्रन्थों[२] में सउंसर (ठाकुर) से उदयन के युद्ध की चर्चा हुई है। किन्तु **प्रभावकचरित** के साक्ष्य के आधार पर डॉ० अ० कु० मजुमदार (पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ११५) कहते हैं कि सउंसर से होने वाले युद्ध में उदयन के सेनापति होने की बात अनैतिहासिक है, क्योंकि वह जयसिंह **सिद्धराज** के समय ही सौराष्ट्र के शासक नवधन के विरुद्ध युद्ध लड़ते हुए मारा जा चुका था। लगता है कि इन दोनों युद्धों के विवरणों को एक दूसरे से मिला दिया गया है। तथापि यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सौराष्ट्र में कोई उपद्रव शान्त करने के लिए कुमारपाल को एक सैनिक टुकड़ी भेजनी पड़ी थी। यह उपद्रव किसका था अथवा सउंसर कौन था, इसका कोई निश्चयात्मक निर्णय नहीं हो सका है। भगवानलाल इन्द्र जी के मत में वह गोहिलवाड़ का कोई मेहर सरदार था। किन्तु डॉ० अ० कु० मजुमदार[३] उसे सौराष्ट्र के उन आभीर सरदारों का कोई प्रतिनिधि मानते हैं, जो मूलराज के समय से ही चौलुक्यों को चुनौती दे रहे थे।

कुमारपाल की राज्यसीमाओं तथा प्रभावसीमाओं का विस्तार

कुमारपाल के युद्धों के उपर्युक्त विवरण से उसकी राज्यसीमाओं का एक चित्र आसानी से तैयार किया जा सकता है। यह स्पष्ट है कि जयसिंह से प्राप्त राजनीतिक विरासत की रक्षा के लिए उसे अनेक युद्ध करने पड़े। राजगद्दी के लिए संघर्ष की जिस परिस्थिति में उसने अपना राजनीतिक जीवन प्रारम्भ किया तथा अर्णोराज और चतुर्थ

---

१. सप्तम, १५।

२. प्रचिद्वि०, पृष्ठ १०४-१०५; कुमारपालभूपालचरित, अष्टम, ४७५-५४३।

३. पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ११६।

विग्रहराज जैसे प्रबल शत्रुओं ने उसे जो चुनौतियाँ दी, उन्हें देखते हुए उसकी उपलब्धियाँ साधारण नहीं मानी जा सकतीं। एक लम्बे संघर्ष के बाद भी अर्णोराज को कोई सफलता नहीं मिली और उसे कुमारपाल से अपनी पुत्री का ब्याह करके संधि मोल लेनी पड़ी। यह कुमारपाल की सत्ता की वर्चस्वता का द्योतक है। बल्लाल को हराकर कुमारपाल ने मालवा के उस अधिकार में भी कोई कमी नहीं होने दी, जिसे जयसिंह ने अपनी विजयों से स्थापित किया था। वि० सं० १२२० और १२२२ के उसके दो अभिलेख[१] भिलसा के पास स्थित उदयपुर नामक स्थान से मिले हैं, जो वहाँ तक उसके प्रशासन का विस्तार प्रमाणित करते हैं। उसके राज्यकाल के दूसरे दशक में चतुर्थ विग्रहराज ने गुजरात की उत्तर-पूर्वी सीमाओं पर स्थित नाडोल, पाली और जालोर के मध्यवर्ती क्षेत्रों पर आक्रमण किया, किन्तु कुमारपाल उस दबाव को बर्दाश्त करने में पूर्णतया सफल रहा। नाडोल पर आवश्यकतानुसार प्रत्यक्ष शासन के लिए उसने या तो अपने **दण्डनाथों** की नियुक्ति की अथवा आल्हण जैसे योग्य सामन्तों द्वारा अपना आधिराज्य कायम रखा। नडडुल की तरह किरादू (किरातकूप) भी उसका सामन्त क्षेत्र बना रहा। सौराष्ट्र, कच्छ और लाट उसके प्रत्यक्ष अधिकार में थे। किन्तु सम्बद्ध साक्ष्यों से इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता कि दक्षिण में शिलाहारवंशी मल्लिकार्जुन को हराकर कुमारपाल ने अपनी सीमाओं की कोई वृद्धि की अथवा उसे अपना अधीनस्थ बनाकर ही सन्तोष कर लिया। मल्लिकार्जुन के पुत्र और उत्तराधिकारी द्वितीय आदित्यदेव की **महाराजाधिराज** और **कोंकणचक्रवर्ती** जैसी विरुदावली से स्पष्ट है कि चौलुक्यों के आक्रमण से शिलाहारों की सत्ता में कोई कमी नहीं आयी।

जयसिंह सूरि[२] कुमारपाल को दिग्विजयी होने का श्रेय देता है। वह कहता है कि जावालिपुर के नायक के स्वागत का उपभोगकर कुमारपाल ने सपादलक्ष पर आक्रमण किया, जहाँ अर्णोराज ने उसकी पूजा की। वहाँ से वह कुरुमण्डल गया और गंगा के किनारे रुका। तदुपरान्त उसने मालवा पर अभियानकर वहाँ के राजा को पकड़ लिया। पुनः नर्मदा को पारकर वह आभीरविषय पहुँचा और प्रकाशनगरी के सरदार को अपने अधीन किया। पुनः, दक्षिण में विंध्यक्षेत्रों के गाँवों से कर वसूलता हुआ उसने लाटदेश के राजा को हराया। लाट से उत्तर की ओर मुड़कर उसने सुराष्ट्रविषय के सरदार को पराजित किया। वहाँ से कच्छ पहुँचा। वहाँ के राजा को हराकर पंचनदाधिप (सिन्ध के राजा) को पराजित किया। वहाँ से आगे बढ़कर मुल्तान के शासक को हराया। पुनः, शकराजा को हराकर और मरुस्थान होते हुए वह गुजरात (अण्हिलवाड़) लौट आया।

---

१. इऐ०, जिल्द १८, पृष्ठ ३४१-३४३।

२. कुमारपालभूपालचरित, चतुर्थ।

जयसिंह सूरि कुमारपाल के दिग्विजित क्षेत्रों की सीमा 'पूर्व में गंगा, दक्षिण में विन्ध्यपर्वत, पश्चिम में सिन्ध और उत्तर में तुर्क देश तक'[१] बताता है। कुमारपाल की सैनिक सफलताओं के ये उल्लेख बहुत कुछ तथ्यात्मक होते हुए भी पूर्णतः सत्य नहीं प्रतीत होते। पूर्वदिशा में गंगा तक उसकी सीमाओं के विस्तृत होने का कोई प्रमाण नहीं है। उत्तर में तुर्कों के क्षेत्र (पंजाब) तक उनका शासन होना भी असम्भव था, क्योंकि बीच में चाहमानों का बहुत बड़ा क्षेत्र पड़ता था। जैसलमेर क्षेत्र के किरादू में उसका सोमेश्वर नामक एक सामन्त शासन करता था। उसे उसके साम्राज्य का अंग मानने पर ही यह स्वीकार किया जा सकता है कि उसकी सीमाएँ तुर्क सीमाओं को छूती थीं। उसकी पश्चिमी सीमाओं के सम्बन्ध में जयसिंह का वर्णन है कि उसने नौ:साधनों से युक्त पंचनदाधिप को पराजित किया। सम्भवतः यह उसकी सिन्धविजय की ओर निर्दिष्ट है और यह प्रतीत होता है कि उस दिशा में उसकी राज्यसीमाएँ समुद्र का स्पर्श करती थीं। अभिलेखों और साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर कुमारपाल के साम्राज्य की सीमाएँ 'दक्षिण में विन्ध्य—कम से कम तापी नदी तक; पश्चिम में सौराष्ट्र और कच्छ; उत्तर में मोटे रूप से प्राचीन जोधपुर और उदयपुर के राज्यों के कुछ भागों सहित चित्तौड़ से जैसलमेर तक और पूर्व में भिलसा अथवा उसके कुछ और आगे तक' विस्तृत मानी गयी[२] हैं।

कुमारपाल की धार्मिक प्रवृत्तियाँ

जैन लेखक यह दावा करते हैं कि कुमारपाल ने जैन धर्म अपना लिया था[३]। जैन धर्म के संरक्षक के रूप में उसके जीवन से सम्बद्ध अनेक आख्यान जैन ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। एक बात निश्चित है कि राजगद्दी प्राप्त करने में उसे हेमचन्द्र और उदयन जैसे

---

१. आगंगां आइन्द्रीं आ—विन्ध्यं याम्यां आ-सिन्धु पश्चिमाम्।
आ तुरुष्कं च कौवेरीं चौलुक्यः साधयिष्यति ।।

कुमारपालभूपालचरित, चतुर्थ, ११७, कुमारपालप्रबन्ध (बम्बई गजेटियर, जिल्द १, भाग १, पृष्ठ १८९, पादटिप्पणी १) में भी कुमारपाल की अधिकार सीमाएँ ये ही बतायी गयी हैं। हेमचन्द्रकृत महावीरचरित (१२वाँ, ५२) में भी उसकी राज्य सीमाएँ कुछ इसी प्रकार दी गयी है:—

स कौवेरीं आतुरुष्कमैन्द्रीं अत्रिदशापगम्।
याम्यां आविन्ध्यं आवार्धि पश्चिमां साधयिष्यति ।।

२. अ० कु० मजुमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ११९।

३. हेमचन्द्रकृत महावीरचरित, बारहवाँ, ४७-४८।

प्रसिद्ध जैनों से प्रभूत सहायताएँ प्राप्त हुई थीं। अतः वह उनका कृतज्ञ अवश्य रहा होगा। जैन साहित्य से स्पष्ट है कि गुजरात में इस समय जबरदस्त धार्मिक और साम्प्रदायिक प्रतिस्पर्द्धाएँ वर्त्तमान थीं। जैन मतावलंबी राज्याश्रय और संरक्षण पाने के लिए आतुर थे। सम्भवतः इसी दृष्टि से कुमारपाल को अपने पक्ष में करने का उन्होंने पूरा प्रयत्न किया और हेमचन्द्र के प्रति उसकी कृतज्ञता की मनःस्थिति का उपयोग किया। किन्तु **कुमारपालभूपालचरित**[१], **प्रभावकचरित**[२] और **प्रबन्धचिन्तामणि**[३] के वे विवरण कोरे काल्पनिक लगते हैं कि जैन तीर्थंकरों और जैनाचार्यों के चमत्कारी कार्यों के प्रभाव से कुमारपाल जैन हो गया। वे इस उद्देश्य से प्रेरित प्रतीत होते हैं कि उनसे शैव अथवा अन्य धर्मों के ऊपर जैन धर्म की विशेषता दिखायी जाय। कुमारपाल, अनेक प्राचीन हिन्दू राजाओं की तरह, सभी धर्मों के तत्त्वों को जानने के लिए प्रयत्नशील रहा प्रतीत होता है। स्वयं जैन लेखकों से यह ज्ञात होता है कि सभी सम्प्रदायों के आचार्यों के मतमतान्तर वह सुनता था तथा उनमें परस्पर शास्त्रार्थ भी कराता था। इस सिलसिले में हेमचन्द्र की बेजोड़ विद्वता और शास्त्रार्थ-कुशलता ने उसे अवश्य अपनी ओर आकृष्ट किया होगा। अतः कुमारपाल का उसके प्रति आदर एवं श्रद्धा और उसके कहे हुए मार्गों को अपनाना कोई विशेष बात नहीं थी। इस दृष्टि से विचार करने पर जैन धर्म के प्रति उसका झुकाव उतना ही सीमित प्रतीत होता है, जितनी सीमित गौतम बुद्ध के समकालिक कोशलराज प्रसेनजित की बौद्ध धर्म में रुझान थी अथवा श्वांन्-च्वांग के व्यक्तित्त्व से प्रभावित हर्षवर्धन का सौगतपंथ में आदरमात्र व्यक्त करने वाला विश्वास था। इन सबने जैन अथवा बौद्ध धर्म के प्रति सहानुभूतिपूर्ण उदारता मात्र दिखायी, किन्तु उन्होंने कभी भी अपना व्यक्तिगत धर्म और विश्वास नहीं छोड़ा। वे तीनों ही आजीवन ब्राह्मण धर्म-मतावलम्बी बने रहे। जैसे प्रसेनजित बुद्ध के प्रति आदर रखते हुए तथा उनका प्रायः

---

१. सर्ग, ५-१०।

२. बाईसवाँ ४२६-४७७। तदनुसार, कुमारपाल जब ग्यारह बार अर्णोराज के विरुद्ध युद्ध में असफल रहा तो बाहड के कहने से अजितनाथ के दर्शन के लिए गया। परिणामतः, बारहवीं बार चाहमान शासक को पराजित करने में वह सफल हुआ।

३. प्रचिद्वि०, पृष्ठ १०२-१०४ के अनुसार कुमारपाल और हेमचन्द्र दोनों ही सोमनाथ के दर्शन के लिए गये, जहाँ हेमचन्द्र के प्रभाव से शिव ने स्वयं अवतरित होकर कुमारपाल को दर्शन दिया और हेमचन्द्र को सभी देवताओं का अवतार बताया। इससे प्रभावित होकर कुमारपाल ने हेमचन्द्र से दीक्षा ले ली तथा मांसभक्षण और मदिरापान त्यागने का व्रत लिया।

दर्शन करते रहने पर भी वैदिक यज्ञयागों से विमुख नहीं हुआ[१] तथा हर्ष श्वान्-च्वाँग् से प्रभावित होकर भी शिव और सूर्य की सर्वदा पूजा करता रहा, वैसे ही कुमारपाल शैव बना रहा । किन्तु उसके साथ ही हेमचन्द्र के प्रभाववश वह जैन धर्म में रुचि रखने लगा और उसके अनेक सिद्धान्तों का पालन भी करने लगा । जयसिंह सूरि[२] उसके 'अभक्ष-नियम' और 'जैनधर्म-मनःस्थापन' का उल्लेख करता है । उसकी यह भी सूचना है कि हेमचन्द्र के प्रभाववश उसने अपने सम्पूर्ण राज्य में जीवहिंसा बन्द करा दी । अन्यत्र कहा गया है कि उसने मांसभक्षण, द्यूत और वेश्यावृत्ति भी बन्द करा दी । उसका सबसे प्रमुख कार्य राज्य द्वारा अपुत्रक मरने वाले लोगों की सम्पत्तिहरण की प्रथा की समाप्ति (मृतधनापहरण निषेध) थी ।

जैनों के इन सारे उल्लेखों के बावजूद ऐसा प्रतीत होता है कि कुमारपाल की शैव धर्म में आस्था आद्योपान्त बनी रही । **द्वयाश्रयकाव्य**[३] से ज्ञात होता है कि उसने शिव केदारनाथ और सोमनाथ के मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया और कुमारेश्वर का मन्दिर बनवाया । उसके सभी अभिलेख शिव की ही प्रार्थना से प्रारम्भ होते हैं और अब तक उसका कोई भी ऐसा अभिलेख नहीं मिला है, जो किसी जैन देवता की प्रार्थना से प्रारम्भ होता हो । उसके सामन्त सोमेश्वर के वि० सं० १२१८ के अभिलेखों में जहाँ विशेष दिनों पर जीवहत्या का निषेध किया गया है, वहाँ यह भी कहा गया है कि उसने अपनी सारी विजयें 'शंकर और पार्वती' की कृपा से प्राप्त कीं । वलभी सं० ८५०=११६९ ई० की वेरावल प्रशस्ति में उसे **महेश्वरनृपाग्रणी** कहा गया[४] है तथा कुछ अन्य अभिलेखों में वह **उमापतिवरलब्धप्रसाद** के विरुद से अलंकृत है । यह भी ज्ञात होता है कि हेमचन्द्र ने कुमारपाल को **परमाहर्त्त** विरुद दिया था । जालोर से प्राप्त होने वाले एक अभिलेख में उसे **परमाहर्त्त** कहा भी गया है । तात्पर्य यह निकलता है कि वह सभी धर्म-मतावलम्बियों के लिए अपना था । निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि अपने समय के जैन विद्वानों, विशेषतः हेमचन्द्र, के चारित्रिक गुणों और विद्वत्ता के प्रभाववश कुमारपाल जैन धर्म के प्रति काफी कृपालु और उन्मुख तो था, किन्तु उसने अपने परिवार में प्रारम्भ से ही मान्य शैव धर्म का त्याग नहीं किया था । जीवहिंसा बन्द कराना, द्यूत और मदिरापान का निषेद्य तथा वेश्यावृत्ति और 'मृतधनापहरण' का अन्त करने वाली उसकी

---

१. देखिए, विशुद्धानन्द पाठक, हिस्ट्री ऑफ् कोशल, पृष्ठ २२६-२३० ।

२. कुमारपालभूपालचरित, पंचम, २७ और आगे ।

३. बीसवाँ, ९०-९७; और देखिए; प्रचिद्वि, पृ० १००-१०१ ।

४. एइ०, जिल्द २०, परिशिष्ट, पृ० ४७; जराएसो०, बम्बई शाखा, जिल्द ८, पृ० ५९ और आगे ।

आज्ञाएँ ऐसी नहीं थीं, जिनका श्रेय केवल जैन धर्म को दिया जाय। ये ऐसे नैतिक आचरण हैं, जिनका उपदेश सभी धर्म करते हैं।

अजयपाल (लगभग ११७३-११७६ ई०) तथा द्वितीय मूलराज (लगभग ११७६-११७८ ई०)

वि० सं० १२२९=११७२ ई० में हेमचन्द्र की मृत्यु हो गयी और उसके छः मास के भीतर ही कुमारपाल भी जाता रहा। कुमारपाल के मन में यह द्विविधा बराबर बनी रही कि वह अपना उत्तराधिकारी अपने भतीजे[1] अजयपाल को घोषित करे अथवा अपने दौहित्र प्रतापमल्ल को। जैनियों का वर्ग अजयपाल से कदाचित् उसकी धार्मिक भावनाओं के कारण अप्रसन्न था। बाद वाले कुछ जैन[2] ग्रन्थों में कहा गया है कि उसने कुमारपाल को विष देकर मार डाला। मेरुतुंग **प्रबन्धचिन्तामणि** (द्विवेदी, पृ० ११७-११८) में उसे एक नृशंस जैन विरोधी शासक के रूप में उपस्थित करता है, जिसने कुमारपाल द्वारा निर्मित जैन विहारों को तोड़वा दिया तथा प्रसिद्ध जैन लेखक रामचन्द्र और मंत्री आम्बड को मरवा डाला। किन्तु उसी से यह भी ज्ञात होता है कि उसने कपर्दिन् नामक ब्राह्मण को अपना मंत्री (**महामात्य**) नियुक्त करके भी तप्त लोहे के कड़ाहे में डलवा दिया। इन कथनों से यह अनुमान लगाया गया है कि कुमारपाल के समय अण्हिलवाड़ के राजदरबार में जैनियों का प्रभाव बहुत बढ़ जाने से शैव अप्रसन्न थे और अजयपाल ने उनके नेता के रूप में बदला लेने की क्रियाएँ प्रारम्भ कर दीं। अजयपाल ने राजा होकर अपने जैन शत्रुओं को दण्डित किया और कपर्दिन् तथा सोमेश्वर जैसे शैवों को राज्य के बड़े-बड़े पदों पर नियुक्त किया। उसके अभिलेखों से ज्ञात होता है कि वह शैव था और अपने को **परममाहेश्वर** कहता था। उसके पूर्व किसी भी चौलुक्य राजा ने कदाचित् यह उपाधि नहीं धारण की थी। उसके समय 'वैदिक धर्म का वृक्ष पुनः बढ़ने लगा'[3] और ब्राह्मण पुरुस्कृत[4] हुए। किन्तु ब्राह्मण धर्म की उसकी मान्यता से यह नहीं साबित होता कि वह आँख मूंदकर सभी जैनियों का विरोधी हो गया

---

१. अ० कु० मजुमदार (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १२७) अजयपाल को कुमारपाल का पुत्र मानते हैं।

२. कुमारपालभूपालचरित, दसवाँ, १०७ और आगे; कुमारपालप्रबन्ध, ११३-११४। कुमारपाल को विष दिये जाने का विश्वास बाद में बद्धमूल हो गया। देखिए, आइने-अकबरी, (अंग्रेजी अनुवाद), जिल्द २ पृष्ठ २६३; मिराते अहमदी, अंग्रेजी अनुवाद, पृ० १४३।

३. एइ०, जिल्द २, पृ० ४४२।

४. सुरथोत्सव, १५वाँ, ३०।

और जैन धर्म समाप्त करने को कटिबद्ध हो गया। वास्तव में उसने केवल उन्हीं जैनियों का अन्त किया जो उसके राज्याधिकार के विरोधी थे। इस बात के प्रमाण उपलब्ध[१] हैं कि उसके समय भी जैन धर्म फलता-फूलता रहा और अनेक जैन विद्वानों पर उसकी कृपा रही।

अजयपाल के युद्ध

जहाँ तक उसके सैनिक कार्यों का प्रश्न है, सपादलक्ष के राजा (सोमेश्वर) पर उसकी विजय के उल्लेख अनेक स्थानों में मिलते हैं। अण्हिलवाड़ में रहते हुए सोमेश्वर कुमारपाल का कृपापात्र रह चुका था और असम्भव नहीं है कि चौलुक्य राजदरबार में अजयपाल के विरोधी पक्ष से उसकी सहानुभूति रही हो। युद्ध का कारण चाहे जो भी रहा हो, दोनों के संघर्षों में अजयपाल बीस पड़ा और सोमेश्वर पराजित हुआ। द्वितीय भीम का कादि अभिलेख[२] अजयपाल को 'करदीकृत सपादलक्षक्ष्मापाल' कहता है। कुछ जैन लेखक[३] भी कहते है कि सोमेश्वर से उसने एक रजतछत्र (अथवा स्वर्णछत्र) तथा युद्धक हाथी छीने और उसे कर देने को विवश किया।

द्वितीय मूलराज और तुर्कों की पराजय

अजयपाल के तीन वर्षों के लघु शासनकाल में चौलुक्य साम्राज्य को कोई क्षति नहीं पहुँची। किन्तु राजदरबार के संघर्षों में वह अपने ही द्वारपाल के हाथों ११७६ ई० में मारा गया और उसका पुत्र द्वितीय मूलराज (लघु मूलराज अथवा बाल मूलराज) छोटी अवस्था में ही राजगद्दी पर बैठा। उसके समय की सर्वप्रमुख घटना किसी मुसलमान (तुर्क) आक्रमणकारी की गाडरारघट्ट नामक स्थान पर पराजय थी, जिसे गुजरात के ग्रंथों[४]

---

१. अजयपाल के समकालिक लेखक उसकी निन्दा नहीं करते। अरिसिंह, बालचन्द्र और उदयप्रभ उसकी गतानुगतिक प्रशंसा करते हैं। उन्होंने उसे इन्द्र की बराबरी में बिठाया है। वस्तुपाल तेज:पालप्रशस्ति उसके आत्मनियंत्रण की प्रशंसा करती है। पार्श्वनाथचरित का रचयिता माणिक्यचन्द्र यह बताता है कि वर्धमान ने जैन सिद्धान्तों की व्याख्या से कुमारपाल और अजयपाल के दरबार को प्रकाशित किया। देखिए, अ० कु० मजुमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १२९-१३०।

२. इऐ०, जिल्द ६, पृ० १९३ और आगे।

३. सुकृतसंकीर्त्तन, द्वितीय, ४४-४५; कीर्त्तिकौमुदी, द्वितीय ५३, वसन्तविलास, तृतीय, ३२।

४. कीर्त्तिकौमुदी, द्वितीय, ४७-४८; वसन्तविलास, तृतीय, ३४; सुकृतसंकीर्तन, द्वितीय, ४७; प्रचिद्वि०, पृ० ११९ के अनुसार मूलराज की माँ नाइकी उसे गोद में लेकर इस युद्ध में लड़ी थी।

में हम्मीर, म्लेच्छ अथवा तुर्क कहा गया है। उस युद्ध में मूलराज की वीरता का यश इतना अधिक फैला कि वह **पराभूतदुर्जयगर्जनकाधिराज** अथवा **म्लेच्छतमोनिचय-च्छन्नमहीवलय प्रद्योतनबालार्क**[१] कहा जाने लगा। किन्तु इस तुर्क आक्रान्ता के बारे में ठीक-ठीक पता नहीं है। मुइजद्दीन गोरी उस समय भारत पर आक्रमण की तैयारियाँ कर रहा था और सम्भव है कि ११७८ ई० में किये गये गुजरात पर उसके आक्रमण के पूर्व उसकी अगली पंक्ति का ही यह कोई अभियान[२] रहा हो। अधिकांश विद्वान्[३] इसे मुइजद्दीन गोरी के नेतृत्त्व में हुआ ११७८ ई० का वह आक्रमण बताते हैं, जिसमें मुसलमानों की काशह्रद के मैदान में करारी हार हुई थी।

यदि उपर्युक्त मत स्वीकार किया जाय तो मुइजुद्दीन गोरी के चौलुक्य विजेता के नाम के बारे में चौलुक्य और मुसलमान साक्ष्यों में परस्पर विरोध की समस्या उठ खड़ी होती है। ऊपर हम देख चुके हैं कि चौलुक्य साक्ष्यों में गर्जनक पर विजय का सारा श्रेय द्वितीय मूलराज को दिया गया है। स्वयं उसके भाई और उत्तराधिकारी द्वितीय भीम के अभिलेख[४] भी विजय का श्रेय उसी को देते हैं। किन्तु इसके विपरीत मुसलमान लेखकों के सभी उल्लेखों में मुइजुद्दीन को हराने का श्रेय भीम को दिया गया है। इस भ्रम का सम्भवतः सबसे बड़ा कारण यह है कि मुइजुद्दीन के आक्रमण का समय (११७८ ई०) द्वितीय मूलराज के शासन का अन्तिम वर्ष और द्वितीय भीम के शासन का पहला[५] वर्ष था। मुसलमान लेखक इस समय गुजरात पर केवल एक आक्रमण की ही चर्चा करते हैं। तदनुसार[६], ५७४ हिजरी=११७८ ई० में गोमल दर्रे से होते हुए मुइजुद्दीन ने मुल्तान और ऊँछ पर अधिकार कर लिया और दक्षिणी राजपूताना होता हुआ गुजरात पर चढ़ गया। तबकाते[७]-नासिरी से ज्ञात होता है कि नाहरवाला

---

१. कादि अभिलेख, इऐ०, जिल्द ६, पृष्ठ १९४ और आगे तथा १९९।

२. देखिए, हेमचन्द्रराय, डाहिनाइ०, जिल्द २, पृष्ठ १००४-१००५।

३. फोर्बस्, रासमाला, जिल्द १, पृष्ठ १९९; जैक्सन्, बम्बई गजेटियर, जिल्द १, भाग १, पादटिप्पणी ४; ब्हूलर, इऐ० जिल्द ६, पृष्ठ १८६-१८७; होदीवाला, स्टडीज् इन् इण्डोमुसिलम् हिस्ट्री, पृ० २०२; हबीबुल्ला, फाउण्डेशन् ऑफ् मुसलिम रूल इन् इण्डिया, पृष्ठ ५३।

४. इऐ०, जिल्द ६, पृष्ठ १९२ और आगे।

५. द्वितीय भीम का सर्वप्रथम अभिलेख वि० सं० १२३५=११७८ ई० का किरादू से प्राप्त है। एइ०; जिल्द ११, पृष्ठ ७२।

६. देखिए, हबीबुल्ला, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ५३ और आगे।

७. जिल्द १, पृष्ठ ४५१-४५२।

(अण्हिलवाड़) का राजा (भीमदेव ?) अवस्था में एक दम नया होते हुए भी अपनी विशाल सेनाओं और हाथियों की सहायता से विजयी हुआ और सुल्तान मुइजुद्दीन को बिना किसी उपलब्धि के वापस लौटना पड़ा । अन्य मुसलमान लेखक[१] इसका समर्थन करते हुए बताते हैं कि रेगिस्तानी मार्गों से गजनी लौटते हुए गोरी सेनाओं को घोर कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं । नड्डुल के चाहमानों के सुन्धा पहाड़ी वाले अभिलेख[२] से ज्ञात होता है कि चाहमान सामन्त केल्हण और उसके भाई कीर्त्तिपाल ने तुर्कों को काशह्रद की लड़ाई में पराजित किया था । यह निश्चित है कि उन्होंने इस युद्ध में चौलुक्य सामन्तों के रूप में ही भाग लिया था, जिसमें सफलता का श्रेय उनके वंश का अभिलेख स्पष्टरूप से चौलुक्यराज को न देकर उन्हें देता है । काशह्रद की पहचान आबू पहाड़ के निचले हिस्सों में स्थित कयद्रम से की गयी है और असम्भव नहीं है कि मेरुतुंग का गाडरारघट्ट काशह्रद ही हो । इन सभी साक्ष्यों को देखते हुए यह सुझाव दिया जा सकता है कि मुइजुद्दीन का आक्रमण वास्तव में द्वितीय मूलराज के समय (११७८ ई०) में ही हुआ था । किन्तु मुसलमानों के विरुद्ध युद्ध के संचालन का भार उसने भीम को सौंपा था । भीम ने ही नड्डुल के चाहमान बन्धुओं (केल्हण और कीर्त्तिपाल) की सहायता से युद्ध जीता । यही कारण था कि जहाँ भारतीय स्रोतों ने वास्तविक राजा होने के नाते विजय का श्रेय द्वितीय मूलराज को दिया, वहाँ मुसलमान लेखकों ने वह श्रेय उसके सेनापति भीम को दिया ।

९—द्वितीय भीम (११७८-१२४१ ई०) : चौलुक्य सत्ता का क्रमिक ह्रास और अन्त

केवल दो ढाई वर्षों के अल्प शासन के बाद ११७८ ई० में द्वितीय मूलराज की मृत्यु हो गयी और उसका छोटा भाई द्वितीय भीम शासक[३] हुआ । राजगद्दी पर बैठते समय वह बालक ही था । अतः आगे लगभग ६२-६३ वर्षों का उसका शासनकाल बड़ा लम्बा साबित हुआ । उसके समय के लगभग बीस अभिलेख प्राप्त होते हैं, जो उसके राज-नीतिक इतिहास और प्रशासन का परिचय देते हैं । किन्तु जैन लेखक उसके वृत्त का उतना विवरण नहीं देते, जितना वे उसके पूर्व अथवा उसके बाद के गुजरात के इतिहास

---

१. तबकाते-अकबरी, अंग्रेजी अनुवाद, जिल्द १, पृष्ठ ३६; बदायूँनी, मुन्तख्बबुत्त-वारीख, अंग्रेजी अनुवाद, जिल्द १, पृष्ठ ६६; फिरिश्ता, ब्रिग्स्, जिल्द १, पृष्ठ १७० ।

२. एइ०, जिल्द ९, पृष्ठ ७२ ।

३. बम्बई गजेटियर, जिल्द १, भाग १, पृष्ठ १९५-१९६, रासमाला, जिल्द १, पृष्ठ २००, पादटिप्पणी २ ।

का वर्णन करते[1] हैं। अभिलेखों[2] में भीम को **महाराजाधिराज, परमेश्वर, परम-भट्टारक, अभिनवसिद्धाराज, सप्तमचक्रवर्ती** अथवा **अभिनवसिद्धराजदेव-बोल** (बाल अथवा भोला) **नारायणावतार** जैसे विरुद दिये गये हैं, जो उसकी प्रबल राज-नीतिक सत्ता, महत्त्वाकांक्षा और धार्मिक प्रवृत्तियों के द्योतक हैं। इन विरुदों से यह भी प्रकट होता है कि उसकी दृष्टि में जैनधर्मोन्मुख कुमारपाल की अपेक्षा प्रबल शैव जयसिंह **सिद्धराज** अधिक अनुकरणीय था, जिसके राजनीतिक आदर्शों से वह स्वयं प्रेरित था।

भीम और तृतीय पृथ्वीराज के संघर्ष (लगभग ११८४ ई०)

भीम की सबसे पहली मुठभेड़ चाहमान शासक तृतीय पृथ्वीराज से हुई। चन्द्र-बरदायी उन दोनों के युद्ध का कारण यह बताता है कि भीम जैत्र परमार की उसी पुत्री से विवाह करना चाहता था, जिसकी मंगनी पृथ्वीराज से पहले ही हो चुकी थी। वह यह भी बताता है कि प्रतिष्ठा के इस प्रश्न पर होने वाले युद्ध में भीम ने पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर को मार डाला और बदले में पृथ्वीराज ने भीम को मार डाला।[3] किन्तु **पृथ्वीराजरासो** के अनेक अन्य विवरणों की तरह यहाँ भी चाहमान-चौलुक्य संघर्ष के मूल तथ्य के चारों ओर अनेक कल्पित और अनैतिहासिक बातें पिरो दी गयी हैं। इस संघर्ष के बहुत पूर्व ही सोमेश्वर की मृत्यु हो चुकी थी और उसके चाहमान राजगद्दी पर रहते भीम शासनस्थ भी नहीं हुआ था। पृथ्वीराज द्वारा भीम का मारा जाना भी स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह मालूम है कि वह १२४१ ई० तक जीवित रहकर शासन करता रहा। किन्तु यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि भीम और पृथ्वीराज के बीच नागोर और आबू के पास कम से कम दो युद्ध अवश्य हुए[4] थे। प्रहलादनकृत **व्यायोगपार्थपराक्रम** नामक नाटक में आबू के निकट लड़े गये उनके युद्ध का विवरण मिलता[5] है। उससे ज्ञात होता है कि आबू के परमार सामन्त धारावर्ष के विरुद्ध जांगलदेश के राजा (पृथ्वीराज) ने एक रात्रि को धावा बोला था। यह धारावर्ष प्रहलादन का बड़ा भाई और चौलुक्यराज द्वितीय भीम

---

१. हेमचन्द्र राय (डाहिनाइ०, जिल्द २, पृष्ठ १०१६) के मत में इसका कारण यह था कि कुमारपाल के बाद चौलुक्यवंश में शैवों के पक्ष में एक हिंसक प्रतिक्रिया हुई थी, जिससे जैन उनसे क्षुब्ध हो गये थे।

२. कादि अभिलेख (२), इऐ०, जिल्द ६, पृष्ठ १९९-२००; जिल्द १८, पृष्ठ ११०-११६।

३. रासमाला, जिल्द १, पृष्ठ २०१-२२१।

४. दशरथ शर्मा, इहिक्वा०, जिल्द १६, पृष्ठ ७३८-७४९।

५. गायकवाड़ ओरियण्टल् सीरिज, पृष्ठ ३।

का सामन्त था। युद्ध का वास्तविक कारण यह प्रतीत होता है कि आबू और नागौर के क्षेत्रों पर पृथ्वीराज अपना अधिकार स्थापित करना चाहता था, जो भीम को सह्य नहीं था। **प्रबन्धचिन्तामणि**[१] से ज्ञात होता है कि भीम की ओर से इन युद्धों में उसका मंत्री जगद्देव प्रतीहार लड़ा था, किन्तु उसे सफलता नहीं प्राप्त हुई। इसके विपरीत वेरावल प्रशस्ति में जगद्देव को पृथ्वीराज की कमलरूपी रानियों के लिए चन्द्रमा के समान कहा गया है, जो कोरी प्रशंसा मात्र प्रतीत होती है। लगता है कि दोनों पक्षों में किसी को भी मनचाही सफलता नहीं प्राप्त हो सकी और अन्त में उनमें सन्धि हो गयी। इस संधि का उल्लेख जिनपाल अपनी **खरतरगच्छपट्टावली** में करता है। उससे यह भी ज्ञात होता है कि यह संघर्ष वि० सं० १२४१=११८४ ई० में हुआ[२] था।

गुजरात पर कुतुबुद्दीन का आक्रमण (११९७ ई०)

११७८ में काशह्रद के मैदान में भीम से पराजित होने के बाद तुर्कों को लगभग २० वर्षों तक गुजरात पर पुनः आक्रमण करने की हिम्मत नहीं हुई। किन्तु तराइन (११९२ ई०) और चन्दावर (११९४ ई०) के युद्धों में विजयी होकर चाहमान और गाहडवाल सत्ताओं को उखाड़ देने में जब वे सफल हो गये तो उत्तर भारत में उन्हें रोकने वाला कोई नहीं था और भारत में अपनी सत्ता को स्थायी बनाने के लिए वे सभी ओर अग्रसर होने लगे। हरिराज को हराकर अजमेर पर अधिकार कर लेने के बाद गुजरात के चौलुक्यों से उनका संघर्ष होना स्वाभाविक हो गया। इस सम्बन्ध में सबसे प्रमुख और समय की दृष्टि से सबसे पहली सूचना हसन निजामी के **ताजुल-मसीर** से प्राप्त होती है। तदनुसार[३], ५९१ हिजरी=११९५ ई० में कुतुबुद्दीन को अजमेर में यह सूचना मिली कि मेड़ों ने नाहरवाला के शासक से मिलकर मुसलमान सेनाओं पर तेजी से धावा बोल देने की योजना बनाना प्रारम्भ कर दिया है। कुतुबुद्दीन ने वह योजना असफल कर देने के उद्देश्य से उनपर चढ़ाई कर दी। किन्तु नाहरवाला (अण्हिलवाड़) की सेनाओं की मदद से मेड़ों ने उसे पराजित कर अजमेर तक उसका पीछा किया[४]। कुतुबुद्दीन को नगर के भीतर छिप जाने के लिए विवशकर उसके बाहर कुछ दूरी पर कई मास तक उन्होंने खेमा

---

१. प्रचिद्वि०, पृष्ठ १४१–१४५।

२. देखिए, दशरथशर्मा, अर्ली चौहान डाइनेस्टीज़, पृष्ठ ७५, ७७; इहिक्वा०, जिल्द २६, पृष्ठ २३३ और आगे।

३. इलियट् ऐण्ड डाउसन्, पूर्वनिर्दिष्ट, जिल्द २, पृष्ठ २२६–२३१।

४. फिरिश्ता (ब्रिग्स् जिल्द १, पृ० १८० और आगे) बताता है कि मुसलमानों की इस भगदड़ में कुतुबुद्दीन का घोड़ा घायल होकर गिर पड़ा और उसके सैनिकों ने बड़ी मुश्किल से उसे दूसरे घोड़े पर बिठाया।

डाला। कुतुबुद्दीन ने इसकी सूचना गजनी भेजी और वहाँ से एक विशाल सहायक सेना प्राप्तकर ११९७ ई० में उसने पुनः गुजरात के विरुद्ध अभियान प्रारम्भ किया। उसका उद्देश्य 'नाहरवाला के राय की समाप्ति थी'। गुजराती सेनाएँ पाली और नाडोल छोड़कर रायकरन और दारावर्स (धारावर्ष) के नेतृत्त्व में आबू के नीचे एक दर्रे के मुँह पर युद्ध के लिए डट गयीं। यह स्थान वही काशह्रद था, जहाँ मुहम्मद गोरी को ११७८ ई० में जबरदस्त पराजय सहनी पड़ी थी। उस घटना की याद से मुसलमान सेनाएँ भयभीत थीं, जिसे देखकर हिन्दुओं ने समझा कि वे युद्ध से घबड़ा रही हैं। ढीला पड़कर उन्होंने पहाड़ी का दर्रा त्याग दिया और मुसलमानी सेनाओं के सम्मुख होकर प्रतीक्षा प्रारम्भ कर दी। कुछ काल तक दोनों सेनाएँ आमने-सामने युद्ध की तैयारी में खड़ी रहीं। किन्तु थोड़े ही समय में मुसलमान सेनाएँ हिन्दुओं पर टूट पड़ी, जो कुछ देर तक तो लड़े, किन्तु बाद में भागने लगे[१]। उनके लगभग ५० हजार सैनिक मारे गये और बीस हजार कैदकर गुलाम बना डाले गये। अनेक हाथी, पशु और अनगिनत हथियार आक्रामकों के हाथ लगे और अण्हिलवाड़ पर कुतुबुद्दीन ने अधिकार कर लिया[२]। कुतुबुद्दीन अण्हिलवाड़ से अजमेर होता हुआ दिल्ली लौट गया। फिरिश्ता कहता है कि दिल्ली लौटने से पूर्व उसने अण्हिलवाड़ में अपना गर्वनर नियुक्त किया। किन्तु हसन निजामी इसका कोई उल्लेख नहीं करता।

इस मुसलमान आक्रमण की चर्चा कुछ भारतीय ग्रन्थों में मिलती है। जयसिंह-सूरिकृत **हमीरमदमर्दन** कुतुबुद्दीन के ११९५-११९७ ई० में गुजरात पर किये गये आक्र-मणों का कदाचित् सामूहिक उल्लेख करते हुए उन्हें पीछे हटाने का सारा श्रेय वीरधवल को देता है। किन्तु मुसलमान साक्ष्य रायकरन, दारावर्स और वल्लन का विशेष उल्लेख[३]

---

१. तबकाते-नासिरी, जिल्द १, पृष्ठ ५१६ और फिरिश्ता (ब्रिग्स्, जिल्द १, पृष्ठ १८० और आगे) में भी यह विवरण मिलता है। किन्तु फिरिश्ता तिथियों तथा कुछ अन्य विवरणों में हसन निजामी से कुछ भिन्न है।

२. जिनपाल, खरतरगच्छपट्टावली, इहिक्वा०, जिल्द ११, पृष्ठ ७८० और जिल्द २६, पृष्ठ २२७; जयसिंहसूरि, हम्मीरमदमर्दन, गायकवाड़ ओरियण्टल् सीरीज्, द्वितीय, ८ और आगे।

३. डॉ० दे० रा० भण्डारकर ने रायकरन की पहचान नाडोल के चाहमान सामन्त केल्हण से की (एइ० जिल्द ११, पृष्ठ ७३-७४)। किन्तु केल्हण का शासन समय (११६४-११८२ ई०) इन युद्धों के पूर्व ही समाप्त हो चुका था। वह ११७८ ई० वाले युद्ध में लड़ा था, न कि ११९७ ई० वाले युद्ध में। मुसलमान साक्ष्यों के दारावर्स और वल्लन आबू के परमार शासक धारावर्ष और उसके छोटे भाई प्रह्लादन के नामों के रूपान्तर हैं।

करते हैं। अण्हिलवाड़ पर मुसलमानों ने थोड़े समय के लिए अधिकार कर भीम की सेनाओं का सोमनाथ और खम्भात की ओर पीछा किया, किन्तु उसमें उनको मुँह की खानी पड़ी[१] तथा उन्हें अण्हिलवाड़ भी छोड़ना पड़ा। एक हस्तलिपि के अन्त में अंकित परिचयात्मक बातों से ज्ञात होता है कि १२०१ ई० तक भीम ने पुनः उसपर अपना अधिकार जमा लिया था[२]। उसके अभिलेखों के आधार पर यह भी स्पष्ट लगता है कि आबू सहित समस्त दक्षिणी राजपूताना शीघ्र ही उसके अधिकार में फिर चला गया। मुसलमानों को अगले १०० वर्षों तक गुजरात पर आक्रमण करने की पुनः हिम्मत नहीं हुई।

गुजरात पर परमारों का आक्रमण

द्वितीय मूलराज के समय परमार शासक विंध्यवर्मा (११७५-११९४ ई०) चौलुक्य सत्ता को मालवा से निकाल देने के प्रयत्न में जुट गया और ११९० ई० में उसका धारा पर अधिकार[३] हो गया। ऐसा प्रतीत होता है कि गुजरात पर मुसलमानों के आक्रमण के कारण भीम मालवा पर अपने अधिकार की रक्षा नहीं कर सका और वहाँ धीरे-धीरे परमार पूर्णरूप से जम गये। यही नहीं, देवपाल के मांधाता अभिलेख से ज्ञात होता है कि विंध्यवर्मा के पुत्र सुभटवर्मा (सुभट अथवा सोहड: ११९४-१२०९ ई०) ने लाट और अण्हिलवाड़ पर भी धावा किया[४]। अण्हिलवाड़ पर उसकी चढ़ाई का समय सम्भवतः वि० सं० १२६७=१११० ई० था। ऐसा अनुमान किया गया है कि मुसलमानों के आक्रमण से उत्पन्न अव्यवस्था के समय चौलुक्यों की कमजोरी का लाभ उठाते हुए उसने धावा किया होगा। किन्तु सुभटवर्मा अण्हिलवाड़ पर बहुत दिनों तक अधिकृत नहीं रह सका। उसे वहाँ से पीछे हटाने का श्रेय अनेक[५] स्थलों पर भीम के लवणप्रसाद नामक शक्तिशाली सामन्त को दिया गया है।

---

१. देखिए सोमेश्वर की दभोय प्रशस्ति, अ० कु० मजुमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १४५-१४६ पर उद्धृत।

२. वहीं, पृष्ठ १४६ तथा नोट ३४।

३. मान्धाता अभिलेख, एइ०, जिल्द ९, पृष्ठ १०८; जएसो०, बेंगाल, पंचम जिल्द, पृष्ठ ३७८; प्रतिपाल भाटिया, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १३७।

४. एइ०, जिल्द ९, पृष्ठ १०८-११४ श्लोक १२-१३; श्रीधरकृत देवपाटन प्रशस्ति, एइ०, जिल्द २, पृष्ठ ४४४-४४५।

५. कीर्तिकौमुदी, द्वितीय ७४; वसन्तविलास, पंचम, ४ और २२, दभोय अभिलेख एइ०, जिल्द १, पृष्ठ २७।

यादव आक्रमण

देवगिरि के यादव शासक पंचम भिल्लम ने भी भीम की आन्तरिक कमजोरियों का लाभ उठाते हुए दक्षिणी गुजरात और लाट क्षेत्रों पर चढ़ाई कर दी । ११८९ ई० के मुटुगि[१] अभिलेख में उसे 'गुर्जररूपी बत्तखों के झुण्ड के लिये मेघ के भयंकर गर्जन के समान' कहा गया है । किन्तु आगे बढ़ने पर मारवाड़ में भीम के नाडोली चाहमान सामन्त केल्हण ने उसे पराजित किया[२] और उसे वापस लौटना पड़ा । भिल्लम के पुत्र जैतुगी (११९१-१२१० ई०) ने लगभग १२०० ई० में पुनः गुर्जरों को पराजित (एइ० जिल्द ५ पृष्ठ २८-३१) किया । इस समय के आसपास ही परमारराज सुभटवर्मा ने भी गुजरात पर आक्रमण किया था, जिससे चौलुक्य दक्षिण में यादवों का सफलतापूर्वक सामना नहीं कर सके । दक्षिण दिशा में चौलुक्यों की सैनिक उलझनों के कारण यादवों को इन आक्रमणों से कोई भौगोलिक लाभ तो नहीं हुआ, किन्तु अपनी बढ़ती हुई सत्ता के प्रदर्शन में गुजरात पर बार-बार आक्रमण करना उन्होंने अपना क्रम सा बना लिया[३] । सौभाग्य से भीम की ओर लवणप्रसाद जैसा योग्य मंत्री और सेनापति उपस्थित था, जिसने अपने गुप्तचरों का प्रयोग कर सिंहण को संधि के लिए विवश कर दिया । सिंहण और लवण प्रसाद के बीच परस्पर अनाक्रमण, किसी तीसरी सत्ता के आक्रमण के समय एक दूसरे की मदद में जाने तथा एक दूसरे की राज्यसीमाओं को भंग न करने की शर्तों वाली इस संधि (यमलपत्र) का ज्ञान **लेखपद्धति** (पृष्ठ ५२) से होता है । लेखपद्धति के श्लोकों के आधार पर यह माना गया है कि सिंहण का अन्तिम आक्रमण तथा उसके अंत में संधि १२३१ ई० के पूर्व हो[४] चुकी थी ।

आन्तरिक विद्रोह और चौलुक्य सत्ता का पराभव

कई बाहरी आक्रमणों के कारण द्वितीय भीम की सत्ता धीरे-धीरे शिथिल हो गयी और अनेक सामन्त स्वतन्त्र होने के लिए विद्रोह करने लगे । सिंहण के आक्रमण के समय मारवाड़ में उदयसिंह, सोमसिंह और धारावर्ष क्रमश जालोर, गोडवड और चन्द्रावती के शासक थे, जो स्वतंत्र होने का प्रयत्न करने लगे । मेवाड़ का गुहिलोत शासक जैत्तसिंह (१२१२-१२५६ ई०) भी[५] चौलुक्य अधिसत्ता का बोझ फेंकने में जुट

---

१. सूक्तिमुक्तावली, भूमिका, श्लोक ११; याज़दानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ५२३ ।
२. सुन्धा पहाड़ी अभिलेख, एइ०, जिल्द ९, पृष्ठ ७२ ।
३. याज़दानी, पूर्वनिर्दिष्ट; पृष्ठ ५३६; कीर्त्तिकौमुदी, चतुर्थ, ४२-५५ ।
४. देखिए, बम्बई गजेटियर, जिल्द १, भाग २, पृष्ठ २४१; हेमचन्द्रराय, डाहिनाइ०, जिल्द २, पृष्ठ १०२५; अ० कु० मजुमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १५२; याज़दानी पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ५३७ ।
५. गौ० ही० ओझा, राजपूताना का इतिहास, जिल्द २, पृष्ठ ४७१; पादटिप्पणी २ ।

गया और अपने को **महाराजाधिराज** कहने लगा। इसी प्रकार सौराष्ट्र में भीमसिंह प्रायः पूर्णस्वतंत्र हो गया। सौभाग्य से भीम की सेवा में लवणप्रसाद और वीरधवल जैसे दो वणिक् जाति के ऐसे मंत्री थे, जो बार-बार उठने वाले इन विद्रोहों को शांत करने में कुछ समय तक सफल रहे। किन्तु भीम की उनपर निर्भरता के कारण प्रशासन और सैन्य की वास्तविक सत्ता धीरे-धीरे उनके हाथों में ही चली गयी। भीम की निजी सत्ता इतनी कमजोर हो गयी कि उसकी अपनी ही राजगद्दी खतरे में पड़ गयी। १२२३ ई० के पूर्व ही कभी जैत्तसिंह नामक उसके किसी चौलुक्य सम्बन्धी ने उससे राज्याधिकार छीनकर अण्हिलवाड़ की राजगद्दी पर कुछ दिनों तक अधिकार[1] कर लिया और अपने नाम से अभिलेखों का प्रकाशन किया। उनमें उसे **महाराजाधिराज, परमेश्वरपरमभट्टारक, उमापतिवरलब्धप्रौढ़प्रसाद, चौलुक्यकुलकल्पवल्लीविस्तारणदीप्तअभिनव-सिद्धराज** कहा गया है और 'भीम के बाद उसके स्थान पर' (तदनन्तरंस्थाने) स्थापित बताया गया है। जयन्तसिंह अथवा जैत्तसिंह के समय में ही परमार राजा अर्जुनवर्मा ने चौलुक्य राजधानी अण्हिलवाड़ पर चढ़ाई की थी।

किन्तु द्वितीय भीम की सत्ता का वास्तविक और सर्वाधिक हरण उसके जैन मंत्रियों—लवणप्रसाद और वीरधवल (पिता-पुत्र) ने ही किया। जैनग्रन्थों में उनके सम्बन्ध में इतने पक्षपातपूर्ण विवरण मिलते हैं कि उनसे ठीक-ठीक स्थिति का ज्ञान नहीं हो पाता। उनमें वे भीम के सबसे बड़े रक्षक दिखाये गये हैं और कहीं भी वास्तविक सत्ता का उनके हाथों में अन्तरण हिंसामूलक नहीं प्रदर्शित है। लगता है कि भीम अपने राजत्त्व के प्रारम्भ में जितना क्रियारत और जागरूक था उतना बाद में नहीं रहा; और धीरे-धीरे सारा राजकाज उन्हीं के हाथों में छोड़ दिया। किन्तु इन्होंने इसका पूरा लाभ उठाकर अन्त में उसका राजत्त्व ही हथिया लिया। **कीर्त्तिकौमुदी** और **सुकृतसंकीर्त्तन** इस स्थिति के सम्बन्ध में दुःख प्रकट करते हुए सूचित करते हैं कि भीम के शक्तिशाली प्रान्तपतियों और मंत्रियों ने उसके राज्य के विभिन्न भागों को हड़पना शुरू कर दिया[2]। **महामण्डलेश्वर** लवणप्रसाद की बढ़ती हुई शक्ति का परिचय इस बात से मिलता है कि १२३१ ई० में सिंहण से जो संधि हुई, उसमें चौलुक्य पक्ष की ओर से वास्तविक राजा भीम का नाम न होकर लवणप्रसाद का ही नाम अंकित किया गया[3]। **महामण्डलेश्वर** लवणप्रसाद और **राणक** वीरधवल नाममात्र की चौलुक्य अधिसत्ता

---

१. एइ० जिल्द ८, पृष्ठ १२१; हेमचन्द्र राय, डाहिनाइ०, जिल्द २, पृष्ठ १०२६-१०२७।

२. बम्बई गजेटियर, १, भाग २, पृष्ठ १९६।

३. बम्बई गजेटियर, १, भाग २, पृष्ठ २४२।

स्वीकार करते हुए धवलक अथवा धोलक में प्रायः पूर्ण स्वतन्त्र थे। भीम के अनेक युद्धों में विजयों का श्रेय लवणप्रसाद को ही दिया गया है। सम्भवतः जयन्तसिंह के विद्रोह को शान्त करके चौलुक्य राज्याधिकार द्वितीय भीम के लिए पुनः प्राप्त करने में उन्होंने जो सहायता दी थी उससे अभिभूत और विवश होकर भीम ने उन्हें प्रशासन में पूरी छूट दे दी थी।[1] किन्तु धीरे- धीरे उनका अधिकार 'राज्य के भीतर राज्य' जैसा हो गया और भीम की मृत्यु के बाद लगभग १३०० वि० सं० में वीरधवल का पुत्र वीसलदेव अण्हिलवाड़ का पूर्ण स्वतन्त्र शासक हो गया[2]। बाघेलों के बाद वाले अभिलेखों में तो लवणप्रसाद और वीरधवल को भी **महाराजाधिराज** की सम्प्रभुतासूचक उपाधियाँ दे दी गयीं।

❁❁❁

---

१. वहीं, पृष्ठ १९६; कीर्त्तिकौमुदी, द्वितीय, ६६–११५; सुकृतसंकीर्त्तन, ७४–७५।

२. हेमचन्द्रराय, डाहिनाइ०, जिल्द २, पृष्ठ १०२८–१०२९।

१७

धारा के परमार

उत्त्पति

गुर्जर प्रतीहारों, चाहमानों और चौलुक्यों की अग्निकुण्ड से उत्पत्ति सम्बन्धी साक्ष्यों के जो हवाले पीछे विभिन्न स्थानों पर दिये गये हैं, वे परमारों के सम्बन्ध में भी लागू होते हैं। अतः यहाँ उनकी पुनः समीक्षा करना पुनरुक्ति मात्र होगी। किन्तु एक विशेष बात यह है कि जहाँ प्रथम तीन राजवंशों के अभिलेख और समकालिक ग्रन्थ उन्हें कहीं भी अग्निकुण्ड से उत्पन्न हुआ नहीं बताते, परमारयुगीन साहित्य और अभिलेख स्पष्टतः उस अनुश्रुति का उल्लेख करते हैं। वाक्पति मुञ्ज और सिन्धुराज के राजदरबारी कवि **पद्मगुप्त** ने अपने **नवसाहसाँकचरित** नामक महाकाव्य में परमारों की उत्पत्ति अर्बुदाचल से जोड़ी है। तदनुसार[१], 'इक्ष्वाकुकुल के पुरोहित वशिष्ठ की कामधेनु विश्वामित्र ने वैसे ही चुरा ली जैसे पहले कार्त्तवीर्य ने जमदग्नि की गाय का अपहरण कर लिया था। दुःखी अरुन्धती के आँसुओं ने वशिष्ठ ऋषि की क्रोधाग्नि प्रज्ज्वलित कर दी। उनकी यज्ञाग्नि में फेंकी हुई आहुति से हाथ में तीर धनुष लिये हुए स्वर्णकवची एक ऐसा वीर उत्पन्न हुआ, जिसने कामधेनु बलपूर्वक विश्वामित्र से छीनकर वशिष्ठ के हवाले कर दी। उस कृतज्ञ ऋषि ने उसे परमार (शत्रु का मारक) कहा और उसे पृथ्वी के शासन की शक्ति दी। प्राचीन मनु की तुलना वाले उस वीर से एक वंश (परमार) चला, जिसने पुण्यात्मा राजाओं से बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त की।' पद्मगुप्त के कनिष्ठ समकालिक धनपाल ने भी अपनी कृति **तिलकमंजरी**[२] में परमारों की इस उत्पत्ति का उल्लेख किया है। इन दो प्रमुख साहित्यिकों की मुहर लग जाने पर आगे परमार और चौलुक्य अभिलेखों[३] में यह

---

१. नवसाहसांकचरित, ११वाँ, ६४-७६।

२. प्रथम, २९।

३. उदयपुर प्रशस्ति, एइ०, जिल्द १, पृष्ठ २३३-२३४; एइ०, जि० २, पृष्ठ १८२-१८३; जिल्द ९, पृष्ठ १२-१३ तथा १५५-१५६; जिल्द १४, पृष्ठ २९७-२९८; जिल्द ८, पृ० २०८-२०९; जिल्द २६, पृष्ठ १८३ इत्यादि। समय की दृष्टि से इनमें सबसे पहला उल्लेख पूर्णपाल के वसन्तगढ़ अभिलेख (१०४९ ई०) का है। देखिए, एइ०, जिल्द ९, पृ० १३, श्लोक ३।

अनुश्रुति दुहरायी गयी, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। आगे भी १७वीं-१८वीं शताब्दियों तक लिखे जाने वाले अनेक साहित्यिक ग्रन्थों[१] में उनके बार-बार उल्लेख किये जाते रहे।

आबू के यज्ञकुण्ड से गुर्जर प्रतीहार आदि चार राजपूत जातियों की उत्पत्ति की अनुश्रुति के आधार पर उन्हें विदेशी हूणों, खजरों अथवा गुर्जरों की सन्तान साबित करने के अनेक प्रयत्नों[२] की निःसारता पीछे यथावसर हम देख चुके हैं[३] और यहाँ परमारों की उत्पत्ति पर विचार करते समय उन कल्पनाप्रभूत तर्कों पर पुनर्विचार की कोई आवश्यकता नहीं है। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि प्रतीहारों, चाहमानों और चौलुक्यों के विपरीत केवल परमारों ने ही अपने को अग्निवंशीं क्यों कहा? डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के मत[४] में उनके अभिलेखों आदि में उनका अग्निवंशीं होना कदाचित् इसलिए प्रचलित हो गया कि उनके किन्हीं-किन्हीं अभिलेखों में उनके प्रथम पूर्वज का नाम धूमराज[५] मिलता है। इससे प्रशस्तिकारों ने धूम और अग्नि को एक साथ मिलाकर उन्हें अग्निवंशी मान लिया। किन्तु यह तर्क इस नाते मान्य नहीं हो सका है कि धूमराज के परमार वंश में प्रथम पूर्वज होने का उल्लेख अपेक्षाकृत बहुत बाद के अभिलेखों में ही हुआ और उनसे बहुत पूर्व के अभिलेखों तथा **नवसाहसांक-चरित** में उनका सम्बन्ध आबू के अग्निकुण्ड से जोड़ा जा चुका था। वशिष्ठ-विश्वामित्र के प्रतीक से ब्रह्मबल (तपस्) और क्षत्रबल (रजस् अथवा पशुबल) के बीच शक्ति प्रदर्शन की अनेक कथाएँ वैदिक साहित्य, **रामायण, महाभारत** और पुराणों में मिलती

---

१. द्वयाश्रयकाव्य, १६वाँ, २४ की टीका; पृथ्वीराजरासो, प्रथम, पृ० ४५-५१; आइने-अकबरी, (अंग्रेजी अनुवाद), जि० २, पृ० २१५; टॉड, ऐऐरा० जिल्द १, पृ० ७९, ११३; जि० ३, पृ० १४४४-१४४५; कनिंघम्, आसरि०, जि० २, पृ० २५५।

२. टॉड, ऐऐरा०, जि० १, पृ० ७९ और आगे पृ० ११३; जि० ३, पृ० १४४४-१४४५; क्रूक, विन्सेण्ट स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, १९२४, पृ० ४२८ पर उद्धृत; कैम्पबेल, बाम्बे गजेटियर, जि० ९, पृ० ४८५ और आगे; दे० रा० भण्डारकर, जराएसो० बम्बई शाखा, जि० २१, पृ० ४२८-४२९ तथा इण्डियन् ऐण्टीक्वेरी, जि० ४०, पृ० ३०; जडिले, जि० १०, पृ० १ इत्यादि।

३. देखिए, पीछे पृष्ठ १२१-१२३, १२६, ४२८-४३१।

४. राजपूताना का इतिहास, जि० १, पृ० ७९।

५. **श्रीधूमराज : प्रथमं बभूर्व भूवासवस्तत्र नरेन्द्रवंशे। एइ०, जि० ८, पृ० २१०। यह अभिलेख आबू के नेमिनाथ मन्दिर से प्राप्त हुआ था तथा इसकी तिथि वि० सं० १२८७=१२३० ई० है।**

है[१] । ऐसा प्रतीत होता है कि पद्मगुप्त ने इन कथाओं को अपने **नवसाहसांकचरित** में काव्यात्मक उड़ान के रूप में स्थानान्तरित मात्र कर दिया । किन्तु पहले की कथाओं में शक, पह्लव और यवन आदि विदेशी जातियों के भी दोनों पक्षों में किसी न किसी की ओर से भाग लेने के उल्लेख हैं । पद्मगुप्त द्वारा वैसा कोई उल्लेख न करना स्पष्टतः इंगित करता है कि वह परमारों को विदेशी नहीं मानता था[२] । वस्तुतः 'परमार' नाम की व्याख्या देना ही उसे अभीष्ट रहा प्रतीत होता है, न कि किसी वास्तविक इतिहास की जानकारी कराना ।

परमारों का इतिहास लिखते समय डॉ० धी० चं० गांगुली ने द्वितीय सीअक के वि० सं० १००५ अर्थात् ९४८ ई० के हर्सोल अभिलेख (एइ०, जि० १९, पृ० २३७) के आधार पर उन्हें मान्यखेट के राष्ट्रकूटों से जोड़ा ।[३] उनके मत में उनका राष्ट्रकूट होना इस बात से प्रमाणित है कि वाक्पति मुंज ने **अमोघवर्ष, श्रीवल्लभ** और **पृथ्वीवल्लभ** जैसी राष्ट्रकूट[४] उपाधियाँ धारण कीं । वे परमारों का मूल स्थान दक्षिण में कहीं होने का प्रमाण अबुल-फज्ल की आइने-अकबरी[५] से देते हैं, जिसमें कहा गया है कि परमारवंश का संस्थापक धंजी (धनंजय) दक्षिण से अपनी राजधानी बदलकर मालवा का अधीश्वर बना । पुनः, वे यह मानते हैं कि मालवा में परमारों (उपेन्द्र-कृष्णराज) की स्थापना तृतीय गोविन्द के भृत्य (अधिकारी) के रूप में हुई । किन्तु डॉ० गांगुली की मान्यताओं में अनेक भ्रान्तियाँ हैं । इस सम्बन्ध में सबसे जबरदस्त आपत्ति का स्वयं उन्हें भी ध्यान था । वह यह कि यदि परमार राष्ट्रकूट वंश के थे तो उन्होंने अन्य छोटे राष्ट्रकूट वंशों की तरह इस तथ्य का कहीं उल्लेख क्यों नहीं किया ? इसके उत्तर में वे कहते हैं (परमार

---

१. अथर्ववेद, पंचम, १८; वा० रा० प्रथम, ५४-५६वाँ अध्याय; आदिपर्व, १७५वाँ अध्याय; वनपर्व, ८२वाँ अध्याय । इस सम्बन्ध में और देखिए, राजबली पाण्डेय, भारती, जिल्द १, पृ० १-८; वि० श० पाठक, भारती, जि० ६ (१९६२-१९६३) पृ० ३३ और आगे ।

२. विदेशियों को भारतीय समाज में मिलाकर निम्न पद ही दिये गये और उनके लिए धर्मशास्त्रकारों ने व्रात्य धर्म का सिद्धान्त प्रवर्त्तित किया । देखिए मनुस्मृति, १०वाँ, ४३-४४; काणे, हिस्ट्री ऑफ् धर्मशास्त्र, जि० १, भाग २, पृष्ठ ९६ ।

३. परमार राजवंश का इतिहास (लखनऊ) पृ० ५ और आगे; डॉ० हेमचन्द्रराय ने डॉ० गांगुली के मत की ओर निर्देश करते हुए उसे स्वीकृति सी प्रदान की । डाहिनाइ०, जि० २, पृ० ८४१-४२ ।

४. एइ०, जि० ६, पृ० ५१; जि० १४, पृ० १६० ।

५. अंग्रेजी अनुवाद, जि० २, पृ० २१४ और आगे ।

राजवंश का इतिहास, पृ० ७, टिप्पणी ४) कि 'उस समय के चक्रवर्त्ती शासक वंशों में यह सामान्य रीति थी कि वे अपनी उत्पत्ति कुछ पौराणिक वीरों से जोड़ते थे और उनके नाम पर अपने राजवंशों के नाम रखते थे। इस सम्बन्ध में वे प्रतीहारों का उदाहरण देते हैं, जो अपना सम्बन्ध रघुवंशी लक्ष्मण से जोड़ते हैं। किन्तु यह तर्क इस कारण बड़ा सारहीन प्रतीत होता है कि प्रतीहारों, चन्देलों अथवा कलचुरियों के मान्य पूर्वपुरुष-लक्ष्मण, चन्द्रात्रेय अथवा पुरूरवा तो पौराणिक पुरुष थे किन्तु परमारों के आदि पूर्वज (परमार) का पौराणिक साहित्य में कहीं भी उल्लेख नहीं है। इस सम्बन्ध में उनका यह कथन भी मान्य नहीं है कि **चक्रवर्त्ती** शासक-वंश अपने को वास्तविक पूर्वजों से न जोड़कर पौराणिक वीरों से जोड़ते थे। कल्याणी के चालुक्य **चक्रवर्त्ती** शासक थे, किन्तु बादामी के चालुक्यों से अपना सम्बन्ध जोड़ते हुए वे गौरव का अनुभव करते थे। इन बातों के अतिरिक्त जिस हर्सोल अभिलेख के आधार पर वे परमारों का राष्ट्रकूट वंश का होना स्वीकार करते हैं, उसकी पाठपूर्णता के सम्बन्ध में ही विद्वानों को[१] सन्देह है। अतः उस खण्डित पाठ के आधार पर कोई निष्कर्ष निकालना समीचीन नहीं होगा। पुनः इस अभिलेख के सम्पादकों ने उसके प्रास्ताविक अंशों में राष्ट्रकूट नामों के होने का कारण[२] यह बताया है कि परमार मातृपक्ष से राष्ट्रकूटों से जुड़े हुए थे और जैसे कुछ वाकाटक अभिलेखों के प्रारम्भ में गुप्त सम्राटों के भी उल्लेख किये गये हैं, वैसे ही परमारों ने भी **अमोधवर्ष** और **अकालवर्ष** जैसे विरुदों से अपना उल्लेख प्रारम्भ किया[३]। आइने-अकबरी के इस कथन की कोई ऐतिहासिक पृष्ठभूमि नहीं है कि परमारों का

---

१. देखिए, दीक्षित और दिस्कल्कर, प्रतिपाल भाटिया, दि परमारज, पृ० १६ पर उद्धृत; एइ०, जि० ९, पृ० २३८। किन्तु यह सर्वमान्य नहीं है कि हर्सोल अभिलेख का पाठ अपूर्ण है।

२. प्रतिपाल भाटिया (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १६-१७) का तर्क है कि हर्सोल पट्ट मूलतः राष्ट्रकूटों का था, जिसे द्वितीय सीअक ने राष्ट्रकूट गजनिवास की लूट में पाया था तथा उसके प्रारम्भिक भागों (लेख) को बिना हटाये उसी पर अपना लेख प्रकाशित किया। इस प्रकार हमें एक मिश्रित दानपत्र मिलता है जो ऊपर से राष्ट्रकूट आलेख्य के रूप में प्रारम्भ होता है, किन्तु द्वितीय सीअक के आलेख्य रूप में अन्त होता है। उसका पुत्र द्वितीय वाक्पति एक पग और आगे गया। उसके गाओन्री पट्ट पर मूलतः एक राष्ट्रकूट अभिलेख था। उसे उसने मिटा ही नहीं दिया, अपितु पृथ्वीवल्लभ, श्रीवल्लभ और अमोघवर्ष जैसी राष्ट्रकूट उपाधियाँ भी धारण कर लीं। राष्ट्रकूटों की साम्राज्यसत्ता के अन्त के बाद वह अपने को उन विरुदों का वास्तविक अधिकारी समझता था।

३. देखिए, एइ०, जिल्द १९ पृ० २१८ आदि।

मूल शासक धंजी अथवा धनंजय दक्षिण से मालवा में आया। वास्तव में धनंजय नामक कोई व्यक्ति परमार अभिलेखों अथवा उससे सम्बद्ध अन्य साक्ष्यों से ज्ञात ही नहीं है।

अन्य तथाकथित अग्निकुलीय राजवंशों की ही तरह परमार न तो विदेशी गुर्जरों गूजरों अथवा खजरों से सम्बद्ध थे और न अग्निवंशी ही थे। पद्मगुप्त और अभिलेखों द्वारा उनका वशिष्ठ की यज्ञाग्नि-वेदिका से जोड़ा जाना केवल उनके परमार नाम को प्राचीनता देने के प्रयत्न मात्र का द्योतक है। किन्तु इन उल्लेखों में उनके प्राचीन निवास और इतिहास के अनेक तत्त्व विद्यमान हैं। सबसे प्रमुख बात यह है कि वे आबू के पर्वतीय क्षेत्रों और वशिष्ठ ऋषि से किसी न किसी प्रकार सम्बद्ध थे। वे अपना गोत्रसम्बन्ध वशिष्ठ से जोड़ते हैं। वास्तव में उनके मूल को सबसे अधिक उद्घाटित करने वाला साक्ष्य हलायुध की **पिंगलसूत्रवृत्ति** है, जिसका लेखक अपने आश्रयदाता वाक्पति को **ब्रह्मक्षत्रकुलीन** कहता है।[१] सेन, गुहिलोत और चाहमान ऐसे ही 'ब्रह्म-क्षत्रकुलीन' थे, जिन्हें 'ब्रह्मक्षत्रान्वित', बिप्रकुलनन्दन' अथवा 'विप्र' कहा गया है[२]। ये संज्ञाएँ उन राजवंशों के लिए प्रयुक्त की गयीं, जिनके मूल पूर्वज तो ब्राह्मण थे, किन्तु बाद में उन्होंने किसी कारणवश ब्राह्मणों का कर्त्तव्य छोड़कर क्षत्रियकर्त्तव्य अपना लिया[३]। **मत्स्यपुराण** इसकी स्पष्ट परिभाषा देते हुए[४] कहता है कि 'ब्रह्मक्षत्र की योनि (जाति) कलियुग में राजाओं की क्षेमकारी संस्था बनकर देवर्षियों द्वारा सत्कृत वंश होगी।' पुराणों और महाकाव्यों में ब्रह्मबल और क्षत्रबल की परस्पर प्रतियोगिता तथा ब्रह्मबल की वर्चस्वता के अनेक कथानक आते हैं। किन्तु आदर्श यह माना गया है कि लोक-कल्याण के लिए वे दोनों ही साथ-साथ काम करें। क्षत्र के प्रतीक विश्वामित्र से लड़ने के लिए ब्रह्म के प्रतीक वशिष्ठ की परमाररूपी जो शक्ति तैयार हुई, वही ब्रह्मक्षत्र थी जो आगे चलकर राजत्त्व ग्रहण कर क्षत्रिय बन गयी। परमार अपने गोत्रोच्चार में

---

१. ब्रह्मक्षत्रकुलीनः समस्तसामन्तचक्रपूतचरणः।
सकलसुकृतैकपुंजः श्रीमान् मुंजश्चिरं जयति।। पिंगलाचार्यकृत छन्दशास्त्र, अ० ४, श्लोक ११ की टीका।

२. देखिए, विजयसेन का देवपाड़ा अभिलेख श्लोक ५, एइ० जिल्द १, पृ० ३०७; शक्तिकुमार का अत्पुर अभिलेख, इऐ० जिल्द ३९, पृ० १८६ और आगे।

३. स्मतियाँ इस प्रकार का वर्णपरिवर्तन स्वीकार करती हैं। देखिए, मनु०, षष्ठम १०, और उस पर मेधातिथि की टीका; याज्ञवल्क्यस्मृति आचाराध्याय, ९१।

४. ब्रह्मक्षत्रस्य यो योनिर्वशो देवर्षिसत्कृतः। क्षेमकं प्राप्य राजानं संस्थां प्राप्स्यति वै कलौ। ५०वाँ, ८८।

स्वयं को वशिष्ठगोत्री मानते हैं जो वशिष्ठ से उनके मूल सम्बन्ध का द्योतक है। अतः परमारों को मूलतः वशिष्ठ ब्राह्मण और बाद का वशिष्ठगोत्री क्षत्रिय स्वीकार करना चाहिए[१]। किन्तु ब्राह्मण से क्षत्रिय होने के उनके इतिहास के बारे में कोई जानकारी नहीं है।

लाट-मालवा के परमार : उनके उदय के पूर्व मालवा की स्थिति

परमार राजवंश की अनेक शाखाओं ने धारा-उज्जैन (मालवा और लाट); चन्द्रावती (आबू); वागड (बाँसवाड़ा); जावालिपुर (जालोर) और किरातकूप (किरादू) से शासन किया। किन्तु सबसे प्रमुख और सर्वाधिक शक्तिशाली शाखा मालवा (धारा-उज्जैन) की ही थी। अन्य शाखाएँ केवल सामन्त सत्ताएँ मात्र थीं, जिनके इतिहास की स्वतन्त्र रूप से यहाँ चर्चा नहीं की जायेगी।

अनुश्रुतियों में परमारों का प्रारम्भिक सम्बन्ध आबू से बताया गया है। मालवा में कब और किन परिस्थितियों में वे गये तथा वहाँ की राजनीतिक सत्ता के रूप में उनका कैसे प्रारम्भ हुआ, यह बड़े विवाद का विषय है। वास्तव में ईसा की आठवीं-नवीं शताब्दियों में मालवा मान्यखेट के राष्ट्रकूटों और उज्जैन-कन्नौज के गुर्जर प्रतीहारों की आपसी प्रतिस्पर्द्धाओं का स्थल बना रहा और बारी-बारी से उसके विभिन्न क्षेत्रों पर ये दोनों सत्ताएँ अधिकृत और अनधिकृत होती रहीं। यदि परमार वहाँ किसी स्थानीय सत्ता के रूप में रहे तो कहाँ और किसकी अधीनता में रहे, यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। आठवीं शताब्दी के मध्य में सिन्ध के ताजिकों अथवा अरबों ने सुराष्ट्र, चावोत्कट, मौर्य और गुर्जर राजाओं पर अधिकार कर लिया और उज्जैन पर धावे मारना प्रारम्भ कर दिया। गुजरात, राजपूताना और काठियावाड़ से उन्हें पीछे ढकेल देने का श्रेय ७३८-९ ई० के नवसारि अभिलेख में पुलकेशिराज **अवनिजाश्रय**[२] को दिया गया है। किन्तु उज्जैन के क्षेत्रों से प्रथम नागभट्ट प्रतीहार ने उन्हें हटाया[३], जिसका आधिराज्य गुजरात में ७५६ ई० में भड़ोंच का चाहमान शासक भर्तृवृद्ध स्वीकार करता

---

१. उदयपुर प्रशस्ति में इस राजवंश के संस्थापक उपेन्द्रराज को 'द्विजवर्ग्गरत्न' कहा गया है :—उपेन्द्रराजो द्विजवर्ग्गरत्नं शौर्यार्जितोत्तुंगनृपत्त्वमाणः। एइ० जि० १, पृ० २३४।

२. र० चं० मजुमदार, दि अरब इन्वेजन् ऑफ् इण्डिया, जर्नल् ऑफ् इण्डियन् हिस्ट्री, जि० १०, पूरक।

३. ग्वालियर अभिलेख, एइ०, जि० १८; पृ० १९८ और आगे, श्लोक ४।

था[१]। किन्तु राष्ट्रकूट साक्ष्यों से ज्ञात है कि प्रथम नागभट्ट को दन्तिदुर्ग (७३३-७५८ ई०) ने हराया। उसने उज्जैन पर अधिकार कर **हिरण्यगर्भ** नामक महादान (यज्ञ) का आयोजन भी किया।[२] इन दोनों घटनाओं में कौन पहले की है और कौन बाद की, यह निश्चित करने का कोई पक्का प्रमाण नहीं है। जिनसेन रचित **जैन हरिवंश**[३] से ज्ञात है कि शक संवत् ७०५ अर्थात् ७८३ ई० में अवन्ति (उज्जैन) का शासनाधिकार प्रथम नागभट्ट के भ्रातृज-पुत्र वत्सराज के हाथों में था। किन्तु गुर्जर प्रतीहारों का यह अधिकार स्थायी नहीं साबित हुआ। ध्रुव राष्ट्रकूट ने वत्सराज को हराकर उसे राजपूताना में कहीं शरण लेने को विवश किया।[४] इन साक्ष्यों के आधार पर अनेक विद्वान्[५] यह स्वीकार करते हैं कि उज्जैन (मालवा) पर प्रतीहारों का अधिकार था और राष्ट्रकूट उन्हें वहाँ से अनधिकृत करने का बार-बार प्रयत्न कर रहे थे। किन्तु एक नयी मान्यता[६] इसके विपरीत भी है। तदनुसार, इन घटनाओं से सम्बद्ध राष्ट्रकूट अभिलेखों में अनेक स्थानों पर गुर्जर और मालव के अलग-अलग उल्लेख हैं, जो यह इंगित करते हैं कि वे अलग-अलग शासकों के अधीन थे। इस मत में गुर्जर से तात्पर्य भड़ौच के गुर्जर राज्य से है न कि प्रतीहार राज्य से। किन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि राष्ट्रकूट अभिलेख में आद्योपान्त प्राय: सर्वत्र ही घूर्ज्जर अथवा (गुर्जर) का उल्लेख प्रतीहार शासकों के लिए हुआ है न कि किसी अन्य सत्ता के लिए। वास्तव में मान्यखेट में राष्ट्रकूटों की सत्ता का विकास होने के साथ भड़ौच का गूर्जर राज्य समाप्त हो रहा था। अत: अभिलेखों में मालव का अलग प्रयोग यह नहीं साबित करता कि गूर्जर प्रतीहारों का उस पर अधिकार नहीं था।

यद्यपि परमारों का इतिहास मालवा के किसी भाग में उनके एक छोटी सी सत्ता होने का समर्थक है, इस बात के अनेक प्रमाण हैं कि राष्ट्रकूट तृतीय इन्द्र और प्रतीहार प्रथम महीपाल तक राष्ट्रकूटों और प्रतीहारों के बीच मालवा के विभिन्न भागों के लिए बराबर संघर्ष चलता रहा। द्वितीय नागभट्ट के समय से गुजरात-काठियावाड़ के विभिन्न

---

१. देखिए, पीछे पृष्ठ १२९।
२. एइ०, जि० १८, पृ० २३५, श्लोक ९; दशावतार गुहा मंदिर अभिलेख, आसरि०, पश्चिमी वृत्त, जि० ५, पृ० ८७-८८।
३. ६६वाँ, ५३।
४. एइ०, जि० ६, पृ० २४३ (संजान अभिलेख); इऐ०, जि० ११, पृ० १५७।
५. देखिए फ्लीट, एइ०, जि० ५, पृ० १९५।
६. भण्डाराकर, एइ०, जि० १८, पृ० २३८-२३९; अल्तेकर राष्ट्रकूटज् ऐण्ड देयर टाइम्स् पृ० ३९; प्रतिपाल भाटिया, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २३-२५।

क्षेत्रों पर चाहमान और चालुक्य सामन्तों के माध्यम से गुर्जर प्रतीहारों की अधिसत्ता बनी रही। उसे निरन्तर बनाये रखने के लिए मालवा पर अधिकार रखना उनके लिए आवश्यक था। वे कहीं इन मार्गों से राष्ट्रकूटों की गुजरात वाली शाखा पर अथवा मान्यखेट के प्रत्यक्ष क्षेत्रों पर चढ़ न जाँय, यह शंका राष्ट्रकूटों को सर्वदा बनी हुई थी। अत: मालवा के लिए, विशेषत: बड़ौदा अन्तराल के लिए, उन दोनों सत्ताओं में संघर्ष[१] होना स्वाभाविक था। इन संघर्षों का इतिहास पीछे पाँचवें अध्याय में हम देख चुके हैं और उसे दुहराने की आवश्यकता नहीं है। इन दो महासत्ताओं के अन्तर्द्वन्द्व के बीच ही परमारों का उदय हुआ। किन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि उनके दीर्घकालिक संघर्षों में प्रारम्भिक परमारों का राजनीतिक योगदान क्या था।

उपेन्द्रराज (लगभग ७९०-८१७ ई०)

परमार राजवंश में सर्वप्रथम शासक का नाम उपेन्द्रराज[२] ज्ञात होता है। वह महत्त्वाकांक्षी वीर राजनीतिक प्रभुत्त्व के लिए होनेवाली पाल-राष्ट्रकूट प्रतीहार घुड़दौड़ का मूक दर्शक मात्र होने से संतुष्ट नहीं था। उदयपुर प्रशस्ति से ज्ञात होता है[३] कि उसने 'अपने निजी शौर्य से राजत्त्व का उच्च पद प्राप्त किया।' सम्भवत: यह इस बात का द्योतक है कि तत्कालीन क्षुब्ध राजनीतिक परिस्थितियों का लाभ उठाते हुए उसने अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर ली। किन्तु इस उपलब्धि की वास्तविक तिथि और परिस्थितियाँ अज्ञात हैं। विभिन्न विद्वानों ने इस सम्बन्ध में घटनाओं का जो क्रम खींचा[४]

---

१. हेमचन्द्र राय का अनुमान हैं (डाहिनाइ०, जि० २, पृ० ८३७) कि मालवा पर राष्ट्रकूटों के दबाव के परिणामस्वरूप ही प्रतीहारों ने अपनी राजधानी उज्जैन से हटाकर कन्नौज में स्थापित की।

२. वाक्पति मुंज के लेखों (इऐ० जिल्द ६, पृ० ५१ और जि० १४, पृ० १६०) में परमार वंशवृक्ष कृष्णराज से प्रारम्भ किया गया है। अधिकांश विद्वानों ने कृष्ण-राज को उपेन्द्रराज का ही पर्यायवाची माना है। देखिए-हाल, जएसो०, बेंगाल, जि० ३०, पृ० ११४ टिप्पणी; एइ०, जि० १, पृ० २२५ तथा जि० ६, पृ० १६७।

३. उपेन्द्रराजो द्विजवर्ग्गरत्नं शौर्यार्ज्जितोत्तुंगनृपत्त्वमाण:। श्लोक ७, एइ०, जि० १, पृ० २३५।

४. प्रतिपाल भाटिया (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २९-३०) ने यह माना है कि ध्रुव के हाथों वत्सराज की हार के बाद उपेन्द्रराज को अवसर मिला। वहीं वह अवन्ति का राजा था, जो कन्नौज में चक्रायुद्ध के राज्याभिषेक के समय उपस्थित हुआ था। तृतीय गोविन्द की उत्तरी विजयों के बाद उसने राष्ट्रकूटों की अधीनता मान ली। किन्तु गोविन्द के चले जाने पर द्वितीय नागभट्ट ने मालवा रौंदा। उसने विवश

है, वह अस्पष्ट और उलझे हुए साक्ष्यों पर आधृत होने के कारण प्रायः आपत्तिजनक है। किन्तु एक बात स्पष्ट है कि पूरी नवीं शती तथा दशवीं शती के प्रथमार्द्ध में सौराष्ट्र पर गूर्जर प्रतीहारों का आधिपत्य[१] था, जो मालवा के मार्गों से होकर ही संभव था। मालवा और सुराष्ट्र पर उनका अधिकार भोज की ग्वालियर प्रशस्ति, **स्कन्दपुराण**, भोज के समय का बारतों संग्रहालय अभिलेख और द्वितीय महेन्द्रपाल के प्रतापगढ़ अभिलेख तथा गोरखपुर के कलचुरियों के कहला अभिलेख से स्पष्ट है। अतः डॉ० गांगुली की यह मान्यता[२] स्वीकार नहीं की जा सकती कि मालवा प्रथम महीपाल प्रतीहार (९१४-९४६ ई०) के समय तक राष्ट्रकूटों की अधीनता में रहा तथा उपेन्द्र ने राष्ट्रकूट शासक तृतीय गोविन्द के माण्डलिक के रूप में वहाँ शासन प्रारम्भ किया। सम्बद्ध राष्ट्रकूट साक्ष्यों से केवल इतना प्रमाणित होता है कि अमोघवर्ष और द्वितीय कृष्ण के समय उन्होंने उज्जैन के आसपास के क्षेत्रों के लिए युद्ध तो किये, किन्तु उन्हें कोई स्थायी सफलता हाथ नहीं लगी।

नवसाहसांकचरित (११वाँ, ७६-७८) उपेन्द्र को प्रजाओं पर लगने वाले करों में कमी करने का श्रेय देता है। कदाचित् अपनी सत्ता के दृढ़ीकरण के उद्देश्य से प्रजारंजन के लिए उसने यह कदम उठाया। उसके राजदरबार में सीता नामक कवयित्री रहती थी, जिसने उसकी प्रशंसा में अनेक गीत लिखे।[३] उपेन्द्र ने अनेक यज्ञों का भी सम्पादन किया। मोटे तौर पर उसका समय आठवीं शती के अन्तिम दशक और नवीं शती में प्रथम दो दशकों के बीच रखा जा सकता है।

होकर राष्ट्रकूटों से सहायता माँगी, जो उसके लिए विशेष लाभकारी नहीं सिद्ध हुई और नागभट्ट ने ८२० ई० के आसपास पुनः मालवा पर आक्रमण कर उसके पहाड़ी दुर्गों पर अधिकार कर लिया। उपेन्द्र अथवा उसका उत्तराधिकारी प्रतीहारों की अधीनता मानने को विवश हुआ।

१. एइ०, जि० १८, पृ० १०८; इहिक्वा० जि० ५, पृ० १२९-१३३ तथा जि० ३४, पृ० १४२-१५१; एइ०, जि० १९, पृ० १७६; एइ०, जि० १४, पृ० १७६ और आगे। एइ०; जि० ७, पृ० ८५ और आगे।

२. पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २० तथा २३-२४। उनकी यह मान्यता (पृ० २२-२३) है कि उपेन्द्रराज और उसके चार उत्तराधिकारी राष्ट्रकूटों के माण्डलिक थे। इस मूल मत का परिणाम है कि उन दोनों का वंश एक ही था तथा परमार दक्षिण से मालवा में आये।

३. नवसाहसांकचरित, ११वाँ ७६-७८। मेरुतुंगकृत प्रबन्धचिन्तामणि, (द्विवेदी, पृ० ५३-५४) में भी सीता (शीता) का उल्लेख हैं किन्तु भ्रमवश उसे भोज के दरबार में रखा गया है। इस पर देखिए, एइ०, जि० १, पृ० १२४।

प्रथम वैरिसिंह (लगभग ८१८-८४२ ई०)

उपेन्द्र की रानी लक्ष्मीदेवी से वैरिसिंह और डम्बरसिंह नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। वैरिसिंह मालवा में उसका उत्तराधिकारी हुआ और डंबरसिंह को बागड (बाँसवाड़ा) का सामन्ती अधिकार मिला। उदयपुर प्रशस्ति में कहा गया है कि वैरिसिंह ने अपनी यश:कीर्ति के अंकन के लिए सारी पृथ्वी पर जयस्तम्भों की स्थापना की। इसे कोरी प्रशस्ति ही मानना चाहिए, क्योंकि द्वितीय नागभट्ट और प्रथम भोज जैसे शक्तिशाली सम्राटों का समकालिक होते हुए उसे महत्त्वपूर्ण विजयें प्राप्त करने का अवसर नहीं रहा होगा। उज्जैन के आसपास के क्षेत्रों पर उनके प्रभाव को देखते हुए वैरिसिंह को उनका सामन्त ही स्वीकार करना ठीक होगा।

प्रथम सीअक और एक अन्य शासक (लगभग ८४३-८९३ ई०)

प्रथम वैरिसिंह के पुत्र और उत्तराधिकारी सीअक (प्रथम) के बारे में कोई विशेष जानकारी नहीं है। **नवसाहसांकचरित** का निर्देश है कि उसके बाद और प्रथम वाक्पति के पूर्व कोई एक और शासक भी हुआ।[१] किन्तु वहाँ उसका नाम नहीं दिया गया है। उदयपुर प्रशस्ति में भी उसकी कोई चर्चा नहीं है। लगता है कि या तो वह अत्यल्पशासी था अथवा वंश की प्रतिष्ठा को किसी प्रकार आघात पहुँचाने वाला था, जिसका उल्लेख परमार कवि और प्रशस्तिकार नहीं करना चाहते थे।

प्रथम वाक्पति (लगभग ८९४-९२० ई०)

अगला शासक कृष्णराज, उपनाम वाक्पति हुआ, जिसे हर्सोल अभिलेख (एइ०, जि० १९, पृ० २४२) में वप्पयराज कहा गया है। उदयपुर प्रशस्ति की सूचना[२] है कि शतमुख (इन्द्र) तुल्य वह 'अवन्ति की कुमारियों के नेत्रोत्पलों के लिए सूर्य' था। इसका तात्पर्य केवल इतना प्रतीत होता है कि अवन्ति पर उसका दृढ़ अधिकार था। पुन: कहा गया है कि उसकी सेनाओं ने गंगा-समुद्र का जल पिया। चूँकि एक छोटे से राजा के लिए इतनी दूर जाकर स्वयं सैनिक विजयें करना असम्भव था, यह निष्कर्ष सही ही निकाला गया है कि वाक्पति प्रथम महेन्द्रपाल प्रतीहार की ओर से सामन्तरूप में पालों के विरुद्ध युद्ध में लड़ा था। द्वितीय वाक्पति मुंजराज के

---

१. इस सम्बन्ध में देखिए, बूहलर इऐ०, जिल्द २६, पृ० १६६; प्रतिपाल भाटिया, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३४; नवसाहसांकचरित (११वाँ, ८०) का उल्लेख है : 'तस्मिन् गते नरेन्द्रेषु तदन्येषु गतेषु च।'

२. एइ०, जि० १, पृ० २३४।

अभिलेखों[१] में उसे **परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर** की साम्राज्यसूचक उपाधियाँ दी गयी हैं। किन्तु इन उपाधियों को विशेष महत्त्व नहीं दिया जा सकता, क्योंकि हर्सोल अभिलेख उसके पुत्र और उत्तराधिकारी वैरिसिंह को **महामाण्डलिक चूड़ामणि** मात्र कहता है। लगता है कि प्रथम महेन्द्रपाल के शासनान्त के बाद गुर्जर प्रतीहार साम्राज्य की भीतरी कमजोरियों और तृतीय इन्द्र के आक्रमण (९१५-१६ ई०) के कारण जो अव्यवस्था उत्पन्न हुई, उसमें परमारों ने प्रतीहारों की अधिसत्ता का बोझ उतार फेंका और वाक्पति पूर्ण स्वतन्त्र हो गया।

द्वितीय वैरिसिंह (लगभग ९२१-९४५ ई०)

वाक्पति का पुत्र वैरिसिंह वज्रट्स्वामी भी कहलाता था। उसके समकालिक प्रतीहार सम्राट् प्रथम महीपाल और द्वितीय महेन्द्रपाल थे। उनकी कठिनाइयों से लाभ उठाने का जो उपक्रम प्रथम वाक्पति ने प्रारम्भ किया था, उसे वैरिसिंह ने जारी रखते हुए धारा की विजय की[२]। किन्तु राष्ट्रकूट अभियान (९१५-९१६ ई०) से मुक्ति पा जाने के बाद प्रथम महीपाल ने थोड़े दिनों के लिए पुनः प्रतीहार सत्ता पुनरुज्जीवित कर अनेक दिशाओं में विजयें कीं। उसी सिलसिले में उसने वैरिसिंह को धारा से हटाकर वहाँ अपना अधिकार स्थापित किया। सोढ़देव के कहला अभिलेख (एइ०, जि० ५, पृ० ८५-९३) से ज्ञात होता है कि कलचुरि सामन्त गुणाम्बोधिदेव के पौत्र भामान ने धारा की विजयकर यश प्राप्त किया। गुणाम्बोधिदेव प्रथम भोज का सामन्त था। अतः यह निश्चित है कि भामान ने धारा की विजय भोज के पौत्र महीपाल की ओर से ही की। महीपाल इतने से ही संतुष्ट नहीं हुआ। उसने प्रायः समस्त मालवा पर अधिकार कर अपने प्रशासकों की नियुक्ति की। उसके पुत्र और उत्तराधिकारी द्वितीय महेन्द्रपाल के प्रतापगढ़ अभिलेख[३] से ज्ञात होता है कि उस समय मांडू और उज्जैन पर प्रतीहारों का प्रशासकीय अधिकार था। चूँकि महेन्द्रपाल अल्पशासी था और उसकी किसी सैनिक उपलब्धि का ज्ञान नहीं है, यह मान्य है कि अवन्ति में प्रतापगढ़ और मन्दसौर के आसपास के ये प्रदेश प्रथम महीपाल द्वारा ही विजित किये गये होंगे।[४] यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है कि माण्डू और धारा के आसपास के क्षेत्रों से निकाले जाने के बाद परमारों ने कहाँ जाकर अपनी रक्षा की।

---

१. इऐ०, जि० ६, पृ० ५०-५१; जि० १४, पृ० १५९-१६१।

२. एइ०, जि० १, पृ० २३५, २३७, श्लोक ११।

३. एइ० जि० १४, पृ० १७६ और आगे।

४. देखिए, पीछे पृष्ठ १६६।

हर्ष द्वितीय सीअक (लगभग ९४५-९७२ ई०)

किन्तु महीपाल की विजयें प्रतीहार सत्ता के सूर्य की सायंकाल वाली किरणें थीं। उसके कमजोर उत्तराधिकारी अपनी महान् विरासत की रक्षा नहीं कर सके।[१] मालवा की राजनीति में बार-बार हस्तक्षेप करने वाले राष्ट्रकूटों का भी ध्यान इस समय चोलों से संघर्ष में लगा हुआ था। उनका अन्तिम शक्तिशाली राजा तृतीय कृष्ण (९४०-९६७ ई०) था, जिसका उत्तराधिकारी खोट्टिग (९६७-९७५ ई०) अयोग्य साबित हुआ। अतः वैरिसिंह के पुत्र और उत्तराधिकारी हर्षदेव, उपनाम सीअक[२], को परमार सत्ता की नींव मजबूत करने का सुनहला अवसर मिल गया। उसने अनुमानतः १०वीं शती के चौथे चरण में कभी अपना शासन प्रारम्भ किया। अभिलेखों और साहित्यिक साक्ष्यों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि परमार राजवंश के प्रारम्भिक शासकों में उसकी राजनीतिक उपलब्धियाँ सबसे अधिक और महत्त्वपूर्ण थीं। ये उपलब्धियाँ उसकी सैनिक प्रतिभा और राजनीतिक सूझबूझ का परिणाम थीं, जिन्हें उसने अनुकूल परिस्थितियों का लाभ उठाने में अत्यन्त कुशलतापूर्वक उपयुक्त किया।

गुर्जर प्रतीहार और राष्ट्रकूट साम्राज्यों के खण्डहरों पर उठने वाली सत्ताओं में परमार अकेले नहीं थे। चन्देलों और चौलुक्यों के क्षेत्र उनकी सीमाओं से मिलते थे। अतः उनके पारस्परिक संघर्ष स्वाभाविक थे। सीअक अपने शासन के प्रारम्भिक वर्षों (९४९ ई०) में **महाराजाधिराजपति** और **महामाण्डलिकचूडामणि**[३] की अर्ध-स्वतंत्रतासूचक उपाधियाँ ही धारण करता था, जो इस बात की द्योतक हैं कि तब तक वह अपने को प्रतीहारों की अधिसत्ता से पूर्णतः मुक्त नहीं समझता था। किन्तु शीघ्र ही अनेक युद्धों के माध्यम से पूर्ण स्वतन्त्र होकर परमार सत्ता के चतुर्दिक् विकास में वह अग्रसर हो गया। उसका हर्सोल अभिलेख[४] योगराज नामक किसी शत्रु पर उसकी विजय का उल्लेख करता है। तदनुसार, उस अभियान की सफल समाप्ति के बाद अपने राज्य की ओर लौटते हुए उसने मही नदी के तीर पर अपना खेमा डाला और खेटकमण्डल के अधिपति के कहने से मोहडवासक विषय के कुम्भारोटक और सीहका नामक गाँवों का दान किया। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इस सन्दर्भ का पराजित शत्रु

---

१. देखिए, पीछे पृष्ठ १७३ और आगे।

२. एइ०, जि० १९, पृ० २३६-२४३; प्रबन्धचिन्तामणि (द्विवेदी, पृ० २७) में उसे सिहदन्तभट कहा गया है। हर्षदेव और सीअक नाम एक ही व्यक्ति के बोधक थे। इसके लिए देखिए, एइ० जि० १ पृ० २२७, एइ०, जि० १४, पृ० २९९, श्लोक १९, इऐ०, जि० ६, पृ० ५१।

३. एइ०, जि० १९, पृ० २४२।

४. वहीं, पृ० २३८-२४२, श्लोक ९ और १२।

योगराज[१] कौन था । किन्तु इस अभिलेख में उल्लिखित स्थानों से विजित क्षेत्र का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है । योगराज का राज्यक्षेत्र मही नदी और खेटकमण्डल के कुछ पश्चिम था । खेटकमण्डल आजकल के खेड़ा जिला और अहमदाबाद के कुछ भागों का नाम था । इस सन्दर्भ का यह उल्लेख भी स्पष्ट नहीं है कि खेटकमण्डल का वह अधिपति कौन था, जिसके कहने से सीअक ने ब्राह्मणों को ग्राम प्रदान किया था । एक मान्यता[२] है कि वह राष्ट्रकूट सत्ता थी । ऐसी स्थिति में यह स्वीकार करना होगा कि द्वितीय वैरिसिंह महीपाल प्रतीहार द्वारा उज्जैन-धारा से निकाले जाने पर राष्ट्रकूटों की शरण में चला गया ।

नवसाहसांकचरित (११वाँ, ९०) से ज्ञात होता है कि सीअक ने हूण राजकुमारों को मारकर उनके रनिवासों को वैधव्यगृहों में परिवर्तित कर डाला । इस संदर्भ का हूण क्षेत्र सम्भवतः परमार क्षेत्रों के दक्षिण-पूर्व में इन्दौर और महू के आसपास का प्रदेश था, जिसे जीतकर सीअक ने अपने राज्य में मिला लिया ।[३] **नवसाहसांकचरित** (११वाँ, ८९) की यह भी सूचना है कि उसने रडुपाटि के शासक को पराजित किया । किन्तु रडुपाटि की ठीक-ठीक पहचान का हमारे पास कोई निश्चित उपाय नहीं है । सम्भवतः यह परमारों के राज्यक्षेत्र के पूर्व में था और यह असम्भव नहीं है कि हूण राजकुमारों और रडुपाटि के विरुद्ध द्वितीय सीअक के सैनिक अभियान एक ही क्रम में किये गये हों ।

प्रतीहार सत्ता के अधःपतन से जैसे सीअक को मालवा और गुजरात के सम्मिलित क्षेत्रों पर अधिकार जमाकर परमारसत्ता के पल्लवन का मौका मिल गया, वैसे ही बुन्देलखण्ड के चन्देल भी साम्राज्य निर्माण में लगे हुए थे । उसका वरिष्ठ चन्देल समकालिक यशोवर्मा प्रतीहार शासक देवपाल को हराकर[४] चन्देल सत्ता को बड़ी तेजी से साम्राज्य का स्वरूप दे रहा था । उसके पुत्र धंग के नेतृत्त्व में चन्देल सारे उत्तरी भारत पर छा जाने का प्रयत्न करने लगे और दक्षिण-पश्चिम में उनका राज्य दुधई और भिलसा

---

१. डॉ० गांगुली (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २८) उसे सौराष्ट्र के चालुक्यवंशी द्वितीय अवनिवर्मा (योग) से मिलाते हैं; जो प्रथम महेन्द्रपाल का सामन्त था तथा जिसका एक अभिलेख ७९९ ई० का (एइ०, जि० ९, पृ० १ और आगे) मिला है । दीक्षित और दिस्कलकर का विचार (एइ० जि० १९, पृ० २३९) है कि वह अण्हिलपाटक का कोई चापवंशी शासक था ।

२. धी० चं० गांगुली-पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २८; हेमचन्द्र राय, डाहिनाइ०, जि० २, पृ० ८५० । किन्तु प्रतिपाल भाटिया (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३८, नोट ६) का मत है कि वह अधिपति सीअक का ही कोई प्रशासक था ।

३. प्रतिपाल भाटिया, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ४० ।

४. देखिये पीछे, पृ० ३८९-३९० ।

तक तथा उत्तर-पश्चिम में ग्वालियर तक विस्तृत हो गया ।[१] इसका परिणाम यह हुआ कि परमारों और चन्देलों की सीमाएँ आपस में टकराने लगीं और उनमें संघर्ष की स्थिति आ गयी । धंग का खजुराहो अभिलेख[२] यशोवर्मा को 'मालवों के लिए काल के समान' कहता है । यशोवर्मा का समकालिक मालवराज सीअक ही था । किन्तु यशोवर्मा की इस प्रशस्ति से यह निश्चयात्मक निष्कर्ष नहीं निकलता कि उसका सीअक से कोई युद्ध हुआ अथवा उसने मालवा का कोई क्षेत्र जीता । यह सम्भव प्रतीत होता है कि उसकी बढ़ती हुई शक्ति के भय से सीअक को उसकी दिशा में बढ़ने की हिम्मत न रही होगी ।

सीअक की सर्वप्रमुख सैनिक सफलता उसके शासकीय जीवन के अन्तिम भागों में राष्ट्रकूट सत्ता के विरुद्ध प्राप्त हुई । राष्ट्रकूट भी उत्तर के प्रतीहारों की तरह जर्जर हो रहे थे । तृतीय कृष्ण अपनी सीमा के दक्षिण में चोलों के विरुद्ध इतना अधिक उलझ[३] गया कि गुजरात के क्षेत्रों की ठीक-ठीक व्यवस्था नहीं कर सका । सीअक ने प्रारम्भ से ही राष्ट्रकूटों पर दबाव शुरू कर दिया था । किन्तु उसका सबसे जबरदस्त प्रहार तृतीय कृष्ण के छोटे भाई और उत्तराधिकारी खोट्टिग (९६७-९७८ ई०) पर हुआ । वह वृद्ध राष्ट्रकूट शासक अपने पैतृक दायाद की रक्षा करने में असमर्थ था । उदयपुर प्रशस्ति की सूचना है कि सीअक ने 'भयंकरता में गरुड़ की तुलना करते हुए राजा खोट्टिग की लक्ष्मी युद्ध में छीन ली[४] ।' धनपालकृत **पाइयलच्छी** नामक प्राकृतकोश में चर्चित मान्यखेट की लूट के विवरण का हवाला देते हुए बूहलर[५] ने यह निष्कर्ष निकाला कि राष्ट्रकूट राजधानी पर सीअक का आक्रमण ९७२ ई० में हुआ होगा । अर्थुना अभिलेख की सूचना है कि राष्ट्रकूट सेनाओं के विरुद्ध नर्मदातीर पर लड़े गये युद्ध में बागड की परमार शाखा के कंकदेव (कर्कदेव) ने लड़ते हुए वीरगति पायी[६] । एक अन्य अभिलेख[७] से ज्ञात होता है कि चच नामक सीअक का एक अन्य सामन्त भी इस युद्ध में लड़ते हुए मारा गया था ।

---

१. एइ०, जि० १, पृ० १२९, श्लोक ४५; इऐ०, जि० १८, पृ० २३७ ।
२. 'कालवन्मालवानाम्', श्लोक २३, एइ०, जि० १, पृ० १३६ ।
३. नीलकान्त शास्त्री, दि चोलज्, द्वितीय संस्करण, पृ० १२९-१४५; अल्तेकर, दि एज ऑफ् इम्पीरियल् कन्नौज, पृ० १४-१५ ।
४. श्लोक १२, एइ०, जि० १, पृ० २३५-३७ ।
५. पाइयलच्छी, बूहलर द्वारा सम्पादित, भूमिका, पृ० ६ तथा श्लोक संख्या २८६ । यह कोश १०२९ वि० सं० (९७२-९७३ ई०) में लिखा गया ।
६. एइ०, जि० १४, पृ० २९५-२९६ ।
७. आसरि०, १९१६-१७, पृ० १९-२०; एइ०, जि० २१, पृ० ४७ । डॉ० हेमचन्द्र राय (डाहिनाइ०, जि० २, पृ० ८५३) का विश्वास है कि कर्कदेव और चच सम्भवतः एक ही व्यक्ति के दो नाम थे ।

इससे यह भी ज्ञात होता है कि परमार-राष्ट्रकूट सेनाओं की इस मुठभेड़ का स्थान नर्मदा नदी के किनारे खलिघट्ट नामक स्थान था। राष्ट्रकूटों के मुकाबले सीअक की विजय और उनकी राजधानी के लूटे जाने की सूचना से अन्य समकालिक सत्ताओं पर सीअक की धाक अवश्य जम गयी होगी।

इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि लगभग २५-३० वर्षों के अपने शासनकाल में द्वितीय सीअक ने परमार राज्य को एक स्पष्ट भौगोलिक सीमा प्रदान की। वह सीमा उत्तर में बाँसवाड़ा क्षेत्र, दक्षिण में नर्मदा[१], पश्चिम में मही नदी के किनारे खेटकमण्डल (खेड़ा और अहमदाबाद) तक तथा पूर्व में भिलसा तक विस्तृत थी। उसकी सैनिक सफलताओं से स्पष्ट है कि वह एक युद्धपटु सेनानायक था, जिसकी उपलब्धियों की सुदृढ़ नींव पर ही द्वितीय वाक्पति मुंजराज और भोज ने परमार साम्राज्य का निर्माण किया।

द्वितीय वाक्पति, मुञ्जराज (लगभग ९७३-९९६ ई०)

द्वितीय सीअक का पुत्र द्वितीय वाक्पति लगभग ९७३ ई० में परमार राजगद्दी का उत्तराधिकारी हुआ[२]। **नवसाहसांकचरित** (११वाँ, ८६) से प्रतीत होता है कि सीअक ने अपना अन्तिम समय तपस्या में बिताने का निश्चय कर वाक्पति को स्वयं राज्याभिषिक्त किया। वहाँ उसे सिन्धुराज का बड़ा भाई कहा गया है। वाक्पति मुञ्जराज और उत्पलराज के नामों से भी संस्कृत साहित्य में ज्ञात है[३]। मेरुतुंग की यह कथा (**प्रबन्ध-**

---

१. डॉ० गांगुली (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३१-३२) का विचार है कि दक्षिण में सीअक की सीमाएँ गोदावरी नदी तक विस्तृत थीं। किन्तु यह अनुमान मात्र है। खोट्टिग के विरुद्ध उसके युद्ध सम्बन्धी साक्ष्यों से स्पष्ट है कि राष्ट्रकूट राजा नर्मदा तक आकर ही उससे भिड़ा था। अत: वही उसकी उत्तरी सीमा थी। उसके हारने पर सीअक ने मान्यखेट लूटा, किन्तु नर्मदा के दक्षिण राष्ट्रकूटों का कोई प्रदेश उसके अधिकार में नहीं आया प्रतीत होता। आगे हम देखेंगे कि नर्मदा और गोदावरी के बीच के क्षेत्रों को सम्भवत: मुञ्ज ने जीता था।

२. द्वितीय वाक्पति का प्रथम अभिलेख (एइ०, जि० ६, पृ० ५०) वि० सं० १०३१ अर्थात् ९७४ ई० में उज्जैन से प्रकाशित हुआ था। सीअक ९७२ तक (खलिघट्ट के युद्ध की तिथि) शासनस्थ था। अत: द्वितीय वाक्पति इन्हीं दोनों तिथियों के बीच राज्यासनस्थ हुआ होगा।

३. नागपुर प्रशस्ति, एइ०, जि० २, पृ० १८४; श्लोक २३; प्रबन्धचिन्तामणि (द्विवेदी), पृ० ७। अर्जुनवर्माकृत अमरूशतक की रसिकसंजीवनी नाटक टीका के अनुसार वाक्पति का दूसरा नाम मुञ्ज था—'अस्मत्पूर्वजस्य वाक्पतिराज अपरनाम्नो मुञ्जदेवस्य'। डॉ० गांगुली (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३४, नोट ७) द्वारा उद्धृत।

चिन्तामणि, द्विवेदी, पृ० २७) ऐतिहासिक नहीं प्रतीत होती कि मुञ्जराज सीअक का औरस पुत्र न होकर पाल्यपुत्र था। लगता है कि मुञ्जराज नाम की व्याख्या करने के उद्देश्य से यह अनुश्रुति प्रचलित हो गयी कि मुञ्जों के झुरमुट में फेंके हुए उस नवजात शिशु को सिंहदन्तभट अर्थात् सीअक ने देखा और स्वयं अपुत्रक होने के नाते उसे उठा लिया; अपनी पुत्र-पिपासा शान्त करने के लिए उसे प्रेम से पाला-पोसा और अन्त में अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया।[१]

वाक्पतिराज मुञ्ज परमार साम्राज्य का संस्थापक ही नहीं, अपितु प्रशासकीय और सांस्कृतिक क्षेत्रों में मालवा की बहुमुखी उन्नति का क्रियाशील प्रारम्भकर्ता था। वास्तव में सांस्कृतिक क्षेत्रों में उसकी कीर्ति उसके भ्रातृज भोज के यश और गौरव से इतनी आच्छादित हो गयी कि उसका ठीक-ठीक मूल्यांकन दब सा जाता है। किन्तु पैनी दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि भोज की बहुमुखी सफलताओं और बौद्धिक उपलब्धियों की आधारशिला मुञ्ज ने ही रखी थी। अतः उसका महत्त्व भोज से कम नहीं है। उसके सैनिक और नागरिक क्रियाकलापों के विवेचन से यह निष्कर्ष प्रमाणित हुए बिना नहीं रह सकता। मुञ्ज को अन्यान्य नये-नये राजवंशों के महत्त्वाकांक्षी शासकों की जबरदस्त चुनौतियों का सामना करना पड़ा। उनका योग्यतापूर्वक सामना करते हुए एक साम्राज्य की रचना करने में वह सफल हुआ तथा उसे एक सुदृढ़ प्रशासन प्रदान कर सामाजिक और बौद्धिक उन्नयन की ओर अग्रसर किया। राष्ट्रकूट शासक खोट्टिग को परास्तकर सीअक ने मान्यखेट का राजकोष तो लूटा ही था, राष्ट्रकूटों की राज्यलक्ष्मी का भी हरण कर लिया था। वाक्पति ने राष्ट्रकूट साम्राज्य के विजेता के उत्तराधिकारी के रूप में **अमोघवर्ष, श्रीवल्लभ** और **पृथ्वीवल्लभ** जैसी राष्ट्रकूट उपाधियाँ धारण कीं।[२] किन्तु द्वितीय तैलप के नेतृत्त्व में कल्याणी के चालुक्य अपने को राष्ट्रकूटों का वास्तविक उत्तराधिकारी समझते थे और उन्होंने वाक्पति से संघर्ष छेड़ दिया। पश्चिम में चौलुक्यों ने प्रथम मूलराज (९४१-९९७ ई०) के नेतृत्त्व में उसे चुनौती दी तथा उत्तर-पश्चिम में चाहमानों की शक्तिशाली सत्ता उसे रोकने के लिए कटिबद्ध थी। उत्तर-पूर्व में धंग चन्देल (९५०-१००२ ई०) एक अभेद्य दीवार बनकर उसे आगे बढ़ने से रोक रहा था। इन परिस्थितियों में उसने जो भी सफलताएँ प्राप्त कीं, उनका महत्त्व कम नहीं है।

नवसाहसांकचरित, प्रथम, ६-७ और ११वाँ, ९८-१०१; वल्लभदेवकृत सुभाषितावली, श्लोक ३४१३।

१. इस अनुश्रुति के अनुसार मुञ्ज झुरमुट में पाये जाने के कारण वह मुञ्ज कहलाया।

२. एइ०, जि० ६, पृ० ५१; जि० १४, पृ० १६०; जि० ८, द्वितीय परिशिष्ठ, पृ० २।

मुञ्ज की सैनिक उपलब्धियाँ

वाक्पति ने सम्भवतः सबसे पहला सैनिक अभियान मेवाड़ के गुहिल राज्य के विरुद्ध किया। उस समय उसका शासक शक्तिकुमार था। हस्तिकुण्डी (हथुण्डी) के राष्ट्रकूट शासक धवल के बीजापुर अभिलेख (वि० सं० १०५३ अर्थात् ९९७ ई०) में कहा गया है वाक्पति ने 'मेदपाट के गर्व स्वरूप आघाट (नगर) को नष्टकर भागते हुए गुहिल राजा को धवल के यहाँ शरण लेने हेतु विवश किया'।[१] स्पष्ट है कि शक्तिकुमार की पराजय (९७७ ई०) उसके मेवाड़ राज्य की अपनी ही राजधानी आघाट (आहाड़) में हुई। उसे छोड़कर उसका भागना और धवल की शरण लेना मुञ्जराज की पूर्ण सैनिक सफलता का द्योतक है। इस युद्ध में गुहिलराज की ओर से कोई गुर्जर शासक (गुज्जरिश) भी लड़ा था, किन्तु उसकी भी शक्तिकुमार जैसी ही दशा हुईं। उसने भी 'हरिण की तरह भयभीत' होकर अपनी सेनाएँ धवल के यहाँ शरण के लिए भेजीं[२]। पद्मगुप्त इस गुर्जर शासक की विपन्नता की विशेष चर्चा करता हुआ अपने काव्यात्मक ढंग में उसके मारवाड़ की धूल फाँकने तथा उसकी रानी के भयात्तंक का उल्लेख करता है।[३] किन्तु इस गुर्जर राजा की पहचान और इस युद्ध के परिणामस्वरूप वाक्पति की उपलब्धियों के बारे में मतैक्य नहीं है। डॉ० हेमचन्द्र राय, डॉ० धी० चं० गांगुली और डॉ० दशरथ शर्मा ने इस सन्दर्भ के गुजरिश को अण्हिल-वाड़ के चौलुक्य शासक प्रथम मूलराज से मिलया[४] है। किन्तु यह पहचान ठीक नहीं जान पड़ती। मूलराज वाक्पति मुञ्ज की तरह ही शक्तिशाली और कर्मठ था। पराजित होकर वह रास्ता भूल जाय तथा उसकी सेनाएँ, स्वयं वह, और उसकी रानी मरुस्थलों में मारे-मारे फिरें, यह असम्भव प्रतीत होता है। अभिलेखों और जैन साहित्य के अनुसार चाहमान आक्रमण की विपत्ति के समय वह कन्थादुर्ग में छिपने को विवश हुआ। किन्तु उनमें वाक्पति से उसकी पराजय अथवा तज्जन्य विपत्तियों का कोई उल्लेख

---

१. भक्त्वाघाटं घटाभिः प्रकटमिव मदं मेदपाटे भटानां।
जन्ये राजन्यजन्ये जनयति जनताजं रणं मुञ्जराजे। श्लोक ९, एइ०, जि० १०, पृ० २०।

२. (श्री) माणे प्रणष्टे हरिण इव भिया गुर्जरेशे विनष्टे तत्सैन्यानांस (श) रण्यो हरिर् इव शरणो यः सुरांणां व (ब) भूव। वहीं, श्लोक १०।

३. जराएसो०, बम्बई शाखा, जि० १६, पृ० १७३-१७४।

४. डाहिनाइ, जि० २, पृ० ८५५ तथा ९४०; हिस्ट्री ऑफ् दि परमार डाइनेस्टी, पृ० ५३-५४; अर्ली चौहान डाइनेस्टीज्, पृ० १२२-१२३।

नहीं[१] हैं। अतः बीजापुर अभिलेख के 'गुर्जरेश' की पहचान कन्नौज के गुर्जर प्रतीहार राज्य के किसी प्रतिनिधि से की जानी चाहिए[२]। असम्भव नहीं है कि वह विजयपाल रहा हो।

चित्तौड़ सहित मेवाड़ पर अधिकार[३] कर लेने के बाद मुञ्जराज का मारवाड़ (नाडोल) के चाहमानों से सीधा सामना होने लगा। दोनों के बीच संघर्ष के अनेक साक्ष्य प्राप्त होते हैं, जिनमें मुञ्जराज की चाहमानों पर विजय और पुनः चाहमानों की मुञ्जराज के विरुद्ध सफलता के उल्लेख हैं। **नवसाहसांकचरित** की सूचना[४] है कि 'वाक्पति के यशःप्रताप से मारवाड़ी स्त्रियों के हृदयस्थली हारों के मोती नाचने लगते थे।' यदि यह परमार राजवंश के एक प्रशंसक कवि की गतानुगतिक स्तुति मान ली जाय तो भी चाहमानों पर मुञ्जराज की विजय परमारवंश के एक शत्रु राजवंश के अभिलेख से प्रमाणित है। कल्याणी के चालुक्य राजा पंचम विक्रमादित्य के कौथेम अभिलेख का कथन[५] हैं कि 'उत्पलराज के आगमन से मारवाड़ के लोग काँपने लगे।' स्पष्ट है कि **मुञ्जराज** ने मारवाड़ पर चढ़ाई की और वहाँ आतंक पैदा कर दिया। किन्तु नाडोली चाहमानों के निजी अभिलेख परमारों पर अपनी विजय का दावा करते हैं। रत्नपाल का सेवाडि अभिलेख (१११९ ई०) नाडोल के राजा शोभित की धारा-विजय का उल्लेख करता है तथा सुन्धा पहाड़ी अभिलेख शोभित के पुत्र बलिराज को मुञ्जराज का जेता बताता है[६]। निष्कर्ष यह निकलता है कि मुञ्जराज के नेतृत्त्व में परमारों ने नाडोली चाहमानों के विरुद्ध दबाव की जो नीति प्रारम्भ की, वह कई दशकों तक चलती रही[७]। इस संघर्ष में आबू के परमार मालवा के परमारों के साथ थे।

---

१. देखिए, पीछे, १६वाँ अध्याय, मूलराज (प्रथम) प्रकरण।

२. इस सम्बन्ध में देखिए, पीछे पृ० १६७-१७७; अ० कु० मजुमदार, चौलुक्यज् ऑफ् गुजरात, पृ० ३०-३१; प्रतिपाल भाटिया, पूर्वनिर्दिष्ट,पृ० ४८-४९।

३. धी० च० गांगुली की मान्यता (परमार राजवंश का इतिहास, पृ० ३८) है कि मेवाड़ विजय के परिणामस्वरूप मुञ्जराज का आबू और किरादू पर भी अधिकार हो गया और उनके शासन के लिए उसने अपने सम्बन्धियों (पुत्र और भतीजे) की नियुक्ति की। किन्तु इस मत की स्वीकार्यता में अनेक कठिनाइयाँ हैं। दे० प्रतिपाल भाटिया, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ५१-५३।

४. जराएसो०, बम्बई शाखा जि० १६, पृ० १७४।

५. इऐ०, जि० १६, पृ० २३।

६. दे० क्रमशः एइ०, जि० ११, पृ० ३०९ और एइ०, जि० ९, पृ० ७५, श्लोक ७।

७. देखिए, दशरथशर्मा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १२२-१२३; प्रतिपाल भाटिया, पूर्वनिर्दिष्ट पृ० ५०।

द्वितीय वाक्पति ने हूणों का भी दमन किया। हूणों के छोटे-छोटे प्राय: स्वतंत्र क्षेत्र मालवा, राजपूताना और पंजाब के कई भागों के बिखरे हुए थे। जबसे उन्होंने भारत में प्रवेशकर अपनी सत्ताएँ स्थापित कीं (पाँचवी-छठीं शताब्दियाँ) वे सर्वदा ही इन क्षेत्रों में शासन करने वाली प्रमुख सत्ताओं के सिरदर्द बने रहे। परमार इतिहास में द्वितीय सीअक से लेकर सिन्धुराज के समय तक बराबर उनके संघर्षों के उल्लेख मिलते[१] हैं। वाक्पति की हूणों पर विजय और उनके कुछ क्षेत्रों पर उसके अधिकार का प्रमाण उसके गाओन्री अभिलेख से मिलता है। उसमें यह उल्लेख है कि उसने हूणमन्डलान्तर्गत स्थित वणिका ग्राम ब्राह्मणों के लिए दान किया[२]। सम्भवत: यह पराजित हूण क्षेत्र इन्दौर, महू और होसंगाबाद जिलों में स्थित था, जिससे द्वितीय सीअक को लोहा लेना पड़ा[३] था। हूणों की मुञ्जराज के हाथों पराजय और विनाश का प्रमाणीकरण चालुक्यराज पंचम विक्रमादित्य के कौथेम अभिलेख (इऐ०, जि० १६, पृ० २३) से भी होता है। इससे स्पष्ट है कि द्वितीय वाक्पति की हूण विजय परमारों के ही नहीं, अपितु अन्य राजवंशों के प्रशस्तिकारों द्वारा भी विशेष महत्त्व की घटना मानी गयी।

दक्षिण-पूर्व में वाक्पति मुञ्जराज ने त्रिपुरी के कलचुरि राजा द्वितीय युवराज को युद्ध में करारी मात देकर उसकी राजधानी पर थोड़े दिनों के लिए अधिकार कर लिया[४]। त्रिपुरी पर उसके आक्रमण के दो कारण हो सकते थे। प्रथमत:, उस समय का कलचुरि-शासक द्वितीय युवराज बड़ा कमजोर था। दूसरा कारण इससे प्रबल जान पड़ता है, जो यह था कि उसकी बहिन बोन्थादेवी मुञ्जराज के आजीवन शत्रु द्वितीय तैलप की माँ थी। सम्भवत: उस सम्बन्ध से कलचुरि और चालुक्य, दोनों ही वंश, परमारों के सहज शत्रु हो गये थे। किन्तु कलचुरि राजधानी पर वाक्पति का अधिकार थोड़े ही दिनों तक रहा और वाक्पति ने कलचुरियों से संधिकर उनका राज्य लौटा दिया[५]।

अपने राज्य की पश्चिमोत्तर, पश्चिम और दक्षिण-पूर्वी दिशाओं में अपनी सैनिक सफलताओं से उत्साहित होकर वाक्पति मुञ्ज ने मालवा की दक्षिण दिशा में स्थित

---

१. नवसाहसांकचरित, १०वाँ १६० और ११वाँ, ९०; एइ०, जि० २३, पृ० १०१-१०३; एइ० जि० १ पृ० २३५, श्लोक १६।

२. एइ०, जि० २३, पृ० १०१-१०३।

३. प्रतिपाल भाटिया, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ४० और ५०।

४. युवराजं विजित्यासौ हत्वातद्वाहिनीपतीन्।
खड्गमूर्ध्वीकृतं येन त्रिपुयाँ विजिगीषुणा॥ उदयपुर प्रशस्ति एइ० जि० १, पृ० २३५।

५. वा० वि० मिराशी, कार्पस्, जि० ४, भूमिका, पृ० ८७।

कल्याणी के चालुक्य राज्य की चुनौतियाँ समाप्त कर देने का निश्चय किया। राष्ट्रकूटों को समाप्त[१]कर चालुक्य राज्य दक्षिणापथ की सर्वप्रमुख सत्ता बनकर चारों दिशाओं में, जहाँ तक सम्भव हो, अपनी सीमाओं के विस्तार और अन्यान्य राजाओं पर अधिराज अथवा राजनीतिक प्रभाव के स्थापन में जुट गया था। द्वितीय तैलप के रूप में उसे एक ऐसा सैनिक नेता उपलब्ध हो गया, जो शीघ्र ही सौन्दत्ती के रट्ट, उत्तरी कोंकण के शिलाहार, लाट के चौलुक्य तथा दक्षिणी खानदेश के यादव राज्यों पर अपनी अधिसत्ता[२] स्थापित कर दक्षिण में चोलों और उत्तर में परमारों से लोहा लेने लगा। उदयपुर प्रशस्ति इस बात का दावा करती है कि 'लाट, कर्णाट, चोल और केरल के राजे वाक्पति के पदकमल अपने शिरोरत्नों से सुशोभित करते थे[३]।' जहाँ तक इस संदर्भ में चोल और केरल के उल्लेख का प्रश्न है, उसे कवि की कोरी प्रशंसा मात्र मानना चाहिए। उन क्षेत्रों तक पहुँचने के लिए कर्णाट अर्थात् चालुक्य राज्य से गुजरना आवश्यक था, जो परमार सेनाओं के लिए सम्भव नहीं प्रतीत होता। हो सकता है कि कर्णाटों से समान शत्रुता के कारण चोल और केरल के राजा परमारों को अपना सहज मित्र समझते रहे हों, किन्तु लाट क्षेत्र पर द्वितीय तैलप का आधिपत्य था, जिसकी ओर से बारप और उसके पुत्र गोग्गिराज नामक चालुक्य सामन्त उस पर शासन करते थे[४]। कल्याणी के चालुक्यों के इन सामन्तों को वहाँ से अनधिकृत करने का प्रयत्न द्वितीय वाक्पति मुञ्ज और प्रथम मूलराज चौलुक्य[५] कर रहे थे। वाक्पति ने कदाचित् बारप के विरुद्ध कोई अभियान किया,[६] किन्तु उसमें उसे कितनी सफलता मिली, इसकी कोई स्पष्ट जानकारी नहीं है। उसके राज्यक्षेत्र से लाट (मही और ताप्ती नदियों के बीच का समुद्रपर्यन्त क्षेत्र)

---

१. तैलप ने राष्ट्रकूट राजा द्वितीय कक्क को मार डाला (९६३ ई०) था। दे० एइ०, जि० १६, पृ० १०।

२. इऐ०, जि० ११, पृ० १९६–२०५; प्रचिद्वि, पृ० २०; याजदानी, अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन् पृ० ३२१।

३. कर्णाटलाटकेरलचोलशिरोरत्नरागिपदकमलः ।।
यश्चप्रणयिगणार्थित दाता कल्पद्रुमप्रख्यः ।। एइ०, जि० १ पृ० २३५।

४. देखिए, त्रिलोचनपाल का शक सं० ९७८ अर्थात् १०५० ई० का सूरत अभिलेख, इऐ०, जि० १२, पृ० १९६–२०५; द्वयाश्रयकाव्य, षष्ठ, १–९६; प्रचिद्वि० पृ० २०।

५. देखिए, पीछे १६वाँ अध्याय, मूलराज प्रकरण।

६. डॉ० अ० कु० मजुमदार के मत में (पूर्वनिर्दिष्ट पृ० २८–२९) वाक्पति ने लाट पर आक्रमण चौलुक्य शासक मूलराज का वहाँ से अधिकार हटाने के लिए किया था। किन्तु इस सम्बन्ध में निश्चित कुछ नहीं कहा जा सकता।

इतना नजदीक था कि उस पर उसकी गृद्ध-दृष्टि होनी स्वाभाविक थी।

किन्तु दक्षिणापथ (कर्णाट) के शासक द्वितीय तैलप के विरुद्ध युद्ध में वाक्पति को आसमान देखना पड़ा। सफल सैनिक विजेता के रूप में प्राप्त उसकी यशःकीर्त्ति दक्षिण में लुप्त हो गयी और वहाँ वह स्वयं मारा गया। मेरुतुंग अपने **मुञ्जप्रबन्ध** में मुञ्ज-तैलप संघर्ष का जो विवरण देता है, उससे यह स्पष्ट है कि उसके समय (१३वीं-१४वीं शती) तक इस सम्बन्ध का सारा इतिहास एक अनुश्रुति का रूप धारण कर चुका था। इस अनुश्रुति में, अन्य सभी अनुश्रुतियों में सुलभ, एक ऐतिहासिक आधारशिला पर ब्योरों का महल सा तैयार हो गया। सौभाग्य से उससे ज्ञात मुख्य तथ्यों की जानकारी अन्य सन्दर्भों से भी होती है, जिनसे उनकी ऐतिहासिकता में कोई सन्देह नहीं रह जाता। तदनुसार[१], तैलप की मुञ्ज से छह बार मुठभेड़ें हो चुकी थीं और हर बार मुञ्ज ने उसे हराया था। किन्तु छठीं बार के मालवा पर तैलप के आक्रमण से खीझकर मुञ्ज ने चालुक्य क्षेत्रों पर चढ़ जाने का निश्चय किया। उसका यह निर्णय उसके महामंत्री रुद्रादित्य को ठीक नहीं जान पड़ा और उसने उसे रोकने का प्रयत्न किया। किन्तु मुञ्जराज ने उसकी एक न सुनी और दक्षिणापथ पर आक्रमण के लिए उतारू हो गया। ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तर में अपनी विजयों से वह कुछ दर्पोन्मत्त हो गया था और उसे चौलुक्यों की वास्तविक शक्ति का उतना सही अंदाज नहीं था, जितना उसके बुद्धिमान मंत्री रुद्रादित्य को था। इस संदर्भ में पूर्व के जिन छः आक्रमणों की चर्चा है, वे सीमाओं पर प्रायः हमेशा होने वाली मुठभेड़ों के वृहत् स्वरूप हो सकते हैं। उनमें जिस आसानी से मुञ्ज की विजयोपलब्धियाँ हुई थीं, उसी प्रकार की सफलता चौलुक्य क्षेत्रों में घुसकर युद्ध करने से भी परमारों को मिलेगीं, इसमें रुद्रादित्य को सन्देह था। तथापि जब वह मुञ्ज को दक्षिण के युद्धप्रयाण से रोक नहीं सका तो अंतिम परामर्श उसने यह दिया कि वह गोदावरी नदी के आगे न जाय। लगता है कि गोदावरी और ताप्ती के बीच के प्रदेश वे अन्तरदेश थे, जिनमें परमारों और चालुक्यों की सेनाएँ कई बार भिड़ चुकीं थीं। मुञ्ज अपने मंत्री के परामर्श का उल्लंघन कर गोदावरी पार कर गया और युद्ध में तैलप के छद्म और बलप्रयोग के बाद उसके सैनिकों द्वारा कैद किया गया। चालुक्य राजधानी कल्याणी के कारागार में बन्द उस विजित राजकैदी की देखरेख के लिए तैलप ने अपनी विधवा बहिन मृणालवती को लगाया, जिससे मुञ्ज के धीरे-धीरे मधुर सम्बन्ध हो गये। मालवा में मुञ्ज के मंत्री उसे कारागार से भगा ले जाने की योजना बनाने लगे और उस हेतु उन्होंने एक सुरंग भी तैयार करवा ली। मुञ्ज ने मृणालवती पर विश्वास कर यह सारी योजना उसे बता दी, जिसने उसे तैलप को निवेदित किया। तैलप के क्रोध का ठिकाना न रहा। मुञ्ज

---

१. प्रबन्धचिन्तामणि, द्विवेदी, पृ० १९-३१।

जेल से निकाला गया और अनादरपूर्वक चालुक्य राजधानी में बन्दर की तरह बाँधा जाकर भीख माँगने के लिए विवश किया गया। अन्त में तैलप ने उसे वृक्ष में लटकाकर मरवा डाला और 'सूली में उसका सिर पिरोकर अपने आँगन में रखवाया और उसमें रोज दही लगवा कर अपने अमर्ष का पोषण करता रहा।' तैलप का यह क्रूर व्यवहार और मुञ्ज का दुःखद अन्त आगे चलकर चिरस्थायी चालुक्य-परमार शत्रुता का एक कारण बना।

इस अनुश्रुति की मूल बातें अन्य अनेक साक्ष्यों से सम्पुष्ट होती हैं। इस सन्दर्भ के मंत्री रुद्रादित्य की जानकारी मुञ्ज के उज्जैन अभिलेख[१] (वि० सं० १०३६ अर्थात् ९८० ई०) से होती है। कर्णाटों पर मुञ्ज की विजय का हवाला उदयपुर प्रशस्ति[२] भी देती है। पंचम विक्रमादित्य के १००३ ई० के कौथेम अभिलेख में तैलप के हाथों उस उत्पल (मुञ्ज) को बन्दी बनाये जाने का उल्लेख है, जिसने अपना लोहा हूण, मारव (मारवाड़ के लोगों) और चेदियों पर स्थापित किया तथा षष्ठ विक्रमादित्य के गडग अभिलेख से ज्ञात होता है कि तैलप ने मुञ्ज का वध कर दिया।[३] यादवराज द्वितीय भिल्लम के शक सं० ९२८ अर्थात् १००० ई० के संगमनेर अभिलेख[४] की सूचना है कि वह अपने स्वामी **रणरंगभीम** अथवा **आहवमल्ल** की ओर से मुञ्ज के विरुद्ध लड़ा था। स्पष्ट है कि तैलप मुञ्ज के आक्रमण का मुकाबला करने के लिए पूरी तैयारी के साथ युद्ध में उतरा था। इस युद्ध का समय सम्भवतः ९९४ ई० था[५]। चूँकि तैलप की मृत्यु तिथि ९९७ ई० थी,[६] यह कहा जा सकता है तैलप के हाथों मुञ्ज की मृत्यु इन्हीं दोनों वर्षों के बीच कभी हुई होगी।

वाक्पति मुञ्ज की सांस्कृतिक उपलब्धियाँ

किन्तु दक्षिण दिशा में वाक्पति मुञ्ज की पराजय और दुःखद मृत्यु से उसका महत्त्व कम नहीं होता। अपने पिता द्वितीय सीअक से उसे एक छोटा सा राज्य उत्तराधिकार में मिला था। उसे उसने बढ़ाकर मेवाड़ और मारवाड़ के बहुत से भागों और सम्भवतः लाट प्रदेश तक विस्तृत कर दिया। यह निश्चय ही उसकी सैनिक मोर्चेबन्दियों, विशेष

---

१. इऐ०, जि० १४, पृ० १५९-१६१।

२. एइ०, जि० १, पृ० २३५।

३. इऐ०, जि० १६, पृ० २३।

४. एइ०, जि० २, पृ० २२८।

५. देखिए, इण्डियन् आर्केलॉजी, १९४७-४८, ए रिव्यू, पृ० ७१; एइ० जि० ३३, पृ० १३१-१३३; प्रतिपाल भाटिया, पूर्वनिर्दिष्ट पृ० ५६।

६. बम्बई गजेटियर, जि० १, भाग २, पृ० ४३२।

सेनापतित्त्व एवं कूटनीतिक प्रतिभा से सम्भव हुआ होगा। रुद्रादित्य, महाइक और धनिक जैसे बुद्धिमान विद्वानों और कवियों को क्रमशः **महामात्य, महासाधनिक** और **महासाध्यपाल** के पदों पर नियुक्त कर उसने प्रशासन की अच्छी व्यवस्थाएँ कीं।[१] प्रजाओं को पुत्रतुल्य मानते हुए उनकी सुख-सुविधा की प्रत्येक चीजें उसने उपस्थित कीं तथा अपनी राजधानी धारा को अनेक नये भवनों और मंदिरों से सजाया। वहाँ उसने मुञ्जसागर नामक एक तालाब बनवाया और गुजरात में मुञ्जपुर नामक नगर बसाया। इनके अतिरिक्त उज्जैन, धर्मपुरी, ओंकारमांधाता और महेश्वर जैसे स्थानों पर उसने मंदिर बनवाये और बाँध बँधवाये। मुञ्ज की सर्वाधिक प्रसिद्धि एक महान् विद्वान् और कवि, कवियों और लेखकों के आश्रयदाता और वास्तुनिर्माता के रूप में हुई। पद्मगुप्त कहता है कि "विक्रमादित्य के चले जाने पर तथा सातवाहन के अस्त हो जाने पर, सरस्तवी देवी ने कवियों के मित्र मुञ्ज में विश्राम किया।"[२] उसके प्रति कृतज्ञता अर्पित करता हुआ वह पुनः कहता है कि 'सरस्वती रूपी कल्पलता को पल्लवित करने वाले मानों एकमात्र कन्द (मूल) उस वाक्पतिराजदेव को हम नमस्कार करते हैं, जिसके ही प्रसाद से हम पूर्व के कवीन्द्रों के पथ पर अग्रसर हो रहे हैं[३]'। पद्मगुप्त उसके दरबार में आश्रय प्राप्त करने वाला अकेला कवि नहीं था। अहिच्छत्र का वसंताचार्य नामक दार्शनिक उज्जैन में आकर रहने लगा था, जिसे मुञ्ज ने दान दिया था।[४] **काव्यनिर्णय** और **दशरूपावलोक** नामक (क्रमशः) काव्यग्रन्थ और टीका का रचयिता धनिक उसका **महासाध्यपाल** था। उसके बड़े भाई धनञ्जय ने वाक्पतिराज के ही राज्याश्रय में नाट्यशास्त्र का **दशरूपक** नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा। ये दोनों भी अहिछत्रपुर से ही मालव राजदरबार में आये थे।[५] **पाइयलच्छीमाला** और **तिलकमञ्जरी** का प्रसिद्ध जैन लेखक धनपाल, **चतुर्विंशिकास्तुति** के लेखक और अपने छोटे भाई शोभन के साथ उसके दरबार में रहता था। **पिंगलछन्दशास्त्र** की **मृतसंजीवनी** नामक टीका का रचयिता भट्टहलायुध दक्षिण भारत से चलकर उसके राजदरबार में आया था[६]। इस प्रकार स्पष्ट है कि देश के विभिन्न भागों से बड़े-बड़े कवि और लेखक उसकी प्रसिद्धि और सरस्वतीपुत्रों

१. एइ०, जि० १४, पृ० १६०; धी० चं० गांगुली, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३५-३६।

२. अतीते विक्रमादित्ये गतेऽस्ते सातवाहने।
कविमित्रे विशश्राम यस्मिन् देवी सरस्वती। नवसाहसाँकचरित, ११वाँ, ९३।

३. सरस्वतीकल्पलतैककन्दं वन्दामहे वाक्पतिराजदेवम्।
यस्य प्रसादाद्वयमप्यनन्य कवीन्द्रचीर्णे पथि संचरामः।। वहीं, प्रथम, २।

४. इऐ०, जि० ६, पृ० ५१-५२।

५. इऐ०, जि० ६, पृ० ५३।

६. प्रतिपाल भाटिया, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ५८।

के उसके द्वारा समादर का हाल सुनकर उसके दरबार में आकर रहने लगे थे[१] ।

'कविमित्र' मुञ्ज स्वयं भी सरस्वती का वरद पुत्र और उच्चकोटि का कवि था । उदयपुर प्रशस्ति कहती[२] है कि 'अपने वक्तृत्व, उच्च कवित्त्व, तर्कशक्ति तथा शास्त्रों और आगमों के ज्ञान से वाक्पतिराजदेव सज्जनों से सर्वदा प्रशंसित (कीर्त्तित) होता रहता था ।' एक अन्य अभिलेख[३] में वह 'कविवृष' (कवियों में साँड अर्थात् श्रेष्ठ) कहा गया है । उसने **मुञ्जप्रतिदेशव्यवस्था** नामक भूगोल का एक ग्रन्थ लिखा ।[४] दुर्भाग्यवश न तो इस ग्रन्थ का पता है और न ही उसके किसी अन्य काव्यग्रन्थ की जानकारी हो सकी है । तथापि उसके अनेकानेक श्लोक सुभाषित ग्रन्थों में उद्धृत मिलते हैं । मेरुतुंग अपने **प्रबन्धचिन्तामणि** (द्विवेदी, पृ० ३०-३१) में कल्याणी की सड़कों पर भिक्षा माँगते हुए मुञ्ज के मुख से जो वाक्य अथवा कविताएँ कहलाता है, वे सुभाषितों की अत्यन्त उत्तम सामग्रियाँ हैं । वास्तव में अपने विद्वद्‌गुणों से ही उसने कवियों और लेखकों को अपने दरबार में आकृष्ट किया था । उसने साहित्य-सर्जन और बौद्धिक विकास की वह परम्परा स्थापित की, जो उसके भ्रातृज भोज के समय अपनी चरमोन्नति को प्राप्त कर मालवा, विशेषतः धारा, को भारतवर्ष की साहित्यिक राजधानी बनाने में सफल हुई ।

सिन्धुराज (लगभग ९९६-१०१० ई०)

वाक्पति मुंजराज को सम्भवतः कोई पुत्र न था । दक्षिण के चौलुक्य क्षेत्रों पर आक्रमण हेतु जाने के पूर्व उसने अपने छोटे भाई सिन्धुराज को अपना उपराज नियुक्त किया था जो उसकी मृत्यु के बाद राजा हुआ[५] । इस सम्बन्ध में **प्रबन्धचिन्तामणि**[६] की

---

१. मुञ्ज के गाओन्री अभिलेख (एइ०, जि० २३, पृ० १०१-१०३) से ज्ञात होता है कि बंगाल, बिहार, असम और दक्षिणापथ के अनेक ब्राह्मण मालवा में मुञ्ज से दान प्राप्तकर रहने लगे थे ।

२. वक्तृत्वोच्चकवित्वतर्ककलनप्रज्ञातशास्त्रागमः ।
श्रीमद्‌वाक्पतिराजदेव इति यः सद्भिः सदाकीर्त्यते ।। एइ०, जि० १, पृ० २३५ ।

३. इऐ०, जि० १६, पृ० २३१ ।

४. एशियाटिक् रिसर्चेज्, जि० ९, पृ० १७६ ।

५. नवसाहसांकचरित, ११वाँ, ९८; एइ०, जि० ३६, पृ० १६५ । तिलकमञ्जरी (प्रथम, ४३) की सूचना है कि मुञ्ज अपने भतीजे भोज को इतना प्यार करता था कि उसे ही उसने अपना युवराज नियुक्त किया । कदाचित् उसकी अवस्था बहुत छोटी थी । अतः शासनसूत्र सिन्धुराज के हाथों में सौंपा गया, जो उसी कारण मुञ्ज के बाद राजा भी हुआ । भोज के युवराज बनाये जाने का प्रबन्धचिन्तामणि (द्वितीय, पृ० ८८) में भी उल्लेख है ।

६. प्रचिद्वि०, पृ० २७-२८; और देखिए, रासमाला, जि० १, पृ० ८५ ।

यह कथा सही नहीं जान पड़ती कि मुञ्जराज ने अप्रसन्न होकर उसे निर्वासित कर दिया था अथवा वह अन्धा कर दिया गया था । यद्यपि सिन्धुराज का अबतक कोई भी अभिलेख प्राप्त नहीं हो सका है, उसके दरबारी कवि पद्मगुप्त के **नवसाहसाँकचरित** से वह एक क्रियाशील शासक, सफल सैनिक और रुझा हुआ प्रेमी प्रतीत होता है । वास्तव में मुञ्ज और भोज जैसे दो महान् शासकों के बीच में पड़ जाने से उसका इतिवृत्त खुलकर सामने नहीं आ पाता । किन्तु यह ज्ञात है कि उसने मुञ्ज से प्राप्त विशाल परमार सीमाओं की रक्षा तो की ही, अनेक नये क्षेत्रों की विजयें भी कीं ।

दक्षिणी युद्धों के परिणामस्वरूप मुञ्ज की मृत्यु सारे परमार दरबार को काँटे की भाँति चुभ रही होगी । अतः सिन्धुराज का सबसे पहला सैनिक प्रयत्न सम्भवतः तज्जन्य अपमान और भूमिहानि को दूर करने के लिए ही हुआ । पद्मगुप्त[१] कहता है कि उसने 'कुन्तलेश्वर द्वारा अधिकृत अपना राज्य (स्वराज्य) अपनी तलवार के बल से प्राप्त किया ।' यहाँ कुन्तलेश्वर से कल्याणी के चालुक्य शासक सत्याश्रय से तात्पर्य है, जो द्वितीय तैलप का पुत्र और उत्तराधिकारी (९९७-१००८ ई०) था । अपने पिता की ओर से मुञ्ज के विरुद्ध युद्ध में वह भाग ले चुका था[२] और उसकी सेनाओं ने गोदावरी से उत्तर का कुछ परमारक्षेत्र सम्भवतः हथिया लिया था । यही वह स्वराज्य था, जिसे सिन्धुराज ने पुनः अपनी तलवार के बल से प्राप्त किया । सत्याश्रय का अपने राज्य के दक्षिण में चोल राजा राजराज (९८५-१०१४ ई०) से युद्ध में फँस जाना[३] सिन्धुराज की सफलता के लिए एक अच्छा अवसर साबित हुआ प्रतीत होता है ।

दक्षिण में चालुक्यों से निर्भय होकर सिन्धुराज ने अन्य दिशाओं में अपने प्रभाव-विस्तार के लिए सैनिक अभियान किये । **नवसाहसांकचरित** (१०वाँ, १८) कोशल पर उसकी विजय का उल्लेख करता है । यहाँ कोशल से तात्पर्य दक्षिणकोशल से है, जो आजकल के मध्यप्रदेश के छत्तीसगढ़ मण्डल के विलासपुर और रायपुर के आसपास का प्रदेश है । उससे पराजित राजा की पहचान कलचुरिवंशी कलिंगराज से की गयी है[४] ।

उदयपुर प्रशस्ति का स्पष्ट उल्लेख (एइ०, जि० १, पृ० २३५, श्लोक १६) है कि सिन्धुराज मुञ्ज के बाद राजा हुआ ।

१. नवसाहसांकचरित, प्रथम, ७४ ।
२. एइ०, जि० ३३, पृ० १३१-१३३ ।
३. नीलकान्त शास्त्री, दि चोलज्, पृ० १७५-१७७ ।
४. धी० चं० गांगुली, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ५६; वा० वि० मिराशी, कार्पस्, जि० ४, भूमिका, पृ० ११८वाँ; एइ०, जि० १, पृ० ३३ । किन्तु हाल में इस 'कोशलपति' की पहचान सोमवंशी राजा ययातिमहाशिवगुप्त से की यी है । देखिए, क्वार्टर्ली रिव्यू ऑफ् हिस्टारिकल् स्टडीज, कलकत्ता, १९६१-६२, पृ० १२८ ।

अपने राज्य के पश्चिम और दक्षिण-पश्चिम में सिन्धुराज ने लाट, अपरांत और मुरल की विजयें कीं। **नवसाहसांकचरित** (१०वाँ, १७) उसकी लाट विजय का उल्लेख करता है। पीछे हम देख चुके हैं कि लाट कल्याणी के चालुक्यों का सामन्तक्षेत्र था, जिस पर बारप और उसके वंशज शासन करते थे। मुञ्ज ने भी लाट पर आक्रमण किया था, जिससे मुक्त होने का श्रेय बारप के पुत्र गोग्गिराज को दिया गया है।[१] किन्तु उसे पुनः सिन्धुराज के आक्रमण का शिकार होना पड़ा। तथापि यह कह सकना बड़ा कठिन है कि लाट के चालुक्य शासक को सिन्धुराज ने अपनी अधिसत्ता स्वीकृत करने के लिए विवश किया अथवा उसकी विजय खोखली साबित हुई। लाट से समुद्र के किनारे होता हुआ दक्षिण-पश्चिम दिशा में और आगे बढ़कर कोंकण (अपरांत) के शिलाहार राजा को भी सिन्धुराज ने पराजित किया।[२] अपरान्त में अपराजित के मर जाने के बाद शिलाहार-वंशी अनेक राजकुमारों में राजगद्दी के लिए आपसी प्रतिस्पर्द्धा और संघर्ष की स्थिति थी और, डॉ० मिराशी के मत में, उसका लाभ उठाकर सिन्धुराज ने अपने नामांकित अरिकेसरी की सहायता के लिए यह अभियान किया था[३]। किन्तु इसके विपरीत एक दूसरी मान्यता यह है कि परमारों का यह आक्रमण अपराजित के समय (१००६ ई०) के कुछ पूर्व ही हुआ था, जिसमें शिलाहार राजा हारकर सिन्धुराज की अधीनता मानने को विवश हुआ[४]।

सिन्धुराज का दक्षिण-पश्चिमी अभियान एक दिग्विजय जैसी उपलब्धि प्रतीत होती है। पद्मगुप्त[५] उस दिशा में जिस अंतिम विजित राज्य का उल्लेख करता है, वह मुरल था। किन्तु मुरल की वास्तविक भौगोलिक स्थिति के बारे में विद्वानों में बड़े मतभेद हैं। कालिदास अपरांत के दक्षिण सह्याद्रि के पास मुरला नदी की स्थिति बताता[६] है जो

---

१. इऐ०, जि० १२, पृ० २०३; डॉ० हेमचन्द्र राय (डाहिनाइ० जि० २, पृ० ८६०) पराजित लाटराज की पहचान बारप के पौत्र कीर्तिराज से करते हैं।

२. इण्डियन् कल्चर, जि० २, पृ० ४०२; नवसाहसांकचरित, १०वाँ, १९।

३. देखिए, वा० बि० मिराशी, इऐ०, जि० ६२, पृ० १०२-१०३; स्टडीज इन् इण्डोलॉजी, पृ० ६१-६२।

४. प्रतिपाल भाटिया, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ६२-६४।

५. नवसाहसांकचरित १०वाँ, १६।

६. रघुवंश, चतुर्थसर्ग; राजशेखर (काव्यमीमांसा, गायकवाड़ ओरियण्टल् सीरीज्, पृ० ९३) मुरल का केरल से भिन्न उल्लेख करता है। अतः धी० चं० गांगुली

मुरल देश के वहीं होने का द्योतक है । अतः मुरल प्रदेश की स्थिति अपरान्त और केरल के बीच में सह्याद्रि के पास कहीं होनी चाहिए । सिन्धुराज की मुरलविजय धर्मविजय मात्र प्रतीत होती है । लाट, अपरान्त और मुरल पर उसकी अपेक्षाकृत आसान विजयों का सबसे प्रधान कारण यह प्रतीत होता है कि इन क्षेत्रों का अधिराज कल्याणी का चालुक्य-राज सत्याश्रय (९९७-१००८ ई०) राजराज चोल (९८५-१०१४ ई०) के विरुद्ध युद्धों में इतनी बुरी तरह फँसा[१] हुआ था कि उसे इनकी रक्षा करने अथवा सहायता करने का कोई अवसर नहीं मिला ।

उत्तर में सिन्धुराज की सर्वप्रमुख उपलब्धि हूणों का दमन प्रतीत होती है । इसका उल्लेख **नवसाहसांकचरित** (१०वाँ, १४) के अतिरिक्त उदयपुर प्रशस्ति (एइ०, जि० १, पृ० २३५) में भी आता है ।[२] चूँकि आगे परमार इतिहास में हूण समस्या की पुनः कोई चर्चा नहीं है, यह निष्कर्ष निकाला गया है कि सिन्धुराज ने सर्वदा के लिए हूणों का दमन कर उन्हें अपने प्रशासन में डाल दिया । पद्मगुप्त सिन्धुराज को सम्बोधित करता हुआ यह भी कहता[३] है कि 'आपने वागड़ की स्त्रियों को अपने प्रेमियों से रतिकाल के मेल और बिगाड़ के प्रसंगों से परांगमुख कर दिया है ।' इससे वागड़ की परमार शाखा पर उसकी विजय का निर्देश होता है । बागड़ बाँसवाड़ा और डूँगरपुर[४] का क्षेत्र था, जिस पर उपेन्द्रराज के पुत्र डम्बरसिंह ने परमारों की एक अवर शाखा की स्थापना की थी । सिन्धुराज का समकालिक वागड़ शासक चण्डप था । लगता है कि उसने विद्रोह कर दिया था, जिसे शान्तकर बागड़ पर मालवा की अधिसत्ता पुनः स्थापित करने के लिए सिन्धुराज ने उसके विरुद्ध अभियान किया था ।

सिन्धुराज के राजकीय जीवन से सम्बद्ध घटनाओं के अतिरिक्त पद्मगुप्त नाग शासक शंखपाल की पुत्री शशिप्रभा से उसके विवाह की विपुल चर्चा करता है । यह जान पड़ता है कि इस विवाह से सम्बद्ध घटनाएँ उसके शासन के अन्तिम भागों में घटीं । उसमें

(पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ५६); वि० च० लाहा (हिस्टॉरिकल् ज्याग्रफी ऑफ् ऐंश्येण्ट ऐण्ड मेडिवेल इण्डिया, पृ० १६३ तथा नन्दलाल दे (ज्यॉग्रफिकल डिक्शनरी ऑफ् ऐंश्येण्ट ऐण्ड मेडिवेल् इण्डिया, पृ० ९८, १३४) जैसे विद्वानों का केरल से उसकी अभिन्नता का मत स्वीकार नहीं किया जा सकता ।

१. देखिए, नीलकान्त शास्त्री, दि चोलज्, पृ० १७५-१७७; याजदानी, अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकन्, पृ० ३२४-३२५ ।

२. तस्यानुजोनिर्ज्जितहूणराजः श्रीसिन्धुराजो विजयार्जितश्रीः । श्लोक १६ ।

३. भवताऽत्र वागड़वधूजनः कृतोरतिसन्धिविग्रहकथापराङ्मुखः । १०वाँ, १५ ।

४. गौ० ही० ओझा, राजस्थान का इतिहास, जि० २, पृ० ४५३ ।

अनेक काव्यात्मक तत्त्व ऐसे हैं, जो पद्मगुप्त अपने स्वामी की शशिप्रभा के प्रति प्रेम-भावनाओं को एक मनोरम रूप देने के लिए ही उपस्थित करता है। उसके काव्यात्मक व्यौरों की सत्यता में चाहे भले ही सन्देह किया जाय, उनका मूल आधार ऐतिहासिक और तथ्यपरक जान पड़ता है। यह निष्कर्ष पद्मगुप्त के इस कथन से संपुष्ट होता है कि उसने सिन्धुराज की आज्ञा से ही उसका चरित अर्थात् जीवनवृत्त काव्यरूप में लिखा।[१]

सिन्धुराज के शशिप्रभा से विवाह सम्बन्धी विवरण संक्षेप में इस प्रकार हैं। विंध्यपर्वत की चोटियों पर सिन्धुराज भोगवती के नागराजा शंखपाल की पुत्री शशिप्रभा को देखता है। एक दूसरे के रूपसौन्दर्य से अतिशय अभिभूत होकर वे तुरन्त परस्पर प्रेमबद्ध हो जाते हैं। शशिप्रभा अलौकिक रूप से पाताल लोक में स्थित अपने पिता की राजधानी भोगवती ले जायी जाती है। सिन्धुराज भी उसका पीछा करता हुआ यशोभट्ट नामक अपने मंत्री के साथ वहाँ पहुँचता है। इसके पूर्व उसे मार्ग बताने वाली भगवती नर्मदा और वहाँ के एक ऋषि से यह ज्ञात होता है कि नर्मदा से ५० गव्यूति (२०० मील) दूर स्थित रत्नावती का असुर शासक वज्रांकुश शंखपाल का त्रासद शत्रु है। उसे शंखपाल की यह प्रतिज्ञा भी ज्ञात होती है कि शशिप्रभा का विवाह उसी से होगा, जो उसके शत्रु वज्रांकुश के प्रमोद-सरोवर से हेमकमल लाकर उसकी पुत्री को कर्णफूल बनाने के लिए समर्पित करेगा। प्रेयसी की प्राप्ति के लिए सिन्धुराज इस शर्त के पालन के लिए आगे बढ़ता है और उस कार्य में उसे विद्याधरों और नागों से सहायता प्राप्त होती है। अन्ततः वज्रांकुश मारा जाता है और उसकी राजधानी रत्नावती में नागयुवक फणिकुमार शासक रूप में स्थापित किया जाता है। सिन्धुराज वहाँ से लौटकर शशिप्रभा से विवाह करता है और उसके पिता से एक शिवलिंग प्राप्तकर पूर्णमनोरथ होकर अपनी राजधानी पहुँचता है।

इस कथा के ऐतिहासिक तत्त्वों को काव्यात्मक परिकल्पनाओं से अलग कर सकना बड़ा कठिन है। नर्मदा के आसपास के क्षेत्रों में नागों और विद्याधरों की बस्तियाँ अनेक साहित्यिक साक्ष्यों से ज्ञात होती हैं। वज्रांकुश नामक असुर किसी आदिवासी जाति का प्रतिनिधि प्रतीत होता है। लगता है कि पद्मगुप्त ने **नवसाहसांकचरित** का लेखन सिन्धुराज द्वारा वज्रांकुश की विजय और शशिप्रभा से उसके विवाह के उपलक्ष्य में प्रारम्भ किया। नागराज शंखपाल उस युद्ध में उसका सहायक था, जो स्वयं भी असुरों से त्रस्त था। अतः वज्रांकुश की मृत्यु के बाद कुछ कृतज्ञतावश और कुछ मित्रतावश उसने अपनी पुत्री का विवाह सिन्धुराज से कर दिया। किन्तु वज्रांकुश और उसकी राजधानी

---

१. एतद्विनिद्रकुमुदद्युति पद्मगुप्तः। श्री सिन्धुराजनृपतेश्च चरितं बबन्ध। नवसाहसांकचरित ग्रन्थप्रशस्ति श्लोक १।

रत्नावती तथा शंखपाल और उसकी राजधानी भोगवती की ठीक-ठीक पहचान नहीं हो सकी है। इस सम्बन्ध में बहुत अधिक मतभेद[१] हैं, जिनमें जाने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं हैं।

पीछे जो वृत्त दिया गया है, उससे स्पष्ट है कि सिन्धुराज की सैनिक उपलब्धियाँ प्रभूत थीं। किन्तु एक दिशा में उसे असफलता का भी सामना करना पड़ा। गुजरात के चौलुक्य शासक चामुण्डराज (९९७-१००९ ई०) से उसका युद्ध हुआ और उसमें उसकी पराजय हुई। अपनी और अपनी सेना की रक्षा के लिए सम्भवत: उसे युद्धस्थल से भागना पड़ा।[२]

राजनीतिक और सैनिक सफलताओं में सिन्धुराज जैसे मुञ्ज और भोज के बीच की योग्य कड़ी था, वैसे ही सांस्कृतिक क्षेत्रों में भी परमारों की उदात्त परम्पराओं का पोषक था। मुञ्ज के समय के पद्मगुप्त सहित अनेक कवियों और लेखकों ने उसके राज्याश्रय का भोग किया और निश्ंचित होकर साहित्यरचना की। उसने **नवसाहसांक** अथवा **नवीन साहसांक, कुमारनारायण मालवैकमृगांक, अवन्तीश्वर** अथवा **अवन्तितिलक, परमारमहीभृत** और **मालवराज** जैसी अनेक उपाधियाँ धारण कीं, जो इस बात की द्योतक हैं कि वह राजत्त्व की परम महिमा, गर्व एवं गौरव का बराबर अनुभव करता था।

महान् भोज (लगभग १०१० से १०५५) : परमार सत्ता का चरमोत्कर्ष

मोडासा ताम्रफलक[३] से ज्ञात होता है कि वि० सं० १०६७ अर्थात् १०११ ई० के कुछ पूर्व सिन्धुराज की मृत्यु और उसके पुत्र भोज का राज्यारोहण हो चुका था। अन्य साक्ष्यों के आधार पर बहुत दिनों पूर्व बूहलर ने भी भोज के शासनकाल का प्रारम्भ १०१० ई० के आसपास माना[४] था, जो इस ताम्रफलक के प्राप्त होने से बिलकुल सही उतरता है। जैसे मुञ्ज के बाद सिन्धुराज के उत्तराधिकार के बारे में परमार अभिलेख किसी प्रकार का संशय नहीं उपस्थित करते, वैसे ही उनसे इस तरह की भी कोई बात नहीं मालूम होती कि मुञ्ज की सिन्धुराज के पुत्र भोज से कोई ईर्ष्या थी। अत: मेरुतुंग का यह कथन केवल किंवदन्ती अथवा परिकल्पना मात्र मालूम होता है कि मुंज ने भोज के बारे में यह

---

१. देखिए, धी० चं० गांगुली, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ५१-५५; वा० वि० मिराशी, कार्पस्, जि० ४, भूमिका, पृ० ९९ और १२०; स्टडीज् इन् इण्डॉलॉजी, पृ० ६७ और आगे; प्रतिपाल भाटिया, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ६९-७०, नोट ७ तथा पृ० ७१।

२. जयसिंहसूरिकृत कुमारपालभूपालचरित, प्रथम, ३१; वाडनगर प्रशस्ति, एइ०, जि० १, पृ० २९७, श्लोक ६।

३. एइ०, जि० ३३, पृ० १९२-१९८।

४. एइ०, जि० १, पृ० २३२-२३३।

भविष्यवाणी सुनकर कि वह पचपन वर्ष सात मास और तीन दिनों तक राज्य करेगा, उसे मार डालने की आज्ञा दी थी। वह पुनः कहता है कि वधिकों के हाथ जब भोज ने मुञ्ज के पास संसार की असारता का निर्देश करने वाला एक श्लोक[1] भेजा तो वह बड़ा दुखी हुआ। किन्तु अन्त में यह जानकर बड़ा प्रसन्न हुआ कि भोज मारा नहीं गया है और उसे अपना **युवराज** घोषित किया। इतिहास में अनेक गलत अनुश्रुतियाँ एक बार प्रचलित हो जाने पर समाप्त नहीं हो पातीं। उन्हीं गलत अनुश्रुतियों में एक यह भी है। इस कथा और किंवदन्ती की रोचकता ने वास्तविक इतिहास को आच्छादित कर दिया और आगे चलकर वल्लालभट्ट तथा अबुल-फज्ल् जैसे कवियों और लेखकों ने भी उसे दुहराया[2]।

भोज के इतिहास की जानकारी के प्रचुर साधन हैं। वि० सं० १०७७ अर्थात् १०११ ई० से वि० सं० ११०३ अर्थात् १०४६ ई० तक के उसके कम से कम आठ अभिलेख प्राप्त होते हैं, जो उसके दानों के सिलसिले में उसकी अन्य राजनीतिक उपलब्धियों सहित उसके राज्यविस्तार का परिचय देते हैं। **दशबलीय चिन्तामणि सार्णिका** से उसके शासन की अन्तिम तिथि शक सं० ९७७ अर्थात् १०५५ ई० ज्ञात होती है[3]। चूँकि उसके उत्तराधिकारी प्रथम जयसिंह के शासन का प्रथम अभिलेख (मांधाता ताम्रफलक) भी उसी[4] वर्ष का है, यह निश्चित है कि भोज ने लगभग ४५ वर्षों (१०१०-१०५५ ई०) तक शासन किया। इस बीच उसके जो भी क्रियाकलाप रहे, उनका सन्दर्भ गुजरात के जैन ग्रन्थों, अन्यान्य राजवंशों के अभिलेखों, सुभाषितों तथा

---

१. प्रचिद्वि०, पृ० २८। सम्बद्ध श्लोक निम्नलिखित है :—
मांधता स महीपतिः कृतयुगालंकारभूतो गतः,
सेतुर्येन महोदधौ विरचितः क्वासौ दशरस्यान्तकः ।।
अन्ये चापि युधिष्ठिरप्रभृतयो याता दिवं भूपते
नैकेनापि समंगता वसुमती मन्ये त्वया सह यास्यति ।।

२. भोजप्रबन्ध, ३८; आइने-अकबरी, अंग्रेजी अनुवाद, जि० २, पृ० २१६-१७। भोजप्रबन्ध पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका लेखक वल्लालभट्ट (१७वीं शती) इतिहास बहुत कम जानता था। पुस्तक का सारा उद्देश्य भोज की दान-शीलता को प्रकाशित करने के लिए पंडितों द्वारा उसकी प्रशंसा कराना है और उस हेतु अनेक ऐसे पंडितों एवं कवियों का उसके दरबार में रहना बताया गया है जो उसके समकालीन नहीं थे। आइने-अकबरी की भूल का कारण यह है कि उसमें अधिकांश हिन्दू इतिहास प्रबन्धचिन्तामणि के स्रोत पर ही दिया गया है।

३. जर्नल् ऑफ् ओरियण्टल् रिसर्च, मद्रास, जि० १९, भाग २, पूरक, पृ० १।

४. एइ०, जि० ३, पृ० ४६-५०।

अल्बीरूनी और अबुल्फज्ल् जैसे अनेक मुसलमान लेखकों के ग्रन्थों में आता है । विद्या और संस्कृति के क्षेत्र में वह अपने निजी कृतियों और कवियों एवं लेखकों को दिये जाने वाले राज्याश्रय से इतना प्रसिद्ध हुआ कि उसकी तुलना का भारतीय इतिहास में ही क्या सारे विश्व के इतिहास में शायद ही कोई अन्य शासक हुआ । परिणामतः, सर्वमान्य जनमानस में भोज की जो स्मृति है, वह मालवा के ही एक अन्य शासक विक्रमादित्य को छोड़कर अन्य किसी की नहीं है । किन्तु दोनों में अन्तर यह है कि विक्रमादित्य की सारी स्मृति किंवदन्ती और अस्पष्ट अनुश्रुतियों पर आधृत है, किन्तु भोज की प्रसिद्धि का आधार उसके ठोस ऐतिहासिक कार्य हैं ।

भोज के युद्ध

उदयपुर प्रशस्ति के उन्नीसवें श्लोक में भोज की विजयों का वर्णन हुआ है । तदनुसार[१], उसने चेदीश्वर इन्द्ररथ, तोग्गल (?) राजा भीम, कर्णाट, लाट और गुर्जर के राजाओं तथा तुर्कों की विजयें कीं । वहाँ इन विजयों का क्रम तैथिक रूप से दिया हुआ नहीं प्रतीत होता । अन्य कोई ऐसा प्रमाण भी नहीं है, जिससे उनका तैथिक क्रम निश्चित किया जा सके । अतः सुविधा की दृष्टि से हम उसे दो क्रमों के आधार पर देखेंगे । पहला होगा अत्यन्त सम्भावित तैथिक क्रम और दूसरा होगा दिशाक्रम ।

चौलुक्य राज्य पर आक्रमण

कल्याणी के चालुक्य राज्य से भोज का संघर्ष उसके सैनिक जीवन की सबसे प्रथम घटना प्रतीत होती है । मेरुतुंग[२] भोज के चालुक्यराज पर आक्रमण की अनुश्रुति कुछ गलत ढंग से रखते हुए कहता है कि एक बार जब गुजरात में दुर्भिक्ष पड़ा हुआ था; उसने उसपर आक्रमण की तैयारी कर दी । गुजरात का राजा भीम घबड़ा गया और अपने मंत्री डामर को उसे रोकने के उपाय के लिए मालवा भेजा । डामर ने परमार राजदरबार में प्रस्तावित सैनिक अभियान के पूर्व खेले गये नाटक के माध्यम से भोज को तैलप द्वारा मुञ्ज के वध की स्मृति दिलाकर परमार आक्रमण को तैलप (?) के विरुद्ध प्रतिसारित कर दिया किन्तु इस सम्बन्ध में यह तो मान्य है कि भोज ने कल्याणी के चालुक्य क्षेत्रों पर चढ़ाई की, यह विवरण स्वीकार नहीं किया जा सकता कि उसका आक्रामित शत्रु तैलप था, क्योंकि तैलप की मृत्यु ९९७ ई० में हो चुकी थी । यह भी गलत है कि

---

१. चेदीश्वरेन्द्ररथतोग्गलभीममुख्यान् कर्णाटलाटपतिगुर्जरराट्तुरुष्कान् ।
यद्भृत्यमात्रविजितानवलोक्य मौला दोष्णां बलानि कथयन्ति न (योद्धृ) लोकान् ।। (एइ०, जि० १, पृ० २३५, श्लोक १९) ।

२. प्रचिद्वि०, पृ० २९-४० । भोज के हाथों तैलप के मारे जाने की गलत अनुश्रुति थोड़े बहुत परिवर्तनों के साथ राजबल्लभकृत भोजचरित में भी मिलती है ।

चालुक्यों पर उसका यह आक्रमण गुजरात के चौलुक्य शासक प्रथम भीम के समय हुआ। भीम की सबसे पहली शासन-तिथि १०२४ ई० है, जो परमार अभिलेखों द्वारा ज्ञात भोज के दक्षिणी अभियान की तिथि के कई वर्षों बाद पड़ती है। भोज के चालुक्यराज पर आक्रमण के सबसे पहले उल्लेख वि० सं० १०७६ अर्थात् १०२० ई० के बाँसवाड़ा और बेतमा अभिलेखों[१] के है, जिनमें **कोंकणविजयपर्व** और **कोंकणग्रहणविजयपर्व** के मनाये जाने का वर्णन है। सम्भवत: उसने कर्णाट प्रदेशों से होते हुए कोंकण की विजय की थी। इसके परिणामस्वरूप गोदावरी के आसपास के चालुक्य राज्य के उत्तरी भागों के कुछ क्षेत्रों पर थोड़े समय के लिए उसका अधिकार हो गया। उस समय कल्याणी का शासक द्वितीय जयसिंह (१०१५-१०४२ ई०) था। अत: भोज की मुठभेड़ उसी से हुई होगी। इस अभियान में त्रिपुरि कलचुरि राजा गांगेयदेव **विक्रमादित्य** और दक्षिण के चोलराज राजेन्द्र ने भोज की सहायता की थी[२]। भोज के सामन्त यशोवर्मा का कल्वन अभिलेख भी उसकी कर्णाट, लाट और कोंकण विजय का उल्लेख[३] करता है। इन साक्ष्यों के समवेत अध्ययन से परमार-चालुक्य संघर्षों के प्रथम दौर में भोज की सफलता प्रकट होती है[४]। किन्तु इसके विपरीत चालुक्य अभिलेख[५] द्वितीय जयसिंह की ही सफलता बताते हैं। १०१९ ई० का उसका बेलगाँव अभिलेख उसे 'भोजरूपी कमल के लिए चन्द्र' कहता है। १०२४ ई० के मीरज[६] अभिलेख की सूचना है कि उसने कोंकण के अधिपति की सारी सम्पत्ति छीन ली और कोल्हापुर के विजयस्कन्धावार में निवास करते हुए उत्तर में और विजयों की योजनाएँ बनायीं। मालवों के विरुद्ध गोदावरी के किनारे लड़कर उसके उन्हें भगा देने की सूचनाएँ[७] उसके कुछ सामन्तों के अभिलेखों में

---

१. एइ०, जि० ११, पृ० १८१-१८३ तथा जि० १८, पृ० ३२०-३२५।

२. कुलेनूर अभिलेख, एइ०, जि० १५, पृ० ३३१।

३. एइ० जिल्द० १, पृ० २३५ तथा एइ०, जि० १९, पृ० ७१-७२; वा० वि० मिराशी, कार्पस्, जि० ४, सं० ५०, पृ० २५६।

४. भोज के कुछ ऐसे अभिलेख हैं (इऐ०, जि० ६, पृ० ५४) जो यह बताते हैं कि उसने कर्णाटक देश के वातापी और मान्यखेट नगरों से आये हुए ब्राह्मणों को दान दिया।

५. इऐ०, जि० ५, पृ० १५-१७। सम्बद्ध पाठ है—'भोजनृपाम्भोजराजनिननिभते-जान्'।

६. एइ०, जि० १२, पृ० ३०३।

७. एइ०, जि० १५, पृ० ३३३; एइ०, जि० १६, पृ० ३५७, श्लोक १० तथा हैदराबाद आर्केलॉजिकल् सीरिज्, सं० ८, पृ० २०, श्लोक ३७।

भी मिलती है। लेकिन इन चालुक्य अभिलेखों से भी एक बात पूर्णतया स्पष्ट है कि जयसिंह ने इन अवसरों पर जितने युद्ध लड़े, वे सभी गोदावरी (गौतम गंगा) के आसपास उसके अपने राज्य में ही लड़े गये थे और उसकी दृष्टि से प्रतिरक्षात्मक थे। उसने अपने सामन्तों की सहायता कलचुरि-चोल-मालव सेनाओं के वृहत् संघ के विरुद्ध ही ली थी तथा कोंकण पर उसका अभियान भोज की अधिसत्ता समाप्त करने के लिए ही आयोजित था।

लाट और कोंकण की विजयें

कल्याणी के चालुक्यों के विरुद्ध भोज के सैनिक दबावों के दूसरे चरण का बढ़ाव लाट और कोंकण पर उसके आक्रमणों के रूप में हुआ। पीछे हम देख चुके है कि लाट का प्रथम शासक बारप और उसके वंशज चालुक्यों की अधिसत्ता स्वीकार करते थे। भोज ने बारप के पौत्र कीर्त्तिराज पर आक्रमण कर उसे आत्मसमर्पण के लिए विवश कर दिया[१], जिसके बारे में उसके पौत्र त्रिलोचनपाल के सूरत अभिलेख में यह कहा गया है कि शत्रुओं ने थोड़े समय के लिए उसकी यशःकीर्त्ति छीन ली। उदयपुर प्रशस्ति और भोज के सामन्त यशोवर्मा के कल्वन अभिलेख से भी लाट पर भोज की विजय प्रमाणित[२] है। यशोवर्मा के अभिलेख में कहा गया है कि वह नासिक जिले में १५०० गाँवों पर भोज की ओर से शासन करता था। स्पष्ट है कि कीर्त्तिराज को वहाँ से अपदस्थ कर भोज ने यशोवर्मा को अपने प्रशासक के रूप में नियुक्त किया था। किन्तु भोज इतने से ही संतुष्ट नहीं हुआ। लाट से आगे समुद्री किनारों से होते हुए उसने कोंकण पर अपनी अधिसत्ता स्थापित की। वहाँ शिलाहार राजाओं का शासन था, जो भोज के पिता सिन्धुराज के मित्र रह चुके थे और कदाचित् उसकी अधिसत्ता स्वीकार करते थे। ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट नहीं है कि भोज ने उन पर क्यों आक्रमण किया। असम्भव नहीं है कि वहाँ अन्तरकलहों के कारण भोज को हस्तक्षेप करना पड़ा हो।[३] इस अभियान की तिथि १०२० ई० के कुछ पूर्व थी और उसका 'विजयपर्व' अथवा 'विजयग्रहणपर्व' मनाने के लिए भोज ने बाँस-बाड़ा और बेतमा अभिलेखों का प्रकाशन और ब्राह्मणों को दान दिया था[४]। किन्तु ऐसा

---

१. इऐ०, जि० १२, पृ० २०१-२०३। कीर्त्तिराज का एक अभिलेख (पाठक कमेमोरेशन् वाल्यूम, पृ० २८७-३०३) १०१८ ई० का प्राप्त है।

२. एइ०, जि० १, पृ० २३५, श्लोक ११; एइ०, जि० १९, पृ० ६९-७५।

३. दे०, वा० वि० मिराशी, स्टडीज् इन् इण्डॉलॉजी, पृ० ७१-७२; इए०, जि० ६२, पृ० १०७।

४. एइ०, जि० ११, पृ० १८१-१८३ तथा जि० १८, पृ० ३२०-३२५।

प्रतीत होता है कि भोज की कोंकणविजयश्री बहुत समय तक उसके हाथों में नहीं रही। द्वितीय जयसिंह के १०२४ ई० के मीरज अभिलेख[1] से ज्ञात होता है कि वह उस वर्ष अपने सामन्तों के साथ एक बड़ी सेना के सहयोग से सप्तकोंणकों के अधिपतियों का सारा धन छीनकर कोल्हापुर के विजयस्कन्धावार में उत्तर पर आक्रमण करने की नीयत से निवास कर रहा था। अतः यह प्रतीत होता है कि १०२४ ई० के पूर्व ही जयसिंह भोज को कोंकण के अधिकार से हटा चुका था।

इन्द्ररथ की विजय

उदयपुर प्रशस्ति का कथन है कि भोज ने इन्द्ररथ को हराया। यह इन्द्ररथ सम्भवतः वही है, जिसकी चर्चा राजेन्द्रचोल (१०१२-१०४२ ई०) के तिरुवालंगाडु और तिरुमलै अभिलेखों[2] (१०१८ ई०) में उसके विजित के रूप में आयी है। वह उड़ीसा का चन्द्रवंशी (सोमवंशी) राजा था, जिसकी राजधानी आदिनगर[3] थी। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि भोज के हाथों इन्द्ररथ की पराजय राजेन्द्र चोल के सहयोग से हुई थी अथवा स्वतंत्र रूप में हुई थी। वह इतना छोटा राजा था कि उसे दबाने के लिए परमार और चोल साम्राज्यों की दो सत्ताओं को एकजुट होना पड़े, यह उसके महत्त्व को अत्यधिक बढ़ाने जैसा हुआ होता। अतः भोज का उसपर प्रहार स्वतंत्र ही प्रतीत होता है।

तोग्गल और तुरुष्क विजय

उदयपुर प्रशस्ति भोज की विजयों में तोग्गल और तुरुष्क की भी गिनती करती है। तोग्गल अभारतीय नाम जान पड़ता है और एक मान्यता[4] यह है कि वह महमूद गजनवी का कोई सिपहसालार था। प्रशस्ति के कथनानुसार जिस तुरुष्क को अपने भृत्यों द्वारा भोज ने हराया, वह, उस मत में, महमूद गजनवी की किसी सैनिक टुकड़ी का नेता था, जो सोमनाथ के आक्रमण (१०२५ ई०) से लौटते समय राजा परमदेव के रास्ते में होने

---

१. सप्तकोंकणाधीश्वरराणां सर्वस्वं गृहीत्वा उत्तरदिग्विजयार्थ कोल्लापुरसमीपसमावासित। एइ०, जि० २, पृ० १८।

२. साउथ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, जि० ३, भाग ३, पृ० ४२४; एइ० जि० ९, पृ० २३३।

३. धी० चं० गांगुली ने (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ६९) आदिनगर को उड़ीसा के गंजाम जिले के मुखलिंगम् नामक स्थान से मिलाया। किन्तु एक दूसरी मान्यता यह है कि वह संभलपुर जिले में महानदी के किनारे स्थित था। दे०, प्रोसीडिंग्स् ऑफ् इण्डियन् हिस्ट्री कांग्रेस, १९४०, पृ० ६६-६७।

४. प्रतिपाल भाटिया, दि परमारज्, पृ० ८२-८३।

का हाल सुनकर अपना मार्ग बदलने को विवश हुआ था[१]। इस परमदेव को परमारदेव (भोज) से मिलाना[२] आकर्षक भले ही लगे, यह सम्भव नहीं प्रतीत होता कि सोमनाथ के आसपास वाले चौलुक्य क्षेत्रों में भोज ने जाकर महमूद को घेरने का प्रयत्न किया हो। यह कहना भी वास्तविक तथ्यों के विपरीत है कि महमूद ने परमार क्षेत्रों से होकर लौटने का निश्चय किया था। मुसलमान इतिहासकार यह स्पष्ट करते हैं कि वह कठिन मरुस्थल मार्ग (सिन्ध) से होते हुए मुल्तान वापस गया[३], जो इस बात का द्योतक है कि उसने कच्छ के रेगिस्तानी हिस्सों को पकड़ा होगा। उधर कहीं भी परमारों की सत्ता नहीं थी। ऐसी स्थिति में उसकी तोग्गल अथवा तुरुष्क-विजय[४] का व्यौरा तब तक स्पष्ट नहीं हो सकता जब तक अन्य कोई स्पष्ट साक्ष्य प्राप्त नहीं हो जाता।

गांगेयदेव कलचुरि पर विजय

मालवा के दक्षिण-पूर्व में गांगेयदेव **विक्रमादित्य** (१०१५-१०४२ ई०) के नेतृत्त्व में डाहल के कलचुरियों की सत्ता तेजी से अपना शक्ति-विस्तार कर रही थी। सीमा पर होने के कारण मालवों से उसका संघर्ष स्वाभाविक था। वाक्पति मुञ्ज ने द्वितीय युवराज को पराजित किया था, यह हम पीछे देख चुके हैं। किन्तु गांगेयदेव बहुत ही महत्त्वाकांक्षी और शक्तिशाली था। अपने शासकीय जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में वह कदाचित् प्रतीहार क्षेत्रों की विजय में लगा हुआ था और बनारस से आगे तक अपनी राज्यसीमाओं के विस्तार में सफल[५] हो गया। उस समय अपने पार्श्वों की रक्षा के लिए उसने भोज से मित्रता कर ली थी, और, जैसा कि पीछे हम देख चुके हैं, चालुक्यराज

---

१. अल्-गर्दीजी; कितबजैनुल् अखबार, पृ० ८५।

२. चि० वि० वैद्य, डाउनफाल ऑफ् हिन्दू इण्डिया, पृ० १५८; प्रतिपाल भाटिया, पूर्व-निर्दिष्ट, पृ० ८२-८३।

३. देखिए, पीछे पृ० ५०५-५०६।

४. फिरिश्ता के इस साक्ष्य (इलियट् ऐण्ड डाउसन्, जि० २, पृष्ठ ४४६) की सत्यता में संदेह के बारे में हम पहले विचार कर चुके हैं कि उज्जैन के राजा (भोज) ने १००८ ई० के युद्ध में महमूद के विरुद्ध आनन्दपाल को सहायता भेजी थी। देखिए, पीछे पृ० २२५।

५. अहमद नियाल्तगीन ने १०३३ ई० में जब बनारस पर आक्रमण किया था तब वहाँ का राजा गंग (गांगेयदेव) था (इलियट् ऐण्ड डाउसन्, जिल्द २, १२३)। कुछ विद्वानों की यह भी मान्यता है कि १०२७ ई० के आसपास उसने गौड और मिथिला भी विजित कर लिया था। दे०, जएसो०, बेंगाल, १९०३, पृ० १८२; वा० वि० मिराशी, कार्पस्, जि० ४, भूमिका, पृ० ९०-९१।

द्वितीय जयसिंह के विरुद्ध परमारों के आक्रमण में वह शामिल था। किन्तु भोज उसकी बढ़ती हुई शक्ति को बर्दाश्त नहीं कर सकता था। वास्तव में दोनों ही कन्नौज के प्रतीहार राज्य के पुराने क्षेत्रों को हस्तगत करने में लगे हुए थे और असम्भव नहीं है कि उसी सिलसिले में उन दोनों का संघर्ष हुआ हो। उदयपुर प्रशस्ति, (एइ०, जि० १, पृ० २३५, श्लोक १९) और यशोवर्मा के कल्वन अभिलेख (एइ० जि० १९, पृ० ६९-७५) भोज की चेदीश्वर पर विजय का उल्लेख करते हैं। **पारिजातमञ्जरी** नामक नाटक से ज्ञात होता है कि चेदिराज की पराजय का उत्सव भोज ने मनाया था।[1]

चन्देल और उनके कछवाहा सामन्तों से संघर्ष

विद्याधर चन्देल भोज जैसा ही महत्त्वाकांक्षी और शक्तिशाली शासक था, जो मालवा के पूर्व में बुन्देलखण्ड पर राज्य करता था। उत्तर में उसकी अधिसत्ता कछवाहों की ग्वालियर और दूबकुण्ड वाली दो सामन्तशाखाएँ स्वीकार करती थीं।[2] भोज ने विद्याधर से सीधी मुठभेड़ बचाने की सम्भवतः कोशिश की, किन्तु कछवाहों को अपनी अधिसत्ता में लाने के लिए प्रत्यनशील भी रहा। उसका उद्देश्य सम्भवतः अपने राज्य के उत्तर में आगे बढ़ते हुए कन्नौज के प्राचीन गुर्जरप्रतीहार क्षेत्रों को हस्तगत करना था। किन्तु चन्देलों का भी यही उद्देश्य था और ऐसी स्थिति में दोनों सत्ताओं की मुठभेड़ अवश्यम्भावी थी। यद्यपि परमार अभिलेखों में इस संघर्ष की चर्चा नहीं है, चन्देल और कछवाहा साक्ष्यों से इस सम्बन्ध में कुछ जानकारी प्राप्त होती है। एक चन्देल अभिलेख[3] इस बात का दावा करता है कि 'कलचुरि चन्द्र और भोज ने विद्याधर की वैसी ही पूजा की जैसे कोई शिष्य अपने गुरु की करता है।' इस सम्बन्ध के कलचुरिचन्द्र गांगेयदेव कलचुरि से और भोजदेव भोज परमार से मिलाये गये हैं। वे दोनों ही विद्याधर के समकालिक थे। यह वर्णन कुछ अतिरंजित होते हुए भी इस बात का द्योतक प्रतीत होता है कि विद्याधर के मुकाबले भोज की कोई सैनिक सफलता नहीं उपलब्ध हुई। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि यदि भोज की विद्याधर से कोई मुठभेड़ हुई तो कब और कहाँ। डॉ० गांगुली की मान्यता है (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ७५) कि भोज ने चन्देलराज पर आक्रमण किया और मुँह की खायी। किन्तु इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है। यदि विद्याधर की सीधे किसी युद्ध में भोज पर विजय हुई होती तो चन्देल अभिलेख उसे

---

१. यस् नूर्ण्ण पूर्ण मनोरथश्चिरम् अभूत् गांगेय भंगोत्सवे। एइ०, जि० ८, पृ० १०१, श्लोक ३।

२. देखिए, इए०, जि० २, पृ० २३७; इहिक्वा०, १९५३, पृ० ८८-९३।

३. विहितकन्याकुब्जभूपालभंगं समरगुरुउपास्तप्रौढ़ भीत्तल्पभोजं सह कलचुरिचंद्रः शिष्यवत् भोजदेवः। एइ०, जि० १, पृ० २२१, श्लोक २१।

स्पष्टतः गर्व के साथ उल्लिखित करते। अतः यह सम्भव है कि उनका मुकाबला अथवा पारस्परिक प्रभाव की आजमाइश अप्रत्यक्ष रूप से ही हुई। उसके प्रमाण भी प्राप्त हैं। ग्वालियर के कछवाहा शासक महीपाल का सासबहू अभिलेख कीर्त्तिराज को भोज के सैनिकों पर एक जबरदस्त विजय का श्रेय देता है[१]। मालव राजकुमारों का यह असफल आक्रमण ग्वालियर पर हुआ था। सम्भवतः इसी अवसर पर विद्याधर ने अपने सामन्तों (कछवाहों) की सहायताकर भोज के विरुद्ध अप्रत्यक्ष सफलता पायी, जिसका सन्दर्भ चन्देल अभिलेख में आया है।[२] किन्तु विद्याधर की मृत्यु के बाद दूबकुण्ड के कछवाहों ने चन्देलों की ह्रासोन्मुख सत्ता को छोड़कर भोज की अधिसत्ता स्वीकार कर ली। विक्रमसिंह के दूबकुण्ड अभिलेख[३] से ज्ञात होता है कि जिस अर्जुन ने विद्याधर चन्देल की ओर से कन्नौजराज राज्यपाल का वध किया, उसी के पुत्र अभिमन्यु की अश्वों और रथों के नियंत्रण तथा युद्ध के शस्त्रों और धनुषबाण के प्रयोग की कुशलता भोज ने प्रशंसित की। अभिमन्यु ने यह कुशलता भोज की ओर से सम्भवतः किसी युद्ध में दिखायी थी। असम्भव नहीं है कि ग्वालियर के कछवाहे विद्याधर की मृत्यु के बाद अकेले हो जाने पर भोज का उत्तरपूर्व की ओर बढ़ना रोक न सके हों। परिणामतः, परमार सेनाएँ कन्नौज के आसपास के क्षेत्रों पर अधिकृत हो गयीं और उत्तर प्रदेश तथा बिहार प्रदेशों पर अधिकार के लिए कलचुरि गांगेयदेव और लक्ष्मीकर्ण से उसके युद्धों का दौर प्रारम्भ हो गया। इस अभियान में भोज ने गुर्जर राजा को हराया,[४] जो सम्भवतः यशःपाल था। कन्नौज पर भोज का प्रभाव गोविन्दचन्द्र गाहड़वाल के बसही अभिलेख[५] से भी प्रमाणित होता है।

मालवा के उत्तर और पश्चिम में भोज ने चाहमानों को दबाया। आघाट के गुहिलोत मुञ्ज परमार के समय से ही मालवा की अधिसत्ता स्वीकार करते थे। किंन्तु उत्तर से शाकम्भरी के चाहमान उन्हें दबाने का बराबर प्रयत्न कर रहे थे। शक्तिकुमार के

---

१. इए०, जि० १५, पृ० ३६, श्लोक १०।

२. शिशिरकुमार मित्र, अर्ली रूलर्स् ऑफ् खजुराहो, पृ० ८३-८४; हेमचन्द्रराय, डाहिनाइ०, जि० २, पृ० ६९२, नोट १ तथा ८२४।

३. यस्यात्यद्भुत् वाहवाहनमहाशस्त्रप्रयोगादिषुप्रावीण्यं कविकत्थितं पृथुमति श्री-भोजपृथ्वीभुजा। एइ० जि० २, पृ० २३७-८, पंक्ति १८; दे०, हेमचन्द्र राय, डाहि-नाइ०, जि० २, पृ० ८७०।

४. एइ०, जि० १, पृ० २३५, श्लोक १९।

५. इऐ०, जि० १४, पृ० १०३।

पुत्र अम्बाप्रसाद को चाहमान द्वितीय वाक्पति ने मार डाला[1], जो भोज की सह्य नहीं हो सकता था। भोज ने शीघ्र ही इसका बदला लेते हुए वाक्पति के पुत्र और उत्तराधिकारी वीर्या–राम को पराजित किया और उसका गौरव नष्ट कर दिया।[2] डॉ० दशरथ शर्मा का मत[3] है कि इस विजय के परिणामस्वरूप भोज ने कुछ समय के लिए चाहमान राजधानी शाकम्भरी पर अधिकार कर लिया और नाडोल के चाहमान शासक अण्हिल की सहायता से ही वीर्याराम का पुत्र चामुण्डराज अपनी पैतृक राजगद्दी पुनः प्राप्त कर सका। परमार–चाहमान युद्धों के इसी (दूसरे) चक्र में परमार सेनापति साढ़ अण्हिल के हाथों मारा गया[4]।

चौलुक्यराज भीम पर विजय

अण्हिलवाड़ की राजगद्दी पर बैठने वाला भोज का प्रथम चौलुक्य समकालिक दुर्लभराज (१००९–१०२३ ई०) था। किन्तु इसका कुछ पक्का पता नहीं है कि उससे भोज का कोई संघर्ष हुआ या नहीं। दुर्लभराज का उत्तराधिकारी प्रथम भीम भोज का दूसरा चौलुक्य प्रतिद्वन्द्वी था, जिसकी अपने समय की राजनीति में व्यापक रुचि थी। यद्यपि भीम–भोज संघर्षों की चर्चा गुजराती जैन लेखकों के बहुत ग्रन्थों में नहीं मिलती, मेरुतुंगकृत **प्रबन्धचिन्तामणि**[5] से उसपर विशद प्रकाश पड़ता है। किन्तु यहाँ यह कह देना बहुत आवश्यक है कि तिथियों अथवा इन संघर्षों में भाग लेने वाले अन्य राज्यों के शासकों की समकालिकता आदि के बारे में मेरुतुंग कई भूलें करता है। अतः वे मुख्य बातें ही यहाँ दी जायेंगी, जो अनैतिहासिक परिकल्पनाओं से रहित हैं। संक्षेपतः, घटनाएँ निम्नलिखित क्रम से घटी हुई प्रतीत होती हैं। प्रारम्भ में भोज और भीम के मित्रतापूर्ण

---

१. पृथ्वीराजविजय, पंचम, ५९–६०। सुर्जनचरित (षष्ठ, १८) में कदाचित् इसे ही वाक्पति की भोज पर विजय माना गया है।

२. पृथ्वीराजविजय, पंचम, ६७। तिलकवाड़ा अभिलेख (प्रोसीडिंग्स्, इण्डियन् ओरियण्टल् कांग्रेस, पूना, पृ० ३२४) से ज्ञात होता है कि शूरादित्य नामक किसी सेनापति ने युद्धों में भोज की सहायता करते हुए साहवाहन और अन्य राजाओं के सैनिकों को मारा। इस साहवाहन की पहचान चाहमानों से की गयी है। दे० प्रतिपाल भाटिया, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ८८ तथा दिस्कलकर, एइ०, जि० २१, पृ० १५८–१५९। दूसरे मत के लिए देखिए, धी० चं० गांगुली, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ७९–८०।

३. अर्ली चौहान डाइनेस्टीज़्, पृ० ३४–३५।

४. एइ०, जि० ९, पृ० ७५, श्लोक १७।

५. प्रचिद्रि०, पृ० ३७ और आगे।

सम्बन्ध थे और दोनों के राजनयिक एक दूसरे के दरबारों में रहते थे। किन्तु गुजरात में एक साल पानी न पड़ने से अकाल पड़ गया। भोज ने इसे आक्रमण का अवसर समझकर मित्रता ताख पर रख दी और युद्ध की तैयारी में जुट गया। जब भीम को अपने गुप्तचरों से इसका पता लगा तो उसने अपने **सांधिविग्रहिक** डामर को भोज के प्रस्तावित अभियान को दूसरी ओर मोड़ने के लिए भेजा। परमार दरबार में 'राजाओं की दुर्दशा' प्रकट करने वाले एक नाटक के अभिनय के समय बड़ी कुशलतापूर्वक डामर ने भोज को तैलप द्वारा मुञ्जराज के क्रूरवध की स्मृति दिलाकर परमार सेना के प्रस्तावित आक्रमण को चालुक्यों (कर्णाट) के शासक तैलप[१] की ओर अभिमुख कर दिया। किन्तु कुछ ही दिनों बाद गुजरात पर आक्रमण करने के लिए भोज ने अपने जैन सेनापति कुलचन्द्र को ऐसे समय भेजा, जब भीम स्वयं सिन्ध पर आक्रमण के लिए अपनी सेनाएँ राजधानी से हटाये था। कुलचन्द्र ने अण्हिलवाड़ बुरी तरह लूटा और भीम के मंत्री को जयपत्र लिखने को विवश किया[२]। भीम अपनी राजधानी लौटने पर बड़ा दुःखी और अप्रसन्न हुआ, किन्तु उसने तुरन्त उसका बदला लेने के लिए कुछ नहीं किया और परमार राजदरबार से अपना सम्बन्ध बनाये रखा, जहा डामर पुनः रहने लगा। उदयपुर प्रशस्ति भी यह दावा करती है कि भोज ने भृत्यों से ही भीम को जीत लिया।[३]

इस प्रकार गुजराती और परमार साक्ष्यों से स्पष्ट है कि चौलुक्य-परमार संघर्षों में प्रथम आक्रामक भोज ही था। उनके पहले दौर में भोज की सफलता के कारण उसकी युवावस्था की तेजी, सैन्य संचालन की योग्यता, युद्ध के लिए उपयुक्त समय का चुनाव और भीम की राजनीति सम्बन्धी मामलों की कदाचित् प्रारम्भिक अनुभवहीनता जैसे अनेक तत्त्वों का संयोग था। भोज ने इस युद्ध में बागड़ के अपने परमार सामन्त सत्यराज का उपयोग[४] तो किया ही, आबू के परमार शासक धन्धुक को भी भीम के विरुद्ध उभाड़ दिया। यह धन्धुक भीम का ही सामन्त था किन्तु वह चित्रकूट में जाकर भोज से मिल गया। यद्यपि थोड़े दिनों के बाद विमल के माध्यम से उसने पुनः भीम की अधिसत्ता

---

१. उस समय का चालुक्य शासक तैलप नहीं अपितु द्वितीय जयसिंह (१०१५-१०४२ ई०) था।

२. प्रचिद्वि०, पृ० ३७ और आगे। अण्हिलवाड़ की यह लूट बाद में मुहावरा बन गयी। चि० वि० वैद्य, हिमेहिइ०, जि० ३, पृ० १५७।

३. एइ०, जि० १, पृ० २३५, श्लोक १९।

४. एइ०, जि० २१, पृ० ४६-५०; तीर्थकल्प (अर्बुदकल्प), श्लोक २९।

स्वीकार कर लीं, भोज अपनी चालों से बाज नहीं आया और धन्धुक के पुत्र पूर्णपाल को पुनः विद्रोह करने के लिए उकसा दिया ।[१]

मालवा पर बाहरी आक्रमण

ऊपर के विवरणों से स्पष्ट है कि अपने शासकीय जीवन के अधिकांश भागों में भोज अपनी सैनिक दक्षता, कूटनीतिक पहलों और राजनीतिक प्रभावों द्वारा उत्तर भारतीय राजनीतिक रंगमंच पर पूरी तरह छाया रहा । प्रायः सभी दिशाओं में विजयें प्राप्तकर उसने परमार सत्ता को बेजोड़ बना दिया । किन्तु उसकी सैनिक सफलताएँ ही अन्त में उसके राजनीतिक अवरोह का बीज बन गयीं । ऐसा प्रतीत होता है कि ज्यों-ज्यों उसकी आयु ढलती गयी और वह शरीर से शिथिल होता गया, उसने सैनिक मामलों में कम रुचि ली और सांस्कृतिक क्रियाकलापों में अधिक व्यस्त रहने लगा । उतनी ही मात्रा में दक्षिण-पूर्व में कलचुरि राजा लक्ष्मीकर्ण (१०४१-१०७२ ई०), पश्चिम में प्रथम भीम चौलुक्य (१०२४-१०६४ ई०) और दक्षिण में प्रथम सोमेश्वर (१०४४-१०६८ ई०) भोज के हाथों अपनी सेनाओं की पहले की पराजयों के बदले के लिए तत्पर होने लगे । परिणामतः, अपने शासन के अन्तिम चतुर्थांश में भोज को इनके अनेक आक्रमण सहने पड़े और उसके सामने परमार साम्राज्य की रक्षा का प्रश्न तेजी से उपस्थित हो गया । द्वितीय जयसिंह का पुत्र और उत्तराधिकारी प्रथम सोमेश्वर १०४७ ई० के आसपास मालवा पर चढ़ गया और भोज की राजधानी धारा लूटा, जिसके परिणामस्वरूप 'अभिमानी मालवेश को अपने ही नगर (राजधानी) धारा में झुकना पड़ा[२]' । मालवा पर सोमेश्वर के आक्रमण और विजय का समर्थन नगाइ से प्राप्त होने वाले १०५८ ई० के एक अन्य अभिलेख[३] से भी होता है । इससे यह भी ज्ञात होता है कि चालुक्य सेनाओं ने धारा नगर लूटकर उसे जला दिया तथा माण्डवा अर्थात् मांडू जीत लिया । **विक्रमांक-देवचरित** (प्रथम, ९१-९४) में बिल्हण कहता है कि मालव राजधानी पर किये गये इस आक्रमण के कारण भोज अपना प्राण बचाने के लिए भागा और चालुक्यों ने उस पर अधिकार कर लिया । स्पष्ट है कि परमार राज्य पर सोमेश्वर के इस आक्रमण का प्रभाव अत्यन्त विनाशकारी सिद्ध हुआ । धारा से भोज का भागना, उसकी लूट और अन्त में शत्रुओं का उसे जला देना इस बात का द्योतक है कि भोज उसकी रक्षा नहीं कर सका ।

---

१. प्रतिपाल भाटिया, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ८९-९०; एइ० जि० ९, पृ० १४८-१५८ ।

२. याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३३०, पादटिप्पणी, ६ ।

३. हैदराबाद आर्केलाजिकल् सीरिज्, सं० ८, पृ० १३, श्लोक ४३ । चालुक्यों के कई और अभिलेखों में उनके सेनापतियों और गवर्नरों द्वारा मालवा पर किये गये आक्रमण में भाग लेने की चर्चाएँ हैं । दे० होट्टूर अभिलेख, एइ०, जि० १५, पृ० ८५ तथा जि० १६, पृ० ८१, ८६ ।

आक्रमणकारियों के लौट जाने के बाद ही वह पुनः उसपर अधिकृत हो सका। इस अभियान के परिणामस्वरूप चालुक्यों ने परमार राज्य के कुछ दक्षिणी भागों पर सम्भवतः अधिकार कर लिया[१] और उनकी साम्राज्य सीमा नर्मदा के आसपास तक पहुँच गयी। पूर्व में मालवा के दक्षिणी जिलों से होते हुए दक्षिण कोशल और कलिंग तक चालुक्य अधिसत्ता का विस्तार हो गया।[२]

प्रथम सोमेश्वर की धारा-विजय से भोज की अजेयता का मिथक ढह गया और उसके अन्य शत्रु भी उसपर टूट पड़े। भोज ने गांगेयदेव कलचुरि को पराजित किया था, जिसका महत्त्वाकांक्षी और शक्तिशाली पुत्र लक्ष्मीकर्ण भोज से बदला लेने की ताक में था। उधर पश्चिम में भीम भी उससे पराजित होकर मन ही मन अवसर की खोज में था। इस सम्बन्ध की जो चर्चा मेरुतुंगकृत **प्रबन्धचिन्तामणि** में आती[३] है उससे यह स्पष्ट है कि उन्हें वृद्ध भोज की शक्तिहीनता का पूरा ज्ञान हो गया था और उन्होंने उसका राज्य आपस में आधा-आधा बाँट लेने का निश्चय कर मालवा पर चढ़ाई की योजना बना ली। भोज चिन्तित होकर बीमार पड़ गया और शीघ्र ही मर गया। कर्ण ने लगभग १०५५ ई० में उसके मरते ही धारा लूटा और उसका सारा धन ढो ले गया। भीम भी दूसरी दिशा से उसपर टूट पड़ा[४]। किन्तु अब उसका वास्तविक शत्रु भोज नहीं अपितु कर्ण था जिससे धारा की लूट के प्रश्न पर शीघ्र ही उसका संघर्ष छिड़ गया।

भोज का साम्राज्य विस्तार

किन्तु अपने जीवन की गोधूलि के समय की इन पराजयों से भोज की यशःकीर्ति समाप्त नहीं हो गयी। अपनी उन्नति की चरमावस्था में उत्तर भारत और दक्षिणापथ की शायद ही कोई सत्ता रही, जिसे कभी न कभी भोज ने मात न दी हो अथवा जो उसके सैन्यभय से आतंकित न रही हो। उसने एक विशाल साम्राज्य का निर्माण कर ११वीं शती के प्रथमार्द्ध में परमारों को भारत की सर्वप्रमुख राजनीतिक सत्ता बना दिया। उदयपुर प्रशस्ति उसका यशोगान करती हुई कहती है कि 'पृथु की तुलना करने वाले उस भोज ने

---

१. धी० चं० गांगुली, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ६८-६९।

२. याज़्दानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३३२। किन्तु उस स्थल (पृ० ३३१-३३२) का डॉ० नीलकान्त शास्त्री का यह मत स्वीकार्य प्रतीत नहीं होता कि भोज को थोड़े समय के लिए प्रथम सोमेश्वर की अधिसत्ता स्वीकार करने को विवश होना पड़ा था। इसका कोई समर्थक साक्ष्य नहीं है।

३. प्रचिद्वि०, पृ० ६०-६३। विस्तृत विवरणों के लिए दे० पीछे पृ० ५०७-५१२।

४. वहीं; कीर्त्तिकौमुदी द्वितीय १७-१८; वाडनगरप्रशस्ति, एइ०, जि० १, पृ० २९७; कुमारपालभूपालचरित, प्रथम ३४।

कैलास पर्वत से लेकर मलयगिरि तक, उदयाचल से लेकर अस्ताचल तक सारी पृथ्वी का भोग किया तथा अपने धनुषबाणों से पृथ्वी के सभी राजाओं को उखाड़ते हुए उन्हें विभिन्न दिशाओं में बिखेरकर पृथ्वी का परम प्रीतिदाता बना[१] ।' यदि प्रशस्तिकार पूर्व में इन्द्ररथ और गांगेयदेव **विक्रमादित्य** एवं पश्चिम में गुजरात और लाट की विजयों को उदयाचल से लेकर अस्ताचल तक पृथ्वी के भोग का स्वरूप देता है तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है । कनौज के उत्तर में हिमालय की तलहटियों तक भोज की सेनाएँ पहुँची थीं, इसकी अत्यन्त अधिक सम्भावनाएँ हैं । उसकी कोंकण-विजय (मलयगिरि) भी ज्ञात है । अतः उदयपुर प्रशस्ति का कथन गतानुगतिक होते हुए भी अतिरंजित नहीं माना जा सकता । अन्य समकालिक राज्यों और राजाओं पर भोज की सत्ता का प्रभाव बताते हुए मेरुतुंग **प्रबन्धचिंतामणि**[२] में कहता है कि 'चोड़ (का राजा) समुद्र की गोद में प्रवेश कर रहा है और आन्ध्र (पति) पर्वत की खोह में निवास कर रहा है; कर्णाट का राजा पट्टबंध (पगड़ी बाँधना) नहीं करता है, गूर्जर (का राजा) निर्झर का आश्रय लेता है, चेदि (नरेश) अस्त्रों से म्लान हो गया है और राजाओं में सुभट समान काव्यकुब्ज कूबड़ा हो गया है—हे भोज ! तुम्हारे मात्र सेनातंत्र के प्रसार के भय से ही सभी राजा लोग व्याकुल हो रहे हैं ।' निश्चय ही भोज की सत्ता के चढ़ाव के समय ये भी क्षेत्र उसका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष लोहा मानते थे और उसके मरने के बाद भी उसका प्रताप आनुश्रुतिक रूप से अन्यान्य राज्यों को ज्ञात था[३] । इन सारी प्रशंसाओं के होते हुऐ भी ऐसा नहीं लगता कि भोज के अधीन परमार राज्य की सीमाएँ वाक्पतिमुञ्ज के समय की अपेक्षा अधिक विस्तृत थीं । तथापि उसका राजनीतिक प्रभाव और अधिसत्तात्मक क्षेत्र वाक्पति की तुलना में बहुत अधिक व्यापक था । पूर्व में कलिंग और चेदि, उत्तर

---

१. आकैलासान्मलयगिरितोऽस्तोदयाद्रिद्वयादाभुक्तापृथ्वीपृथुनरपतेस्तुल्यरूपेण येन उन्मूल्योर्वीभरगुरू (ग) णा लीलया चापयज्या शिप्तादिषुक्षितिरपि परां प्रीतिमा-पादिता च । श्लोक १७, एइ०, जि० १, पृ० २३५ ।

२. प्रचिद्रि०, पृ० ४० । मूल श्लोक है—
चौलक्रोर्ड पयोधीर्विशति निवसतेरनध्रमन्ध्रों गिरीन्द्रे,
कर्णाटः पट्टबन्धं न भजति भजते गूर्जरो निर्झराणि ।
चेदिर्लेलीयतेस्त्रैः क्षितिपति सुभटः कान्यकुब्जोऽत्र कुब्जो,
भोज ! त्वत्तन्मात्रप्रसरभयभर व्याकुलो राजलोकः ।।

३. गोविन्द्रचन्द्र गाहडवाल के बसही अभिलेख में उस प्रताप का उल्लेख है । दे०, इऐ०, जि० १४, पृ० १०३, श्लोक ३ ।

और पूर्वोत्तर में ग्वालियर होते हुए सारा उत्तर प्रदेश और बिहार का कुछ भाग, पश्चिम में लाट और वहाँ से समुद्र के किनारे होते हुए अपरांत और कोंकण तथा उत्तर-पश्चिम में मेवाड़ और मारवाड़ का बहुत बड़ा भाग एक समय उसकी अधिसत्ता स्वीकार करता था। चित्तौड़ के किले में १०३१ ई० में एक बार भोज ने स्वयं निवास किया,[१] जहाँ आबू का परमार शासक धन्धुक गुर्जरेश्वर के क्रोध से बचने के लिए उसकी शरण लेने पहुँचा। वहाँ भोज ने त्रिभुवननारायण का मंदिर बनवाया।[२] मेवाड़ के नागोद (नागह्रद) प्रदेश में उसने भूमिदान किया, जो उस क्षेत्र पर उसके अधिकार का सूचक[३] है। वहाँ उसने भोजसर नामक एक तालाब और धारेश्वर नामक एक मन्दिर भी बनवाया।[४]

भोज की सांस्कृतिक उपलब्धियाँ

त्रिभुवननारायण, परमभट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर, सार्वभौम एवं मालवचक्रवर्ती जैसी अनेक उपाधियाँ धारण करने वाला साम्राज्यशासी भोज अपनी राजनीतिक उपलब्धियों के लिए तो प्रसिद्ध है ही, अपने सांस्कृतिक क्रियाकलापों के लिए वह और भी अधिक ज्ञात है। उसने अपनी राजधानी उज्जैन से हटाकर धारा (सिप्रा के दाहिने किनारे पर) नगर में स्थापित की, जो शीघ्र ही विद्या और कला का केन्द्र तथा भारत की बौद्धिक राजधानी बन गयी। उदयपुर प्रशस्ति[५] में कथित है कि 'उसने वह सब कुछ साधा, सम्पन्न किया, दिया और जाना जो अन्य किसी द्वारा सम्भव नहीं हो सका था। इससे बढ़कर **कविराज** श्री भोज की और प्रशंसा क्या हो सकती है।' उसने केदारेश्वर, रामेश्वर, सोमनाथ, सुंडीर, काल, रुद्र और अनल के मन्दिर बनवाकर विश्व को सच्चे अर्थ में जगती (वास्तुस्थान) बना दिया[६]। **समरांगणसूत्रधार** और **युक्तिकल्पतरु** के उस राजलेखक ने वास्तुशास्त्र के सिद्धान्तों का केवल शास्त्रीय प्रतिपादन ही नहीं किया, अपितु उन्हें प्रयोग में लाते हुए अनेक सुन्दर भवनों, नगरों और

---

१. राजानक श्रीधान्धुके क्रुद्धं श्रीगुर्जरेश्वरं, प्रसाद्यभक्त्या तं चित्रकूटादानीय तद्-ग्रा ।। जिनप्रभकृत तीर्थकल्प, (अर्बुदकल्प), श्लोक १९।

२. एइ०, जि० २२, पृष्ठ २८८, श्लोक ३१।

३. इऐ०, जि० ६, पृ० ५३-५४।

४. एइ०, जि० २४, पृ० ३१७।

५. साधितं विहितं दत्तं ज्ञातं तद्यन्न केनचित्।
किमन्यत्कविराजस्य श्रीभोजस्यप्रशस्यते ।। श्लोक १८, एइ०, जि० १, पृ० २३५।

६. वहीं, श्लोक २०।

झीलों का निर्माण कराया। धारा नगरी सुन्दर महलों और मंदिरों से नये सिरे से सजायी गयी[१]। उस नगरी के चौराहों पर स्थित चौरासी मन्दिर थे, जिनमें प्रधान था शारदा-सदन। वहाँ अनेक देशों से आये हुए तीन विद्याओं को जानने वाले विद्वानों का 'जमघट लगा रहता था और जो रसिक कवियों और लेखकों से भरा रहता था तथा जिसकी शिलाओं पर अर्जुनवर्मा ने **पारिजातमंजरी** नामक नाटक खुदवाया।[२] शारदासदन सरस्वतीभवन और भोजशाला नाम से भी ज्ञात था। वहाँ सरस्वती देवी की एक प्रतिमा स्थापितकर भोज ने उसे तीर्थस्थान बना दिया। उसकी दीवारों के पत्थरों पर भोजकृत **कूर्मशतक** लिखा गया, जिसकी नकल पर बाद के परमार राजाओं ने अनेक दूसरे ग्रन्थों को भी वहाँ उत्खचित कराया। उसके पास ही सरस्वतीकूप नामक एक कुआँ था, जो आज भी अक्कलकुई के नाम से प्रसिद्ध है। भोज ने सम्भवतः अपनी विजयों के उपलक्ष्य में वहाँ एक विजयस्तम्भ भी स्थापित किया था, जिसे १४०५ ई० में दिलावर खाँ गोरी ने तोड़वा दिया तथा उस स्तम्भ (लाट) के नाम पर वहाँ लाट मस्जिद बन-वायी। भोज ने भोजपुर नामक एक दूसरा नगर भी बसाया[३], जिसके अवशेष मध्यप्रदेश के प्रमुख नगर भोपाल से १६ मील दूरी पर प्राप्त हुए हैं। वहीं उसने एक विशाल भोजपुर झील बनवायी, जिसे माण्डू के मुसलमान सुल्तान शाहहुसेन ने तोड़वा दिया[४]। कल्हण **राजतरंगिणी**[५] में कहता है कि कश्मीर के पद्मगुप्त नामक व्यापारी ने भोज के भेजे हुए सोने से कपटेश्वर नामक एक कुण्ड बनवाया। भोज की यह प्रतिज्ञा थी कि कपटेश्वर (कोटेर) के पापसूदन तीर्थ के जल से ही वह रोज स्नान करेगा। अतः पद्मराज कांस्यकलशों में बराबर उसे उसका जल भेजता रहता था। आज भी लोगों का विश्वास है कि धारा और मांडू की दुर्गबन्दी भोज ने ही की थी।

भोज की सर्वाधिक प्रसिद्धि विद्वानों और कवियों को दिये गये उसके आश्रय और संरक्षण तथा निजी साहित्य-निर्माण से हुई। वह स्वयं **कविराज** की उपाधि से ज्ञात था तथा अच्छी रचनाओं से प्रसन्न होकर अनेक कवियों और लेखकों को उसने भी उपाधियाँ दीं। त्रिविक्रम के पुत्र भास्करभट्ट को उसने **विद्यापति** की उपाधि दी। कश्मीर के एक राजा की भोज से तुलना में कल्हण कहता है कि दोनों ही अपने दानोत्कर्ष के कारण

---

१. प्रचिद्वि०, पृष्ठ ३३-३६, ५०-५१।

२. एपिग्राफिका इण्डिका, जि० ८, पृ० १०९। आजकल वहाँ एक मस्जिद है, जिसे कमाल मौला की मस्जिद कहा जाता है।

३. एइ० जि० ३५ पृ० १८५; इण्डियन् आर्केलॉजी, १९५९-६०, ए रिव्यू, पृ० ५७।

४. इऐ०, जि० १८, पृ० ३५१।

५. सप्तम, १९०-१९३, उसपर स्टाइन की टीका भी देखें।

कविबान्धव रूप में अत्यन्त विश्रुत थे ।[1] **विक्रमांकदेवचरित** का रचयिता बिल्हण कहता है कि भोज की तुलना में कोई राजा था ही[2] नहीं । उसकी दानशीलता इनती प्रसिद्ध हुई कि आगे होने वाले मेरुतुंग और वल्लालभट्ट जैसे कवियों और फिरिश्ता[3] जैसे मुसलमान लेखकों ने अनुश्रुति चला दी कि वह प्रत्येक श्लोक पर प्रत्येक रचयिता को एक लाख का पुरस्कार देता था । तत्त्वत: यह कथन अतिरंजित है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि भोज की अत्यधिक उदारता ही इसका आधार थी । **प्रबन्धचिन्तामणि** और **भोजप्रबन्ध** में ऐसे अनेक कवियों और लेखकों को भोज का प्रियपात्र बताया गया है, जो वास्तव में उसके समकालिक थे ही नहीं । तथापि उसका दरबार अनेक विद्वानों से भरा था । भोज की आज्ञा से दामोदर मिश्र ने **हनुमन्नाटक** पुन: लिखा और भोज की कविताओं का **अब्दप्रबोध** नामक एक संग्रह तैयार किया । **पाइयलच्छी** का रचयिता धनपाल भोज के समय तक जीवित था और उसकी आज्ञा से उसने **तिलकमञ्जरी** लिखी । परमारों के शत्रुवंश चालुक्यों के दरबारी कवि बिल्हण को इस बात का बड़ा दु:ख रहा कि वह धारा भोज की मृत्यु हो जाने के बाद पहुँचा[4] । किन्तु **कविराज** भोज ने स्वयं भी व्याकरण, आयुर्वेद, वास्तुशास्त्र, ज्योतिष और धर्मशास्त्र जैसे विभिन्न विषयों पर अनेक ग्रन्थ लिखे[5], जिन्हें बाद में अनेकानेक लेखकों ने उद्धृत किया । यद्यपि अन्यों द्वारा भी लिखित कुछ ग्रन्थों को बाद में भोज के ही नाम से जोड़ दिया गया, कुछ के सम्बन्ध में यह निर्विवादरूप से कहा जा सकता है कि वे उसी के बनाये हुए हैं । उनमें सर्वप्रसिद्ध हैं[6]—

व्याकरण और अलंकार शास्त्र—सरस्वतीकण्ठाभरण, शृंगारप्रकाश और प्राकृतव्याकरण ।

योगशास्त्र—पातंजलियोगसूत्रवृत्ति (राजमार्त्तण्ड) ।

काव्य और नाटक—कूर्मशतक, चम्पूरामायण (भोजचम्पू) और शृंगारमञ्जरी ।

---

१. स च भोजनरेन्द्रश्च दानोत्कर्षेण विश्रुतौ । सूरी तस्मिन् तुल्यं द्वावस्ताँ कवि-बान्धवौ । राज०, सप्तम, २५९ ।

२. भोजक्ष्माभृत स खलु न खलैस्तस्य साभ्यं नरेन्द्रैः । विक्रमांकदेवचरित, १८वाँ ९९ ।

३. ब्रिग्स्, जि० १, भूमिका, पृ० ७६ वाँ ।

४. विक्रमांकदेवचरित, १८वाँ, ९६ ।

५. थियोडोर ऑफ्रेक्ट, कैटेलागस् कैटेलागुरम्, भाग १, पृ० ४८०; भाग २, पृ० ९५ ।

६. दे० प्रतिपाल भाटिया, पूर्वनिर्दिष्ट पृ० ३१६-३२०; विशेश्वरनाथ रेउ, राजा भोज, पृ० २३६-३८ ।

शिल्पशास्त्र—**समरांगगण सूत्रधार** और **कृत्यकल्पतरु** ।

शैवागम—**तत्त्वप्रकाश** ।

ज्योतिष और वैद्यक—**भुजबलनिबन्ध, राजमृगांक** ।

कोश—**नाममालिका, शब्दानुशासन** ।

अनेक युद्धों के विजेता और समसामयिक राजनीति में सतत रुचि लेने वाले **महा-राजाधिराज कविराज शिष्टशिरोमणि धारेश्वर श्री भोजदेव** की ये साहित्यिक कृतियाँ उसकी असीम शारीरिक और बौद्धिक शक्ति की ओर निर्देश करती हैं । यदि कवि ने उसकी मृत्यु पर यह कहा कि 'आज भोजराज के दिवगंत हो जाने पर धारा निराधार हो गयी है, सरस्वती निरालम्ब हो गयी है और सभी पण्डित (अपने आश्रय से) टूट गये हैं'[१], तो कोई अत्युक्ति नहीं की । उसकी बहुमुखी प्रतिभा और उसके अधीन मालवा की बहुश्रुति को ध्यान में रखते हुए ग्यारहवीं शती का प्रथमार्ध भारतीय इतिहास में भोज का युग कहा जा सकता है ।

मालवा पर बाहरी आक्रमण और परमार साम्राज्य का अध:पतन

प्रथम जयसिंह (लगभग १०५५-१०७० ई०)

भोज की मृत्यु (१०५५ ई०) के बाद परमार राज्य आन्तरिक संघर्षों और बाहरी आक्रमणों का शिकार होने लगा । राजतंत्रों के इतिहास में प्राय: देखा जाता है कि अत्यन्त योग्य और वीर राजाओं के उत्तराधिकारी इतने कमजोर साबित हुए कि वे उनकी विरासत को सफलतापूर्वक संभाल नहीं सके । भोज के बाद परमार इतिहास का भी यही हाल हुआ । उसकी मृत्यु के तुरन्त बाद कुलचुरि राजा लक्ष्मीकर्ण और चौलुक्यराज प्रथम भीम दो ओर से मालवा पर चढ़ गये[२] और राजधानी धारा शत्रुओं के हाथ में चली गयी । दुर्भाग्यवश भोज अपने पीछे अपना कोई औरस पुत्र नहीं छोड़ गया था और राजगद्दी के लिए उत्तराधिकार का कदाचित् संघर्ष छिड़ गया । जयसिंह ने वंश के पुराने शत्रु कल्याणी के चालुक्यराज प्रथम सोमेश्वर से शरणागत रूप में सहायता माँगी, जिसने लक्ष्मीकर्ण और भीम जैसे अपने शक्तिशाली शत्रुओं के मालवा में जम जाने के भय से उसे मित्र बनाने में देर नहीं की । सोमेश्वर के पुत्र षष्ठ विक्रमादित्य ने जयसिंह को मालवा की

---

१. अद्य धारा निराधारा निरालम्बा सरस्वती ।
पण्डिता खण्डिता सर्वे भोजराजे दिवंगते ।। यह श्लोक कालिदास के नाम से किंव-दन्ती रूप में प्रचलित हो गया । किन्तु कालिदास भोज के बहुत पूर्व हो चुके थे । अत: इसे भोज के प्रति साधारण सम्मान का द्योतक मानना चाहिए ।

२. प्रचिद्वि०, पृ० ६१-६३; वाडनगर प्रशस्ति, एइ०, जि० १, पृ० २९७ ।

राजगद्दी पर बिठाकर उसकी पुत्री से विवाह किया ।[१] जयसिंह के वि० सं० १११२ अर्थात् १०५५ ई० के मांधाता अभिलेख से प्रमाणित है कि वह उसके कुछ समय (मास) पूर्व राजगद्दी धारण कर चुका था[२] । वागड़ के उसके एक परमार माण्डलिक के १०५९ ई० के पन्हेरा अभिलेख की सूचना है कि जयसिंह ने कान्ह नामक किसी सेनापति को पराजित किया ।[३] किन्तु यह ज्ञात नहीं है कि कान्ह किसका सेनापति था ।

जयसिंह प्रथम सोमेश्वर की सहायता प्राप्तकर मालवा का स्वामी तो बन गया, किन्तु परमार राज्य की शक्ति पुनरुज्जीवितकर अपने पैरों पर पूर्ण रूप से खड़े होने की योग्यता उसमें नहीं थी । जब तक उसका संरक्षक (प्रथम सोमेश्वर) जीवित था, उसे किसी विशेष विपत्ति का सामना नहीं करना पड़ा । किन्तु सोमेश्वर के मरते ही वह कल्याणी के चालुक्य राजदरबार की भीतरी राजनीति का शिकार होने लगा । प्रथम सोमेश्वर के बड़े पुत्र द्वितीय सोमेश्वर की अपने पिता और छोटे भाई षष्ठ विक्रमादित्य से नहीं पटती थी[४] और ज्योंही वह राजा हुआ (१०६८ ई०) उसने संरक्षित जयसिंह पर प्रहार प्रारम्भ कर दिया । मालवा की राजगद्दी के लिए जयसिंह अकेला दावेदार नहीं था । अन्य परमार राजकुमार भी उसके लिए होड़ कर रहे थे । ऐसी स्थिति में द्वितीय सोमेश्वर को परमार राजनीति में हस्तक्षेप करने का मौका मिल गया । उसने कर्ण और कुछ अन्य राजाओं के साथ एक वृहत् संघ तैयारकर मालवा पर आक्रमण कर दिया । नागपुर प्रशस्ति कहती है कि 'जब राजा भोज इन्द्र का बन्धु हो गया (मर गया) और राज्य तथा राजा (शत्रुओं के आक्रमण रूपी) बाढ़ में डूब गये, उसका सम्बन्धी उदयादित्य राजा हुआ । उसने वराह रूप होकर कर्ण और कर्णाट एवं अन्य राजाओं के (मिल जाने से तैयार होने वाले) समुद्र से प्रताड़ित पृथ्वी (राज्य) का उद्धार किया' ।[५] मालवा पर

---

१. स मालवेन्दु शरणं प्रविष्टमकण्टके स्थापयतिस्म राज्ये ।
कन्याप्रदानाच्छलतः क्षितीशाः सर्वस्वदानं बहुवोऽस्त्रचक्रुः ।। विक्रमांकदेवचरित, तृतीय, ६७ ।

२. एइ०, जि० ३, पृ० ४६; डॉ० अल्तेकर (एइ०, जिल्द २३, पृष्ठ १३२ और आगे) तथा डॉ० मिराशी (कार्पस्, जिल्द ४, भूमिका, पृष्ठ ९८) जयसिंह को भोज का भाई स्वीकार करते हैं ।

३. आसरि०, १९१६-१७, पृ० १९ ।

४. देखिए, याजदानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३५३ ।

५. यह अनुवाद डॉ० वा० वि० मिराशी के पाठ के आधार पर (प्रोसीडिंग्स्, इण्डियन् हिस्ट्री कांग्रेस, हैदराबाद, जि० ५, पृ० २५७ तथा कार्पस्, जिल्द ४, भूमिका, पृष्ठ ९८) स्वीकृत किया गया है । कुछ इसी तरह का पाठ और अनुवाद चि०

आक्रमण का समुद्र उड़ेल देने वाले इस संदर्भ के कर्ण और कर्णाट क्रमशः डाहल के कलचुरि शासक लक्ष्मीकर्ण[1] (१०४१-१०७२ ई०) और द्वितीय सोमेश्वर थे। मालवा के इस आक्रमण में सोमेश्वर के सामन्त सेनापति गंग[2] उदयादित्य और होयसल **माण्डलिक** एरेयंग ने उसकी सहायता की थी। तत्सम्बन्धी अनेक अभिलेखों[3] से ज्ञात होता है कि दाक्षिणात्यों ने मालवा को बुरी तरह रौंदा, खण्डव (खण्डवा) और मांडू जलाया, तथा उद्यपुरम् (ग्वालियर क्षेत्र का उदयपुर) नष्ट कर दिया। राजधानी बुरी तरह लूटी गयी और जला दी गयी। नागपुर प्रशस्ति से स्पष्ट है कि जयसिंह इन बाहरी आक्रमणों की बाढ़ में डूब गया अर्थात् मारा गया। शक् सं० १०३४ अर्थात् १११२ ई० का उदयादित्य के पुत्र जगद्देव का डूँगरगाँव अभिलेख बताता है कि उदयादित्य ने मालवदेश को तीन आक्रमणकारियों से उबारा[4]।

उदयादित्य (लगभग १०७०-१०८६ ई०)

मालवा पर शत्रुओं का यह समवेत आक्रमण १०७० ई० के आसपास हुआ था। उसमें जयसिंह की पराजय और मृत्यु के उपरान्त उदयादित्य राजा हुआ। सत्ता की बागडोर संभालने के लिए इस दुःस्थिति से बढ़कर अन्य कोई बड़ा कुअवसर

वि० वैद्य (हिमेहिइ०, जि० ३, पृ० १६६-१६७) का भी था। किन्तु लेख के मूल सम्पादक (एइ०, जि० २, पृ० १८५) कीलहॉर्न का अनुवाद कुछ भिन्न था। मूलपाठ है—

तस्मिन् वासवबन्धुतामुपगते राज्ये च कुल्याकुले, भग्ने स्वामिनि तस्य बन्धुरुदया-दित्योऽभवत्।

येनोद्धृत्यमहार्णवोपमाः मिलन्तः कर्णाटकर्णप्रभृतयः उर्ध्वीपालाः तैः क्रदर्थितां भुवम्॥

१. डॉ० गांगुली ने (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ९३) इस संदर्भ के कर्ण की पहचान अण्हिल-वाड़ के चौलुक्यनरेश कर्ण (१०६४-१०९४ ई०) से की, जिससे कुछ अन्य विद्वान् भी सहमत हैं। दे०, इहिक्वा०, जि० १८, पृ० २६६-२६८; अ० कु० मजुमदार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ५७। किन्तु इस पहचान के विरुद्ध अनेक आपत्तियाँ हैं। दे०, प्रतिपाल भाटिया, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १०३-१०४।

२. मैसूर इन्स्क्रृप्शन्स्, पृ० १६४।

३. एपिग्राफिया कर्नाटिका, जि० ५, ए० के० सं० १२० अ, पृ० १५२ तथा जिल्द एस्० एच्०, सं० ६४, पृ० १४।

४. ततोरिपुस्त्रयस्कन्दैर्भग्ना मालवमेदिनीम्। उद्धरन्नुदयादित्यस्तस्य भ्राता व्यवर्द्धत्। श्लोक ५, एइ०, जि० १६, पृ० १८३।

उसके सामने नहीं हो सकता था। इन बाहरी आक्रमणों की विपत्तियों का पहाड़ उसने कैसे तोड़ा, इसका ठीक-ठीक परिचय देने वाला कोई साक्ष्य हमारे पास नहीं है, किन्तु ऐसे उल्लेख परमार अभिलेखों में प्राप्त होतें हैं कि[१] 'वराह की तरह, उसने पृथ्वी का उद्धार किया तथा अन्धकार के गर्त में पड़ी हुई धारा को सूर्य की तरह प्रकाशित किया।' नागपुर प्रशस्ति से प्रतीत होता है कि वह भोज का कोई चचेरा भाई (बन्धु) था, तथापि उन दोनों के ठीक-ठीक सम्बन्धों का कुछ स्पष्ट ज्ञान नहीं है।[२] जिस विपत्ति में उसने मालवा की राजगद्दी पायी थी, उसने कई वर्षों तक उसका पीछा नहीं छोड़ा और अपनी स्वतंत्रता बनाये रखने के लिए उसे बराबर युद्ध करते रहना पड़ा। बागड़ का परमार **माण्डलिक** प्रथम जयसिंह का मित्र रह चुका था। अतः उसके लड़के चामुण्ड ने उदयादित्य की अधिसत्ता माननी अस्वीकार कर दी। उदयादित्य ने उसपर कई प्रहार किये किन्तु वह दबाया नहीं जा सका। उदयादित्य का सबसे कठोर संघर्ष गुजरात के चौलुक्य राजा कर्ण (१०६४-१०९४ ई०) से हुआ। कर्ण के मालवा पर आक्रमण की चर्चा अनेक गुजराती ग्रन्थ और अभिलेख करते हैं। अरिसिंहकृत **सुकृतसंकीर्त्तन** (द्वितीय, २३) में कथित है कि कर्ण मालवराज को हराकर नीलकण्ठ की एक मूर्त्ति उठा ले गया[३]। कुमारपाल के समय का एक अभिलेख[४] बताता है कि कर्ण ने मालवराज को सूदकूप के दर्रे के पास पराजित किया। ऐसा प्रतीत होता है कि युद्ध के प्रथम चक्र में गुजरात की आक्रामक सेनाएँ सफल रहीं। किन्तु शीघ्र ही उदयादित्य ने अपने मित्रों की सहायता से इस आक्रमण को पीछे ढकेल देने में सफलता पा ली। उसके सहायकों में नाडोली चाहमान पृथ्वीपाल और मेवाड़ के गुहिलोतों के अतिरिक्त शाकम्भरी का चाहमान राजा तृतीय विग्रहराज प्रमुख थे।[५] **पृथ्वीराजविजय** की स्पष्ट सूचना (पंचम,

---

१. नागपुर प्रशस्ति, श्लोक ३२, एइ०, जि० २, पृ० १८५; उदयपुर प्रशस्ति, श्लोक २१, एइ०, जि० १, पृ० २३६।

२. उसके सम्बन्धों के लिए देखिए-नागपुर प्रशस्ति, एइ०, जि० २, पृ० १८५; शेर-गढ़ अभिलेख, एइ०, जि० २३, पृ० १३५; जएसो०, बेंगाल जि० ९, पृ० ५४९; धी० चं० गांगुली, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ९७; प्रतिपाल भाटिया, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १०७-१०८।

३. सोमेश्वरकृत सुरथोत्सव (पंचम, २०-२५) का इस युद्ध सम्बन्धी विवरण यह बताता है कि युद्धस्थल में दोनों पक्षों ने कृत्याओं और प्रतिकृत्याओं का प्रयोग किया था।

४. भण्डारकर, लिस्ट ऑफ् नार्थ इण्डियन् इन्स्कृप्शन्स्, सं० १५२२।

५. प्रतिपाल भाटिया, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १०९।

७६-७८) है कि मालवराज उदयादित्य ने वैसे ही उन्नति प्राप्त की जैसे मन्दाकिनीसर से समुद्र पूर्णता प्राप्त करता है' । चाहमान विग्रहराज ने उसे सारंग नाम का वह घोड़ा दिया, जिसकी गति मस्तिष्क के बराबर थी और जिसपर चढ़कर उसने (उदयादित्य ने) गुर्जरराजा को हराया । तृतीय विग्रहराज ने १०७९ ई० में शाकम्भरी की राजगद्दी ग्रहण की थी । अत: उदयादित्य को दी जाने वाली यह सहायता उस तिथि के बाद की ही होगी । इसलिए कर्ण और उदयादित्य की मुठभेड़ों का समय भी उसके बाद ही रखना होगा । कर्ण के मालवा पर किये गये इस आक्रमण का कोई स्थायी प्रभाव पड़ा हुआ नहीं प्रतीत होता ।

उदयादित्य के समय के प्राप्त होने वाले अनेक अभिलेखों में सर्वप्रमुख है उदयपुर प्रशस्ति, जो भिलसा के पास उदयपुर नामक स्थान के नीलकण्ठेश्वर मंदिर के एक शिलापट्ट पर अंकित है । परमारवंश के राजाओं का नाम और उनका इतिहास जितने व्यवस्थित ढंग से यह प्रशस्ति देती है, उतना अन्यत्र कहीं नहीं मिलता । चौलुक्य आक्रमण से निवृत्त होकर उदयादित्य ने शान्तिपूर्वक शासन किया और मुञ्ज तथा भोज के समय की सांस्कृतिक परम्पराओं को आगे बढ़ाता रहा । उसके अनेक वास्तुकार्यों में उदयपुर (भिलसा के निकट) नगर का बसाना और उसमें नीलकण्ठेश्वर मन्दिर का निर्माण मुख्य था[१] । वहाँ उसने उदयसमुद्र नामक एक तालाब भी खुदवाया, किन्तु वह आज विद्यमान नहीं है । उदयादित्य सम्भवत: कवि भी था, जिसके नागबन्ध अलंकार में विरचित दो श्लोकों का भोजशाला की दीवार पर उत्खचित होने का विश्वास किया जाता है[२] ।

लक्ष्मदेव लगभग (१०८६-१०९४ ई०)

उदयादित्य का ज्येष्ठ पुत्र लक्ष्मदेव १०८६ ई० में उसका उत्तराधिकारी हुआ । उसके शासन का विवरण देनेवाली उसकी नागपुर[३] प्रशस्ति का यदि विश्वास किया जाय तो वह केवल परमार वंश का ही सबसे बड़ा विजेता नहीं, अपितु भारत के महान् चक्रवर्ती और दिग्विजयी राजाओं में एक गिना जायगा । प्रशस्तिकार इक्कीस श्लोकों (३४-५४) में उसकी दिग्विजय की चर्चा करते हुए दक्षिण में चोल, पाण्ड्य, सिंहल, मैनाक पर्वत के राक्षसों सहित अनेक राक्षसों और तिमिंगल पर; पूर्व में वंग; अंग, मगध, त्रिपुरी और कलिंग पर तथा उत्तर में तुरुष्क और कीर पर उसकी विजयों का उल्लेख करता है । इस प्रशस्ति के सम्पादक डॉ० कीलहॉर्न ने इस विवरण को काल्पनिक अधिक

---

१. प्रोसीडिंग्स्, आसरि, पश्चिमी चक्र, १९१४, पृ० ६६ ।

२. जराएसो०, बम्बई शाखा, जि० २९, पृ० ३५०-३५२ ।

३. एइ०, जि० २, पृ० १८०-१९५ ।

और तथ्यात्मक कम माना, जो सही प्रतीत होता है। इस सूची में न तो विजित राजाओं का कहीं नाम दिया हुआ है और न सम्बद्ध राजवंशों के इतिहासों से ही वैसी कोई जानकारियाँ प्राप्त होती हैं। प्रत्युत्, कुछ उल्लेख तो ऐसे मिलते हैं, जिनसे इस समय मुसलमानी आक्रामकों द्वारा मालवा की लूट और तोड़फोड़ प्रमाणित होती है। अतः उसके आधार पर धी० चं० गांगुली द्वारा मान्य उसकी विजयों का लम्बा-चौड़ा स्वरूप[१] स्वीकार्य नहीं प्रतीत होता। तथापि यह असम्भव नहीं है कि मालवा के आसपास के कुछ राज्यों पर लक्ष्मदेव ने धावे किये हों। बंगाल में उस समय पालों की राजनीतिक और सैनिक सत्ता कैवर्तों के आक्रमण[२] के कारण ढीली पड़ रही थी और यह असम्भव नहीं है कि लक्ष्मदेव ने उनकी कमजोरी से उत्साहित होकर वंग, अंग और मगध वाले उनके क्षेत्रों पर धावे किये हों। चेदि राज्य परमारों का पुराना शत्रु था और उससे लक्ष्मदेव का संघर्ष स्वाभाविक प्रतीत होता है। उस पर अन्य राज्यों के भी आक्रमण हो रहे[३] थे। लक्ष्मदेव ने भी अपने समकालिक यशःकर्ण (१०७३-११२३ ई०) को पराजित किया। उत्तर में तुर्क आक्रामकों से उसका संघर्ष हुआ प्रतीत होता है। किन्तु उनके मुकाबले में वह असफल रहा। मुसलमान साक्ष्यों से यह ज्ञात है कि महमूद के किसी महमूद नामधारी वंशज ने उज्जैन पर आक्रमण कर उसे अपने अधिकार में कर लिया और वहाँ के अनेक मन्दिरों को तोड़ा[४]।

नरवर्मा (लगभग १०९३-११३३ ई०)

लक्ष्मदेव के छोटे भाई नरवर्मा ने १०९४ ई० में राज्यासन ग्रहण किया। वह नागपुर प्रशस्ति और धारा अभिलेख का रचयिता[५] था तथा परमारवंश के अनेक राजाओं की परम्परा में स्वयं एक उच्चकोटि का कवि, कवियों का उदार आश्रयदाता और अनेक मन्दिरों और तालाबों का निर्माता था। किन्तु राजनीतिक दृष्टि से उसका शासन काल मालवराज्य की सीमाओं की छीजन का समय था। कदाचित् वह सांस्कृतिक और धार्मिक कार्यों में ही अधिक रुचि लेता था और उसमें राजनीतिक एवं सैनिक योग्यताओं का अभाव था। उसी अनुपात में उसके समकालिक सीमावर्ती राजे, विशेषतः चाहमान वंशी अजयदेव (११०५-११३० ई०) और अर्णोराज (११३०-११५० ई०) तथा

---

१. पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १०५ और आगे।

२. पीछे दे०, नवाँ अध्याय; र० चं० मजुमदार, हिस्ट्री ऑफ् बेंगाल, जि० १; पृ० १५२ और आगे।

३. वा० वि० मिराशी, कार्पस्, जि० ४, भूमिका, पृ० १०४।

४. इलियट् ऐण्ड डाउसन्, पूर्वनिर्दिष्ट, जि० ४, पृ० ५२४।

५. एइ०, जि० २, पृ० १८०-१९५; एइ० जि० ३१, पृ० २५-२८।

चौलुक्यवंशी जयसिंह **सिद्धराज** (१०९४-११४२ ई०) महत्त्वाकांक्षी और शक्तिशाली थे। इनका सामूहिक परिणाम यह हुआ कि नरवर्मा अपने राजनीतिक दायाद की पूरी तरह रक्षा नहीं कर सका।

परमार राज्य के पूर्व में चन्देलों ने एक बार पुनः अपनी पुरानी शक्ति अर्जित कर अपना राज्य बढ़ाना प्रारम्भ कर दिया था। सल्लक्षणवर्मा (१११०-१११५ ई०) ने 'मालव और चेदि-लक्ष्मी का अपहरण कर लिया,[१] तथा ११६४ ई० में मदनवर्मा ने भैल्लस्वामिन् (भिलसा) में पड़ाव डालते समय भूमिदान किया[२]। भिलसा का क्षेत्र नरवर्मा के ठीक पहले शासन करने वाले लक्ष्मदेव और उदयादित्य के समय तक परमार अधिकार[३] में था। अतः मदनवर्मा चन्देल द्वारा वहाँ की भूमि का दान इस बात का द्योतक है कि चन्देलों ने नरवर्मा से वह क्षेत्र जीत लिया था।

उत्तर-पश्चिम में चाहमानों ने नरवर्मा को दबाया। पीछे चाहमान इतिहास लिखते समय इस बात का सविस्तार उल्लेख किया जा चुका है कि नरवर्मा को अवन्ति की सीमाओं पर अजयराज के हाथों मात खानी पड़ी तथा उसका सुल्हण अथवा सोल्लण नामक सेनापति **(दण्डनायक)** पकड़ा गया।[४] सम्भवतः इसी युद्ध में चच्चिग, सिन्धुल और यशोराज नामक मालववीर भी चाहमान आक्रामकों के हाथों पकड़े गये।[५] चाहमान इतने से ही संतुष्ट नहीं थे। अजयदेव के पुत्र अर्णोराज ने भी निर्वाणनारायण (नरवर्मा) पर आक्रमण कर उसे पराजित किया और युद्धस्थल से बलपूर्वक उसके हाथियों को छीन लिया[६]। इन चाहमान अभियानों का परमार राज्य पर बहुत बुरा प्रभाव हुआ। कदाचित् उनसे उत्पन्न अव्यवस्था से ही उत्साहित होकर उज्जैन से केवल ५० मील की दूरी पर इंगड़पट (इंगोड़) के समीप **महाराजाधिराज परमभट्टारक विजय-**

---

१. एइ०, जि० १, पृ० ३२७।

२. इऐ०, जि० १६, पृ० २०८।

३. एइ०, जि० १, पृ० २२२-२३८; इऐ० जि० २०, पृ० ८३।

४. चाहमान प्रशस्ति, दशरथ शर्मा, (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १८१) द्वारा उद्धृत; पृथ्वीराज-विजय, पंचम, ८५।

५. बिजोलिया अभिलेख, श्लोक १५, एइ०, जि० २६, पृ० १०४। इस सम्बन्ध में और देखिए, दशरथ शर्मा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३९।

६. बिजोलिया अभिलेख, श्लोक १७; चाहमान प्रशस्ति, दशरथ शर्मा (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १८१) द्वारा उद्धृत। इस सम्बन्ध में देखिए पीछे पृ० ४५३-४५४; ४५८-४५९।

पालदेव नामक कोई सरदार स्वतन्त्र रूप से शासन करने लगा। उसका ११३३-३४ ई० का इंगोड़ अभिलेख[1] उसके पिता त्रिभुवनपाल और पितामह पृथ्वीपाल को भी **महा-राजाधिराज परमभट्टारक**, की उपाधियाँ देता हैं, जिससे यह प्रकट होता है कि उसका राजवंश धीरे-धीरे पहले से ही स्वतन्त्र होने का प्रयत्न कर रहा था।

नरवर्मा की प्रमुख बाहरी विपत्ति अण्हिलवाड़ के चौलुक्यराजा जयसिंह **सिद्धराज** के आक्रमणों के रूप में उपस्थित हुई। इस सम्बन्ध में गुजराती साक्ष्यों के विस्तृत हवाले पीछे जयसिंह **सिद्धराज** (१०९४-११४२ ई०) का इतिहास लिखते समय दिये जा[2] चुके हैं और उन्हें दुहराने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है। मूल तथ्यों के रूप में यहाँ केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि नरवर्मा के शासन के अन्तिम भागों में जयसिंह ने मालवा के विरुद्ध कई अभियान किये और युद्धों में उसे तबाह कर दिया। किन्तु मालव भूमि के अधिकांश भागों पर अधिकार करने में उसे नरवर्मा के उत्तराधिकारी यशोवर्मा के समय ही सफलता मिल सकी। यह अवश्य प्रतीत होता है कि नरवर्मा इन युद्धों के अन्त में पराजित हुआ।

यशोवर्मा (लगभग ११३३-११४२ ई०)

नरवर्मा के पुत्र यशोवर्मा के राजगद्दी पर बैठते समय मालव राज्य की अवस्था अत्यन्त ही खराब थी। जयसिंह **सिद्धराज** की सेनाओं के जोरदार दबावों की समस्या उसके सामने मुँख बाये खड़ी थी। सम्बद्ध साक्ष्यों से यह प्रतीत होता है कि उसके समाधान की उसमें पूरी शक्ति नहीं थी। इस सम्बन्ध में तैथिक कारणों से मेरुतुंग[3] का यह कथन विश्वास्य नहीं प्रतीत होता कि यशोवर्मा (लगभग ११३३-११४२ ई०) ने गुजरात पर ऐसे समय आक्रमण कर दिया, जब जयसिंह अपनी माता के साथ सोमनाथ की तीर्थयात्रा पर गया हुआ था और उसी का बदला लेने के लिए वह मालवा पर चढ़ गया। मालवा पर उसके आक्रमण का कारण वहाँ के राजाओं की कमजोरी ही थी।

---

१. इऐ०, जि० ६, पृ० ५५-५६; डॉ० धी० चं० गांगुली (पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १२०) के मत में यह विजयपालदेव परमारों का ही कोई राज्यपाल था, जो समय पाकर स्वतन्त्र हो गया।

२. मूल साक्ष्यों के लिए दे०, प्रचिद्वि०, पृ० ६९-७०; प्रबन्धकोश, पृ० ९०; कीर्त्ति-कौमुदी, द्वितीय, ३०-३२, सुरथोत्सव, १५वाँ, २२, कुमारपालभूपालचरित, प्रथम, ४९; द्व्याश्रयकाव्य, १४वाँ, श्लोक ५-१४।

३. प्रचिद्वि०, पृ० ६९-७०; विवेचन के लिए पीछे दे०, जयसिंह सिद्धराज की मालव-विजय प्रकरण।

जिसमें अन्ततः यशोवर्मा कैद किया गया और अण्हिलवाड़ नगर में 'तोते की तरह पिंजड़े में बन्द कर दिया गया'[१]। ११३६ ई० के गला अभिलेख (जराएसो०, बम्बई शाखा, १९८० पृ० ३२४) में जयसिंह को **अवन्तिनाथ** कहा गया है, जिससे यह प्रमाणित है कि उस समय तक मालवा पर उसका अधिकार हो चुका था और यशोवर्मा ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी[२]। ११३८ ई० में जयसिंह ने उज्जैन से एक अभिलेख प्रकाशित किया और वहाँ शासन करने के लिए महादेव नामक एक अधिकारी नियुक्त किया[३]। ११३९ ई० के एक अभिलेख (इऐ०, जि० १० पृ० १९५) से दोहद पर भी उसके अधिकार की पुष्टि होती है।

परमारसत्ता की गोधूलि

सार्वभौम, अवन्तिनाथ त्रिभुवननारायण जयसिंह **सिद्धराज** की विजयों के परिणामस्वरूप मालवा का अधिकांश भाग चौलुक्यों के अधिकार में चला गया और **महाराज** यशोवर्मा उसका सामन्त मात्र रह गया। वह अण्हिलवाड़ की कैद से कब और कैसे छूटा, इसका स्पष्ट निर्देश करने वाला कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। किन्तु ११४२ ई० तक वह जीवित रहा। उसके पुत्र और उत्तराधिकारी जयवर्मन् का केवल एक अतैथिक अभिलेख मिलता है, जो उसे **परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर**[४] की उपाधियाँ प्रदान करता है। लगता है कि उसने चौलुक्यों की अधिसत्ता का बोझ उतार फेंकने का प्रयत्न किया। किन्तु यह नहीं प्रतीत होता कि उसे इस उद्देश्य में बहुत सफलता मिली। सम्भवतः जयसिंह की मृत्यु (११४२ ई०) के बाद चौलुक्य राजगद्दी के लिए उत्तराधिकार का जो अल्पकालिक संघर्ष छिड़ा और चाहड़ ने चाहमान राजा अर्णोराज से मिलकर गुजरात पर जो आक्रमण[५] कर दिया, उससे उत्पन्न अशान्ति दूर करने में कुमार-पाल का ध्यान लग जाने से जयवर्मन् को एक मौका मिल गया और उसने उज्जैन पर अधिकार करने का प्रयत्न किया। किन्तु यदि वह उज्जैन पर अधिकार कर भी सका तो वह अत्यन्त अल्पकालिक ही साबित हुआ। कुमारपाल के दोहद और उज्जैन पर पुनः अधिकार[६] कर लेने के प्रमाण उपलब्ध हैं। इतना ही नहीं, सम्पूर्ण मालवा को मानों बाँट

१. कीर्त्तिकौमुदी, द्वितीय, ३०-३२; सुरथोत्सव, १२वाँ, २२; सुकृतसंकीर्त्तन, ११वाँ, ३४।
२. वि० सं० ११९२ अर्थात् ११३५ ई० के एक अभिलेख में वह केवल महाराज कहा गया है, जबकि ११३४ ई० तक वह महाराजाधिराज था। दे० क्रमशः इऐ०, जि० १९, पृ० ३४८-४९ तथा पृ० ३५१।
३. इऐ०, जि० ४२, पृ० २५८।
४. इऐ०, जि० १९, पृ० ३४९-३५१।
५. पीछे देखिए, कुमारपाल चौलुक्य प्रकरण।
६. इऐ०, जि० १०, पृ० १५८-१६२; जि० ४२, पृ० २५८।

और भामान नामक कलचुरि सामन्तों ने गोडदेश और धारा के राजाओं से युद्ध किया, जो निश्चय ही प्रतीहार सम्राटों की ओर से लड़े गये होंगे[१]। ऐसा जान पड़ता है कि प्रतीहारों की अवनति के बाद इन सामन्तवंशों ने त्रिपुरी अथवा डाहल के कलचुरि राजवंश की अधिसत्ता स्वीकार कर ली थी। इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में बनारस तक के प्रदेश गांगेयदेव के नेतृत्त्व में डाहल की कलचुरि सत्ता के अधीन आ चुके थे। किन्तु काशी–कन्नौज की गाहड-वाल सत्ता के स्थापन के साथ मध्यप्रदेश के कलचुरियों का काशी और प्रयाग के आसपास तक के प्रदेशों का यह अधिकार तो समाप्त हो ही गया, सरयूपार के कलचुरि सामन्तों की शाखा भी समाप्त हो गयी। यह निष्कर्ष इस बात से पुष्ट होता है कि १०७७ ई० के कहला अभिलेख के प्रकाशक सोढ़देव के किसी उत्तराधिकारी की जानकारी नहीं है।

त्रिपुरी के कलचुरि : प्रारम्भिक इतिहास (वामराज)

कलचुरियों की अनेक शाखाओं में त्रिपुरी अथवा डाहल के कलचुरि सर्वाधिक शक्तिशाली और प्रसिद्ध हुए, जिन्होंने लगभग ३०० वर्षों तक उत्तर भारतीय राजनीति में महत्त्वपूर्ण भाग लिया। बहुत दिनों तक इस शाखा का संस्थापक[२] कोक्कल्ल अथवा कोकल्ल (८५०–८८५ ई०) स्वीकार किया जाता था। किन्तु अब डॉ० मिराशी ने अभिलेखीय[३] आधार पर यह प्रमाणित किया है कि उसके कई पीढ़ियों पूर्व वामराजदेव से ही इस राजवंश का प्रारम्भ हो चुका था। अपने वंशजों के अभिलेखों में वामराजदेव को **परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर** कहा गया है तथा उसके बाद अनेक राजाओं को 'वामदेव पादानुध्यात्' (वामदेव के चरणों की पूजा करने वाला) कहा गया है। सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हर्ष साम्राज्य के विघटन के बाद उत्पन्न उत्तर भारतीय राजनीतिक अव्यवस्था का लाभ उठाकर सम्भवतः उसी ने कालंजर जीता तथा बुन्देलखण्ड और बघेलखण्ड पर अधिकार कर लिया। त्रिपुरी को उसने अपनी राजधानी बनायी और वहाँ से आगे बढ़कर उसने अयोमुख (प्रतापगढ़ और रायबरेली) पर अधिकार किया एवं अपने छोटे भाई लक्ष्मणराज को श्वेतपद जीतने के लिए भेजा। मोटे तौर पर उसका शासन–समय ६७५ से ७०० ई० के बीच स्वीकार किया गया है।

---

१. पीछे देखिए, पाँचवा अध्याय, भोज और महीपाल प्रकरण।

२. युवराजदेव के बिलहरी और कर्ण के बनारस से प्राप्त होने वाले अभिलेखों में डाहल की कलचुरि वंशावली कोक्कल्ल से ही प्राप्त होती है। देखिए, कार्पस्, जिल्द ४, पृष्ठ २०४–२२४ और २३६–२५०।

३. वहीं, पृ० १७४ और आगे तथा १८६ और आगे।

कलचुरि राजवंश

प्रस्तावना

उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश और महाराष्ट्र में लगभग १०००-१२०० वर्षों तक कलचुरियों ने कहीं न कहीं शासन किया और राजनीतिक एवं सांस्कृतिक दोनों ही दृष्टियों से महत्त्व प्राप्त किया। उनके प्रभाव का सबसे बड़ा द्योतक कलचुरि संवत् था, जिसे मूलतः २४८-२४९ ई० में आभीरों ने पश्चिमी भारत में किसी बड़ी घटना के उपलक्ष्य में प्रवर्तित किया था। किन्तु उसे कलचुरियों ने बाद में अपनाकर अपना नाम दे दिया एवं उसके साथ ही अपने को भी अमर कर लिया। मध्यप्रदेश और उत्तरप्रदेश के कलचुरियों द्वारा इस संवत् के प्रयोग के पूर्व प्रारम्भिक गुर्जरों, प्रारम्भिक कलचुरियों, चालुक्यों और सेन्द्रकों ने मध्य भारत, महाराष्ट्र और गुजरात में इसका प्रयोग किया था। तब वह केवल संवत् कहलाता था, जो इन वंशों के अनेक अभिलेखों से प्रमाणित है। किन्तु बाद में कलचुरियों ने अपनी बढ़ती हुई राजनीतिक सत्ता के साथ इसे पूर्व में मध्यप्रदेश के छत्तीसगढ़ वाले क्षेत्रों तथा पूर्वोत्तर में उत्तर प्रदेश के गोरखपुर और देवरिया के क्षेत्रों तक प्रचलित कर दिया। उन क्षेत्रों से कलचुरि संवत् के अनेक अभिलेख प्राप्त हुए हैं। बाद में कलचुरियों ने निर्विकल्प रूप से अपने आलेख्यों में इसी संवत् का प्रयोग किया[१]।

अभिलेखों में कलचुरि के अलावे कलच्चुरि, कटच्चुरी अथवा हैहय या अहिहय नाम भी मिलते हैं। चेदि देश पर शासन करने के कारण कहीं-कहीं इन्हें चेदि, चैद्य अथवा चेदिकुल भी कहा गया है। अपने आलेख्यों[२] में वे अपने को हैहयवंशी सहस्रार्जुन

---

१. देखिए, वा० वि० मिराशी, कार्पस्, जिल्द ४, भूमिका, पृष्ठ १-३०।

२. देवः श्रीकार्त्तवीर्यः क्षितिपतिरभवद्भूषणं भूतधात्र्या,
हेलोत्क्षिप्ताद्रिविभ्यत्तुहिनागिरिसुताश्लेषसन्तोषितेशम्।
कर्ण का बनारस अभिलेख, कार्पस्, जिल्द ४, पृष्ठ २४१, श्लोक २; कार्पस्, जिल्द ४, पृ० ३७८, श्लोक ८।

अभिलेख में कहा गया है कि उसने 'भोज, वल्लभराज, चित्रकूटभूपाल, हर्ष और शंकर-गण नामक राजाओं को अभयदान' दिया[१]। बिलहरी अभिलेख कहता है कि 'सारी पृथ्वी को जीतकर उसने कौम्भोद्भव (अगस्त्य) की दिशा (दक्षिण) में कृष्णराज एवं कुबेर (उत्तर) की दिशा में श्रीनिधिभोजदेव को अपने दो कीर्त्तिस्तम्भों के रूप में स्थापित किया'[२]। इन उक्तियों का वास्तविक अर्थ क्या है अथवा उनमें किन ऐतिहासिक तथ्यों की ओर निर्देश है, उनकी व्याख्या ही यहाँ मूल प्रश्न है। एक बात स्पष्ट सी लगती है कि उनमें कोकल्ल की प्रशंसा बहुत बढ़ाचढ़ाकर की गयी है और इन प्रशंसाओं के शाब्दिक अर्थों को स्वीकार नहीं किया जा सकता। उपर्युक्त दोनों अभिलेखों में भोज का नाम आता है और विद्वानों के मत में यह कन्नौज के गुर्जर प्रतीहार वंश के प्रथम अथवा द्वितीय भोज की ओर निर्दिष्ट है। अनेक विद्वान्[३] ऐसा मानते हैं कि द्वितीय भोज को प्रथम महीपाल के साथ उसके उत्तराधिकार के युद्ध के समय कोकल्ल ने सहायता दी थी। किन्तु इसे स्वीकार करने में दो कठिनाइयाँ हैं। एक तो इस बात का कोई पक्का प्रमाण नहीं है कि द्वितीय भोज और प्रथम महीपाल के बीच कोई उत्तराधिकार का युद्ध हुआ था[४] और दूसरे, समय की दृष्टि से कोकल्ल द्वितीय भोज (९१२-९१४ ई०) के बहुत पूर्व (नवीं शताब्दी के अन्त होने के पूर्व) ही अपना शासन समाप्त कर चुका प्रतीत होता है। अतः बहुत सम्भव है कि वह प्रथम भोज का समकालिक हो। यह इस नाते भी स्वीकार्य प्रतीत होता है कि प्रथम भोज का समकालिक राष्ट्रकूट शासक द्वितीय कृष्ण (८७८-९११ ई०) कोकल्ल का दामाद था, जो निश्चय ही उससे अवस्था में छोटा रहा होगा। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कोकल्ल द्वारा उत्तर दिशा में जिस भोज को अपनी यशःकीर्त्ति के रूप में स्थापित करने का उल्लेख है, वह पालों के विरुद्ध उसकी सहायता का द्योतक[५] है। बिलहरी अभिलेख का कृष्णराज बनारस अभिलेख का वल्लभराज है, जो राष्ट्रकूट राजा द्वितीय कृष्ण के लिए प्रत्युक्त हुआ है। राष्ट्रकूटों का

---

१. भोजे वल्लभराजे श्रीहर्षे चित्रकूटभूपाले शंकरगणे च राजनि यस्यासीदभयदः पाणिः। कार्पस्, जिल्द ४, पृष्ठ २४१, श्लोक ७।

२. जित्वा कृत्स्नां येन पृथिवीपूर्व्वकीर्त्तिस्तम्भद्वन्द्वमारोप्पतेस्म। कोम्भोद्भव्यान्दि-श्यसौ कृष्णराजः कौबेर्यांञ्च श्रीनिधिर्भोजदेवः।। श्लोक १७, वहीं, पृष्ठ २१०।

३. अल्तेकर, राष्ट्रकूट्ज ऐण्ड देयर टाइम्स्, पृष्ठ १०१; त्रिपाठी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २५५-२५६; बैजनाथपुरी, हिस्ट्री ऑफ् दि गुर्जर प्रतीहार्स्, पृष्ठ ८०-८१; मेम्वायर्स्, एशियाटिक सो०, बेंगाल, जिल्द ५, पृ० ६५; जडिले०, जिल्द १०, पृष्ठ ५२।

४. देखिए, पीछे पृष्ठ १५७-१५८।

५. देखिए, कीलहॉर्न, एइ० जिल्द २, पृष्ठ ३०१-३०४।

सरयूपार की कलचुरि शाखाएँ

इस समय कलचुरियों को चालुक्यों का दबाव तो सहना ही पड़ा, राजपूताना और मालवा में आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में गूर्जर प्रतीहारों की तेजी से विकसित हो रही सत्ता के कारण उन्हें सम्भवतः इन क्षेत्रों को छोड़कर बुन्देलखण्ड और बघेलखण्ड की ओर सरकना पड़ा। कालंजर के प्रसिद्ध दुर्ग पर अधिकार[1] कर उन्होंने अपनी सैनिक प्रतिष्ठा कायम रखी तथा आगे भी उनके वंशजों ने **कालंजरपुरवराधीश्वर**[2] की उपाधि धारण करते हुए इसे एक महत्त्वपूर्ण घटना माना। उनका यह अधिकार सम्भवतः आठवीं शताब्दी तक रहा। बाद में गूर्जर प्रतीहारों ने उसे समाप्तकर कालंजरमण्डल तक अपना साम्राज्य बढ़ा लिया। प्रथम भोज के ८३६ ई० के बरह अभिलेख (एइ०, जिल्द १९, पृ० ७८) से प्रमाणित है कि उस तिथि के पूर्व कालंजरमण्डल पर कन्नौज की प्रतीहार सत्ता का प्राशासनिक अधिकार पूर्णतः स्थापित हो चुका था। किन्तु प्रतीहारों के उत्तर भारत में साम्राज्य सत्ता के रूप में पूर्णतः स्थापित होने के पूर्व कलचुरि उत्तर प्रदेश के गोरखपुर और देवरिया जिलों वाले सरयूपार के क्षेत्रों तक पहुंच चुके थे। हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद कन्नौज साम्राज्य को संभालने वाली कोई भी सत्ता नहीं बची। वह उत्तर की ओर कलचुरियों के विकास के लिए एक अपूर्व अवसर साबित हुआ होगा। १०७७ ई० के सोढ़देव के कहला अभिलेख से ज्ञात होता है कि किसी 'कलचुरितिलक' ने कालंजर से आगे बढ़कर अयोमुख (उत्तर प्रदेश के प्रतापगढ़ और रायबरेली के जिलों) की विजय कीं, जहाँ से उसके लक्ष्मणराज नामक छोटे भाई ने आगे बढ़कर श्वेतपद की विजय की। उसके वंश में उत्पन्न राजा राजपुत्र ने सरयूपार के कलचुरियों की वह शाखा स्थापित की, जिसकी जानकारी सोढ़देव के १०७७ ई० के कहला अभिलेख से प्राप्त होती है[3]। देवरिया जिले के कसया नामक स्थान से शासन करने वाली उनकी एक दूसरी शाखा भी एक अतैथिक अभिलेख[4] से ज्ञात होती है। ये दोनों शाखाएँ आठवीं शताब्दी में कभी स्थापित हुईं जान पड़ती हैं, जो कई पीढ़ियों आगे तक गुर्जर प्रतीहारों के सामन्तों के रूप में बनी रहीं। उपर्युक्त कहला अभिलेख से ज्ञात होता है कि सरयूपार के गुणाम्बोधिदेव

---

१. डॉ० मिराशी कालंजर पर सर्वप्रथम कलचुरियों के अधिकार का श्रेय परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर वामदेवराज को देते हैं। कार्पस्, जिल्द ४, भूमिका, पृ० ६८।

२. एइ०, जिल्द १८, पृष्ठ २०९; जिल्द ७, पृष्ठ ८५-९३; जिल्द ५, पृष्ठ २४।

३. कार्पस्, जिल्द ४, पृष्ठ ३८२ और आगे।

४. वहीं, पृष्ठ ३७५ और आगे; कार्पस्, जिल्द ४, पृष्ठ २४१।

लेने के लिए प्रायः प्रत्येक ओर से विभिन्न सत्ताओं ने उसपर बार-बार आक्रमण किये। चन्देलराज मदनवर्मा[१] (११२९-११६३ ई०) के महू अभिलेख की सूचना है कि उसने 'दर्पशील मालवपति को अभिभूतकर उखाड़ फेंका।' कल्याणी के चालुक्य शासक द्वितीय जगदेकमल्ल (११३९-११४८ ई०) और होयसल शासकों—विष्णुवर्द्धन (११२८-११४२ ई०) एवं प्रथम नरसिंह (११४२-११७३ ई०) के भी मालवा पर आक्रमण करने के अनेक उल्लेख[२] मिलते हैं। होयसलों का यह दावा है कि उन्होंने मालवा की 'हड्डी चूर कर दी' अथवा वे 'मालवराज को घोंट जाने की इच्छा' से प्रेरित थे। सम्भवतः उनके आक्रमणों के समाप्त हो जाने पर भी उनके कुछ सरदार मालवा में रह गये। बल्लाल कदाचित् उन्हीं सरदारों में एक था, जिसका मालवा पर शासन करने तथा चाहमान शासक अर्णोराज से मिलकर कुमारपाल चौलुक्य पर आक्रमण करने का उल्लेख मिलता[३] है। बाहरी आक्रमणों की इन परिस्थितियों में ही जयर्वमन् की मृत्यु हो गयी और उसके साथ मालवा के परमार राज्य की गोधूलि रात्रि में परिणत हो गयी। उसके पुत्र लक्ष्मणवर्मा से दक्षिणपूर्वी मालवा पर शासन करने वाले **महाकुमार** पदवी-धारी कुछ ऐसे राजाओं का आरम्भ हुआ, जो पूर्ण स्वतंत्र नहीं थे। आगे चलकर विन्ध्य-वर्मन् (११७५-११९५ ई०) ने मालवा की पुनः विजयकर परमार सत्ता पुनरुज्जीवित की, किन्तु उनकी साम्राज्यश्री वापस न लौट सकी।

❀❀❀

---

१. एइ० जि० १, पृ० १९८, श्लोक १५।

२. देखिए क्रमशः माइसूर इन्स्कृप्शन्स्, पृ० ५८, ६१ तथा डेरेट, दि होयसलज्, पृ० ६९; धी० चं० गांगुली, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १२५।

३. द्व्याश्रयकाव्य, १९वाँ श्लोक १३ और उसकी टीका; एइ०, जि० ८, पृ० २०१; धी० चं० गांगुली, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १२५-१२६।

प्रथम शंकरगण से प्रथम लक्ष्मणराज तक

वामराज की कुछ पीढ़ियों बाद प्रथम शंकरगण त्रिपुरी (जबलपुर से ६ मील पश्चिम स्थित आजकल का तेवर) का शासक हुआ । सागर और छोटी देवड़ी से उसके दो दानपरक अभिलेख[१] मिले हैं, जिनमें उसे **परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर** की उपाधियाँ दी गयी हैं । इन अभिलेखों के प्राप्ति-स्थानों और उपर्युक्त उपाधियों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि शंकरगण एक विस्तृत प्रदेश पर शासन करता था । किन्तु उसके बाद का लगभग एक सौ वर्षों का कलचुरि इतिहास अन्धकारमय है । सम्भवत: इस बीच कलचुरियों को दक्षिणापथ के राष्ट्रकूट शासकों के दबाव का शिकार होना पड़ा और उन्होंने विवश होकर राष्ट्रकूटों की अधिसत्ता स्वीकार कर ली । इस बीच उनके किसी भी शासक का कोई अभिलेख नहीं प्राप्त होता । कलचुरि संवत् ५९३ अर्थात् ८४१-८४२ ई० के कारीतलाई अभिलेख[२] के प्रकाशन के साथ वे पुन: प्रकाश में आते हैं । उसे प्रथम लक्ष्मणराज ने प्रकाशित किया । उसमें राष्ट्रकूट शासक तृतीय गोविन्द की उपलब्धियों की प्रशंसाओं से स्पष्ट है कि लक्ष्मणराज उसकी अधिसत्ता स्वीकार करता था । धीरे-धीरे उन दोनों वंशों का यह राजनीतिक सम्बन्ध अनेक वैवाहिक सम्बन्धों से और भी अधिक पुष्ट हो गया ।

प्रथम कोक्कल्ल

त्रिपुरी के कलचुरिवंश का पहला सुज्ञात और शक्तिशाली शासक प्रथम कोक्कल (कोक्कल्ल) हुआ । उसका स्वयं-प्रकाशित कोई अभिलेख तो नहीं प्राप्त हुआ है किन्तु उसकी सैनिक प्रतिभा और राजनीतिक सफलता की जानकारी युवराजदेव के बिलहरी और कर्ण के बनारस से प्राप्त अभिलेखों[३] से होती है । उनसे ज्ञात होता है कि नट्टादेवी नामक उसकी रानी एक चन्देल राजकुमारी थी । उससे उत्पन्न उसकी पुत्री राष्ट्रकूट राजा द्वितीय कृष्ण को ब्याही[४] थी । इन वैवाहिक सम्बन्धों से चन्देल और राष्ट्रकूट राजपरिवारों से उसकी मित्रता हो गयी और क्रमश: पश्चिम तथा दक्षिण-पश्चिम की दिशाओं से आक्रमणों की सम्भावना से वह पूर्णत: मुक्त हो गया । परिणामत:, अपनी सैनिक शक्ति और राजनीतिक प्रतिष्ठा बढ़ाने का उसे मौका मिल गया । कर्ण के बनारस

---

१. कार्पस्, जिल्द ४, पृष्ठ १७४ और आगे तथा १७६ और आगे ।

२. वहीं, पृष्ठ १७८ और आगे ।

३. वहीं, पृष्ठ २०४-२२४ तथा २३६-२५० ।

४. एइ०, जिल्द ७, पृष्ठ ३८ ।

कार्त्तवीर्य से जोड़ते हैं, जिससे उनका सोमवंशी अर्थात् चन्द्रवंशी होना सिद्ध होता है। ऐसी स्थिति में डॉ० देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर का यह मत स्वीकार्य नहीं है कि वे विदेशी आक्रामकों (शक, पारद, पह्लव आदि) के हिन्दूवंशज थे।

माहिष्मती के कलचुरि

प्रारम्भ में कलचुरियों ने नर्मदा नदी के ऊपरी काँठों में अपनी सत्ता स्थापित की और माहिष्मती (आधुनिक ओंकार मान्धाता) को राजधानी बनाकर उज्जैन के आस-पास शासन किया। इस कारण उन्हें अवन्ति का शासक अथवा **माहिष्मतीपुरवरेश्वर** कहा गया। वहाँ कलचुरि सत्ता का संस्थापक कृष्णराज था। चूँकि उसका पौत्र बुद्धराज कनौज के सम्राट् हर्ष (६०६-६४७ ई०) और बादामी के चालुक्यराज मंगलेश और द्वितीय पुलकेशी का समकालिक था, कृष्णराज का छठीं शताब्दी के तृतीय चतुर्थांश में होना ठहरता है। गुप्तों और वाकाटकों की अवनति का लाभ उठाते हुए कृष्णराज एक प्रबल शासक सिद्ध हुआ, जिसने दक्षिण में विदर्भ सहित महाराष्ट्र, उत्तर में गुजरात और राजपूताना तथा पश्चिम में कोंकण तक के प्रदेशों को अपने अधीन किया। यद्यपि उसका अब तक कोई अभिलेख नहीं मिला है, उपर्युक्त प्रदेशों से उसके चाँदी के बहुत से सिक्के प्राप्त[१] हुए हैं। किन्तु उसके पुत्र शंकरगण और पौत्र बुद्धराज के दो-दो अभिलेख[२] प्राप्त हैं। इनसे स्पष्ट है कि इन प्रारम्भिक कलचुरि शासकों ने अपने समय की उस राजनीतिक स्थिति का पूरा-पूरा लाभ उठाया, जिसमें उत्तर एवं दक्षिणापथ में कोई साम्राज्यसत्ता नहीं थी। किन्तु बुद्धराज ऐसे समय शासक हुआ, जब उत्तरापथ पर प्रायः सर्वत्र हर्षवर्धन की अधिसत्ता व्याप्त हो रही थी और दक्षिणापथ में बादामी के चालुक्य अपनी शक्ति का विस्तार कर रहे थे। उसे बारी-बारी से मंगलेश (६०१ ई०) और द्वितीय पुलकेशी के आक्रमणों का शिकार होना पड़ा[३]। परिणामतः, महाराष्ट्र उसके हाथों से निकल गया। द्वितीय पुलकेशी के अहिहोड़ अभिलेख (एइ० जिल्द ६, पृष्ठ ८) से ज्ञात है कि उसने लाट, मालव और गुर्जर राजाओं को दशवर्त्ती बनाया। ऐसी स्थिति में कलचुरियों को उत्तर भारत की ओर अभिमुख होना पड़ा। यद्यपि उनके अगले डेढ़-दो सौ वर्षों के इतिहास की कोई स्पष्ट और क्रमिक जानकारी नहीं प्राप्त होती, इतना निश्चित है कि वे एक राजनीतिक सत्ता बना रहे। कुछ चालुक्य अभिलेखों के आधार पर डॉ० मिराशी का विचार है कि इस बीच माहिष्मती के चालुक्यों ने बादामी के चालुक्यों की अधिसत्ता स्वीकार कर ली।

---

१. इऐ०, जिल्द १४, पृ० ६८; रैप्सन्, इण्डियन् क्वायन्स्, पृष्ठ २७।

२. कार्पस्, जिल्द ४, पृ० ३८-४४; ४४-४७-५० और ५०-५६, बम्बई गजेटियर, जिल्द १, भाग २, पृष्ठ २९५।

३. कार्पस् जिल्द ४, भूमिका, पृष्ठ ४८ और ५०।

पूर्वी चालुक्यों के राजा तृतीय विजयादित्य (८४४-८८८ ई०) से उस समय एक लम्बा संघर्ष चल रहा था, जिसमें कोकल्ल ने अपने पुत्र और युवराज द्वितीय शंकरगण के माध्यम से अपने मित्र और दामाद द्वितीय कृष्ण की सहायता[१] की । सम्बद्ध राष्ट्रकूट और चालुक्य अभिलेखों में शंकरगण को संकिल अथवा संकुक कहा गया है ।

बिलहरी अभिलेख के हर्ष, चित्रकूटभूपाल और शंकरगण की पहचान के बारे में मतैक्य नहीं है । कुछ विद्वान् इस सन्दर्भ के 'चित्रकूट भूपाल' को हर्ष के विशेषण रूप में स्वीकार करते हैं तथा उसकी पहचान चन्देलों के शासक हर्ष से करते[२] हैं । किन्तु इस बात में सन्देह है कि हर्ष चित्रकूट (कालंजर से २५ मील उत्तर-पूर्व) पर अधिकार कर सका था । धंग के ९५४ ई० खजुराहो अभिलेख (एइ० जिल्द १, पृष्ठ १२७-१२८) से ज्ञात होता है कि कालंजर पर सबसे पहले अधिकार करने वाला चन्देल राजा हर्ष का पुत्र यशोवर्मा था । उसके पूर्व चित्रकूट और कालंजर दोनों ही गुर्जर प्रतीहारों के अधिकार में थे । अत: यह सम्भव है कि कोकल्ल के हाथों अभयस्थिति प्राप्त करने वाला हर्ष बालादित्य के चाट्सु अभिलेख (एइ०, जिल्द १२, पृष्ठ १५) का वह हर्ष[३] हो, जो प्रतीहार शासक प्रथम भोज का गुहिल सामन्त था । उसके अधिकार में चित्रकूट अर्थात् चित्तौड़ का होना प्राय: स्वीकार किया जाता है । शंकरगण सरयूपार में स्थित गोरखपुर के दक्षिणी भागों की कलचुरि शाखा का शासक था, जिसका उल्लेख सोढ़देव के कहला अभिलेख में हुआ[४] है । अपने ही वंश के एक सामन्तराज की कोकल्ल ने सहायता की हो, यह अत्यन्त स्वाभाविक जान पड़ता है ।

उपर्युक्त साक्ष्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कोकल्ल ने अपने समय की राजनीति में एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था । समसामयिक अनेक राजे उससे मित्रता के लिए लालायित थे और उनकी समय-समय पर सहायता कर उसने त्रिपुरी के कलचुरि राजवंश की प्रतिष्ठा निश्चय ही ऊँची की होगी । किन्तु उसके शासन के लगभग २०० वर्षों बाद के तुम्माणवंशी पृथ्वीदेव के १०७९ ई० के आमोदा अभिलेख (एइ० जिल्द १९, पृष्ठ ७५-७८, श्लोक ४-५) में जो यह कहा गया है कि कोकल्ल ने कर्णाट, वंग, गुर्जर,

---

१. मिराशी, पूर्वनिर्दिष्ट; पृष्ठ ७३; एइ० जिल्द १८, पृष्ठ २३१; मजुमदार, जडिले०, जिल्द १०, पृष्ठ ५२ ।

२. कीलहॉर्न, एइ०, जिल्द २, पृष्ठ ३०१; हेमचन्द्र राय, डाहिनाइ०, जिल्द २, पृष्ठ ७५३ ।

३. इहिक्वा०, जिल्द १३, पृष्ठ ४८६ ।

४. मिराशी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ७५; हेमचन्द्र, डाहिनाइ०, जिल्द २, पृष्ठ ७५४ ।

कोंकण, शाकम्भरी तथा तुर्क और रघुवंशी राजाओं के कोषों को लूटा, वह एक अनैतिहासिक प्रशस्ति मात्र जान पड़ती है।

द्वितीय शंकरगण (लगभग ८९०-९१० ई०)

कोकल्ल के समय के बारे में मतैक्य नहीं है। ऊपर जो कुछ कहा गया है उसके आधार पर उसे ९वीं शताब्दी के तीसरे-चौथे चतुर्थांशों में रखा जा सकता है। उसका जेठा पुत्र शंकरगण[१] त्रिपुरी का अगला शासक हुआ। **मुग्धतुंग** अथवा **प्रसिद्धधवल** उसकी उपाधियाँ प्रतीत[२] होती हैं। उसने द्वितीय कृष्ण के युद्धों में पूर्वी चालुक्य विजयादित्य (८४४-८८८ ई०) के विरुद्ध सम्भवतः युवराज रूप में ही भाग लिया था। राजा के रूप में, समुद्रतट के क्षेत्रों की उसकी विजय के साथ कोसलराज से पाली छीनने का उल्लेख प्रमुख रूप से किया गया[३] है। इस संदर्भ का कोसल दक्षिणकोसल है, जहाँ पाली का क्षेत्र आज भी प्रसिद्ध है। पाली पर उसने अपने एक छोटे भाई को **मण्डलाधिपति** के रूप में स्थापित किया।

प्रथम युवराज (लगभग ९१५-९४५ ई०)

शंकरगण का पुत्र और उत्तराधिकारी बालहर्ष (लगभग ९१०-९१४ ई०) अल्पशासी और अपुत्रक हुआ। तत्पश्चात् उसका छोटा भाई प्रथम युवराजदेव डाहल राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। यद्यपि उसका कोई निजी अभिलेख नहीं प्राप्त है, उसके वंशजों के आलेख्यों और संस्कृत एवं प्राकृत के प्रसिद्ध कवि राजशेखर के ग्रन्थों में उसके उल्लेख आते हैं। कर्ण का बनारस अभिलेख उसके भुजबल की प्रशंसा करता हुआ उसकी सेनाओं के कई भागों में अभियान का उल्लेख करता है और उसे **परमेश्वर** अर्थात् सम्राट् कहता[४] है। द्वितीय युवराजदेव का बिलहरी अभिलेख सूचित करता[५] है कि उसकी सेनाएँ शत्रुओं पर अनगिनत प्रहार करती हुई (उत्तर में) पार्वती की केलि और लास्य के सतत मित्र कैलाश पर्वत तक; पूर्व में भास्वत् अर्थात् सूर्य की लालिमा को सर्वप्रथम

---

१. इस शंकरगण के अतिरिक्त कोकल्ल के सत्रह पुत्र और थे, जो उसकी मृत्यु के बाद विभिन्न मण्डलों के स्वामी हुए। देखिए, कार्पस्, जिल्द ४, पृष्ठ ४१० और ४१५।

२. मिराशी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ७६।

३. कार्पस्, जिल्द ४, पृष्ठ २११, श्लोक २३; पृष्ठ २४२, श्लोक १२।

४. कार्पस्, जिल्द ४, पृष्ठ २४२, श्लोक १५-१६।

५. आकैलासादनलससलसत्पार्व्वती केलि बन्धोरा च प्राचाश्शीखरिवरतो भावस्वदुद्भासभूमेः। आरात्सेतोस्तदनुपयसामा प्रतीचोपि पत्युर्यत्सेनामहितनिहितानन्ततापः प्रतापः ।। वहीं, पृष्ठ २११, श्लोक २७।

बिखेरने वाले (उदयाचल) तक; दक्षिण में सेतुबन्ध तथा वहाँ से पश्चिम पयोधि तक गयीं । पुनः, उसके चौबीसवें श्लोक से ऐसा प्रतीत होता है कि युवराज गौड, कर्णाट, लाट, कश्मीर और कलिंग तक का सम्राट् था । इन विवरणों का आधार उसके कुछ सफल सैनिक अभियान हो सकते हैं । किन्तु ऊपर उल्लिखित क्षेत्रों की डाहल से इतनी अधिक दूरी थी कि उनपर युवराज की विजयों का सहज ही विश्वास नहीं किया जा सकता । तथापि कलचुरियों के शत्रु चन्देलों के एक अभिलेख से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि युवराजदेव एक विजेता शासक था । वहाँ उसे 'प्रसिद्ध राजाओं के शिरों पर अपना पैर रखने वाला' कहा गया है[१] । राजशेखरकृत **विद्धसालभंजिका** में उसे **'उज्जयिनीभुजंग'** कहा गया है, जिससे यह प्रमाणित होता है कि उसने मालवा पर आक्रमण किया था । चूंकि मालवा उसके राज्य से सटा हुआ था, इस कथन में ऐतिहासिक तथ्य छिपा जान पड़ता है । उपर्युक्त नाटक में उसे **चक्रवर्ती** और **त्रिकलिंगाधिपति** भी कहा गया है ।

अपने शासन के अन्तिम दिनों में युवराजदेव सम्भवतः शिथिल पड़ गया और उसे चन्देलराज्य यशोवर्मा से पराजित होना पड़ा[२] । तथापि उसकी राजनीतिक प्रतिष्ठा नष्ट नहीं हुई और राज्याश्रय पाने की इच्छा से कवि और लेखक उसके दरबार में आते रहे । प्रथम महेन्द्रपाल और महीपाल प्रतीहार के दरबार में रहने वाला संस्कृत और प्राकृत का प्रसिद्ध कवि राजशेखर अपने जीवन के अन्तिम दिनों में सम्भवतः प्रतीहारों की अवनति के कारण कन्नौज छोड़कर त्रिपुरी के कलचुरि दरबार में चला गया और युवराजदेव का प्रशंसक कवि बन गया । वहीं उसने **विद्धसालभंजिका** और **काव्यमीमांसा** की रचना की[३] । युवराजदेव शिवभक्त था । उसने प्रभावशिव नामक शैव साधु तथा उसके साथ रहने वाले अन्य साधुओं के लिए गुर्गी में एक मन्दिर सहित मठ बनवाया तथा भेड़ाघाट में चौसठ योगिनियों का मन्दिर निर्मित कराया । भाकमिश्र और गोल्लाक नामक उसके दो योग्य मंत्रियों की भी जानकारी प्राप्त है ।

द्वितीय लक्ष्मणराज (लगभग ९४५-९७० ई०)

प्रथम युवराजदेव का उत्तराधिकारी उसकी रानी नोहलादेवी से उत्पन्न पुत्र लक्ष्मणराज हुआ । उसके सम्बन्ध में कथित है कि उसने बंगाल के राजा को कुशलतापूर्वक पराजित (भंग) किया; पाण्ड्यराज को पराभूत किया, लाटराज को लूटा, गुर्जरराज को

---

१. धंग का खजुराहो अभिलेख, एइ०, जिल्द १, पृष्ठ १२७ । सम्बद्ध स्थल है:—
विख्यातक्षितिपाल मौलिरचनाविन्यस्तपादाम्बुजं—चेदिराजम् ।

२. वहीं, श्लोक २३, पृष्ठ १२६; पीछे पृष्ठ ३८७-३८८ ।

३. मिराशी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ७८-८० ।

जीता तथा कश्मीर के वीर ने अपना सिर नवाकर उसके चरणों की पूजा की[१] । यह वर्णन दिग्विजय जैसा लगता है । लक्ष्मीराज (९४५-९७० ई०) के शासन करते समय उत्तर तथा दक्षिण भारत राजनीतिक दृष्टि से एक ऐसे संधिकाल से गुजर रहे थे, जब कन्नौज के गुर्जर प्रतीहारों और गौड-मगध के पालों की सत्ताएँ तो अपनी शक्ति खो चुकी थीं किन्तु उनके स्थान पर ११वीं-१२वीं सदियों के संधिकाल से ही साम्राज्य के लिए संघर्ष करने वाली नवीन सत्ताओं का पूर्ण रूप से अभी विकास नहीं हुआ था । राजनीतिक और सैनिक शून्य की इस स्थिति में किसी भी महत्त्वाकांक्षी के लिए यह कठिन नहीं था कि वह विजयें करता हुआ दूर-दूर तक चला जाय । किन्तु इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि लक्ष्मणराज ने बंगाल, कश्मीर, लाट और पाण्ड्य की विजयों से कोई लाभ कमाया । द्वितीय युवराजदेव के बिलहरी अभिलेख (कार्पस्, जिल्द ४; पृष्ठ २१३-२१४, श्लोक ६२) का यह उल्लेख है कि उसने 'कोसलनाथ को जीतते हुए आगे बढ़कर (उड़ीसा) के राजा से रत्न और स्वर्णमय कालिय (नाग) की प्रतिमा प्राप्त की,' जिससे उसने सोमनाथ की पूजा की । इस संदर्भ की सोमनाथ-पूजा और गोरहवा अभिलेख में उसकी लाटविजय का उल्लेख यह प्रमाणित करता है कि पश्चिमी भारत के गुजरात और लाट के क्षेत्रों की उसने विजय की । यह ज्ञात है कि ये प्रदेश कन्नौज के गुर्जर प्रतीहार शासक प्रथम महीपाल के अधिकार में थे और ऐसा प्रतीत होता है कि उसी के किसी कमजोर उत्तराधिकारी को लक्ष्मणराज ने पराजित किया, जिसका निर्देश गोहरबा अभिलेख में हुआ है । ऊपर कोसल के साथ ओड्र अर्थात् उड़ीसा के उल्लेख से यह भी स्पष्ट है कि इस संदर्भ का कोसल महाकोसल[२] (छत्तीसगढ़) है न कि उत्तर कोसल । वह प्रदेश कलचुरियों के निजी शासित क्षेत्रों से नजदीक था, जिनकी विजय के उल्लेख कलचुरि अभिलेखों में लक्ष्मणराज के पूर्व समय के सम्बन्ध में भी प्राप्त होते हैं ।

लक्ष्मणराज का अकेला अभिलेख कारीतलाई से प्राप्त हुआ है, किन्तु उसके अधिकांश भागों के मिट जाने से उसकी तिथि सहित बहुत सी वर्ण्य बातें ज्ञात नहीं हो सकी हैं । अन्य अभिलेखों से अपने पिता की तरह शैव धर्म में उसकी रुचि, शैवाचार्यों के प्रति आदर, मठों का निर्माण और दानकार्य ज्ञात होते हैं । भाकमिश्र का पुत्र सोमेश्वर उसका मंत्री था, जिसकी विद्वत्ता की बड़ी प्रशंसाएँ की गयी हैं ।

---

१. बंगालभंगनिपुणः परिभूतपाण्ड्यो लाटशलुण्डेनपटुर्ज्जितगुर्ज्जेरेन्द्रः ।
कश्मीरवीर मुकुटार्चितपादपीठस्तेषु क्रमादजनि लक्ष्मणराजदेवः ।।
कर्ण का गोहरवा अभिलेख, कार्पस्, जिल्द ४, पृष्ठ २५६, श्लोक ८ ।

२. विपरीत मतों के लिए देखिये, रा० दा० बनर्जी, हैहयज् ऑफ् त्रिपुरी ऐण्ड देयर मानूमेण्टस्, पृ० १३, वा० वि० मिराशी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ८५-८६ ।

तृतीय शंकरगण (लगभग ९७०-९८० ई०) और द्वितीय युवराजदेव (लगभग ९८०-९९० ई०)

द्वितीय लक्ष्मणराज के बाद उसका पुत्र (तृतीय) शंकरगण त्रिपुरी की राजगद्दी पर आसीन हुआ । ऐसा जान पड़ता है कि वह बहुत शक्तिशाली नहीं था और उसे चन्देलराज धंग (९५०-१००२ ई०) के छोटे भाई कृष्ण के मंत्री वाचस्पति के हाथों पराजित होना पड़ा[१] । उसके समय की अन्य कोई भी राजनीतिक बात ज्ञात नहीं है । वह सम्भवतः अपुत्रक था और उसके बाद उसका छोटा भाई द्वितीय युवराजदेव राज्यासनस्थ हुआ । किन्तु वह भी सैनिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं प्रतीत होता । सम्भवतः उसकी कमजोरी के कारण ही परमार शासक द्वितीय वाक्पति (मुञ्जराज) (९७४-९९५ ई०) ने उस पर आक्रमण कर उसके सेनापतियों को मार डाला और कुछ समय के लिए त्रिपुरी पर अधिकार भी कर लिया[२] । संयोग से वाक्पति अन्य दिशाओं में युद्ध के लिए बाध्य हुआ और कदाचित् युवराजदेव से संधिकर वापस लौट गया[३] ।

द्वितीय कोक्कल्ल (लगभग ९९०-१०१५ ई०)

युवराजदेव की मृत्यु के समय उसका पुत्र द्वितीय कोकल्लदेव सम्भवतः बहुत छोटा था । किन्तु मुख्य मंत्रियों (अमात्यमुख्याः) के परामर्श से वही राजा बनाया गया । गुर्गी से प्राप्त होने वाले उसके एकमात्र प्रस्तर अभिलेख[४] में कहा गया है कि उसके सैनिक बढ़ाव को सुनकर गुर्जर, गौड और कुन्तल के राजा अपना राज्य छोड़कर भाग गये । किन्तु यह कोरी प्रशंसा मात्र प्रतीत होती है, जिसका समर्थन अन्य किसी साक्ष्य से नहीं होता । ऐसी स्थिति में यह निष्कर्ष निकलता है कि द्वितीय लक्ष्मणराज के बाद लगभग चार-पाँच दशकों तक त्रिपुरी के कलचुरियों की सत्ता पहले की अपेक्षा शिथिल और कुण्ठित हो गयी । किन्तु यह स्थिति बहुत दिनों तक नहीं बनी रह सकती थी और गांगेयदेव के सशक्त व्यक्तित्त्व के आगे आते ही हैहयों ने पुनः अपने को यश, समृद्धि और साम्राज्यवाद के पथ पर अग्रसर पाया ।

---

१. जएसो०, बेंगाल; जिल्द ३१, पृ० १११, नोट २ ।

२. उदयपुर प्रशस्ति, एइ०, जिल्द १, पृष्ठ २३५; वा० वि० मिराशी, इहिक्वा०, जिल्द ९, पृष्ठ १३२ और आगे ।

३. यशःकर्ण के खैरा और जबलपुर से प्राप्त होने वाले अभिलेखों (एइ०, जिल्द १२, पृष्ठ २११, श्लोक ७) में कथित है कि युवराज ने 'त्रिपुरी नगर पवित्र किया' । यह सम्भवतः इस बात का द्योतक है कि दुबारा अपनी राजधानी में आने पर उसने कोई यज्ञ किया ।

४. कार्पस्, जिल्द ४, पृष्ठ २३०, श्लोक ३४ ।

गांगेयदेव विक्रमादित्य (लगभग १०१५-१०४० ई०) : कलचुरि सत्ता का विकास

द्वितीय कोक्कल्ल का पुत्र और उत्तराधिकारी गांगेयदेव लगभग १०१५ ई० में राजगद्दी पर बैठा। उसके राज्यारोहण के समय जहाँ कलचुरि राजसत्ता एकदम कमजोर और शिथिल थी, उसकी सीमाओं पर स्थित चन्देल और परमार राज्यों के शासकों, क्रमशः विद्याधर और भोज, के व्यक्तित्व प्रायः सभी समकालीन सत्ताओं को चुनौती दे रहे थे। इन कठिन चुनौतियों के बीच कलचुरि सत्ता को तत्कालीन राजनीतिक रंगमंच पर प्रमुख रूप से उपस्थित कर देना ही गांगेयदेव के इतिहास की विशेषता है, जिसके उद्घाटन से उसकी सफलताओं का उभरता हुआ क्रम स्पष्ट हो जायगा। दुर्भाग्यवश उसके समय के अब तक एक-ही दो अभिलेख[1] मिले हैं। अतः हम उसकी विजयों अथवा अन्य सफलताओं का क्रम आसानी से निश्चित नहीं कर सकते। किन्तु उसके पुत्र कर्ण और प्रौत्र यशःकर्ण के अभिलेखों में उसकी उपलब्धियों की जो चर्चाएँ हैं, उनके आधार पर उसके इतिहास की प्रधान बातें आगे उपस्थित की जाँयगी।

प्रारम्भ में गांगेयदेव ने सम्भवतः एक अधीन शासक की स्थिति मात्र से सन्तोष किया। कलचुरि सं० ७७२ अर्थात् १०१९ ई० के मुकुन्दपुर अभिलेख में उसे **महार्ह-महामहत्तक** और **महाराज** मात्र कहा गया है, जो साधारणतया सामन्तों की उपाधियाँ स्वीकार की जाती हैं। उस समय विद्याधर (१०१८-१०२९ ई०) के नेतृत्त्व में चन्देल सत्ता अपनी सैनिक और राजनीतिक उत्कर्ष की चोटी पर थी और गांगेयदेव को कदाचित् उसकी अधिसत्ता स्वीकार करनी पड़ी। खजुराहो से प्राप्त एक चन्देल अभिलेख यह दावा करता है कि 'कान्यकुब्ज के राजा का वध करने वाले, युद्धकुशल और उच्चासनस्थ (विद्याधर) की भोज और कलचुरिचन्द्र ने वैसे ही पूजा की जैसे कोई शिष्य अपने गुरु की करता[2] है।' इस स्थल की 'कलचुरिचन्द्र' की पहचान प्रायः सभी विद्वानों द्वारा गांगेयदेव से की जाती है। इस संदर्भ में डॉ० मिराशी[3] का यह अनुमान किसी पुष्ट प्रमाण के अभाव में स्वीकार्य नहीं प्रतीत होता कि कन्नौजराज राज्यपाल के वध में कछवाहा शासक अर्जुन की तरह भोज और गांगेयदेव ने भी विद्याधर के नेतृत्त्व में भाग लिया था। किन्तु यह बहुत सम्भव प्रतीत होता है कि विद्याधर के आतंक का समानरूप से शिकार होने के कारण भोज (परमार) और गांगेयदेव परस्पर मित्र बन गये हों। गांगेयदेव

---

१. मुकुन्दपुर अभिलेख, तथा कलचुरि सं० ७८९ का प्यावाँ अभिलेख, कार्पस्, जिल्द ४, पृ० २३४ और आगे।

२. विहितकन्याकुब्जभूपालभंग समरगुरुउपास्तप्रौढ़-सह कलचुरिचन्द्र, शिष्यवत् भोजदेवः। एइ०, जिल्द, १, पृष्ठ २२१-२२२, श्लोक २१।

३. पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ८९।

चन्देल अधिसत्ता तो कदाचित् स्वीकार करता था, किन्तु उसकी आँखे प्रतीहार राजगद्दी पर विद्याधर द्वारा नामांकित त्रिलोचनपाल के क्षेत्रों पर लगी हुई थीं और उस हेतु चन्देलों से उसके संघर्ष की अत्यधिक सम्भावनाएँ थीं। अतः भोज से उसका मिल जाना और भी अधिक स्वाभाविक था। परिणामतः, कल्याणी के चालुक्य शासक द्वितीय जयसिंह (१०१५-१०४२ ई०) के विरुद्ध भोज के युद्ध में उसने भाग लिया। पीछे भोज का इतिहास लिखते समय कुलेनूर अभिलेख[१] का यह साक्ष्य देखा जा चुका है कि जयसिंह के विरुद्ध भोज, गांगेयदेव और राजेन्द्र चोल ने एक संयुक्त मोर्चा बनाया तथा चालुक्य राज्य पर तितरफा आक्रमण कर विजय पायी। कर्ण के गोरहवा अभिलेख (श्लोक १७) में 'कुन्तलभंग' के संदर्भ से यह इंगित है तथा यशःकर्ण के खैरा और जबलपुर अभिलेखों में भी सम्भवतः गांगेयदेव की इसी विजय की ओर निर्देश किया गया है[२]। किन्तु जयसिंह पर इस विजय से गांगेयदेव को कोई लाभ नहीं हुआ और थोड़े दिनों के भीतर ही जयसिंह से कदाचित् पराजित होकर उसे और उसके साथियों को वापस लौटना पड़ा।[३] चालुक्यों के विरुद्ध मालव-कलचुरि-चोल संघ की पराजय के साथ ही भोज और गांगेयदेव की राजनीतिक एवं सैनिक मित्रता भी समाप्त हो गयी।

१०२४ ई० के आसपास द्वितीय जयसिंह द्वारा कोंकण के अधिकार से अपहृत किये जाने पर भोज उत्तर भारत की विजय की ओर दृष्टि फेरने लगा। प्रायः वही उद्देश्य गांगेयदेव का भी था। लगभग १०२९ ई० में विद्याधर की मृत्यु के बाद चन्देलों की कमजोरी और प्रतीहारों के अन्त के कारण प्रायः सारा मध्यदेश सैनिक महत्त्वाकांक्षियों को मानों खुला आमंत्रण दे रहा था। इस स्थिति में भोज और गांगेयदेव की टक्कर स्वाभाविक थी। उस भिड़न्त में भोज बीस पड़ा। परमारों की उदयपुर प्रशस्ति (एइ० जिल्द १, पृष्ठ २३५, श्लोक १९) और भोज के सामन्त यशोवर्मा के कल्वन अभिलेख (एइ०, जिल्द १९, पृ० ६९) की सूचनाएँ हैं कि भोज ने चेदिश्वर को पराजित किया[४]। यह चेदीश्वर गांगेयदेव ही था।

किन्तु भोज के हाथों पराजित होकर भी गांगेयदेव अपने उद्देश्यपूर्ति के प्रयत्नों से विरत नहीं हुआ। विद्याधर की मृत्यु के बाद उसने चन्देल अधिसत्ता का बोझ फेंक दिया

---

१. एइ०, जिल्द १५, पृष्ठ ३३१।

२. तस्मात्कुन्तलभंगभगिरसिको गांगेयदेवोऽभवत्। कार्पस्, जिल्द ४, पृष्ठ २५६, तथा २९३, श्लोक ११; पृष्ठ ३०३, श्लोक ११।

३. इऐ०, जिल्द ५, पृष्ठ १७।

४. भोज ने चेदिविजय का उत्सव मनाया। देखिए, पारिजातमंजरी, एइ०, जिल्द ८, पृ० १०१, श्लोक ३।

और एक पूर्ण स्वतंत्र शासक के रूप में अपनी राज्य-सीमाओं के विस्तार में जुट गया। काशी और प्रयाग होते हुए सारा दोआब जीतते हुए उसने हिमांचल प्रदेश के कीर अर्थात् कांगड़ा की घाटी के राजा पर आक्रमण कर उसे अपना बन्दी बना लिया[१]। इस विजय से उसकी राज्य सीमाएँ कीर तक तो विस्तृत नहीं हुई, किन्तु इस बात के प्रमाण हैं कि काशी, प्रयाग और दोआब के कुछ क्षेत्र उसने अपने प्रत्यक्ष शासन में समाहित कर लिये। पंजाब के मुसलमान अधिशासक अहमद नियाल्तगीन के १०३३ ई० में बनारस पर किये गये आक्रमण के संदर्भ में तारीखे-बैहकी का उल्लेख[२] है कि उस समय वहाँ का राजा गंग अर्थात् गांगेयदेव था। किन्तु यह आकस्मिक आक्रमण एक लूट का धावा मात्र था और लुटेरे वाराणसी में आधे दिन से अधिक नहीं टिके। ऐसा प्रतीत होता है कि गांगेयदेव की सैनिक शक्ति का उन्हें पूरा ज्ञान था और वे अपने को उसका निशाना नहीं बनने देना चाहते थे। गांगेयदेव ने वाराणसी के आसपास का प्रदेश सम्भवतः पालराज प्रथम महीपाल के अधिकार से छीना, जिसका १०२६ ई० में उस पर अधिकार सारनाथ से प्राप्त एक अभिलेख (इऐ०, जिल्द १४, पृष्ठ १३९-१४०) से प्रमाणित है। प्रयाग पर गांगेयदेव के अधिकार का प्रमाण उसके पौत्र यशःकर्ण के खैरा और जबलपुर से प्राप्त होने वाले अभिलेखों से प्राप्त होता है, जहाँ यह कहा गया[३] है कि गांगेयदेव ने प्रयाग के वटवृक्ष के नीचे अपना स्थायी निवास (निवेशबन्ध) सा बना लिया था और वहीं उसने 'अपनी १०० गृहिणियों (रानियों) के साथ मुक्ति पायी' (शरीर त्याग किया)। उसने अपना और अपनी रानियों के अन्तिम दिनों के निवास और मृत्यु के लिए प्रयाग का त्रिवेणी स्थल अपनी राज्यसीमाओं में होने के कारण ही चुना होगा। उत्तर प्रदेश के कई स्थानों से प्राप्त होने वाले उसके सिक्के भी उसका वहाँ राज्याधिकार प्रमाणित करते हैं।

पूर्वोत्तर में पाल सत्ता की ढहती हुई स्थिति का लाभ उठाते हुए गांगेयदेव ने अंग (बिहार के मुजफ्फरपुर और भागलपुर जिलों) और कदाचित् मगध पर अधिकार करने का प्रयत्न किया। किन्तु उसका समकालिक पाल शासक महीपाल (९८८-१०३८ ई०) भी कम महत्त्वाकांक्षी नहीं था। कर्ण के अभिलेखों में गांगेयदेव को अंगदेश के राजा की

---

१. कारापंजरव (ब) द्धकीरनृपतिदी (र्दी) अंङ्गलक्ष्मीचयैः। कर्ण का बनारस अभिलेख, श्लोक १७, कार्पस्, जिल्द ४, पृष्ठ २५६।

२. इलियट् ऐण्ड डाउसन्, हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, ऐज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टॉ-रियन्स्, जिल्द २, पृ० २१३; कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, जिल्द ३, पृष्ठ २९-३०।

३. प्राप्ते प्रयागवट्ट (ट) मूलनिवेस (श) बन्धो सार्द्धशतेन गृहिणीभिरमुत्र मुक्तिम्। श्लोक १२, कार्पस्, जिल्द, पृ० २९३।

लक्ष्मी (धन) हस्तगत करने का श्रेय दिया गया[१] है। किन्तु दूसरी ओर मुजफ्फरपुर जिले के इमादपुर नामक स्थान से प्राप्त महीपाल के शासन के ४८वें वर्ष के एक अभिलेख[२] से अंग पर पालों का अधिकार ज्ञात होता है। ऐसी स्थिति में यह निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता कि गांगेयदेव को अंग और मगध की दिशा[३] में कितनी सफलता मिली।

पूर्व में गांगेयदेव ने सम्भवतः उड़ीसा की विजय की। इसका अप्रत्यक्ष उल्लेख कर्ण के रीवाँ अभिलेख के उन्नीसवें श्लोक (कार्पस्, जिल्द ४, पृष्ठ २६९) में हुआ है, जहाँ यह कहा गया है कि 'उसके सैनिकों द्वारा मारे गये हाथियों के रुधिर से समुद्री किनारों का सारा क्षेत्र कीचड़मय हो गया।' गोहरवा अभिलेख स्पष्टतः सूचित करता है कि 'उसने समुद्र के किनारे उत्कलराज को जीतकर अपनी बाहु को मानों एक विजय स्तम्भ बना दिया।'[४] तुम्माण के उसके कलचुरि सामन्त कमलराज ने उत्कल के विरुद्ध इस अभियान में उसकी सहायता की थी[५]। डॉ० मिराशी ने पराजित उत्कलराज की पहचान करवंशी द्वितीय शुभकर से की है। उनका यह भी विश्वास है कि गांगेयदेव ने इसी सैनिक अभियान में दक्षिण कोशल के राजा महाशिवगुप्तययाति को पराजित कर **त्रिकलिंगाधिपति** की उपाधि धारण की, जो उसके पुत्र कर्ण के प्रथम अभिलेख में प्रयुक्त मिलती है[६]।

इन विजयों के परिणामस्वरूप गांगेयदेव ने त्रिपुरी के कलचुरि राज्य की प्रशासित सीमाओं का प्रभूत विस्तारकर स्वयं **महाराजाधिराज परमेश्वर** और **महामण्डलेश्वर** की साम्राज्यसूचक उपाधियाँ धारण कीं, जो उसके शासन के प्रायः अन्तिम भागों में प्रकाशित कलचुरि संवत् ७८९ अर्थात् १०३७-१०३८ ई० के प्याँवा अभिलेख से ज्ञात होती हैं। यशःकर्ण के खैरा अभिलेख से ज्ञात होता है कि गांगेयदेव ने **विक्रमादित्य** की भी उपाधि ग्रहण की[७]। उसकी महत्ता का लोहा उसके शत्रु भी स्वीकार करते थे, जो

---

१. कार्पस् जिल्द ४, पृष्ठ २५६, श्लोक १७।

२. इऐ०, जिल्द १४, पृष्ठ १६५ और आगे।

३. रामायण की सं० १०७६ अर्थात् १०१९ ई० की एक हस्तलिपि के आधार पर गांगेयदेव के तिरहुत पर अधिकार की बात कुछ विद्वान् मानते हैं। किन्तु यह सर्वस्वीकृत नहीं है। इस सम्बन्ध में देखिए, पीछे पृष्ठ २६५-२६६ और उनकी पादटिप्पणियाँ।

४. निर्जित्योत्कलमवधिसीम्न जयस्तम्भः स्वकीयो भुजः। कार्पस्, जिल्द ४, पृष्ठ २५७, श्लोक १७।

५. वहीं, पृष्ठ ४०५, श्लोक ९।

६. मिराशी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ९०।

७. कार्पस्, जिल्द ४, पृष्ठ २९३, श्लोक ११।

चन्देलों के एक अभिलेख में उसके 'जितविश्व' कहे जाने से स्पष्ट है। सामने आये हुए सभी सुअवसरों का योग्यतापूर्वक भरपूर लाभ उठाते हुए उसने निश्चय ही अपने लिए उत्तर भारतीय राजनीति में एक प्रमुख स्थान बना लिया। चारों ओर बढ़ी हुई उसकी प्रतिष्ठा और यश के उत्तराधिकारी उसके पुत्र कर्ण (लक्ष्मीकर्ण) ने साम्राज्यवाद की दिशा में अग्रसर होकर अपने प्रायः सभी समकालिक राजाओं के मन में कलचुरि सत्ता का भय पैदा कर दिया। कलचुरि सत्ता की इस उन्नत अवस्था की आधारशिला रखने का श्रेय गांगेयदेव को ही दिया जायेगा। अपनी धार्मिक भावनाओं से वह शैव धर्म की ओर उन्मुख था और कलचुरि वंश के अन्य राजाओं की तरह शिवमन्दिरों एवं शिवलिंगों की उसने भी स्थापना की। लक्ष्मी शैली के सिक्कों का प्रचलन प्रशासकीय क्षेत्र में सम्भवतः उसकी सबसे मुख्य देन थी। उत्तर प्रदेश में दूर-दूर तक पाये जाने वाले सोने चाँदी और ताँबे के ये सिक्के (द्रम्म) अपने ऊपरी भागों में उसका नाम देते हैं और निचले भागों में पलथी मारकर बैठी हुई लक्ष्मी का चित्र उपस्थित करते हैं[१]। ये सिक्के इतने प्रचलित हुए कि चन्देलों, गाहडवालों और तोमरों ने भी उनकी अनुकृति की।

कलचुरिसत्ता का चरमोत्कर्ष : कर्ण (लगभग १०४१-१०७२ ई०)

गांगेयदेव **विक्रमादित्य** का पुत्र और उत्तराधिकारी कर्ण अथवा लक्ष्मीकर्ण कलचुरि राजवंश का सबसे बड़ा शासक हुआ। १०४१ ई० में अपने राज्यारोहण के समय उसे एक विशाल राज्य और प्रतिष्ठित सांस्कृतिक परम्परा की विरासत मिली, जिसमें उसने चार चाँद और लगाये। उसके कुल आठ अभिलेख मिले हैं, जो उसकी यशःगाथा विस्तृत रूप में उपस्थित करते हैं। उनके आधार पर उसके लगभग तीस वर्षों के शासन काल को दो असमान भागों में बाँटते हुए ऐसा कहा जा सकता है कि प्रारम्भ में लगभग बीस वर्षों तक प्रायः सभी दिशाओं में सैनिक विजयें प्राप्तकर वह इतना अधिक सफल हुआ कि उस समय के भारत का कदाचित् सबसे शक्तिशाली सम्राट् बन गया। और अपनी राज्यसीमाओं के पार के सभी राजाओं के लिए भयंकर आतंक साबित होने लगा। किन्तु बाद में उसकी शक्ति के अतिरेक ने उसके सभी शत्रुओं को एक साथ मिल जाने को विवश कर दिया, जो अन्ततः उसकी प्रतिष्ठा का घातक सिद्ध हुआ। तथापि उसके जीवित रहते कलचुरि राज्य की अपनी सीमाएँ न तो क्षीण हुईं और न उसके सांस्कृतिक क्रियाकलापों की गति ही किसी प्रकार मन्द हुई।

कर्ण की विजयें

कर्ण की विजयों का उल्लेख उसके कलचुरि सं० ८०० अर्थात् १०४८-१०४९ ई० के रीवाँ अभिलेख में विशेष रूप से हुआ है। उसका समर्थन अन्य अभिलेखों में प्रयुक्त

---

१. कनिंघम्, क्वायन्स् ऑफ् मेडिवल इण्डिया, पृष्ठ ७२।

उसकी अनेक विजयसूचक उपाधियों से प्राप्त होता है। तदनुसार, 'पूर्व दिशा का राजा-रूपी जहाज कर्ण की सेना रूपी समुद्र में डूब गया'[१]। नरसिंह के भेड़ाघाट अभिलेख में कहा गया है कि 'कर्ण के शौर्य के सम्मुख वंग और कलिंग के राजा काँपने लगे'[२]। इस सम्बन्ध में विद्वानों का मत[३] है कि पूर्वदिशा का पराजित राजा वंगपति ही था। वंग दक्षिणी और पूर्वी बंगाल का द्योतक है (बंगला देश) जहाँ चन्द्र राजा गोविन्द्रचन्द्र अथवा उसका कोई उत्तराधिकारी उस समय शासन करता था। किन्तु आगे किसी भी चन्द्र राजा की जानकारी नहीं प्राप्त है। प्रत्युत् उनके स्थान पर वर्मनों के उल्लेख मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि राजेन्द्र चोल और कर्ण के अलग-अलग आक्रमणों के परिणामस्वरूप वंग का चन्द्रवंश समाप्त हो गया और जातवर्मन् नामक एक नये राजा ने वहाँ कर्ण के अधीनस्थ के रूप में शासन प्रारम्भ किया। कर्ण ने उससे वीरश्री नामक अपनी पुत्री का विवाह कर स्थायी मित्रता स्थापित कर लीं[४]।

नरसिंह के भेड़ाघाट अभिलेख की सूचना है कि कर्ण के भय से कलिंग देश का राजा भयभीत था। उस समय कलिंग अथवा उत्कल पर सोमवंशी चण्डीहार ययाति (१०२५-१०५५) तथा उद्योतकेसरी चतुर्थ महाभवगुप्त (१०५५-१०८० ई०) शासन करते थे। महाभवगुप्त के बारे में कहा गया है कि उसने 'डाहल, ओड्र और गौड के राजाओं पर विजय प्राप्त की'[५]। दोनों राजवंशों के इन परस्पर भिन्न साक्ष्यों से इतना तो निश्चित है कि कर्ण का चतुर्थ महाभवगुप्त से संघर्ष हुआ था। यह असम्भव नहीं है कि कर्ण ने चण्डीहार ययाति के समय उड़ीसा पर आक्रमण किया हो और उसमें सफल हुआ हो, किन्तु चतुर्थ महाभवगुप्त के समय उसे कोई सैनिक सफलता न उपलब्ध हुई हो।

पूर्व की ओर गौड और मगध के पाल राजाओं के क्षेत्रों पर कर्ण ने कई अभियान किये। वास्तव में प्रथम महीपाल (९८८-१०३८) के बाद पाल सत्ता दुबारा बिखरने लगी और उसके क्षेत्र दक्षिण और पश्चिम की अनेक सत्ताओं के आक्रमणों के शिकार होने लगे। पालों पर कलचुरि आक्रमण का सिलसिला कदाचित् गांगेयदेव के अन्तिम दिनों से प्रारम्भ हो गया था। लक्ष्मीकर्ण ने उन पर सबसे पहला सैनिक अभियान नयपाल

---

१. रीवाँ अभिलेख, कार्पस्, जिल्द ४, पृष्ठ २७०, श्लोक २३।

२. कुगः संगतिमाजगाम चकपे वंगः कलिंगैः सह। वहीं, पृष्ठ ३१५ श्लोक १२।

३. वा० वि० मिराशी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ९३।

४. जातवर्मन् ने आगे अंगविजय में कर्ण की सहायता की। देखिए, इन्स्कृप्शन्स् ऑफ् बेंगाल, जिल्द ३, पृष्ठ २०; बेलाव अभिलेख, एइ०, जिल्द १२, पृष्ठ ३९, ४०-४२।

५. जएसो०, बेंगाल, जिल्द १३, पृष्ठ ७२।

(१०३८–१०५५ ई०) के समय किया, जिसकी चर्चा कलचुरि अभिलेखों के अतिरिक्त तिब्बती साक्ष्यों में भी प्राप्त होती है ।[१] किन्तु दोनों पक्षों के बीच लड़े जाने वाले युद्ध अथवा युद्धों का कोई निर्णायक परिणाम हुआ नहीं प्रतीत होता । तिब्बती साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि अन्ततः बौद्ध भिक्षु दीपंकर (अतीश) की मध्यस्थता से कर्ण की नयपाल से संधि हो गयी । तथापि कर्ण की महत्त्वाकांक्षाएँ शान्त नहीं हुईं और नयपाल की मृत्यु के बाद उसने पुनः बंगाल पर धावा बोल दिया । यद्यपि सन्ध्याकार नन्दीकृत **रामचरित** में नयपाल के पुत्र और उत्तराधिकारी तृतीय विग्रहपाल को कर्ण पर विजय प्राप्त करने का श्रेय दिया गया[२] है, हम उसे एक अनैतिहासिक प्रशंसात्मक उक्ति मात्र स्वीकार करेंगे । प्रत्युत् इसके विपरीत कर्ण के मुकाबले विग्रहपाल की पराजय का प्रमाण वीरभूम जिले के पैकोर नामक स्थान से प्राप्त कर्ण के एक स्तम्भ अभिलेख[३] से प्राप्त होता है । उस स्तम्भ को कर्ण ने वहाँ की एक देवी को समर्पित किया था, जिससे पैकोर तक के प्रदेशों पर उसकी विजय की पुष्टि होती है । विग्रहपाल की पराजय का उल्लेख हेमचन्द्र अपने **द्वयाश्रयकाव्य** (९वाँ, ३८) में भी करता है, किन्तु विजयी होते हुए भी कर्ण ने विग्रहपाल से अपनी पुत्री यौवनश्री का विवाहकर उसे अपना मित्र बना लिया[४] । सम्भवतः कलचुरि राज्य को दक्षिण और पश्चिम दिशाओं में स्थित चालुक्य और चौलुक्य शत्रुओं से खतरों की आशंका थी । उनके सफल मुकाबले के लिए पूर्व दिशा के राजाओं से विवाह–संधियों द्वारा मित्रता कर लेना कर्ण की कूटनीतिक बुद्धिमानी का परिचायक है ।

रीवाँ अभिलेख (श्लोक २५) काव्यात्मक ढंग से कुन्तल राज्य और पल्लव क्षेत्र में स्थित काँची की विजय का श्रेय कर्ण को देता है । यहाँ कुन्तल से तात्पर्य कल्याणी के चालुक्य क्षेत्र से है । किन्तु डॉ० मिराशी के मत में पल्लवों का उल्लेख भ्रमित है । चूँकि पल्लवराज्य ८०९ ई० में ही चोलों ने समाप्त कर दिया था, उनकी दृष्टि में[५] यह उल्लेख, यदि ऐतिहासिक हो तो, चोल शासक प्रथम राजाधिराज (१०४४–१०५४ ई०) पर कर्ण की विजय का द्योतक हो सकता है । लगता है कि इसी दक्षिणी अभियान के बीच मार्ग में पड़ने वाले कुन्तल (चालुक्य) राजा से कर्ण का संघर्ष हुआ । किन्तु उसके परिणाम

१. रीवाँ अभिलेख, कार्पस्, जिल्द ४, पृष्ठ २०७, शरत्चन्द्रदास, इण्डियन् पण्डित्स् इन दि लैण्ड ऑफ् स्नो, कलकत्ता, १८९३, पृष्ठ ४१ ।

२. रामचरित, प्रथम ९; मेम्वायर्स, एशियाटिक सोसायटी, बेंगाल, जिल्द ३, पृष्ठ २२ ।

३. आसरि०, १९२१–१९२२, पृष्ठ १५५; कार्पस्, जिल्द ४, पृष्ठ २५० और आगे ।

४. देखिए, पीछे पृष्ठ २७१; मिराशी, पूर्वनिर्दिष्ट पृष्ठ ९५ ।

५. मिराशी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ९५–९६ ।

के बारे में दोनों पक्षों के साक्ष्य परस्पर भिन्न हैं। जहाँ रीवाँ अभिलेख में यह कथित है कि कर्ण ने कुन्तलराज की लक्ष्मी का अपहरण कर लिया, वहीं दूसरी ओर बिल्हणकृत **विक्रमांकदेवचरित** की सूचना है कि **आहवमल्ल** (प्रथम सोमेश्वर) ने कर्ण की शक्ति ऐसी चूर कि लक्ष्मी पुन: कभी डाहल राज्य नहीं गयी।[१] किन्तु आगे हम देखेंगे कि उभय पक्षों के बीच शक्ति-परीक्षा का यह अन्तिम अथवा निर्णायक दौर नहीं था और चालुक्यों को कर्ण की बढ़ती हुई शक्ति चूर करने के लिए एक बृहद् सैनिक संघ में सम्मिलित होना पड़ा।

कर्ण को सम्भवत: सर्वाधिक सफलता बुन्देलखण्ड के चन्देल राज्य के विरुद्ध मिली। विद्याधर की मृत्यु के बाद विजयपाल (१०३०-१०५० ई०) और देववर्मा (१०५०-१०६० ई०) जैसे कमजोर शासक अपने पूर्वजों की महान् विरासत की रक्षा पूरी तरह नहीं कर सके[२]। देववर्मा अत्यन्त कमजोर था। उसका लाभ उठाकर कर्ण ने उस पर आक्रमण कर सम्भवत: उसे मार डाला और बुन्देलखण्ड का बहुत बड़ा भाग अपने अधिकार में कर लिया। बिल्हण उसे 'कालंजरपति के लिए काल' बताता[३] है।

कर्ण के समकालिक शासकों में परमारराज भोज (१०१०-१०५५ ई०) और अण्हिलवाड़ का चौलुक्य राजा भीम (१०२४-१०६४ ई०) बहुत शक्तिशाली थे। अत: अपने शासन के प्रारम्भिक दिनों में उनसे न उलझते हुए उसने अपने को पूर्व और दक्षिण दिशाओं की ओर विजय-अभियानों तक सीमित रखा। किन्तु उन दिशाओं में सफल होकर वह उन दोनों को भी चुनौती देने लगा। रीवाँ अभिलेख (श्लोक २७) से यह प्रतीत होता है कि उसके प्रकाशन (१०४८-१०४९ ई०) के पूर्व भी गुर्जरदेश पर उसने कोई विजयी धावा किया था[४]। किन्तु अपने राजनीतिक जीवन के सर्वोच्च शिखर पर कर्ण का चढ़ाव उस समय प्रतीत होता है, जब चौलुक्यराज भीम से मिलकर उसने परमारराज भोज के राज्य पर चढ़ाई कर दी, उसकी राजधानी धारा लूटी और कदाचित् उसपर अधिकार कर लिया[५]। इसका उल्लेख भोज के इतिहास के सम्बन्ध में पीछे हम कर चुके हैं। यह घटना भोज के जीवन की गोधूलि के समय (लगभग १०५५ ई०) की

---

१. प्रथम, श्लोक १०१-१०३।

२. देखिए, पीछे पृष्ठ ४१३-४१५।

३. विक्रमांकदेवचरित, १८वाँ, ९९।

४. सम्भवत: इसी घटना की ओर प्राकृतपिंगल (प्रथम, १२६) का भी निर्देश है।

५. विस्तृत उल्लेख के लिए देखिए, प्रचिद्रि०, पृष्ठ ६०-६३; वाडनगर प्रशस्ति एइ० जिल्द १, पृष्ठ २९७; कीर्त्तिकौमुदी, द्वितीय, १७-१८।

थी, जिससे मर्माहत होकर वह बीमार पड़ा और मर गया। थोड़े समय के लिए मालवा के एक बहुत बड़े भाग पर कर्ण का अधिकार हो गया। इस प्रकार भोज के हाथों गांगेयदेव की पराजय का उसने भरपूर बदला लिया। किन्तु उसकी यह सफलता ही उसके मित्र भीम को करोंदने लगी और मालवा की लूट के बँटवारे के प्रश्न पर दोनों में संघर्ष छिड़ गया। गुजराती साक्ष्य (प्रचिद्वि०, पृष्ठ ६३; द्वयाश्रयकाव्य, ९वाँ, १ और आगे) इस संघर्ष में भीम की विजय का दावा करते हैं। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों में अन्ततः संधि हो गयी।

कर्ण की सत्ता का चरमोत्कर्ष

१०५४-१०५५ ई० के आसपास भोजराज पर विजय के फलस्वरूप कर्ण ने धारा सहित मालवा के दक्षिण-पूर्वी भागों पर अधिकार कर लिया। उस समय वह अपनी राजनीतिक और सैनिक प्रतिष्ठा की चोटी पर पहुँच चुका था। बारी-बारी से छोटे-बड़े सभी समकालिक राजाओं का मानमर्दनकर उसने राजनीतिक महत्ता की सूचक अनेक उपाधियाँ धारण कीं, जो उसके पूर्व किसी कलचुरि[१] शासक ने नहीं धारण की थीं। डॉ० मिराशी का विश्वास है कि कर्ण ने अपने चक्रवर्ती पद की घोषणा के लिए १०५२-१०५३ ई० में दुबारा राज्याभिषेक कराया। गोपालपुर प्रस्तर अभिलेख (कार्पस्, जिल्द ४, पृ० ६५३) उसे **सप्तम चक्रवर्ती** कहता है। १०४७ ई० के उसके गोहरवा अभिलेख (कार्पस्, जिल्द ४, पृ० २५९) में उसे **परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर** के अतिरिक्त **त्रिकलिंगाधिपति** और **निजभुजोपार्जितअश्वपतिनरपतिगजपतिराज-त्रयाधिपति** के विरुद प्रदान किये गये हैं। आधुनिक उड़ीसा और मध्यप्रदेश स्थित महाकोसल की तीन भौगोलिक इकाइयों (ओड्र, कोंगद और कलिंग) को मिलाकर त्रिकलिंग कहा जाता था और उनपर अपना अधिकार बताने के लिए कुछ सोमवंशी राजाओं ने तथा स्वयं कर्ण के पूर्वज प्रथम युवराजदेव ने **त्रिकलिंगाधिपति** की उपाधि धारण की थी। कर्ण ने उसे अपने नाम के साथ पुनः प्रचलित किया। उसमें स्पष्टतः त्रिकलिंगों पर उसके आधिपत्य का उल्लेख है। **अश्वपति, नरपति** और **गजपति** के सम्बन्ध में विद्वानों की मान्यताएँ हैं कि वे क्रमशः कन्नौज के गुर्जर प्रतीहारों, कलिंग के गंगों और बंगाल के पालों के बोधक हैं, जिनके पास क्रमशः घोड़ो, हाथियों और पदातियों की अच्छी सेनाएँ थीं। अतः कर्ण का **राजत्रयाधिपति** कहा जाना उसकी उन राज्यों पर अधिसत्ता का सूचक है। पीछ हम देख चुके हैं कि उसने उड़ीसा और बंगाल की विजयें

---

१. पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ९६। उनके अनुसार, उसके वप्पुल्ल नामक सेनापति के रीवाँ प्रस्तर अभिलेख में कर्ण के शासनारम्भ की गिनती उसके द्वितीय राज्याभिषेक के वर्ष से ही की गयी है।

की थीं। कन्नौज के प्रतीहार क्षेत्रों पर उसका अधिकार उसके और उसके पिता गांगेयदेव के अभिलेखों से तो प्रमाणित होता ही है, गाहडवालों के आलेख्य भी उसका उल्लेख[1] करते हैं। उसके वंशज उसके राजनीतिक गौरव और सैनिक शक्ति का स्मरण कर अपने को गौरवान्वित समझते थे, जिनके अभिलखों में कहा गया है कि पाण्डय, हूण, मुरल, कुंग, वंग, कलिंग और कीर के शासक या तो उसकी शक्ति और वीरता से एकदम आतंकित थे अथवा उसकी सेवा में उपस्थित रहते थे[2]।

स्पष्ट है कि कर्ण की बढ़ती हुई शक्ति के सामने प्रायः सभी छोटी सत्ताएँ झुक गयीं और १०५४-१०५५ ई० के आसपास वह उत्तर भारत का सिरमौर शासक बन गया। किन्तु उसकी अनवरत सफलता और सैनिक शक्ति कल्याणी के चालुक्य और अण्हिलवाड़ के चौलुक्य राजाओं को कांटों की तरह चुभने लगी। उनकी तथा चन्देलों जैसे कुछ अन्य शत्रुओं की शत्रुता के परिणामस्वरूप उसके राज्यकाल का उत्तरार्ध धीरे-धीरे उसके लिए कठिन चुनौतियों का युग बन गया। कदाचित् परिस्थितियों की समानता के कारण कुछ योरोपीय विद्वानों ने उसकी तुलना फ्रान्सीसी सम्राट् नेपोलियन से की है। दोनों ही प्रारम्भ में चतुर्दिक विजयों में अप्रतिरुद्ध और अत्यधिक सफल रहे, किन्तु बाद में शत्रुओं के वृहद गठबन्धनों ने उनका सारा यश धूल में मिला दिया। किन्तु दोनों की तुलना का यही अन्त हो जाता है। नेपोलियन की तरह कर्ण को न तो अपनी राजगद्दी से हाथ धोना पड़ा और न अपना अन्तिम जीवन शत्रुओं के कारागार में बिताना पड़ा।

कर्ण की राजनीतिक और सैनिक सफलताओं में सबसे पहली रुकावट कल्याणी के चालुक्य शासक प्रथम सोमेश्वर **आहवमल्ल** ने उपस्थित थी। भोज की मृत्यु के समय (१०५५ ई०) धारा सहित मालवा का बहुत बड़ा भाग कर्ण के अधिकार में था और भोज का ऐसा कोई उत्तराधिकारी नहीं था, जो अकेले अपने बूते से उसे वहाँ से हटा सके। ऐसी स्थिति में सोमेश्वर ने परमारों के प्रति अपनी वंशगत शत्रुता की नीति का त्यागकर भोज के उत्तराधिकारी प्रथम जयसिंह की अपने पुत्र विक्रमादित्य के माध्यम से सहायता की और उसे धारा की राजगद्दी पर बिठाया[3]। यह घटना तत्कालीन भारतीय इतिहास की कदाचित् सबसे बड़ी कूटनीतिक क्रांति थी। विक्रमादित्य ने आगे चलकर

---

१. इऐ०, जिल्द १४, पृष्ठ १०३।

२. नरसिंह का भेड़ाघाट अभिलेख और जयसिंह का करनबेल अभिलेख, कार्पस्, जिल्द ४, पृष्ठ ३१५, श्लोक १२ और पृष्ठ ६३८, श्लोक २१।

३. विक्रमांकदेवचरित, तृतीय ६७।

बंगाल और कामरूप तक सैनिक अभियान किये और यह अनुमान लगाया गया है कि पूर्वदिशा की अपनी विजयों में उसकी सेनाएँ कलचुरि राज्य के मध्य से होकर गयी होंगी[१]।

उत्तर में चन्देल राज्य भी कर्ण के हाथों से निकल गया। देववर्मा का उत्तराधिकारी कीर्त्तिवर्मा एक शक्तिशाली शासक था, जिसने अपना खोया हुआ राज्याधिकार तो प्राप्त किया ही, अपने वंश की पुरानी प्रतिष्ठा भी पुनरुज्जीवित करने का प्रयत्न किया। सौभाग्य से उसे गोपाल नामक एक ब्राह्मण सेनापति प्राप्त था, जिसके 'दिग्विजयव्यापार' की सर्वप्रमुख उपलब्धि कर्ण (लक्ष्मीकर्ण) की पराजय थी। इस सम्बन्ध के विस्तृत उल्लेख **प्रबोधचन्द्रोदय** नामक नाटक के उपोद्‌धात में प्राप्त होते हैं, जिनकी चर्चा चन्देलों के इतिहास के सम्बन्ध में की जा चुकी है। वहाँ लक्ष्मीकर्ण को पृथ्वी के राजाओं के लिए 'रुद्र और कालाग्नि' की सज्ञाएँ दी गयी हैं जो इस बात की द्योतक हैं कि उस शक्तिशाली विजेता को चन्देल राज्य से हटाना कोई आसान काम नहीं था। बाद में कीर्त्तिवर्मा और उसके उत्तराधिकारियों के अभिलेख[२] भी लक्ष्मीकर्ण पर चन्देल सेनाओं की विजय का वर्णन करते हैं। इन साक्ष्यों में कीर्त्तिवर्मा की तुलना समुद्रमंथन करने वाले विष्णु अथवा उसे सुखा डालने वाले अगस्त्य से की गयी है, जिससे स्पष्ट होता है कि उसने 'चेदिपति' लक्ष्मीकर्ण को युद्धक्षेत्र में करारी मात दी और बुन्देलखण्ड पर लगभग आठ-दस वर्षों से चले आ रहे उसके अधिकार को समाप्तकर वहाँ की राजलक्ष्मी पुनः प्राप्त की। कीर्त्तिवर्मा को इस महान् उपलब्धि में गोपाल के अतिरिक्त एक और सामन्त की सहायता प्राप्त हुई थी।[३] किन्तु यह असम्भव नहीं है कि प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में चौलुक्यराज भीम और चालुक्य शासक प्रथम सोमेश्वर भी उसके सहायक रहे हों।

१०६८ ई० में कल्याणी के चालुक्य शासक प्रथम सोमेश्वर की मृत्यु के साथ तत्कालीन अन्तरराज्यीय राजनीति का स्वरूप एक बार फिर बदल गया। उसके पुत्र और उत्तराधिकारी द्वितीय सोमेश्वर ने परमारराज द्वितीय जयसिंह की सहायता करना बन्द कर दिया तथा उसके सहायक और अपने ही छोटे भाई षष्ठ विक्रमादित्य की महत्त्वाकांक्षाओं से सशंकित रहने लगा। उसी अनुपात में कलचुरि राजा कर्ण से भी उसके सम्बन्ध सुधर गये। उन दोनों ने मिलकर परमार राज्य को सम्भवतः बाँट लेने की इच्छा से मालवा पर आक्रमण कर दिया। परमारों की नागपुर प्रशस्ति इस आक्रमण की चर्चा करते हुए

---

१. मिराशी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ९७।

२. एइ०, जिल्द १, पृष्ठ २२२ तथा २२७।

३. एइ०, जिल्द १, पृष्ठ २१६।

कर्णाट और कलचुरि राजाओं के संघ को परमार राज्य को 'डुबा देने वाला समुद्र[१] कहती हैं। स्पष्ट है कि शत्रुओं ने परमार राज्य के आपसी संघर्षों और उसकी कमजोरी का लाभ उठाते हुए उसे एकदम समाप्त कर देने का निश्चय कर लिया था और उनके तूफानी आक्रमण में जयसिंह मारा गया। किन्तु उपर्युक्त साक्ष्य से यह भी ज्ञात होता है कि उदयादित्य ने वराहरूप होकर मालवराज्य का उद्धार किया। यह तथ्य भी ध्यानयोग्य है कि इस संदर्भ की चर्चाएँ परमार अथवा चालुक्य या गंग और उनके सामन्तों के अभिलेखों तक ही सीमित हैं और कलचुरि अभिलेख उनके बारे में कुछ नहीं बताते। यदि मालवा पर किये गये इस आक्रमण में कर्ण का हिस्सा द्वितीय सोमेश्वर की अपेक्षा विशेष होता अथवा उससे उसे कोई महत्त्वपूर्ण लाभ हुआ होता तो कलचुरि अभिलेखों में उसका गुणगान अवश्य किया गया होता। लगता है कि कर्ण सोमेश्वर का मित्र और सहायक मात्र था और इस आक्रमण के समय (लगभग १०७० ई०) अपनी वृद्धावस्था के कारण अगुआ के रूप में कुछ विशेष कर सकने की स्थिति में नहीं था। ऐसी अवस्था में डॉ० मिराशी के इस अनुमान को मान्यता नहीं दी जा सकती कि कर्ण ने सम्भवत: मालवा अपने राज्य में मिला लिया होगा और नर्मदा के दक्षिण का क्षेत्र द्वितीय सोमेश्वर को दे दिया होगा[२]। मालवा पर किये गये इस आक्रमण में द्वितीय सोमेश्वर के होयसल सामन्त और सहायक एऋयंग का दावा है कि अपने स्वामी की आज्ञा से उसने धारा नगर लूटा तथा उसके सहित खाण्डवा, माण्डवा (माण्डू) और उद्यपुरम् (ग्वालियर क्षेत्र का उदयपुर) जला डाला[३]। ये सभी स्थान नर्मदा के उत्तर में थे और यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि इन क्षेत्रों को रौंदकर अपने वश में करते हुए भी दाक्षिणात्यों ने उन्हें कर्ण के सुपुर्द कर दिया होगा। ऐसी उदारता राजनीतिक और सैनिक विजयों में देखने को नहीं मिलती। अत: यह निश्चित सा लगता है कि मालवा के इस आक्रमण से कर्ण को कोई लाभ नहीं हुआ। प्रत्युत् कर्ण को अपने जीवन की गोधूलि में उदयादित्य परमार के क्रोध का शिकार होना पड़ा। उदयपुर से प्राप्त एक परमार प्रशस्ति का दावा है कि उसने 'डाहलाधीश (कर्ण) का संहार कर दिया[४]।' इसका मतलब हुआ कि कर्ण मार डाला

---

१. एइ०, जिल्द २, पृष्ठ १८५, श्लोक ३२; और विवेचन के लिए देखिए, एइ०, जिल्द १, पृष्ठ २२६; देखिए, पीछे जयसिंह और उदयादित्य के विवरण और उनकी पादटिप्पणियाँ।

२. पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ९९।

३. प्रतिपाल भाटिया, दि परमारज, पृ० १०४–१०५।

४. ऐनुअल् रिपोर्ट ऑफ् दि आर्केलाजिकल् डिपार्टमेण्ट, ग्वालियर राज्य, १९२५–२६ पृष्ठ १३।

गया । किन्तु उसके पुत्र यशःकर्ण के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि कर्ण ने स्वयं उसका राज्याभिषेक किया । ऐसी स्थिति में जब तक और कोई निर्णायक प्रमाण नहीं मिल जाता, कर्ण के जीवन की अन्तिम घटनाओं का ठीक-ठीक क्रम नहीं बैठाया जा सकता ।

पीछे के विवरणों से स्पष्ट है कि कर्ण अपने समय की उत्तर भारतीय राजनीति पर पूरी तरह छाया हुआ था । उसके शासनकाल के उत्तरार्ध में अनेक शक्तिशाली शत्रुओं ने उसके विरुद्ध कदाचित् एक साथ मिलकर उसे परिसीमित करने का प्रयत्न तो किया, किन्तु उसके निजी कलचुरि राज्य को वे कोई हानि नहीं पहुँचा सके । उसे यदि कुछ पराजयें सहनी पड़ीं, तो वे आक्रामित की नहीं अपितु एक आक्रमणकारी की पराजयें थीं, जो उसकी महत्त्वाकांक्षाओं का ही परिचय देती हैं । कर्ण केवल एक सैनिक विजेता और राजनीतिक महत्त्वाकांक्षी मात्र नहीं था । अनेक सांस्कृतिक कार्यों के लिए भी वह अनुश्रुत है । वाराणसी के कर्णमेरु नामक शिवमन्दिर[१]; प्रयाग में गंगा के किनारे कर्णतीर्थ नामक घाट[२] और कर्णावती[३] नामक नगर का उसने निर्माण कराया । साथ ही, उसके समय सारनाथ के बौद्धविहारों में बौद्धों को अन्य धर्मावलम्बियों के समान ही सुविधाएँ प्राप्त थीं और उन्हें अपने साहित्य की रक्षा और विकास का पूरा अवसर प्राप्त[४] था । वाराणसी और प्रयाग उसके अत्यन्त प्रिय नगर थे, जहाँ वह प्रायः धार्मिक कार्यों का सम्पादन और अपने पिता के श्राद्ध आदि कर्म किया करता तथा ब्राह्मणों को दान दिया करता था । काशी में ही प्रसिद्ध कश्मीरी कवि बिल्हण उसके पास कुछ दिनों रहा था । डॉ० ग्रियर्सन् ने काशी में कर्ण डाहरिया (डाहलीय) के दान की प्रचलित कथाओं का उल्लेख (इऐ०, जिल्द १६, पृष्ठ ४६ और आगे) किया है । आश्चर्य नहीं है कि उसकी दानशीलता और गुणग्राहकता से आकृष्ट होकर, विल्हण, वल्लण, नाचिराज, कर्पूर, कनकाभर और विद्यापति जैसे कवि उसके दरबार में रहने लगे[५] ।

कलचुरि सत्ता का पराभव और अन्त : यशःकर्ण (लगभग १०७३-११२३ ई०)

कर्ण की हूणवंशोद्भवा रानी आवल्लदेवी से उत्पन्न पुत्र यशःकर्ण लगभग १०७३ ई० में राजा हुआ । उसके खैरा और जबलपुर से प्राप्त प्रायः समान शब्दावली वाले

---

१. कार्पस्, जिल्द ४, पृष्ठ २९३, श्लोक १३ और २९७-८; प्रचिद्वि०, पृ० ६२ ।

२. कार्पस्, जिल्द ४, पृष्ठ २५४ ।

३. कार्पस्, जिल्द ४, पृ० २९३, श्लोक १४ ।

४. कार्पस्, जिल्द ४, पृष्ठ २७६ ।

५. कवीन्द्रवचनसमुच्चय, एफ्० डब्ल्यू टॉमस द्वारा सम्पादित, पृष्ठ १०० और आगे; सुभाषितावली, पीटर्सन् द्वारा सम्पादित, पंचम, १८५; प्रचिद्वि०, पृष्ठ ६१; कलेक्टेड् वर्क्स् ऑफ् डॉ० रा० गो० भण्डारकर, जिल्द २, पृष्ठ ३३४ और आगे ।

अभिलेखों से ज्ञात होता है कि कर्ण ने स्वयं उसका राज्याभिषेक किया था। राजतंत्रात्मक राज्यों के सम्बन्ध में प्राय: दिखायी देता है कि योग्य और शक्तिशाली राजाओं के कमजोर उत्तराधिकारियों के समय उनकी सारी विरासत क्षीण होने लगती है। यश:कर्ण भी कलचुरि राज्य की कर्ण के समय की राजनीतिक और सैनिक महत्ता की रक्षा नहीं कर सका और उसकी कमजोरी के कारण धीरे-धीरे चेदिराज्य की सीमाएँ क्षीण होती गयीं। यद्यपि उसके अभिलेखों में यह कहा गया[1] है कि उसने आन्ध्रप्रदेश पर आक्रमण कर गोदावरी के किनारे स्थित भीमेश्वर (महादेव) की पूजा-अर्चना की, यह उसके जीवन की कदाचित् अकेली सफलता प्रतीत होती है। इस सन्दर्भ का आन्ध्रप्रदेश का पराजित राजा कदाचित् सप्तम विजयादित्य (१०६१ से १०७६ ई०) था। इस अभियान में दक्षिण कोसल के कलचुरि सामन्त प्रथम जाजल्लदेव ने सम्भवत: यश:कर्ण की सहायता की थी[2]। सम्बद्ध साक्ष्यों से प्रतीत होता है कि यश:कर्ण ने कुछ अन्य राजाओं से मिलकर एक सैनिक संघ बनाने का प्रयत्न किया। किन्तु ऐसा लगता है कि इसमें उसे सफलता नहीं मिली और वह एकदम अकेला रहा गया तथा उसके सामने अपने ही राज्य की रक्षा करने की समस्या उठ खड़ी हुई। सम्भवत: इन्हीं परिस्थितियों में प्रथम जाजल्लदेव भी उससे अलग होकर कान्यकुब्ज के गाहडवाल (चन्द्रदेव) और जेजाकभुक्ति के चन्देल (कीर्त्तिवर्मा एवं सल्लक्षणवर्मा) राजाओं का मित्र बन गया और अपनी स्वतन्त्र सत्ता का विकास करने लगा[3]।

यश:कर्ण की प्रतिष्ठा और राज्यसीमा पर सबसे प्रमुख आधात काशी-कन्नौज में उठती हुई गाहडवाल सत्ता ने पहुँचाया। गोविन्दचन्द्र गाहडवाल (लगभग १११४-११५४ ई०) के ११०४ ई० के बसही अभिलेख (इऐ०, जिल्द १४, पृष्ठ १०३) की सूचना है कि 'कर्ण और भोज का नाममात्र शेष रह जाने (मर जाने) पर पृथ्वी ने विपत्ति में पड़कर विश्वास और प्रेमपूर्वक चन्द्रदेव को अपना पति अर्थात् रक्षक चुना।' गाहडवालों की राजनीतिक प्रतिष्ठा का संस्थापक और राज्यरूप में एक विस्तृत भूभाग का प्रथम विजेता यही चन्द्रदेव (लगभग १०८९-११०४ ई०) था। उसके अभिलेखों से ज्ञात होता है कि १०८९ ई० के बाद थोड़े ही दिनों के भीतर उसने काशी, अयोध्या, कन्नौज, और इन्द्रप्रस्थ अथवा दिल्ली के आसपास के सभी प्रदेश जीत

१. खैरा और जबलपुर अभिलेख, श्लोक २३, कार्पस्, जिल्द ४, पृ० २९४ और ३०४।
२. रतनपुर अभिलेख, कार्पस्, जिल्द ४, पृष्ठ ४१३, श्लोक २०।
३. वहीं, पृष्ठ ४१३, श्लोक २१। इस लेख का समय कलचुरि सं० ८६६ अर्थात् १११४ ई० है, जब गोविन्दचन्द्र कन्नौज का शासक हो चुका था। कदाचित् उसके पूर्व से ही जाजल्लदेव ने अपनी राजभक्ति चेदिराज्य के स्थान पर कन्नौजराज्य के प्रति प्रदर्शित करना प्रारम्भ कर दिया था।

लिये[१] थे। पीछे हम देख चुके हैं कि काशी और प्रयाग के आसपास के सभी प्रदेश (अयोध्या सहित) गांगेयदेव और कर्ण के समय कलचुरि राज्य की सीमाओं के भीतर थे। अतः चन्द्रदेव ने इन्हें यशःकर्ण से ही जीता होगा। ऐसा अनुमान किया गया[२] है कि यशःकर्ण ने पूर्वी उत्तर प्रदेश को एक बार पुनः अपने अधिकार में करने का प्रयत्न किया। यदि यह अनुमान सही हो, तो यह कहा जा सकता है कि उसने चन्द्रदेव के पुत्र मदनपाल (११०४-१११४ ई०) के समय कन्नौजराज्य के उत्तरी भागों पर होनेवाले तुर्क आक्रमणों को प्रतिवारित करने में लगी हुई गाहडवाल सत्ता की पूर्व में अनुपस्थिति का लाभ उठाने का प्रयत्न किया। किन्तु इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि इस प्रयत्न में उसे कोई सफलता मिली।

इस प्रकार यशःकर्ण का राज्यक्षेत्र केवल बघेलखण्ड तक सीमित रह गया। किन्तु उसमें भी वह पूर्णतः शान्तिपूर्वक शासन नहीं कर सका। उसकी सीमाओं पर स्थित परमार शासक लक्ष्मदेव[३] (लगभग १०८६-१०९४ ई०), चन्देलराज सल्लक्षणवर्मा[४] (लगभग ११००-१११० ई०) और चालुक्यराज षष्ठ विक्रमादित्य[५] (लगभग १०७६-११२६ ई०) ने बारी-बारी से उसके राज्य पर आक्रमण कर उसे पराजित किया।

गयाकर्ण (लगभग ११२३-११५१ ई०)

लगभग ११२३ ई० में यशःकर्ण की मृत्यु के बाद उसका पुत्र गयाकर्ण कलचुरि राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। किन्तु वह भी अपने वंश की गिरती हुई प्रतिष्ठा ऊपर नहीं उठ सका। उसका समकालिक चन्देल शासक मदनवर्मा (लगभग ११२९ से ११६३ ई०) अपने एक अभिलेख में दावा करता है कि 'एक भयंकर युद्ध में पराजित होने के बाद चेदिराज मदनवर्मा के नाम से भी शीघ्रतापूर्वक भाग जाता[६] हैं।' यह चेदिराज

---

१. 'तीर्थानि काशी कुशिकोत्तरकोशलेन्द्रस्थानीयकानि परिपालयताधिगम्य'। इऐ०, जिल्द १८, पृष्ठ १६ तथा 'निजभुजोपार्जितकान्यकुब्जाधिपत्य श्री चन्द्रदेवः'। इऐ० जिल्द १८, पृष्ठ १८।

२. मिराशी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १०३; का० प्र० जायसवाल, एइ०, जिल्द ४, पृ० ११०।

३. एइ०, जिल्द २, पृष्ठ १८६।

४. एइ०, जिल्द १, पृष्ठ ३२७।

५. आर्कैलॉजिकल् सर्वे रिपोर्ट, माइसूर, १९२९, पृष्ठ १३३, १३७; एइ०, जिल्द १९ पृष्ठ २३०।

६. एइ०, जिल्द १, पृष्ठ १९८; रीवाँ क्षेत्र के पवनार नामक स्थान से मदनवर्मा के चाँदी के सिक्कों का एक ढेर मिला है, जो यह प्रमाणित करता है कि कैमूर की पहाड़ियों के उत्तर का प्रदेश गयाकर्ण के हाथों से निकल चुका था। देखिए, जएसो०, बेंगाल, १९१४, पृष्ठ १९९ और आगे।

गयाकर्ण ही था । उसकी छीजती हुई सत्ता के परिणामस्वरूप दक्षिण कोसल के कलचुरि सामन्त वंश ने भी त्रिपुरी के कलचुरियों की अधिसत्ता से अपने को मुक्त कर लिया और उसके शासक द्वितीय रत्नदेव ने गयाकर्ण को एक युद्ध में बुरी तरह पराजित किया । विक्रम सं० १२०७ अर्थात् ११४९-५० ई० के एक अभिलेख में उसे 'चेदिराज की सेनारूपी समुद्र के लिए बडवानल[१]' कहा गया है ।

गयाकर्ण के उत्तराधिकारी और स्वतंत्र कलचुरि सत्ता का अन्त

गयाकर्ण के पुत्र नरसिंह ने लगभग ११५० ई० में त्रिपुरी की राजगद्दी पर आसीन होकर प्राय: दस वर्षों तक शासन किया । उसके अभिलेखों के प्राप्तिस्थानों के आधार पर ऐसा विश्वास किया जाता[२] है कि उसने कैमूर की पहाड़ियों के उत्तर वाले उन क्षेत्रों पर पुन: अधिकार कर लिया, जो गयाकर्ण से मदनवर्मा चन्देल ने छीन लिये थे । उसके कोई पुत्र न होने की दशा में उसका भाई जयसिंह कलचुरि राज्य का अगला उत्तराधिकारी हुआ । उसने दक्षिण कोसल के कलचुरियों पर चेदिराज्य की अधिसत्ता पुन: स्थापित करने का प्रयत्न किया, किन्तु उसमें उसे सफलता नहीं प्राप्त हुई । उसके शासनकाल के पाँच अभिलेख प्राप्त हुए हैं और उनमें कम से कम एक तो अन्य राजाओं की तुलना में उसकी सैनिक शक्ति की प्रशंसा भी करता है । किन्तु ऐसा नहीं प्रतीत होता कि उसने कोई राजनीतिक अथवा सैनिक उपलब्धि की । प्रत्युत् चन्देलराज परमर्दिन् (लगभग ११६५-१२०३ ई०) के एक अभिलेख[३] से ऐसा प्रतीत होता है कि जयसिंह को उसके प्रति अपनी राजभक्ति दिखानी पड़ी । जयसिंह का पुत्र और उत्तराधिकारी विजयसिंह भी सम्भवत: चन्देलों से त्रस्त था और असम्भव नहीं है कि उसे उनकी अधिसत्ता स्वीकार करनी पड़ी हो । वह त्रिपुरी के कलचुरि राजवंश का सबसे अन्तिम स्वतंत्र राजा जान पड़ता है । धुरेटी अभिलेख[४] से ज्ञात होता है कि १२१२ ई० के आसपास रीवाँ के पार्श्ववर्त्ती प्रदेश चन्देलों के अधिकार में चले गये थे । यही नहीं, कलचुरि राज्य के पश्चिमी भागों में स्थित सागर और दमोह के क्षेत्रों को हस्तगत करने के लिए परमार और चन्देल आगे बढ़ने लगे । इस स्थिति में कलचुरि सत्ता दक्षिण से यादवों का आक्रमण और उत्तर से मुसलमानी दबाव को सफलतापूर्वक सह न सकी और उसकी स्वतंत्र स्थिति समाप्त हो गयी ।

❀❀❀

१. कार्पस्, जिल्द ४, पृष्ठ ४८६, श्लोक ५ ।
२. वा० वि० मिराशी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १०५ ।
३. वहीं, पृष्ठ १०७ ।
४. वहीं ।

सामान्य प्रशासन

संबद्ध युग के उत्तर भारतीय राजनीतिक इतिहास का अध्ययन तब तक अपूर्ण रहेगा, जब तक उसके प्रशासन की एक सामान्य रूपरेखा न खींची जाय। पीछे हर्ष के प्रशासन की चर्चा की जा चुकी है और उसे यहाँ दुहराने की कोई आवश्यकता नहीं है। अतः प्रशासन के जिस स्वरूप की चर्चा यहाँ की जायगी, वह लगभग ८००-१२०० ई० के बीच के युग के लिए ही विशेष रूप से लागू होगा। इस बीच उत्तर भारत में साम्राज्य कहलाने लायक प्रायः एक ही सत्ता थी और वह थी गुर्जर प्रतीहारों की। उसके पूर्व कुछ दिनों के लिए उत्तर भारत पर धर्मपाल के नेतृत्त्व में पालों ने भी अपना अधिकार स्थापित किया, किन्तु उसे कोई स्थायित्त्व नहीं प्राप्त हुआ। उनकी साम्राज्यसत्ता के प्रतिनिधि धर्मपाल और देवपाल को यदि छोड़ दिया जाय तो पाल राज्य भी बंगाल और बिहार पर शासन करने वाला एक क्षेत्रीय राज्य ही दिखायी देगा। स्वभावतः साम्राज्यों का स्वरूप केन्द्रीय होने के साथ ही प्रांतीय और स्थानीय प्रशासन का एक सम्मिलित योग हुआ करता था, जिसमें प्रत्येक प्रशासकीय इकाई के अलग-अलग अधिकारी हुआ करते थे। किन्तु क्षेत्रीय राज्यों में शक्ति के अनवरत क्रम और स्थायित्त्व की कमी होती थी तथा उनका साम्राज्य-स्वरूप उसके कुछ विशिष्ट सम्राटों मात्र के समय उभरकर एवं अल्प काल मात्र के लिए सामने आता था। अतः उनके प्रशासनों में बहुत विविधताएँ नहीं दिखाई देतीं। यद्यपि यह सही है कि पाल राज्य के नारायणपाल जैसे एक अपेक्षाकृत कमजोर शासक के भागलपुर और बादाल दानपत्रों से उस समय के अनेकानेक अधि-कारियों का ज्ञान प्राप्त होता है, साधारणतया मुख्य-मुख्य राजवंशों के कुछ प्रमुख राजाओं के अभिलेख मात्र प्रशासन सम्बन्धी कुछ विशेष सूचनाएँ देते हैं। उन्हीं के आधार पर आगे एक समग्र रूप में संबद्धयुगीन प्रशासकीय विशेषताओं का रेखांकन किया जायगा।

इस युग में राजनीतिशास्त्र संबन्धी ग्रन्थों के प्रणयन का अभाव सा दिखाई देता है। यद्यपि काशी के गाहडवाल राजा गोविन्दचन्द्र (१११४-११५४ ई०) के **महासांधि-विग्रहिक** लक्ष्मीधर के विशालकाय ग्रंथ **कृत्यकल्पतरु** के **राजधर्मकाण्ड** नामक ग्रंथभाग से तत्कालीन प्रशासन के पीछे छिपे हुए सिद्धान्तों की कुछ जानकारी प्राप्त की जा सकती है, तथापि इसमें नूतनता और मौलिकता की कमी है। पौराणिक युग की विचार-धाराओं को इसमें यथावत् अपना लिया गया है और ऐसा कुछ नहीं लगता कि इसमें कौटिल्य के **अर्थशास्त्र** अथवा कामन्दक के **नीतिसार** जैसा शास्त्रीय विवेचन है। प्रायः यही हाल सोमदेवकृत **नीतिवाक्यामृत**, कृष्णमिश्रकृत **वीरमित्रोदय**, सोमेश्वरकृत **मानसोल्लास** जैसे कुछ अन्य ग्रन्थों का भी है। एक गुजराती कवि महेश्वरसूरि ने भी

ज्ञानपञ्चमी कथा नामक एक ग्रन्थ लिखा। किन्तु इन सबमें एक प्रकार की गतानुगतिकता दिखायी देती है। तथापि इनका यथास्थान उपयोग करते हुए निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि सम्बद्धयुगीन प्रशासन के सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि परम्परारूप में चाहे जो भी रही हो, प्रयोगतः उनके व्यवहारपक्ष पर ही ज्यादा जोर दिया जाना चाहिए।

हर्ष की मृत्यु के बाद मध्यदेश प्रायः सतत चलते रहने वाले युद्धों और महत्त्वाकांक्षी सैनिक वीरों का मानों अखाड़ा सा बन गया। कश्मीर को छोड़कर सारे उत्तरी भारतवर्ष में लगभग १५० वर्षों तक प्रशासन का कोई स्पष्ट स्वरूप हमारे सामने नहीं उपस्थित होता। यह स्थिति असम से लेकर सिंन्ध तक और हिमालय से प्रारम्भकर नर्मदा तक सर्वत्र दिखायी देती है। सिन्ध और मुल्तान के अरबों के दूर-दूर तक होने वाले धावे जहाँ इस स्थिति के कुछ प्रमुख कारण थे, वहीं शशांक के बाद बंगाल की अराजक अवस्था और हर्ष के किसी अपने शरीर से उत्पन्न उत्तराधिकारी न होने से मध्यदेश में सुव्यवस्थित राज्यव्यवस्था का अभाव जैसे अन्य कारण भी थे। किन्तु आठवीं शताब्दी के अन्त और नवीं के प्रारम्भ में कन्नौज में गुर्जर प्रतीहारों की साम्राज्यसत्ता के स्थापन से परिस्थिति में परिवर्त्तन आया और एक सुव्यवस्थित शासन का रूप हमें दिखायी देने लगता है। किन्तु अपनी विशालता और शक्तिमत्ता के होते हुए भी गुर्जर प्रतीहार साम्राज्य अपने स्वरूप में कई छोटी-छोटी सामंत सत्ताओं से युक्त राजनीतिक इकाई का एक ऐसा ढीला-ढ़ाला रूप था, जिसमें एकात्मकता का अभाव था और उसमें अनेक राज्यों के संघ अथवा संयोगसंघ का स्वरूप विद्यमान था। प्रतीहार साम्राज्य अथवा वैसी साम्राज्यभोगी अन्य सत्ताओं के सभी सामन्त प्रशासन की दृष्टि से अपने-अपने क्षेत्रों में अलग-अलग इकाइयों के स्वामी हुआ करते थे और साम्राज्य सत्ता उन इकाइयों के नित्यप्रति के शासन में कोई हस्तक्षेप नहीं करती थी, यहाँ तक कि वे **महाराजाधिराज परमेश्वर, परमभट्टारक** (उदाहरण के लिये राजौर अभिलेख का मथनदेव[1]), **महासामन्ताधिपति, महासामन्त, महामाण्डलिक, राजकुलठाक्कुर, ठाक्कुर** और **राणक** जैसी उपाधियाँ भी धारण करने में कोई संकोच नहीं करते थे। साम्राज्यभोगीशासक अपने को **अनेक सामंतप्रणिपतितचरण** अथवा **समस्तसामंतकोपात्तशासन** कहा करते थे। **महाराजाधिराज, परमेश्वर, परमभट्टारक** तो प्रायः सबकी साधारण विरुदावली होती थी। सामान्यतः अधिराज सामंतों द्वारा अपने प्रति भक्ति पाकर और अन्य प्रकारों से अपना आधिराज्य स्वीकृत कर लिए जाने के बाद संतुष्ट हो जाते थे। इन सामन्त राजाओं का प्रमुख कर्त्तव्य यह था कि वे अपने अधिराजों की ओर से उनके युद्धों में यथाज्ञा और यथावसर उपस्थित हुआ करें।

---

१. देखिए, पीछे पृष्ठ १७२।

तथापि गुर्जर प्रतीहार जैसे बड़े साम्राज्य अथवा वैसे ही शक्तिशाली और विस्तृत आयत्त वाले अन्य राज्यों के प्रशासन की सुविधा के लिए उनके विशाल प्रशासकीय क्षेत्र केवल केन्द्रीय सत्ता द्वारा ही नहीं शासित होते थे, अपितु उनके प्रांतीय अथवा छोटे विभाजन (भुक्ति, देश, मण्डल) भी हुआ करते थे, जो प्राय: या तो राजकुमारों के माध्यम से अथवा अन्य विश्वासप्राप्त सूबेदारों-अधिकारियों द्वारा प्रशासित थे । छोटी प्रशासकीय इकाइयों के रूप में विषय[१] अर्थात् जिले प्राय: सभी राज्यों में होते थे । विषयों का विभाजन पथकों (पठकों) और पुन: ग्रामों में हुआ करता था । अग्रहार-ग्रामों के दान संबंधी जो हजारों उल्लेख इस युग के अभिलेखों से प्राप्त होते हैं, प्राय: उन्हीं से इस युग के प्रशासन का स्वरूप निश्चित होता है ।

पूर्वमध्ययुगीन हिन्दू राज्यों का सैद्धान्तिक स्वरूप प्राय: अनियन्त्रित राजतन्त्र का था । राजाओं के नियंत्रण के लिए मन्त्रिमण्डलों के विधान और उनकी प्रथायें जैसी गुप्त सम्राटों के युग तक थीं, उनमें अब कुछ शिथिलता सी दिखायी देती है । **मानसोल्लास**[२] में उसी राजतन्त्र को सर्वोत्तम कहा गया है । जो 'आत्मायत' राज्य अर्थात् राजा द्वारा सभी प्रकार स्वयंशासित हो और राजा के अधीन ही सभी अधिकारों से युक्त हो । मन्त्रियों के द्वारा नियंत्रित राज्य को वहाँ सबसे हीन बताया गया है । वहाँ पुन: कथित है कि वही (राजा) प्रभु है, जिसमें कार्य करने की अपनी योग्यता हो, जिसकी आज्ञाओं का उल्लंघन न होता हो और जो स्वयं शक्तिमान् सम्राट् हो ।[३] किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि शासकगण अनियन्त्रित अथवा अत्याचारी होते थे । महेश्वरसूरि का कथन है कि 'केवल वही शासक भूपाल है, जो सचमुच ही पृथ्वी की रक्षा करता हो । अन्यायी शासक तो केवल एक चोर अथवा डाकू के समान है' ।[४] यद्यपि इस बात की आभि-लेखिक जानकारी है कि पाल, सेन, चन्देल और चाहमान जैसे राज्यों में केन्द्रीय प्रशासन में राजा को परामर्श देने के लिए मन्त्रिगण हुआ करते थे, यही स्थिति सभी राज्यों में हो, ऐसा नहीं दिखायी देता । तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि सिद्धान्तत: मन्त्रिमण्डल का होना अब भी आवश्यक था, तथापि व्यवहार रूप में मन्त्रियों की स्थिति नगण्य होती गयी । राजाओं की व्यक्तिगत सत्ताएँ तथा उनके व्यक्तिगत अधिकार पहले से बहुत बढ़ गये ।

---

१. प्रथम महेन्द्रपाल प्रतीहार के ९५१ वि० सं० के डिघवा दुबौली अभिलेख में श्रावस्तीभुक्ति के बालीयक विषय में पानीयक ग्राम का उल्लेख है । देखिए, इऐ०, जिल्द १५, पृष्ठ ११३ ।

२. प्रथम, २, ६८२ ।

३. प्रथम, सम्राट् यो राजा स्वाज्ञा चैव निरर्गल: ।
निजशक्त्या समायुक्त: स प्रभु: प्रभुरुच्यते ।। वहीं, २-६९४ ।

४. ज्ञानपञ्चमीकथा, दशम, ९ ।

चन्देलों में धंग के समय से बहुत आगे तक और पालों में धर्मपाल के समय से नारायणपाल के समय तक वंशगत मन्त्रियों के होने की जानकारी उनके अभिलेखों से प्राप्त होती है ।[१] ऐसे वंशगत मन्त्री साम्राज्यभोगी गुप्तों के समय में भी होते थे । किन्तु यह असम्भव है कि एक ही वंश में पिता-पुत्र के क्रम में उत्पन्न होने वाले सभी व्यक्ति एक समान उँची योग्यता वाले अथवा शक्तिशाली व्यक्तित्त्व वाले ही हों । ऐसी स्थिति में वंशक्रम से नियुक्ति पाने वाले मंत्री अपेक्षाकृत अपनी कम योग्यता और शक्तिमत्ता के कारण राजाओं के नियमन में पूरी-पूरी प्रकार सफल न रहे होंगे । इस प्रकार शासकों के निरंकुश हो जाने की पूरी सम्भावनायें थी, जो इस युग के सिद्धान्त और व्यवहार दोनों ही पक्षों से समर्थित हैं । किन्तु साधारणतया शासकगण अत्याचारी थे, यह नहीं कहा जा सकता । दरबार में अब भी विद्वानों, ब्राह्मणों, पुरोहितों, आचार्यों और मन्त्रियों की स्थिति थी और उनका अब भी राजाओं पर प्रभाव था । राजाओं को अब भी विधि-निर्माण का अधिकार नहीं प्राप्त था और वे सामाजिक और सामुदायिक परम्पराओं और नियमों से बंधे हुए थे । धंग के प्रभास नामक 'सर्वोपधाशुद्ध' मन्त्री और ब्राह्मण गर्ग से प्रारम्भ कर केदारमिश्र, दर्भपाणि और गुरवमिश्र तक अपनी 'मन्त्रमहिमा' से पाल राजाओं की विजयों को सम्भव करने वाले मन्त्रियों के रहते हुए अत्यन्त शक्तिशाली राजाओं के भी निरंकुश हो जाने की सम्भावनाएँ कम थीं । इसी प्रकार के मन्त्रियों में जयसिंह **सिद्धराज** के मंत्री सांतू अथवा चाहमान शासक तृतीय पृथ्वीराज के मन्त्री कदम्बवास और भुवनैकमल्ल की गिनती की जा सकती है ।

राजाओं के नियमन में राजदरबार में सामन्तों का होना, सफल राजतन्त्र के लिए जनता का समर्थन आवश्यक होना, विभिन्न वर्गों के धर्मों, समयों और देशाचारों की स्वीकृति की अनिवार्यता जैसे तत्त्व भी काफी दूर तक सहायक सिद्ध होते थे । वास्तव में प्राचीन भारतीय राजाओं के शासन-सम्बन्धी मुख्य कार्य शान्ति और सुव्यवस्था बनाये रखने तक सीमित थे और इन्हें इतना मात्र देखना था कि वर्णाश्रम धर्म और त्रिवर्ग-प्राप्ति के नियमों का सबके द्वारा पालन होता रहे । ये नियम स्वयं समाज द्वारा निर्मित्त होते थे और राजा उनमें अपनी ओर से कोई परिवर्त्तन नहीं कर सकता था । जनता के विभिन्न वर्गों के नित्यप्रति के जीवन में राजा का कोई हस्तक्षेप न था । नीलकान्त शास्त्री के शब्दों[२] में समाज का वास्तविक जीवन तो 'संगठनों में चलता था—मन्दिरों में, मठों में, विहारों में, गाँवों में, जातीय संगठनों में, व्यापारियों की श्रेणियों में—जो सबके सब राज्य से अलग स्वतन्त्र रूप में चलते थे और राजा के पास तभी जाते थे, जब वे आपस में लड़ने की स्थिति में हो जाते थे, उनका आपसी समन्वय नहीं हो पाता था और जब झगड़ों को

१. देखिए, पीछे पृष्ठ २५२; निमाई सधन बोस, हिस्ट्री ऑफ् दि चन्देलज्, पृष्ठ १२३ ।
२. पी० के० गोडे स्मृतिग्रन्थ, पृष्ठ ३७१ ।

शान्त करने के लिए वे कोई मध्यस्थ चाहते थे । जब तक बिना किसी संघर्ष के वे अपने क्रियाकलापों में रत रहतें, तब तक राजा का सामाजिक जीवन में कोई भी स्थान नहीं था'।

राज्य अथवा साम्राज्य का प्रधान राजा अथवा सम्राट् हुआ करता था । पूर्ण राज-नीतिक और सैनिक स्वतन्त्रता का भोग न करने वाले शासकगण अपने को केवल **राजा नृप, महीपति महीपाल, क्षितिप** अथवा **महाराज** कहते थे । जो पूर्णतः स्वतंत्र अथवा सम्राट् का रूप धारण करने वाले होते थे, वे अपने को **महाराजाधिराज, परमेश्वर, परमभट्टारक, सकलसामंतचक्रचूड़ामणि** जैसे अनेक विरुदों से अलंकृत किया करते थे । अन्यान्य राजवंशों में इनके अतिरिक्त भी कई विरुद धारण करने की परम्परायें प्रच-लित थीं । ऐसे विरुद या तो धार्मिक होते थे अथवा विभिन्न क्षेत्रों पर विजयों के द्योतक होते थे । राज्यवर्धन **परमसौगत** कहलाता था और चौलुक्य कुमारपाल का एक विरुद **परमाहर्त्त** तथा दूसरा **उमापतिवरलब्धप्रसाद** था । बाणभट्ट हर्षवर्धन को **सर्वदेवता-वतार** कहता है तथा प्रतीहार शासक अपने को **नारायण, आदिवराह, मिहिर, प्रभास, निर्भयनरेन्द्र** और **परममाहेश्वर** जैसे विरुद देते थे । सेनों ने **अरिराजवृषभशंकर** और **वृषभशंकर** अथवा **अरिराजमदनशंकर** और **परमसौर** जैसे विरुद धारण किये । ये सभी विभिन्न सम्राटों की या तो निजी धार्मिक प्रवृत्ति के द्योतक हैं अथवा (नागभट्ट और प्रतीहार प्रथम भोज के सम्बन्ध में) म्लेच्छों (मुसलमानों) की विभीषिका का अन्त करने वाले भगवान् विष्णु के अवताररूप (वराह, नारायण आदि) के द्योतक हैं । सेन, कलचुरि और कुछ गाहडवाल शासकों ने तीनों कलिंगों और **हयपति, गजपति** और **नरपति** विरुदधारी राजाओं पर विजय प्राप्त करने के उपलक्ष्य में अपने को **त्रिकलिंगा-धिपति** अथवा **राजत्रयाधिपति** भी कहा । हाथियों की अधिकता के कारण बंगाल के शासक **गजपति** कहलाते थे और एक बढ़िया घुड़सवार सेना रखने के कारण कन्नौज के शासक **हयपति** कहे जाते थे । एक अच्छी पदाति सेना के कारण उड़ीसा के शासक **नरपति** कहलाते थे । यह भी ज्ञात है कि कलचुरी शासक अपने को नरपति और गजपति कहते थे । **प्रतापशील, आहवमल्ल, प्रतापलंकेश्वर, त्रिविक्रम, विक्रमादित्य साहसांक, नवसाहसांक अकालवर्ष, धारावर्ष, प्रभूतवर्ष, श्रीवल्लभ** जैसी अनेक उपाधियाँ या तो वीरता की सूचक थीं अथवा राजाओं की दानप्रवृत्ति की द्योतक थीं । **कविबान्धव, कविराज और मालवचक्रवर्ती** चतुर्थ विग्रहराज चाहमान और भोज परमार के निजी विरुद थे, जो या तो उनके विद्या और विद्वानों को दिये जाने वाले आश्रय के द्योतक थे अथवा उनकी क्षेत्रीय संप्रभुत्ता के द्योतक थे । इसी प्रकार **सिद्धराज** और **सिद्धश्चक्रवर्ती** चौलुक्य शासक जयसिंह के निजी विरुदावली के अंग थे ।

राजा के मुख्यतः तीन प्रकार के कर्तव्य हुआ करते थे—सम्पूर्ण राज्य के शासन का संचालन और उस हेतु सारी नौकरशाही के कार्यों का संवीक्षण, नियंत्रण और मार्गनिर्देशन, युद्ध के समय सेना का नेतृत्त्व तथा शान्ति के समय उसकी शिक्षा-प्रशिक्षा

का प्रबन्ध एवं सैनिक परेड का निरीक्षण तथा न्याय सम्बन्धी मुकदमों का निर्णय। ये सारे कार्य वह अनेक प्रकार के अधिकारियों के माध्यम से करता था। राजकीय उत्तराधिकार प्रायः पैतृक होता था और राजा का जेठा पुत्र ही राज्याधिकारी होता था। दक्षिणापथ के राष्ट्रकूट राज्य में कभी-कभी जेठे पुत्रों की अयोग्यता के कारण छोटे पुत्रों को भी राज्याधिकार प्राप्त हुआ था, जिसमें दिवंगत राजा का पूर्वनिर्णय भी कारण था। इसका सर्वप्रमुख उदाहरण तृतीय गोविन्द था। किन्तु इस व्यतिरेक के परिणामस्वरूप ही राष्ट्रकूट राज्य में अनेक बार उत्तराधिकार के संघर्ष उठ खड़े हुए। पुत्रों के अभाव में कभी-कभी राज्याधिकार छोटे भाइयों को मिल जाता था। प्रायः राजागण अपने उत्तराधिकारियों को अपने जीते जी ही निश्चितकर उन्हें **युवराज** घोषित कर दिया करते थे अथवा कभी-कभी तो उन्हें राजगद्दी पर बिठाकर स्वयं सन्यास ले लिया करते थे। युवराजों के राज्याभिषेक के भी प्रमाण प्राप्त होते हैं[१]। गाहडवाल अभिलेखों में **युवराज समस्तराजक्रियोपेत** अथवा **महाराजपुत्र** कहा गया है, जिससे प्रतीत होता है कि वे शासन में राजाओं की पूरी भागीदारी करते थे। कभी-कभी राजाओं के अपुत्रक होने पर उनके छोटे भाई ही युवराज घोषित कर दिये जाते थे। मेरुतुंगकृत **प्रबन्धचिन्तामणि** और जयानकभट्ट के **पृथ्वीराजविजय** से यह ज्ञात होता है कि **युवराज** की शिक्षा-दीक्षा का उत्तम प्रबन्ध किया जाता था।[२]

युवराज के अतिरिक्त रानियाँ भी, या तो राजाओं की बीमारी के समय अथवा राज्य के पुरुष उत्तराधिकारी को अल्पवयस्कता के समय, संरक्षिकारूप में शासनभार चलाती हुई दिखायी देती हैं। गाहडवाल राजा मदनपाल की रानी पृथ्वीसीका, तृतीय पृथ्वीराज चाहमान की माता कर्पूरदेवी और जयसिंह **सिद्धराज** चौलुक्य की माता मयणल्लादेवी इस प्रकार की संरक्षिका शासिकाओं के प्रमुख उदाहरणों में गिनी जा सकती हैं। कश्मीर की अत्यन्त महत्त्वाकांक्षी रानी दिद्दा पहले तो संरक्षिका रही, परन्तु बाद में उसने अनेक षडयन्त्रों के माध्यम से स्वयं राजगद्दी हथिया ली। किन्तु इसे अपवादस्वरूप ही माना जा सकता है। ये रानियाँ **महिषी, राजमहिषी** अथवा **महादेवी** कहलाती थीं।

राजदरबार छोटे-बड़े सामन्तों और अनेक प्रकार के मंत्रियों एवं राज्याधिकारियों से भरा रहता था। प्रतीहार अभिलेखों में राज्याधिकारियों को **राजपुरुष** की संज्ञा दी गयी है। **मंत्री, महाप्रतीहार, महासामन्त महापुरोहित, धर्मस्थीय, वंदिन्** अथवा **वंदिपुत्र** जैसे अनेक राजदरबारी या तो सैनिक सेवाओं के संबंध में या धार्मिक क्रियाकलापों के सिलसिले में अथवा राजा की प्रशस्तियों को गाने के लिए राजदरबार में उपस्थित हुआ करते थे। किन्तु वहाँ सबसे मुख्य स्थान रखने वाले मंत्री लोग ही होते थे, जिनसे परामर्श

---

१. एइ० जिल्द ४, पृष्ठ ११८।

२. देखिए, पीछे पृष्ठ ४७३।

करना और प्राय: तदनुसार कार्य करना राजा आवश्यक मानता था। राजस्थान और गुजरात के जीवन की प्रभूत जानकारी रखने वाले तत्युगीन लेखक महेश्वरसूरि ने कहा है कि 'वास्तव में मंत्री ही इस लोक का शासक है, क्योंकि सारी कटक (सेना अथवा नौकरशाही) उसी की आज्ञाओं का वहन करती है। यदि विपत्तियों को बचाने के लिए मन्त्री न हो तो राजा का नाम ही समाप्त हो जायगा'।[१] तथापि मन्त्रियों के जो भी अधिकार थे वे राजाओं द्वारा ही प्रदत्त थे'। अत: केवल भरपूर योग्यता और ऊँचे व्यक्तित्त्व वाले मन्त्री ही राजाओं पर पूरा प्रभाव और नियंत्रण रख सकते थे। मुख्यमन्त्री को **मंत्री, प्रधानामात्य** अथवा **महामन्त्री** कहा जाता था, जो प्राय: आनुवंशिक क्रम से अपने पद पर नियुक्त किया जाता था। कुछ पाल और चन्देल अभिलेखों से यह पूरी तरह स्पष्ट है।[२] **राजपुरोहित** भी प्राय: आनुवंशिक ही होता था। अभिलेखों में जिस मन्त्री का सर्वाधिक उल्लेख हुआ है, वह **सांधिविग्रही** अथवा **महासांधिविग्रहिक** कहलाता था। प्राय: इस पर बड़े-बड़े शास्त्रज्ञ विद्वान्, जैसे लक्ष्मीधर, ही नियुक्त किये जाते थे। जैसा कि उसके विरुद से स्पष्ट है, वह युद्ध और शान्ति का मंत्री होता था। वही विदेशी राजाओं के पास भेजे जाने वाले पत्रों, राजकीय आलेखों, घोषणाओं और दानपत्रों के मसौदे भी तैयार करता था।[३] कभी-कभी वह एक राज्य का प्रतिनिधि होकर दूसरे राजदरबार में भी जाता था। भोज के दरबार में भीम चौलुक्य द्वारा भेजे गये डामर नामक **सांधिविग्रहिक** की जानकारी **प्रबन्धचिन्तामणि** से होती है।[४]

अक्षपटलाधिकृत अक्षपटल[५] का प्रधान अधिकारी होता था। राज्य में वह राजकीय कागजपत्रों के रखरखाव और गणना सम्बन्धी सबसे बड़ा अधिकारी था। उसके ही कार्यालय में दानपत्रों का निबन्धन होता था । मेवाड़ के शासक अल्लट के मयूर और समुद्र नामक दो अक्षपटलिकों की जानकारी प्राप्त होती है।[६]

---

१. जिनपञ्चमीकथा, पंचम, २५वाँ और आगे।

२. इस सम्बन्ध में देखिए, याज्ञवल्क्यस्मृति, प्रथम, ३१९; नारायणपाल का बादाल-स्तम्भ अभिलेख, एइ०, जिल्द २, पृष्ठ १६१ और आगे।

३. प्रचिद्वि०, पृष्ठ ३७ और आगे।

४. देखिए प्रथम भोज की ग्वालियर (सागरताल) प्रशस्ति, श्लोक १८, एइ०, जिल्द १८वाँ, पृ० १०८ और आगे।

५. कश्मीर के इतिहास से ज्ञात होता है (राज०, षष्ठम, ३८) कि दानपत्रों का अक्ष-पटल में शीघ्रातिशीघ्र निबन्धन आवश्यक था।

६. गौ० ही० ओझा, उदयपुर का इतिहास, जिल्द १, पृष्ठ २२; कुछ गाहडवाल और चौलुक्य अभिलेखों (एइ०; जिल्द १४, पृष्ठ १९३) में उसे अक्षपटलिक अथवा मोहाक्षपटलक कहा गया है। नारायणपाल के भागलपुर अभिलेख (एइ० जिल्द १५, पृष्ठ ३०४ और आगे) में भी उसे महाक्षपटलिक कहा गया है।

भाण्डागारिक राजकीय कोठारों अथवा भण्डारों का मुख्य अधिकारी था, जिसे **अमात्य** की संज्ञा दी गयी है । दशरथ शर्मा के मत में उसकी तुलना कौटिलीय **अर्थ-शास्त्र** में उल्लिखित **सन्निधाता** से की जा सकती है ।[१]

महाप्रतीहार अथवा **दौवारिक** राजदरबार में आने-जाने वाले लोगों का नियन्त्रण करता था । इस पद का महत्त्व इस बात से समझा जा सकता है कि प्रतीहारों के समय का सीयदोणी अभिलेख[२] उण्डभट नामक **महाप्रतीहार** को **महासामन्त** और **महासामन्ता-धिपति** भी कहता है । नारायणपाल के भागलपुर अभिलेख में भी उसका उल्लेख है ।

महादण्डनायक सेना का प्रधान और राजा का मुख्य सैनिक सलाहकार हुआ करता था । नवविजित प्रान्तों पर सैनिक दृष्टि और उनके नागरिक शासन का भी उत्तर-दायित्त्व कभी-कभी वह संभालता था । इसे **दण्डाधिपति, वाहिनीपति, महावाहिनी-पति महासेनाधिपति** अथवा **महादण्डाधिपति** भी कहा जाता था ।[३]

धर्मस्थ अथवा **धर्मस्थीय** न्याय वितरण का प्रधान अधिकारी अथवा न्यायाधीश हुआ करता था । कौटिल्य के **अर्थशास्त्र** में भी उसका उल्लेख प्राप्त होता है ।

महापुरोहित राजा और राज्य के आध्यात्मिक मसलों का प्रमुख अधिकारी और राजा का परामर्शदाता था ।

नारायणपाल के भागलपुर अभिलेख में (इऐ० जिल्द १५, पृष्ठ ३०४ और आगे) **भहादौःसाध्यसाधनिक** नामक एक अधिकारी का उल्लेख है, जिसे चि० वि०, वैद्य महोदय सैनिक विषयों का मुख्य अफसर कहते हैं ।[४] उसके अतिरिक्त वहाँ **महाकुमारा-मात्य** (राजा के पुत्रों—कुमारों से सम्बद्ध मुख्य अधिकारी) और **महाकार्मान्तिक** (अस्पष्ट) नामक कुछ और भी केन्द्रीय अधिकारियों के उल्लेख मिलते हैं ।

विभागीय अध्यक्षों अथवा अमात्यों की सहायता में अनेक छोटे राजपुरुष अथवा अधिकारी नियुक्त हुआ करते थे । **नियुक्तक, अनियुक्तक** अथवा **तन्नियुक्तक** नामक राजपुरुषों के उल्लेख मथनदेव के राजोर अभिलेख (एइ०, तृतीय, २६२-३६७) में प्राप्त होते हैं ।[५] यद्यपि इन पदों के वास्तविक तात्पर्य क्या थे अथवा उनपर विद्यमान

---

१. अर्ली चौहान डाइनस्टीज्, पृष्ठ २०० ।

२. पाँचवी पक्ति, देखिए, पीछे पृष्ठ १५१ ।

३. देखिए दशरथ शर्मा, राजस्थान थ्रू दि एजेज्, जिल्द १, पृष्ठ ३३१ ! नारायणपाल का भागलपुर अभिलेख, इऐ० जिल्द १५, पृष्ठ ३०४ और आगे ।

४. हिमेहिइ०, जिल्द २, पृष्ठ २३१ ।

५. इनकी चर्चाएँ नारायणपाल के भागलपुर अभिलेख और राष्ट्रकूट अभिलेखों में भी आती हैं ।

सेवकों के ठीक-ठीक कार्य क्या थे, इसका ठीक-ठीक अनुमान लगाना कठिन है। तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि वे बड़े अधिकारियों के निजी अथवा निचले सहायक थे। उपर्युक्त राजोर अभिलेख के अतिरिक्त कुछ कलचुरि अभिलेखों में भी **गामागमिक** का उल्लेख है। विद्वानों के मत में वह राज्य अथवा किसी क्षेत्र विशेष के बाहर और भीतर जाने वालों को अनुमतिपत्र दिया करता था अथवा स्वयं सन्देशवाहक का काम करता था।[१]

व्यावहारिन् नामक अधिकारी का उल्लेख मिहिरभोज के बराह और दौलतपुर अभिलेखों में इस सन्दर्भ में हुआ है[२] कि रामभद्र के शासन के दिनों में इन अधिकारियों की अयोग्यता के कारण पहले दिए हुए कुछ दानवाले ग्रामों का उपभोग मूल दान प्राप्त-कर्त्ताओं को नहीं हो रहा था। सन्दर्भों और **व्यावहारिन्** पदनाम से भी यह प्रतीत होता है कि वे न्यायाधिकारी थे, जिनका यह कार्य था कि वे सम्बद्ध दानपत्रों को देखकर अप-हरणकर्त्ता के अधिकार से भूमि को उसके वास्तविक स्वामी (मूलदानप्राप्तकर्त्ता) को सौपें।

भुक्ति एवं अन्य छोटी-छोटी प्रशासनिक इकाइयाँ

भौगोलिक दृष्टि से सम्बद्ध युग का सबसे बड़ा और अपेक्षाकृत दीर्घजीवी साम्राज्य कन्नौज के गुर्जर प्रतीहारों का ही था। किन्तु धंग—विद्याधर चन्देल, गोविन्दचन्द्र-जयच्चन्द्र गाहडवाल, चतुर्थ विग्रहराज—तृतीय पृथ्वीराज चाहमान, धर्मपाल-देवपाल पाल, जयसिंह **सिद्धराज**—कुमारपाल चौलुक्य और लक्ष्मीकर्ण कलचुरि जैसे कुछ अन्य सम्राटों के अधीन सम्बद्ध राजवंशों का स्वरूप साम्राज्यभोगी हो गया था। यह अ-सम्भव था कि उन सबके विशाल क्षेत्र केवल केन्द्र से प्रशासित हो जाते। हमें ज्ञात है कि उनके प्रशासन के लिए उनका अनेक बड़ी-छोटी प्रशासकीय इकाइयों में बँटवारा हुआ था। विभिन्न साम्राज्यों के भीतर उनकी अधिसत्ता को स्वीकृति देने वाले और उनके युद्धों में भाग लेने वाले सामन्त राज्यों की संख्यायें इतनी अधिक थीं कि उन सबकी यहाँ गिनती भी नहीं की जा सकती। वे सभी साम्राज्य के भीतर अलग-अलग प्रशासकीय इकाइयों के रूप में अपनी अलग-अलग प्रशासकीय व्यवस्था का भोग करते थे। किन्तु उनके अतिरिक्त भी प्रत्येक साम्राज्यक्षेत्र, क्षेत्र की विशालता के अनुपात में, भुक्तियों, मण्डलों, विषयों, पठकों (पथकों), चतुरशीतिकाओं और द्वादशकों नामक स्थानीय प्रशासकीय इकाइयों में बँटे होते थे। प्रथम भोज के बराह और दौलतपुर तथा प्रथम महेन्द्रपाल के

---

१. देखिए, मिराशी, कार्पस्, जिल्द ४, पृष्ठ २१; वोगेल, हिस्ट्री ऑफ् बेंगाल्, जिल्द १, पृष्ठ २८५।

२. एइ०, जिल्द १६, पृष्ठ १५, २४।

डिधवा दुबौली अभिलेखों से कान्यकुब्जभुक्ति, श्रास्वतीभुक्ति और गुर्जरात्राभूमि (भुक्ति) तथा देण्डवानक विषय एवं वालीयक विषय[१] का ज्ञान प्राप्त होता है। काल-ञ्जर और श्रावस्ती भुक्तियों के साथ ही साथ तन्नामक मण्डलों के भी प्रधान **अधिकरण** स्थान थे। विनायकपाल के बेंगाल एशियाटिक सोसायटी अभिलेख (इऐ० जिल्द १५, पृष्ठ १४०) से प्रतिष्ठानभुक्ति और वाराणसी विषय की भी जानकारी होती है। वाराणसी विषय में काशीपारपथक का उल्लेख आता है[२] और द्वितीय महेन्द्रपाल के प्रतापगढ़ अभिलेख में दशपुरपश्चिमपथक की चर्चा है। डॉ० दशरथ शर्मा के मत में[३] पथक कई गावों के एक समूह को मिलाकर बनता था और ग्रामों की संख्या के आधार पर उसको अलग-अलग संख्या विशेष की सूचक संज्ञाएँ भी होती थीं, यथा चतुरशीतिक पथक आदि। प्रत्येक पथक में अनेक ग्राम हुआ करते थे, जो प्रशासन की सबसे छोटी, किन्तु कई दृष्टियों से बहुत ही महत्त्वपूर्ण, प्रशासकीय इकाई हुआ करते थे।

भुक्तियों के ऊपर शासनसूत्र को चलाने वाले अधिकारियों, राज्यपालों, सूबेदारों अथवा गर्वनरों की गुप्तयुगीन पदसंज्ञाएँ **भोगिक, भोगपति** अथवा **उपरिक महाराज** थीं। इस युग के अभिलेखों अथवा पुस्तकों में इन शब्दों का प्रयोग बहुत ही कम मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँ भुक्ति और मण्डल की इकाइयाँ एक ही स्थान पर थीं, उनके प्रधानों को **महामाण्डलिक** अथवा **महामण्डलाधिपति** कहा जाता था[४]। किन्तु **उमापतिभवप्रपञ्चकथा** नामक एक तत्कालीन ग्रन्थ और प्रतीहारों एवं चाहमानों के अभिलेखों में **तंत्रपाल** पदधारी अधिकारी के बार-बार उल्लेख प्राप्त होते हैं। 'तंत्र' अर्थात् प्रशासन का 'पाल' अथवा चलाने वाला यह व्यक्ति संभवतः भुक्ति का ही प्रधान शासक होता था। संबद्ध स्थलों से यह जान पड़ता है कि उसके मुख्य कार्य थे—सामन्तों का नियंत्रण; साम्राज्य की सीमाओं पर प्रतिरक्षात्मक दृष्टि रखना और आवश्यक होने पर शस्त्र और नीति का प्रयोग; और अपने स्वामी (सम्राट्) की प्रतिनिधि की हैसियत से दानपत्रों अथवा राजकीय आदेशों का प्रतिसारण। कोट्ट सम्भवतः पुरों अथवा पुरों (किलों-दुर्गों) सहित उनके आसपास की कुछ भूमि सहित क्षेत्रों को कहते थे, जो अपने में ही प्रशासनिक इकाइयों का निर्माण करते थे। इनके प्रशासकों को **कोट्टपाल** कहा जाता था, जो प्रतीहार अभिलेखों में उल्लिखित है। नारायणपाल के भागलपुर फलक (इऐ०, जिल्द १५, पृष्ठ ३०४ और आगे) में **रास्थानीयोपपिक** नामक एक

---

१. देखिए, पीछे, पृष्ठ १४२, १५१।

२. देखिए, दशरथ शर्मा, राजस्थान थ्रू दि एजेज्, जिल्द १, पृष्ठ ३४५।

३. वहीं, पृष्ठ ३४५।

४. वहीं, पृष्ठ ३४६।

अधिकारी का उल्लेख है। यह भुक्ति के प्रशासक, का ही पर्यायवाची है या नहीं, इस संबंध में कुछ भी निश्चयात्मक रूप में नहीं कहा जा सकता। द्वितीय महेन्द्रपाल के प्रतापगढ़ अभिलेख में **तंत्रपाल** को **महादण्डनायक** और **महासामन्त** भी कहा गया है, जिससे यह प्रतीत होता है कि उनके अधिकार में अपनी आवश्यकताभर एक सैनिक टुकड़ी भी होती थी।

महीपाल के समय सुराष्ट्र में अन्यान्य अधिकारियों की सूची में **राष्ट्रपति** नाम (पद) धारी एक अधिकारी का उल्लेख है। असंभव नहीं है कि **भुक्ति** को उस समय राष्ट्र भी कहा जाता रहा हो और उसका प्रधान **राष्ट्रपति** कहा जाता हो। किन्तु साथ ही साथ वहाँ **भोगिक** का भी उल्लेख हैं[1]। इसी प्रकार **भहत्तर** और **ग्रामपति** का भी साथ ही उल्लेख हुआ है। **भोगिक** अथवा **राष्ट्रपति** के कार्यों में आन्तरिक शान्ति बनाये रखना और बाहरी आक्रमणों से अपने शासित क्षेत्र की रक्षा का उपाय करना मुख्य था। अतः उसमें सैनिक योग्यता का होना आवश्यक था। मण्डलों और पथकों के अधिकारियों के बहुत उल्लेख नहीं प्राप्त होते। संभवतः मण्डल के प्रधान अधिकारियों को **मण्डलपति** कहा जाता था। विभिन्न पथकों में जितने ग्राम होते थे, उनकी संख्या के आधार पर चतुरशितिका (८४) अथवा द्वादशक (१२) की पदसंख्यायें प्राप्त होती थीं। ग्रामों के प्रधान अधिकारियों को **ग्रामिक, ग्रामपति** अथवा **महत्तर** अथवा **ग्राममहत्तर** कहा जाता था।

स्थानीय प्रशासन

स्थानीय प्रशासन का कोई विशद व्यौरा तत्युगीन अभिलेखों से नहीं प्राप्त होता। तथापि यत्रतत्र प्राप्त सूचनाओं के आधार पर उसका कुछ स्वरूप निर्धारित किया जा सकता है। प्रतीहार सम्राट् प्रथम भोज के समय के एक अभिलेख (एइ०, जिल्द १, पृष्ठ १५९) से यह ज्ञात होता है कि ग्वालियर के किले और उसके आसपास के क्षेत्रों के शासन से सम्बद्ध वहाँ अल्ल नामक **कोट्टपाल,** तत्तक नामक **बलाधिकृत** और श्रेष्ठी वव्वीयाक नामक **स्थानीय** (नागरक) नियुक्त थे[2]। स्पष्ट है कि केन्द्रीय शासन द्वारा नियुक्त कोट्टपाल कोट्ट के नागरशासन का प्रधान होते हुए सभी नागर और सैनिक अधिकारों का भोग नहीं करता था। **बलाधिकृत** भी सम्भवतः केन्द्र द्वारा ही नियुक्त होता था और कोट्ट की रक्षा के लिये नियुक्त बल अर्थात् सेना का उच्चतम अधिकारी था, किन्तु

१. देखिए, दशरथ शर्मा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ३४८। राष्ट्रकूट राज्य में राष्ट्र शब्द का प्रयोग सम्भवतः उत्तर भारत में व्यवहृत भुक्ति के लिए ही है। इसका क्षेत्र आजकल की कमिश्नरी के बराबर होता था। देखिए, अ० स० अल्तेकर, स्टेट ऐण्ड गवर्नमेण्ट इन् एशियेण्ट इण्डिया, पृष्ठ २०९।

२. परमेश्वर श्रीभोजदेवेन तदधिकृत कोट्टपाल अल्ले बलाधिकृत तत्तके स्थानाधिकृत श्रेष्ठी वव्वीयाके। एइ०, जिल्द १, पृष्ठ १५४-१६०।

उसकी आधिकारिक स्थिति **कोट्टपाल** के नीचे ही होती[१] थी। इसी क्रम में वहाँ के स्थानीय (नागर) प्रशासन में **स्थानीय** नामक एक अन्य अधिकारी भी था, जिसकी शासन में सहायता हेतु कदाचित् एक परिषद्[२] भी होती थी। अतः वव्वीयाक का 'श्रेष्ठी' कहा जाना इस बात का द्योतक है कि इन नगरों में (जो विषय के प्रधान नगर होने के साथ ही साथ दुर्ग भी थे) गुप्त युग की तरह ही व्यावसायिक वर्ग का स्थानीय शासन में प्रमुख हाथ था, जिसकी स्थानीय बाजारों के नियंत्रण में प्रमुख भूमिका होती थी। 'स्थान' अर्थात् नगरों की सभाएँ और हाटों का नियन्त्रण करने वाले व्यापारी धार्मिक अथवा वैसी अन्य स्थानीय आवश्यकताओं के लिये—विशेषतः मन्दिरों का व्यय चलाने हेतु—बाजारों में बिकने वाली वस्तुओं पर कभी-कभी कर लगाकर अपने सामाजिक उत्तर-दायित्त्वों का निर्वाह करते थे। सीयदोणी से प्राप्त होने वाले[३] अनेक लेखों में एक संग्रह से इस प्रकार के करों का परिचय प्राप्त होता है। ज्ञात होता है कि कुछ निश्चित दुकानों के किरायों, वीथिकाओं (?) से प्राप्त आय अथवा शराब बनाने वाले कलालों की बिक्री के कुछ भाग की आय से एक विष्णुमन्दिर के व्ययों को चलाने के लिये एक स्थायी निधि (अक्षयनीविक) स्थापित की गयी। इसी प्रकार ८८२ ई० के पेहोवा (पृथूदक) से प्राप्त एक अभिलेख की सूचना है कि वहाँ लगने वाले एक पशुमेले में घोड़ों के व्यापारियों ने आपस में समझौता करके अपने लाभांश का एक भाग कन्नौज के तीन मंदिरों और सरस्वती नदी के किनारे पृथूदक में निर्मित एक अन्य मंदिर के खर्चों के लिए निकालने का निश्चय किया। ऐसा प्रतीत होता है कि ग्वालियर की तरह पृथूदक में भी एक **स्थानीय** (नगरसभा) थी, जिसका वहाँ अपना **करण** या **अधिकरण** अथवा कार्यालय[४] था, जिसका प्रधान **करणिक** कहा जाता था। वही ऊपर वर्णित अनुबन्धों का अपने कार्यालय के कागजपत्रों में निबन्धन करता था। सीयदोणी अभिलेख से ज्ञात होता है कि **स्थानीय** (मुख्य नगर सभा) के अतिरिक्त बड़े-बड़े नगरों में **कौप्तिक मण्ड-पिका** और **पञ्चकुल** नामक और संस्थायें भी थीं। यहाँ **कौप्तिक** का अभिप्राय स्पष्ट नहीं है[५]। **मण्डपिका** कदाचित् उस स्थान का नाम था जहाँ राजकीय शुल्क वसूल करने

---

१. इस संबंध में देखिए, अ० स० अल्तेकर, स्टेट ऐण्ड गवर्नमेण्ट इन् ऐंशियेन्ट इण्डिया, पृष्ठ २२१; दशरथ शर्मा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २२१, ३४९। कोट्टपाल कहीं-कहीं पुरपाल भी कहा जाता था।

२. अ० स० अल्तेकर, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २२१।

३. एइ०; जिल्द १, पृष्ठ १७४, १८७।

४. देखिए, एइ०, जिल्द १, पृष्ठ ११८, ३९वीं पंक्ति।

५. अ० स० अल्तेकर के मत में कौप्तिक बाजार से प्राप्त होने वाले करों को वसूलता था, जो स्थानीय व्ययों को चलाने का एक मुख्य स्रोत था। देखिये स्टेट ऐण्ड गवर्नमेण्ट इन् एशियेण्ट इण्डिया, पृष्ठ २२२।

वाले (शुल्काध्यक्ष) नगर के मुख्य द्वार के बाहर अपना मण्डप स्थापित करते थे। शासन द्वारा निश्चित करों की वहाँ वसूली होती थी और वहीं से स्थानीय खर्चों के लिये (सामाजिक संस्थाओं को दिये जाने वाले दान उसमें सम्मिलित थे) आवश्यक द्रव्य दिये जाते थे। **मण्डपिका** के सदस्यों को **महाजन** अथवा **नगर महन्तक** कहा जाता था। **समराइच्चकहा** में उल्लेख है (पृष्ठ ११२) कि एक बार नगरमहत्तकों ने करणिकों के साथ एक चोरी के मामले की जाँच की।

पञ्चकुल नामक नगरों की संस्थायें कदाचित् आधुनिक पंचायतों का प्राचीन रूप थीं। प्रतीहार अभिलेखों से ज्ञात होता है कि इन पञ्चकुलों में विभिन्न दानपत्रों का निबंधन होता था। गुजरात की प्रशासकीय और ऐतिहासिक विशेषताओं का परिचय देने वाली तत्कालीन पुस्तक **लेखपद्धति**[१] से तथा उस क्षेत्र के अभिलेखों से यह प्रतीत होता है कि **पञ्चकुल** परस्पर संघर्षरत पक्षों में समझौता कराती थी, व्यापारियों को बिक्री और छूट संबंधी प्रमाणपत्र देती थी, राजकीय करों को वसूलती थी[२] और व्यक्तिगत रूप से जारी किये गये दानपत्रों (धार्मिक और लौकिक दोनों ही प्रकार के) का निबंधन करती थी। न्यास-धन का प्रबन्ध और जनकार्यों के लिये धन की व्यवस्था करना भी इसके कार्य थे। **पञ्चकुल** शब्द से यह तात्पर्य नहीं है कि इस संस्था की सदस्यसंख्या सर्वदा पाँच ही होती थी। कदाचित् नगरों के अनेक वार्डों की ओर से बड़ी संख्या में जनप्रतिनिधि इसमें इकट्ठे होते थे। इन पञ्चकुलों की कार्यकारिणी समितियाँ होती थीं जिन्हें मध्यप्रदेश और राजस्थान में १०वीं-११वीं शताब्दियों में **वार** कहा जाता था। संभवतः इसके सदस्यों के बारी-बारी से चुने जाने के कारण इसका नामकरण **वार** हो गया[३]। पञ्चकुलों के कार्यालय को राजपूताना में **स्थान** कहा जाता था जहाँ एक **करणिक** सभी कागज पत्रों का निबंधन और उनका रखरखाव करता था[४]।

नगरों और ग्रामीण क्षेत्रों में नियुक्त अनेक प्रकार की राजसेवाओं में रत कुछ अन्य अधिकारियों की भी सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। उनमें प्रमुख थे :—

पट्टकील—उसे आजकल पटेलों से मिलाया जाता है, जो ग्रामकरों की वसूली करते थे।

---

१. इस सम्बन्ध में देखिए, दशरथ शर्मा, अर्ली चौहान हाइनेस्टीज्, पृष्ठ २०४-२०५।

२. नगरसभायें (पञ्चकुल) नगरों में लगने वाले केन्द्रीय पथकर अथवा नगरकर को भी वसूल करती थीं। प्रबन्धचिन्तामणि से ज्ञात है कि बाहुलोडनगर में लगने वाला तीर्थकर ऐसा ही एक कर था। देखिए, प्रचिद्वि, पृ० ६८-६९।

३. अ० स० अल्तेकर, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २२१-२२२।

४. लिखितं स्थानानुमतेन करणिकसर्वहारिणा। एइ०, जिल्द १, पृष्ठ ७९।

बलाधिप चुंगीघरों (मण्डपिका) की रक्षा करने वाला सैनिक अधिकारी था। उसे वेतन के रूप में करों का कुछ भाग प्राप्त होता था, जिसे **बालाधिपाभाव्य** कहा जाता था।

तलार—उसके **पुराध्यक्ष** और **नगररक्षक** जैसे विरुदों से प्रतीत होता है कि नगरों की रक्षा उसका प्रधान कर्त्तव्य था। संभवतः वह रात्रि में पहरा देने वालों का प्रधान था[१]। नगरों के पार्श्ववर्त्ती ग्रामों से संबन्धित अधिकारी **शेलहथ** कहा जाता था[२]।

ग्राम प्रशासन

अत्यन्त प्राचीन काल से ही भारतवर्ष में ग्राम सारे प्रशासन की धुरी थे। गाँवों के प्रधान अधिकारी को उत्तरी भारत में संबद्ध युग के प्रारम्भिक युग में **ग्रामिक** अथवा **ग्रामियक** और बाद में **महत्तक** अथवा **महन्तक** तथा महाराष्ट्र में **ग्रामकूट** अथवा **पट्ट-कील** कहा जाता था[३]। ग्रामशासन में वह सर्वमुख्य स्थान रखता था। गाहडवाल अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उस वंश के शासक प्रायः ग्रामप्रधानों से परामर्श करते थे[४]। ग्रामप्रधान संबद्ध ग्राम का निवासी होता था, किन्तु उसकी नियुक्ति राजा की ओर से होती थी और आवश्यक होने पर केन्द्रीय शासन द्वारा उसके कार्यों पर नियंत्रण भी किया जाता था। उसका प्रधान कार्य गाँव की चोर डाकुओं और अन्य असामाजिक तत्त्वों से रक्षा करना था और उस हेतु उसके नियंत्रण और नेतृत्त्व में ग्रामीणों का ही एक दल पहरे-दारों के रूप में रहता था। उसके अन्य कार्यों में ग्राम पर लगाये जाने वाले केन्द्रीय करों की वसूली, ग्राम के कागजपत्रों और आलेख्यों की सुरक्षा, ग्रामसभा की उसके अधि-वेशनों के समय अध्यक्षता, भूमि आदि के हस्तान्तरण संबन्धी आलेखों को तैयार करना तथा गाँव की सार्वजनिक संपत्ति का हिसाब रखना एवं उसकी रक्षा करना था। इन व्यापक अधिकारों अथवा उत्तरदायित्त्वों से ही उसके पद की महत्ता का अनुमान लगाया जा सकता है, और संभवतः यही कारण है कि **शुक्रनीति**[५] में उसे गाँव वालों के माता-

---

१. देखिये, माणिक्यसूरिकृत पृथ्वीचन्द्रचरित, पृष्ठ १०५।

२. दशरथ शर्मा, राजस्थान थ्रू दि एजेज्, पृष्ठ ३६२।

३. अ० स० अल्तेकर के मत में ग्रामभोक्तृ अथवा ग्रामपति गाँवों के उन सैनिक अथवा ब्राह्मण स्वामियों का पदनाम था जो या तो सैनिक सेवा के बदले अथवा अग्रहार रूप में गाँवों को राजा से प्राप्त करते थे और वे महन्तक से भिन्न होते थे। देखिए, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २२६, नोट १। पट्टकील का उल्लेख परमार शासकों—मुञ्ज और भोज—के शासन संबंध में प्राप्त हुआ है। देखिए, चि० वि० वैद्य, पूर्वनिर्दिष्ट पृष्ठ २३३।

४. एइ०, जिल्द २, पृष्ठ ३६१, ३९४ आदि।

५. द्वितीय, ३४३।

पिता के समान कहा गया है। वहाँ यह भी कहा गया है कि विभिन्न कार्यों में उसकी सहायता के लिए कुछ अन्य अधिकारी भी नियुक्त किये जाते थे, यथा—**साहसाधिपति** (चोरी डकैती के मुकदमें को देखने वाला मजिस्ट्रेट); **भागहर** (राजकीय करों को वसूलने वाला); **शुल्कग्राह** (पथकरों को वसूलने वाला) और **प्रतीहार**[१] (चौकीदारों का प्रधान)। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि ये विभिन्न पद केवल बड़े-बड़े ग्रामों में ही होते थे। छोटे-छोटे ग्रामों में ये सभी कार्य **ग्रामणी** अथवा **महत्तक** ग्रामलेखक की सहायता से स्वयं निबाहता था। ग्रामप्रधान को परामर्श देने के लिए ग्रामसभायें भी होती थीं। दक्षिण और पश्चिम भारत में ग्रामसभा के सदस्यों को **महाजन**, उत्तर प्रदेश में **महत्तम** और महाराष्ट्र में **महत्तर** कहा जाता था। स्वयं ग्रामसभायें मध्यभारत में **पचमण्डली** और बिहार में **ग्रामपरिषद** कही जाती थीं। ६०० ई० के बाद गुजरात और दक्षिणापथ में ग्रामसभाओं के सदस्य (ग्रामवृद्ध) अपनी-अपनी छोटी-छोटी कार्यकारी समितियों की भी नियुक्ति करते थे,जिन्हें **महत्तराधिकारिन्** अथवा **अधिकारिमहत्तर** अभिधायें दी गयी थी[२]। राजपूताना में ग्रामसभा की इस कार्यकारी समिति को **पञ्चकुल** के नाम से पुकारा जाता[३] था।

राजस्वप्रशासन

समकालीन अभिलेखों में राजकीय आय के रूप में अनेक प्रकार की जानकारी प्राप्त होती है।[४] उनमें से प्राय: निम्नलिखित के आभिलेखिक उल्लेख प्राप्त होते हैं :—

उद्रंग, भाग अथवा दानी (दान)—इनमें से प्रथम दो भूमि पर लगाये जाने

---

१. इन्हें कहीं-कहीं 'रक्षाकर' भी कहा गया है। देखिए, दशरथ शर्मा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ३६२।

२. सर्वानेव राजसामन्त''''ग्राममहत्तराधिकारिकान् इऐ०, जिल्द १३, पृष्ठ १७७। सर्वानेव राष्ट्रपतिग्रामकूटायुक्तकांनियुक्तकाधिकारिमहत्तरादीनि। वहीं, जिल्द १३, पृष्ठ १५।

३. देखिए, एइ०, जिल्द ११, पृष्ठ ४९, ५६, ५८।

४. अग्रहार ग्रामों के दानपत्रों में (उदाहरणतः, मथनदेव के राजोर अभिलेख में) दान दिये गये गाँवों से प्राप्त होने वाले जिन राजकीय करों की वसूली के अधिकार दान प्राप्तकर्त्ता ब्राह्मणों को दिये गये हैं, वे हैं—उद्रंग, उपरिकर, दशापराध, भूतवाट-प्रत्याय, उत्पद्यमानविऽटिक, धान्य, हिरण्योदय, दशापचार, चोरोद्धरण, चाटभाट प्रवेश, भोग, कर और विप्रत्याय आदि।

वाले नियमित कर थे, जो किसी भी प्रकार की खेती पर उपज के १/६ के रूप में लिये जाते थे[१] । संभवतः इन्हें ही कहीं-कहीं धान्य की संज्ञा दी गयी है । **दानी** सम्भवतः नगद लिये जाने वाले उसी कर की संज्ञा है[२] ।

हिरण्य—नगदी दिया जाने वाला भूमिकर ।

भोग—राजा को परम्परया वस्तुओं के रूप में—फल, दूध, दही, घी, शाक-सब्जी, ओढ़न-बिछावन आदि के रूप में दिया जाने वाला कर ।

दान—**मण्डिपिका** द्वारा वसूल किया जाने वाला शुल्क ।

दण्ड—अदालतों में अपराधियों पर लगाये जाने वाले अर्थदण्ड । इन दण्डों में **दशापराध** अथवा **दशापचार** (दस प्रकार के अपराधों पर लगाये जाने वाले) अर्थदण्ड सम्मिलित थे ।

विष्टि अथवा विष्टिक

राज्य द्वारा मजदूरों से कभी-कभी मुफ्त मजदूरी अथवा बेगार ली जाती थी । प्राचीनकाल में यह एक सर्वदामान्य परम्परा थी, जिसके उल्लेख सभी युगों के साहित्य और आलेख्यों में प्राप्त होते हैं । राजा अथवा राज्य द्वारा व्यक्तिगत सुरक्षा के बदले ही शारीरिक श्रम के रूप में यह कर (बेगार) लगता था । प्रायः यह राजा अथवा राज्याधिकारियों द्वारा राज्य के दौरों के समय लगाया जाता था, जब सड़कों, सरायों, तालाबों अथवा वैसे ही अन्य सामाजिक उपयोग की चीजों अथवा स्थानों की मरम्मत आदि के लिये मुफ्त श्रम की आवश्यकता होती थी ।

इनके अतिरिक्त और भी अनेक प्रकार के करों से राज्य की आय बढ़ती थी । द्वितीय महेन्द्रपाल के प्रतापगढ़ अभिलेख में **स्कन्धक** और **मार्गणक** नामक **आभाव्यों** अर्थात् फुटकल करों की गिनती की गयी है । डॉ० रा० श० त्रिपाठी के मत[३] में **स्कन्ध** बोझ पर एक निश्चित दर से लगने वाला कर था । **मार्गणक** का अभिप्राय अस्पष्ट है । डॉ० घोषाल के मत में गाँवों पर लगाया जाने वाला यह सामान्यकर **प्रस्थ** और **स्कन्ध**

---

१. विभिन्न ग्रन्थों, स्मृतियों अथवा पुराणों में यह कर १/६ से १/१० तक विभिन्न रूपों में अनुशंसित है ।

२. एक गुर्जर प्रतीहार लेख (इऐ०, जिल्द १६, पृष्ठ १७४) के अनुसार एक मन्दिर को एक गाँव से ५०० द्रम्म करस्वरूप प्राप्त होते थे । उड़ीसा से प्राप्त एक अन्य अभिलेख (एइ०, जिल्द १२, पृष्ठ २०) एक गाँव से प्राप्त कर को ५० रूप्य (चाँदी के सिक्के) बताता है ।

३. हिस्ट्री ऑफ् कनौज, पृष्ठ ३४७ ।

से भिन्न होता था[१] । किन्तु **लेखपद्धति** के आधार पर डॉ० दशरथ शर्मा इसे व्यक्तिविशेष के प्रति आदर दिखाने के (खर्चों के) लिए गाँवों द्वारा लगाया जाने वाला एक विशेष कर कहते हैं[२] । ये विशेष व्यक्ति प्राय: राज्याधिकारी होते थे, जिनकी नजर के रूप में यह जाता था । **प्रस्थ** (पहथ) हाथ की एक पूरी खुली अँजुलि भर अनाज पर लिया जाने वाला अंश था, जो वस्तुभाग के अतिरिक्त वसूला जाता था । महाराजपुत्र गोविन्दचन्द्र गाहडवाल के कमौली, बसही और राहन से प्राप्त होने वाले अभिलेखों में इसे **अक्षपट-लीय प्रस्थ** अथवा **प्रतीहार प्रस्थ** कहा गया है ।

खलभिक्षा नामक कर का उल्लेख प्रतीहार मथनदेव के राजोर अभिलेख में हुआ है । कलचुरि अभिलेखों में भी **खलभिक्षा** की स्वीकृति का उल्लेख प्राप्त होता है[३] । उनमें एक उल्लेख है कि एक **बलाधिकृत** ने एक संन्यासी को **खलभिक्षा** दी । खल खलिहान (जहाँ अन्न पीटकर या दबाकर डण्ठलों से निकाला जाता है) को कहते हैं और वहाँ से सीधे कुछ अन्न साधु-संन्यासी, धोबी, लुहार, कुम्हार, नाई और बढ़ई आदि को भिक्षा रूप में अथवा उनकी सेवाओं के बदले दे दिया जाता था । यह प्रथा अभी हाल तक उत्तर प्रदेश में प्रचलित रही है । कहीं-कहीं अब भी प्रचलित है ।

बलवर्मन् के ऊणा अभिलेख[४] में **चौल्लक** अथवा चोल्लिका (राजोर अभि-लेख) का उल्लेख है । मन्दिरों को पत्र-पुष्प के रूप में देने के लिए बाहर से भीतर (नगरों या गाँवों में) आने वाली प्रत्येक टोकरी (चोल्लिका) से ५० पत्ते इस कर के रूप में निकाल लिये जाते थे ।

किन्तु बलवर्मन् के ऊणा अभिलेख में ही वर्णित **वैणी, वैगिंक, कोश्य** और **मयुत** नामक करों के क्या तात्पर्य थे और वे किन वस्तुओं पर, किस हेतु और किसके द्वारा वसूल किये जाते थे, यह स्पष्ट नहीं है ।

राजकीय आय का एक प्रमुख साधन सामन्तों से प्राप्त होने वाली भेंटें भी थीं । परन्तु उनका कोई विशेष विवरण नहीं प्राप्त होता । कभी-कभी दूसरे राज्यों की विजयों की लूट में भी बहुत सा धन प्राप्त हो जाता था । मेरुतुंगकृत **प्रबन्धचिन्तामणि** से ज्ञात है कि कलचुरिराज कर्ण धारा पर आक्रमण कर वहाँ का सारा धन ढो ले गया[५] । राज्य की आकस्मिक आय कभी-कभी ऐसे लोगों के धन से भी हो जाती थी जो अपुत्रक मर जाते

---

१. हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम, पृष्ठ २९४, २९६, २९८ ।

२. पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ३२७ ।

३. देखिए, कार्पस्, जिल्द ४, पृष्ठ १९१, १९७ ।

४. हिस्टॉरिकल् इन्स्कृप्शन्स् ऑफ् गुजरात, जिल्द ३, संख्या २३४, १७वीं पंक्ति ।

५. प्रचिद्वि, पृष्ठ ६०-६३ ।

थे और उनकी सम्पत्ति राजकोष के लिये ले ली जाती थी। जयसिंह सूरि अपने ग्रन्थ **कुमारपालभूपालचरित** में कहता है कि चौलुक्य कुमारपाल ने इसका निषेध (मृत-धनापहरण निषेध) कर दिया।[१]

दुर्भाग्यवश राजस्व प्रशासन के संबंध में इस युग के बारे में कुछ और विशेष जानकारियाँ प्राप्त नहीं होतीं। यह ज्ञात नहीं है कि राज्य की आय का खर्च किस प्रकार किन-किन कार्यों के संपादन में किया जाता था। किन्तु यह निश्चित है कि नागरिक और सैनिक प्रशासन में लगे हुए कर्मचारियों-अधिकारियों के वेतन सहित अन्य व्ययों में उसका अधिकांश भाग लगाया जाता था। मंदिरों, तीर्थों और महलों के निर्माण व्यय और विद्वानों को आश्रय भी उसी से प्राप्त होते थे।

सैन्य व्यवस्था

सम्बद्ध युग में राजनीतिक अस्थिरता के कारण सैनिक महत्त्वाकांक्षी सर्वदा ही अपने-अपने लिए नये-नये राज्यों की स्थापना में लगे रहते थे। आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अरबों के नेतृत्त्व में सिन्ध और मुल्तान से प्रारम्भकर मुसलमानों ने भारतवर्ष पर जो अनवरत धावे प्रारम्भ किये, उनका क्रम कुछ रुक-रुककर, प्राय: ५०० वर्षों तक चलता रहा। महमूद गजनवी और मुहम्मद गोरी के समय उनकी सैनिक तेजी इतनी बढ़ गयी कि सारे उत्तरी भारत में सैनिक प्रतिक्रियाओं का होना अवश्यम्भावी था। अत: इस युग के बड़े-बड़े साम्राज्यों अथवा छोटे-छोटे राज्यों की भी सैनिक आवश्यताएँ बढ़ गयीं और मुसलमान लेखकों द्वारा हमें भारतीय राजाओं के पास बड़ी-बड़ी सेनाओं के होने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। यद्यपि ये उल्लेख अधिकांशत: इस कारण बढ़ा-चढ़ाकर किये गये हैं कि उनसे भारत की विशाल सेनाओं पर अपनी छोटी-छोटी सेनाओं द्वारा भी अपने सैनिक कौशल से मुसलमान आक्रान्ताओं की विजय का गौरव दिखाया जा सके, तथापि यह निश्चित है कि इस युग में सैनिकता का बड़ा बोलबाला था और हिन्दू राजाओं के पास सचमुच ही बड़ी-बड़ी सेनायें थीं।

किन्तु अब सभी सेना या तो पैतृक क्रम से अथवा भृतकरूप में राज्यों द्वारा स्थायी रूप से रखी जाती हो और उसको देने के लिए वेतन अथवा भौमिक पारिश्रमिक का स्थायी प्रबन्ध हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। गुर्जर प्रतीहार जैसे साम्राज्यों अथवा जयच्चन्द्र गाहडवाल, पृथ्वीराज चाहमान, विद्याधर चन्देल, भोज परमार अथवा लक्ष्मी-कर्ण कलचुरि जैसे सभी प्रभुतासंपन्न और शक्तिशाली राजाओं के युद्धों में उनकी सामन्त सेनाएँ प्रमुख रूप में भाग लेती थीं। ऐसे उदाहरणों की संख्या इतनी अधिक है कि उनकी गिनती करना यहाँ न तो संभव है और न आवश्यक ही। इतना मात्र कहना पर्याप्त है कि सामन्तों के लिए अपने अधिराजों के युद्धों में भाग लेना उनका एक प्रमुख कर्त्तव्य था।

---

१. देखिए, पीछे पृष्ठ ५४०।

सेना के अनेक अधिकारी ऐसे भी थे, जो आवश्यकतानुसार सामान्य प्रशासन—यथा प्रांतपति, विशेषत: नवविजित क्षेत्रों के प्रशासक, सीमावर्त्ती भुक्तियों अथवा मण्डलों के प्रशासक अथवा ऐसे ही अन्य मुख्य पदों पर नियुक्त किये जाते थे। उनमें से अनेक ऐसे भी होते थे, जो छोटी-छोटी रियासतों पर शासन करने वाले, सम्राट् की अधिसत्ता के अधीन, **महासामन्त**, **महासामान्ताधिपति** अथवा **महादण्डनायक** जैसी उपाधियाँ धारण करते थे। इस तरह अनेक प्रकार के अधिकारों से युक्त और विविध प्रकार के उत्तरदायित्त्वों का वहन करने वाले ऐसे अनेक सैनिक, अर्धसैनिक, पुलिस अथवा प्रशासकीय अधिकारियों के उल्लेख इस युग के अभिलेखों और साहित्य में प्राप्त होते हैं, जिनके कार्यों और पदों के ठीक-ठीक स्वरूपों के बारे में विद्वानों में स्वाभाविक-रूप से मतभेद हैं। उदाहरणत: डॉ० दशरथ शर्मा ने निम्न प्रकार से उनकी गिनती[१] की है :—

महादण्डनायक, **दण्डनायक**, **बलाधिकृत**, **महायुधपति**, **पीलूपति**, **अश्वपति**, **कोट्टपाल** और **मर्यादाधुर्य**। इनमें **महादण्डनायक** को **महादण्डाधिपति वाहिनीपति**, **दण्डाधिपति**, **सेनाधिपति**, **सैन्यपति**, **दण्डनायक** और **दण्डपति** भी कहा गया है। **महादण्डनायक** के इन पर्यायों का प्रयोग परमारकालीन कवि धनपाल ने अपने ग्रन्थ **तिलकमंजरी**[२] में एक ही अर्थ में किया है, जिससे स्पष्ट है कि **महादण्डनायक** अथवा **दण्डनायक** सेना का उच्चतम अधिकारी था। संभव है कि वह कभी-कभी नवविजित अथवा सीमास्थित प्रान्तों (भुक्ति अथवा मण्डल) के प्रान्तपति के रूप में भी वहाँ की शान्ति और सैन्य सम्बन्धी विशेष आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए, नियुक्त कर दिया जाता[३] हो। किन्तु इन विभिन्न प्रकार के उत्तरदायित्त्वों का वहन

---

१. राजस्थान थ्रू दि एजेज्, जिल्द १, पृष्ठ ३३१।

२. देखिए पृष्ठ ५८, ६६, ७३। वहाँ उसे दण्डाधिपति, महादण्डाधिपति, वाहिनीपति आदि कहा गया है। डॉ० र० चं० मजुमदार ने प्रथम भोज की सागरताल (ग्वालियर) प्रशस्ति के 'वाहिनीनां पति' (श्लोक १२) (वाहिनीपति) को सेनानायक अथवा सेनापति (सेना का मुख्य नायक) माना है।

३. उदाहरणत:, चौलुक्यों ने (कुमारपाल के समय) विमल, वैजल्लदेव और सज्जन को चाहमानों से जीते गये क्षेत्रों पर प्रशासन के लिए नियुक्त कर रखा था। ये सभी महादण्डनायक की उपाधि धारण करते थे। देखिए, पीछे, पृष्ठ ४६४-४६६, ५३१-३२। इसी प्रकार महीपाल प्रतीहार के समय तथा द्वितीय महेन्द्रपाल के समय क्रमश: उज्जैन और मण्डपिका (माण्डू) पर माधव नामक महासामन्तदण्डनायक और श्रीशर्मन् नामक बलाधिकृत निमुक्त थे। देखिए, पीछे, पृष्ठ १६५।

करने के कारण **महादण्डनायक** अथवा **दण्डनायक** के वास्तविक अर्थ के बारे में विद्वानों में बड़े मतभेद है[1] ।

मुसलमानी इतिहासकारों ने प्रतीहार शासक प्रथम भोज, चन्देल शासक विद्याधर, गाहडवाल शासक जयच्चन्द्र और तृतीय पृथ्वीराज चौहान की सेवाओं में बहुत ही विशाल सेनाओं के होने का उल्लेख किया है[2] । अत: उन बड़ी-बड़ी सेनाओं के प्रबन्ध और नायकत्त्व के लिए सचमुच ही अनेक प्रकार के और अनेक पदवीधारी अधिकारी भी रहे होंगे । यह निश्चित सा जान पड़ता है कि **गुर्जर** प्रतीहार साम्राज्य में दण्डनायकों की संख्या एक नहीं अनेक रही होगी । **दण्डनायक** को ही कदाचित् **बलाधिकृत** भी कहा जाता था । प्रतीहार अभिलेखों से द्वितीय महेन्द्रपाल के समय (प्रतापगढ़ अभिलेख) उज्जैन में माधव और मण्डपिका में श्रीशर्मन् तथा प्रथम भोज के समय (ग्वालियर की सागरताल प्रशस्ति) ग्वालियर में तत्तक नामक अधिकारियों का उल्लेख है, जो क्रमश: **महासामन्तदण्डनायक** और **बलाधिकृत** कहे गये हैं । कलचुरि और चाहमान अभि-लेखों में भी इन पदों का बार-बार सेनापति के अर्थ में ही उल्लेख हुआ है । चाहमान अभिलेखों और **लेखपद्धति** में **बलाधिप** को **पञ्चकुल** की मण्डपिकाओं (नगरों के बाहर बनी हुई शुल्क वसूलने वाली गुमटियों) में कार्यरत बताया गया है ।[3]

दण्डनायक के अधीन **महायुधपति** (सेना के शस्त्रागार का अधीक्षक); **पीलू-पति** (गजसेना का नायक); **अश्वपति** अथवा **महाश्वपति** (अश्व सेनानायक);

---

१. डॉ० बैजनाथ पुरी ने इन विभिन्न मतों का एक अच्छा समाहार दिया है । देखिए, हिस्ट्री ऑफ् दि गुर्जर प्रतिहार्स्, प्रशासन सम्बन्धी अध्याय ।

२. सुलेमान भोज के बारे में कहता है—'इस राजा के पास बहुत बड़ी सेना है और अन्य किसी दूसरे राजा के पास उसकी जैसी अश्वसेना नहीं है । वह अरबों का शत्रु है ।' वह कहता है कि उसकी विशाल सेनाएँ साम्राज्य की चारों दिशाओं में (छोरों पर) नियुक्त थीं, जिनमें उत्तर की सेना सिन्ध और मुल्तान के अरबों के विरुद्ध और दक्षिण की सेना राष्ट्रकूटों के विरुद्ध नियुक्त थी । देखिए, इलियट् ऐण्ड डाउसन् जिल्द १, पृष्ठ ४ और आगे तथा पृष्ठ २१-२३ । जयच्चन्द्र गाहडवाल की सेना की संख्या १० लाख पदाति और ७०० हाथियों से युक्त कही गयी है । वहीं, जिल्द २, पृष्ठ २५१ । फिरिश्ता तृतीय पृथ्वीराज की तराइन के प्रथम युद्ध में भाग लेने वाली सेना की संख्या २ लाख पैदल और ३०० हाथी बताता है । विद्याधर चन्देल की महमूद के विरुद्ध सेना की संख्यायें विभिन्न रूपों में मुसलमान लेखकों द्वारा बतायी गयी है । देखिए, निमाइ सधन बोस, हिस्ट्री ऑफ् दि चन्देलज्, पृ० १४१ ।

३. दशरथ शर्मा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ३३४ ।

पायक्काधिपति (पदातिसेना-नायक) और **स्यन्दनपति**[१] (रथसेनानायक) हुआ करते थे। कन्नौज से प्रकाशित होनेवाले अनेक अभिलेखों में उसे एक ऐसा स्कन्धावार (सैन्य छावनी) कहा गया है, जो **नौ-साधन** अर्थात् नौसना के लिये आवश्यक वस्तुओं से युक्त था। हर्ष के मित्र भास्करवर्मा के निधानपुर अभिलेख (एइ०, जिल्द १२, पृष्ठ ७३, श्लोक १) तथा स्वयं हर्ष के बाँसखेड़ा अभिलेख (एइ० जिल्द ४, पृष्ठ २०८ और आगे) में भी नौसेना के उल्लेख आते हैं। लगभग एक ही प्रकार की शब्दा-वली में वर्धमानकोटि और कर्णसुवर्ण में 'महानौहस्त्यश्वपतिसम्पत्युपातजयशब्दान्वर्थ स्कन्धावारात्' का उनमें उल्लेख है। चूँकि गूर्जर प्रतीहारों की समकालिक पाल सत्ता के पास एक नौसेना थी और पालों की तरह सेनों की भी नौसेना थी, इसकी कल्पना की जा सकती है कि बड़ी-बड़ी नदियों वाले प्रतीहार क्षेत्र में भी उसका कोई रूप अवश्य रहा होगा।

जैसा कि पीछे देखा जा चुका है, प्रतीहारों के समय ग्वालियर जैसे किले में एक **कोट्टपाल** वहाँ के प्रशासक की हैसियत से नियुक्त था। वह सैनिक योग्यतावाला ही कोई व्यक्ति होता था, जिसे पुलिस प्रशासन में नियुक्त किया जाता था। उसका महत्त्व **समराइच्चकहा** के इस उल्लेख (पृष्ठ ४७२) से समझा जा सकता है कि राजा के अपनी राजधानी से बाहर जाने पर **कोट्टपाल** ही राजधानी की देखरेख करता है। इसी प्रकार सीमान्त क्षेत्रों के प्रशासन और उनकी सैनिक सुरक्षा की दृष्टि से **मर्यादाधुर्य** की नियुक्ति की जाती थी, जिसकी तुलना कौटिल्य के **अर्थशास्त्र** में वर्णित **अंतपाल** से की जा सकती है। प्रथम भोज प्रतीहार के समय में वैल्लभट्ट और उसके पुत्र अल्ल इसी प्रकार के **मर्यादाधुर्य** थे[२]। सम्बद्ध युग में चन्देलों का बुन्देलखण्ड में एक ऐसा राज्य था, जो अपनी प्राकृतिक (पहाड़ी) बनावट के कारण अपने कई दुर्गों के लिए प्रसिद्ध था, यथा—कालंजर, महोबा और अजयगढ़ आदि। चन्देलराज भोजवर्मन् के समय का अजयगढ़ से प्राप्त होने वाला एक अभिलेख जाजुक के वास्तव्य कायस्थ परिवार के सदस्य आनन्द को जयपुर के किले (दुर्ग) का **दुर्गाधिकारी** बताता है।[३] वहाँ उसे भील, शबर और पुलिन्द नामक जंगली जातियों को दबाने का भी श्रेय दिया गया है। अतः **कोट्टपाल** और **दुर्गाधिकारी**, कार्यों की दृष्टि से, एक ही पद प्रतीत होते हैं।

१. इस युग में रथसेना अब केवल नाममात्र के लिए थी। किन्तु एक चन्देल अभिलेख (एइ० ज्लिद १, पृष्ठ २०१, श्लोक ४१) एक चन्देल मंत्री को रथ हाँकने में कुशल बताता है। कृष्णमिश्र भी रथों को सेना का अंग बताता है। देखिए निमाइ सधन बोस, हिस्ट्री ऑफ् दि चन्देलज्, पृ० १४०।

२. एइ० जिल्द १, पृष्ठ १५६।

३. एइ, जिल्द १, पृष्ठ ३३४, २१-२२ वाँ श्लोक।

कुछ चन्देल अभिलेखों में **राउत** शब्द का प्रयोग सैनिक टुकड़ी के एक नायक के रूप में हुआ[१] है। और भी ऐसे उल्लेख प्राप्त होते हैं[२], जब राजा की ओर से लड़ते हुए उसके युद्ध में मारे जाने पर अथवा स्वयं वीरता दिखाने पर उसे या उसके आश्रितों को, जीवनपर्यन्त अथवा सदा के लिए, कुछ भूमि दे दी जाती थी। इसे **मृत्युकवृत्ति** कहा जाता था।

जैसा पीछे कहा जा चुका है, ऐसा नहीं था कि इस युग की साम्राज्य अथवा राज्य-सेनायें स्वयं उनके पूरे खर्चों पर नियुक्त, उन्हीं के दण्डनायकों द्वारा संचालित अथवा उनके ही प्रशासकों द्वारा प्रशासित और उनकी वृत्तिभोगी रही हों। प्रायः प्रत्येक सेना में सामन्त-सेना का एक तत्त्व हुआ करता था। उस सामन्ती युग में सामन्तों का यह एक प्रधान कर्त्तव्य था कि वे अपने अधिराजों के युद्धों में भाग लें। प्रतीहार और अन्य राजवंशों के अभिलेखों से इस प्रकार के अनेकानेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। पालों के विरुद्ध वत्सराज की ओर से द्वितीय दुर्लभराज चाहमान; नागभट्ट (द्वितीय) के युद्धों में माण्डव्यपुर के प्रतीहार, चाट्सू के गुहिल, सौराष्ट्र के चौलुक्य और शाकंभरी के चाहमान; मिहिरभोज के युद्धों में प्रतापगढ़ के चाहमान, सरयूपार के कलचुरि, चाट्सू के गुहिल और प्रथम महेन्द्रपाल के युद्धों में मालवा के परमारों ने भाग लिया था।[३] विपत्ति के समय अथवा राजगद्दी पर खतरों के उपस्थित होने के समय में भी सामन्तगण अपने अधिराजों की सैनिक सहायता करते थे। उदाहरणतः रामभद्र के समय में 'शत्रु सेनाओं के क्रूर नायकों को' प्रतीहारों की सामन्त सेनाओं द्वारा ही 'बंधवाया' गया और प्रथम महीपाल की राजगद्दी थोड़े दिनों के लिए जब राष्ट्रकूट इन्द्र (तृतीय) के नेतृत्त्व में दाक्षिणात्यों ने छीन ली तो चन्देलराज हर्ष ने 'पुनः क्षितिपालदेव को राजगद्दी पर बिठाया[४]'। कृष्णमिश्रकृत **प्रबोधचन्द्रोन्य** से ज्ञात होता है कि किस प्रकार **सकल-सामंतचक्रचूड़ामणि** गोपाल ने कीर्त्तिवर्मा चन्देल के राज्य को डाहलनरेश कलचुरि कर्ण के 'कालाग्नि समान आक्रमण के समुद्र' से उबारा। इसी प्रकार महमूद गजनवी के आक्रमण के समय विद्याधर चन्देल के सामन्त उसके युद्धों में सम्मिलित हुए; परमार भोज की दक्षिण-विजयों में यशोराज जैसे उसके सामंत सम्मिलित थे और जब पृथ्वीराज चाहमान और जयच्चन्द्र गाहडवाल की सेनाओं ने मुहम्मद गोरी का मुकाबला किया तो,

---

१. देखिए, निमाइ सधन बोस, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ १४२-१४३।

२. एइ०, जिल्द १४, पृष्ठ २७५-२७६; जिल्द २०, पृष्ठ १३२-१३३।

३. विभिन्न व्यक्तिगत उदाहरणों के लिए देखिए, पीछे पञ्चम अध्याय।

४. इनके उल्लेखों के लिए देखिए मिहिरभोज की ग्वालियर (सागरताल) प्रशस्ति और धंग का ९५४ ई० का खजुराहो अभिलेख।

मुसलमान लेखकों के साक्ष्यानुसार, उनके सैकड़ों सामंत अपनी-अपनी सेनायें लेकर उन युद्धों के लिए उपस्थित हुए थे ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सम्राट् की सेना पूर्णतः साम्राज्य की निजी सेना नहीं हुआ करती थी । ये सामन्त सेनायें अपने अस्त्रशस्त्र तो लाती ही थीं, सम्राट् के शस्त्रागारों से भी उन्हें आवश्यकतानुसार अस्त्रशस्त्र दिये जाते थे । इसी तरह उनका नेतृत्त्व भी कभी-कभी तो उनके सामन्त नायकों के हाथ में होता था और कभी-कभी केन्द्रीय सेना के दण्डनायकों अथवा छोटे अधिकारवाले सेनापतियों (बलाधिकृतों) के हाथ में रहता था । इन सेनाओं में प्रायः पैतृक और वेतनभोगी सैनिक हुआ करते थे । पाल सेना में मालव, खस, लाट और कर्णाट के सैनिकों की नियुक्ति का उल्लेख नारायणपाल के भागलपुर अभिलेख से प्राप्त होता है । सेना को नियमित अभ्यास (ड्रिल) कराया जाता था और अर्द्धशिक्षित सैनिकों को केवल आधा ही वेतन दिया जाता था ।[१] **महायुधपति** के अधीन सैनिक साज-सामान का एक **अधिकरण** अथवा कार्यालय होता था, जहाँ वेतन, अस्त्रशस्त्रों और सैनिक आवश्यकता की सभी वस्तुओं के पूरे ब्यौरे रखे जाते थे ।

चाहमान सेना में हाथी और घुड़सवारों के अतिरिक्त ऊँटों का भी एक काफिला था, जो उस मरुप्रदेश में सामान आदि ढोने के लिए बड़ा उपयोगी रहा होगा । गुड़पुर के नागार्जुन के विरुद्ध युद्ध में पृथ्वीराज ने ऊँटों का प्रयोग किया था ।

दुर्गों के निर्माण और उनकी सुरक्षा के पूरे प्रबन्ध किये जाते थे । प्रथम नागभट्ट को जालोर के किले के निर्माण का श्रेय दिया जाता है[२] और प्रतीहारों में ऐसी अनुश्रुति व्याप्त थी कि हरिश्चन्द्र के चार पुत्रों ने मंडोर (माण्डव्यपुर) के दुर्ग के चारों ओर सुरक्षा दीवारें बनवायी थीं । आगे चलकर ग्वालियर, कालंजर, और चित्रकूट के दुर्ग प्रतीहारों के प्रमुख सैनिक केन्द्र बन गये, जहाँ कोट्टपालों[३] की नियुक्ति उनके विशेष प्रशासनिक कार्यों में थे । पीछे हम देख चुके हैं कि किस प्रकार राष्ट्रकूटों के आक्रमणों से त्रस्त होने पर अपनी ही रक्षा के लिए प्रथम महीपाल के दिनों में कालंजर और चित्रकूट को उन्हें अपने चन्देल सामन्तों के हाथों सौंपना पड़ा, जिन्हें धीरे-धीरे उन्होंने पूरी तरह हथिया लिया[४] । चन्देलों

---

१. अ० स० अल्तेकर पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ३६९ ।

२. देखिए राघवन्, जर्नल् ऑफ् गंगानाथ झा रिसर्च इन्स्टीट्यूट, जिल्द १, पृष्ठ ३७३-३७५ ।

३. आजकल का कोतवाल शब्द मूलतः शेरशाह-अकबर के समय प्रचलित हुआ, जो कोट्टपाल का ही तद्भव है ।

४. देखिए, पीछे, पञ्चम अध्याय, प्रथम महीपाल प्रकरण और चन्देल यशोवर्मा की विजयों का प्रकरण (पृष्ठ ३८५-३८७) ।

के अन्य दुर्गों में अजयगढ़ और महोबा प्रमुख थे। इसी प्रकार राजस्थान के चित्तौड़ (चित्रकूट) गुजरात का कन्थाकोट, कन्नौज के पास असनी, मण्डलगढ़, अजमेर, हाँसी, तबरहिन्दाह, नागौर, मण्डोर, समाना, सिवाना, जालोर, सिरसा और जैसलमेर जैसे प्रमुख दुर्गों का महत्त्व तत्सम्बन्धी उल्लेखों के आधार पर भलीभाँति आँका जा सकता है।

सैनिकों का वेतन नकद और भूमि के रूप में दिया जाता था। इस समय की सामन्ती प्रथा की यह एक मान्यता थी कि राजाओं और राज्यों की ओर से छोटे-बड़े अनेक लोगों को भूमि दे दी जाती थी, जिसपर उन्हें राज्य का कोई भाग अथवा कर नहीं देना पड़ता था और जिसकी उपज का वे पूरा-पूरा लाभ उठाते थे। ऐसी भूमि को प्राप्त करनेवाले व्यक्तियों और वर्गों का यह उत्तरदायित्त्व था कि वे राजा अथवा राज्य की सैनिक सेवा और सहायता में उपस्थित रहें। **कर्पूरमञ्जरी**[१] में इस प्रकार के उल्लेख अनेकशतः आते हैं। इस प्रकार की जागीरों को **विलाम्भक** कहा जाता था। ये जागीर-दार लोग ही मुख्यरूप से राज्य की मौलसेना का निर्माण करते थे। १००० ई० के बाद उत्तर भारत पर बार-बार होने वाले मुसलमानी (तुर्की) धावों और आक्रमणों के कारण सतत सुरक्षा हेतु ऐसी जागीरदारियों और छोटे-छोटे सामन्त राज्यों की संख्या बहुत ही बढ़ गयी। फिरिश्ता तृतीय पृथ्वीराज चाहमान के सामन्तों की संख्या एक सौ पचास (१५०) बताता है, जिन्होंने तराइन के द्वितीय युद्ध में उसकी ओर से भाग लिया था[२]।

सैन्य व्यवस्था सम्बन्धी ऊपरी विवरण से कुछ निष्कर्ष बड़े स्पष्ट रूप से सामने आते हैं। राज्यों और राजाओं के पास अपनी स्थायी सेनायें कुछ अपवादों को छोड़कर, बहुत ही कम हुआ करती थीं। जल्दी-जल्दी बदलने वाले राजे और राज्य अथवा अल्प-कालिक साम्राज्य स्थापित कर लेनेवाले वीर सैनिक नेता अथवा साहसिक विजितों की सेना को भी अपनी सेनाओं में सम्मिलित कर लिया करते थे। इसके अतिरिक्त उनके सामन्तों और जागीरदारों की सेनाएँ भी उनकी ओर से लड़ती थीं। इसका एक बड़ा निश्चित परिणाम यह हुआ होगा कि ऐसी सेनाओं की किसी के भी प्रति स्थायी राजभक्ति अथवा निकटता का भाव बद्धमूल नहीं होता होगा। ऐसी स्थिति में अपने स्वामी के प्रति मर-मिटने की उत्कट भावना का विकास हो पाना असम्भव था। फलतः देशभक्ति तो दूर रही, क्षेत्रभक्ति भी स्थायीभाव के रूप में नहीं पनप सकी। इस युग की विभिन्न सेनाओं का रूप (विशेषतः १०००-१२००० ई० के बीच के युग में) इतना ढीला-ढाला था कि उनमें नियमन, नेतृत्त्व, प्रशिक्षा और सुसंचालन के गुणों का अभाव होना

---

१. पृ० ८५, १८४।

२. तारीखे-फिरिश्ता, जिल्द १, पृ० १७। पृथ्वीराजरासो में यह संख्या १०० (एक सौ) बतायी गयी है।

स्वाभाविक था। हस्तिसेना पर विशेषरूप से बल दिये जाने के कारण भी युद्धों के अवसरों पर अनेक गड़बड़ियाँ उठ खड़ी होती थीं। स्कन्धावारों के जीवन में आराम-तलबी घुस गयी थी और उससे सैनिक प्रशिक्षण की कड़ाई ढीली पड़ रही होगी। तराइन के द्वितीय युद्ध के समय अथवा चन्दावर के युद्ध के समय ये कमजोरियाँ बड़े स्पष्टरूप में सामने आती हैं और पीछे[१] हम उनकी ओर यथास्थान निर्देश कर चुके हैं। किन्तु यह कहना बड़ा आसान होते हुए भी कि यदि ऐसा नहीं वैसा हुआ होता तो सम्बद्ध युग के हिन्दू राजतंत्रों का पराभव न हुआ होता। एक बात निश्चित है कि तत्कालीन इतिहास और सामन्ती व्यवस्था की गति और दिशा ही ऐसी थी कि उनके जो ऐतिहासिक परिणाम दिखायी दिये, उनके अतिरिक्त कुछ अन्य परिणाम हुए होते, ऐसा प्रतीत नहीं होता। कोई भी जाति या मनुष्य अपनी इच्छाओं मात्र से इतिहास की नैसर्गिक गति को बदल नहीं पाता और जो बदल सकता हैं उसे ही युग-निर्माता की संज्ञा दी जाती है।

न्याय प्रशासन और पुलिस

अभिलेखों से न्याय प्रशासन और पुलिस विभाग के सम्बन्ध में सैन्य व्यवस्था और साधारण प्रशासन की तुलना में अपेक्षाकृत कम ही जानकारियाँ प्राप्त होती हैं। किन्तु तत्कालीन साहित्य के आधार पर उसका कुछ स्वरूप खींचा जा सकता है। **कुल, ग्राम**[२], **देश, जनपद, श्रेणी, पूग** और जातीय अदालतें प्रायः पहले के समान ही इस युग में भी अपने-अपने सदस्यों से संबद्ध प्रायः सभी दीवानी वाले मुकदमों और मामलों का निर्णय स्थानीय अथवा क्षेत्रीय रूप में कर लेती थीं और राजकीय अदालतों में केवल उनकी अपीलों की अथवा बड़े-बड़े फौजदारी के मामलों मात्र की सुनवाई होती थी। किन्तु इन राजकीय अदालतों के स्वरूप के बारे में बहुत उल्लेख नहीं प्राप्त होते। इतना निश्चित प्रतीत होता है कि अपील वाले मुकदमों में राजा का निर्णय अन्तिम होता था जो राज्य का सर्वप्रधान न्यायाधीश भी होता था। **लेखपद्धति** (पृ० १८, २३) और जिनपालकृत **खरतरगच्छपट्टावली** के साक्ष्यों पर यह कहा जा सकता है कि राजा की अदालत में अपील के मुकदमें तो जाते ही थे, कभी-कभी सीधे भी मुकदमें वहाँ वादी-प्रतिवादी द्वारा ले जाये जाते थे। **बृहत्कथाकोश**[३] में **धर्माधिकारिन्** नामक अधिकारी का उल्लेख है, जो एक न्यायाधीश प्रतीत होता है। मिहिरभोज के बराह और दौलतपुर के अभिलेखों[४]

---

१. देखिये, जयच्चन्द्र गाहडवाल और तृतीय पृथ्वीराज के प्रकरण।

२. 'सुलेमान सौदागर', पृ० ८१, से ज्ञात होता है कि उस प्रसिद्ध अरब व्यापारी के समय भी ग्रामीण अदालतें प्रमुख भूमिका निभाती थीं।

३. पृष्ठ ११४-११६, १२६।

४. देखिए, पीछे पृष्ठ १४२।

का **व्यावहारिन्** नामक अधिकारी भी न्यायाधीश ही प्रतीत होता है। इसके सम्मुख मुकदमों को उपस्थित करने वाले अधिकारी की संज्ञा **साधनिक**[1] हुआ करती थी। किन्तु उसके द्वारा (फौजदारी के) मुकदमों को न्यायालय में उपस्थित किये जाने के पूर्व **तलार, दण्डपाशिक** और **आरक्षिक** नामक पुलिस अधिकारी उनके सम्बन्ध में तथ्यों और घटनाओं की पूरी जानकारी प्राप्त कर लिया करते थे। माणिक्यसूरि के **पृथ्वीचन्द्रचरित**[2] से यह ज्ञात होता है कि तलार रात्रि में चोरी आदि अपराधों को रोकने अथवा उनका पता लगाने के लिए नगरों में दौरा किया करता था। इस प्रकार उसे **पुराध्यक्ष** अथवा **नगररक्षक** भी कहा जा सकता है। न्यायालयों में मुकदमों को उपस्थित किये जाने के बाद वहाँ **धर्माधिकारिन्** अथवा **व्यावहारिन्** (न्यायाधीश) अकेले उनका निर्णय न कर धर्मशास्त्रों की पूरी जानकारी रखने वाले **(धर्मशास्त्र-पाठक)** लोगों और **धर्माधिकरणिक** अथवा **करणिक** जैसे अन्य अधिकारियों की सहायता लेता था, जो अभियुक्त से पूरी पूछताछ और उससे जिरह करते थे।[3] **समराइच्चकहा** और **कुवलयमाल** जैसे समकालीन ग्रन्थों[4] से यह प्रतीत होता है कि पञ्च-कुलों और नगरमहल्लकों अथवा नगरमहत्तरों और स्थानीय प्रतिनिधियों से पूरी सहायता लेकर ही मुकदमा चलाने वाले उपर्युक्त पुलिस अधिकारी न्यायालयों को अपना प्रतिवेदन देते थे। उस समय के ग्रन्थों को देखने से यह ज्ञात होता है कि चोरी एक बड़ा अपराध माना जाता था और उसके लिए दोषी पाये जाने वाले व्यक्तियों को कड़े दण्ड दिये जाते थे तथा कभी-कभी शारीरिक यातनाएँ भी सहनी होती थीं। **उमापतिभवप्रपञ्चकथा**[5] और **समराइच्चकहा**[6] के उल्लेखों के अनुसार चोरी का माल खरीदने और रखने पर बड़े-बड़े धनी सेठों को भी दण्डस्वरूप अपनी सम्पत्ति से हाथ धोना पड़ता था (वह राज्य द्वारा छीन ली जाती थी) और कभी-कभी शारीरिक दण्ड भी भोगने पड़ते थे। कम नापने या तौलने पर जीभ अथवा हाथ-पैर काट लिए जाते थे। परस्त्रीगामी को तप्त लोहे

---

१. साधनिक अश्वसेना के नायकों को भी कहा जाता था, जो सीमावर्त्ती नगरों अथवा छावनियों में उनकी सैनिक सुरक्षा की दृष्टि से नियुक्त हुआ करते थे। इस प्रकार उसे आजकल के अश्वारोही सैनिक पुलिस दस्ते के प्रधान के समान स्वीकार किया जा सकता है। कदाचित् आजकल का 'साहनी' पदवी या विरुद साधनिक से ही निकला है।

२. पृष्ठ १०५।

३. देखिए, दशरथ शर्मा, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ३४३।

४. वहीं।

५. पृष्ठ ४०५।

६. पृष्ठ ११८।

की स्त्री प्रतिमा का आलिंगन करना पड़ता था। दिव्यदण्ड भी प्रचलित थे[१] और जेल की सजा पाने वाले कैदियों का जेल-जीवन बहुत ही त्रासदायक था[२]। बड़ा स्पष्ट है कि दण्ड बड़े कठोर थे और उनके भय के कारण अपराध अपेक्षाकृत कम होते रहे होंगे।

कला और संस्कृति का उन्नयन : सुप्रशासन का परिणाम

सम्बद्ध युग की अस्तव्यस्त और प्रायः सदा परिवर्तनशील राजनीतिक स्थिति के बावजूद जनता के नित्यप्रति के जीवन में कोई विशेष अशान्ति रही हो, ऐसा नहीं प्रतीत होता। उनके ऊपर शासन करने वालों—राजाओं और राज्यों—के बार-बार के परिवर्तनों से भी व्यक्तिगत अथवा सामुदायिक जीवन अपेक्षाकृत कम ही प्रभावित होता था। यह इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि प्रायः सभी विजेता अपने-अपने युद्धों से फुरसत पाने पर कला, साहित्य और संस्कृति के विभिन्न पक्षों को मजबूत करने में जुट जाते थे, जिनके उदाहरण प्रत्येक राजवंश के इतिहास से प्राप्त होते हैं। प्रतीहारों की उपलब्धियों की चर्चा[३] में हम देख चुके हैं कि मुसलमान इतिहासकारों की दृष्टि में कन्नौज 'नगर का सिर आसमान को छूता था' तथा 'शक्ति और सौन्दर्य में कन्नौज इस बात का अभिमान करता था कि उसकी प्रतिद्वन्द्विता करने वाला कोई दूसरा नगर नहीं था[४]।' उनके समय वास्तव में वह नगर विद्या और संस्कृति का केन्द्र तथा भारतीय सभ्यता की धुरी हो गया।[५] महमूद गजनवी जैसे मूर्तिभञ्जक और मंदिरतोड़क के ही शब्दों में वहाँ के और मथुरा के मंदिरों जैसा कोई 'अन्य वास्तु यदि कोई निर्मित करना चाहता तो उसे काम पर सर्वाधिक अनुभवी कारीगरों को लगाने पर भी एक लाख सोने की दीनारें खर्च करनी होतीं तथा दौ सौ वर्ष लगाने होतें।[६] इस परम्परा में चन्देलों द्वारा खजुराहो के विश्वविश्रुत मंदिर, चौलुक्य भीम के समय में निर्मित आबू का दिलवाड़ा मंदिर, विग्रहराज वीसलदेव द्वारा निर्मित्त अजमेर का सरस्तवी मंदिर और भोजपरमार द्वारा निर्मित उज्जैन का महाकाल मंदिर कुछ ऐसे प्रतिनिधि उदाहरण हैं, जो उस युग की ऊँची कलात्मकता को प्रदर्शित करते हैं। इस प्रकार के मन्दिरों के निर्माण प्रायः सभी सफल और शान्तिसम्पन्न शासक—यशोवर्मा, धंग; जयसिंह **सिद्धराज**; कुमारपाल; अर्णोराज; विग्रहराज;

---

१. लेखपद्धति (पृष्ठ १८-२२) से यह प्रतीत होता है कि स्त्रियाँ, बच्चे, बूढ़े, बीमार और शिथिलित व्यक्ति दिव्यदण्डों से मुक्त थे।

२. समराइच्चकहा, पृष्ठ २२६-२२७।

३. देखिए, पीछे पृष्ठ १८६-१८७।

४. ब्रिग्स्, तारीखे फिरिश्ता, जिल्द १, पृष्ठ ५७।

५. एइ०, जिल्द १८, पृष्ठ १०२, १०७।

६. देखिए, मु० हबीब, सुल्तान महमूद ऑफ् गजनीन्, पृष्ठ ३८।

लक्ष्मीकर्ण; गोविन्दचन्द्र; जयच्चन्द्र आदि—अपने प्रशासन सम्बन्धी साफल्य का नमूना मानते थे। उन सबके प्रमुख उदाहरणों की चर्चा हम पीछे यथास्थान कर चुके हैं।

मंदिर वास्तुओं के अतिरिक्त, घाटों, जलाशयों और नये-नये नगरों के निर्माण भी इस समय के सफल और क्रियात्मक शासकों की मुख्य प्रवृत्ति के रूप में दिखायी देते हैं। इस संबंध में चन्देल शासक राहिल; चाहमान शासक तृतीय अजयराज, अर्णोराज और चतुर्थ विग्रहराज; कलचुरि शासक कर्ण; परमारराज भोज और चालुक्य शासक जयसिंह **सिद्धराज** के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं, जिनकी इस क्षेत्र के कृतियों की चर्चा पीछे यथास्थान की जा चुकी है।

उपर्युक्त प्रायः सभी शासकों ने एक अन्य जनाभिमुख प्रवृत्ति का परिचय देते हुए विद्वानों को आश्रय और विद्या के उन्नयन का जो परिचय दिया, वह पहले के भारतीय शासकों की तरह, इस युग की भी विशेषता दिखायी देती है। विभिन्न शासकों के राज-दरबारों में आश्रय पाने वाले विभिन्न लेखकों और कवियों की गिनती पीछे यथावसर की जा चुकी है। यहाँ इतना कहना मात्र पर्याप्त होगा कि इस सम्बन्ध में प्रथम महेन्द्रपाल और महीपाल के समय कन्नौज का राजदरबार; लक्ष्मीकर्ण के समय कलचुरि राजदरबार (त्रिपुरी-काशी); चतुर्थ विग्रहराज और तृतीय पृथ्वीराज के समय चाहमान राजदरबार (अजमेर-दिल्ली); मुञ्ज और भोज महान् के समय परमार राजदरबार (धारा उज्जैन); विजयसेन और लक्ष्मणसेन के समय लखनौती एवं जयसिंह **सिद्धराज** और कुमारपाल के समय अण्हिलवाड़ प्रायः कवियों, लेखकों और साहित्यिकों के केन्द्र बन गये, जो सभी उपर्युक्त राजाओं द्वारा पल्लवित, पालित और उत्साहित होते रहते थे। तृतीय पृथ्वीराज के समय तो अजमेर में विद्वानों और विद्याव्यसनियों का इतना जमघट हो गया कि उनकी देखरेख के लिए वहाँ एक मंत्री ही नियुक्त था, जिसे **पण्डित** (पण्डितामात्य) कहा जाता था। जयानकभट्ट के अनुसार उस पद पर पद्मनाभ नियुक्त था[१], जिसका पंडितों और विद्वानों की गोष्ठियों का आयोजन करना एक मुख्य कर्त्तव्य था। इसी प्रकार कश्मीरी शासक जयसिंह के **महासाँधिविग्रहिक** मंख द्वारा विरचित **श्रीकण्ठचरित** से ज्ञात होता है कि जयसिंह के अलंकार नामक मंत्री ने भी कश्मीर में पण्डितों की एक सभा आमंत्रित की, जिसमें भारत के सभी भागों से पण्डित सम्मिलित होने हेतु बुलाये गये थे। मुञ्ज और भोज परमार, कन्नौजराज गोविन्दचन्द्र गाहडवाल, चतुर्थ विग्रहराज और जयसिंह **सिद्धराज** जैसे अनेक राजे तो स्वयं इतने विचक्षण और विद्वान् थे कि वे कभी-कभी दरबारों में आयोजित होने वाले शास्त्रार्थों में भागलेने वाले पण्डितों की जीत और हार का अध्यक्ष के रूप में स्वयं निर्णय करते थे और जीतने वाले

---

१. पृथ्वीराजविजय, १२वाँ, ५८।

को पुरस्कार देते हुए उसके विजयोत्सव की सवारी निकालते थे। कन्नौज की धर्मसभा के बाद श्वान्-च्वांङ्ग की अगाध विद्वता का उद्घोष करने हेतु हर्ष ने उसे हाथी पर बिठाकर उसकी सवारी निकाली तथा अपनी ओर से अनेक भेंटों से पुरस्कृत किया[१]। जयसिंह **सिद्धराज** ने श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के विद्वान् देवसूरि और दिगम्बर जैन संप्रदाय के मनीषी कुमुदचन्द्र के बीच शास्त्रार्थ की स्वयं अध्यक्षता की और देवसूरि के विजयी होने पर उसकी खूब ख्याति बढ़ायी[२]। इसी प्रकार उसने **सिद्धहेम** नामक सिरमौर व्याकरण ग्रन्थ तैयार करने पर उस युग के सर्वाधिक प्रसिद्ध विद्वान् हेमचन्द्र की अपनी राजधानी की सड़कों पर हाथी पर बिठाकर सवारी निकाली[३]। तृतीय पृथ्वीराज के समय पद्मप्रभसूरि और जिनपतसूरि के बीच शास्त्रार्थद्वन्द्व की इस प्रकार की एक अन्य सभा की अध्यक्षता मंत्री कादम्बवास ने की थी, जो स्वयं **सभाव्यास** कहा जाता था। विजयी पद्मपतसूरि पृथ्वीराज के हाथों जयपत्र से अंलकृत और पुरस्कृत हुआ।

कला, वास्तु और विद्या के उन्नयन, संरक्षण और संपोषण के उपर्युक्त उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि शासन की आदर्शभूत मान्यताओं—राजस्व को साधारण प्रशासन और सैनिक सुरक्षा के कार्यों के अतिरिक्त सत्पात्रों, सत्कार्यों और सद्वृत्तियों में व्यय करना—को मूर्त्तरूप देने में इस युग के प्रमुख शासक किसी से पीछे नहीं थे। यही कारण है कि उनमें अनेक अपने युद्धों, विजयों और पराजयों की अपेक्षा उपर्युक्त क्रियाकलापों के लिए जनमानस और साहित्यिक किम्वदन्तियों में अपेक्षाकृत अधिक जीवित हैं।

❁❁❁

---

१. हुइ-ली, लाइफ् ऑफ् श्वान्-च्वाङ्ग (बील का अंग्रेजी अनुवाद), पृष्ठ १८०।

२. प्रचिद्वि०, पृष्ठ ७८-८२।

३. वहीं, पृष्ठ ७१-७२; प्रभावकचरित, २२वाँ, ७४-११५।

संक्षिप्त ग्रंथसूची

अल्-उत्बी — तारीखे-यमीनी, जे० रेनाल्ड्स् का अंग्रेजी अनुवाद, लन्दन (इलियट् ऐण्ड डाउसन्, जिल्द २, पृष्ठ १४-५२ पर उद्धृत ।

अल्-बीरूनी — किताबुल् हिन्द, ई० सी० सखाऊ का अंग्रेजी अनुवाद, २ जिल्दों में, लन्दन, १९१४ ।

अतहर इब्न-उल् — अल्-कामिल्-उत्तवारीख, इलियट् ऐण्ड डाउसन्, जिल्द २,

अरिसिंह — सुकृतसंकीर्त्तन, सं० मुनि पुण्यविजय सूरि, बम्बई, १९६० ।

अयंगार पी० टी० श्रीनिवास — भोजराज, अन्नमलैनगर, १९३१ ।

अल्तेकर ए० एस्० (अनन्त सदाशिव) — राष्ट्रकूट्ज़ ऐण्ड देयर टाइम्स्, पूना, १९३४ ।
स्टेट ऐण्ड गवर्नमेण्ट इन ऐंशियेण्ट इण्डिया, १९६८ ।

इलियट् एण्ड डाउसन् — हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, ऐज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टॉरियन्स्, ८ जिल्दों में, लन्दन १८६७-१८७७; पुनर्मुद्रित, किताबमहल, इलाहाबाद ।

ओझा गौरीशंकर हीराचन्द — राजपूताना का इतिहास ३ जिल्दों में द्वितीय सं०, अजमेर, १९३३ ।

कल्हण — राजतरंगिणी, एम्० ए०, स्टाइन द्वारा संपादित और अंग्रेजी अनुवाद—ए क्रानिकिल् ऑफ् दि किंग्स् ऑफ् कश्मीर, दो जिल्दों में; पुनर्मुद्रित, दिल्ली १९६१ ।

कनिंघम् अलेक्जैण्डर — दि ऐंश्येण्ट ज्यॉग्रफी ऑफ् इण्डिया, पुनर्मुद्रित, वाराणसी, १९६३ ।

गर्दीजी अल् — किताब-जैन्-उल्-अखबार, सं० मुहम्मद नाजिम, बर्लिन् १९२८ । अंग्रेजी अनुवाद, श्रीराम शर्मा, इहिक्वा० जिल्द ९, पृष्ठ ९३४-९४२ ।

गांगुली डी० सी० (धीरेन्द्रचन्द्र) — हिस्ट्री ऑफ् दि परमार डाइनेस्टी, ढाका यूनिवर्सिटी प्रेस्, १९३३, परमार राजवंश का इतिहास (हिन्दी अनुवाद) लखनऊ, १९७१ ।

गेट ई० (एडवर्ड) हिस्ट्री ऑफ् असम, कलकत्ता, १९३३; पुनर्मुद्रित १९६३ ।

चटर्जी गौरीशंकर हर्षवर्धन, द्वितीय सं०, हिन्दुस्तानी ऐकेडेमी, इलाहाबाद, १९५०।

चट्टोपाध्याय सुधाकर हिस्ट्री ऑफ् नार्थ इण्डिया फ्राम २०० बी० सी० टु ६०० ए० डी०, कलकत्ता, द्वितीय सं० १९६९ ।

चन्द्रशेखर सुर्जनचरित, सं० जे० बी० (जीवन वल्लभ) चौधुरी, कलकत्ता, १९५१ ।

चन्दा आर० पी० (रामप्रसाद) गौडराजमाला (बंगला में), राजशाही ।

जयानकभट्ट पृथ्वीराजविजय, जोनराजकृत टीका सहित, सं० गौ० ही० ओझा और चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, अजमेर, १९४१ ।

जायसवाल के० पी० (काशीप्रसाद) ऐन इम्पीरियल् हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया (सी० ७०० बी० सी०-७०० ए० डी०) (संस्कृत पाठ, राहुल सांकृत्यायन द्वारा संशोधित) लाहौर, १९३४ ।

जिनमण्डन कुमारपालप्रबन्ध, सं० चतुर्विजयमुनि, भावनगर १९१४ ।

टॉड जे० ऐनल्स् ऐण्ड ऐण्टीक्विटीज ऑफ् राजस्थान, संशोधित और सम्पादित, क्रूक, लन्दन १९२०, ३ जिल्दों में ।

देवाहूति डी० (देवी) हर्ष, ए पोलिटिकल् स्टडी, आक्सफोर्ड, १९७० ।

दिस्कल्कर डी० बी० (दत्तात्रेय बालकृष्ण) इन्स्कृप्शन्स् ऑफ् गुजरात, न्यू इण्डियन् ऐण्टीक्वेरी, जिल्द १, और २ ।

नन्दी संध्याकर रामचरित, हरप्रसाद शास्त्री द्वारा सम्पादित, मेम्वायर्स् ऑफ् एशियाटिक सोसाइटी, बेंगाल, जिल्द ५ ।

निजामी मुहम्मद दि लाइफ् एण्ड टाइम्स् ऑफ् महमूद ऑफ् गजना, कैम्ब्रिज; १९३१ ।

निजामी हसन ताज्-उल्-मसीर, इलियट् एण्ड डाउसन् जिल्द २, पृष्ठ २०४-२४३ ।

निजामुद्दीन अहमद तबकाते-अकबरी, अंग्रेजी अनुवाद, बी० दे०, कलकत्ता, १८८७ ।

नियोगी रोमा दि हिस्ट्री ऑफ् दि गाहडवाल डाइनेस्टी, कलकत्ता, १९५९ ।

पणिक्कर के० एम०
(कवलम् माधव) श्री हर्ष ऑफ् कन्नौज, बम्बई-१९२२ ।

प्रभाचन्द्र प्रभावकचरित, सं० मुनि जिनविजय, अहमदाबाद, १९४० ।

पाण्डेय ए० बी०
(अवधबिहारी) अर्ली मेडिवल् इण्डिया, इलाहाबाद, १९६० ।

पाठक ह्वी० एस्०
(विश्वंभरशरण) ऐंश्येण्ट हिस्टॉरियन्स् ऑफ् इण्डिया, एशिया पब्लिशिङ्ग हाउस, १९६६ ।

पाठक विशुद्धानन्द— हिस्ट्री ऑफ् कोशल अप् टू दि राइज ऑफ् दि मौर्यज्, बनारस १९६४ ।

पुरी बी० एन्०
(बैजनाथ) दि हिस्ट्री ऑफ् दि गुर्जर प्रतीहारज्, बम्बई १९५७ ।

फज्ल-अबुल् आइने-अकबरी, अंग्रेजी अनुवाद, एच्०, एस्०, जैरेट, जे० एन्० (जगदीश नारायण) सरकार द्वारा संशोधित, कलकत्ता, १९४८ ।

फिरिश्ता मुहम्मद कासिम
(हिन्दू शाह) तारीखे-फिरिश्ता, अंग्रेजी अनुवाद, आर० जे०, ब्रिग्स्, दो जिल्दों में, कलकत्ता, १९११ ।

फ्लीट जे० एफ्०
(जॉन् फेथफुल्) डाइनेस्टीज ऑफ् दि कनारीज् डिस्ट्रिक्ट्स् ऑफ् दि बाम्बे प्रेसीडेन्सी, बम्बई, १८९९ ।

बरदायी चन्द पृथ्वीराजरासो, सं० विशनलाल पण्ड्या और श्यामसुन्दर दास, बनारस, १९३१ ई० ।

बरुआ के० एल्
(कनकलाल) अर्ली हिस्ट्री ऑफ् कामरूप, जिल्द. १. शिलांग १९३३ ।

बसाक आर० जी०
(राधागोविन्द) हिस्ट्री ऑफ् नार्थ ईष्ट इण्डिया फ्राम ३२० टु ७५० ए० डी० ।

बाणभट्ट हर्षचरित, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९१२ तथा कॉवेल् और टॉमस् का अंग्रेजी अनुवाद, मोतीलाल बनारसीदास १९६१ ।

बनर्जी आर० डी०
(राखालदास) बांगलार इतिहास (बंगला में) जिल्द १, द्वितीय सं० कलकत्ता;

दि हैहयज् ऑफ् त्रिपुरी ऐण्ड देयर मानूमेण्ट्स, मेम्वायर्स, आर्केलॉजिकल् सर्वे ऑफ् इण्डिया, जिल्द २३, १९१३, पालज् ऑफ् बेंगाल, मेम्वायर्स्, एशियाटिक सोसायटी, बेंगाल, जिल्द ५, (१९१५ ई०) ।

हिस्ट्री ऑफ् ओरिसा जिल्द १, कलकत्ता १९३१ ।

बमजाई पृथ्वीनाथ कौल — ए हिस्ट्री ऑफ् कश्मीर फ्राम दि अर्लियेष्ट टाइम्स् टु दि प्रेजेण्ट डे, दिल्ली, १९६२ ।

बोस एन्० एस्० (निमाइसधन) — हिस्ट्री ऑफ् दि चन्देलज्, कलकत्ता, १९५६ ।

बिल्हण — विक्रमांकदेवचरित, सं० जी० (जार्ज) ब्हूलर, बम्बई, १८७५।

बील० एस्० (सैम्युअल्) — सि-यू-कि०, बुद्धिष्ट रेकार्डस् ऑफ् दि वेस्टर्न् वर्ल्ड, ४ जिल्दों में, सुशील गुप्त, कलकत्ता, १९५७-१९५८ ।

बुद्धप्रकाश — ऐस्पेक्टस् ऑफ् इण्डियन् हिस्ट्री ऐण्ड सिविलाइजेशन, आगरा, १९६५ ।

भट्टचार्य पद्मनाथ विद्याविनोद — कामरूप शासनावली, रंगपुर, १९३१ ।

भाटिया प्रतिपाल — दि परमारज्, नयी दिल्ली, १९७० ।

मदन — पारिजात मंजरी, सं० हुल्ट्ज, एइ०, जिल्द ८, पृष्ठ ९६ और आगे ।

महताब हरेकृष्ण — हिस्ट्री ऑफ् ओरिसा, जिल्द १, कटक, १९५९ ।

मजुमदार अशोक कुमार — चौलुक्यज् ऑफ् गुजरात, भारतीय विद्यावन, बम्बई १९६१ ।

मजुमदार एन० जी० (ननी गोपाल) — इन्स्कृप्शन्स् ऑफ् बेंगाल, जिल्द ३, बारेन्द्र रिसर्च सोसायटी, राजशाही, १९२९ ।

मजुमदार आर सी (रमेशचन्द्र) और पुसालकर ए० डी० (अनन्त दत्तात्रेय) सम्पादित — दि क्लासिकल् एज०, बम्बई, १९५४ ।

दि एज ऑफ् इम्पीरियल कनौज, बम्बई, १९५५ ।

	दि स्ट्रगल् फॉर इम्पायर, बम्बई; १९५५ (सभी 'हिस्ट्री ऐण्ड कल्चर ऑफ् दि इण्डियन् पीपुल सीरिज' में) भारतीय विद्या भवन, बम्बई ।
मजुमदार आर्० सी० (रमेशचन्द्र)	गुर्जर प्रतिहारज्, डडिले०, कलकत्ता विश्वविद्यालय, जिल्द १० । हिस्ट्री ऑफ् बेंगाल, जिल्द १, ढाका १९४३ ई० । आउट-लाइन् ऑफ् दि हिस्ट्री ऑफ् दि भंज किंग्स् ऑफ् ओरिसा, ढाका यूर्निवसिटी स्टडीज, सं० ३ ।
मिनहाजुद्दीन बिन् सिरा-जुद्दीन	तबकाते-नासिरी, अंग्रेजी अनुवाद, एच्० जी० रैवर्टी, कलकत्ता, १८७३-१८९७ ।
मिश्र केशवचन्द्र	चन्देल और उनका राजत्त्व काल, वाराणसी, वि० सं० २०११ ।
मिश्र ह्वी० बी० (विभूतिभूषण)	दि हिस्ट्री ऑफ् दि गुर्जर प्रतीहारज्, दिल्ली, १९६५ ।
मिश्र विनायक	ओरिसा अण्डर दि भौम किंग्स्, कलकत्ता, १९३३ ।
मित्र शिशिर कुमार	दि अर्ली रूलर्स ऑफ् खजुराहो, कलकत्ता, १९५८ ।
मिराशी वा० वि० (वासुदेव विष्णु)	कलचुरि नरेश और उनका काल, भोपाल, १९६५ । स्टडीज् इन् इण्डोलॉजी, नागपुर, १९६० । कार्पस् इन्स्कृप्शनम् इण्डिकेरम्, जिल्द ४, १९५५ ।
मुकर्जी आर० के० (राधाकुमुद)	हर्ष, मोतीलाल बनारसीदास, १९५९ ।
मुंशी के० एम्० (कन्हैयालाल माणिक-लाल)	दि ग्लोरी दैट वाज़् गुर्जरदेश, द्वितीय सं०, बम्बई १९५४ ।
मेरुतुंग	प्रबन्धचिन्तामणि, हिन्दी अनुवाद, हजारीप्रसाद द्विवेदी, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, १९४० । अंग्रेजी, सी० एच्० टॉनी, कलकत्ता, १८९९ ।
याजदानी जी (गुलाम)	दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकेन, २ भागों में, आक्सफोर्ड, १९६० ।
राजशेखर	काव्यमीमांसा, बड़ौदा संस्कृत सीरिज, १९१६ ।
राजशेखर	प्रबन्धकोष, सं० मुनिजिनविजय, शान्तिनिकेतन, १९३५ ।

राव एस्० सी०
(सुनिलचन्द्र) अर्ली हिस्ट्री ऐण्ड कल्चर ऑफ् कश्मीर, कलकत्ता, १९५७।

राय एच्० सी०
(हेमचन्द्र) डाइनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ् नार्दर्न, इण्डिया, २ जिल्दों में, कलकत्ता १९३१, १९३६।

रेउ विश्वेश्वरनाथ राजा भोज, इलाहाबाद, १९३२।

वाक्पति–गउडवहो सं० पण्डित एस्० पी० (शंकर पांडुरंग) तथा उत्गीकर। गउडवहो, ए प्राकृत हिस्टॉरिकल् पोएम् बाई वाक्पति, बाम्बे संस्कृत एण्ड प्राकृत सीरिज, १९२७।

वैद्य सी० वी०
(चिन्तामणि विनायक) हिस्ट्री ऑफ् मेडिवल् हिन्दू इण्डिया, ३ जिल्दों में, पूना १९२१–१९२६।

वाटर्स् टी० (टॉमस्) ऑन य्वान् च्वांग्स् ट्रैवेल्स् इन् इण्डिया, मुन्शीराम मनोहरलाल, दिल्ली, १९६१।

शर्मा दशरथ राजस्थान थ्रू दि एजेज् जिल्द १, बीकानेर, १९६६।
अर्ली चौहान डाइनेस्टीज़, दिल्ली, १९५९।

शर्मा आर० एस्०
(रामशरण) इण्डियन् फ्यूडलिजम् (३००–१२००) कलकत्ता, १९६५।

शास्त्री नीलकान्त दि चोलज्, द्वितीय संस्करण, मद्रास १९५५।

सत्याश्रय आर० एस्०
(रणजीत सिंह) ऑरिजिन् ऑफ् दि चौलुक्यज्, कलकत्ता १९५७।

सिनहा वी० पी०
(विन्ध्येश्वरी प्रसाद) दि डिक्लाइन् ऑफ् दि किंगडम् ऑफ् मगध, मोतीलाल–बनारसीदास, १९५४।

सिंह आर० बी०
(रामवृक्ष) हिस्ट्री ऑफ् दि चाहमानज्, वाराणसी १९६४।

स्मिथ विन्सेण्ट अर्ली हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, चतुर्थ सं० १९२४।

सूरि जयसिंह कुमारपालभूपालचरित, सं० क्षान्ति विजयगणि, बम्बई, १९२६।
वस्तुपाल तेजःपाल प्रशस्ति, गायकवाड़ ओरियण्टल् सीरिज, बड़ौदा, १९१६।

सूरि नयचन्द्र	हम्मीरमहाकाव्य, सं० एन्० जे० कीर्त्तने, बम्बई १८७९ ।
सूरि हेमचन्द्र	द्वयाश्रयकाव्य, अभयतिलकगणि की टीका सहित, २ जिल्दों में सं० कठवते, बम्बई १९१५ ।
सूरि सोमेश्वर	सुरथोत्सव, सं० शिवदत्त ऐण्ड पाण्डुरंग परब, बम्बई, १९०२ । कीर्त्तिकौमुदी, सं० मुनि जिनविजय, बम्बई, १९६० ।
हबीब मुहम्मद	दि लाइफ् ऑफ् महमूद ऑफ् गजनीन, अलीगढ़, १९२७, द्वितीय सं० अलीगढ़ १९५१ ।
हबीबुल्लाह	फाउण्डेशन् ऑफ् मुसलिम् रूल इन् इण्डिया, लाहौर, १९४५ ।
हरिभद्र	समराइच्चकहा, बिब्लोथिका इण्डिका, कलकत्ता १९२६ ।
हुइ-ली	लाइफ् ऑफ् श्वान्-च्वाँग, सैम्युअल् बील कृत अंग्रेजी अनुवाद ।
हेग वूल्ज़ले, सम्पादित	केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, जिल्द ३, कैम्ब्रिज १९२८, पुनर्मुद्रित, दिल्ली, १९५८ ।
होदीवाला एस्० एच्० (शाहपुरशाह होरमसजी)	स्टडीज् इन् इण्डो-मुसलिम् हिस्ट्री, बम्बई, १९३९ ।
त्रिपाठी आर० एस्० (रामशंकर)	हिस्ट्री ऑफ् कनौज टु दि मुस्लिम कांक्वेस्ट, मोतीलाल बनारसी दास, बनारस १९५१ ।

❁❁❁

नामानुक्रमणिका

नामानुक्रमणिका (शासक और प्राचीन लेखक)

ड

त

श



उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

इतिहास विषय से सम्बन्धित पुस्तकें

पुस्तक का नाम	लेखक का नाम	मूल्य
तारीखे फरिश्ता भाग-1	अनु0 डा0 नरेन्द्र बहादुर श्रीवास्तव	400.00
तारीखे फरिश्ता भाग-2	अनु0 डॉ0 नरेन्द्र बहादुर श्रीवास्तव	330.00
पूर्व एशिया का आधुनिक इतिहास भाग-1 व 2	अनु0 पदमाकर चौबे एवं कुमारी मिसला मिश्र	186.00
बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास	डॉ0 गोविन्द चन्द्र पाण्डेय	150.00
भारतीय वास्तुकला का इतिहास	कृष्णदत्त वाजपेई	195.00
दक्षिण भारत का इतिहास	डॉ0 विशुद्धानन्द पाठक	210.00
कौटिल्य कालीन भारत	आचार्य दीपांकर	87.00
कन्नौज का इतिहास	पं0 आनंदस्वरूप मिश्र	175.00
विश्व इतिहास	डॉ0 रामप्रसाद त्रिपाठी	75.00
क्रांतिकारी यूरोप तथा नेपोलियन का युग	डा0 ईश्वरी प्रसाद	40.00
उ0प्र0 के बौद्ध केन्द्र	प्रो0 अँगने लाल	166.00
पश्चिमी एशिया	डॉ0 के0के0 कौल	168.00
देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा अशोक	भगवती प्रसाद पांथरी	120.00
भारत का सांस्कृतिक इतिहास	डॉ0 राजेन्द्र पाण्डेय	80.00
प्राचीन भारत का आर्थिक इतिहास	डॉ0 विशुद्धानन्द पाठक	72.00
भारतीय पुरेतिहासिक पुरातत्व	डॉ0 पी0 अग्रवाल एवं पन्नालाल अग्रवाल	120.00
मध्ययुगीन भारतीय समाज एवं संस्कृति	झारखण्ड चौबे एवं कन्हैयालाल श्रीवास्तव	190.00
संस्कृत बौद्ध साहित्य में इतिहास और संस्कृति	प्रो0 अँगने लाल	150.00
उत्तर प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन	डॉ0 विशुद्धानन्द पाठक	100.00

सम्पर्क सूत्र

निदेशक

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन

६, महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ - २२६००१

ISBN : 978-93-82175-63-6 मूल्य रु. 200=00